पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

हमारी संस्कृति-इतिहास के कीर्त्तिस्तम्भ

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है । परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है । परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है । उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया । आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है ।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये । इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो । हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है । लाखों करोड़ों के मनों के अंत:स्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया । रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है । उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को ।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता । वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंत:करण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था । साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा । जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे । छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे । किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुत: अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी । जाति-पाँति का कोई भेद नहीं । जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा ।

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुप का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी-यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा- पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धत: परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व यहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतः स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी । उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं । यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी ।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ । गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी । धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है । १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है । १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया । कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं । संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था । तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं । हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया । परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं ।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ । तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था । तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए । स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये । एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी । ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्त्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये ।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे । इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक । इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

भूमिका

हमारी संस्कृति देव संस्कृति कहलाती है क्योंकि यह देवमानवों को जन्म देती चली आयी है । अनगढ़ को सुगढ़ जो बनाए एवं जीवन को समाज के हित-विश्वमानवता के निमित्त जीवन जीना सिखाए, वह है देव संस्कृति । यह कार्य कभी विश्वभर में हुआ था, इसीलिए यह विश्व संस्कृति कहलाती है । अनेकानेक संत, समाज सुधारक तथा अपना सब कुछ राष्ट्र को अर्पित कर देने वाले शहीद स्तर के महामानव इस धरती पर जन्म लेते आये हैं । उनमें बहुसंख्य भारत में ही जन्मे हैं क्योंकि भारत की भूमि देवभूमि है, इसके चप्पे-चप्पे में संस्कार भरे पड़े हैं । यहाँ की धरती त्याग-बलिदान-समर्पण ही सिखाती आयी है व सदा से ही संवेदना सिक्त रही है । इसी से प्रेरणा लेकर विश्वभर में ये संस्कार फैले व वहाँ भी स्थान-स्थान पर महामानव जन्मे ।

कौन-कौन ऐसे कीर्तिस्तम्भ हैं जिनने हमारी संस्कृति-इतिहास की गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखा एवं जिनसे प्रेरणा लेकर अगणित व्यक्तियों ने अपनी जीवन राह बदल कर स्वयं को भी उनकी पंक्ति में खड़ाकर दिया ? ऐसे विश्ववंद्य महापुरुष वसुधा जिन्हें पाकर धन्य हुई,अगणित हुए हैं हमारे यहाँ किन्तु परमपूज्य गुरुदेव ने जिन्हें आदरपूर्वक अपने ग्रन्थों में स्थान दिया उनमें से कुछ संतो, सुधारकों, शहीदों के जीवन वृत्त इस खण्ड में दिये गये हैं । कुछ ऐसे हैं जो भारत में जन्मे, कुछ यहाँ जन्म लेकर विश्वभर में फैल गए तथा कुछ ने बाहर जन्म लिया पर काम देवसंस्कृति से अनुप्राणित होकर ही किया ।

श्री रामकृष्ण परमहंस इनमें शीर्ष पर रखे जा सकते हैं । उनके आविर्भाव के समय परिस्थितियाँ बहुत प्रतिकूल थीं । किन्तु सहज फक्कड़पन से अपने गहन ज्ञान की बातें कहने वाला दक्षिणेश्वर का यह पुजारी जानता था कि उसे किसलिए भेजा गया । उसने वही कार्य किया व नररत्नों की खदान बनाता चला गया जिनमें प्रमुख थे स्वामी विवेकानन्द । इनका भी वर्णन पूरे जीवन वृत्त के रूप में इसमें हैं । हिन्दुत्व की ध्वजा पताका पूरे विश्व में फहराने वाले स्वामी विवेकानन्द ने ही रामकृष्ण मठ स्थापित किया, जिसकी जड़ें आज सारे विश्व में हैं । स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर संस्कार परम्परा बच्चों में गहराई तक प्रविष्ट करने की प्रथम शुरूआत की । स्वामी दयानन्द जो कि गुजरात से निकलकर आए व उत्तर भारत में आर्य समाज की स्थापना कर सकने में तथा पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराकर धर्मतंत्र के परिशोधन में सफल हुए । महर्षि अरविन्द भी स्वामी विवेकानन्द के समकक्ष ही माने जाते हैं । क्रांतिकारी से एकाकी मौन साधक बने श्री अरविन्द ने अपनी योगसाधना का प्रसाद सारे विश्व को दिया व पांडीचेरी में केन्द्रीभूत हो सारे सूक्ष्म जगत को अपने तप से तपाया । प्रभु जगद्बन्धु, ठाकुरदयानन्द, स्वामी केशवानन्द, स्वामी सहजानन्द, बाबा राघवदास ऐसी श्रेणी में आते हैं, जहाँ उन्हें संत के साथ समाज देवता के आराधक भी कहा जा सकता है । एक वर्ग विशेष को इन महापुरुषों ने अपने समय को न केवल प्रभावित किया, समय की बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी की । गणित के प्रोफेसर तीर्थराम से स्वामी श्री रामतीर्थ बने अपनी फक्कड़ शैली में देश-विदेश का भ्रमण कर भारतीय संस्कृति का आलोक घर-घर फैलाया तो संत विनोबा ने बापू के एक आदर्श शिष्य की तरह राजनीति से दूर रह भूदान आंदोलन व सर्वोदय की प्रक्रिया द्वारा घर-घर तक जन चेतना को प्रभावित किया । संत सुकरात अपने समय के दर्शन के एक ऐसे विद्वान थे जिनके माध्यम से भारतीय दर्शन-संस्कृति भी ग्रीस-रोम पहुँची । वे न केवल एक मनीषी-चिन्तक थे अपितु एक श्रेष्ठ गुरु भी थे जिनकी शिक्षाएँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं । संत फ्रांसिस द्वारा ईसाई धर्म की शिक्षाएँ तथा महात्मा बहाउल्लाह द्वारा बहाई धर्म की शिक्षाएँ जन-जन तक पहुँची व एक बड़ा समुदाय उन्हें मानता है ।

ऐसे मनीषी जिनने समाज सुधार के क्षेत्र में बड़ी अग्रणी भूमिका निभाई राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्या सागर, मास्टर प्रभुदयाल, केशवचन्द्र सेन एवं श्रीगंगाराम का नाम लिया जाता इनका जीवन वृत्त पढ़ कर पाठक जान सकेंगे कि कैसे इनने प्रतिकूल समय में कड़ा संघर्ष कर उन कुप्रथाओं-प्रचलनों को मिटाया जिनसे यह परतंत्र भारत पूरी तरह घिरा था । मार्टिन लूथर द्वारा पोपवाद के खिलाफ जो आंदोलन चला उसी ने सुधारवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया एवं उनके एकाकी संघर्ष से काफी कुछ परिष्कृत रूप ईसाई धर्म का उभर कर आया । अब्राहमलिंकन न केवल अखण्ड अमेरिका के निर्माता हैं अपितु काले-गोरों का भेद मिटा अपनी जान की कीमत पर एक नस्लवादी परम्परा के आरम्भ करने वाले कहे जा सकते हैं ।

अनेकानेक प्रकार की विविधता का समुच्चय इस गुलदस्ते में है जिसमें संतों-सुधारकों के अतिरिक्त राष्ट्र को स्वतंत्र बनाने में अपना सब कुछ लगा देने वाले शहीद स्तर के महात्मा गाँधी, दादा भाई नौरोजी, देशबन्धु चित्तरंजनदास इन तीन का नाम प्रमुखता से लिया जाता है । गोखले-तिलक के अतिरिक्त इन तीन की भूमिका भारत की आजादी में विशेष रही । इन सभी का जीवन वृत्त पूज्यवर ने लिखा है । प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद,अपने विद्यालय से क्रांतिधर्मी चिंतन करने वालों को जन्म देने वाले राजा महेन्द्र प्रताप, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, बापू के बेटे व कांग्रेस के भामाशाह माने जाने वाले श्री जमना लाल बजाज, नये भारत के शिल्पी श्री विश्वेश्वरैया व राधा मोहन गोकुल आदि के जीवन वृत्तों से यह संकलन बड़ा विलक्षण बन गया है । इन सभी के जीवन के वृत्तान्तों को पढ़कर जीवन के हर मोड़ पर मार्गदर्शन लिया व स्वयं को वैसा बनाया जा सकता है ।

—ब्रह्मवर्चस

विषय-सूची

अध्याय–३

विश्ववंद्य संत—जिन्हें पाकर वसुधा धन्य हुई

युग-चेतना के सूत्रधार—
स्वामी रामकृष्ण परमहंस

पतन और उत्थान संसार का अटल नियम है। यह केवल व्यक्तियों पर ही नहीं वरन् देश, राष्ट्र, समाज, जाति, सभी छोटी-बड़ी संस्थाओं पर लागू होता है। जो जातियाँ किसी समय संसार की स्वामिनी बनी हुई थीं वे ही कुछ समय पश्चात् अवनति के गर्त में गिरी हुई दिखाई पड़ती हैं। हमारा देश भी जो महाभारतकाल तक चक्रवर्ती पद पर अधिष्ठित था, तत्पश्चात् पारस्परिक वैमनस्य के फल से पतन के मार्ग पर चलने लगा और एक समय ऐसा आया जब वह सब प्रकार से ध्वस्त और त्रस्त होकर विदेशियों का मुखापेक्षी बन गया। पर भारतीय संस्कृति को यहाँ के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने ऐसे सुदृढ़ धार्मिक आधार पर स्थापित किया है कि पतनोन्मुख हो जाने पर भी उसे किसी न किसी रूप में दैवी सहायता प्राप्त होती रहती है, जिससे यह फिर सँभल कर उत्थान की दिशा में अग्रसर होने लगती है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पिछले सौ डेढ़-सौ वर्षों में अनेक दैवीशक्ति सम्पन्न आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ है। ऐसे युग-परिवर्तनकारी महापुरुषों की कई श्रेणियाँ होती हैं। उनमें बुद्ध और महावीर जैसे राजवंशीय भी पाये जाते हैं और कबीर और रैदास जैसे छोटी जाति के माने जाने वाले भी होते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण जैसे सर्वकला-विशारद, शङ्कराचार्य तथा चैतन्य जैसे प्रकाण्ड विद्वानों का आविर्भाव हुआ, वैसे ही नामदेव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, मीराबाई आदि अल्पशिक्षित सन्तों ने भी अपूर्व कार्य करके दिखाये। इस दृष्टि से विद्या, वैभव, पदवी आदि को महापुरुषों की पहिचान समझना भूल है। कोई नहीं कह सकता कि ईश्वर का विशिष्ट तेज कब, किस जीवात्मा में प्रकट हो उठेगा? श्री रामकृष्ण परमहंस के चरित्र से इस कथन की सत्यता पूरी तरह सिद्ध होती है।

श्री रामकृष्ण (जन्म सन् १८३६) के पिता श्री खुदीराम चट्टोपाध्याय कामारपुकुर गाँव के रहने वाले एक गरीब व्यक्ति थे। पर वे ऐसे ईश्वर-भक्त और सेवाभावी थे कि स्वयं भूखे रहकर दीन-दुःखी और अतिथियों की सेवा करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे। उनकी पत्नी चन्द्रादेवी भी बिलकुल उन्हीं के स्वभाव की थीं। जिससे इस प्रकार के परोपकारी जीवन में-उनको सब तरह की सहायता मिलती थी। श्री रामकृष्ण बाल्यावस्था से ही बड़े आकर्षणयुक्त थे जिससे परिचित-अपरिचित सभी उनसे प्रेम करते थे। नामकरण-संस्कार के समय पण्डितों ने उनका नाम रामकृष्ण रखा था, पर पास-पड़ोस के सब लोग प्रेम से उनको गदाधर या गदाई कहा करते थे। गाँव में एक धर्मशाला थी जिसमें प्रायः साधु-सन्यासी आकर ठहरा करते थे। गदाई उन लोगों के पास घण्टों बैठकर धार्मिक कथा-वार्ता सुना करते थे। पाँच वर्ष की आयु हो जाने पर उनको पाठशाला भेजा गया, पर वे उसी अवस्था में भजन-कीर्तन में इतने तल्लीन रहने लगे थे कि उनको पढ़ना-लिखना कुछ न आ सका। वे कहा करते थे कि "पढ़ना-लिखना सीखकर- तो मुझे पुरोहिताई का धन्धा करना पड़ेगा, दाल, चावल, आटा बाँधकर लाना पड़ेगा। मुझे ऐसी विद्या की आवश्यकता नहीं है। ऐसा अन्न तो मेरे खेत में ही पैदा हो जाता है।"

दक्षिणेश्वर में निवास

जब श्री रामकृष्ण की अवस्था १४-१५ वर्ष की हुई तो वे अपने भाई श्री रामकुमार के पास कलकत्ता चले आये, जो वहाँ एक संस्कृत पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। कुछ समय बाद जानबाजार निवासी रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में एक बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया जिसमें कई देवताओं के अलग-अलग मन्दिर थे। पं० रामकुमार को उसमें पूजा करने को नियुक्त किया गया। श्री रामकृष्ण भी उनके साथ वहीं रहने लगे। पहले तो उन्होंने अपने भाई के इस काम का विरोध किया क्योंकि रानी रासमणि जाति की कैवर्त (मल्लाह) थी, पर धीरे-धीरे उनका मन वहाँ लग गया और वे रानी की तरफ से कालीदेवी के पुजारी नियत कर दिये गये। वे इस कार्य को पूरी श्रद्धा और भक्ति के साथ किया करते थे और प्रायः प्रार्थना किया करते थे- "माँ, मुझे दर्शन दे।" उनकी दशा उन्मत्त की-सी हो जाती थी और वे अपने शरीर का ज्ञान भूलकर घण्टों 'माँ-माँ' चिल्लाया करते थे। उनकी ऐसी अवस्था बहुत समय तक चलती रही और उस समय वे मन्दिर में प्रायः ऐसे उल्टे-सीधे कार्य किया करते थे जिससे लोग उनको सचमुच पागल समझने लगे।

इस प्रकार आन्तरिक भक्ति, श्रद्धा और वैराग्य द्वारा वे आध्यात्मिक मार्ग में निरन्तर उन्नति करते गये। जब वे ध्यान करने बैठते तो उनको शीघ्र ही समाधि-सी लग जाती थी और वे बड़ी देर तक पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहते थे, जो कोई उनको देखता वह भी उनसे प्रभावित हे बिना

न रहता । उनकी साधना की बात दूर-दूर तक फैल गई और सैकड़ों व्यक्ति उनके दर्शनों को आने लगे । वे लोग बहुत तरह की भेंट भी चढ़ाते थे, पर वे उसे छूते भी न थे । उन्होंने साधना द्वारा रुपये-पैसे से ऐसी घृणा पैदा कर ली थी कि सोना-चाँदी छूने से उनको जलन-सी होने लगती थी । बड़े-बड़े पदवीधारी उनकी स्तुति प्रार्थना करते पर उस तरफ भी उनका ध्यान नहीं जाता था । लोगों का विश्वास था कि उनको कालीदेवी का प्रत्यक्ष दर्शन होता था और वे प्रत्येक कार्य उससे पूछकर ही करते थे ।

आध्यात्मिक विवाह का अनुपम उदाहरण

श्री रामकृष्ण का विवाह अपने जन्मस्थान के समीप ही जयराम वाटी नामक गाँव की श्रीमती शारदामणिदेवी से हुआ था । विवाह के समय वर की आयु २३ वर्ष की और वधु की ५ वर्ष की थी । सांसारिक दृष्टि से तो यह विवाह आक्षेपजनक जान पड़ता था पर श्री रामकृष्ण को इसका कुछ ध्यान न था । उसने केवल अपनी माता के आदेश को मानकर विवाह के लिये स्वीकृति दे दी थी । अब इसे आप चाहे संयोग कहें अथवा दैवी विधान कि माता शारदा भी बचपन से ही ईश्वरभक्ति परायण और भजन-साधन की तरफ अनुरक्त थीं । वे आरम्भ से ही दीन-दुखियो की सहायता और घर वालों की सेवा करने में ही सुख मानती थीं । उनका ऐसा मनोभाव देखकर अभिभावकों ने उनका विवाह एक अध्यात्म-मार्ग के पथिक के साथ करना उचित समझा । वे तेरह वर्ष की उम्र होने तक दो-तीन बार श्री रामकृष्ण के घर कामारपुकुर में जाकर रहीं । वहाँ एक बार परमहंस जी भी तीन महीने तक उनके साथ रहे और उनको लौकिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा देते रहे ।

इसके कुछ समय बाद जब शारदा माता ने लोगों के मुख से सुना कि परमहंस देव पागल हो गये हैं, तो वे इसका ठीक पता लगाने दक्षिणेश्वर आकर वहीं रहने लगी । उस समय उनकी आयु १६ वर्ष की थी और परमहंस जी की ३५ वर्ष की । वे कुछ समय तक पति के समीप ही सोती रहीं । पर परमहंस देव रात मे चाहे जब उठकर ध्यान करने लगते थे और समाधि की व्यवस्था में मृतक तुल्य जान पड़ते थे, इससे शारदा माता को भय जान पड़ता था । तब परमहंस देव ने उनके सोने की व्यवस्था अपनी माता चन्द्रादेवी जी के साथ कर दी, जो पास में ही एक कुटी मे रहती थीं । तब से लेकर परमहंस देव के अन्त समय तक वे दक्षिणेश्वर की एक छोटी-सी कोठरी मे रहकर जहाँ तक बन सकता पति की सेवा करती रहीं ।

यह श्री रामकृष्ण की असाधारण आत्मशक्ति का ही प्रभाव था कि वे अपनी युवती पत्नी के साथ एकान्त में रहकर भी कामवासना से बचे रहे और कभी उनके हृदय में भोग-विलास का भाव नहीं आया । उलटा वे शारदा माता को जगदम्बा का रूप समझकर कभी-कभी उनकी षोडशोपचार पूजा किया करते थे । जब कभी वे बीमार हुईं तो उनकी दवा-दारू और परिचर्या में भी उन्होंने त्रुटि नहीं की । वे स्वयं धातु को छूते न थे पर शारदा माता के लिये उन्होंने कुछ स्वर्ण-आभूषण बनवा दिये थे, जिससे अन्य स्त्रियों को अलङ्कार धारण किये देख कर उनको दुःख न हो। पर शारदा माता स्वयं भी ऊँचे दर्जे की आत्मज्ञान-निष्ठ थीं और ऊपरी गहनों, कपड़ों को महत्त्व न देकर ईश्वर भक्ति को ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मानती थीं । परमहंस देव के समाधिस्थ हो जाने के पश्चात् भी उन्होंने विधवा की तरह रहने का विचार नहीं किया, क्योंकि तब भी वे उनको प्रत्यक्ष दिखाई दिया करते थे और कहते थे कि 'मैं तो अमर हूँ तुमको विधवा का वेष धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं ।' माता शारदा परमहंस देव के देहान्त के पश्चात् बहुत समय तक जीवित रहीं और सन् १९२० में बेलूड़ मठ में उन्होंने अपनी इहलीला सम्वरण की। श्री रामकृष्ण के भक्त उनमें भी दैवी शक्ति के आविर्भाव का विश्वास रखते थे ।

कामिनी और कंचन का पूर्ण त्याग

संसार मे मनुष्य को बन्धन में डालने वाले दो ही पदार्थ हैं— कामिनी और कंचन, अन्य सब पदार्थ इन्हीं दोनों के अन्तर्गत आ जाते है । स्त्री द्वारा कामवासना की पूर्ति के अतिरिक्त सन्तान होती है, उनका विवाह-सम्बन्ध होने से परिवार की वृद्धि होती है । कंचन के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है । धन कमाने के लिये विद्याभ्यास करना पड़ता है, दूसरों की सेवा-चाकरी करनी पड़ती है, खुशामद करनी पड़ती है । धन के लिये सदैव शङ्काशील और चिन्तित रहना पड़ता है । धन की प्राप्ति के लिये मन इधर-उधर दौड़ा करता है । इसलिये जो मनुष्य अध्यात्म-क्षेत्र में प्रगति करने का अभिलाषी हो उसे कामिनी और कंचन की वासना बिलकुल त्याग देनी होगी । जिस समय श्री रामकृष्ण को दिव्य-ज्ञान हुआ उसी समय उन्होने यह निश्चय कर लिया कि सब वस्तुओं का सार ईश्वर ही है और उसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इसके पश्चात् उन्होंने इस भावना को दृढ़ करने का अभ्यास करना आरम्भ किया । उन्होंने एक हाथ में रुपया और दूसरे में मिट्टी का ढेला लिया और अपने मन को

सम्बोधन करके कहने लगे— "हे मन, तू इसको रुपया कहता है, और इसको मिट्टी । रुपया चाँदी का गोल टुकड़ा है जिस पर एक ओर रानी (विक्टोरिया) की तस्वीर छपी है। यह जड़ पदार्थ है । रुपया से चावल, कपड़ा, घर, हाथी, घोड़ा आदि पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, दस-बीस मनुष्यों को भोजन कराया जा सकता है, तीर्थ-यात्रा, देवता और सन्तों की सेवा की जा सकती है । पर इसके द्वारा सच्चिदानन्द की प्रगति नहीं हो सकती । क्योंकि इसके रहते हुए अहङ्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता और न मन आसक्तिहीन हो सकता है । देवता और साधु की सेवा आदि धर्म-कार्य किये जा सकने पर भी वह मन में रजोगुण और तमोगुण ही उत्पन्न करता है और इस दशा में सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती ।"

मिट्टी को देखकर वे कहते— "यह भी जड़ पदार्थ है, पर इससे अन्न उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य के शरीर की रक्षा होती है । मिट्टी के द्वारा ही घर बनाया जाता है, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी बनाई जा सकती हैं । द्रव्य के द्वारा जो कार्य होते हैं वे मिट्टी द्वारा भी हो सकते हैं । दोनों एक ही श्रेणी के जड़ पदार्थ हैं और दोनों का परिणाम एक ही तरह का होता है । अरे मन ! तू इन दोनों पदार्थों को लेकर तृप्त होगा अथवा सच्चिदानन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा !' इस प्रकार कहकर उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये और 'रुपया-मिट्टी' 'रुपया मिट्टी' इस प्रकार की ध्वनि करने लगे । अन्त में उन्होंने रुपया और मिट्टी दोनों को गङ्गाजी में फेंक दिया । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करके उन्होंने अपने मन को धातु (रुपया) के प्रति इतना विरक्त बना लिया कि उनको किसी धातु के छूने से बड़ा कष्ट जान पड़ता था ।

इसी प्रकार उन्होंने स्त्री के सम्बन्ध में विचार किया कि उसकी वासना किसी भी प्रकार से क्यों न रखी जाय, उससे मस्तिष्क और मन दुर्बल ही होते हैं और परमात्म-चिन्तन में बाधा पड़ती है । माना कि उसे लोग सुख के लिये ग्रहण करते हैं, पर वह सुख क्षणिक ही रहेगा, कभी स्थायी नहीं हो सकता । वरन् उसका अन्तिम परिणाम सदैव हानिकारक ही होता है ।

गुरु परीक्षा

यद्यपि दक्षिणेश्वर मन्दिर की संस्थापिका रानी रासमणि और उसके दामाद मथुरा बाबू को यह निश्चय हो गया कि श्री रामकृष्ण सिद्ध पुरुष हैं और इस कारण वे उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे । उस समय परमहंस देव की आयु चौबीस-पच्चीस वर्ष की थी, उनका शरीर बहुत बलवान था और सुन्दरता को देखकर दर्शक तुरन्त आकर्षित हो जाते थे । इस प्रकार उस समय वे पूर्ण युवक थे, पर लोग उनसे पाँच वर्ष के बालक के समान व्यवहार किया करते थे । स्त्रियाँ उनके पास आने में जरा भी संकोच नहीं करती थीं । तो भी मनुष्य का मन ऐसा दुर्बल और अविश्वासी होता है कि अन्त में इन लोगों ने परमहंस देव की परीक्षा ले ही डाली ।

कलकत्ता के मछुआ बाजार में रहने वाली लक्ष्मीबाई नामक एक वेश्या से पहले सलाह करके मथुरा बाबू परमहंस देव को उसके घर ले गये । लक्ष्मीबाई ने १५-१६ सुन्दर युवती वेश्याओं को अर्धनग्न अवस्था में एक कमरे में इकट्ठा कर रखा था । परमहंस देव को उस कमरे में ले जाकर मथुराबाबू धीरे से दूसरे कमरे में चले गये । परमहंस देव इन दिनों बिलकुल नग्न अवस्था में रहते थे, शरीर को ऊपर से केवल एक चादर से ढक लेते थे । ऐसी युवतियों के रूप-लावण्य और हाव-भावों से योगियों के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाता है । फिर आज तो वे परमहंस देव की परीक्षा के लिये तरह-तरह की युक्तियाँ कर रही थीं । श्रीरामकृष्ण जैसे ही कमरे में पहुँचे उन्होंने उनके बीच में खड़े होकर 'माँ आनन्दमयी-माँ आनन्दमयी' कहकर मस्तक नवाया और यही शब्द बार-बार उच्चारण करते-करते समाधि-अवस्था में पहुँच गये । उनके नेत्रों से लगातार प्रेमाश्रु बह रहे थे । उनकी ऐसी अवस्था देखकर वेश्याएँ भयभीत हो गईं । कोई उनको हवा करने लगी और कोई अपना अपराध समझकर क्षमा माँगने लगी । यह दृश्य देखकर मथुराबाबू अत्यन्त लज्जित हुए और उस दिन से उनकी भक्ति परमहंस देव के प्रति और भी दृढ़ हो गई ।

इस घटना के पश्चात् ईर्ष्यालु स्वभाव के व्यक्ति अन्य प्रकार से निन्दा करने लगे । कुछ लोगों ने कहा कि परमहंस देव सिद्ध नहीं हैं वरन् स्नायवीय रोग के कारण उनके पुरुषार्थ की हानि हो गई है और नपुंसक हो जाने से वे कुछ करने लायक ही नहीं हैं । इस पर रानी ने फिर उनकी परीक्षा लेनी चाही । इस सम्बन्ध में परमहंस देव ने एक बार कहा था—"मैं अपनी कोठरी में सो रहा था कि दो स्त्रियाँ मेरे पास आईं । पहले तो उन्होंने मुझसे इधर-उधर की कुछ बातें कीं और फिर खुल्लमखुल्ला मेरे अङ्ग का स्पर्श करके काम चेष्टा करने लगीं । मैं 'माँ-माँ' पुकार उठा और बेसुध हो गया । जब मुझे चेत हुआ तो देखा कि वे स्त्रियाँ मेरे चरण पकड़ कर रो रही थीं । मैंने तुरन्त अपने चरण खींच लिये और 'माँ ! आनन्दमयी' कहकर नमस्कार किया । इसके बाद वे बार-बार क्षमा माँग कर चली गईं ।

इस प्रकार परमहंस देव ने प्रलोभनों के दो मुख्य आधारों का आरम्भ से ही निराकरण कर दिया । आजकल के उपदेशक और नेता बनने वाले इन विषयो में कैसे कच्चे होवें हैं यह किसी से छिपा नहीं है । फिर यदि हमारा कार्य क्षणस्थायी हो अथवा हमको प्रायः असफलता का ही मुँह देखना पड़ता हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । परमहंस देव नारी-मात्र को जगदम्बा का अंश समझ कर 'माता' ही कहते थे । वे काली की मूर्ति के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना करते थे- 'माँ ! अविद्या भी तू है, गृहस्थ की कुलवधू भी तू है, मछुआ बाजार की वेश्या भी तू है । माँ! दोनों रूपों में तू मेरी माता है— मैं तेरी सन्तान हूँ ।'

स्वामी विवेकानन्द ने परमहंस देव के उन शिष्यों से, जो प्रायः गुरुजी के समान काम करने की बातें किया करते थे, कहा कि 'परमहंस देव के समान काम करना अथवा उनके रास्ते पर बराबर चलते चले जाना हँसी खेल नहीं है । 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी ।' वे महीनों तक युवती स्त्री के साथ शयन करते रहे फिर भी उनके मन में किसी प्रकार की विकार, वासना उत्पन्न न हुई, यह मनुष्य के वश के बाहर की बात है ।" इस प्रचण्ड आध्यात्मिक शक्ति का ही परिणाम था कि उस समय के बड़े-बड़े नव-शिक्षित भी इस अनपढ़ साधु को 'भगवान' कहकर पूजने लग गये थे ।

सम्पत्ति से विराग

कुछ समय पश्चात् परमहंस देव के त्याग और तपस्या की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई और बहुसंख्यक लोग उनके दर्शनों को आने लगे । यद्यपि उनको भीड़-भाड़ पसन्द न थी, तो भी वे अपने मुख से न तो किसी को इनकार कर सकते थे और न कठोर शब्द कह सकते थे । उस समय कलकत्ते के मारवाड़ी भी काफी संख्या में उनके पास आने लगे थे । इनमें लक्ष्मीनारायण नामक व्यक्ति गीता और भागवत् का विशेष प्रेमी था । वह परमहंस देव से धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में अधिक तर्क-वितर्क किया करता था । जब उनकी बातों से उसे सन्तोष हो गया तो उसने प्रायः दक्षिणेश्वर आकर उनके उपदेश सुनने का नियम बना लिया ।

एक दिन लक्ष्मीनारायण ने परमहंस देव के बिस्तर पर फटी चादर को देखकर कहा— "आपके बिछाने की चादर फट गई है, इसे बदल क्यो नहीं लेते ?" उन्होंने उत्तर दिया—"वह अभी काम देने लायक है, जब अधिक फट जायगी तो मन्दिर के स्वामी दूसरी भेज देंगे ।" लक्ष्मी-नारायण कहने लगा— "यह कायदा तो ठीक नहीं । कपड़ा फटकर चिथड़ा हो जाय उसके पहले ही नया वस्त्र दे देना चाहिए । इस देश के धनवान इस सम्बन्ध में नासमझ हैं, वे साधुओं का सम्मान करना नहीं जानते । हमारे देश में धनी लोग साधुओं के लिये इतनी व्यवस्था कर देते हैं कि उनको अपने खर्च के लिये किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती । अगर साधु को जीवन-निर्वाह की चिन्ता करनी पड़े तो उनके भजन-साधन में विघ्न पड़ता है । किसके मन का भाव कब कैसा होगा, इसका क्या पता ? एक मनुष्य आज साधुओं का परम भक्त होता है और वही दस दिन बाद उनका बड़ा विरोधी बन जाता है । इसलिये मेरी इच्छा है कि आपके नाम से दस हजार रुपये के प्रामेसरी नोट खरीद दूँ । उनका ब्याज कम से कम ४० रुपया महीना आ जायगा, जिससे आपका सब खर्च भली प्रकार चलता रहेगा ।'

यह बात सुनते ही परमहंस देव बड़े असन्तुष्ट हो गये और पुकार कर कहने लगे— 'क्यों मुझे धन का लोभ दिखाकर अनर्थ के कुँये में ढकेलते हो ? धन तो परमार्थ के मार्ग में कंटक स्वरूप है और वह मनुष्य को उत्तम पद से नीचे गिरा देता है । तुम यह बतलाओ कि क्या धन के द्वारा 'सच्चिदानन्द' प्राप्त हो सकता है ? नहीं, नहीं, कभी नहीं । धन तो जड़ पदार्थ है, उससे जो कुछ प्राप्त होगा वह भी जड़ ही होगा । जड़ पदार्थ की भी आवश्यकता होती है यह ठीक है । शरीर की रक्षा के लिये धन की आवश्यकता पड़ती है । पर मेरा काम काली माता की कृपा से स्वच्छतापूर्वक चल जाता है । इसलिये धन इकट्ठा करके रखने का कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता । मैं रासमणि के मन्दिर में रहता हूँ, इससे वही मुझे भोजन देती है ऐसा तुम समझते होंगे ? अज्ञानी ऐसा ही विचार करते हैं, पर क्या यह सत्य है ? रासमणि को द्रव्य किसने दिया है ? जिस समय उसका जन्म हुआ वह अपने साथ द्रव्य नहीं लाई थी और मरते समय भी साथ में कुछ नहीं ले जा सकेगी । इसलिये यह तो केवल बाहरी प्रपंच ही है । इस प्रपंच को मै नमस्कार करता हूँ । पर जड़ पदार्थ जड़ का ही सहकारी बन सकता है । चैतन्य के साथ उसका केवल आधार-आधेय का ही सम्बन्ध रह सकता है । हमारी देह जड़ पदार्थों से बनी है, इसलिये द्रव्य से उसकी पुष्टि में सहायता मिलती है । चैतन्य के साथ उसका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं जान पड़ता । तब हम क्यों चैतन्य के साथ जड़ पदार्थ का सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करें ?"

यह सुनकर लक्ष्मीनारायण ने कहा— "मैं आपकी इस बात का पूरी तरह अनुमोदन नहीं कर सकता । अपने

सम्बन्ध में आपने जो विचार प्रकट किये वे ठीक नहीं हैं। आप कौन हैं, यह मैंने समझ लिया है और इसी कारण यह प्रस्ताव किया था। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आपका मन विषयों से बिल्कुल अलग हो गया है। तेल जैसे पानी पर तैरता रहता है वैसे ही आपका मन विषयों पर तैरता रहेगा। आपने अहङ्कार की बात कही, पर आप जैसे पवित्र व्यक्ति के मन में उसे स्थान मिलने की कोई सम्भावना नहीं।"

परमहंस देव ने उत्तर दिया— "तेल और पानी एक साथ मिल तो नहीं सकते, पर जल में तेल की गन्ध अवश्य आ जाती है और ज्यादा दिन बीत जाने पर तेल और जल के संयोग स्थान पर चीकट जम जाती है, उसमें से दुर्गन्ध निकलने लगती है। इसी प्रकार विषयों के साथ मन का संयोग होने से पहले विषयों में से दुर्गन्ध निकलने लगेगी और फिर मन विकृत हो जायगा।"

लक्ष्मी-नारायण ने कहा— "अच्छा, अगर इस कार्य में आपको इस प्रकार की अड़चन जान पड़ती है तो मैं आपके किसी सम्बन्धी के नाम पर प्रामेसरी नोट खरीद दूँगा।" पर परमहंस देव ने इसके लिये भी इनकार किया और कहा- "ऐसा करने से भी मेरे मन के ऊपर उसकी छाया पड़ेगी। मैं जानता रहूँगा कि यह धन मेरा है, केवल दूसरे के नाम पर कर दिया गया है। यह तो और भी पाप का काम है।" लक्ष्मीनारायण ने फिर बड़े आग्रह से कहा— "आपको यह रुपया तो अवश्य लेना पड़ेगा। जब मैंने यह रुपया आपको दान करने का निश्चय कर लिया है तब मैं उसे हर्गिज वापस नहीं ले जा सकता। आपकी जैसी इच्छा हो वैसा उसका उपयोग करो।"

लक्ष्मीनारायण की यह बात सुनते ही परमहंस देव बालकों की तरह रोने लग गये— "माँ, ऐसे लोगों को मेरे पास क्यों लाती है? माँ! जो लोग मुझे तुझसे अलग करना चाहते हैं वे तो मेरे साथ शत्रुता करते हैं, माँ!" ऐसा कहते-कहते वे समाधिस्थ हो गये। लक्ष्मीनारायण को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह क्षमा माँगने लगा। परमहंस देव थोड़ी देर मे प्रकृतस्थ हो गये और उन्होंने अपने स्वभावसिद्ध मीठे वचनों से लक्ष्मीनारायण को सन्तुष्ट किया।

इसी प्रकार एक बार रानी रासमणि के दामाद मथुरा बाबू ने भी परमहंस देव के नाम से ५० हजार रुपये के प्रामेसरी नोट खरीदने की इच्छा प्रकट की थी, पर उन्होंने इससे स्पष्ट इंकार कर दिया और अपना मन्तव्य भी पूरी तरह समझा दिया कि साधु कहलाने वाले को अपने पास धन कभी नहीं रखना चाहिये, क्योंकि इससे अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। हमारा योग-क्षेम तो भगवान के हाथ में ही रहता है।

रानी को थप्पड़

परमहंस देव की अवस्था भक्ति और साधन की अधिकता से कुछ दिनों के लिये उन्मत्त की तरह हो गई थी और वे काली की पूजा विधिवत् न करके मनमाने ढङ्ग से करते थे। इसलिये पूजा-कार्य उनके भानजे हृदयानन्द के सुपुर्द कर दिया गया। परमहंस देव जब कभी मन में आता मन्दिर में जाकर जैसे चाहते स्वतंत्र रूप से पूजा किया करते। एक दिन पूजा करने गये तो देवी के लिये जो फूल-मालायें तैयार करके रखी गई थीं उनको अपने गले में पहिन लिया और चन्दन भी अपने शरीर पर लेप लिया, फिर समाधि में बैठ गये। यह देखकर मन्दिर के अन्य कर्मचारी बहुत असन्तुष्ट हुए और उनको मन्दिर में जाने से रोकने की युक्ति करने लगे। पर जब वे अपनी धुन में मन्दिर में जाने लगते तो किसी का साहस उनको रोकने का नहीं होता था। फिर एक दिन जब वे पूजा करने गये तो देवी पर चढ़ाये जाने वाले बिल्वपत्र उन्होंने मन्दिर के सेवकों तथा अन्य पदार्थों के सम्मुख चढ़ा दिये। देवी के लिये जो भोग बना था उसे बिल्लियों को खिला दिया और स्वयं भी खा लिया। इस पर कर्मचारियों ने उनकी शिकायत मथुरा बाबू से की, पर उन्होंने इसका कोई उत्तर न दिया। तब कर्मचारियों ने स्वयं ही उनको मन्दिर के भीतर जाने से रोकने का निश्चय कर लिया और यह काम दरवान के जिम्मे कर दिया गया। दूसरे दिन दरवान ने उनको रोका, पर वे अपनी धुन में ऐसे मस्त थे कि दरवान की बात सुनी ही नहीं। तब वह दोनों हाथ फैलाकर उनके सामने खड़ा हो गया। परमहंस देव ने उसको एक मुक्का मारा और हटाकर भीतर घुस गये। एक मुक्का पड़ते ही दरवान ऐसा घबड़ा गया कि तुरन्त वहाँ से चला गया।

इस घटना की शिकायत कर्मचारियों ने खूब नमक-मिर्च लगाकर मथुरा बाबू से की। पर उन्होंने कहा— "भट्टाचार्य महाशय (परमहंस देव) के किसी काम के विरुद्ध कोई नहीं बोल सकता। जैसी उनकी इच्छा होगी वैसा ही वे करेंगे।" यह सुनकर नौकर-चाकर चुप रह गये, पर मन में उन्होंने बड़ा अपमान अनुभव किया। उन्होंने सब बातों की शिकायत रानी रासमणि से की। उसे बहुत गुस्सा आया, पर मथुरा बाबू के खिलाफ वह कुछ कह नहीं सकती थीं। दो-चार दिन बाद जाँच करने के उद्देश्य से वह स्वयं मन्दिर में गईं। उस समय परमहंस देव भी वहाँ बैठे थे। रासमणि का नियम था कि जब वह मन्दिर में आतीं तो उनके मुख

से दो-चार शक्ति विषयक भजन अवश्य सुनती थीं । आज भी उसने ऐसी ही इच्छा प्रकट की और वे गाने लगे । पर अभाग्यवश रानी का मन गायन में न लगा और वह एक मुकद्दमे की बात सोचने लगी । परमहंस देव ने उसके मन की बात को जानकर तुरन्त एक थप्पड़ मारा और बहुत फटकारा । आस-पास के लोग यह दृश्य देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये कि 'अब भट्टाचार्य महाशय का क्या होगा? पर आश्चर्य की बात कि रानी ने इस अपमान पर जरा भी क्रोध न किया, वरन् वह शोकातुर हो मन्दिर से बाहर चली गईं । चाहे तो उसने परमहंस देव को पागल समझकर कुछ न कहा हो और चाहे वह उनको सिद्ध पुरुष मानती हों । एक दूसरे अवसर पर भी जब रानी पूजा करते हुए मुकद्दमे की बात सोचने लगी थी परमहंस देव ने उसको इसी प्रकार मार दिया था ।

विभिन्न सम्प्रदायों की एकता

श्री रामकृष्ण यद्यपि कालीदेवी के भक्त थे और सदैव उनका ध्यान किया करते थे, पर वे अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी समान आदर का भाव रखते थे । एक बार उनके मन में अन्य सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति की परीक्षा करने का विचार उत्पन्न हुआ । पर वे उन लोगों में से नहीं थे जो अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को पढ़कर या सुनकर उनके सम्बन्ध में निर्णय कर लेते । उन्होंने उनकी उपासना क्रियात्मक रूप से करने का निश्चय किया जिससे उसके परिणाम का पूरी तरह अनुभव कर सकें ।

पहले उन्होंने भगवान राम की उपासना का विचार किया । उन्होंने एक रामानन्दी साधु को ढूँढ़ कर उससे दीक्षा ली और रामचन्द्रजी की एक पीतल की मूर्ति लाकर उसकी पूजा करने लगे । उन्होंने विचार किया कि भगवान राम के सबसे बड़े भक्त हनुमान जी थे, क्योंकि वे संसार के प्रत्येक पदार्थ में राम के दर्शन करते थे और जिसमें राम का दर्शन नहीं होता था उसे ग्रहण नहीं करते थे । इसलिये परमहंस देव भी हनुमान की भावना के अनुसार ही रामचन्द्र जी की भक्ति करने लगे । उस अवसर पर कुछ दिनों के लिये उनकी अवस्था मनुष्य से भिन्न प्रकार की ही जान पड़ती थी । वे वृक्षों पर चढ़कर 'राम-रघुवीर' की ध्वनि करते और जो फल उन्हें दिया जाता उसे तुरन्त दाँतों से जैसे का तैसा चबा जाते । कभी-कभी कपड़े की एक पूँछ भी अपने लगा लेते थे । वे पूजा करते समय रामचन्द्र जी की मूर्ति से इस प्रकार बातचीत करते थे जैसे कोई साक्षात् मनुष्य से करता है ।

इसके पश्चात् उन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति की और कुछ समय के लिये उसी में तन्मय हो गये । वे प्रायः कहने लगते थे— "प्यारे कन्हैया ! अब तुझे नहीं जाने दूँगा, समझा ! तेरे दर्शन बिना तो प्राण व्याकुल हो जाते हैं । दसों दिशाएँ शून्य जान पड़ती हैं । ले प्यारे ! यह फल खा ले !" इस प्रकार की अनेक बातें भावविभोर होकर किया करते थे ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की आराधना करने के बाद 'सखी-सम्प्रदाय' के अनुसार उपासना करने लगे । उस समय वे स्त्रियों के वस्त्र-आभूषण पहिनकर तथा श्रृंगार करके भगवान की सेवा करने लगे । फिर वे राधिका जी की सखी बनकर उनकी भक्ति करने लगे । स्त्री का वेष धारण करने के लिये उन्होंने माथे पर जनाने बाल रखे । वे नाक में बेसर, आँखों में अंजन, मस्तक में सिन्दूर तथा सब तरह के आभूषण पहिनकर राधाजी की स्तुति करते । ये सब गहने मथुरा बाबू ने उनको ला दिये थे । वे कहते— "कहाँ है ललिता ! कहाँ है विशाखा ! एक बार मेरे ऊपर दया करो। मैं अति दीन-हीन हूँ ! मेरी क्या गति होगी ? तुम्हारी दया के बिना मैं राधिका रानी का दर्शन नहीं कर सकती ।" ऐसा कहते-कहते उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगती । कीर्तन के स्वर में विरह के गान गाते-गाते वे समाधिस्थ हो जाते और उनको श्रीराधिका का दर्शन होने लगता ।

इस प्रकार परमहंस देव ने भक्तिमार्ग की विविध शाखाओं का साधन करके यही निष्कर्ष निकाला कि सभी सम्प्रदायों का अन्तिम परिणाम एक ही है । सब ईश्वर प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न कर रहे हैं । इतना ही नहीं उन्होंने कर्ता, भजना, नवरसिक, बाउल आदि तांत्रिक मतों की साधना करके देखा तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ा । इस प्रकार विविध धर्मों की भीतरी अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके उन्होंने समझ लिया कि साधारण रूप से धर्म दो भागों मे बँट गया है— पहला ज्ञान अथवा आत्म-तत्व विभाग और दूसरा भक्ति अथवा लीला-विभाग। वेदान्ती, तांत्रिक, बङ्गाली, वैष्णव आदि प्रथम श्रेणी में आते हैं और पौराणिक मत दूसरी में ।

उन्होंने सिक्ख-धर्म की भी दीक्षा लेकर उसका मर्म ग्रहण किया । कितने ही अन्य छोटे-बड़े सम्प्रदाय तथा मतमतान्तर वालों से भी वे मिले । अन्त में एक दिन उनके मन विचार आया कि 'हिन्दू-मुसलमान में क्या भेद है ? यह भी मालूम किया जाना चाहिये ।' इस संबंध में उन्होंने काली माता से प्रार्थना की और माता ने शीघ्र ही उसे पूर्ण कर दिया । दमदमा नामक गाँव में गोविन्ददास नाम का एक कैवर्त

(मल्लाह) रहता था, जो गुप्त रूप से मुसलमानी धर्मानुसार साधन और भजन करता था । इस समय उसने परमहंस देव के पास आकर उनको मुसलमानी धर्म की दीक्षा दी । तीन दिन तक उसके अनुसार उन्होंने साधन किया । फिर उनका यह भाव बदल गया । इन तीन दिनों में वे काली के मंदिर में नहीं घुसे, काली का प्रसाद नहीं खाया और उनके अन्तः करण से हिन्दू-भाव भी लोप हो गया । इस परीक्षण के फल से वे इस नतीजे पर पहुँचे कि जिस प्रकार की साधन-प्रणाली हिन्दुओं की है वैसी ही मुसलमानों की है । मुहम्मद साहब ने कहा है कि "जो काफिरों का वध करेगा वही स्वर्ग में अप्सराओं के साथ सुख से निवास कर सकेगा ।" 'काफिर' का आशय इन्द्रियों के विकारों से है, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि । इन्हीं को काफिर या विजातीय धर्म वाला कहा जाता है । इनका विनाश या दमन करने से ही विद्या और शक्ति का प्रकाश होता है और विद्या के सहवास के बिना मनुष्य के लिये सुख-स्वच्छन्दता का कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।

तत्पश्चात् उन्होंने ईसाई-धर्म की उपासना का परिचय भी प्राप्त किया । उन्हें इस प्रकार परीक्षा करने पर उस शास्त्र-वाक्य की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया कि "विभिन्न सम्प्रदाय और साधन मार्ग अन्त में एक ही परम लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं, उनमें भेदभाव करना या छोटा-बड़ा समझना भूल है ।" परमहंस देव कभी किसी मजहब या उसके मानने वाले संत पुरुषों के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं रखते थे । उनकी इस प्रकार की भावना सनातन हिन्दू-धर्म में किसी प्रकार की न्यूनता प्रकट करने के बजाय उसकी विशालता और महानता का ही परिचय देती थी ।

निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति

परमहंस देव की साधनावस्था में सब तरह के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सन्तजन उनके पास आया करते थे । उच्च कोटि के साधु, सन्यासी, वैष्णव, वावला, साँई, दरवेश तो इतने अधिक आते थे कि उनकी गिनती करना भी कठिन था । उनकी साधना की अंतिम अवस्था में तोतापुरी नाम का दिगम्बर परमहंस दक्षिणेश्वर आया था । वह सात सौ नागा साधुओं का महन्त था और ऋषीकेश के पास किसी स्थान में निवास करता था । पौष के महीने में गङ्गा सागर का स्नान करके लौटते समय वह दक्षिणेश्वर में पहुँच गया। वहाँ उसने श्री रामकृष्ण को देखा और उनमें पूर्ण योगी के लक्षणों को पाकर उनसे कहा—"तुम कुछ साधन करोगे?"

श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया- "हमारा माई कहेगा तो करेंगे ।"

तोतापुरी ने समझा कि ये अपनी गर्भधारिणी माता से पूछेंगे । उसने कहा— "तब जाओ, अपनी माई से पूछो।" वे एक भोले बालक की तरह अच्छा कहकर जल्दी-जल्दी काली के मंदिर के भीतर चले गये । वे काली-माता के आज्ञाकारी संतान थे, कोई काम बिना उससे पूछे नहीं करते थे । इसलिये यह बात भी उन्होंने 'माता' से जाकर पूछी।

माता ने उत्तर दिया- "हाँ, जाकर सीख ले ।"

फिर पूछा— "कौन सिखायेगा माँ !"

काली माता ने उत्तर दिया- "जो तुझे वेदान्त सिखाने आया है, उसी के पास सीख ।"

परमहंस देव मन्दिर में समाधिस्थ होकर अपने आप ही इस प्रकार प्रश्नोत्तर करके तोतापुरी के पास आये और कहा— "हाँ, हमारी माई ने बोला है । तुम्हारे पास वेदान्त सीखेगा ।"

तोतापुरी कहने लगा- 'हमारे पास उपदेश ग्रहण करना हो तो संन्यासी होना पड़ेगा ।" परमहंस देव ने पूछा— "संन्यासी होने से क्या करना पड़ता है ?" तोतापुरी ने कहा— "संन्यास ग्रहण करने की क्रिया, श्राद्ध, होम, आदि करना पड़ेगा ।" उन्होंने यह सब करना स्वीकार किया, परन्तु कहा कि— "संन्यासी होकर मुझसे दूसरे स्थान को जाया नहीं जायगा । कारण पूछने पर उन्होने कहा— "मेरी माताजी जीवित हैं । भगवा वस्त्र धारण किये बिना संन्यासी हुआ जाय ऐसा करना चाहिये, क्योंकि अब उनके कोई अन्य पुत्र नहीं है । तोतापुरी ने उनकी इच्छानुसार कार्य करना स्वीकार किया ।

सुदिवस देखकर संन्यास-ग्रहण करने की सब क्रियायें की गईं और एक सच्चे साधक ने समस्त जगत के हितार्थ सर्वस्व त्याग का व्रत ग्रहण किया । गुरु ने शिष्य को वेदान्त का उपदेश देकर समाधिस्थ करने का प्रयत्न किया । आरम्भ में तो निर्विकल्प समाधि के लगने में कुछ कठिनाई हुई, क्योंकि वे सदैव जगदम्बा का ध्यान करते रहते थे । पर जब तोतापुरी ने उनकी भौहों के मध्य एक काँच के टुकड़े से जोर से छेद दिया और उसी बिन्दु में ध्यान लगाने का आदेश दिया तो तुरन्त समाधि लग गई और वे तीन दिन तक उसी प्रकार देह ज्ञान-शून्य अवस्था में बैठे रह गये । यह देखकर तोतापुरी को बड़ा आश्चर्य हुआ और अपने आप ही कहने लगा— "चालीस वर्ष पर्यन्त कठोर साधन करके मै जिस समाधि को कर सका वह इस महापुरुष को एक ही दिन में प्राप्त हो गई । अहा, यह कैसी दैवी माया है !" तब तोतापुरी ने बहुत प्रयत्न करके उनको समाधि से जगाया ।

इस प्रकार श्री रामकृष्ण ने संन्यासी की दीक्षा लेकर तोतापुरी को गुरु बनाया पर अनेक बातों में वे गुरु के गुरु हो गये। वह वेदान्ती होने के कारण मूर्ति पूजा और कीर्तन आदि को नहीं मानता था, पर इनकी सच्ची भावना को देखकर उसके विचारों में बहुत परिवर्तन हो गया और उसने काली की मूर्ति को प्रणाम किया। इसी प्रकार धूनी में से आग लेने पर वह एक नौकर को मारने को तैयार हुआ तो परमहंस देव ने समझाया कि क्या वेदान्त का व्यवहार ऐसा ही होता है ? इस पर उसने फिर कभी क्रोध न करने की प्रतिज्ञा की।

तोतापुरी के पास पानी रखने का एक बड़ा-सा लोटा, एक चिमटा था। वे लोटा और चिमटा को माँजकर हमेशा चमचमाता रखते थे। वे सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये थे तो भी धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास नियम पूर्वक किया करते थे। एक दिन परमहंस देव ने कहा— "महाराज! आपको तो ब्रह्म की प्राप्ति हो चुकी है, अब क्यों ध्यानाभ्यास करते हो ?" यह सुनकर तोतापुरी ने लोटा की तरफ इशारा करके कहा— "देखो, यह लोटा कैसा चमचमा रहा है। अगर इसे हमेशा भली प्रकार माँजा न जाय तो इस पर मैल जम जायगा। मन की भी ऐसी ही अवस्था है। अगर ध्यानाभ्यास द्वारा मन को निरन्तर साफ न किया जाय तो वह मलिन हो जायगा।" परमहंस देव ने गुरु के वचन को सत्य मानते हुए पूछा— "पर महाराज! जो यह लोटा सोने का होता तो ? फिर तो हर रोज न माँजने पर भी इस पर मैल नहीं चढ़ सकता था।" नागा बाबा ने हँसकर इसे सत्य बताया और उनके मन में यह बात समा गई कि परमहंस देव वास्तव मे सोने के लोटे की तरह स्वच्छ हैं, उन पर किसी प्रकार का मैल नहीं जम सकता।

विद्वानों द्वारा परमहंस देव की मान्यता

यद्यपि श्री रामकृष्ण पढ़ना-लिखना बिलकुल नहीं जानते थे और उनके सम्बन्ध में कबीर की यही युक्ति चरितार्थ होती थी— "मसिकागद छूऔ नहीं, कलम गही नहिं हाथ" पर अपनी अन्तःप्रेरणा और विचारशीलता के प्रभाव से ही इन्होंने इतना ज्ञान अर्जित कर लिया था कि प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ पंडित उनके सामने आकर पदावनत हो जाते थे। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनको अपने ज्ञान का किसी प्रकार का अभिमान था अथवा वह दूसरों के सामने अपना बड़प्पन प्रकट करते थे, वे एक छोटे बालक की तरह सरल और निरभिमान थे और इसी से उनकी महानता में चार चाँद लग जाते थे। जो कोई उनसे मिलने आता वह उनकी नम्रता, विनय, प्रेम को देखकर सदैव के लिये उनका अनुगत हो जाता था।

जब उनका साधना-कार्य पूरा हो गया तो उन्होंने अपने विचारों की वास्तविकता की जाँच करने के लिये किसी विद्वान पंडित से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। इस पर मथुराबाबू ने परमहंस देव के भानजे हृदयानन्द से सलाह करके वर्द्धमान जिला के निवासी पंडित गौरीकान्त तर्कभूषण को बुलाने का निश्चय किया। ये अनेक शास्त्रों के ज्ञाता प्रसिद्ध विद्वान थे और साधना द्वारा उनको ऐसी शक्ति प्राप्त हुई थी कि शास्त्रार्थ में कोई उनको पराजित नहीं कर सकता था। पंडित गौरीकान्त दक्षिणेश्वर आकर ज्योंही बैठक खाने में घुसे उन्होंने 'अरे-रे-रे निरालम्बो लंबोदर जननि कं यामि शरणं' कहकर बड़े जोर से आवाज लगाई। इन शब्दों को सुनते ही श्री रामकृष्ण सिंह की तरह दहाड़ उठे और उपरोक्त श्लोक को ही दुहराते हुए चारगुनी भीम गर्जना करते पंडित जी के सम्मुख जाकर खड़े हो गये। यह देखकर गौरीकान्त को बड़ा आश्चर्य हुआ और साष्टाङ्ग दण्डवत् करके कहने लगे — 'प्रभो! मुझे आज ही दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ है। मैंने साधन करके उच्च अवस्था अवश्य प्राप्त की थी, पर आपके दर्शन करके मेरा अहङ्कार आज ही नष्ट हो सका है। आप जगतगुरु हो आपकी कृपा हुए बिना मेरी सद्गति नहीं हो सकेगी। अन्य मनुष्य तो पैदल चल कर काशी पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, पर आप तो मन्त्र की गाड़ी में बैठकर तुरन्त वहाँ पहुँच गये हैं।"

इसी प्रकार श्री वैष्णवचरण गोस्वामी जब मिलने को आये तो परमहंस देव कूदकर उनके कन्धे पर बैठ गये। पण्डित जी ने अपना जन्म सार्थक माना और उसी समय संस्कृत में श्लोक रचकर इनकी स्तुति की। जब पण्डित गौरीकान्त से श्री वैष्णवचरण के साथ शास्त्रार्थ करने को कहा गया तो उन्होंने कहा कि परमहंस देव की कृपा से मेरा और इनका तो एक ही मत हो चुका है, शास्त्रार्थ किस बात पर किया जाय ?

एक दिन हृदयानन्द और मथुराबाबू परमहंस देव के पास बैठकर बातें कर रहे थे कि वर्द्धमान राजसभा के पण्डित पद्मलोचन तर्कालंकार की बात चली। उस समय तर्कालंकार महाशय समस्त बङ्गाल में वेदान्त और न्याय शास्त्र के अद्वितीय विद्वान माने जाते थे। उनकी प्रशंसा सुनकर परमहंस देव की इच्छा उनसे मिलने की हुई तो लोगों ने उनको स्वयं वर्द्धमान जाने की सम्मति दी। वे सीधे काली माता के पास पहुँचे और कहने लगे "तू मेरी माँ होते हुए मुझे वर्द्धमान क्यों जाना पड़े, तू उसे यहीं बुला ले!" इस तरह बालक की तरह हठ करते हुए समाधिस्थ हो गये।

कुछ देर बाद चैतन्य होकर कहने लगे— "दस दिन पीछे आ जायगा, वहाँ न जाना पड़ेगा ।" दस दिन के भीतर ही एक दिन मथुराबाबू ने जल्दी-जल्दी आकर कहा— "प्रभो, आपके वर्द्धमान के पंडित जी कलकत्ता आ गये हैं। मैंने उनको राजा राधाकान्त देव के साथ बातें करते देखा था । मालूम हुआ कि पंडित जी बीमार होकर विमलाचरण विश्वास के बगीचे में ठहरे हैं । जब परमहंस देव उनको देखने को वहाँ गये तो वे तुरन्त उठ बैठे और बोले— "अहा ! कैसा आश्चर्यजनक रूप मुझे दिखाई पड़ रहा है। बाहर से तो मनुष्य जैसा आकार है, परन्तु अन्तर में काली रूप जान पड़ता है ।" पण्डित जी ने अपने विद्यार्थियों से कहा- "तुमने देखा, एक कमरा भर जाय इतनी पुस्तकों को पढ़कर मैंने जो दर्जा प्राप्त किया है उससे हजारों गुना उत्तम दर्जा परमहंस देव ने बिना पढ़े ही पा लिया है ।"

पण्डित पद्मलोचन दृढ़ वैष्णव और आचार-विचार पालने वाला व्यक्ति था । इधर रानी रासमणि के शूद्र जातीय होने से अनेक पंडित नामधारी हीन दृष्टि से देखते थे । यह सोचकर परमहंस देव ने कहा— "क्या तुम रासमणि के बगीचे में आ सकोगे ?" पद्मलोचन ने तुरन्त उत्तर दिया— "आप यदि भङ्गी, चमार के घर में हों तो वहाँ पर मैं क्या मेरे पूर्वज भी खुशी से आयेंगे । रासमणि और मथुराबाबू तो महा भाग्यशाली हैं जहाँ आप साक्षात् काली माता के रूप में विराजमान हैं । मैं इस बीमारी से मुक्त हो जाने पर मथुरा बाबू के घर पर जाऊँगा और वहाँ पर सब पंडितों को बुलाकर शास्त्रार्थ करूँगा और देखूँगा कि उनको या आपको हीन सिद्ध करने का साहस कौन करता है ?"

कलकत्ता में कोलूटोला में एक 'चैतन्य-सभा' थी । उसमें चैतन्यदेव की गद्दी बिछाकर भक्त लोग चारों तरफ कीर्तन करते थे । एक दिन परमहंस देव वहाँ पर गये और ध्यानावस्था में गद्दी पर बैठ गये । यह देखकर कोई-कोई तो मुग्धभाव से उनके दर्शन करने लगे और कोई प्रपंची; कपटी, चैतन्य का झूँठा अनुकरण करने वाला कहने लगे । उस समय कलकत्ते के समीप 'कालना' में भगवानदास बाबाजी सच्चे वैष्णव माने जाते थे । आयु भी उनकी बहुत अधिक थी, जिसका ठीक पता किसी को न था । उनसे जब किसी ने उपर्युक्त घटना कही तो वे बड़े नाराज हुए और बहुत बुरा-भला कहा । इसके कुछ दिन बाद ही परमहंस देव नौका द्वारा भ्रमण करते अकस्मात् कालना जा पहुँचे और बाबाजी के आश्रम में भी गये । बाबाजी की दृष्टि अधिक आयु के कारण बहुत क्षीण हो गई थी और वे दूर से किसी को पहचान नहीं सकते थे । परमहंसदेव के पहुँचते ही वे कहने लगे— "मेरे जैसे दीन पर दया करके किस महापुरुष ने इस कुटी को अपनी चरण-रज से पवित्र किया?" तब तक परमहंस उनके सामने जा खड़े हुए । बाबाजी ने उनके चरण छूकर बहुत स्तुति की । बाद में जब उनको यह मालूम हुआ कि ये ही महापुरुष चैतन्यदेव की गद्दी पर बैठे थे तो वे अपनी भूल पर बड़ा पश्चाताप करने लगे ।

महान होकर भी साधारण

परमहंस देव बहुत बड़े व्यक्तियों द्वारा पूज्य होने पर भी सर्वसाधारण में मिलकर रहते थे । इस कारण उन्होंने आजीवन साधुओं के कपड़े नहीं पहिने । वे सब लोगों के घर आते-जाते रहते थे और वहाँ बिना किसी विशेष आडम्बर के रहते-सहते थे । इसलिये थोड़े से साधु-सन्त और अध्यात्म विषयों के ज्ञाता ही उनके वास्तविक स्वरूप को पहिचानते थे अन्य लोग तो एक पागल ही समझते थे ।

परमहंस देव को धनवान मनुष्यों से एक प्रकार की विरक्ति थी और उनको देखते ही तिरस्कार का भाव उत्पन्न हो जाता था । यह ठीक है कि वे मथुराबाबू जैसे एक धनवान के आश्रम में रहते थे और दो-चार अन्य सम्पत्तिशाली व्यक्ति भी उनके भक्त और सहायक थे, पर ये सभी ऐसे थे जिनको आध्यात्मिक विषयों में बहुत अधिक रुचि थी और अपने धार्मिक कर्तव्यों की तरफ पूरा ध्यान रखते थे । पर धन का गर्व रखने वाले सेठ-साहूकारों अथवा राजा-महाराजाओं को वे अच्छा नहीं समझते थे और उनके मुँह पर ही खरी बात कह देते थे ।

एक दिन बाबू कृष्णदास पाल तथा अनेक 'महाराजा' तथा 'राजा बहादुरों' की 'सुसभ्य' मंडली में परमहंस देव को बुलाया गया था । उस समय कृष्णदास पाल ही समस्त सभासदों में मुख्य बोलने वाले थे । उन्होंने परमहंस देव से कहा- "वैराग्य के उपदेश ने ही इस देश का सर्वनाश किया है । संसार की समस्त वस्तुओं को असार बतलाना ही प्राचीनकाल का 'धर्म' था । इस तरह की धारणा से ही भारतवर्ष परतन्त्र हो गया । इसलिये आपको ऐसा उपदेश करना चाहिये जिससे देश का वास्तव में हित-साधन हो ।" परमहंस देव ने कुछ हँसकर उत्तर दिया— "इस तरह की विपरीत बुद्धि वाले मनुष्य हमारे देश में अधिक नहीं है । तुम प्राणियों का क्या हित-साधन करोगे ? तुम जिसे हित कहते हो उसे मै भली प्रकार जानता हूँ । पाँच आदमियों को भोजन करा देना, रोगियों का इलाज करा देना अथवा एकाध सड़क, तालाब, कुआ बनवा देना । ऐसे कामों से थोड़ा हित-साधन होता है, यह ठीक है पर मनुष्य की शक्ति ही कितनी है ? लोगो का अन्न-कष्ट तुम कैसे दूर कर सकते हो ? अन्न-कष्ट का कारण यह है कि ईश्वर ने पर्याप्त जल नहीं बरसाया और अन्न भी उत्पन्न नहीं किया । तुम

इधर-उधर से चावल इकट्ठा करके अकाल मिटाने की चेष्टा करते हो, पर उससे कितने व्यक्तियों की रक्षा होती है ? उड़ीसा और मद्रास के अकालों में कितने लाख नर-नारी अनाहार से मरे है ? मलेरिया से कितने ही प्रदेश उजाड़ हो गये, उसको औषधि से क्यों नहीं रोका ? जो लोग बच सके हैं, वे बिना औषधि के भी बच जाते । तुम लोकहित करने का अहङ्कार तो करते हो, पर यह जगत क्या है, कितना विस्तीर्ण है, इसका भी कुछ ज्ञान है ? जीव कहने से मनुष्य का ही अर्थ नहीं समझना चाहिए । इस जगत में जितने भी विभिन्न योनियों के प्राणी हैं उनको कौन आहार देता है ? उनकी रक्षा कौन करता है ? ईश्वर का कहना है कि वह मनुष्य का अहङ्कार देखकर तीन बार हँसता है । एक तो किसी मनुष्य का मरण काल उपस्थित होने पर चिकित्सक जब कहता है— "भय मत करो- मै इसे बचाऊँगा" तब ईश्वर हँसता है । जब भाई-भाई में झगड़ा होकर बँटवारे में पृथ्वी के हिस्से किये जाते हैं, तब ईश्वर हँसता है । जब एक राजा दूसरे राजा का राज्य छीन लेता है, तो तीसरी बार ईश्वर हँसता है । तुमने गङ्गाजी में मछलियों के छोटे-छोटे बच्चे देखे हैं । इस अनन्त ब्रह्माण्ड में तुम मछली के बच्चे के समान ही हो । जीवात्मा का हित करने की मनमे कल्पना करना भी निर्मूल है ।"

यह सुनकर कृष्णदास बाबू कुछ न बोल सके, पर राजा बहादुर उनकी सहायता को उठे । पर जो त्यागी महापुरुष धन को 'काक विष्ठा' की तरह समझते हैं वे राजाओं की गिनती ही कहाँ करते हैं ? अतएव इन राजा बहादुर को भी सभा-स्थल मे ही परमहंस के मुख से ऐसी ही फटकार सुननी पड़ी ।

अभी तक जितने मनुष्य दक्षिणेश्वर में आते थे उनमें से कोई परमहंस देव का शिष्य नहीं बना था और न वे किसी के गुरु बनने को तैयार होते थे । कोई उनको नमस्कार करे उसके पहले ही वे उसे नमस्कार कर देते थे । वे हर किसी को अपने पैर नहीं छूने देते थे । वैसे उनके भक्तो की संख्या उस समय (सन् १८८० के लगभग) सैकड़ों तक पहुँच गई थी और सब विचारों और सम्प्रदायों के व्यक्ति उनके पास बैठकर अपना आत्म-कल्याण करते थे । उस समय के नवयुवक प्रायः नास्तिक भावो से प्रभावित होते थे । पर ऐसे व्यक्ति उनके पास आते ही बहुत कुछ बदल जाते थे ।

कुछ मुसलमान भी उनके भक्त हो गये थे । दो ईसाइयों को भी वहाँ देखा गया । एक का नाम पी० डी० मिश्र था । उसने मांस-मछली आदि त्याग कर योगाभ्यास किया था, जिससे उसे समाधि अवस्था प्राप्त हो गई थी । दूसरा विलियम था जिसे परमहंस देव के निकट रहने से आत्मज्ञान हो गया था और वह एक पहाड़ी प्रदेश मे रहकर योगाभ्यास करने लगा था । परमहंस देव प्रत्येक व्यक्ति उसके अधिकार और मनोवृत्ति के अनुकूल ही उपदेश देते थे । हर शनिवार को वे किसी भक्त के घर पधारते और कीर्तन, नृत्य तथा हरिनाम की ध्वनि से मुहल्ले को गुँजा देते । उनके इस सीधे-सादे कीर्तन से ही कितने पाखंडी और पतित मनुष्यो का सुधार हो गया और कितनों का अहङ्कार दूर हो गया इसकी गिनती नहीं की जा सकती ।

संसार में रहकर ही साधन करो

परमहंस देव किसी के कान में मंत्र कहकर उसके गुरु नहीं बनते थे । वे उपदेश करते थे, ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग बतलाते थे, पर किसी को शिष्य बनाकर गुरु कहलाना उनको पसन्द न था । अगर कोई उनको 'गुरु' कहता तो वे कहते— "कौन किसका गुरु है ? एक ईश्वर ही सबका गुरु है । चन्दा मामा जैसे तुम्हारा मामा है वैसे ही मेरा भी मामा है ।" यह स्पष्ट था कि वे किसी को बहला-फुसलाकर अपने शिष्यो का दल तैयार करने की जरा भी इच्छा नहीं रखते थे । वैसे जो अपने मन से आकर्षित होकर अपने जीवन को सार्थक बनाने के उद्देश्य से उनके निकट आता उसके कल्याण की चेष्टा वे सदैव करते रहते थे । वास्तव में महापुरुषों का— सच्चे गुरु का लक्षण भी यही है कि वह परोक्षरूप से ही अपने निकटवर्ती और दूरवर्ती सभी व्यक्तियों को आत्मोन्नति के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता रहे। परमहंस देव यद्यपि प्रत्यक्ष में समाज-सुधार या देशोद्धार का कोई खास आन्दोलन या योजना नहीं करते थे, पर अन्तरङ्ग रूप से वे ऐसी शक्तियों को प्रेरित करते रहते थे जिससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति कार्य क्षेत्र में आ गये और उन्होंने देश तथा समाज के पुनर्निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया ।

फिर भी जो लोग उनके पीछे पड़े ही रहते उनसे कह देते कि— "माँ काली की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा ।" जो मनुष्य अपने भजन-साधन में अपने को असमर्थ जानते उनकी शरण में पड़े रहते, उनको सद्मार्ग पर चलने का उपदेश देकर अभयदान देते थे । जिसकी जैसी मनोवृत्ति होती उसे वे वैसा ही मार्ग-दर्शन कराते थे, इसलिये उनके मनोभाव को समझना अति कठिन था । अनेक शिष्यों को उनके द्वारा स्वप्न में गुरु-मंत्र प्राप्त हुआ था । परमहंस देव अपने शिष्यों से संसार-त्याग करने को नहीं कहते थे । वे कहा करते थे— "संसार को छोड़कर कहाँ जाओगे ? गृहस्थ को एक किला समझना चाहिये । किले में रहकर

शत्रु से युद्ध करना सहज होता है, क्योंकि उसमें भोजन और गोला बारूद भरकर इकट्ठा किया होता है। पर यदि खुले मैदान में युद्ध करना हो तो वह ज्यादा समय नहीं चल सकता। इसलिये संसार में रहकर ही सांसारिक कार्य चार आना भर और पारमार्थिक कार्य बारह आना भर करके ईश्वराधन करना चाहिए। संसार के ऊपर जब तक पूरा वैराग्य स्वतः उत्पन्न न हो जाय तब तक उसका त्याग नहीं करना चाहिये अन्यथा तुम्हारी वही गति होगी जैसी एक कौपीन के लिये उस साधु की हुई थी जो चूहों से कोपीन को बचाने के लिये सर्व त्यागी से फिर पूरा संसारी बन गया था।"

परमहंस देव संयोग-वश अधःपतित लोगों को भी अपनी सहनशीलता और परोपकार वृत्ति के द्वारा किस प्रकार ऊँचा उठा देते थे। इसका उदाहरण श्री गिरीशचन्द्र घोष के उदारण से मिलता है। वे बङ्गला भाषा के बड़े प्रसिद्ध नाटककार और नाटक खेलने वाले थे। आरम्भ में वे आध्यात्मिक प्रेरणा की दृष्टि से आदि ब्रह्मसमाज में जाया करते थे। पर एकाध बार वहाँ के लोगों का ढोंग देखकर 'धर्म' के कट्टर विरोधी बन गये। फिर जब परमहंस देव से उनकी भेंट हुई तो पुनः अध्यात्म की ओर आकर्षित हुए। पर एक दिन जब परमहंस देव उनका नाटक देखने गये थे तो वे किसी बात पर इतना अधिक बिगड़ गये कि सबके सामने परमहंस देव को ऐसी कठोर बातें कहीं और बुरी से बुरी गालियाँ भी दीं कि सुनने वाले स्तम्भित रह गये। सम्भवतः उस समय वे मद्य के प्रभाव में भी थे। उस समय उनके अन्य भक्त बड़े गुस्सा में आ गये पर वे स्वयम् हँसते ही रहे और सबको शान्त करके दक्षिणेश्वर चले गये। इस घटना से गिरीश बाबू की बड़ी बदनामी हो गई और वे लोगों को मुँह दिखाने में भी लज्जित होने लगे। जब यह समाचार परमहंस देव ने सुना तो उनको बड़ी दया आई। वे स्वयम् गिरीश के घर पहुँचे और वहाँ उसे ऐसे ढङ्ग से उपदेश दिया तथा हरिकीर्तन किया कि उसके मन का समस्त मैल धुल गया। तब से वे अन्त समय तक परमहंस देव के सच्चे भक्त और सेवक बने रहे।

श्री महेन्द्रनाथ गुप्त कलकत्ता में श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित स्कूल के हैडमास्टर थे। वे विद्वान थे उनको अपनी विद्या का गर्व भी था। गर्मी की छुट्टियों में वे अपनी बहिन के घर गये और एक दिन टहलते हुए दक्षिणेश्वर के बगीचे में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने एक बगीचे में परमहंस देव को उपदेश करते देखा। वे भी वहाँ बैठ गये। उस समय परमहंस देव कह रहे थे कि "भगवान का नाम स्मरण करते ही जिसे रोमांच या अश्रुपात हो जाय उसे दर्शन मिलने में अधिक विलम्ब नहीं होता। भगवान की प्राप्ति हो जाने पर संध्या, नित्य पूजा-पाठ की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। उस अवस्था में ॐकार का जप करने से ही सर्वसिद्धि होती है।" महेन्द्रनाथ को परमहंस देव का उपदेश बहुत आकर्षक जान पड़ा और वे सबके चले जाने के बाद पुनः उनसे मिले। उन्होंने देखा कि यह बिना पढ़ा व्यक्ति जितना ज्ञान रखता है उसका शतांश भी मुझमें नहीं है। इससे उनका विद्या का अहंकार दूर हो गया और कुछ समय में उनके परम भक्त और साधक बन गये।

नारी जाति की महत्ता

अनेक स्त्रियाँ भी परमहंस देव की भक्त थीं। जितनी स्त्रियाँ आती थीं उनमें वे बाबू मनमोहन की माता को सबसे उच्च बतलाते थे। वह जब तक सधवा थीं उसकी जैसी पतिपरायणता स्त्री देखने में नहीं आती थीं। विधवा होने के बाद वह जितने दिन जीवित रहीं उनका व्यवहार एक आत्म-विस्मृत हो जाने वाले का-सा रहा। हाथ की लोहे की चूड़ी और मस्तक का सिन्दूर त्याग देने के सिवाय उसमें विधवा का कोई अन्य लक्षण दिखाई नहीं पड़ता था। वह लाल धोती और सोने के कड़े पहिना करती थी। इसे देखकर अनेक लोग उल्टी-सीधी बातें करते, पर वह इस तरफ कुछ भी ध्यान नहीं देती थीं। एक समय स्त्री-धर्म का प्रसङ्ग आने पर परमहंस देव ने कहा— "स्त्रियों के लिये एकमात्र उनका पति ही धर्म है। पति में ही शान्ति, दास्य आदि सब रस वर्तमान हैं। पति चाहे जीवित हो अथवा देहान्त हो गया हो, ऐसा ही भाव सदा रखना चाहिये। मनमोहन की माता ने जो सोने के कड़े पहिन रखे हैं उसका यही कारण है। इसके हृदय के भाव बड़े उच्च और सुन्दर हैं। लोगों के कहने या रूढ़ि के कारण कोई अपना मनोभाव नहीं बदल सकता।"

जिस समय दक्षिणेश्वर में महिला-भक्तों का आना-जाना होने लगा उसके कितने ही दिन पहले परमहंस देव की पत्नी शारदा माता वहाँ आकर रहने लगी थीं। वे कभी तो उनको अपने कमरे में आने देते और कभी इनकार कर देते। एक दिन परमहंस देव को ध्यानावस्था में देखकर माता जी ने उनके मन की परीक्षा करने को कहा- "बताओ, मैं कौन हूँ?" उन्होंने बड़े आनन्द के साथ कहा "तुम हमारी माता आनन्दमयी हो!" यह सुनकर माताजी ने कहा— "तुमको ऐसी बात मुझसे नहीं कहनी चाहिए।" परमहंस देव ने उत्तर दिया— "मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि एक रूप में माँ आनन्दमयी ने इस देह को जन्मा है। एक रूप में माँ आनन्दमयी मन्दिर में काली बनकर विराजमान है और एक रूप में माँ आनन्दमयी (तुम्हारे रूप में) मेरी सेवा करती

को शिष्य बनाकर उसके गुरु कहलाना नापसन्द था । अगर कोई उनको 'गुरु' कहता तो वे उत्तर देते— "कौन किसका गुरु है ? एक ईश्वर ही सबका गुरु है । चन्दा मामा जैसे तुम्हारा भी मामा है वैसे ही मेरा मामा है ।" इससे स्पष्ट है कि वे जोर जबर्दस्ती से अथवा चमत्कार दिखाकर अपने शिष्यों का दल तैयार करने की जरा भी इच्छा नहीं रखते थे । वैसे जो अपने मन से आकर्षित होकर अपने पारलौकिक कल्याण के लिये उनके ऊपर आधार रखते थे, उनके लिये वे हमेशा व्याकुल रहते थे और वास्तव में गुरु का लक्षण यही है कि वह निरन्तर शिष्य के कल्याण की चिन्ता रखे । पर जब कोई मनुष्य उनसे गुरु-मन्त्र देने को कहता तो वे उसे अपने कुल-गुरु के पास से ही मन्त्र लेने को कह देते थे ।

इस पर भी जो लोग उनके पीछे ही पड़े रहते उनसे कहते— "माँ काली की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा।" जो मनुष्य तप अथवा भजन-साधन करने में अपने आपको असमर्थ जानते और उनकी शरण में ही पड़े रहते, उनकी भी वे सहायता करते थे । जिनकी जैसी मनोवांछा होती थी उसे वे उसी रूप में पूर्ण करते थे । इसलिये परमहंस देव के मनोभावों को समझ सकना बड़ा कठिन था । अनेक शिष्यों को उनके द्वारा स्वप्न में गुरु-मंत्र प्राप्त हुआ था । परमहंस देव अपने शिष्यों से संसार त्याग करने को नहीं कहते थे । वे कहा करते थे— "संसार को छोड़कर कहाँ जाओगे ? संसार की तुलना किले के साथ हो सकती है । किले में रहकर शत्रु से युद्ध करना सहज होता है, क्योंकि उसमें अन्न और गोला बारूद भरपूर इकट्ठा किया रहता है । पर अगर खुले मैदान में युद्ध करना हो तो ज्यादा समय तक नहीं चल सकता । इसी प्रकार संसार मे रहकर सांसारिक कार्य चार आना भर तथा शेष कार्य बारह आना भर करके ईश्वर साधना करनी चाहिए । ससार के ऊपर जब तक पूरा वैराग्य उत्पन्न न हो तब तक उसका त्याग नहीं करना चाहिये । नहीं तो तुम्हारी वैसी ही गति होगी, जैसी एक कोपीन के लिये साधुबाबा की हुई थी ।

× × ×

गिरीशचन्द्र घोष कलकत्ते के एक बड़े प्रसिद्ध नाटककार और नाटक खेलने वाले थे । जब परमहंस देव से उनकी भेंट हुई तो वे धर्म की ओर आकर्षित हुए । एक दिन जब परमहंस देव नाटक देखने गये थे गिरीशबाबू ने किसी बात पर बिगड़ कर परमहंस देव को ऐसी कठोर बातें कहीं और गन्दी से गन्दी गालियाँ सुनाईं कि उनको लिख सकना भी कठिन है । इन बातों से उनकी भक्त मण्डली को बेहद गुस्सा चढ़ गया, पर परमहंस देव हँसते ही रहे और सबको शान्त करके दक्षिणेश्वर चले गये । इस घटना से गिरीशबाबू की बड़ी बदनामी हो गई और वे लोगों में मुँह दिखाने में भी लज्जा अनुभव करने लगे । इधर दो-चार दिन बाद जब दक्षिणेश्वर में लोगों ने इस घटना की चर्चा की तो परमहंस देव को गिरीशबाबू पर दया हो आई और वे स्वयं गिरीशबाबू के घर पहुँच गये । उन्होंने ऐसे ढङ्ग से उपदेश दिया और भक्तों सहित हरीकीर्तन किया कि गिरीशबाबू के मन का समस्त सङ्कोच और लज्जा का भाव जाता रहा और तबसे वे परमहंस देव के दृढ़ अनुयायी बन गये ।

× × ×

महेन्द्रनाथ गुप्त (श्याम बाजार कलकत्ता) के विद्यासागर द्वारा स्थापित स्कूल में हैड मास्टर थे । वे विद्वान् थे और उनको अपनी विद्या का गर्व भी था । गर्मी की छुट्टियों में वे अपनी बहिन के घर गये । वहाँ से एक दिन घूमते हुई दक्षिणेश्वर के बगीचे में पहुँच गये । कई घण्टे तक वहाँ की सैर करने के बाद उन्होंने एक कमरे मे परमहंस देव को उपदेश करते हुए देखा । वे भी वहाँ पहुँच गये । उस समय परमहंस कह रहे थे कि "भगवान् का नाम स्मरण करते ही जिसे रोमाञ्च अथवा अश्रुपात हो जाय तो उसे भगवान् का दर्शन मिलने मे देर नहीं लगती । भगवान के प्राप्त होते ही समस्त कर्म का त्याग हो जाता है । फिर उसे संन्ध्या, नित्य की पूजा-पाठ आदि की आवश्यकता नहीं रहती । उस समय ॐकार का जप करने से ही सर्वसिद्धि होती है ।" महेन्द्रनाथ को परमहंस देव का उपदेश बहुत आकर्षक जान पड़ा और वे संन्ध्या की आरती के बाद भी बगीचे में ठहरे रहे और सबके चले जाने के बाद एकान्त में पुनः परमहंस देव के दर्शन किये । उन्होंने देखा कि यह बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति जितना विशाल ज्ञान रखता है उसका एक कण भी मुझमें नहीं है । इससे उनका विद्या का अहङ्कार दूर हो गया । इसके बाद वे बराबर परमहंस देव के पास आते रहे और उनके परम भक्त और बहुत बड़े साधक बन गये ।

इस दृष्टि से हम परमहंस देव को एक सच्चा गुरु कह सकते हैं । यदि वे चाहते तो अपने लाखों भक्तों और अनुयायियों में से हजारों शिष्य बना एक बड़े वैभवशाली मठ की स्थापना कर सकते थे, पर उन्होने एकमात्र नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) को तो स्वय आग्रह करके शिष्य बनाया, जिससे उनका आध्यात्मिक कार्यक्रम सुव्यवस्थित और स्थायी रूप ग्रहण कर सके । इसके सिवाय दस-बीस अन्य व्यक्तियो ने उनके पीछे पड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली, अन्यथा वे 'गुरु-शिष्य' के झगड़े से यथा संभव पृथक ही रहे और लोगो को स्वयं ही अपनी रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुकूल अध्यात्म-पथ

है।'' यह सुनकर आनन्द से माताजी के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा । इसके पीछे उन्होंने कभी ऐसी बात नहीं निकाली। परमहंस देव के पास स्त्रियाँ हर समय नहीं जा सकती थीं । ऐसे अवसरों पर वे शारदा माता के पास जाकर वार्तालाप करती थीं ।

एक दिन परमहंस देव भोजन करने बैठे, सामने कितने ही भक्त भी बैठे थे । वहाँ गृहस्थ-धर्म चर्चा उठने पर उन्होने कहा— "अच्छा, मैने विवाह किसलिए किया ? मैंने स्त्री का पाणिग्रहण क्यो किया ? पहिनने के लिये कपड़े का तो मेरे पास ठिकाना नहीं है, तो फिर विवाह कैसा ? हाँ, अब समझा (भोजन की थाली में से एक पदार्थ उठाकर) इसके लिये विवाह किया है । विवाह न करता तो ऐसा भोजन बना कर कौन देता ? सच तो यह है कि मेरी स्त्री ही यह जानती है कि मुझे कौन-सा अन्न ठीक से पचता है और उसे किस प्रकार बनाया जाता है ।

फिर कहने लगे—'विवाह किस लिए करना होता है, यह जानते हो ? ब्राह्मण शरीर के लिये दस प्रकार के संस्कार होते हैं । विवाह भी एक संस्कार है । जिसके ये दसों संस्कार हुए हों वही आचार्य हो सकता है । जो परमहंस है, जो पूर्ण ज्ञानी होना चाहता है उसे डोम-मेहतर से लेकर राजा-महाराजा तक की स्थिति को भोग लेना-अनुभव कर लेना आवश्यक है । ऐसा न हो तो सच्चा वैराग्य उसके मन में कैसे प्रवेश करेगा ? जो अवस्था उसने देखी न होगी उसी अवस्था को भोगने को मन चंचल हो उठेगा ।

"मैं जो काम करता हूँ वह सब तुम्हारे लिये करता हूँ । मैं सोलह आना भर करूँगा तो तुम एक आना भर तो करोगे । इसीलिये मैंने विवाह करके ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा उदाहरण तुम्हारे सामने रख दिया । यदि मैंने विवाह न किया होता तो गृहस्थ लोग कहते—'इन्होने विवाह तो किया नहीं । इसलिये ब्रह्मचर्य के विषय में इतनी बात कहते हैं। स्त्री से विवाह करके उसके साथ तो रहे नहीं इसी से हमको इतना लम्बा-लम्बा उपदेश देते हैं ।' यह भी एक खास कारण था जिससे बड़ी उम्र में विवाह किया । उनकी और पत्नी की आयु मे जो विशेष अन्तर था उसका कारण विशेष आत्मिक सम्बन्ध था, क्योंकि प्रत्येक स्त्री इस प्रकार उनके साथ नहीं रह सकती थी । शारदा माता जब प्रथम बार दक्षिणेश्वर आईं तो आठ महीने तक उनके साथ एक शैय्या पर सोती रहीं । कामारपुकुर और जयरामवारी (ससुराल) में भी अपनी पत्नी के साथ एक-एक, दो-दो महीने तक रहे पर उन्होंने मन में कभी काम-विकार उत्पन्न नहीं होने दिया । शारदा माता ने भी कभी इसकी शिकायत नहीं की । यह एक असाधारण स्थिति थी जिससे ये पति-पत्नी हजारों व्यक्तियों के लिये दैवी पुरुष और शक्ति की तरह पूजनीय बन सके । हमारे शास्त्रों के मतानुसार कोई महान् व्यक्ति के बिना शक्ति के संसार के उद्धार सम्बन्धी कार्यों को नहीं कर सकता, उसका एक उदाहरण परमहंस देव और शारदा माता का दैवी वैवाहिक जीवन था ।

परमहंस देव की माता भी अन्तिम बारह वर्ष तक उनके पास दक्षिणेश्वर में रही थीं । जब मथुराबाबू परमहंस देव को ५० हजार रुपया देना चाहते थे तो इसके लिये परमहंस जी ने उनको बहुत डांटा-फटकारा । तब मथुराबाबू उनकी माता से कहने लगे— "दादी माँ, आप तो मुझे पुत्र की तरह मानती हैं, पर आपने कभी मुझसे कोई सेवा नहीं ली। इसलिये अगर मुझसे स्नेह रखती है तो कोई भी चीज माँग लें ।" मथुराबाबू की बात सुनकर माता जी बड़ी चिन्ता में पड़ गईं । उन्होंने विचार किया तो किसी चीज की आवश्यकता नहीं जान पड़ी । पर जब मथुराबाबू बार-बार कहते ही रहे तो उन्होंने कहा— "नहीं मानते तो मेरे लिये एक आने की हुलास (पिसी तम्बाकू) की पुड़िया लेते आना। मैं उससे मंजन करती हूँ और अब वह खत्म हो गई है ।" यह सुनकर द्रव्य का गर्व रखने वाले मथुराबाबू के नेत्रों में जल भर आया और प्रणाम करके कहने लगे— "धन्य है, माताजी, धन्य है आपकी निर्लोभिता ! आप जैसी माता न होतीं तो ऐसे परम त्यागी पुत्र (श्रीराम कृष्णदेव) कहाँ से आते ?" यह कहकर उन्होंने माताजी को हुलास मँगवा दी ।

शिष्यों के प्रति कल्याण-भावना

भारतीय धर्म-ग्रन्थो में गुरु को बड़ा महत्त्व दिया जाता है । कई स्थानो मे तो 'गुरु साक्षात् परब्रह्म' लिखकर उनको ईश्वर की पदवी दे दी गई है । यह बात यथार्थ भी मानी जा सकती है । यदि गुरु भी अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करें । जिस गुरु को सदैव शिष्य के कल्याण का ध्यान रहता है और जो उसकी उन्नति के लिये निःस्वार्थ भाव से अधिक से अधिक सहयोग प्रदान करता है यह शिष्य के लिए भगवान के समान ही माननीय है । पर जो गुरु गोस्वामी तुलसीदास जी के कथनानुसार "हरहिं शिष्य धन शोक न हरई" वाली उक्ति को चरितार्थ करते हैं— शिष्य को अन्ध-विश्वास के गड्ढे में गिराकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने की फिक्र में रहते हैं, उनको 'गुरु' के पवित्र नाम को ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है ।

श्रीराम-कृष्ण परमहंस किसी मनुष्य के कान में मन्त्र कहकर उसके गुरु नहीं बनते थे । वे उपदेश करते थे, ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग बतलाते थे, पर किसी मनुष्य

को शिष्य बनाकर उसके गुरु कहलाना नापसन्द था। अगर कोई उनको 'गुरु' कहता तो वे उत्तर देते— "कौन किसका गुरु है ? एक ईश्वर ही सबका गुरु है। चन्दा मामा जैसे तुम्हारा भी मामा है वैसे ही मेरा मामा है।" इससे स्पष्ट है कि वे जोर जबर्दस्ती से अथवा चमत्कार दिखाकर अपने शिष्यों का दल तैयार करने की जरा भी इच्छा नहीं रखते थे। वैसे जो अपने मन से आकर्षित होकर अपने पारलौकिक कल्याण के लिये उनके ऊपर आधार रखते थे, उनके लिये वे हमेशा व्याकुल रहते थे और वास्तव में गुरु का लक्षण यही है कि वह निरन्तर शिष्य के कल्याण की चिन्ता रखे। पर जब कोई मनुष्य उनसे गुरु-मन्त्र देने को कहता तो वे उसे अपने कुल-गुरु के पास से ही मन्त्र लेने को कह देते थे।

इस पर भी जो लोग उनके पीछे ही पड़े रहते उनसे कहते— "माँ काली की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा।" जो मनुष्य तप अथवा भजन-साधन करने में अपने आपको असमर्थ जानते और उनकी शरण में ही पड़े रहते, उनकी भी वे सहायता करते थे। जिनकी जैसी मनोवांछा होती थी उसे वे उसी रूप में पूर्ण करते थे। इसलिये परमहस देव के मनोभावों को समझ सकना बड़ा कठिन था। अनेक शिष्यों को उनके द्वारा स्वप्न में गुरु-मंत्र प्राप्त हुआ था। परमहंस देव अपने शिष्यों से संसार त्याग करने को नहीं कहते थे। वे कहा करते थे— "संसार को छोड़कर कहाँ जाओगे ? संसार की तुलना किले के साथ हो सकती है। किले में रहकर शत्रु से युद्ध करना सहज होता है, क्योंकि उसमें अन्न और गोला बारूद भरपूर इकट्ठा किया रहता है। पर अगर खुले मैदान में युद्ध करना हो तो ज्यादा समय तक नहीं चल सकता। इसी प्रकार संसार मे रहकर सांसारिक कार्य चार आना भर तथा शेष कार्य बारह आना भर करके ईश्वर साधना करनी चाहिए। संसार के ऊपर जब तक पूरा वैराग्य उत्पन्न न हो तब तक उसका त्याग नहीं करना चाहिये। नहीं तो तुम्हारी वैसी ही गति होगी, जैसी एक कोपीन के लिये साधुबाबा की हुई थी।

× × ×

गिरीशचन्द्र घोष कलकत्ते के एक बड़े प्रसिद्ध नाटककार और नाटक खेलने वाले थे। जब परमहंस देव से उनकी भेंट हुई तो वे धर्म की ओर आकर्षित हुए। एक दिन जब परमहस देव नाटक देखने गये थे गिरीशबाबू ने किसी बात पर बिगड़ कर परमहंस देव को ऐसी कठोर बातें कहीं और गन्दी से गन्दी गालियाँ सुनाईं कि उनको लिख सकना भी कठिन है। इन बातों से उनकी भक्त मण्डली को बेहद गुस्सा चढ़ गया, पर परमहंस देव हँसते ही रहे और सबको शान्त करके दक्षिणेश्वर चले गये। इस घटना से गिरीशबाबू की बड़ी बदनामी हो गई और वे लोगों में मुँह दिखाने में भी लज्जा अनुभव करने लगे। इधर दो-चार दिन बाद जब दक्षिणेश्वर में लोगों ने इस घटना की चर्चा की तो परमहंस देव को गिरीशबाबू पर दया हो आई और वे स्वयं गिरीशबाबू के घर पहुँच गये। उन्होंने ऐसे ढङ्ग से उपदेश दिया और भक्तों सहित हरीकीर्तन किया कि गिरीशबाबू के मन का समस्त सङ्कोच और लज्जा का भाव जाता रहा और तबसे वे परमहंस देव के दृढ़ अनुयायी बन गये।

× × ×

महेन्द्रनाथ गुप्त (श्याम बाजार कलकत्ता) के विद्यासागर द्वारा स्थापित स्कूल में हैड मास्टर थे। वे विद्वान् थे और उनको अपनी विद्या का गर्व भी था। गर्मी की छुट्टियों में वे अपनी बहिन के घर गये। वहाँ से एक दिन घूमते हुई दक्षिणेश्वर के बगीचे में पहुँच गये। कई घण्टे तक वहाँ की सैर करने के बाद उन्होंने एक कमरे में परमहंस देव को उपदेश करते हुए देखा। वे भी वहाँ पहुँच गये। उस समय परमहंस कह रहे थे कि "भगवान् का नाम स्मरण करते ही जिसे रोमाञ्च अथवा अश्रुपात हो जाय तो उसे भगवान् का दर्शन मिलने में देर नहीं लगती। भगवान के प्राप्त होते ही समस्त कर्म का त्याग हो जाता है। फिर उसे संन्ध्या, नित्य की पूजा-पाठ आदि की आवश्यकता नहीं रहती। उस समय ॐकार का जप करने से ही सर्वसिद्धि होती है।" महेन्द्रनाथ को परमहंस देव का उपदेश बहुत आकर्षक जान पड़ा और वे संन्ध्या की आरती के बाद भी बगीचे में ठहरे रहे और सबके चले जाने के बाद एकान्त में पुनः परमहंस देव के दर्शन किये। उन्होंने देखा कि यह बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति जितना विशाल ज्ञान रखता है उसका एक कण भी मुझमें नहीं है। इससे उनका विद्या का अहङ्कार दूर हो गया। इसके बाद वे बराबर परमहंस देव के पास आते रहे और उनके परम भक्त और बहुत बड़े साधक बन गये।

इस दृष्टि से हम परमहंस देव को एक सच्चा गुरु कह सकते हैं। यदि वे चाहते तो अपने लाखों भक्तों और अनुयायियों मे से हजारों शिष्य बना एक बड़े वैभवशाली मठ की स्थापना कर सकते थे, पर उन्होने एकमात्र नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) को तो स्वयं आग्रह करके शिष्य बनाया, जिससे उनका आध्यात्मिक कार्यक्रम सुव्यवस्थित और स्थायी रूप ग्रहण कर सके। इसके सिवाय दस-बीस अन्य व्यक्तियों ने उनके पीछे पड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली, अन्यथा वे 'गुरु-शिष्य' के झगड़े से यथा संभव पृथक ही रहे और लोगों को स्वयं ही अपनी रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुकूल अध्यात्म-पथ

पर अग्रसर होने की प्रेरणा करते रहे, जिससे बाद में पीछे कदम हटने और माया-मोह में लिप्त होकर हास्यास्पद बनने की नौबत न आये ।

स्वामी विवेकानन्द को शक्ति प्रदान करना

नरेन्द्र (बाद में स्वामी विवेकानन्द) से परमहंस देव की प्रथम भेंट सन् १८८१ में एक भक्त के घर पर हरिकीर्तन करते हुए हुई थी । प्रथम दृष्टि में ही वे उनकी तरफ विशेष रूप से आकर्षित हो गये और उनसे एक दिन दक्षिणेश्वर आने का आग्रह किया । जब वे वहाँ पहुँचे तो परमहंस देव उनको एकान्त में ले जाकर कहने लगे---- "इतने दिन पीछे आया है, मैं तेरा कितना अधिक रास्ता देख रहा था। मैं जानता हूँ तुम पुरातन ऋषि हो, जीवात्माओं की दुर्मति निवारण के लिये तुमने पुनः शरीर धारण किया है ।" नरेन्द्र ये बातें सुनकर स्तब्ध रह गये और सोचने लगे कि आज अच्छे पागल से पाला पड़ा । वे किसी प्रकार पीछा छुड़ाकर घर वापस चले गये ।

इसके बाद नरेन्द्र जब परमहंस देव के पास गये तो उन्होंने अपनी विशेष आत्मिक शक्ति से उनको विश्वास दिला दिया कि वास्तव मे वे एक विशेष आत्मा हैं और उनका जन्म लोक-सेवा के किसी महान कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये हुआ है । अन्त में वह दिन आया जबकि वे परमहंस देव के सर्वप्रधान शिष्य बनकर उनके उद्देश्य की पूर्ति करने योग्य बन गये । स्वामी विवेकानन्द जी ने गुरु की आज्ञा का पालन करके भारत ही नहीं विदेशों में भी भारतीय धर्म की पताका गाड़ दी और मनुष्य मात्र के लिये आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया ।

जीवन की अन्तिम झाँकी

सन् १८८६ के आरम्भ में परमहंस देव को अपने शरीर में ऐसे लक्षण दिखाई पड़ने लगे जिससे उनको शीघ्र ही अन्त होने का ज्ञान हो गया । इसलिये एक दिन उन्होंने कुछ शिष्यों से बात कहते हुए कहा---- "सुनो, मैं माता से कह रहा था कि अब लोगों के साथ बात नहीं कर सकूँगा, इसलिये महेन्द्र, नरेन्द्र, गिरीश, विजय, केदार आदि शिष्यों को शक्ति दे, जिससे उपदेश देकर वे सच्चे भक्त तैयार करें ।"

इसके कुछ ही दिन बाद उनके गले में दर्द होने लगा और भोजन करना कष्टकर हो गया । धीरे-धीरे यह रोग गण्डमाला के रूप में परिणित हो गया । गले में गाँठे निकलने लगीं और उनमें पीव पड़ गया । परमहंस जी डाक्टरी इलाज नहीं कराते थे, इससे होमियोपैथी चिकित्सा शुरू की गई । पर रोग लगातार बढ़ता ही गया । अन्त में कलकत्ते के सबसे मशहूर डाक्टर महेन्द्रपाल सरकार का भी इलाज कराया। पर उसका अधिक प्रभाव न हुआ । १५ अगस्त १८८६ को उनकी दशा ज्यादा खराब हो गई । तब उन्होंने कहा कि 'जब रोग नहीं मिटता तो इसके लिये तकलीफ सहने की आवश्यकता क्या है ?' उसी रात को एक बजे समाधिस्थ हो गये ।

परमहंस देव के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द जी ने उनके कितने ही शिष्यों को सन्यास ग्रहण करके लोकोपकार के लिये सर्वस्व अर्पण करने को तैयार किया । सबसे पहले वे स्वयं इस क्षेत्र में अग्रसर हुए और देश-विदेशों में कई वर्ष तक अथक प्रचार कार्य करके 'श्री रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की जो उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आज तक जन-सेवा और जन-जागरण की अनेक योजनायों को कार्यान्वित कर रहा है ।

भारतीय संस्कृति के महान संरक्षक स्वामी श्रद्धानन्द

सन् १८९८ की बात है, 'आर्य प्रतिनिधि सभा' पंजाब ने धर्म और जातीयता की शिक्षा देने के लिये भारतवर्ष के प्राचीन आदर्श पर एक 'गुरुकुल' खोलने का प्रस्ताव पास किया । सभा में वक्ताओं ने कहा कि- "अँग्रेजी ढंग की विदेशी शिक्षा के प्रभाव से नवयुवकों में से अपने धर्म और संस्कृति की भावना दिन पर दिन घटती जाती है, वे विदेशी सभ्यता की तरफ आकर्षित होते जाते हैं । यदि इस पतनोन्मुख प्रवाह को रोकना है तो वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल एक आदर्श शिक्षा-संस्था की स्थापना अत्यावश्यक है ।"

प्रस्ताव तो पास कर दिया गया, पर ऐसे 'गुरुकुल' के लिये धन और विद्यार्थी प्राप्त करना सहज न था । उस समय तक लोगों ने 'गुरुकुल' का नाम भी न सुना था । जब उनको प्राचीन शास्त्रों में वर्णित ऋषि-मुनियों के उन गुरुकुलों का वर्णन सुनाया जाता था, जिनमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी बनकर और अपने निर्वाह की व्यवस्था स्वयं करके अठारह-बीस वर्ष तक वेदादि विद्याओं का अध्ययन करते थे और उतने समय तक गुरुओं के आश्रम में ही रहते थे, तो लोग आश्चर्य करने लगते थे । वे हँसकर कहते---- "श्रीमान जी ! इस अँग्रेजी शिक्षा के जमाने में, कौन दस-बीस वर्ष तक सिर मुड़ाकर जंगलों में रहेगा और संस्कृत जैसी 'मृत-भाषा' को पढ़ेगा !"

पर 'आर्य प्रतिनिधि सभा' के अध्यक्ष ला० मुन्शीराम जी (१८५६ से १९२६) (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी)

जिन्होंने इस प्रस्ताव को पास कराया था, दूसरी धातु के बने मनुष्य थे। वे इस योजना में आने वाली महान कठिनाइयों और लोगों की उदासीनता की बात को अच्छी तरह समझते थे। इसलिये प्रस्ताव के पास होते ही सभा-स्थल पर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि "जब तक मैं 'गुरुकुल' के लिये तीस हजार रुपया इकट्ठा न कर लूँगा घर में पैर न रखूँगा।"

उस समय वे जालन्धर में वकील का पेशा करते थे, जिसमें उनका अच्छा नाम और आमदनी थी। 'आर्य समाज मन्दिर' के पास ही उनकी बढ़िया कोठी बनी थी। मुकद्दमे तथा 'समाज' के कार्य से वे प्रायः लाहौर जाया ही करते थे। जब वे वापस आते तो उनकी घोड़ागाड़ी उनको लेने स्टेशन पर पहुँच जाती थी। उस दिन भी वे सदा की तरह स्टेशन से अपनी गाड़ी में बैठकर रवाना हुये, पर घर न जाकर कोचवान को आर्य समाज मंदिर के सामने ही गाड़ी रोकने का आदेश दिया और अपना सामान उतरवा कर वहीं ठहर गये।

जब यह समाचार कोचवान ने घर पर जाकर सुनाया तो वहाँ खलबली-सी मच गई। ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ। घर भी आर्य-समाज मंदिर के सामने ही बना है। दोनों के बीच में केवल सड़क का अन्तर है जो कुछ गज से ज्यादा न होगा। तब वे घर न आकर 'आर्य समाज मन्दिर' में क्यों ठहर गये? घरवाले घबराये हुये वहाँ पहुँचे तो मुन्शीरामजी ने उनको बतलाया कि "मैंने प्रतिज्ञा करली है कि जब तक 'गुरुकुल' के लिये ३० हजार रुपया इकट्ठा न कर लूँगा तब तक घर में पैर न रखूँगा।" यह एक ऐसे व्यक्ति की प्रतिज्ञा थी जिसे अपने सिद्धान्तों और आत्म-शक्ति पर अटल श्रद्धा थी। बस वे अपना काम-धाम छोड़कर भारत के अनेक शहरों का दौरा करने लगे और डेढ़ वर्ष में तीस हजार के बजाय चालीस हजार रुपया एकत्रित करके दिखा दिया।

इसके बाद गुरुकुल में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की समस्या सामने आई, तो उन्होंने सबसे पहले अपने दोनों पुत्रों— इन्द्र और हरिश्चन्द्र को उसमें दाखिल किया फिर अपने खास मित्रों के दस-पन्द्रह बच्चों को इकट्ठा किया। कनखल के पास हिमालय की तराई में 'कांगड़ी' नाम का गाँव दान में प्राप्त करके वहीं 'गुरुकुल' की स्थापना की गई। आज तो गुरुकुल मामूली-सी बात बन गई है और छोटी-छोटी जातियों ने अपनी गुरुकुल नामधारिणी स्वतंत्र संस्थाएँ शहरों में ही खोल ली हैं। पर आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व, एक जंगली स्थान में, जहाँ अक्सर बाघ और जंगली हाथी भी आ जाते थे, छोटे बालकों का उत्तरदायित्व ग्रहण करके कोई शिक्षा-संस्था खोलना साधारण साहस का काम न था। पर मुन्शीरामजी इतने कर्तव्यपरायण और सेवाभावी थे। आरम्भ से ही सभी बच्चों की देख-भाल अच्छी तरह अ[पने] बच्चों के समान ही करते थे। उन्होंने जैसे परिश्रम ओ[र] संलग्नता से कार्य करके इस संस्था का निर्माण और विक[ास] किया उसकी कल्पना भी हम लोग नहीं कर सकते।

मातृ-भाषा का माध्यम

गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली की मुख्य विशेषता यह थी कि वहाँ वेदाध्ययन के अतिरिक्त और सब विषय, विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि भी पढ़ाये जाते थे, पर उन सबका माध्यम हिन्दी को ही रखा गया था। उस समय इस देश के विदेशी शासक ही नहीं स्वयं भारतवासी भी हिन्दी को उच्च शिक्षा के अयोग्य समझते थे और स्कूलों में छोटे दर्जों से ही सब विषय अँग्रेजी में पढ़ाये जाते थे। जिन अंग्रेज विद्वानों ने इस शिक्षा प्रणाली का निर्माण किया था, उनका एक गुप्त उद्देश्य यह भी था कि लगातार कुछ समय तक अँग्रेजी पढ़ते रहने से यहाँ के लोगों पर अँग्रेजी की श्रेष्ठता की छाप अपने आप पड़ जायगी और अँग्रेजों को अपने से सब तरह से बड़ा समझ कर वे उनके सामने कभी सर न उठायेंगे।

श्रद्धानन्द जी ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया था और इसे अपनी जाति और अपने देश के लिये पतनकारी समझ कर, इसके प्रतिकारार्थ गुरुकुल प्रणाली का प्रचलन किया था। मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा ग्रहण करना विद्यार्थियों के लिये कितना हितकर होता है— यह विचार इस समय तो कार्यरूप में परिणित हो गया है और होता जाता है। पर सत्तर वर्ष पूर्व अँग्रेजी पढ़े-लिखे को किसी दूसरी दुनिया का श्रेष्ठ जीव समझा जाता और उनके लिये उन्नति के अनेक दरवाजे खुले रहते थे। इसके मुकाबले में हिन्दी पढ़ों का भाग्य आठ रुपये महीने की पटवारीगिरी या मास्टरी से शायद ही आगे बढ़ पाता था। थोड़ी बहुत अंग्रेजी आये बिना किसी दफ्तर की क्लर्की भी कठिनाई से मिलती थी। ऐसे समय किसी शिक्षा-संस्था को प्राचीन आदर्श पर चलाकर और उसका माध्यम हिन्दी को रखकर सफल और माननीय बना देना एक असाधारण कार्य ही था। उस स्थिति का वर्णन करते हुये श्री विष्णु प्रभाकर ने ठीक ही लिखा है—

"वे सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने के महत्व को समझा। सबसे पहले गुरुकुल में ही उसका क्रियात्मक रूप से परीक्षण उन्होंने किया। गुरुकुल के स्नातकों ने अनेक ऐतिहासिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रन्थ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय के संस्थापकों के

संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये । जिन सुनहरी जंजीरों को अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहिन लिया है, मन लुभाने वाली वे जंजीरें न जाने जितनी बार हमारे सामने पेश की गईं । पर परमेश्वर ने हमको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी ।"

फिर भी बीच-बीच में आपके सामने कठिन परीक्षायें आती रहीं, जिनका मुकाबला साहस के साथ करके पार पाया गया । गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को शुरू के वर्षों में घोड़े की सवारी और धनुष-बाण की शिक्षा दी जाती थी । इससे सरकार को सन्देह हुआ कि कहीं उसके विरुद्ध कोई षडयन्त्र तो नहीं रचा जा रहा है । उसकी तरफ से इस सम्बन्ध में काफी जाँच-पड़ताल की गई । सन् १९०७ में जब भारतव्यापी राजनीतिक आन्दोलन भड़का और आर्य-समाज के नेता माने जाने वाले ला० लाजपतराय को राजद्रोह के अभियोग में निर्वासित कर दिया गया, तो सरकार की कुदृष्टि सभी आर्य समाजियों पर पड़ीं । इससे भयभीत होकर अनेक आर्यसमाजी नेताओं ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि 'आर्य-समाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है ।' पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लाहौर आर्य-समाज के उत्सव पर लाला लाजपत राय पर स्पष्ट रूप से विश्वास प्रकट किया और सरकार की धमकियों की कुछ भी परवाह न की ।

मातृ-भाषा का प्रचार

स्वामीजी के मातृ-भाषा प्रचार के कार्य को देखकर सन् १९१३ में उन्हें भागलपुर में होने वाले चौथे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाया गया । वैसे यह पद हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों को दिया जाता था और स्वामी जी हिन्दी की अपेक्षा उर्दू-फारसी ही अधिक पढ़े थे । पर गुरुकुल द्वारा उन्होंने हिन्दी की सेवा का जो कार्य उठाया था, वह बड़े-बड़े विद्वानों की योग्यता से भी बढ़कर माना गया । उस समय आपकी प्रशंसा करते हुये 'लीडर' (प्रयाग) ने लिखा था "महात्मा मुन्शीराम जी (स्वामीजी का पूर्व नाम) इतने विख्यात हैं कि उनकी प्रशंसा करना व्यर्थ है । जिस सम्मेलन का ऐसा सभापति हो, उसको अवश्य ही सफलता और सहायता प्राप्त होगी ।" अपने भाषण में स्वामी जी ने मुख्य बात यह कही—

"हमारी सभ्यता के तीन प्रधान चिन्ह हैं— अहिंसा, मातृशक्ति का सत्कार और ब्राह्मणत्व । ये तीनों गुण पराई भाषा द्वारा विकसित नहीं हो सकते । इसलिये हम परकीय भाषा अपनायेंगे, तो हम भ्रष्ट हो जायेंगे, एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकेंगे ।"

जिस समय देश में हिंसात्मक आन्दोलन चल रहा था, उस समय अहिंसा का उल्लेख करना, स्त्रियों को उच्च स्थान देना तथा सच्चे ब्राह्मणत्व (ज्ञानी जन) का उत्थान जैसी मूलभूत बातों की ओर प्रेरणा दिलाना स्वामी जी की दूरदर्शिता का परिचायक था । वे स्वयं आरम्भ से इसी मार्ग पर चलते आये थे । उन्होंने सन् १८९० में ही इस स्थिति को समझ लिया था और जालंधर में 'कन्या महाविद्यालय' की नींव डाल दी थी । उसकी घटना भी बड़ी प्रेरणाजनक है । उस समय लड़कियों की शिक्षा की कोई व्यवस्था न होने से उन्होंने अपनी लड़की को 'मिशन स्कूल' में पढ़ने को भेजा था । एक दिन वह कन्या घर पर आकर यह गाना गाने लगी—

तू तो ईसा-ईसा बोल ।
तेरा क्या लगेगा मोल ।।
ईसा मेरा राम रमैया ।
ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया ।।

यह सुनते ही उनके कान खड़े हो गये कि ईसाई स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने का यही परिणाम होगा । उन्होंने उसी समय निश्चय किया कि एक 'आर्य कन्या पाठशाला' की स्थापना की जाय जिसमें अपने धर्म के अनुकूल शिक्षा दी जाय । उन्होंने इसके लिये अपील निकाली । लाला देवराज उनको इस कार्य में सहयोगी मिल गये । थोड़े ही समय में पाठशाला चल निकली और आज वह 'कन्या महाविद्यालय, जालन्धर' के रूप में समस्त भारतवर्ष की एक प्रसिद्ध और माननीय स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी संस्था है । यदि यह कहा जाय कि हिन्दी प्रान्तों मे स्त्री-शिक्षा की प्रगति का एक बहुत बड़ा स्रोत यही शिक्षा संस्था रही है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं । आज से चालीस-पचास वर्ष पहले भी इसमें समस्त भारत से ही नहीं समुद्र पार के देशों से भी हिन्दू कन्यायें शिक्षा ग्रहण करने आती थीं ।

ये वही 'श्री-मुन्शीराम' थे जो बनारस में मन्दिरों की दुर्दशा और ठगलीला देखकर स्वयं ईसाई बनने को तैयार हो गये थे । वे उस समय 'फादर लीफ' नामक पादरी की युक्तियों और प्रेरणा से 'बपतिस्मा' लेने को गिर्जाघर पहुँचे थे । पर अकस्मात् एक ईसाई पादरी तथा 'नन' (ईसाई महिला ब्रह्मचारिणी) का भ्रष्टाचार देखकर वापस लौट आये ।

इसके पश्चात् उन्होंने मथुरा में भी पण्डा और पुजारियों की जो लीला देखी उससे उन्हें 'पौराणिक धर्म' से और भी विरक्ति हो गई । जब उनके पिता ने वहाँ के चौबों से भोजन के लिये कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि— "मन के चार चाहियें या दस ।" जब वे इस पहेली को न समझ सके तो चौबों ने ही समझाया कि "आप एक मन में चार

चौबों अर्थात् दस सेर भोजन करने वालों को बुलाना चाहते हैं अथवा चार-चार सेर खाने वाले दस चौबों को ।" उन चौबों को भाँग के नशे में चूर देखकर इनको उनसे बड़ी घृणा हो गई । इसके साथ ही यहाँ के गोकुलिये गुसाँईयों के मन्दिरों में व्यभिचार लीलायें देखीं । इन सब बातों के कारण इनका मन धर्म से बिलकुल हट गया और कुछ समय के लिये में एक प्रकार से नास्तिक हो गये । बाद में स्वामी दयानन्द जी के उपदेश सुनने से उनके विचार बदले और वे 'आर्य-समाज' के पक्के सदस्य बन गये ।

पंजाब में हिन्दू-संस्कृति और हिन्दी की रक्षा

यदि विचार किया जाय तो यह मालूम पड़ता है कि पंजाब की काया पलट करके उसमें जातीयता और धार्मिकता की भावना को जागृत करने का श्रेय बहुत कुछ श्रद्धानन्द जी को ही है । गत ढाई हजार वर्षों में यूनानियों से लेकर पठानों और मुगलों तक के हमलों का पहला वार पंजाब को ही झेलना पड़ा था । भारत के भाग्य का निर्णय करने वाले पानीपत के तीनों युद्ध उसी की भूमि पर लड़े गये और पठान तथा मुगल शासन का दौरदौरा वहीं पर रहा । इन सब प्रहारों ने पंजाबियों को सुदृढ़ और संघर्षशील तो बना दिया, पर हमेशा मरने-मारने और विधर्मियों के साथ रहने से भारतीय सभ्यता और संस्कृति को वे बहुत कुछ भूल गये । अंग्रेजों ने भी इस तथ्य को पहिचाना और पंजाबियों को आरम्भ से ही अपने साथ मिलाकर रखने का प्रयत्न किया । खासकर सन् १८५७ के गदर में पंजाब की सेना ने जिस प्रकार दिल खोलकर अँग्रेजों की सहायता की और उनके डगमगाते हुये राज्य को बचाया, तबसे उन्हें यह विश्वास हो गया कि पंजाब की भूमि उनके साम्राज्य की जड़ें मजबूत करने में विशेष रूप से सहायक हो सकती है। इसलिये वे लोग बड़े प्रयत्न से वहाँ अंग्रेजियत, ईसाइयत और फैशनपरस्ती आदि को बढ़ावा देते रहे, जिससे वहाँ के युवक अपनी जातीयता की तरफ ध्यान न देकर साँसारिक भोग-विलास की तरफ आकर्षित बने रहे और इसकी पूर्ति के लिये अंग्रेजों की नौकरी करके उनके राज्य को मजबूत बनाते रहे ।

पंजाब में जातीयता के अभाव का एक बड़ा कारण यह भी था कि वहाँ की जन-भाषा उर्दू हो गई थी और वे लोग हिन्दी से प्रायः अपरिचित थे । जैसा हम जानते हैं कि भाषा और संस्कृति का बड़ा संबंध है और भाषा के माध्यम से ही हमारे विचार तथा भावनायें दृढ़ बनती हैं । जो लोग उर्दू, फारसी आदि पढ़कर उन भाषाओं के साहित्य मे वर्णित भावों तथा कथाओं आदि की चर्चा करते रहते हैं, उनमें और जो हिन्दी-संस्कृत तथा इन्हीं से निकली अन्य भारतीय भाषाओं को पढ़ते हैं उनके विचारों में कितना अन्तर होता है, इसका कुछ आभास एक जातीयता प्रेमी महाकवि की इन दो-चार पंक्तियों से हो सकता है—

भीम अर्जुन की जगह पर गैव रुस्तम को बिठा ।
सभ्य लोगों में नहीं तुम आप सकते हैं उठा ।।
कर्ण की ऊँची जगह जो हाथ हातिम के चढ़ी ।
तो समझ लो ढह पड़ेगी आपकी गौरव गढ़ी ।।
क्या हसन की मसनवी पर आप होकर मुग्ध मन ।
फेंक देंगे हाथ से वह दिव्य रामायन रतन ।।

बस ऐसी ही दशा आज से अस्सी-नब्बे वर्ष पूर्व पंजाब की हो चुकी थी । धार्मिक पुस्तकों से प्रेम होने के कारण वहाँ की इक्की-दुक्की स्त्रियाँ भले ही थोड़ी-सी हिन्दी पढ़ लेती हों, अन्यथा पुरुषों में सोलह आना उर्दू का प्रचार था, जिसका नमूना अब भी किसी पुराने आदमी में देखा जा सकता है । ऐसे वातावरण में धर्म और जातीयता के प्रचार का व्रत ग्रहण करके श्रद्धानन्द जी ने देखा कि धर्म-प्रचार का कार्य भी बिना भाषा-प्रचार के नहीं हो सकता, क्योंकि हिन्दू धर्म की सभी पुस्तकें हिन्दी या संस्कृत में ही हैं । इसलिये उन्होंने सबसे पहले अपने निवास-स्थान जालन्धर में ही इन दोनों के प्रचार का कार्य आरम्भ किया । इसके लिये एक उच्चपदस्थ और प्रसिद्ध व्यक्ति होते हुये भी उन्होंने कैसे-कैसे अति सामान्य तरीके अपनाये इसका वर्णन करते हुये अफ्रीका निवासी श्री भक्तराम शर्मा ने अपने अनुभवों मे लिखा है-

"महात्मा मुन्शीराम वर्षों तक इकतारा बजाकर प्रातःकाल जालन्धर की गलियों में भजनों व दोहों द्वारा प्रचार करते रहे । उन्हें भिखारी समझ कर कुछ देवियाँ अन्न-वस्त्र दे देतीं तो वे उसे लाकर आर्य-समाज मे जमा कर देते थे । यह याद रखना चाहिये कि जालन्धर में ही उनकी ससुराल थी । पर उन्होंने कभी झूठी लज्जा अनुभव नहीं की । है किसी को प्रचार की ऐसी लगन ।"

समाज-सेवा के क्षेत्र में पदार्पण करने वालों के लिये श्रद्धानन्द जी का आदर्श निसन्देह बड़ा प्रेरणात्मक है । लोग शौक से, या इष्ट-मित्रों के आग्रह से सार्वजनिक संस्थाओं के कार्यकर्ता तो बन जाते हैं, पर कदम-कदम पर उनको कठिनाइयाँ दिखाई पड़ती हैं । उनके हृदय में छोटे-बड़े की भावना हमेशा काम करती रहती है और वे अन्य कार्यकर्ताओं से सहयोग का भाव रखने की अपेक्षा प्रतियोगिता का विचार अवश्य रखते है । परिणाम यही होता है कि बाहरी लोगों को संस्था का ऊपरी ठाठ-बाट और धूमधाम भले ही कुछ देर के लिये आकर्षित करले, पर उसकी भीतरी शक्ति सदैव

न्यून ही रहती है । इसके विपरीत जिन संस्थाओं के कार्यकर्ता, चाहे उनकी संस्था किसी साधारण मकान में गरीबी के वातावरण में ही क्यों न चलती हो, इस प्रकार की अहम्मन्यता दूर रहते हैं और यश-मान की चिन्ता न करके कुछ ठोस सेवा का कार्य करने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, उसकी जड़े मजबूत हो जाती हैं । वास्तव मे बहुत बड़ा कोश या आलीशान इमारतें किसी संस्था की महानता के चिन्ह नहीं होते, सच्चे और हृदय में परमेश्वर की भावना रखने वाले कार्यकर्ता ही उसके प्राण कहे जा सकते हैं ।

देश के स्वाधीनता आन्दोलन में

इस प्रकार से श्रद्धानन्द जी का संबंध राष्ट्रीय कॉंग्रेस से शुरू से ही था और जब सन् १८८५ में उसकी स्थापना हुई तभी उन्होंने जालन्धर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना की । उस समय सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानों के नाम पर कांग्रेस का विरोध कर रहे थे । इसलिये जालन्धर के मुसलमानों ने अपने यहाँ कांग्रेस कमेटी को रोकने की कोशिश की और कई प्रकार से उसका विरोध किया, पर धुन के पक्के श्रद्धानन्द जी ऐसे विघ्नों की कब परवाह करते थे । उन्होंने वहाँ कांग्रेस कमेटी का काम धूमधाम से चलाकर दिखा ही दिया ।

पर इसके पश्चात् वे आर्य-समाज तथा गुरुकुल के कार्यों मे लग गये, और कांग्रेस का कार्य उन्ही के साथी आर्य-समाज के नेता, ला० लाजपतराय जी के हिस्से में चला गया । जानकार लोगों की सम्मति है कि "ला० लाजपतराय जी ने अंग्रेजों को हटाने का उद्देश्य सामने रखा और श्रद्धानन्द जी ने 'अँग्रेजियत' को मिटाने के उद्देश्य को अपनाया ।" पर जब १९१९ में महात्मा गांधी ने कांग्रेस की कायापलट करके अँग्रेजों से पूर्ण असहयोग का आन्दोलन आरम्भ किया तो स्वामी जी ने आगे बढ़कर उसमे भाग लिया और पहली बार ही वह काम कर दिखाया जिससे राजनीतिक इतिहास में उनका नाम अमर हो गया ।

महात्मा गाँधी ने असहयोग का शङ्ख बजाया और उसका श्रीगणेश करने के लिये ३० मार्च १९१९ को देशव्यापी हड़ताल की घोषणा की गई । दिल्ली मे भी पूरा कारोबार बन्द रहा, केवल एक ठेकेदार ने दुकान बन्द करने से इकार किया और पुलिस ने वहाँ धरना देने वाले दो स्वयसेवकों को गिरफ्तार कर लिया । शाम को विशाल सभा में इस घटना की चर्चा की गई और लोगों में कुछ उत्तेजना फैल गई । पर स्वामी जी सबको शान्त रहने को कहते रहे । सभा में से २०-२५ हजार व्यक्तियों का समूह जुलूस के रूप में चला । जब वह चाँदनी चौक में घण्टाघर के पास पहुँचा तो एकाएक गोली चलने की आवाज आई । लोगों में हलचल और उत्तेजना बढ़ गई, पर स्वामी जी ने आगे बढ़कर सबको शांत किया और फौजी सिपाहियों से कहा— "तुमने गोली क्यों चलाई ?"

स्वामी जी ने प्रश्न का उत्तर देने के बजाय सिपाहियों ने बन्दूक में लगी संगीन उनकी छाती की तरफ तानकर कहा— "हट जाओ, नहीं तो अभी छेद देंगे ।"

स्वामीजी के अपना वस्त्र हटाकर सीना खोल दिया और एक कदम आगे बढ़कर बड़े ऊँचे स्वर से कहा— "मार दो !" उस समय संगीनों की नोंक उनकी छाती को छू रही थीं ।

इतने में फौज का अँग्रेज अफसर घोड़ा बढ़ाकर वहाँ पहुँचा । उसे देखकर सिपाहियों ने बन्दूकें नीची करलीं । स्वामी जी ने अफसर से पूछा— "गोली क्यों चलाई गई?"

अफसर ने धीरे से कहा— "गोली भूल से चल गई थी" और वह अपने सिपाहियो को लेकर रास्ते से हट गया। जुलूस शांतिपूर्वक आगे निकल गया । यह घटना तो कुछ मिनटों में समाप्त हो गई पर इसका प्रभाव दूर-दूर तक हुआ। उसी दिन अमृतसर में जलियाँवाला बाग में जनरल डायर द्वारा ऐतिहासिक हत्याकाण्ड किया गया । दिल्ली में भी वैसा ही अवसर आ गया था, पर स्वामी श्रद्धानन्द जी के कुशल नेतृत्व और अप्रतिम साहस के कारण वह टल गया । इसके फल से स्वामी जी उस समय नेताओं की सबसे अगली पंक्ति में आ गये और जनता उनको अपना रक्षक समझ कर पूजने लगी । उस अवसर पर मुसलमानों ने भी सब भेदभाव भूलकर दिल्ली की जगत प्रसिद्ध जामा मस्जिद में उनको भाषण करने को बुलाया ।

वह एक अद्भुत दृश्य था जब एक आर्य-संन्यासी ने गेरुवा वस्त्र धारण किये हुए जामा मस्जिद के मुम्बर (इमाम के स्थान) पर खड़े होकर "त्व हि नः पिता वसो त्वं माता" वाला ऋग्वेद का मन्त्र बोलकर हिन्दू-मुसलमानों को समझाया— "धर्म प्रेम और उदारता की शिक्षा देता है । छोटी-छोटी बातों पर हठ करना नासमझी है ।" उसके कुछ ही दिन बाद अंग्रेजी सरकार की चालों से फिर 'हिन्दू-मुस्लिम' दंगे शुरू हो गये, पर मुसलमानों के सर्व प्रधान धार्मिक स्थान मे स्वामी श्रद्धानन्द जी का भाषण जनता की स्मृति में अमिट बन गया ।

अछूतोद्धार आन्दोलन

इसके पश्चात् आया उसी वर्ष अमृतसर में कांग्रेस का वार्षिकोत्सव होने का अवसर । उस समय जलियाँवाला

बाग के हत्याकाण्ड के कारण वहाँ सर्वत्र आतंक छाया हुआ था और कोई राजनीतिक कार्य में भाग लेने या चन्दा देने के लिये तैयार न होता था । कांग्रेस-अधिवेशन को सफल बनाना टेढ़ी खीर नजर आने लगा । तब स्वागत समिति की अध्यक्षता स्वामी श्रद्धानन्दजी को ही दी गई और उन्होंने अपने अतुल प्रभाव और कर्मवीरता से कुछ ही दिनों में वहाँ की कायापलट कर दी । कांग्रेस का अधिवेशन स्व० मोतीलाल जी नेहरू की अध्यक्षता मे धूमधाम से हुआ और स्वामीजी ने अपना स्वागताध्यक्ष का भाषण हिन्दी में पढ़ा जो उस 'अँग्रेजी-प्रधान संस्था' में एक नई बात थी । दूसरी विशेषता उस भाषण की यह थी कि उसमें राजनीति के साथ भारत की सामाजिक समस्याओं का भी समन्वय करके कहा गया था—

"लन्दन नगर में भारत-रिफार्म कमेटी के सामने गवाही देते हुये ईसाई मुक्ति-फौज के बूथ टकर साहब ने कहा था कि भारत के साढ़े छः करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिये । इसका कारण उन्होंने यह बतलाया कि 'ये अछूत भारत में ब्रिटिश गवर्नमेंटरूपी जहाज के लिये लंगर है ।" इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिये और सोचिये कि किस प्रकार आपके ये साढ़े छः करोड़ भाई, जिन्हें आपने काट कर फेंक दिया है, एक विदेशी राज्य के लंगर बन सकते हैं । मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक ही प्रार्थना करूँगा कि इस पवित्र जातीय मन्दिर मे बैठे हुये, अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो— "आज से ये साढ़े छः करोड़ हमारे लिये अछूत नहीं रहेंगे, बल्कि हमारे ही भाई और बहिन होंगे । उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे । उनके गृहस्थ नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे । हमारे स्वतंत्रता युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुये अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे । हे देवियों और सज्जन पुरुषों ! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो ।"

पर जब कुछ ही समय बाद कोकोनाड़ा की कांग्रेस में उन्होंने मौलाना मुहम्मद अली को यह कहते सुना कि "अछूत तो लाबारिस माल हैं, हिन्दू और मुसलमानों को उन्हें आधा-आधा बाँट लेना चाहिये" तो स्वामी जी के दिल को बड़ी चोट लगी और कांग्रेस के साथ उसका मतभेद हो गया । वे राजनीतिक स्वतंत्रता के समर्थक थे, पर 'हिन्दुत्व' की रक्षा करना भी उनका अटल ध्येय था । इसलिये उन्होंने कुछ ही समय बाद 'हिन्दू संगठन' का कार्य आरम्भ किया, ताकि वे अपनी जाति की दुर्बलताओं को मिटा कर उसको अपनी रक्षा कर सकने के योग्य बना सकें ।

उन्होंने देखा कि दिल्ली के आस-पास के गाँवों में ईसाई प्रचारक खास तौर पर अछूतों को अपने जाल में फँसा कर 'अहिन्दू' बनाते रहते हैं । यह देख कर उन्होंने 'दलितोद्धार सभा' स्थापित करके आरंभ में दिल्ली प्रान्त में और बाद में देश के अन्य भागों मे भी उसकी शाखाये स्थापित कीं और अछूतों को नागरिक-अधिकार दिलाने में बहुत कुछ उद्योग किया । महात्मा गान्धी भी इससे बहुत प्रभावित हुये थे और उन्होंने स्वामीजी के कार्य की सराहना करते हुये लिखा था— "वे इसमें अधूरा सुधार करना पसन्द नहीं करते थे। अगर उनकी चलती तो वे इस बात की बात में हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करते । वे हरेक मन्दिर को, हरेक कुएँ को बराबरी के हक के साथ अछूतों के लिये खोल देते और इसका जो फल होता उसे भी भुगत लेते ।

शुद्धि और संगठन

इसी समय एक और घटना हुई । ख्वाजा हसन निजामी नामक मुसलमान लेखक ने 'दाइये इस्लाम' नामकी पुस्तक लिखी, जिसमें हिन्दुओं को मुसलमान बनाने, खासकर हिन्दू-विधवाओं को बहका कर निकाल लेने की युक्तियों का वर्णन किया गया था । यह पुस्तक गुप्त रूप से केवल मुसलमानों को दी जाती थी । पर दक्षिण अफ्रीका में इसकी दो-एक प्रतियाँ आर्य-समाजी विचारों के व्यक्तियों को मिल गईं और उन्होंने इसे भारत के प्रधान आर्य समाजी नेताओं के पास भेज दिया । इसका सारांश समाचार-पत्रों में छपा और ट्रैक्ट के रूप में प्रचारित किया गया । इससे हिन्दुओं में बड़ी सनसनी फैल गई और संगठन करके हिन्दुओं की रक्षा तथा गैर-हिन्दुओं को शुद्ध करके अपने में मिलाने का आन्दोलन आरंभ किया गया । इसके प्रधान संचालक भी स्वामी जी ही बने और उन्होंने "भारतीय शुद्धि सभा" की स्थापना की ।

यह निश्चय किया गया कि आगरा, मथुरा, भरतपुर आदि में निवास करने वाले मलकाना राजपूतों को जो, कुछ सौ वर्ष पहले मुसलमान बादशाहों द्वारा जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये थे, पर अभी तक हिन्दुओं की बहुत-सी रस्मों को मानते चले आते हैं और फिर से हिन्दू बनने के इच्छुक हैं, शुद्ध करके अपने में शामिल कर लिया जाय । इन लोगों की संख्या पाँच लाख के करीब थी, और इस आन्दोलन का संचालन विशेष रूप से आगरा की आर्य समाज के जिम्मे था । वहाँ इसके लिये एक बड़ा सम्मेलन किया गया, जिसमे स्वामी श्रद्धानन्द जी भी सम्मिलित हुये । उन्होंने मलकाना राजपूतों से बातचीत करके उनकी इच्छा को भली प्रकार समझ लिया और तब 'शुद्धि' की अनुमति दे दी । इससे देश भर के हिन्दुओं में जोश और एक नई जागृति फैल गई,

पर साथ ही मुसलमान, उनके विरोधी बन गये। स्वामी जी अपने मार्ग से कब हटने वाले थे ? शुद्धि और संगठन के काम को दिन पर दिन बढ़ाने लगे। इससे एक ओर जहाँ हिन्दू मजबूत होते गये वहाँ मुसलमानों का वैर भाव भी बढ़ता चला गया, जो अन्त में स्वामी जी का बलिदान लेकर ही माना।

सर्वस्व-त्याग का उदाहरण

स्वामी जी ने अपने गृहस्थ जीवन में भी कभी धन संग्रह की तरफ ध्यान नहीं दिया था। आरंभ से ही वे सार्वजनिक सेवा का कार्य करने लगे थे, इसलिये जिस प्रकार अन्यों से चंदा माँग कर लाते थे उसी प्रकार अपनी आय का भी एक बड़ा अंश उसमें लगा देते थे। वकालत के जोरों से चलने पर भी उन्होंने जालन्धर में अपने निवास के लिये एक बड़ी-सी कोठी बनाने के अतिरिक्त और कोई संग्रह का कार्य नहीं किया। जब गुरुकुल खोला तो अपनी सभी सामग्री उसी में लगा दी केवल कोठी में अन्य घर वाले रहते थे। पर समय आया जब उनको विदित हुआ कि सच्चे कार्यकर्ता को पूर्ण त्याग करना भी आवश्यक है। इस घटना का जिक्र करते हुये उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—

"मैं गुरुकुल के लिये धन-संग्रह करते हुये दिल्ली के एक रईस के घर चन्दा माँगने पहुँचा। वह रईस हमारे आने का समाचार सुनकर घर के अन्दर चला गया और कहलवा दिया "रायसाहब टट्टी गये हैं।" हम कुछ देर बैठकर निराश वापस आ गये। डेरे पर आकर मैंने अपनी अन्तरात्मा से पूछा कि ऐसा क्यों हुआ ? उत्तर मे अन्तर्ध्वनि हुई कि इसका कारण यह है कि तूने अभी अपने आपको सर्वतोभावेन धर्म की सेवा में अर्पण नहीं किया है और तेरे मन में बची हुई सम्पत्ति के कारण अहङ्कार है। उसी समय मैंने निश्चय किया कि अहङ्कार की इस बची हुई जड़ को भी उखाड़ फेंकूँगा। इसके बाद मैंने एक बाकायदा दानपत्र तैयार किया जिसमें जालन्धर वाली कोठी को आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब को दान देने की घोषणा की गई। उस दान-पत्र पर अपने दोनों पुत्रों हरिश्चन्द्र तथा इन्द्र के भी सहमतिपूर्वक हस्ताक्षर करा दिये।

कितनी प्रेरणाप्रद घटना है कि यह और सच्चे कार्यकर्ता कैसे होते हैं इसका कैसा अनुपम उदाहरण है। दान तो अपनी हैसियत के अनुसार लाखों और करोड़ों के भी दिये जाते हैं, पर कभी-कभी एक पैसे के दान का महत्व दस लाख रुपये से बढ़कर माना जाता है। स्वामी श्रद्धानन्द का अपनी कोठी का दान, सामान्य दृष्टि से विचार करने पर कोई बड़ी बात नहीं थी, पर उन्होंने एक घटना के आधार पर स्वयं अपने आन्तरिक विचारो की जो परीक्षा की, और अपनी कमी का स्वयं पता लगाकर जिस प्रकार उसका निराकरण किया वही एक ऐसी प्रेरणा है जिससे कोई व्यक्ति आत्मोत्कर्ष के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकता है। सार्वजनिक सेवा के मार्ग मे जहाँ परिश्रम, कष्ट-सहन, संलग्नता आदि की आवश्यकता होती है वहाँ सच्चे त्याग-भाव का होना अनिवार्य है। इसी कमी के कारण प्रायः जन-नेताओं पर स्वार्थ सिद्धि का आरोप लगाया जाता है, और वर्तमान समय में तो इसकी सचाई प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि आजकल 'नेता' शब्द श्रद्धा तथा सम्मान का सूचक होने के बजाय स्वार्थपरता तथा भ्रष्टाचार का प्रतीक बन गया है। कितने ही व्यक्ति तो आजकल 'नेता' कहलाना एक तरह की गाली मानते हैं।

यह महात्मा गाधी और स्वामी श्रद्धानन्द जी जैसे महामानवों का ही काम था कि जिन्होंने आरम्भ में ही इस सचाई को समझ कर सब प्रकार की धन-सम्पत्ति और जायदाद से नाता तोड़ लिया और स्वयं इतने अकिंचन बन गये कि किसी व्यक्ति को तनिक भी सन्देह करने या आक्षेप कर सकने की गुँजायश ही नहीं रही। यों मूर्ख लोग फिर भी कहते रहे कि 'गांधी जी ने करोड़ों रुपया इकट्ठा कर लिया पर उनका महत्व अबोध बच्चों की बातों से अधिक नहीं माना जाता। यह हम भी नहीं कहते कि प्रत्येक कार्यकर्ता इसी तरह का त्यागी-सन्यासी बन जाय, पर यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे आकर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति ऐसी साफ रखनी चाहिये कि उस पर किसी व्यक्ति को उँगली उठाने का अवसर न मिले। तभी वह वास्तव में कोई ऐसा काम कर सकेगा जिससे इस लोक में ही नहीं परलोक में भी उसकी आत्मा शान्ति का अनुभव कर सके।

दो महात्माओं का मिलन

महात्मा गांधी की चर्चा आ जाने से यह स्मरण हो आया कि उनको 'महात्मा' की पदवी देने वाले स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे। जब तक वे दक्षिण अफ्रीका में रहे तब उनको यहाँ के सामयिक पत्रों में 'कर्मवीर गाँधी' लिखा जाता था। उन्हीं दिनों गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों ने अपने भोजन में से दूध का व्यवहार बन्द करके और एक बाँध पर मजदूरी द्वारा १५०० रु० इकट्ठे करके सत्याग्रह आन्दोलन की सहायतार्थ अफ्रीका भेजे थे। यह रुपया गाँधी जी को ऐसी आवश्यकता के अवसर पर मिला जबकि आंदोलन का काम धन की कमी से अटक रहा था। यह सहायता पाकर उन्होंने स्वामी जी को निम्न पत्र भेजा था-

"प्रिय महात्मा जी ! श्री एण्डरूज ने मुझे आपके नाम और काम का परिचय दिया । उन्होंने मुझे यह भी बताया कि आप 'गुरुदेव' (श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर) और श्री रुद्र से किस प्रकार प्रभावित हुए हैं । आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लिये जो कार्य किया है उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ और आपके प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ ।"

सन् १६१६ में गाँधी जी जब भारत आये तो बिना सूचना दिये ही गुरुकुल काँगड़ी पहुँचे । वह सब श्रद्धानन्द जी की कुटिया में गये तो आदर और श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्होंने स्वामी जी के पैर छुये । जब स्वामी जी ने परिचय पूछा तो उत्तर मिला— "मैं हूँ आपका छोटा भाई मोहनदास कर्मचन्द गाँधी ।" स्वामी जी ने पुलकित होकर गाँधी जी को गले से लगा लिया और बड़े प्रेम से उनको 'महात्मा' कहकर पुकारा । तबसे गाँधी जी 'महात्मा' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गये ।

महात्मा गाँधी, स्वामी श्रद्धानन्द जी का सदा एक महापुरुष के समान आदर करते रहे । जब महर्षि दयानन्द की आलोचना करने के कारण उनका स्वामी जी से मतभेद हो गया, और स्वामी जी ने कांग्रेस को त्यागकर शुद्धि और संगठन का कार्य आरम्भ कर दिया, तब भी इन दोनों 'महात्माओं' के व्यक्तिगत प्रेम-भाव में अन्तर नहीं आया। वरन् गाँधी जी ने स्वयं उस मतभेद की चर्चा करते हुये लिखा—

"उस मतभेद से उनका बाल-सुलभ स्वभाव ही मुझ पर प्रकट हुआ । परिणाम का विचार किये बिना ही उन्हें जैसा मालूम था, वैसी सच्ची बात उन्होंने कह दी । वे अति साहसी थे । समय बीतने के साथ-साथ हम दोनों के स्वभाव का जो अन्तर था, उसे मैं देखता गया । पर उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई ।"

स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान का समाचार पाकर गाँधी जी ने कहा था— "वे वीरता और साहस के मूर्त-रूप थे । वे वीर के समान जिये और वीर के समान मरे । उनकी समस्त जिन्दगी शानदार थी और अन्त भी वैसा ही शानदार हुआ । काश ! मुझे भी स्वामी श्रद्धानन्द की तरह शानदार मौत नसीब हो " संयोग से गाँधी जी की यह अभिलाषा ठीक इसी रूप में पूरी हुई और उससे उनका महत्व जीवित अवस्था की अपेक्षा भी बहुत अधिक बढ़ गया ।

सत्य के अनुयायी

स्वामी श्रद्धानन्द जी किस प्रकार अपने सिद्धान्तों पर जीवन के अन्तिम क्षण तक डटे रहे और उन्हीं की खातिर मृत्यु का भी निर्भय भाव से आलिंगन किया, वह स्थिति उनको सहज में प्राप्त नहीं हो गई थी । उनका आरम्भिक जीवन बड़े उतार-चढ़ाव का रहा था और उसमें एक समय माँस, मदिरा, वेश्या आदि दुर्व्यसनों का भी प्रत्यक्ष रूप में प्रवेश हो गया था । पर कुछ खोटे मित्रों की संगति से इन दोषों के आ जाने पर भी उनकी सत्यप्रियता और प्रतिज्ञापालन में कभी अन्तर नहीं पड़ा । उन्होंने जब जिस बात को सत्य समझा अथवा जो कुछ प्रतिज्ञा की उसे पूरा करके दिखाया। आरम्भ में वे अपने परिवार वालों की तरह शिवजी तथा अन्य देवताओं में विश्वास रखने वाले थे और नियमपूर्वक मन्दिर में दर्शन करने जाते थे । इतना ही नहीं अपने पिता श्री नानकचंद जी को, नित्य प्रातःकाल शिवजी की पूजा करते देखकर वे एक टूटे-फूटे मंदिर में से एक शिवलिंग उठा लाये और उस पर नियमपूर्वक जल चढ़ाया करते थे। स्कूल से वापस आकर घर तुलसी कृत रामायण का पाठ भी करते थे । काशी में रहते समय वे अपने पिता के साथ 'बुद्धू-भगत' नामक वैश्य की रामायण की कथा सुनने भी जाते थे और उनके उपदेश से प्रति रविवार को एक पैर पर खड़े रहकर हनुमान-चालीसा का पाठ कर लेने के पश्चात् भोजन करते थे ।

पर जब उन्होंने काशी के विश्वनाथ के मंदिर में राजा-महाराजाओं के आगे सामान्य भक्तों का असम्मान होते देखा तो शिवजी में उनकी श्रद्धा में कमी आ गई । फिर चित्रकूट में 'लक्ष्मण यती की पहाड़ी' नामक स्थान पर जाकर उन्होंने पण्डों की जालसाजी का एक और किस्सा सुना । उस चट्टान के पास धनुष-बाण का चिन्ह बना था । पण्डा कहते थे कि वहाँ पर लक्ष्मणजी अपने अस्त्र-शस्त्र रखा करते थे उसी का यह निशान बन गया है जो नीचे तक सारी भूमि में है । एक योरोपियन ने कुछ वर्ष पहले इसको सुनकर इसकी परीक्षा करनी चाही और ५०० रु० इनाम देने का वचन दिया । इस पर खुदाई आरम्भ हुई, पर नौ फुट के नीचे कोई चिन्ह न मिला । इन नौ फुटों में भी मिट्टी की तह पर तह जमाकर उसे बनाया गया था । इस पर पण्डा बड़े लज्जित हुये । यह हाल सुनकर मुंशीराम जी के हृदय में भी पौराणिक 'धर्म' के सम्बन्ध में संदेह होने लगा ।

जब इनके पिता की बदली मिर्जापुर को हो गई तो वहाँ इन्होंने विन्ध्यवासिनी देवी के मेले का दृश्य देखा । पहले तो असंख्यों बकरों का बलिदान देखकर ही इनको घृणा हुई । फिर जब ये थाने की छत पर चढ़कर चारों ओर देखने लगे तो उनकी निगाह एक राजा के डेरे पर पड़ी, जिसके यहाँ वाम-मार्ग के अनुसार एक नंगी स्त्री की पूजा

की जा रही थी । इससे इनका घृणा-भाव और भी बढ़ गया ।

इसी मेले में एक और घटना हुई । उनके पिता ला० नानकचंद का एक अर्दली जोखू मिसर था । वह देवी के मंदिर में से बलिदान होने वाले बकरों के मस्तक लाकर उन्हीं को खूब पका कर खाता था । एक दिन उसकी माँस की हाँडी चूल्हे पर रखी थी कि ला० नानकचंद का दूसरा नौकर चूल्हे में से थोड़ी आग चिलम भरने को निकाल लाया । बस जोखू मिसर गुस्सा के मारे लाल हो गये और लगे अण्ट-शण्ट बकने । जब नानकचन्द जी ने उससे इतना गुस्सा करने का कारण पूछा तो जोखू मिसर बोले—"सरकार, हम आपन धरम कबहूँ नहिं छोड़ा । अरे, हम झूठ बोला, जुआ खेला, गाँजा का दम लगाया, दारू पिया, रिश्वत लिया, चोरी-दगाबाजी किया, मुल (पर) सरकार अपना धरम नहीं छोड़ा । आज इसने हमारा चौका छूकर धरम भ्रष्ट कर दिया।" मुन्शीराम जी को जोखू मिसर का यह 'धर्म का ढोंग' देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । वे अपने मन में कहने लगे कि ये ब्राह्मण कैसे पाखण्डी हैं, जो बेगुनाह जीवों का माँस खाने में तो संकोच नहीं करते और चौका छू जाने में ही 'अधर्म' समझते हैं ।

इस प्रकार अनेक स्थानों में धार्मिक कहलाने वालों की लीलाएँ देखकर कुछ ही दिनों मे इनका विश्वास प्रचलित 'धर्म' पर से बहुत कुछ हट गया । वे 'पाप-पुण्य' की बातों को केवल एक ढोंग समझने लगे और इसके परिणामस्वरूप युवावस्था में पहुँच कर स्वयं भी अनेक दुर्व्यसनों में ग्रस्त हो गये ।

पतिपरायण पत्नी

इनका छुटकारा इन दुर्व्यसनों से कैसे हुआ इस सबंध मे भी एक विशेष घटना बतलाई जाती है, जिससे भारतीय देवियों की महानता का पता चलता है । इनकी पत्नी श्रीमती शिवदेवी बड़ी पतिव्रता और सेवा-परायण थीं । ये इनके सब दोषों को देखकर भी इनमें 'परमेश्वर' के समान भक्ति रखती थीं । इनको भोजन कराये बिना स्वयं कभी भोजन न करतीं और सोने से पूर्व अवश्य ही इनके पैर दबातीं ।

एक दिन ये अपने कुसंगी मित्रों के साथ किसी वेश्या के यहाँ गये और वहाँ बहुत अधिक मदिरापान करके रात में बड़ी ही देर को वापस आये । तब तक शिवदेवी इनकी राह देखते हुये भूखी ही बैठी थीं । घर पहुँच कर शराब के नशे के कारण इनको खूब उल्टी हुई जिससे तमाम वस्त्र खराब हो गये । पत्नी ने बिना कुछ कहे-सुने इनकी पूरी तरह से सफाई की और दूसरे वस्त्र बदल कर पलंग पर लिटा दिया, तथा स्वयं रात भर पंखा झलती हुई बैठी रहीं। सुबह जगने पर जब मुन्शीराम जी ने इनको इस प्रकार बैठे देखा और रात की सब घटना स्मरण आई तो उनको अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई, और तबसे उन दुर्व्यसनों को त्यागने की प्रतिज्ञा कर ली ।

वर्तमान समय के अनेक नव-शिक्षित भारतीय स्त्रियों के 'पतिव्रत' आदर्श को मूर्खतापूर्ण बतलाते हैं । यह ठीक है कि कितने ही पुराणों में इसका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है और अनेक झूँठे-सच्चे किस्से गढ़कर भर दिये हैं, तो भी इससे 'पतिव्रत' की महिमा नष्ट नहीं होती । महात्मा मुन्शीराम जी की पत्नी की यह घटना सिद्ध करती है कि एक सामान्य स्त्री भी संयम और सेवा-परायणता का परिचय देकर अपने बिगड़े हुये पति का किस प्रकार सुधार कर सकती है । इसके विपरीत यदि वह लड़ाई-झगड़ा करती या किसी प्रकार से विपरीत मार्ग पर चलती तो इसका परिणाम दोनों के पतन के सिवाय और क्या होता ? भारतीय स्त्रियाँ इस प्रकार अपनी पवित्रता और सेवा-भाव से अब तक न जाने कितने पतियों को कुमार्ग से सुमार्ग पर ला चुकी है, जिनमें से श्रद्धानन्द जी के आरम्भिक जीवन का यह संस्मरण भी विशेष शिक्षाप्रद है ।

तहसीलदारी से इस्तीफा

जैसा ऊपर बताया गया है श्रद्धानन्द जी के आरम्भिक जीवन में कई प्रकार के उलट-फेर हुए, पर बाल्यावस्था से ही उनमें जो सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति थी उसके कारण वे भ्रम और दोषों से बचकर क्रम से उस समय की परिस्थिति के अनुसार सही मार्ग पर आते चले गये । उनके पिता पुलिस-विभाग में कोतवाल के पद पर काम करते थे और उनकी बदली निरन्तर एक जिले से दूसरे जिले में होती रही । कुछ ही वर्षों में वे काशी, मथुरा, बाँदा, मिर्जापुर, बरेली आदि कितने जिलों में आते-जाते रहे । इसका परिणाम यह हुआ कि इच्छा होने और पढ़ने में तेज होने पर भी इनकी पढ़ाई ठीक ढंग से न हो सकी । इस कारण मैट्रिक की परीक्षा पास करने में इनको तीन वर्ष लग गये । फिर कालेज में दाखिल हुये तो वहाँ भी कई प्रकार के विघ्न आते रहे । इसलिये अच्छी योग्यता होते हुये भी ये कोई ऊँची परीक्षा पास न कर सके ।

मुंशीराम जी के दो भाई थानेदार के पदों पर काम करने लग गये थे, इसलिये ला० नानकचन्द जी चाहते थे कि इनको किसी अन्य सरकारी नौकरी पर लगाया जाय । बरेली के कमिश्नर मि० एडवर्ड की उन पर विशेष कृपा थी । उनकी अनुमति से इनका नाम तहसीलदारी के लिये भेज दिया गया । कुछ ही दिन बाद नायब तहसीलदार

छुट्टी पर गया तो उनके स्थान पर इनको नियुक्त कर दिया गया। फिर थोड़े ही समय बाद तहसीलदार ने भी लम्बी छुट्टी ली और ये उसके स्थान पर काम करने लगे। इनके पिता को तो पूरी आशा थी कि कमिश्नर साहब की कृपा से ये शीघ्र ही स्थायी तहसीलदार बन जायेंगे, पर किसी सिद्धान्त पर चलने वाले व्यक्ति के लिये सरकारी नौकरी का निर्वाह कर सकना कठिन होता है यह थोड़े ही समय में मालूम हो गया।

घटना इस प्रकार हुई कि बरेली से आठ-दस मील के फासले पर अँग्रेजी फौज ने अपना पड़ाव डाला और उसके लिये रसद पहुँचाने का प्रबन्ध इनके जिम्मे किया गया। इन्होंने वहाँ दुकानदारों से हर आवश्यक वस्तु की दुकानें खुलवा दीं। एक दिन फौजी गोरे सिपाहियों ने अण्डे वाले से बिना दाम दिये अण्डे छीन लिये। जब मुन्शीराम जी को इस अन्याय की खबर हुई तो उन्होंने कर्नल से उन सिपाहियों की शिकायत की और कहा यदि उस अण्डे वाले के दाम तुरन्त न चुकाये जायेंगे तो मैं सभी दुकानदारों को वापस लौटा दूँगा। कर्नल साहब ने अपने फौजी रौब के साथ कहा— "ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे।" ये तो निष्पक्ष स्वभाव के थे ही, तुरन्त उत्तर दिया— "जो कुछ करना हो कर लेना!" फौजी कर्नल अपनी आदत के माफिक इनकी तरफ आगे बढ़े। इनमें भी जवानी का जोश था; सो चाबुक लेकर तैयार हो गये। यह देखकर कर्नल साहब रुक गये, और ये अपने घोड़े की पीठ पर बैठ कर तेजी से दूर निकल गये। अपने कार्यालय में पहुँच कर इन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दाखिल कर दिया। कमिश्नर साहब ने बहुत समझाया और शीघ्र ही स्थायी तहसीलदार बनाने का वायदा भी किया। पर इन्होंने ऐसी अपमानपूर्ण स्थिति में रहना स्वगौरव के प्रतिकूल समझा और अपना इस्तीफा वापस न लिया।

घर में सुधार

अनेक बार देखने में यह आता है कि लोग स्वयं तो सत्य-मार्ग पर चलते है, परोपकारमय जीवन भी बिताते हैं, पर उनके परिवार वाले जैसे के तैसे बने रहते हैं। यदि कोई इस संबंध में कुछ कहता है तो सम्बन्धियों के दुराग्रह का वर्णन करके चुप हो जाते हैं। पर श्रद्धानन्दजी ने इस तरह का मार्ग कभी नहीं अपनाया। हमेशा अपने विश्वास के अनुसार ही काम किया और जब अवसर आया घरवालों के विरोध का भी सामना किया।

जब उनके पिता को मालूम हुआ कि 'मुन्शीराम आर्य समाजी बन गया है तो उनको बड़ा दुःख हुआ। वे कट्टर सनातनधर्मी थे। फिर सोचा कि समझाने-बुझाने से रास्ते पर आ जायगा। जब वे कानून की पढ़ाई करते हुये छुट्टियों में अपने गाँव 'तलवन' को आये और वहाँ निर्जला एकादशी पर दान का संकल्प लेने से इनकार कर दिया तो पिताजी बहुत नाराज हुये। फिर जब छुट्टी समाप्त होने पर लाहौर वापस जाने लगे तो पिताजी ने आज्ञा दी कि ठाकुरजी के सामने मत्था टेक कर जाना। इन्होंने विनयपूर्वक कहा कि- "मेरा विश्वास मूर्तियों में नहीं रहा। यदि आप केवल दिखावे के लिये झूँठ-मूठ पूजा कराना चाहें तो दूसरी बात है।" अब पिता के पास कोई उत्तर न था, निराश होकर कहने लगे—"तुम्हें हमारी मूर्तियाँ पत्थर नजर आती हैं। हाय! मेरे मरने पर कोई पानी देने वाला भी रहेगा या नहीं?"

मुन्शीराम जी ने पिता से विवाद करना निरर्थक समझा और घर से चल दिये। पिता ने जो रुपया पढ़ाई के खर्च को दिया था वह उन्होंने अपने मित्र को देकर कहा— "इसे लालाजी को लौटा आना। जब मैं उनके विश्वास के अनुसार चलकर उनको प्रसन्न नहीं कर सकता, तो मैं उनकी आर्थिक सहायता का भी अधिकारी नहीं हूँ।" जब यह खबर पिताजी को मालूम हुई तो उन्होंने मित्र से उसी समय लौट कर मुन्शीराम के पास जाकर यह रुपया आग्रहपूर्वक दे देने को कहा। धार्मिक मतभेद हो जाने पर भी उनके पुत्र-स्नेह में कोई अन्तर नहीं पड़ा था।

फिर जब ला० नानकचंद जी को अर्धाङ्ग रोग हो गया तो मुन्शीराम जी तुरन्त उनकी सेवा करने को गाँव चले आये और उनकी देख-भाल में इतना परिश्रम किया कि वे प्रसन्न हो गये। तब ये इनसे आर्य-समाज के सिद्धान्तों को भी समझने लगे और उन्हें समाज के उद्देश्यों से सहानुभूति हो गई।

जब पिताजी की मृत्यु हो गई तो भाई-बिरादरी ने उनका अन्तिम संस्कार पुरानी पद्धति से करने के लिये कहा। पर मुन्शीराम जी ने इसका विरोध करके पूरा संस्कार 'वैदिक विधि से करने का ही निश्चय किया। उस समय उन्होंने किसी के विरोध की परवाह न की और अन्त तक अपने निश्चय पर डटे रहकर वैदिक विधि से सब कार्य सम्पन्न कराये।

महानता के उच्च शिखर पर

यही सत्य निष्ठा और प्रतिज्ञापालन का गुण था जिसने नायब तहसीलदार मुन्शीराम को भारत के एक माननीय नेता स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में बदल दिया। सन् १९१७ में बिना किसी गुरु या आचार्य को वरण किये जब उन्होंने

संन्यास ग्रहण किया तो 'श्रद्धा' मासिक पत्रिका के प्रथम
अंक में ही अपने उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किये—
"ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा और उद्देश्यों का ठीक प्रचार
हमारा मुख्य उद्देश्य है । मैं देवनागरी लिपि को संसार की
सब लिपियों का स्रोत और मनुष्य के लिये स्वाभाविक मानना
हूँ । इसलिये अपने सिद्धान्तों और विचारों का प्रचार उसी
के द्वारा करता हूँ । इस भू-लोक की सारी मिट्टी का उत्तम
फल 'भारत-भूमि' थी और अब भी है । केवल भारत-पुत्रों
ने धर्म के आदर्श से गिरकर मातृभूमि के गौरव को घटाया ।
संसार से यदि भोग और राज के दोषों को नष्ट करना है तो
पहले भारत-भूमि का तेज पुनः उत्तेजित किया जाना
चाहिये । यह आत्मिक तेज ही सारे संसार में पुनः शांति
का राज स्थापित कर सकता है ।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वामीजी जब तक
जीवित रहे उन्होंने इस आदर्श को प्राणपण से निभाया और
इसी के लिये २३ दिसम्बर १९२६ को आततायी अब्दुल
रशीद की गोली से अपने प्राणों की आहुति दे डाली ।
वास्तव में संसार में इस प्रकार के कथनी और करनी को
एक करके दिखाने वाले महापुरुष थोड़े ही होते हैं । इनके
निधन का समाचार पाकर विश्व-मानव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने
उनका स्मरण इन शब्दों में किया—

"श्रद्धानन्द का नाम ही सत्य में उनकी अगाध श्रद्धा
का सूचक था । वे श्रद्धावान रहे और श्रद्धा में ही आनन्दपूर्ण
रहे । उनके लिये सत्य और जीवन एक हो गये थे । उनकी
मृत्यु भी उनके अनथक कार्यों के अमर चित्रों को आलोकित
करती हुई एक प्रकाश किरण की तरह हमारे सामने आती
है ।"

इन थोड़ी-सी पंक्तियों में स्वामीजी के जीवन की पूरी
झाँकी आ जाती है । जो लोग अपनी सामान्य स्थिति या
घरबार सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख करके सार्वजनिक
क्षेत्र में कोई सेवा-कार्य न कर सकने की दलील दिया करते
हैं, उनके लिये स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन एक ज्वलन्त
प्रकाश के तुल्य है ।

महापुरुषों के सम्बन्ध में भ्रान्ति

महापुरुषों के सम्बन्ध में एक अद्भुत बात यह देखने
में आई है कि लोग प्रायः उनके वास्तविक स्वरूप को समझ
नहीं पाते और उनके विषय मे मनमानी धारणा बना लेते
हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी जैसे आत्म-ज्ञानी और त्यागी पुरुष
का किसी से राग-द्वेष रख सकना असम्भव-सी बात थी, पर
उनको शुद्धि और संगठन के कार्यों के फलस्वरूप अनेक
लोग मुसलमानों का विरोधी समझने लग गये और यह भ्रांति
यहाँ तक बढ़ी कि अन्त में एक कट्टर मुसलमान ने उनकी
हत्या ही कर डाली । जनता की इस भ्रांति की चर्चा करते
हुये सेठ गोविन्ददास जी ने अपने संस्मरणों में ठीक ही लिखा
है—

"जो लोग समझते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द जी मुसलमानों
से [illegible] करते थे वे बड़ी भूल करते हैं । इस प्रकार की
भूलों से तो इतिहास में न जाने कितने बड़े-बड़े अनर्थ हुए
हैं । गाँधी जी को कुछ लोग मुस्लिम-परस्त मानते थे, जिससे
बड़ी गलत बात सम्भव नहीं है । मुसलमानों के प्रति समभाव
रखते हुए भी गाँधी जी से बड़ा और सच्चा हिन्दू शायद इस
काल में कोई दूसरा नहीं हुआ और मुसलमानों के प्रति
समभाव रखने का नतीजा यह निकला कि एक धर्मान्ध हिन्दू
ने ही बापू की हत्या कर डाली । यही बात श्रद्धानन्दजी के
सम्बन्ध में भी हुई । कुछ मुसलमान उनको मुस्लिम-द्रोही
मानते थे और इन्हीं में से एक ने उनकी हत्या कर दी ।
क्या कहा जाय इस प्रकार के धर्मान्धों के सम्बन्ध में । एक
जमाना था जब मुसलमान भी स्वामी जी के बड़े भारी
अनुयायी थे । यह शायद इसीलिये कि स्वामी जी ने
मुसलमान शहीदों के प्रति गहरी सहानुभूति दिखाकर उनके
परिवारों की सहायता की थी । इसके फलस्वरूप स्वामी
जी का दिल्ली की जामा मस्जिद तक में भाषण हुआ । हाँ,
मुसलमानों के कई मतों से वे सहमत नहीं थे । अनेक मतों
का उन्होंने खण्डन किया और जो मुसलमान इस्लाम छोड़
हिन्दू धर्म मे आना चाहते थे उनको स्वामी जी ने हिन्दू भी
बनाया । इसी से अप्रसन्न हो एक मुस्लिम ने उपर्युक्त
धर्मान्धता का घृणित से घृणित काम कर डाला । महात्मा
गाँधी सदृश्य हिन्दू की एक हिन्दू हत्या करे और स्वामी
श्रद्धानन्द के सदृश्य व्यक्ति को, जिसे भारत की सबसे बड़ी
मस्जिद में भाषण देने का गौरव प्राप्त हो, एक मुस्लिम हत्या
करे, यह जगत् की बड़ी से बड़ी विडम्बनाओं में एक विडम्बना
ही है ।"

वास्तव में महान् पुरुषों का दृष्टिकोण समदर्शी होता
है । वे हृदय से किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रखते, पर
कर्तव्य-पालन के अवसर पर अन्यायी का विरोध करने में
नहीं चूकते, चाहे वह अपना सम्बन्धी हो अथवा कोई गैर ।
इसी कारण अनेक अविचारी उनको अपना विरोधी अथवा
शत्रु समझने लग जाते हैं और भ्रांतिवश इस प्रकार का
दुष्कृत्य कर बैठते हैं ।

हिन्दू-संगठन और श्रद्धानन्द जी

इसमें सन्देह नहीं कि सन् १९२३ के लगभग जो हिन्दू
संगठन का आंदोलन उठाया गया था, वह मुसलमानों के

'तबलीग' आंदोलन के मुकाबले में ही था । उससे पहले हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी पृथक-पृथक सभा-समाजें स्थापित करके कुछ सुधार-संबंधी प्रयत्न करते रहते थे, पर समस्त देश के हिन्दुओं में जागृति करके उनको एक विशेष ध्येय की तरफ आकर्षित करने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया था । जब मुसलमानों ने हिन्दुओं को अपने धर्म में शामिल करने के लिये विशेष रूप से उद्योग करना आरंभ किया और उस सम्बन्ध में हसन निजामी की गुप्त पुस्तिका का भेद खुला तो सबसे पहले स्वामी श्रद्धानन्द जी और उनके कुछ सहकारियों ने ही 'संगठन' के प्रश्न को उठाया और बड़े जोर के साथ जनता के सामने रखा ।

इससे पहले भी कुछ लोग इस संबंध में प्रचार करते रहते थे पर उसका कोई खास प्रभाव देखने में नहीं आया था । पर स्वामी श्रद्धानन्द जी जिस कार्य को उठाते थे उसके लिये वे परिश्रम और आवश्यक व्यवस्था की कमी न रहने देते थे । इसीलिये एक-दो वर्ष के भीतर ही उनका आन्दोलन देशव्यापी हो गया और केवल आर्य-समाजी ही नहीं सभी विचारो के बहुसंख्यक सुयोग्य कार्यकर्ता उसमें पूर्ण रूप से सहयोग करने लगे । उदाहरण के लिये श्री सावरकर ने, जो एक प्रसिद्ध देशभक्त थे और अपने त्याग तथा बलिदान के कारण भारतीय युवकों के एक भाग पर जिनका बड़ा प्रभाव भी था, 'हिन्दुत्व' की व्याख्या करते हुये लिखा था-

"हिन्दू स्वयमेव एक राष्ट्र है । एक भौगोलिक निवास स्थान, एक भाषा, एक इतिहास, साहित्य का एक समान आविष्कार और एकता— ये पाँच कसौटियाँ लगाकर देखा जाय तो 'हिन्दू' स्वयमेव एक राष्ट्र है, ऐसी धारणा तुरन्त बन जायगी । जिनके पास एक निश्चित भौगोलिक स्थान नहीं था वह यहूदी जाति भी आज एक राष्ट्र के रूप में संसार के सामने उपस्थित है । फिर हिन्दू राष्ट्र की कल्पना कैसे असंगत हो सकती है ? हिन्दुओं के लिए निश्चित रूप से एक भौगोलिक आश्रय स्थान है और वह है भारतवर्ष । इतिहास बताता है कि जब कभी किसी हिन्दू पर आपत्ति आई है वह इसी भूमि की ओर आशा भरी दृष्टि से देखता रहा है ।"

जब हिन्दू-संगठन पर अन्य विचारधारा वालों ने आक्षेप किया तो प्रसिद्ध देशभक्त भाई परमानन्द जी ने उसका समर्थन करते हुये लिखा— "इस देश में हिन्दू ही एक पुरानी जाति है । फिर भी वे अपने लिये कोई विशेष सुविधा नहीं चाहते। वे इस देश में रहने वाले सभी लोगों के लिये समान अधिकार प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं । पर यहाँ के मुसलमान, ईसाई आदि शक्तिशाली सम्प्रदाय अपने विशेष स्वत्वों के लिये राष्ट्रीय हितों को कुचलना चाहते हैं । उनके ऐसे राष्ट्र-विरोधी कार्य को रोकने के लिये ही हिन्दू संगठन किया जा रहा है ।"

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने दूरदर्शी विचारों और प्रयत्नों से कुछ ही समय में हिन्दू जाति में एक ऐसी चैतन्यता उत्पन्न कर दी कि उसकी बहुत-सी निर्बलता दूर हो गई और वह अनेक क्षेत्रों में प्रगति करके समग्र राष्ट्र का हितसाधन करने में समर्थ हुई ।

हिन्दू-जाति के जागरणकर्ता— स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती जिस समय राजस्थान के राजाओं को देश-भक्ति और समाज-सुधार की शिक्षा देने के लिये विभिन्न रियासतों में भ्रमण कर रहे थे, उस समय जोधपुर के महाराज यशवन्तसिंह ने उनको अपने यहाँ आने को आमन्त्रित किया । स्वामीजी के कई शुभचिन्तकों ने उनको जोधपुर न जाने की सलाह दी, क्योंकि वहाँ की आन्तरिक स्थिति उनके अनुकूल नहीं थी, और किसी कुचक्र में फँस जाने का अन्देशा था । पर स्वामी जी सदा साहस और निर्भीकता से कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करते आये थे, इसलिये वे इस प्रकार की आशंकाओं से तनिक भी न घबड़ाये और अपने धर्म-प्रचार के कर्तव्य का पालन करने के लिये समय पर जोधपुर पहुँच गये ।

पर लोगों की आशंका निर्मूल न थी । स्वामीजी परम स्पष्टवक्ता थे, उनके धार्मिक-सुधार सम्बन्धी भाषणों को सुनकर कई पुराने ढर्रे के पंडित, साधु, महन्त आदि उनके विरोधी बन गये । एक दिन महाराज की वेश्या नन्हींजान को उनके समीप देख कर इसका भी विरोध किया और कह बैठे— "राजन् ! आप जैसे सिंहों के समीप इस तरह की कुतिया शोभा नहीं देती ।" महाराज तो यह सुनकर केवल कुछ संकुचित होकर रह गये, पर जब यह बात नन्हींजान ने सुनी तो वह जीजान से इनकी दुश्मन बन गई और उसने अन्य विरोधियों से मिलकर इनके रसोइया जगन्नाथ को बहकाया । यद्यपि वह बहुत वर्षों से इनके पास रहता था और बड़ा विश्वासपात्र माना जाता था, पर उसने कुमति में पड़कर दूध में विष मिलाकर स्वामी जी को पिला दिया । थोड़ी ही देर बाद पेट में भयंकर कष्ट प्रतीत होने लगा । स्वामीजी ने वमन-विरेचन की योग क्रियाओं से दूषित पदार्थ को निकाल देने की चेष्टा की, पर विष तीव्र था और अपना काम कर चुका था । यह देखकर दूसरे दिन से चिकित्सकों द्वारा इलाज किया जाने लगा, पर उससे भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ । केवल इतना अन्तर पड़ा कि जहाँ बिना

जाते थे। यद्यपि वहाँ कोई उनका अनुयायी तो न बना, पर उस धार्मिक जन-समुदाय में एक प्रकार की हलचल मच गई और अनेक लोग धर्म की सचाई के सम्बन्ध विचार करने लग गये।

शास्त्रार्थ और शस्त्रार्थ

पर यह कार्य सरल न था। उस समय को सौ वर्ष बीत जाने पर और इस बीच में आधुनिक शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान की अनेक गुनी वृद्धि हो जाने पर भी अभी तक लोगों की धार्मिक तथा सामाजिक मनोभूमि में काफी जड़ता देखने में आती है। कितनी ही प्राचीन प्रथाओं की हानियों को देखते-समझते हुये भी लोग उनको छोड़ने को तैयार नहीं होते। जात-पांत का जंजाल, छुआछूत का पागलपन, विवाह-शादियों में अपव्यय का उन्माद, वाह्य पूजा-पाठ का ढोंग आदि कितनी ही बातों की सदोषता अब भली प्रकार सिद्ध हो गई है, फिर भी लोग परम्परा के नाम पर उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होते और सब तरह के छलबल से भी उनको कायम रखने का दुराग्रह करते है।

फिर स्वामी दयानन्द जी के समय में देश और समाज की दशा में सुधार करने का प्रयत्न कितना कठिन होगा इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है। एक तो लोगों की मूढ़ता और कट्टरता उस समय बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और दूसरे स्वामीजी बड़े स्पष्टवक्ता और सबके सामने खरी बात कहने वाले थे। परिणाम यह हुआ कि वे जहाँ जाते थे वहाँ ही उनका विरोध होता था और अनेक लोग उनको हानि पहुँचाने को तैयार हो जाते थे। यद्यपि कुछ लोग उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उनके सहयोगी भी बन
और उनकी सहायता करने को तत्पर होते थे, पर
विरोधियों के मुकाबले में नगण्य होती थी।
विशेष रूप से विरोधी तो वे पंडित, पुरोहित,
होते थे, जिनकी इस प्रकार के
थी। वे लोग धर्म और
अशिक्षित और अज्ञान
को स्वामी जी को

सहायक उनका
था। दुष्ट लोग
कर स्वामी
बुद्धिमत्तापूर्ण
ठंडा कर
के स्थान के
नित्यप्रति

सबेरे कितनी ही गालियाँ सुना दिया करता था, पर वे अपनी क्षमाशीलता के कारण उससे कुछ नहीं कहते थे। इतना ही नहीं कुछ दिन पश्चात् अपने पास भेंट आने वाले मेवा-मिष्ठान्न में से बहुत से पदार्थ उसको देने भी लगे। पाँच-सात दिन में ही उस को इतनी आत्मग्लानि हुई कि वह नेत्रों मे आँसू भर कर स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा— "भगवन्! आपकी सुजनता ने मेरी दुर्जनता को जीत लिया।"

फर्रुखाबाद में कुछ लोगों ने एक बड़े जबर्दस्त गुण्डे को बहका कर स्वामी जी को हानि पहुँचाने भेजा। उसने आते ही पूछा— "क्या आप मूर्ति को ईश्वर नहीं मानते?" स्वामीजी ने पूछा— "आपको ईश्वर के मुख्य लक्षणों का पता है?" उसने कहा— "हाँ ईश्वर सच्चिदानन्द सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, भक्त-वत्सल होता है।" इस पर स्वामीजी ने कहा— "आपका कथन बिलकुल ठीक है। वास्तव में ईश्वर के ये ही गुण हैं। पर क्या आपको मूर्तियों में ये गुण दिखाई देते हैं?" वह व्यक्ति कुछ देर विचार करता रहा और फिर स्वामी जी के सम्मुख नतमस्तक होकर चला गया।

पर जहाँ सीधी तरह बातों से काम नहीं चलता था, वहाँ वे शक्ति प्रदर्शन से भी पीछे नहीं हटते थे। कर्णवास में एक बड़े जमींदार राव कर्णसिंह ने जब स्वामी जी को मूर्तियों और गंगा आदि की आलोचना करते सुना तो वह दस बारह हथियार बन्द लोगो को लेकर स्वामी जी के स्थान पर चला आया। उसने आते ही पूछा— "आप हमारे यहाँ रास में क्यों नहीं आये? संन्यासी होकर ऐसा करना अत्यन्त बुरा है। जब हमारे यहाँ लीला होती है तो सभी पडित, सन्यासी उसमें सम्मिलित होते हैं?"

स्वामीजी- जब आपके सम्मुख आपके पूज्य महापुरुषों का रूप बनाकर नीच श्रेणी के व्यक्ति आते हैं और नाचते, गाते हैं और आप बैठे-बैठे देखा करते हैं, तब क्या इससे आपको लज्जा प्रतीत नहीं होती?"

स्वामी जी ने फिर पूछा कि "आपके मस्तक पर यह रेखा-सी क्या है?" राव साहब ने कहा- "यह श्री का चिन्ह है, जो इसे धारण नहीं करता वह चाण्डाल होता है।" जब उनसे पूछा गया कि क्या आपके पिता भी इसे धारण करते थे, तो उन्होंने इन्कार करके पूछा कि "मैंने ही कुछ वर्ष पूर्व वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा ली है इसलिये मैं इसे लगाता हूँ। हमारे पिताजी वैष्णव नहीं हुए थे इसलिये वे इसे धारण नहीं करते थे।"

स्वामी जी ने कहा कि "यदि आपकी बात ठीक है तो आपके ही कथनानुसार आपके पिता और दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व आप भी चाण्डाल सिद्ध हो गये।"

चिकित्सा के वह कुछ घंटों या एक-दो दिन में देहान्त कर देता औषधियों के कारण उसका असर कुछ घट गया और एक महीना तक स्वामीजी को जलन और दर्द का कष्ट भोगना पड़ा ।

इस घटना मे एक गूढ़ प्रसंग भी था, जिसका रहस्य उस समय किसी को विदित न हो सका । स्वामी जी को जगन्नाथ द्वारा दूध में जहर देने की बात का अनुमान थोड़ी देर बाद ही हो गया था । उन्होंने समय पाकर उसे अपने पास बुलाया और सच्ची बात बताने को कहा । उनके आत्मिक प्रभाव से जगन्नाथ काँप गया और अपना अपराध स्वीकार कर लिया । पर उसे दण्ड दिलाना अथवा बुरा-भला कहना तो दूर स्वामी जी ने उसे अपने पास से कुछ रुपये देकर कहा— "अब जहाँ तक बन पड़े शीघ्र से शीघ्र तुम जोधपुर की सरहद से बाहर निकल जाओ, क्योंकि यदि किसी भी प्रकार इसकी खबर महाराज को लग गई तो तुमको बिना फाँसी पर चढ़ाये न मानेंगे । बस जगन्नाथ उसी क्षण यहाँ से बहुत दूर चला गया और कहीं गुप्त रूप से रह कर उसने पापी प्राणो की रक्षा की ।

स्वामी जी के जीवन की एक यही घटना उनको महामानव सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है । कोई सामान्य मानव तनधारी कभी अपने अपकारी को इस तरह क्षमा नहीं कर सकता । वरन् सौ में से निन्यानवे व्यक्ति किसी से साधारण बैर-भाव हो जाने से ही उसके नाश की कामना और प्रयत्न करने लग जाते है । पर "महामानवो" अथवा "दैवी विभूतियो" की ही यह सामर्थ्य होती है । महापुरुष ईसा और महात्मा गाँधी का नाम इसीलिये संसार में चिरस्थायी है कि उन्होंने अपने परम शत्रुओं का भी कभी अनहित चिन्तन नहीं किया और सदा उसको क्षमा करते रहे । स्वामी दयानन्द ने भी ऐसी ही आलौकिक उदारता का उदाहरण संसार के सामने उपस्थित किया ।

साधारण से असाधारण बनने का मार्ग

ऐसी असाधारण महानता किसी को सहज मे प्राप्त नही हो जाती । मूलशंकर (स्वामी दयानन्द का पूर्व नाम) एक सामान्य ब्राह्मण सरकारी अधिकारी के पुत्र थे । १४-१५ वर्ष की आयु तक उनका जीवन साधारण ग्रामीण बालको की तरह अपने गाँव टंकारा (मोरवी, काठियावाड़) में व्यतीत हुआ । तब दो-एक ऐसी घटनाये हुई जिनसे उनके हृदय मे ईश्वर और धर्म की वास्तविकता जानने की जिज्ञासा हुई । उसी की प्रेरणा से वे सच्चे साधुओं और योगियों की खोज में बिना किसी को बताये घर से निकल पड़े और कई वर्ष तक जंगलो और पर्वतों की खाक छानकर मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी के शिष्य बन गये । विरजानन्द जी वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध ज्ञाता थे । उनके पास दो-तीन वर्ष अध्ययन करके और गुरुदक्षिणा के रूप वैदिक सिद्धान्तों के प्रसार की प्रतिज्ञा करके वे देश-भ्रमण को निकल पड़े । उस अन्धकार-युग में जबकि देश की समस्त जनता तरह-तरह की निरर्थक और हानिकारक रूढ़ियों में ग्रस्त थी, जिससे स्वामी जी को पग-पग पर लोगो के विरोध, विघ्न-बाधा और संघर्ष का सामना करना पड़ा । पर वे अपनी अजेय शारीरिक और मानसिक शक्ति, साहस और दृढ़ता के साथ अपने निश्चित मार्ग पर निरन्तर बढ़ते रहे, और अन्त में अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत कुछ सफल हुए ।

"पाखण्ड खंडिनी पताका"

अपने गुरु से वैदिक-धर्म के प्रचार की प्रतिज्ञा करके और कितने ही स्थानों में भ्रमण करके सन् १८६६ के कुम्भ में हरिद्वार पहुँच गये । उनका विचार था कि छोटे-छोटे स्थानों में दो-दो चार व्यक्तियों को समझाते फिरने की अपेक्षा कुम्भ में इकट्ठे विद्वानों और महात्माओं से धर्म-चर्चा और विचार विनिमय करके उनको अपने विचारानुकूल क्यों न बनाया जाय, जिससे देश भर में एक ही बार में वैदिक सिद्धान्तों की चर्चा फैल जाय । पर जब उन्होंने कुम्भ की अपार भीड़ और साधुओं के विशाल अखाड़ों को देखा तो एक बार तो उनका साहस टूटने लगा । वे विचार करने लगे कि इतने बड़े और मीलों तक फैले हुये समुदाय मे अपनी बात कैसे सुना सकूँगा ? पर उसी रात्रि को स्वप्नावस्था में उनको प्रतीत हुआ कि कोई दैवी पुरुष आदेश दे रहे हैं— "हिम्मत को मत छोड़, सब काम पूरा हो जायगा । क्या सूर्य अकेला ही संसार के अन्धकार को दूर नहीं कर देता ?" बस प्रातःकाल उठते ही उन्होंने अपने हृदय में नवजीवन का संचार होते अनुभव किया । उन्होंने अपने छोटे-से निवास स्थान के आगे एक झण्डे पर "पाखंड खंडिनी पताका" लिख कर गाढ़ दिया और अपने विचारों को व्याख्यान के रूप में प्रकट करने लगे "उस समय तक लोगो ने किसी संन्यासी के मुख से मूर्ति-पूजा का विरोध, श्राद्धों का निराकरण, अवतारो में अविश्वास, पुराणों का काल्पनिक होना आदि बाते नहीं सुनी थीं, इसलिये इस दृश्य को विस्मयपूर्वक देखते थे । कुछ लोग इसे कलिकाल का एक लक्षण बतलाते थे । कुछ पंडित नामधारी स्वामी जी को 'नास्तिक' की पदवी भी देने लग जाते थे । कुछ पंडितों और साधुओं ने स्वामी जी के विरुद्ध भाषण देना आरम्भ कर दिया और वे उन्हें तरह-तरह की गालियाँ देने लगे । पर स्वामी जी अपने काम मे संलग्न रहे । कई पडित और साधु उनके स्थान पर वाद-विवाद करने के उद्देश्य से भी आते थे, पर उनकी युक्तियुक्त बातों से निरुत्तर होकर चले

जाते थे। यद्यपि वहाँ कोई उनका अनुयायी तो न बना, पर उस धार्मिक जन-समुदाय में एक प्रकार की हलचल मच गई और अनेक लोग धर्म की सच्चाई के सम्बन्ध विचार करने लग गये।

शास्त्रार्थ और शस्त्रार्थ

पर यह कार्य सरल न था। उस समय को सौ वर्ष बीत जाने पर और इस बीच में आधुनिक शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान की अनेक गुनी वृद्धि हो जाने पर भी अभी तक लोगों की धार्मिक तथा सामाजिक मनोभूमि में काफी जड़ता देखने में आती है। कितनी ही प्राचीन प्रथाओं की हानियों को देखते-समझते हुये भी लोग उनको छोड़ने को तैयार नहीं होते। जात-पांत का जंजाल, छुआछूत का पागलपन, विवाह-शादियों में अपव्यय का उन्माद, बाह्य पूजा-पाठ का ढोंग आदि कितनी ही बातों की सदोषता अब भली प्रकार सिद्ध हो गई है, फिर भी लोग परम्परा के नाम पर उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होते और सब तरह के छलबल से भी उनको कायम रखने का दुराग्रह करते हैं।

फिर स्वामी दयानन्द जी के समय में देश और समाज की दशा में सुधार करने का प्रयत्न कितना कठिन होगा इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है। एक तो लोगों की मूढ़ता और कट्टरता उस समय बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और दूसरे स्वामीजी बड़े स्पष्टवक्ता और सबके सामने खरी बात कहने वाले थे। परिणाम यह हुआ कि वे जहाँ जाते थे वहाँ ही उनका विरोध होता था और अनेक लोग उनको हानि पहुँचाने को तैयार हो जाते थे। यद्यपि कुछ लोग उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उनके सहयोगी भी बन जाते थे और उनकी सहायता करने को तत्पर होते थे, पर उनकी संख्या विरोधियों के मुकाबले में नगण्य होती थी। स्वामी जी के विशेष रूप से विरोधी तो वे पंडित, पुरोहित, पंडा, साधु नामधारी व्यक्ति होते थे, जिनकी इस प्रकार के उपदेशों के कारण स्वार्थहानि होती थी। वे लोग धर्म और परम्परा का नाम लेकर सहज में अशिक्षित और अज्ञान जनता को भड़का देते थे, और लोगों को स्वामी जी को हानि पहुँचाने के लिये उकसाते थे।

ऐसी दशा में स्वामी जी का वास्तविक सहायक उनका विद्या-बल और शारीरिक बल ही होता था। दुष्ट लोग बड़े-बड़े उद्दण्ड अथवा लड़ाका लोगों को बहका कर स्वामी जी के मुकाबले में भेजते थे, पर वे या तो अपने बुद्धिमत्तापूर्ण तर्कों से अथवा अपरिमित शारीरिक बल से उनको ठंडा कर देते थे। कहते है कि कानपुर में स्वामीजी के स्थान के निकट ही रहने वाला एक गंगा-पुत्र 'पंडा' उनको नित्यप्रति सवेरे कितनी ही गालियाँ सुना दिया करता था, पर वे अपनी क्षमाशीलता के कारण उससे कुछ नहीं कहते थे। इतना ही नहीं कुछ दिन पश्चात् अपने पास भेंट आने वाले मेवा-मिष्ठान्न में से बहुत से पदार्थ उसको देने भी लगे। पाँच-सात दिन में ही उस को इतनी आत्मग्लानि हुई कि वह नेत्रों में आँसू भर कर स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा— "भगवन्! आपकी सुजनता ने मेरी दुर्जनता को जीत लिया।"

फर्रुखाबाद में कुछ लोगों ने एक बड़े जबर्दस्त गुण्डे को बहका कर स्वामी जी को हानि पहुँचाने भेजा। उसने आते ही पूछा— "क्या आप मूर्ति को ईश्वर नहीं मानते?" स्वामीजी ने पूछा— "आपको ईश्वर के मुख्य लक्षणों का पता है?" उसने कहा— "हाँ ईश्वर सच्चिदानन्द सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, भक्त-वत्सल होता है।" इस पर स्वामीजी ने कहा— "आपका कथन बिलकुल ठीक है। वास्तव में ईश्वर के ये ही गुण है। पर क्या आपको मूर्तियों में ये गुण दिखाई देते हैं?" वह व्यक्ति कुछ देर विचार करता रहा और फिर स्वामी जी के सम्मुख नतमस्तक होकर चला गया।

पर जहाँ सीधी तरह बातों से काम नही चलता था, वहाँ वे शक्ति प्रदर्शन से भी पीछे नहीं हटते थे। कर्णवास में एक बड़े जमींदार राव कर्णसिंह ने जब स्वामी जी को मूर्तियों और गंगा आदि की आलोचना करते सुना तो वह दस बारह हथियार बन्द लोगों को लेकर स्वामी जी के स्थान पर चला आया। उसने आते ही पूछा— "आप हमारे यहाँ रास में क्यों नहीं आये? संन्यासी होकर ऐसा करना अत्यन्त बुरा है। जब हमारे यहाँ लीला होती है तो सभी पंडित, संन्यासी उसमें सम्मिलित होते हैं?"

स्वामीजी- जब आपके सम्मुख आपके पूज्य महापुरुषों का रूप बनाकर नीच श्रेणी के व्यक्ति आते है और नाचते, गाते हैं और आप बैठे-बैठे देखा करते हैं, तब क्या इससे आपको लज्जा प्रतीत नहीं होती?"

स्वामी जी ने फिर पूछा कि "आपके मस्तक पर यह रेखा-सी क्या है?" राव साहब ने कहा- "यह श्री का चिन्ह है, जो इसे धारण नहीं करता वह चाण्डाल होता है।" जब उनसे पूछा गया कि क्या आपके पिता भी इसे धारण करते थे, तो उन्होंने इन्कार करके पूछा कि "मैंने ही कुछ वर्ष पूर्व वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा ली है इसलिये मै इसे लगाता हूँ। हमारे पिताजी वैष्णव नहीं हुए थे इसलिये वे इसे धारण नहीं करते थे।"

स्वामी जी ने कहा कि "यदि आपकी बात ठीक है तो आपके ही कथनानुसार आपके पिता और दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व आप भी चाण्डाल सिद्ध हो गये।"

राव साहब इतना सुनते ही क्रोध के मारे जल उठे और जोर से कहने लगे "मुँह सँभाल कर बोलो ।" पर जब स्वामी जी पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा तो वे तलवार निकालकर उन पर लपके । पहले तो स्वामी जी ने उनको हाथ से ही रोका, जिससे वे गिर गये । पर दुबारा उठकर फिर जब वे झपटे तो स्वामी जी ने खड़े होकर उनकी तलवार छीनकर दो टुकड़े कर दी । उन्होंने राव का हाथ पकड़ कर कहा— "क्या तुम यह चाहते हो कि मै भी आततायी पर प्रहार करके बदला लूँ ? पर नहीं, मैं सन्यासी हूँ । तुम्हारे किसी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करूँगा । जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे ।"

इसके कुछ समय बाद भी इन्हीं कर्णसिंह ने दो-तीन व्यक्तियों को रात के समय स्वामी जी को मारने के लिये भेजा । पर उनको देखकर उन्होंने इतने जोर से 'हुंकार' लगाई के वे जमीन पर गिर पड़े और बाद मे बड़ी कठिनता से उठकर अपने स्थान तक जा सके ।

स्वामीजी को इस प्रकार के उपद्रवियो का सामना अनेक बार करना पड़ा । पर वे इतने निर्भय थे और उनकी शारीरिक शक्ति भी इतनी अधिक थी कि कभी कोई उनको पराभूत न कर सका । काशी में जब वे एक गली में होकर जा रहे थे तो एक मरखना विशाल साँड़ सामने से आ गया। उसे देखकर सब लोग दौड़-दौड़ कर अगल-बगल के चबूतरों पर चढ़ गये । पर स्वामी जी बराबर अपनी चाल से चलते हुये साँड़ के सामने आ पहुँचे । वह पशु भी उनकी निर्भयता के प्रभाव से दूसरी तरफ चला गया ।

पर फिर भी स्वामी जी को अपनी शक्ति का अभिमान न था और न उन्होंने कभी उसका दुरुपयोग किया । उन पर बीसियों बार आक्रमण किये गये, ईंट, पत्थर फैंके गये, एक बार किसी मूर्ख ने जूता भी फेंका, किसी पापी ने जीवित विषधर सर्प उन पर डाल दिया, पर वे सदा सबको क्षमा ही करते रहे । वे जानते थे कि यदि मुझे लोगों के विचार बदलने हैं, उनको गलत राह से हटा कर सुमार्ग पर चलाना है, तो क्रोध, संघर्ष, लड़ाई-झगड़ा से काम नहीं चलेगा । जब हम लोगों को एक नये मार्ग की शिक्षा देना चाहते हैं और उनके पुराने चिर परिचित मार्ग से उनको हटाना चाहते हैं, तो उनका किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाना और उस अवस्था में कुछ अनुचित कृत्य भी कर बैठना असम्भव नहीं । फिर स्वामी जी के प्रचार कार्य से तो लाखों धर्मजीवी (पंडा, पुरोहित, पंडित, ब्राह्मण आदि) के स्वार्थों को भी धक्का लगता था, उनकी जीविका के साधन पर आघात होता था, तब वे प्राणपण से उनका विरोध क्यों न करते ? स्वामीजी इस तथ्य को समझते थे और इसलिये अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हुये भी, अपनी शक्ति का प्रयोग कभी बहुत आवश्यकता पड़ने पर ही करते थे ।

सौभाग्यवश उनको गुरु भी ऐसे मिले थे जिन्होंने अत्यन्त कठोर अनुशासन में रखकर और कठिनाइयों के साथ संघर्ष कराके इनको धर्म-सुधारक की पदवी के योग्य बना दिया था । यद्यपि गुरु विरजानन्द जी के व्यवहार की जो घटनायें जीवन-चरित्र मे पढ़ने में आती हैं उनमें पाठकों को प्रेम और सहानुभूति की न्यूनता का ही आभास होता है । पर उनके परिणामस्वरूप स्वामी जी को सब प्रकार के व्यवहार को सहन करने और हर तरह की परिस्थितियों में रहने की शक्ति आ गई । प्रत्येक समाज सेवी में इस प्रकार शक्ति का होना परमावश्यक है ।

स्वामी जी की प्रत्युत्पन्न मति

यद्यपि स्वामी जी के सबसे बड़े अस्त्र शास्त्रार्थ और हानिकारक रूढ़ियों का खंडन करने वाले उपदेश ही थे, पर वे जहाँ तक सम्भव होता अनेक बार वादविवाद और संघर्ष की परिस्थिति को विनोदात्मक बातों के द्वारा ही सुलझा लेते थे । जैसा हम पिछले उदाहरणों में बतला चुके है उस समय देश में टकापंथी 'साधु' ब्राह्मणों की बहुतायत थी और वे प्रायः अहंकारवश और अपने स्वार्थ की दृष्टि से स्वामी जी से लड़ने का अवसर ढूँढा करते थे, जिससे जनता को उनके विरुद्ध भड़काने का मौका मिल सके । पर स्वामी जी इसका मौका बहुत कम देते थे, और जैसा व्यक्ति देखते थे, उसे उसी प्रकार के उत्तर से निरुत्तर करके सुधार करने का उपदेश देते थे ।

अलीगढ़ मे एक पंडित स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आया और मदिर के ऊँचे चबूतरे पर बैठकर बोलने लगा । कई लोगों को यह अनुचित जान पड़ा और उसे समझाने लगे कि बराबर मे आसन पर बेठकर बातचीत करो । पर उसने अपने हठ के आगे किसी की न सुनी । तब स्वामीजी बोले— "कोई हर्ज नहीं पंडितजी वहीं बैठे रहें । केवल ऊँचे आसन से किसी को महत्व प्राप्त नहीं होता । यदि ऊँचा आसन बड़ाई का प्रमाण हो तो पंडितजी से भी ऊँचा वृक्ष पर वह कौआ बैठा है ।"

अमृतसर में एक पादरी ने कहा— "आइये, एक दिन हम और आप मिलकर एक ही मेज पर भोजन करें । इकट्ठा होकर खाने से पारस्परिक प्रीति बढ़ती है ।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"शिया और सुन्नी मुसलमान एक ही बर्तन में खाते हैं । रूसी और अँग्रेज तथा रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट ईसाई भी एक मेज पर भोजन करते रहते हैं परन्तु हम जानते हैं कि इनमें कितना अधिक वैर-विरोध और शत्रुता के भाव रहते है ।'

एक संन्यासी स्वामीजी के प्रचार-कार्य से क्रोधित होकर उल्टी-सीधी बातें करते हुये आये और कहने लगे— "तुम संन्यासी नहीं, धूर्त हो, ठग हो ! भला संन्यासी को धातु छूना कहाँ लिखा है ? तुम अपने पास रुपया-पैसा रखते हो, थाली में भोजन करते हो । इस तरह दूसरों को धोखा देते फिरते हो, शर्म नहीं आती ?" स्वामीजी उनकी बातों पर मुसकराते हुये कहने लगे— "हाँ, स्वामिन् आप ठीक कहते हैं । मैं धातु छूता हुआ कभी-कभी पैसा रख लेता हूँ । आप तो सच्चे संन्यासी हैं । आप तो धातु का स्पर्श करते न होंगे । आपने अपने मस्तक का मुण्डन भी शायद उस्तरे से न कराया होगा, क्योंकि वह धातु का ही होता है ! स्वामीजी महाराज ! फिर किस चीज से— क्या चमड़े से आपके बाल मुड़े गये हैं !"

लुधियाना (पंजाब) में भूत-प्रेत की चर्चा चलने पर आपने लोगों के भ्रम निवारणार्थ एक खेल दिखाया । उनके बैठने के कमरे में दस बारह गज की दूरी पर दो ताक बने थे । एक दिन उन्होंने उन दोनों में दो दीपक जलाकर रख दिये । पहले उनमें से एक दीपक बुझा दिया गया । पर जब दूसरा दीपक बुझाया गया तो पहला अपने आप जल उठा । लोगों ने अनेक बार एक-एक दीपक को बुझा कर परीक्षा ली, पर बारम्बार दूसरा दीपक अपने आप जलता रहा । इससे लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे इसे एक करामात समझने लगे । पर स्वामीजी ने बतलाया कि यह किसी तरकीब से किया गया एक खेल ही है । इसी प्रकार भूत-प्रेत की घटनायें किसी कारणवश दिखाई पड़ती हैं जिनको लोग समझ नहीं पाते ।

प्रलोभनों को ठुकराया

धर्म-सुधार का कार्य करते हुये स्वामीजी के सम्मुख प्रलोभन भी कम नहीं आये, पर वे कभी अपने सिद्धान्तों से टस से मस नहीं हुये । एक दिन एकान्त में उदयपुर के महाराणा उनसे मिले तो कहने लगे— "भगवान ! आप मूर्तिपूजा का खंडन छोड़ दें । यह राजनीति के सर्व 'संग्रह' सिद्धान्त के प्रतिकूल है । यदि आप इस बात को मान लें तो उदयपुर के एकलिङ्ग महादेव के मंदिर की गद्दी आपकी ही है । वैसे हमारा समस्त राज्य ही उस मन्दिर में समर्पित है पर मंदिर में राज्य का जितना भाग लगा हुआ है उसकी भी लाखों रुपये की आय है । इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जायगा और समस्त राज्य के आप गुरु माने जायेंगे ।"

यह सुनते ही स्वामीजी का आत्मभाव जागृत हो गया और वे किञ्चित रोष पूर्वक बोले— "महाराज, आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखाकर परमात्म-देव से विमुख करना चाहते हैं । उसकी आज्ञा भंग कराना चाहते हैं ? राणाजी ! आपके जिस छोटे से राज्य और मंदिर से मैं एक दौड़ लगाकर बाहर जा सकता हूँ वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञा भंग करने के लिये विवश नहीं कर सकता । परमात्मा के परम प्रेम के सामने इस मरुभूमि की मायाविनी मारीचिका अति तुच्छ है । फिर मुझ से ऐसे शब्द मत कहियेगा । मेरी धर्म की ध्रुव धारणा को धराधाम और आकाश की कोई वस्तु डगमगा नहीं सकती ।"

महापुरुषों के सम्मुख ऐसे प्रलोभन प्रायः आया करते हैं, पर सच्चे आत्मज्ञानी सदा उनकी उपेक्षा किया करते है। रामकृष्ण परमहंस को जब एक मारवाड़ी सेठ ने जीर्ण वस्त्र व्यवहार करते देखा तो वह उनको दस हजार रुपया देने लगा, जिससे उनका निर्वाह सुखपूर्वक होता रहे । पर परमहंस देव ने उसे स्पष्ट रूप से ऐसी चर्चा करने से भी रोक दिया । इसी प्रकार दक्षिणेश्वर मन्दिर के व्यवस्थापक मथुरा बाबू जिनके यहाँ परमहंस देव निवास करते थे, उनके नाम ५० हजार रुपया जमा कराने को कहने लगे, जिसके ब्याज से वे अपना कार्य भली प्रकार चला सकें, पर इसको भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया ।

स्वामी दयानन्द जी को इस प्रकार के प्रलोभन जीवन में अनेक बार दिये गये । काशी नरेश ने उनसे भारत प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर का अध्यक्ष बनने का प्रस्ताव किया था । गुजरात में एक वकील ने उनसे कहा कि आप मूर्ति पूजा का विरोध करना छोड़ दें तो हम आपको शंकरजी का अवतार मानने लगें और भी अनेक स्थानों में उनसे वैभवशाली मन्दिरों और मठों का अध्यक्ष बन कर रहने का आग्रह किया गया । पर उन्होंने सदैव यही उत्तर दिया कि मेरा कार्य देश और जाति की सेवा करके सुधार करना है न कि धन-सम्पत्ति इकट्ठी करके सांसारिक भोगों में लिप्त होना । मैं परमात्मा के दिखाये श्रेष्ठ मार्ग से कभी पश्चात्पद नहीं हो सकता । वास्तव में यही प्रत्येक आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति का कर्तव्य है ।

गौ रक्षा के लिये उद्योग

गौ रक्षा की समस्या जिस प्रकार आज जटिल बनी है, वैसी ही लगभग स्वामी जी के समय में थी । वे गौ को मनुष्य जाति के लिये परम हितकारी मानते थे, और इसलिये उसकी रक्षा के लिये सदैव प्रेरणा देते रहते थे । वे ये भी समझते थे कि जिस प्रकार अनेक पुराने विचारों के लोग थोड़ी सी बुड्ढी, अपंग और जराजीर्ण गायों को गौशाला में रख कर गौ-रक्षा का नाम कर लेते हैं, वह रास्ता बिलकुल

गलत है । वास्तविक गौ रक्षा तो यह है कि अधिकाधिक दूध देने वाली गौओं और खेती का कार्य उत्तम रीति से कर सकने योग्य बैलों की संख्या में यथा शक्ति वृद्धि की जाय क्योंकि भारतवासियों के जीवन निर्वाह का आधार मुख्यतः अन्न और दूध, ये दो ही पदार्थ हैं । इस विषय का सविस्तार विवेचन स्वामी जी ने "गो करुणानिधि" नामक पुस्तक में किया था और इस सम्बन्ध में एक विज्ञापन छपा कर उस पर सहस्रों हस्ताक्षर कराके महारानी विक्टोरिया की सेवा में भेजा था । उसका कुछ अंश इस प्रकार था—

"विश्व भर में जीवन के मूल दो ही पदार्थ है— एक अन्न और दूसरा पान । मनुष्यों को खान-पान भरपूर प्राप्त हो, इस अभिप्राय से आर्यावर्त के शिरोमणि राजा-महाराजा और प्रजा के लोग महोपकारक गाय आदि पशुओं का न तो आप वध करते थे और न किसी दूसरे को करने देते थे । इनकी रक्षा से अन्न-पान की बहुत वृद्धि होती है, जिससे सर्व साधारण का सुख पूर्वक निर्वाह हो सकता है। राजा-प्रजा की जितनी हानि इसकी हत्या से होती है, उतनी किसी भी दूसरे कर्म से नहीं होती है । एक गाय के वध से चार लाख और एक भैंस के वध से बीस सहस्र मनुष्यों की हानि होती है । इसका निर्णय हमने 'गो-करुणानिधि' नामक पुस्तक में अति विस्तार से किया है । इसलिये हम सब मिलकर प्रजा हितैषिणी श्रीमती राज राजेश्वरी महाराणी विक्टोरिया की सेवा में प्रार्थना करे और उनकी न्याय पद्धति में, जो गो-हत्या रूप अन्याय हो रहा है, उसे बन्द कराकर प्रसन्नता लाभ करे ।

"देखिये तो सही, अनेक गुणयुक्त गाय आदि पशुओं के वध से दूध घी कितने मँहगे हो गये हैं । किसानों की कितनी बड़ी हानि हो रही है, जिसका फल राजा प्रजा सभी भोग रहे है । नित्य प्रति हानि की मात्रा बढ़ती ही चली जाती है । जब कोई मनुष्य पक्षपात को छोड़कर देखता है तो परोपकार को ही धर्म और पर-हानि को ही अधर्म जानता है । जिससे अधिकांश मनुष्यों का अधिक उपकार हो उसका नाश कभी नहीं करना चाहिये ।"

इस प्रकार स्वामीजी ने जन कल्याण की दृष्टि से एक आवश्यक विषय की ओर सर्व साधारण का ध्यान आकर्षित किया था । उन्होंने गौ रक्षा का प्रश्न उसके 'गौ माता' होने अथवा उसकी सहायता से परलोक में वैतरणी पार कर सकने की दृष्टि से नहीं उठाया, वरन् आर्थिक कारणो से उसका समर्थन किया । हमें खेद से कहना पड़ता है कि आज हिन्दू धर्म के 'नेता' बनने वाले सज्जन गोरक्षा आन्दोलन के इस वास्तविक आधार को छोड़कर दलबन्दी अथवा राजनीतिक सफलता की दृष्टि से गौ की हत्या और रक्षा का शोर मचा रहे हैं । हमको तो उनके इस प्रदर्शन से गौ जाति का अभी तक कोई भला होता दिखाई नहीं देता । जैसा स्वामी दयानन्दजी ने गौ की आर्थिक उपयोगिता बतला कर उसकी रक्षा और वृद्धि की तरफ जनता और शासक-वर्ग का ध्यान आकर्षित किया था, यदि उस मार्ग पर चला जाता तो कुछ लोकहित अवश्य पूरा हो सकता था ।

स्त्री-शिक्षा का प्रचार

समाज की उन्नति का विचार करते हुये स्वामी जी का ध्यान स्त्रियों की स्थिति की ओर भी आकर्षित हुआ । उस समय तक स्त्री-शिक्षा का किसी को ध्यान ही न था और लोग उसकी आवश्यकता अनुभव कर रहे थे । स्त्रियाँ पूर्णतः घर की चहारदीवारी में आवद्ध थीं, और उनके अज्ञान तथा पिछड़ेपन के कारण समाज की बड़ी हानि हो रही थी । स्वामी जी की तीक्ष्ण दृष्टि ने शीघ्र ही इस बात को देख लिया कि हिन्दू-समाज के पतन का एक बड़ा कारण यह स्त्रियों का पिछड़ापन भी है । जब तक मातायें सुयोग्य न होंगी तब तक उनकी सन्तान भी उन्नतिशील और कर्तव्य परायण हो सकनी कठिन है । इस दृष्टि से स्वामीजी ने आरम्भ से ही स्त्री-शिक्षा पर भी बल देना आरम्भ किया था और आर्य-समाजों की स्थापना के साथ ही पुत्री-पाठशालाओं के खोलने का आदेश दिया गया था । इसका ही परिणाम था कि महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) और ला० देवराज जैसे आर्य-पुरुषों ने सन् १८६० में जालन्धर मे कन्या पाठशाला की स्थापना कर दी, जो आज कन्या महाविद्यालय के रूप मे भारत ही नहीं विदेशों तक मे प्रसिद्ध है । इस संबंध मे स्वामी दयानन्द जी का जीवन वृतान्त लिखते हुये स्वामी सत्यानन्द ने लिखा है—

"स्वामी जी महाराज की यह हार्दिक कामना थी कि किसी प्रकार मातृशक्ति का सुधार हो । स्त्रियों में भी धर्म-प्रचार और शुभ शिक्षा फैले । वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से इस सिद्धान्त के मर्म को जानते थे कि सन्तानों में नव-जीवन की नींव रखने वाले हाथ माताओं के होते हैं । मीठी-मीठी लोरियों के साथ और पोली-पोली थपक से मातायें पुत्रों में वे भाव भर देती हैं, जो किसी भी दूसरे स्थान से प्राप्त नहीं हो सकते । जननियाँ जाति के जीवन की वास्तविक जड़ हैं, सन्तति को उन्नति के उच्चतम शिखर पर ले जाने के लिये जगमगाती ज्योतियाँ हैं परन्तु उन्हें ऐसी कोई आर्य देवी नहीं दीखती थीं । महाराज का हृदय इसी ऊहापोह और विचार-परम्परा में परायण था कि एकाएक उनकी सेवा में श्री रमा के पत्र आने लगे । वे पत्र पूज्य भाव से, आदर बुद्धि से, और भक्ति विनय से परिपूर्ण थे ।"

यह रमाबाई महाराष्ट्र के कौंकण प्रदेश की रहने वाली थीं और उन्होंने अपने पिता से बाल्यावस्था में ही संस्कृत का अच्छा अध्ययन कर लिया था। बाद में अनाथ हो जाने के कारण वे अत्यन्त कष्ट सहन करती हुई कलकत्ता पहुँच गईं और अपनी योग्यता से वहाँ के शिक्षित समाज में पर्याप्त आदर सम्मान की अधिकारिणी बन गई थीं। वे स्वामी जी के पास आकर उनसे एक मास तक शिक्षा ग्रहण करती रहीं। उस समय पंडित भीमसेन जी, ज्वालादत्तजी, ज्योतिस्वरूप जी भी विद्यार्थी के रूप में स्वामी जी से पढ़ते रहते थे। जब श्रीमती रमा अपने घर जाने लगीं तो स्वामी जी ने उनको उपदेश देते हुये कहा— "इस समय आर्य जाति की पुत्रियों की अवस्था अति शोचनीय है। वे संसार भरके भ्रमों और कुरीतियों का केन्द्र बनी हुई हैं। आप आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर उनका सुधार कीजिये। उनको दीन दशा से उभारिये। इस शुभ-कार्य मे आर्य-समाज की पद्धति पर चलते हुये आपको धन की पर्याप्त सहायता प्राप्त होती रहेगी।"

रमाबाई ने स्त्री शिक्षा और दुरवस्था में पड़ी स्त्रियों के उद्धार का प्रशंसनीय कार्य किया। पर आर्य समाज के अन्तर्गत काम करने के बजाय किन्हीं परिस्थितियों के कारण उनको ईसाइयों से सहयोग लेना पड़ा। उन्होंने कई बार इंगलैण्ड, अमरीका की यात्रा की और वहाँ से अनुभव तथा साधन प्राप्त करके भारत में नारी शिक्षा संस्थाओं का अच्छा प्रचार किया। पर ईसाइयों का सम्पर्क होने के कारण उनको हिन्दुओं का सहयोग मिलना-बहुत कम हो गया, जिससे उनके कार्य का उचित विस्तार न हो सका।

हिन्दी ही राष्ट्रभाषा है

देशोन्नति की दृष्टि से स्वामीजी ने जो अनेक प्रयत्न किये, उनमें से एक हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना भी था। मुसलमानी शासन काल में शासन कार्य और अदालतों की भाषा पारसी हो गई थी जो बाद में उर्दू के रूप में बदल गई। अंग्रेजी शासन में ऊँचे दर्जे का काम तो अंग्रेजी में होने लगा, पर अदालतों का तथा अन्य साधारण कचहरियों का उर्दू मे ही जारी रहा। खास कर पंजाब में, जहाँ स्वामीजी का प्रचार कार्य सबसे अधिक फैला, उर्दू सर्वसाधारण की भाषा बन गई थी। केवल कुछ स्त्रियाँ धार्मिक ग्रंथ पढ़ने के ख्याल से हिन्दी सीख लेती थीं, पर शिक्षा संस्थाओं तथा पुस्तकों और अखबारो में उर्दू का ही प्रचार था। स्वामी जी ने देखा कि यह बात भारतीय धर्म और संस्कृति की दृष्टि से बहुत हानिकारक है। इसलिये उन्होंने सन् १८७४ में ही जब बम्बई आर्य समाज के लिये नियम बनाये तो उसके पाँचवें नियम में यह बात लिख दी कि "प्रधान समाज में सत्योपदेश के लिये संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के ग्रंथ रहेंगे।" इसमें 'आर्य-समाज' से उनका तात्पर्य हिन्दी से ही था। लाहौर में अपने अनुयायियों का संगठन करते समय भी उन्होंने प्रत्येक आर्य-समाजी के लिये 'आर्य-भाषा' सीखना अनिवार्य कर दिया था। वे हिन्दी-प्रचार के लिये कितने दृढ़ थे वह उनके जीवन चरित्र में वर्णित निम्न घटना से विदित होता है—

"हरिद्वार में एक दिन स्वामीजी महाराज अपने आसन पर बैठे सत्संगियों को समझा रहे थे। बीच में एक सज्जन ने निवेदन किया— "यदि आप अपनी पुस्तकों का अनुवाद कराकर फ़ारसी अक्षरों में छपवा दें, तो पंजाबादि प्रान्तों में जो लोग नागरी-अक्षर नहीं जानते उनको आर्य-धर्म के जानने में बड़ी सुविधा हो जाय।"

"महाराज ने उत्तर दिया— "अनुवाद तो विदेशियों के लिये हुआ करता है। नागरी के अक्षर थोड़े ही दिनों में सीखे जा सकते हैं। आर्यभाषा को सीखना भी कोई क़ठिन काम है? फारसी और अरबी शब्दों को छोड़ कर ब्रह्मावर्त की सभ्य भाषा ही 'आर्य-भाषा' है। यह अति कोमल और सुगम है। जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा को सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जा सकती है? उसमें धर्म की लगन है, इसका भी क्या प्रमाण है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रचार होगा '। मैने आर्यावर्त भर मे भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिये ही अपने समस्त ग्रंथ आर्य भाषा में ही लिखे और प्रकाशित किये हैं।'

वास्तव में भाषाओं का प्रश्न एक बड़ी गंभीर समस्या की तरह था। किसी जाति के धर्म और संस्कृति का भाषा से भी बड़ा सम्बन्ध होता है। यदि उर्दू को प्रधानता देकर उसकी ही अधिक जानकारी हासिल करें तो हमारे विचारों में भी विदेशीपन की भावना बढ़ जायगी। जैसा किसी विद्वान ने कहा था "अगर हम संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे तो हम दान के लिये कर्ण, सत्य बोलने के लिये हरिश्चन्द्र, वीरता के लिये भीम और अर्जुन जैसे भारतीय महापुरुषों का उदाहरण देंगे। पर यदि हम हिन्दी से अनजान रह कर उर्दू फारसी के जानकार बनेंगे तो हमको दानियों में हातिम, वीरो में रुस्तम, कवियों मे हसन और पुस्तकों में गुलिस्तां आदि की ही याद आयेगी।" यह बात निश्चय ही राष्ट्रीयता की दृष्टि से घातक है। स्वामीजी इस तथ्य

को भली प्रकार समझते थे, इसलिये उन्होने आरम्भ से ही अपने संगठन में हिन्दी को प्रधान स्थान दिया और अपनी समस्त पुस्तकें उसी में लिखीं । यदि वे चाहते तो उन पुस्तकों को संस्कृत या अपनी मातृभाषा गुजराती में भी लिख सकते थे, पर वे राष्ट्रभाषा के महत्त्व और आवश्यकता को भली-भाँति समझते थे इसलिये उन्होंने आरम्भ से ही उसकी प्रधानता की घोषणा कर दी । इससे देश भर के आर्य समाजों के सभी सदस्य किसी न किसी रूप में थोड़ी बहुत हिन्दी सीख ही लेते है, और देशभर में समाजों की कार्यवाही हिन्दी मे ही होती है । यद्यपि अब हिन्दी की उस समय की अपेक्षा प्रत्येक क्षेत्र में बहुत अधिक प्रगति हो चुकी है, फिर भी उसके मार्ग में कुछ बाधायें अब भी मौजूद हैं । इस कार्य के लिये स्वामीजी सभी हिन्दी भाषियों के श्रद्धा के पात्र हैं ।

स्त्रियों को धार्मिक और सामाजिकअधिकार

स्त्री-शिक्षा के प्रचार के साथ स्वामी जी स्त्रियो को सभी प्रकार के धार्मिक और सामाजिक अधिकार दिये जाने के भी समर्थक थे उन्होंने कई स्त्रियों को स्वयं गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी और उनको नियमपूर्वक गायत्री जप करने का आदेश दिया था । ऐसी ही एक महिला कर्णवास की हंसा ठकुरानी थी । वह बाल विधवा थी, पर उसने बड़े संयमपूर्वक ६० वर्ष की आयु प्राप्त कर ली थी । वह पाँच-छ गाँवों की स्वामिनी थी, पर केवल जौ की रोटी और मूँग की दाल खाती थी और वह भी सदैव अपने हाथ से बना कर । सभी ठाकुर परिवारों में उसका बड़ा आदर था । उस वृद्धा ने स्वामी जी के दर्शनों की अधिक अभिलाषा प्रकट की और स्वामी जी ने उसे आने की आज्ञा दे दी । उसने आकर बड़ी श्रद्धा से भूमि पर माथा टेक कर नमस्कार किया और आत्म-कल्याण का मार्ग पूछा । स्वामी जी ने उसे अन्य देवी-देवताओं की उपासना के बजाय गायत्री साधना करने की सम्मति दी । साथ ही 'ॐकार' का पवित्र जप करने की भी शिक्षा दी । हंसा देवी जब तक जीवित रही निरन्तर स्वामी जी के उपदेश के अनुसार आचरण करती रहीं ।

इसी तरह बम्बई की तरफ उन्होंने भगवती नाम की एक प्रसिद्ध तपस्विनी और योग साधन करने वाली महिला को भी गायत्री का उपदेश दिया था । पुराने ढंग के पंडित इन बातों पर भी हाय-तोबा मचाते थे, कि शास्त्रों मे स्त्रियों तथा शूद्रों को वेद-मंत्र सुनने का अधिकार नहीं है । बम्बई प्रान्त की एक सभा में कुछ दक्षिणी पडित-वाद-विवाद के विचार से आये । पर जैसे ही स्वामी जी ने अपने भाषण में एक वेद मंत्र का उच्चारण किया वे लोग उठ कर चलने लगे । पूछने पर उन्होंने कहा कि— इस सभा में कई मुसलमान हैं, और शूद्र तथा स्त्रियाँ भी हैं । इन सबके कानों में वेद मंत्र का पड़ना शास्त्र के विरुद्ध और पाप कर्म हैं, इसीलिये हम यहाँ नहीं ठहर सकते ।"

पर स्वामी जी ने कभी ऐसे कट्टरता में लिप्त व्यक्तियों की परवाह न की । उनका कथन था कि इस प्रकार के अधिकारच्युत और पतित अवस्था में पड़े लोगों के लिये ही तो धर्मोपदेश किया जाता है । सामर्थ्यवान् और साधन सम्पन्न मनुष्य तो अपनी व्यवस्था स्वयं ही कर लेते हैं । इस प्रकार यद्यपि स्वामी जी ने अपने व्यवहार से स्त्री और शूद्रों को समान अधिकार देने की घोषणा कर दी, पर कार्य रूप में अभी तक इन सिद्धान्तों पर बहुत कम अमल किया जाता है । महात्मा गाँधी के प्रयत्नों और त्याग-तपस्या से शूद्रों को कुछ राजनीतिक और थोड़े से सामाजिक अधिकार अवश्य मिल गये हैं, पर धार्मिक और जातीय विषयों में अभी तक क्या सनातनी और क्या आर्य समाजी, इस समस्या को टालते ही रहते हैं, और उनके प्रति पूर्ववत् ही व्यवहार करते रहते है । जान पड़ता है कि यह क्रान्ति के बिना पूरा न होगा ।

यह ईंट पत्थर नहीं फूलों की वर्षा है

अमृतसर में जब स्वामी जी ने पडितों को शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया तो वे बहुत अधिक सख्या में 'जय-जय' का नाद करते हुये उनकी सभा में आये । वे सब तिलक लगाये, पुस्तकें बगल में दाबे स्वामी जी के सामने बड़ी अकड़ के साथ बैठे थे । उन्होंने शास्त्रार्थ या विचार-विनिमय तो कुछ नहीं किया एकाएक उनके चेलों ने स्वामीजी पर ईंट, पत्थर फेकना आरम्भ कर दिया । इससे स्वामीजी के भक्तों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसी समय उन उद्दण्डों को दण्ड देने को उद्यत हो गये । पर स्वामी जी ने लड़ाई झगड़े को रोका और कहा— "मत (सम्प्रदाय) रूपी मदिरा से उन्मत्तजनो पर कोप नहीं करना चाहिये । हमारा काम एक वैद्य का जैसा है उन्मत्त मनुष्य को वैद्य औषधि देता है, न कि उसके पागलपन के कारण मारपीट करता है । निश्चय जानिए, आज जो लोग मुझ पर ईंट, पत्थर और धूल बरसाते हैं वे ही एक दिन फूलों की वर्षा करने लगेंगे ।"

पूना में भी जब वहाँ के आर्य समाजियों ने स्वामी जी को बुलाकर मूर्ति पूजा, श्राद्ध आदि के संबंध में भाषण कराये, तो उस नगर के सनातनी बहुत चिढ़ गये । भाषणों का अन्त हो जाने पर स्वामीजी के अनुयायियों ने एक बड़ा जुलूस निकाल कर उनको विदा करने का निश्चय किया । पर जब विरोधियों को इसकी खबर लगी तो उन्होंने भी 'गर्दभानन्दाचार्य' की सवारी निकालने की घोषणा कर दी

और स्वामी जी के जुलूस में विघ्न डालने का भी निश्चय किया । आर्य समाज वालों को जब इसका पता लगा तो वे घबड़ाये, क्योंकि उनकी संख्या बहुत कम थी और विरोधी तो शहर में भरे पड़े थे । यह देखकर उन्होंने माननीय महादेव गोविन्द रानाडे से सहायता की प्रार्थना की यद्यपि रानाडे महोदय 'प्रार्थना समाज' के सदस्य थे और इन दोनों संस्थाओं के उद्देश्यों में बहुत अन्तर भी था । पर एक सुधारक की हैसियत से वे इस कार्य में सहायता देने को तैयार हो गये । वे एक बहुत बड़े सरकारी पद पर थे, अतः उनके कहने से पुलिस का एक बड़ा दल जुलूस की देखभाल करने को आ गया और वे स्वयं भी साथ में चले । जुलूस बड़ी धूमधाम से निकाला गया । सबसे आगे पालकी में "वेद भगवान" विराजमान किये गये और उसके पीछे एक हाथी पर स्वामी जी को बैठाया गया ।

आरम्भ में तो विरोधियों ने हल्ला-गुल्ला करके और गालियाँ बक कर जुलूस को भंग कर देना चाहा, पर जब इससे काम न चला, तो वे रास्ते में से कीचड़ और ईंट पत्थर उठाकर फेंकने लगे । जब भीड़ वालों को अधिक उग्र होते देखा तो रानाडे ने उन्हें शान्तिपूर्वक भगा देने की आज्ञा दे दी । जैसे ही पुलिस वाले उनकी तरफ बढ़े वे सब भाग खड़े हुये ।

सूरत में जब स्वामी जी का भाषण हो रहा था तो इच्छाशंकर नामक पंडित बीच में ही खड़ा होकर मूर्तिपूजा के प्रमाण बोलने लगा । पर स्वामीजी की दो-चार बातें सुनकर ही वह निरुत्तर हो गया । तब उसके अनुयायी धूल उड़ाने और ईंट-पत्थर फेंकने लगे । स्वामी जी के सहायकों ने व्याख्यान बंद कर देने की प्रार्थना की । उन्होंने हँसते हुये कहा— "अपने भाइयों के फेंके हुये ये ईंट-पत्थर मेरे लिये पुष्प-वर्षा है । व्याख्यान तो समय पर ही बन्द करूँगा।" उनकी दृढ़ता को देखकर दर्शक बहुत प्रभावित हुए और विरोधी पस्त हो गये ।

इसमें सन्देह नहीं कि महत्वपूर्ण कार्यों में प्रायः विघ्न-बाधायें आया ही करती हैं । खासकर समाज-सुधार और कुरीति निवारण का कार्य ऐसा है जिसमें कुछ लोगों का सहमत और कुछ का असहमत होना अनिवार्य है । इसलिये सच्चे सुधारक को हर तरह का विरोध, कठिनाइयाँ और मानापमान सहने को प्रस्तुत होना ही पड़ता है । इसके बिना कोई इस मार्ग में न तो अग्रसर हो सकता है और न कुछ सफलता प्राप्त करके दिखा सकता है । स्वामी दयानन्दजी ने इस विषय में पराकाष्ठा का साहस और दृढ़ता प्रकट करके दिखला दी । उन पर केवल ईंट-पत्थर ही नहीं फेंके गये बीसियों लोग शस्त्र लेकर मारने आये और अनेक बार विष देने की चेष्टा की गई । बहुत कुछ सावधान रहने पर भी वे कई बार विश्वासघातियों द्वारा प्रदत्त विष खा भी गये योगाभ्यास द्वारा मृत्यु से बच गये । इस संबंध में एक दिन उन्होंने अपने एक प्रेमी से कहा— "मेरे ऊपर अनेक बार विष आदि घातक पदार्थों का प्रयोग किया गया है । यद्यपि मैंने उनको योगक्रियाओं से बाहर निकाल दिया, पर तो भी शरीर में उसका दूषित प्रभाव कुछ शेष रह ही जाता है। यही कारण है कि अब मुझे अपने शरीर के अधिक ठहरने का भरोसा नहीं है, अन्यथा मैं एक शताब्दी तक तो पूर्ण स्वस्थ अवस्था में जीवित रह ही सकता था ।"

पर परोपकारी और परमार्थ-पथ के पथिकों के लिये कम या अधिक दिन तक जीने का कोई महत्व नहीं होता। नीति शास्त्र में कहा गया है कि, "कौवा उच्छिष्ट खाता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रह जाता है और सिंह अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित करके शीघ्र ही अपनी जीवन की लीला समाप्त कर देता है, पर क्या इससे कौवा का जीवन श्रेष्ठ समझा जा सकता है ? जिन्दगी तो वही सराहनीय है, जो लोक-कल्याण के लिये काम में आती रहे फिर चाहे उस पर ईंट-पत्थर फेंके जायँ और चाहे फूलों की वर्षा की जाय ।

विधर्मियों से वाद-विवाद और मांस भक्षण त्याग कराना

यद्यपि स्वामीजी का मुख्य कार्य क्षेत्र हिन्दू-समाज ही था, पर वे अपने सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की दृष्टि से कभी-कभी ईसाई और मुसलमान मतों की आलोचना भी किया करते थे । बरेली में व्याख्यान देते हुये उन्होंने वहाँ के अंग्रेज कमिश्नर और कलक्टर के सामने कहा कि "पुराणों में यदि कुन्ती, तारा आदि "पंच कन्याओं" पर लांछन लगाया गया है तो ईसाइयों की बाइबिल में भी कुमारी मरियम के पुत्र होने की बात लिखी है और ईसाई उसका दोष सर्व शुद्ध स्वरूप परमेश्वर पर लगाते हैं । क्या यह लज्जा की बात नहीं है ?" उस समय तो कमिश्नर साहब चुपचाप चले गये, पर दूसरे दिन उन्होंने लाला लक्ष्मी नारायण को, जिनके बगीचे में स्वामी जी ठहरे हुये थे, बुलाकर कहा— "आप स्वामी जी से कह दीजिये कि अधिक कठोर खडन की बातों से काम न लिया करें । ईसाई मतावलम्बी तो सभ्य और सुशिक्षित है वाद-प्रतिवाद से नहीं घबराते, पर यदि हिन्दू या मुसलमान उत्तेजित हो गये तो उनके व्याख्यान बन्द हो जायेंगे ।"

और यह बात बहुत कुछ सत्य भी थी । कट्टर हिन्दुओं से तो संघर्ष सदा ही होता रहता था, पर अनेक स्थानों पर मुसलमान भी उनके शत्रु बन जाते थे । काशी में प्रचार

का जिक्र करते हुये उनके जीवन चरित्र में एक स्थान पर बतलाया है—

"काशी में स्वामीजी मुसलमानी मत की भी त्रुटियाँ दिखाया करते थे । इससे कुछ मुसलमान बहुत रुष्ट हो गये । एक दिन सायंकाल महाराज गंगातट पर आसन लगाये बैठे थे । उसी समय दैवयोग से मुसलमानों की एक मंडली भी वहाँ आ निकली । उस टोली में से कुछ मनुष्यों ने स्वामी जी को पहिचान कर कहा कि यह वही बाबा है, जो कुछ दिन पहले हमारे मजहब के खिलाफ व्याख्यान दे रहा था । उनमें से दो बलवान व्यक्ति बहुत अधिक आवेश में आकर आगे बढ़े और स्वामी जी को उठाकर गंगा में फेंकने का प्रयत्न करने लगे । उन दोनों ने स्वामीजी की दोनों भुजायें कन्धों के पास से दृढ़तापूर्वक पकड़ लीं, और उन्हें झुलाकर गंगा में फेकने लगे । उसी समय स्वामीजी ने अपनी बाँहों को खूब कस लिया और उन दोनों के साथ पानी में कूद पड़े । वे कुछ देर तक तो उनको शिकंजे में कसे रहे, पर फिर दया करके उनको छोड़ कर स्वयं डुबकी लगा ली । तब वे लोग अपने साथियों के साथ हाथ में ढेला लेकर किनारे पर खड़े रहे कि 'बाबा पानी से सिर निकालें तो उन्हें मारें !" पर स्वामीजी भी इस बात को समझते थे, इसलिये वे प्राणायाम द्वारा श्वास रोक कर नदी के भीतर ही बैठे रहे । अँधेरा हो जाने पर उन उग्रवादियों ने समझ लिया कि बाबा पानी मे डूब गया । इसलिये वे चले गये और स्वामीजी भी जल से निकलकर पुनः अपने आसन पर विराजमान हो गये ।

पर ऐसे भी ईसाई और मुसलमान की कमी नहीं थी, जो स्वामीजी में पूर्ण श्रद्धा रखते थे और जिन्होंने उनके सत्संग से प्रभावित होकर अपना कुछ सुधार भी किया था । अलीगढ़ में मुसलमानों के सबसे बड़े नेता सर सैयद अहमद खाँ स्वामी जी से भेंट करने कई बार आये । एक दिन उन्होंने कहा— "स्वामीजी आपकी अन्य बातें तो युक्तियुक्त जान पड़ती हैं, पर यह बात कि थोड़े से हवन मे वायु का सुधार हो जाता है, युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती ।" स्वामीजी ने पूछा— "आपके यहाँ कितने मनुष्यों का भोजन बनता है ?" उत्तर मिला— कोई पचास-साठ का । स्वामी जी ने फिर कहा— "आपके भोजन में दाल कितने सेर पकती होगी ?" उन्होंने कहा— कोई छः-सात सेर । फिर पूछा "इतनी दाल में कितनी हींग का छोंक दिया जाता होगा ?" उत्तर मिला— "माशा भर से कम तो हींग न होती होगी ।" तब स्वामीजी ने सर सैयद को समझाया कि जिस तरह मासा भर हींग पचास आदमियों की दाल को सुगन्धित बना देती है । उसी प्रकार थोड़ा सा हवन भी वायु को सुगन्धित बना देता है । स्वामीजी के तर्क से सभी श्रोता प्रभावित हो गये और सर सैयद उनकी स्तुति करते हुये अपने घर को गये।

इसी प्रकार ज्वालापुर में राव ओज खाँ ने स्वामीजी के पास आकर पूछा— "महाराज ! क्या गोरक्षा सब जीव-रक्षा से अच्छी है ?" स्वामी जी ने कहा— "हाँ गोरक्षा सर्वोत्तम है और इसमे सबसे अधिक लाभ है । इसलिये गोरक्षा सब मनुष्यों का कर्तव्य है ।" ओज खाँ ने स्वामी जी के कथन को सत्य मानकर माँस खाना ही छोड़ दिया ।

दानापुर (बिहार) में जोन्स नामक गोरा स्वामी जी के पास आया और कुछ धर्मोपदेश सुनने की अभिलाषा प्रकट की । स्वामीजी ने कहा— "परमात्मा के रचे पदार्थ सबके लिये एकसे है । सूर्य और चन्द्रमा सबको समान प्रकाश प्रदान करते है । वायु और जलादि वस्तुएँ सबको एक-सी दी गई है । जैसे ये सब पदार्थ ईश्वर की देन है, सब प्राणियों के लिये एक से हैं, उसी प्रकार परमेश्वर प्रदत्त धर्म भी मनुष्यों के लिये एक सा और समान होना चाहिये ।"

स्वामी जी ने फिर जोन्स से प्रश्न किया— "भलाई क्या है ? उसने कहा— "आप ही कृपा कर बताइए ।" स्वामी जी ने कहा— "जिस कर्म से अधिकांश मनुष्यों का अधिक उपकार हो उसे मैं भलाई मानता हूँ ।" इस विचार को जोन्स ने भी स्वीकृत किया । तब स्वामीजी ने बड़ी योग्यता से यह समझाया कि 'गो-रक्षा' से अधिकांश मनुष्यों को अत्यधिक लाभ होता है । इस उपदेश के प्रभाव से मि० जोन्स ने उसी समय 'गोमांस' त्याग की प्रतिज्ञा कर ली ।

फर्रुखाबाद के भाषणो मे भी, जिनमें कलक्टर आदि प्रमुख राज्य कर्मचारी उपस्थित थे गौरक्षा पर जोर देकर कहा— "गोहत्या से इतनी हानि हो रही है, परन्तु खेद है कि राजपुरुष इस पर कुछ भी ध्यान नहीं देते । इसमें हमारा ही अधिक दोष है । हममें एकता का सर्वथा अभाव है । यदि मिलकर गोवध बन्द कराने का निवेदन करें तो क्या नहीं हो सकता । जो लोग गौदान करते हैं वे भी हानि-लाभ को नहीं सोचते । भोले-भाले भाई समझ लेते हैं कि गौ सङ्कल्प के करने से वैतरणी पार हो जायेंगे । वे मर जाते हैं और गौ पुरोहित देवता के आँगन में खूँटे से बँधी रहती हैं । प्रत्युत बार-बार कई स्थानों से सङ्कल्प कराई जाती है । बहुत से ऐसे भी कुल-कपूत है जो तुरन्त उसे कसाई के हाथ बेच डालते हैं ।"

स्वामीजी ने गौ सम्बन्धी अन्ध-विश्वास और हानिकारक रूढ़ियो के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा वह बिलकुल ठीक है। लोग गाय की वास्तविक उपयोगिता और उससे होने वाले आर्थिक लाभों को तो भूल गये हैं, और केवल एकमात्र

उसकी "पूँछ पकड़ कर वैतरणी पार होने" की बात उनको याद हो आती है । अहिंसा की निगाह से तो एक गाय ही क्या सभी अनाक्रमणकारी पशु सुरक्षा के अधिकारी हैं । किसी भी निरीह पशु को बिना कारण मारना एक पाप कर्म ही माना जायगा । पर गाय और भैंस जैसे सर्वोपयोगी पशुओं की हत्या तो पाप ही नहीं है समाज का भी अनहित करना है । भारतवर्ष में अभी तक दूध, दही, घी को आहार सामग्री का सर्वोत्तम अंग माना जाता है अतएव जो लोग उत्तम और उपयोगी दूध देने वाले पशुओं के विनाश का कारण बनते हैं । वे निःसन्देह समाज के बहुत बड़े अनीति कर्ता माने जाने चाहिये ।

हिन्दू-समाज में दान का बड़ा महत्व है और सामान्य मनुष्य तो जो जितना दान करता है उसे उतना ही बड़ा 'धर्मात्मा' समझते हैं । कितने ही पुराणों का अधिकांश दान-महिमा से ही भरा पड़ा है । किस व्रत या तीर्थ में कितना दान देने से मनुष्य को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त होता है, इसका जिक्र एक नहीं सौ-दो-सौ और इससे अधिक बार किया गया है । पर वास्तव में इस समय यहाँ की दान प्रणाली बिलकुल बिगड़ गई है । तीर्थों के पण्डा-पुजारी तो नवीन आगन्तुकों के सम्मुख इस बात का विज्ञापन करते ही रहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने यहाँ इतने हजार का दान दिया या इस प्रकार की सामग्री बाँटी । लोग भी ऐसी बातों से प्रेरित होकर जो कुछ दान करते हैं वह बड़ी धूमधाम और प्रदर्शन के साथ करते हैं, जिससे उनकी गणना भी दानियों में होने लगे। पर वास्तव में इस प्रकार नामवरी अथवा अहंकार की तुष्टि के लिये किया गया दान उत्तम नहीं होता और 'गीता' मे इसे 'तामसी' श्रेणी का बतलाया गया है । स्वामी दयानन्द भी अपने उपदेश से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे । एक भाषण में उन्होंने कहा—

"अन्न-जल का दान कोई भी भूखा प्यासा मिले उसे दे देना चाहिये । ऐसा दान पहले अपने दीन-दुःखी पड़ोसी को देना चाहिये । पास के रहने वाले का दारिद्रय दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता का प्रकाश होता है । इससे वाह-वाह नहीं मिलती, इसलिये अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता । समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित को अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं । जो समीपवर्ती दीन दुःखिया जन पर तो दया-भाव नहीं दिखलाता, किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिये उसका प्रकाश करता है, उसे दयावान, अनुकम्पाकर्ता और सहानुभूति प्रकाशक नहीं कह सकते । ऐसे मनुष्य का दान बाहर का दिखलावा और ऊपर का आडम्बर है । दान आदि वृत्तियों का विकास, दीपक की ज्योति की भाँति, समीप से दूर तक फैलना चाहिये ।"

"यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'जो निर्धन जन अन्नादि का दान नहीं कर सकते वे दूसरों को क्या दें ? उत्तर स्पष्ट है कि जो अन्नादि का दान करने में असमर्थ हैं, वे अपने पड़ोसी आदि को कष्ट और क्लेश में सहायता देवें । निर्बलों का पक्ष ग्रहण करें । विपन्न और आधिव्याधिग्रस्त जनों की सेवा करें । परपीड़ितों और व्याकुल मनुष्यों से प्रेम करें । उन्हें मीठे वचनों से शांति दें । ये सब दान हैं और आत्मा से संबंध रखने वाले हैं । ऐसे दान नित्यप्रति निर्धन जन भी कर सकते हैं ।

स्वामी जी का आशय यही था कि मनुष्य को दान किसी वास्तविक कष्ट पीड़ित या अभावग्रस्त व्यक्ति को देखकर स्वाभाविक रूप से देना चाहिये । दान पाने के लिये चारों तरफ फिरने वाले पंडा-पुजारियों और पेशेवर भिखारियों को दान देने का कोई महत्व नहीं और यह भी सर्वथा सत्य है कि धन का दान करने की अपेक्षा सेवा और सहायता का दान कहीं उत्कृष्ट है । पर हमारी सम्मति में तो इनसे भी उच्च कोटि का दान 'ज्ञान-दान' है । वास्तव में हमारे अधिकांश कष्टों का एक बड़ा कारण अज्ञान और अविद्या ही होता है । यदि कोई सज्जन सदुपदेश, सत्संग, सद्ग्रन्थों द्वारा हमारे अज्ञान को दूर कर देता है, तो यह एक ऐसा दान है जिसकी तुलना किसी दान से नहीं की जा सकती । क्योंकि अन्न, वस्त्र, धन आदि के दान से तो हमारी कोई सामयिक आवश्यकता ही पूरी हो सकती है और कुछ समय बाद हमारे लिये फिर वही अभाव उपस्थित हो जाता है । पर यदि हमारे अज्ञान, असमर्थता को दूर करके सुखी होने का सच्चा मार्ग दिखला देता है, तो यह निस्सन्देह एक महान् उपकार है ।

अन्ध परम्पराओं का निराकरण

स्वामी दयानन्दजी के जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य हिन्दू जाति में प्रचलित हानिकारक विश्वासों, कुरीतियों और रूढ़ियों को मिटा कर उनके स्थान में समयोचित लाभकारी प्रथाओं का प्रचार करना था । इसके लिये उन्होंने सबसे पहले "मूर्तिपूजा" को ही अपना लक्ष्य बनाया । क्योंकि उस समय इस सम्बन्ध में बड़ा अंध-विश्वास उत्पन्न हो गया था, जिससे धर्म की हानि हो रही थी । अनेक सम्प्रदायों के "गुरुओं" और "आचार्यों" ने जनता की भेड़चाल को देखकर देवी-देवताओं के नाम पर तरह-तरह के पाखण्ड और जाल फैला रखे थे । लोग पाप-पुण्य के वास्तविक स्वरूप, संयम, शुद्धाचार, परोपकार, सेवा आदि सत्कर्मों को भूल कर केवल किसी देवता की मूर्ति के आगे मस्तक झुका देना और कुछ चढ़ावा चढ़ा देना मात्र को ही 'धर्म-पालन' समझने लग गये थे । इस कारण दिन पर दिन

धर्म और जाति की अवनति होती जाती थी और समझदार व्यक्ति उससे उदासीन होते जाते थे ।

यह दशा देखकर अन्य धर्म वाले हिन्दुओं को अपने मत का अनुयायी बनाने की चेष्टा करने लगे थे । उस समय राज्य की शक्ति को अपनी सहायक समझ कर ईसाई पादरी विशेष रूप से सक्रिय हो उठे थे और उन्होंने अर्द्ध सभ्य और पहाड़ी जातियों को ही नहीं, अनेक सुशिक्षित और उच्च वंशीय लोगों को भी अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था । हिन्दू-समाज पर इस तरह विपत्ति के बादलों को घहराते देखकर अनेक धर्मप्राण और समाज हितैषी लोगों को मानसिक कष्ट हो रहा था । पर कार्य की कठिनता और कोई उचित मार्ग न सूझ सकने के कारण वे विशेष प्रयत्न न कर पाते थे ।

स्वामी दयानन्दजी के हृदय पर इस अवस्था को देख कर चोट लगी और वे सब प्रकार संकटों और भय की संभावनाओं का ख्याल छोड़कर इस दुरावस्था के सुधार का निश्चय करके कर्म क्षेत्र में उतर पड़े । उन्होंने भली प्रकार अनुभव किया कि हिन्दू जाति जैसी प्रगाढ़ निद्रा में ग्रसित हैं, उसे जागृत करना सहज नहीं है । इसकी निद्रा भंग करके सावधान करने के लिये जब तक कोई शक्तिशाली उपाय न किया जायगा, तब तक यह होश में न आयेगी और न अपना भला-बुरा समझकर अपने घर की रखवाली में प्रवृत्त होगी । इसलिये उन्होंने आरम्भ से ही मूर्ति-पूजा, तीर्थ यात्रा, श्राद्ध आदि ऐसे विषयों की त्रुटियाँ दिखलाना आरम्भ किया, जिनको लोग अनुचित महत्व देने लग गये थे और जिनमें स्वार्थी जनों के लोभ लालच के कारण तरह-तरह के दोष दिखलाई पड़ने लगे थे । यद्यपि इस प्रकार खंडन की बातों से आरम्भ में लोग बहुत चौंके और स्वामी जी के लिये 'नास्तिक', 'अधार्मिक', 'कृस्तान' आदि अपशब्दों का प्रयोग करने लगे, पर इस 'खंडन' से स्वामीजी का वास्तविक आशय क्या था, यह स्वयं उन्होंने एक भाषण में बतलाया था—

"अनेक जन कहते है कि आपके खंडन-परक व्याख्यानों से तो लोगों में घबराहट उत्पन्न हो जाती है । उनके हृदय भड़क उठते हैं । इसका परिणाम शुभ कैसे होगा ? भाई, जब रोग दूर होने में नहीं आता, तो अच्छे वैद्य, देर से बढ़े दोषों को शांत करने और मल को बाहर निकालने के लिये विरेचक (दस्तावर) औषधियाँ दिया करते हैं । विरेचक औषधि पहले घबराहट उत्पन्न करती है । व्याकुलता लाती है । कभी-कभी उससे जी भी मचलाने लगता है । परन्तु जब विरेचन होकर कुपित दोष शान्त हो जाते हैं, तब प्रसन्नता लाभ होती है, धीरे-धीरे वास्तविक पुष्टि प्राप्त हो जाती है । आर्य जाति में अनेक कुरीतियों के दोष और मिथ्या मन्तव्यों के मल बद्ध गये हैं । उनके कारण यह इतनी रुग्ण हो गई है कि इसके स्नेहियों को इसके जीवन में संशय उत्पन्न हो गया है । लोग इसकी आयु के वर्षों को अँगुलियों पर गिनने लगे है । हमारे उपदेश आज विरेचक औषध की भाँति, घबराहट अवश्य लाते हैं, परन्तु वे जातीय शरीर के संशोधक और आरोग्यप्रद है । वर्तमान आर्य सन्तान हमें चाहें जो कहे परन्तु भारत की भावी संतति हमारे धर्म-सुधार को और हमारे जातीय संस्कार को अवश्यमेव महत्व की दृष्टि से देखेगी । हम लोगों की आत्मिक और मानसिक नीरोगिता के लिये जो कुरीतियों का खंडन करते हैं यह सब कुछ हित भावना से किया जाता है ।"

स्वामी जी का उपर्युक्त कथन आज एक "भविष्यवाणी" की तरह यथार्थ सिद्ध हो रहा है । उनके प्रचार-कार्य के आरंभिक वर्षों मे और आर्य समाज की स्थापना होते समय उनके विरोध और आक्षेपों का जो तूफान उठा था आज उसका चिन्ह भी नहीं है । स्वामी जी ने जिन बातों का प्रचार किया था उनमे से अधिकांश न्यूनाधिक अंशों में पूरी हो ही चुकी है, वरन् अन्य लोग उनसे भी बहुत आगे बढ़े चले जा रहे है । आज हिन्दू-समाज में केवल थोड़े से पुराने ढर्रे के पंडा-पुजारियों को छोड़ कर कोई स्वामी जी के कार्यों का बुरा कहने वाला न मिलेगा, वरन् अन्य देशों के निष्पक्ष विद्वान् भी उनके लिये "हिन्दू जाति के रक्षक" "हिन्दुओं को जगाने वाले" आदि प्रशंसनीय विशेषणों का ही प्रयोग करते हैं । वास्तव मे स्वामी जी उन "महापुरुषों" में से थे जो किसी जाति की अवनति होने पर उसके उद्धार के लिये जन्म लिया करते हहै । ऐसे पुरुषों में ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, पक्षपात आदि क्षुद्र भावनाये नहीं होतीं वरन् ये जो कुछ करते है वह मानव मात्र की कल्याण भावना से होता है । यह तथ्य स्वामी जी के एक लेखांश से भी प्रकट होता है—

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में पाये जाते है । यदि वे पक्षपात छोड़कर सर्व-तंत्र सिद्धान्त को स्वीकार करें, जो-जो बाते अनुकूल हैं और जो बातें एक दूसरे के विरुद्ध पाई जाती है उनको त्याग कर परस्पर प्रीति से बर्ते-वर्तावे तो जगत् का पूर्ण हित हो जावे । विद्वानों के विरोध से ही अविद्वानों में विरोध बढ़कर विविध दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है । यह हानि स्वार्थी मनुष्यो को प्यारी है, पर इसने सर्वसाधारण को दुःख में डुबो दिया है ।

जो सज्जन सार्वजनिक हित को लक्ष्य में धरकर कार्य में प्रवृत्त होता है उसका विरोध स्वार्थी जन तत्परता से करने लग जाते है । उनके मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाये डालते हैं । परन्तु "सत्यमेव जयते नानतम्" के अनुसार

सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय होता है । सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत हो जाता है । इस दृढ़ निश्चय के अवलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन नहीं होते ।"

स्वामीजी केवल हिन्दुओं के ही अन्ध-विश्वासों का खंडन नहीं करते थे, वरन् संसार के अन्य धर्मों की भ्रमपूर्ण धारणाओं के विरुद्ध भी निर्भयतापूर्वक बोलते थे । पर इसमें भी उनका भाव द्वेष अथवा पक्षपात का नहीं रहता था । इसका स्पष्टीकरण करते हुये उनके लेख में कहा गया था— "यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि जैसे इसके मतमतान्तरों की झूँठी बातों का पक्षपात किये बिना यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसा ही व्यवहार दूसरे देश के मजहब वालों के साथ करता हूँ । मेरा मनुष्यों की उन्नति का व्यवहार जैसा स्वदेशियों के साथ था वैसा ही विदेशियों के साथ है । सब सज्जनों को इसी प्रकार बर्तना योग्य है । यदि मैं किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के मतवादी अपने मत का मंडन और प्रचार करते हैं और तथा दूसरे मतों की निन्दा और हानि करते है, वैसा ही मैं भी करता, पर ऐसा करना अमानुषी कर्म है । जैसे बलवान पशु निर्बलों को दुःख देते हैं और मार डालते हैं, ऐसा ही काम यदि मनुष्य-तन पाकर भी किया तो यह मानुषी स्वभाव के विपरीत है, पशुओं के सदृश है । जो बलवान होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहा जाता है, और जो स्वार्थवश पराई हानि पर तुला रहता है वह तो मानों पशुओं का भी बड़ा बन्धु है ।"

स्वामीजी ने हिन्दुओं की निद्रा-भंग के जिस लक्ष्य को सम्मुख रखकर प्रचार कार्य आरम्भ किया था, उसमें वे असफल हुये अथवा उससे समाज की हानि हुई यह कोई नहीं कह सकता । इधर स्वामीजी ने लोगों के दृढ़ विश्वासों पर निर्ममता से प्रहार किये और उधर लोगों ने भी उनके वास्तविक आशय को न समझ उन पर अपशब्दों तथा ईंट-पत्थरों की वर्षा की, पर अन्त में दोनों अपनी स्थिति को समझ गये और बाद में आर्य-समाज सुधार का काम नियमित रूप में होने लगा । आज हवन, यज्ञ, वेद प्रचार, स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण आदि अनेक सुधारों को धर्म सभाएँ स्वयं करने लग गई हैं । सन् १९२२-२३ में जब शुद्धि आन्दोलन ने जोर पकड़ा तब बड़े पुराने पंडितों ने उस कार्य में सहयोग दिया और विधवाओं को विधर्मियों के चंगुल से बचाने के लिये खुले आम विधवा-विवाह का समर्थन करने लगे । माननीय मालवीय जी जैसे प्रमुख सनातनी नेता ने गंगा तट पर बैठ कर हजारों अछूतों को मन्त्र-दीक्षा दी । गाँधी जी भी अपने को सनातन धर्म का अनुयायी ही मानते थे, पर उन्होंने सभी हानिकारक परम्पराओं और रूढ़ियों को इस प्रकार हटाया कि उनकी जड़ बहुत अधिक हिल गई, और आज सौ वर्ष पहले की अपेक्षा सुधार-कार्य अपने आप तीव्र गति से हो रहा है ।

पर यह सब होते हुये भी इस कार्य में स्वामी जी का जो भाग है, उसे भुलाया नहीं जा सकता । हम इससे इनकार नहीं कर सकते कि आज हम 'धर्मक्षेत्र' में जो प्रगति देख रहे हैं उसमें स्वामीजी ने भी कम त्याग और बलिदान नहीं किया है । यद्यपि इससे पहले भी राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, श्री रानाडे, विवेकानन्द आदि ने समाज सुधार का कार्यारम्भ किया था, पर उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब जैसे हिन्दी प्रान्तों और गुजरात में इस प्रवृत्ति को जन्म देने और जड़ जमाने का श्रेय अधिकांश में स्वामी दयानन्द जी को ही है ।

प्राचीन तथा नवीन का संघर्ष

किसी ग्रामीण व्यक्ति ने स्वामीजी से वार्तालाप होते समय कहा था कि आप तो हमारी मूर्तियों का खंडन करते हैं, आपकी बात कैसे मानें ।" स्वामीजी ने अपनी वाक्यपटुता द्वारा तुरन्त उत्तर दिया "मैंने तो कभी मूर्ति का खंडन नहीं किया, मैं तो मूर्ति-पूजा का खण्डन करता हूँ ।"

इस उत्तर में स्वामी जी का दृष्टिकोण पूरी तरह समाया है । वे हिन्दू समाज को अपने से पृथक या विरोधी तनिक भी नहीं मानते थे, और न कभी उसकी अकल्याण भावना कर सकते थे । वे तो अपने को सच्चा हिन्दू ही मानते थे और इसलिये हर प्रकार की कठिनाई सहकर अपने धर्म भाइयों के सुधार की चेष्टा करते थे । वे तो वेदों को प्राचीन और धर्म का मूल स्रोत जानते हुये, पुराणों के बजाय उन्हीं का अनुकरण करने का उपदेश देते थे, पर आजकल ऐसे सुधारकों अथवा आन्दोलनकारियों की भी कमी नहीं जो भारतीय धर्म का पूरी तरह से उच्छेद करने का ही प्रतिपादन करते हैं । इस दृष्टि से स्वामी जी को हिन्दुओं का अहितकर्ता तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता । यदि उनका दृष्टिकोण कुछ सम्प्रदायवादी पंडित पुरोहितों से नहीं मिलता था और वे प्राचीन परम्परा में समयानुकूल परिवर्तन करने की सलाह देते थे तो इसको कोई बुरा नहीं कह सकता । हिन्दू-धर्म जैसे विशाल और प्राचीन संगठन में मतभेद और झगड़ों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं । हजार-डेढ़ हजार वर्ष पहले हिन्दू धर्म के दो अंग-शैवों और वैष्णवों में जिस प्रकार धार्मिक कलह हुई थी और उसके फलस्वरूप जैसे पारस्परिक अत्याचार हुये थे उनकी तुलना में पिछले वर्षों का सनातनी और आर्य समाजियों के बीच का वैमनस्य

कुछ भी न था । इसी प्रकार एक ही ईसाई धर्म की दो शाखायें होते हुये भी रोमन कैथेलिक और प्रोटेस्टेन्ट के मध्य जो अमानुषी और रोमांचक हत्याकाण्ड किये गये, मुसलमानों में सुन्नी और शिया अभी तक जिस प्रकार खून खराबी करते रहते हैं, स्वयं शियाओं में भी ईरान में बहाई समाज वालो के साथ जैसा बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया है, उस सबको देखते हुये स्वामीजी के प्रचार और संगठन कार्य के सम्बन्ध में तो प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ कहा नहीं जा सकता।

रह गई मूर्ति-पूजा, तीर्थ यात्रा, पितृ श्राद्ध आदि की बात, तो अब उनका मूल रूप कहाँ रह गया है । जैसे वैदिक यज्ञों में समय के प्रभाव से विकृति उत्पन्न होते-होते वे पूरी तरह "हिंसा-आयोजन" बन गये थे, उसी प्रकार मूर्तिपूजा भी शिव-योग और विष्णु-भक्ति के अभ्यास का एक साधन होने के बजाय कालक्रम मे बड़े-बड़े धर्मोत्सवों छप्पन भोगों और आरती तथा पूजा के नाम पर बड़ी-बड़ी धनराशि के अपव्यय का कारण बन गई । आजकल भारत भर के मन्दिरों में पच्चीस-पचास अरब से अधिक की सम्पत्ति लगी है और उनका खर्च भी प्रति वर्ष सौ-दो सौ करोड़ से कम न होगा । इतनी बड़ी धनराशि यदि विवेकपूर्वक धर्म-प्रचार और समाज-सुधार के ठोस कामों में खर्च की जाय और लाखों साधु-बाबाओं, पुजारियों की जो पलटन उन मंदिरों के सहारे पल रही है उसे उपयोगी कामों में संलग्न कर दिया जाय, तो क्या दस पाँच वर्ष में ही हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-जाति की कायापलट न हो जाय ?

इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से हम स्वामीजी के प्रचार-कार्य को बुरा नहीं कह सकते । पर सिद्धान्त की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि अपने जीवन का धार्मिक, संयम पूर्ण और पारमार्थिक बनाने की दृष्टि से मूर्तिपूजा द्वारा भी बहुत कुछ प्रगति की जा सकती है । यह ठीक है कि वेदों में मूर्तिपूजा का जिक्र नहीं है, पर इस बीसवीं शताब्दी में कोई शिक्षित और सम्यतानुकूल जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति पूर्णतः वैदिक समय के रहन-सहन के अनुसार निर्वाह नहीं कर सकता । इस समय यंत्र-युग है और उस समय मनुष्य अधिकांश में प्रकृति की गोद मे रहता था । इन दोनों का सामंजस्य कर सकना प्रायः असम्भव ही है । शोध करने वाले विद्वानों के कथनानुसार मूर्ति-पूजा बौद्धकाल के बीच में ही आरम्भ हुई, और आधुनिक ढंग की मूर्तिपूजा तो रामानुजाचार्य, रामानंद, वल्लभाचार्य आदि के उपदेशों से प्रचलित हुई है । पर यह नहीं कहा जा सकता कि नवीन होने से उसका कोई उपयोग ही नहीं है । इसी मूर्ति-पूजा के माध्यम से इन कुछ सौ वर्षों के भीतर तुलसीदास, चैतन्य, समर्थगुरु रामदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि युगान्तरकारी दैवी विभूतियाँ उत्पन्न हो चुकी है । यह कहने का साहस कोई समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता कि ये सन्त किसी भी अन्य महापुरुष की अपेक्षा कम थे अथवा उन्होंने जाति और धर्म की कम सेवा की थी । यदि स्वामी, दयानन्दजी ने हिन्दू जाति को जगाने का महान कार्य किया तो गो० तुलसीदास और रामदास ने हिन्दू जाति के अस्तित्व की ही रक्षा की ।

मूर्ति को भगवान कहना अनेक व्यक्तियों में कुछ भ्रम पैदा कर देता है और उसी के कारण कुछ लोगों को आक्षेप का अवसर मिल जाता है । तथ्य यह है कि मूर्ति द्वारा उपासना करना भी अन्य अनेक धर्म-मार्गों की तरह ईश्वर प्राप्ति का एक साधन है । साथ ही यह भी सत्य है कि हिन्दू धर्म के पुराने आचार्यों ने मूर्तिपूजा को मानते हुये भी उसे सर्वश्रेष्ठ साधन नहीं बताया है । शास्त्रों में एक स्थान पर कहा गया है— "अप्सु देवा बालानाम् दिवि देवता मनीषिणाम् ।" अर्थात् बालवुद्धि वाले सामान्य लोगों के लिये तीर्थ और मूर्ति आदि स्थूल पदार्थ ही ईश्वर है, और जो विद्वान लोग है वे दिव्य शक्तियों को ईश्वर समझते हैं। पर ज्ञानियों की दृष्टि में एकमात्र उनकी आत्मा ही ईश्वर होती है ।"

कुछ भी हो स्वामी दयानन्दजी ने ऐसे समय में हिन्दू-जाति को उठाने का कार्य किया जब उसकी अवस्था बड़ी निर्बल और अस्तव्यस्त हो रही थी । यदि उस समय वे इस तरफ ध्यान न देते और अपने तन-मन तथा समस्त योग्यता को इसके लिये अर्पण न कर देते तो हिन्दुओं को विधर्मियों से बहुत अधिक दब जाना पड़ता, जिसका परिणाम शोचनीय ही होता । इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखते हुए *श्रीमती ब्रह्मवती नारग ने स्वामीजी के जीवन-कार्यों का वर्णन* करते हुये ठीक ही लिखा है-

"भारत पर स्वामी जी के महान ऋण हैं । अपने छोटे से जीवन में उन्होने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुये "पाखण्ड एवं कुप्रथाओं" का निराकरण करके वैदिक धर्म का नाद बजाया । 'गोवध' बन्द कराने का प्रयत्न किया । 'बाल विवाह' की प्रथा का विरोध करके लोगों को 'ब्रह्मचर्य' का महत्व बताया । स्थान-स्थान पर गुरुकुल खुलवा कर 'संस्कृत शिक्षा' का प्रचार किया । 'विधवा विवाह' की प्रतिष्ठा की और 'मद्य-मांसादि' का घोर विरोध किया । स्त्रियो को स्वतंत्रता दिलाई, 'राजनीतिक स्वतंत्रता पर बल दिया और हर प्रकार से आर्य-जाति को फिर से उसके अतीत गौरव पर स्थापित करने का प्रयत्न किया ।"

धर्म और संस्कृति के महान उन्नायक स्वामी विवेकानन्द

कलकत्ता नगर में महामारी (प्लेग) का प्रकोप था। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्तियों पर उसका आक्रमण होता था। हालत बिगड़ती देखकर सरकार ने स्थिति का नियन्त्रण करने के लिये कड़े नियम बनाये। पर जब नगरनिवासी अनुशासन की कमी से उनका पालन करने में ढीलढाल करने लगे तो शहर के भीतर और चारों तरफ फौज तैनात कर दी गई। इससे नगरनिवासियों में बड़ा आतङ्क फैल गया और उपद्रव हो जाने की आशङ्का होने लगी।

स्वामी विवेकानन्द उस समय विदेशों में हिन्दू धर्म की ध्वजा फहराकर और भारतवर्ष का दौरा करके कलकत्ता आये ही थे। वे अपने देशी-विदेशी सहकारियों के साथ बेलूड़ में श्रीरामकृष्ण परमहंस मठ की स्थापना की योजना में संलग्न थे। लोगों पर इस घोर विपत्ति को आया देखकर वे सब काम छोड़कर कर्मक्षेत्र में कूद पड़े और बीमारों की चिकित्सा तथा सफाई की एक बड़ी योजना बना डाली।

एक गुरु-भाई ने पूछा— स्वामीजी ? इतनी बड़ी योजना के लिये 'फण्ड' कहाँ से आयेगा ?

स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया- आवश्यकता पड़ेगी तो इस मठ के लिये जो जमीन खरीदी है उसे बेच डालेंगे। सच्चा मठ तो सेवा कार्य ही है। हमें तो सदैव सन्यासियों के नियमानुसार भिक्षा माँगकर खाने तथा पेड़ के नीचे निवास करने को तैयार रहना चाहिये।

सेवा-व्रत को इतना उच्च स्थान देने वाले स्वामी विवेकानन्द (जन्म २२ जनवरी १८६३) कलकत्ता के एक मध्यम श्रेणी के बङ्गाली परिवार में उत्पन्न हुए थे उस समय भारत में तीव्र वेग से अंग्रेजी राज्य और ईसाई संस्कृति का प्रसार हो रहा था। इसके परिणामस्वरूप देश में उच्चवर्ग का विश्वास अपने धर्म और सभ्यता पर से हिल गया था और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि कुछ ही समय में इस देश में ईसाइयत की पताका उड़ने लगेगी। पर उसी समय देश में ऐसे कितने ही महामानवों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने इस प्रबल धारा को अपने प्रभाव से दूरी तरफ मोड़ दिया। उन्होने हिन्दू-धर्म के सच्चे स्वरूप को संसार के सामने रखा और लोगो को विश्वास दिला दिया कि आत्मोन्नति और कल्याण की दृष्टि से हिन्दू-धर्म से बढ़कर धार्मिक सिद्धान्त संसार में और कहीं नहीं है। इन महामानवों में स्वामी विवेकानन्द का स्थान बहुत ऊँचा है।

ईश्वर का साक्षात्कार करने की धुन

बाल्यावस्था में स्वामी विवेकानन्द ने, जिनका नाम उस समय नरेन्द्र था, ऐसे ही वातावरण में रहना पड़ा था और इसके प्रभाव से वे बहुत छोटी आयु में ही ब्रह्मसमाज में जाने लगे थे। *यह संस्था उच्चवर्ग के नवशिक्षित लोगों द्वारा* ही स्थापित की गई थी और हिन्दू-धर्म की कितनी ही मान्यताओं, जैसे अनेक देवी-देवता, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, गुरुवाद आदि के विरुद्ध उसने आन्दोलन उठाया था। वे लोग जात-पाँत का निराकरण, सब जातियों की समानता, स्त्री-शिक्षा, बड़ी उम्र में विवाह आदि अनेक 'सुधारों' के लिये भी जोरों से प्रयत्न करने लगे।

नरेन्द्र के विचार भी उस समय बहुत कुछ इनसे *मिलते-जुलते थे, इसलिये प्रायः उनकी सभाओं में जाने लगे।* ब्रह्म-समाज में ध्यान का अभ्यास करने पर विशेष जोर दिया जाता था। पर जब ध्यान करने और नियमित रूप से समाज की प्रार्थना में सम्मिलत होने पर 'ईश्वर के साक्षात्कार' के सम्बन्ध में कोई प्रगति न हुई तो उनका विश्वास ब्रह्म-समाज से हटने लगा और एक दिन उन्होंने अकस्मात् समाज के अध्यक्ष महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पास जाकर प्रश्न किया— "महाशय आपने ब्रह्म को देखा है ?" एक छोटे लड़के के मुँह से ऐसा प्रश्न सुनकर महर्षि चौंक पड़े और बोले— "लड़के, तेरी आँखें तो योगी की तरह हैं।" पर नरेन्द्रनाथ को इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ और वे अपने प्रश्न का उत्तर जानने के लिये अन्य धार्मिक समझे जाने वाले लोगों से यही चर्चा करने लगे।

नरेन्द्र को इस प्रकार ईश्वर की खोज में चारों ओर भटकते देखकर एक दिन उनके काका ने कहा कि, "तुझे जो वास्तव में ईश्वर को प्राप्त करना हो तो ब्रह्म-समाज आदि को छोड़कर दक्षिणेश्वर में ठाकुर रामकृष्ण परमहंस के पास जा।" कुछ ही दिन बाद श्री रामकृष्ण पड़ोस में ही एक सज्जन के यहाँ पधारे। नरेन्द्र को भी सङ्गीत कार्यक्रम में भाग लेने के लिये वहाँ बुलाया गया। परमहंस जी इस अपरिचित किशोर को देखकर एकाएक उसकी तरफ आकर्षित हो गये और उसका परिचय प्राप्त करके एक दिन उन्होंने उसे दक्षिणेश्वर आने को कहा।

जब नरेन्द्र दक्षिणेश्वर पहुँचा तो उसे प्रथम बार अच्छी तरह देखने पर परमहंस जी के मन में जो भाव उत्पन्न हुए थे उसकी चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार कहा था— "मैंने देखा कि उसका अपने शरीर की तरफ कुछ भी ध्यान नहीं है। माथे के बाल और पोशाक में किसी भी प्रकार की दिखावट नहीं थी। अन्य साधारण लोगों की तरह उसकी

दृष्टि बाहरी वस्तुओं की तरफ नहीं थी । उसकी आँखों को देखकर मुझे जान पड़ा कि उसके मन के एक बड़े भाग को मानों किसी ने भीतर की तरफ खींच रखा है ।"

श्री रामकृष्ण से भी नरेन्द्र ने वही प्रश्न किया कि "क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" उन्होंने कहा- "हाँ देखा है । जिस प्रकार मैं तुम सबको देखता हूँ और तुम्हारे साथ बात करता हूँ उसी प्रकार ईश्वर को भी देखा जा सकता है और उसके साथ बातें की जा सकती हैं । पर इसके लिये प्रयत्न कौन करता है ? लोग स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति के लिये हाय-हाय करते फिरते हैं, उनके वियोग में रोते है, पर ईश्वर नहीं मिल पाया, इसके लिये कौन रोता है ? ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई इसके लिये यदि मनुष्य उसी प्रकार व्याकुल हो जाय जैसे स्त्री-पुत्र आदि के लिये हो जाता है, तो वह अवश्य ईश्वर के दर्शन कर सकेगा ।"

परमहंस जी का उत्तर सुनकर नरेन्द्र के मन मे यह भाव आया कि ये अन्य धर्मोपदेशकों की तरह पुस्तकें पढ़कर ऐसी बातें नहीं कर रहे है वरन् इन्होने सर्वस्व त्यागकर, सम्पूर्ण मन से ईश्वर की आराधना करके अपने अन्तःप्रदेश में उसे जैसा देखा है, वैसा ही ये कह रहे हैं । हो सकता है कि विदेशी दार्शनिकों की व्याख्या के अनुसार ये अर्ध-पागलों की श्रेणी में आते हों, तो भी ये महापवित्र और महात्यागी हैं और इसीलिये मानव-हृदय की श्रद्धा, भक्ति, पूजा और सम्मान के सच्चे अधिकारी हैं ।"

त्यागभाव

इसके पश्चात् नरेन्द्र का सम्पर्क परमहंस देव से क्रमशः बढ़ता गया और इससे आध्यात्मिक क्षेत्र में उनकी प्रगति होती गई । इस समय की एक घटना का वर्णन करते हुए एक लेखक ने बतलाया है कि एक बार परमहंस देव ने नरेन्द्र को एकांत में बुलाकर कहा— "देखो अति कठोर तपस्या के प्रभाव से मुझे कितने ही समय से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं । पर मेरे जैसे मनुष्य के लिए, जिसे पहने हुए वस्त्र का भी ध्यान नहीं रहता, उन सबका उपयोग करने का अवसर ही कहाँ मिल सकता है ? इसलिये मैं चाहता हूँ कि माँ (काली देवी) से पूछकर उस सबको तुझे सौंप दूँ, क्योंकि मुझे दिखाई पड़ रहा है कि आगे चलकर तुझे माँ का बहुत काम करना है । इन सब शक्तियों का तेरे भीतर संचार हो जाय तो समय पड़ने पर उनका उपयोग हो सकता है, कहो, तुम्हारा क्या विचार है ?"

नरेन्द्र को यद्यपि अब तक के अनुभवों से परमहंस देव की दिव्य शक्तियो पर बहुत कुछ विश्वास हो चुका था, तो भी उन्होंने कुछ देर विचार करके कहा— "महाराज, इन सब सिद्धियों से मुझे ईश्वर-प्राप्ति में सहायता मिल सकेगी?"

श्री रामकृष्ण—"इस संबंध में तो सम्भवतः उनसे कोई सहायता प्राप्त नहीं हो सकेगी । तो भी ईश्वर-प्राप्ति के पश्चात् जब उनका कार्य करने में प्रवृत्त होगा तो ये सब बहुत उपयोगी होंगी ।"

नरेन्द्र— "तो महाराज ! इन सब सिद्धियों की मुझे क्या आवश्यकता है ? पहले ईश्वर-दर्शन हो जाय, फिर देखा जायेगा कि इन सिद्धियों को ग्रहण किया जाय या नहीं? अत्यन्त चमत्कारिक विभूतियों और सिद्धियों को अगर अभी से लेकर ईश्वर-प्राप्ति के ध्येय को भुला दिया जाय और स्वार्थ की प्रेरणा से उनका अनुचित प्रयोग किया जाय, तो यह बड़ी हानिकर बात होगी ।" इस उत्तर को सुनकर परमहंस देव बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने समझ लिया कि नरेन्द्र वास्तव में त्याग-भावना वाला है और वह सेवा-मार्ग में बहुत अधिक प्रगति कर सकेगा ।

काली माता से विवेक का वरदान

इसी प्रकार की दूसरी घटना उस समय हुई जब सन् १८८४ मे नरेन्द्र के पिता श्री विश्वनाथदत्त का देहान्त हो गया और पारिवारिक झगड़ों के कारण घर की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई । किसी दिन तो घर में चूल्हा भी नहीं जल पाता था और सबको भूखा ही रह जाना पड़ता था । नरेन्द्र उस समय तक यद्यपि एम० ए० में पढ़ रहे थे, पर अध्यात्म की तरफ से मनोवृत्ति होने के कारण रोजगार की तरफ कुछ ध्यान न देते थे । पर अब इस आकस्मिक विपत्ति के आ जाने से उनका ध्यान कोई काम करने की तरफगया और बराबर सरकारी और गैर सरकारी कार्यालयों में किसी छोटी-मोटी नौकरी के लिये चक्कर लगाने लगे । पर कई महीने बीत जाने पर भी जब सफलता न मिली और परिवार वालो का कष्ट बहुत बढ़ गया तो उनको परमहंस देव का ख्याल आया कि उनके आशीर्वाद से इस विपत्ति से छुटकारा पाया जाय ।

जब नरेन्द्र ने यह समस्या गुरुदेव के सम्मुख रखी और उनसे काली-माता के सम्मुख इसकी प्रार्थना करने का आग्रह किया, तो उन्होंने कहा— "भैया, मुझसे तो ऐसी बात कही नहीं जायगी । तू ही क्यों नहीं कहता ? तू माँ को नहीं मानता, इसीलिये तो यह सारा बखेड़ा खड़ा हुआ है ।"

परमहंस देव के समझाने पर नरेन्द्र मन्दिर के भीतर पहुँचे और उन्होने देखा कि वास्तव में वहाँ अनन्त प्रेम की वर्षा करती हुई माता का चिन्मय स्वरूप उपस्थित है । भक्ति और प्रेम से उनका हृदय भर गया और बार-बार प्रणाम करके कहने लगे— "माँ, विवेक दो, वैराग्य दो, भक्ति दो, और ऐसा करो जिससे नित्य तुम्हारा दर्शन होता रहे ।" जब वे बाहर आये तो परमहस जी ने पूछा— 'क्यों, माँ

के पास जाकर आर्थिक तङ्गी को दूर करने की प्रार्थना की ?" उनके इस प्रश्न से चौंककर नरेन्द्र ने कहा— "नहीं, उसे तो मैं भूल ही गया अब क्या होगा ?" परमहंस देव ने कहा— 'जा' जा- फिर चला जा । वहाँ जाकर माँ को सब बात बतला दे, वे अवश्य सब व्यवस्था कर देंगी ।"

नरेन्द्र फिर मन्दिर में गये पर भीतर पहुँचते ही फिर सब बात भूल गये और बार-बार ज्ञान और भक्ति के लिये प्रार्थना करके बाहर ही निकल आये । तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ और तब वे परमहंस देव को पकड़ कर बैठ गये कि 'यह सब आपकी ही लीला है, अब मेरे परिवार के निर्वाह की व्यवस्था आप ही कीजिये । अन्त में परमहंस जी कहना पड़ा कि 'जा' उनको रोटी और मोटे कपड़े की कमी नहीं रहेगी ।" हुआ भी ऐसा ही ।

इस घटना से मालूम होता है कि जिन व्यक्तियों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होता है वह कठिनाई में पड़ने पर भी ईश्वर से अपने स्वार्थ-सम्बन्धी कोई याचना नहीं करते । उनकी दृष्टि में इन क्षणभंगुर वस्तुओं का मूल्य ज्ञान और भक्ति जैसे संसार-सागर से पार लगाने वाले तत्वों की अपेक्षा अत्यन्त न्यून होता है । यही कारण है कि घोर आर्थिक कष्ट में फँसे होने पर भी वे काली माँ के सामने वैसी तुच्छ बात को न कह सके और ज्ञान और भक्ति का वरदान माँगकर ही चले आये । हमको इसकी तुलना आजकल के उन साधकों से करनी चाहिये जो कोई साधारण-सा अनुष्ठान आरम्भ करते ही बड़ी-बड़ी कामनाओं की सिद्धि का स्वप्न देखा करते हैं, और जब अपनी अयोग्यता के कारण कुछ प्रगति नहीं होती, तो देवता को झूँठा बतलाते है । इससे हम समझ सकते हैं कि वर्तमान समय में अध्यात्म मार्ग से लोगों की श्रद्धा हटते जाने का कारण क्या है ?

जन सेवा के लिये संन्यास

इसके कुछ समय पश्चात् परमहंस देव का स्वास्थ्य अधिक बोलने के कारण बिगड़ गया और उनकी सेवा का भार नरेन्द्र ने अपने ही ऊपर लिया । इसके लिये उन्होंने अपने घर बार को एक प्रकार से त्याग ही दिया और पूरा समय परमहंस देव की परिचर्या और उनके अन्य शिष्यों की देखभाल में ही लगाने लगे । अन्त मे १६ अगस्त १८८६ को परमहंस देव का देहान्त हो गया तब उनके समस्त शिष्यों और आश्रम की व्यवस्था का भार नरेन्द्र पर आ पड़ा । उन्होंने कुछ गृहस्थ भक्तों की सहायता से एक पुराना खण्डहर जैसा मकान किराये पर लिया और पाँच-सात नवयुवक वहीं रहकर आत्म-साधना में संलग्न रहने लगे । नरेन्द्र ने अपना उदाहरण उपस्थित करके सबको यही प्रेरणा दी कि— जब हम संन्यासी हो चुके हैं तो हमको भोजन-वस्त्र की सुविधा-असुविधा का ध्यान छोड़ देना चाहिए । उस समय वास्तव में स्थिति भी ऐसी आ गई थी कि आश्रम में खाने को कुछ भी सामग्री नहीं रहती और भिक्षा के द्वारा जो थोड़ा-बहुत चावल मिल जाता उसी को उबालकर सब बाँटकर काम चला लेते । साथ में साग-भाजी की तो क्या बात कभी-कभी नमक भी नहीं मिलता था । पर इससे किसी के मुख पर असंतोष का कोई चिन्ह न दिखाई देता था । सूखे भात, नमक और बेलपत्र पर इन लोगों ने महीनों तक निर्वाह किया । नरेन्द्र बराबर सबका उत्साह कायम रखते थे और समझाते रहते थे कि यदि हमको संन्यासी रहकर संसार की कुछ सेवा करनी है तो इस प्रकार के अभावों और कठिनाइयों को खुशी से सहने को तैयार रहना चाहिए ।

देश दशा का अनुभव

सन् १८८८ में स्वामीजी (नरेन्द्र) देश-भ्रमण के लिये निकले । उस समय उन्होंने अपने पास एक भी पैसा न लिया और न किसी तरह की सामग्री । केवल भगवान के भरोसे वे आश्रम से निकल पड़े और वहाँ से वृन्दावन होकर हाथरस पहुँचे । वहाँ का स्टेशन मास्टर शरदचन्द उनका भक्त बन गया और बड़े आग्रह के साथ उन्हें अपने यहाँ ठहराया । एक दिन उसने पूछा— "स्वामीजी ! आप उदास क्यों जान पड़ते हैं ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया— "बेटा ! मुझे एक महान कार्य पूरा करना है, पर अपने साधनों की अल्पता देखकर मैं निराश हो जाता हूँ । मेरे गुरु का आदेश है कि हमारी मातृभूमि का पुनरुत्थान किया जाय । भारतवर्ष से सच्ची आध्यात्मिकता लुप्त हो गई है और भुखमरी का भूत सर्वत्र घूम रहा है । इसलिये भारतवर्ष को शक्तिशाली बनाकर अपनी आध्यात्मिकता द्वारा विश्व को विजय करना चाहिये ।"

कुछ समय बाद स्वामीजी हाथरस से चल दिये । पर शरदचन्द्र ने उनको न छोड़ा । उसने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और साधु बनकर इनके साथ ही चल दिया । स्वामीजी हिमालय के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने लगे जहाँ शरदचन्द्र बीमार पड़ गया । तब स्वामीजी ने उसकी इतनी अधिक सेवा की जितनी कोई नौकर नहीं कर सकता । फिर हरिद्वार पहुँचकर वे स्वयं बीमार हो गये और पाँच महीने की चिकित्सा तथा सेवा सुश्रुषा से बड़ी कठिनाई से नीरोग हुए । इस बीच में खबर आई कि कलकत्ते का आश्रम आर्थिक सङ्कट के कारण बड़ी बुरी हालत में है । स्वामीजी शीघ्र ही वहाँ पहुँचे और कुछ व्यवस्था करके फिर भारतवर्ष की यात्रा पूर्ण करने को निकल पड़े ।

इस यात्रा में स्वामीजी को बड़े अनुभव हुए और उन्होंने भारतीय विभिन्न वर्गों की अच्छी जानकारी प्राप्त की ।

राजस्थान भ्रमण करने के लिये वे पहले अलवर पहुँचे और वहाँ दो-तीन दिन मे ही उनकी ऐसी ख्याति हो गई कि हिन्दू ही नहीं, मुसलमानों के समूह भी दर्शनार्थ आने लगे । अन्त में वहाँ के महाराज ने उनको बुलाया और सतसंग करके अपने को धन्य माना ।

अलवर में रहते समय एक गरीब बुढ़िया ने उनको बड़े प्रेम से रोटी खिलाई थी । स्वामीजी उसे कभी नहीं भूले । जब अमरीका से विश्व-विजयी बनकर लौटे तो अलवर जाने का अवसर आया तो उस बुढ़िया के घर स्वयं ही पहुँचे और उसके हाथ से मोटी रोटी और साग बनवाकर खाया । चलते समय उसके घर वालों को चुपचाप सौ रुपये सहायतार्थ दे आये ।

इसी प्रकार खेतड़ी के पास एक गाँव में वे तीन दिन टिक गये । वहाँ के निवासी उनसे प्रश्नोत्तर तो रात-दिन करते रहे पर किसी ने भोजन तो क्या पानी के लिये भी नहीं पूछा । यह देखकर एक गरीब अछूत को बड़ी व्यथा हुई । रात्रि में सबके चले जाने पर वह स्वामीजी के पास पहुँचकर अपना मनोभाव प्रकट करने लगा । स्वामीजी ने जब उससे रोटी लाने के लिये कहा तो वह अत्यन्त डरकर कहने लगा कि अगर मैं आपको रोटी खिलाकर भ्रष्ट कर दूँ तो इस बात को प्रकट होने पर मुझे गाँव से निकाल दिया जायगा । स्वामीजी के आश्वासन देने पर वह तीन-चार रोटियाँ दे गया और स्वामीजी ने उनमें अमृत के समान स्वाद पाया । फिर जब वे खेतड़ी के राजा के गुरु बनकर राजमहल में ठहरे तो उन्होने इस घटना का जिक्र किया । राजा साहब ने अछूत को बुलवाया । पहले तो वह बहुत घबड़ाया और क्षमा माँगने लगा, पर राजा ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसे पुरस्कृत करके उसकी गरीबी को दूर कर दिया ।

लिम्बड़ी (काठियाबाड़) में स्वामीजी संन्यासियों के एक आश्रम में ठहर गये जो वास्तव में वाममार्गी थे । उन्होंने स्वामीजी को भी अपने "भैरवी चक्र" में शामिल होने को कहा । जब इन्होने इस प्रकार के व्यभिचार-कर्म से घृणा प्रकट की तो उनको एक कोठरी में बन्द कर दिया और मारने का भय दिखाने लगे । स्वामीजी बड़ी कठिनाई से उनके फन्दे से छूटे और उनको भ्रष्ट कर्म करने के अपराध में गिरफ्तार कराया । इस घटना से स्वामीजी के ब्रह्मचर्य-व्रत की दृढ़ता का परिचय मिलता है ।

मैसूर में भी महाराज ने उनका बड़ा सत्कार किया । एक दिन वहाँ के दीवान ने उनको कोई भेंट देने का बड़ा आग्रह किया और चैक-बुक देकर अपने सेक्रेटरी को साथ में भेज दिया कि नगर की सबसे बड़ी दुकान मे स्वामीजी जो कुछ पसन्द करें वही दिला दिया जाय । स्वामीजी ने सब कुछ देखा-भाला पर अन्त में बारह आने की कोई छोटी-सी चीज लेकर दीवान साहब के आग्रह की रक्षा कर दी । इस प्रकार उन्होंने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिखाया कि सच्चा संन्यासी सांसारिक प्रलोभनो से अपने को दूर ही रखता है ।

देशोद्धार का संकल्प

अब स्वामीजी भारत-भ्रमण करते हुए देश की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुके थे । वे रामेश्वर होकर कन्याकुमारी पहुँचे । वहाँ भारत भूमि के अन्तिम छोर की शोभा देखते हुए उन्होंने थोड़ी ही दूर पर समुद्र के बीच निकली एक बड़ी चट्टान को देखा । स्वामीजी तैरकर वहाँ पहुँचे और शिला पर बैठकर कई घण्टे तक अपने देश की वर्तमान दशा पर विचार करते रहे । अन्त मे उनके मुख से स्वतः ही ये उद्‌गार निकले—

"हम लाखों साधु संन्यासी लोगों के लिये क्या कर रहे हैं ? अध्यात्म का उपदेश ! पर यह तो पागलपन है ! भगवान श्रीरामकृष्ण ने ठीक कहा था कि भूखे मरते हुए को धर्म का उपदेश व्यर्थ है । जहाँ लाखों को खाने को नहीं मिलता वहाँ वे धार्मिक कैसे बन सकते हैं ? इसलिये पहले देशवासियो की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिये वैसी ही शिक्षा देनी चाहिए । उसके बाद वे स्वयं अपनी समस्याओं को सुलझा लेगे । पर इस काम के लिये पहले तो कार्यकर्ता चाहिये और फिर धन की आवश्यकता है । मैं भिखारी संन्यासी इसको कैसे दूर कर सकता हूँ ? पर कोई बात नहीं, गुरु की कृपा से मै इसे करूँगा अवश्य । भारत के एक-एक नगर से ऐसे व्यक्ति इकट्ठे होंगे जिनका हृदय लोगों की दशा सुधारने के लिये तड़प रहा होगा— जो इसके लिये जीवन अर्पण करने को तैयार होंगे । पर पैसा ! इस कार्य का भार लेकर मै राजा से लेकर रङ्क तक के पास घूम चुका हूँ । पर सर्वत्र सहानुभूति के शब्द ही मिलते हैं । इसलिये मै इस कङ्गाल देश मे किसी का सहारा न लेकर समुद्र पार पश्चिमी देशों मे जाऊँगा और अपनी विद्या-बुद्धि के प्रभाव से पैसा प्राप्त करूँगा । फिर स्वदेश आकर लोगों के उद्धार की योजना पूरी करूँगा या इसी प्रयत्न में प्राण दे दूँगा ।"

मद्रास पहुँचने पर स्वामीजी के पास अनेक जिज्ञासुओं की भीड़ रहने लगी । एक हिन्दू 'पण्डित' आया जिसका आचार-विचार पूरी तरह से अंग्रेजी हो चुका था । उसने वेदो को ऋषियो के अर्थहीन लेख बतलाया और कहा— "स्वामीजी ! सन्ध्या-वन्दन का समय नहीं मिलता, इसलिये उसे छोड़ दिया जाय तो कोई हानि है ?" भारतीय संस्कृति के प्रति ऐसी अवज्ञापूर्ण बातें सुनकर स्वामीजी एकदम आवेश में आये और गरजकर कहने लगे— "क्या कहा ! जिन

प्राचीन महामानवों की बुद्धि के घोड़े चलते नहीं वरन् उड़ते थे, जिनकी महिमा पर जरा-सा भी विचार करने पर तुम एक क्षुद्र कीड़े की तरह जान पड़ते हो, उन सब ऋषियों के पास तो इस कार्य के लिये समय था, और मेरे साहब ! आपके पास समय नहीं है । तुमने अंग्रेजी के अक्षर सीखकर कुछ पुस्तकें पढ़ लीं तो उन्हीं से तुम्हारा दिमाग फिर गया! उन ऋषियों के विज्ञान की तुमने परीक्षा की है ? तुमने कभी वेदों को पढ़ने का कष्ट उठाया है ? उनमें ऋषियों ने एक बहुत बड़े ज्ञान को भर दिया है । उनके समझने की शक्ति हो तो फिर उस सम्बन्ध में बातें करो ।"

प्रथम विदेश यात्रा

स्वामीजी सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके और यहाँ के छोटे-बड़े सैकड़ों प्रसिद्ध व्यक्तियों से वार्तालाप करके इसी निश्चय पर पहुँचे कि एक बार देश से बाहर जाकर हिन्दू धर्म के उच्च सिद्धान्तों का प्रचार किया जाय जिससे एक ओर तो विदेशों के अध्यात्म-प्रेमी व्यक्ति भारतवर्ष की तरफ आकर्षित हों और दूसरी ओर जो हमारे शिक्षित देश-बन्धु विदेशी सभ्यता से चकाचौंध होकर अपनी प्राचीन संस्कृति से विमुख हो जाते हैं उनकी भी आँखें खुलें । इसी अवसर पर मद्रास में उनको यह सूचना मिली कि अमरीका के शिकागो नगर में एक 'सर्व धर्म-सभा' होने वाली है और उसमें अभी तक "सनातन हिन्दू-धर्म" की ओर से कोई प्रतिनिधि नहीं गया । स्वामीजी को अपनी अन्तरात्मा से यह प्रेरणा हुई कि इस अवसर पर उनको अन्य धर्म वालो के समक्ष हिन्दू धर्म के झण्डे को ऊँचा करना चाहिए । उनके सभी मित्रों और शुभचिन्तकों ने भी इस मत का समर्थन किया और ३१ मई १८९३ को विदेश जाने का निश्चय हो गया ।

जिस समय स्वामीजी यात्रा के लिये धन की व्यवस्था पर विचार कर रहे थे उसी समय खेतड़ी के दीवान जगमोहनलाल उनकी सेवा में उपस्थित हुए । उन्होंने कहा कि "आपने दो वर्ष पहले राजा साहब को पुत्र होने का आशीर्वाद दिया था वह सफल हो गया है और उस आनन्दोत्सव में महाराज ने आपसे पधारने की प्रार्थना की है ।" स्वामीजी खेतड़ी पहुँचे और नवजात शिशु को आशीर्वाद देकर चल दिये । खेतड़ी नरेश ने अपने दीवान को भी उनके साथ भेजा और यात्रा का पूरा प्रबन्ध और मार्गव्यय आदि की व्यवस्था करने की ताकीद कर दी ।

खेतड़ी नरेश स्वामीजी को विदा करने जयपुर स्टेशन तक आये । चलते-चलते उन्होंने पूछा— "आप अमरीका पहुँचकर किस नाम से प्रचार-कार्य करेंगे ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि— "अभी तक तो मैने कोई पक्का नाम रखा नहीं है । कभी सच्चिदानन्द, कभी अन्य कोई नाम रखकर फिरता रहा हूँ ।" उसी समय राजा साहब ने कहा— "स्वामीजी ! आपको 'विवेकानन्द' नाम कैसा लगता है ?" स्वामीजी ने कहा— "बहुत ठीक ! तो यही सही ।" उस दिन से ही परमहंस देव के शिष्य 'नरेन्द्र' स्वामी विवेकानन्द के ही नाम से प्रसिद्ध हुए ।

जयपुर से बम्बई जाते हुए आबूरोड स्टेशन पर स्वामीजी की भेंट अकस्मात् अपने एक गुरुभाई तुरीयानन्द से हो गई । उनसे बातें करते हुए स्वामीजी ने कहा— "हरिभाई, मैं तुम्हारे धर्मकर्म को अधिक नहीं समझता, पर मेरा हृदय अब बहुत विशाल हो गया है और मुझे सामान्य लोगों के दुःखों का बड़ा अनुभव होने लगा है । मैं सत्य कहता हूँ कि लोगों को कष्ट पाते देखकर मेरा हृदय बड़ा व्याकुल होता है ।" यह कहते-कहते स्वामीजी की आँखों से आँसू गिरने लगे । स्वामी तुरीयानन्द ने इस प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए कहा था— "क्या यह भावना और शब्द बुद्धदेव के से नहीं है ? मैं दीपक के प्रकाश की तरह स्पष्ट देख रहा था कि देशवासियों के दुःखों से स्वामीजी का हृदय धधक रहा था और वे इस दुर्व्यवस्था का सुधार करने के लिये किसी रामबाण रसायन की खोज कर रहे थे ?"

३१ मई को स्वामीजी बम्बई के बन्दरगाह पर अमरीका जाने वाले जहाज मे सवार हो गये । उस समय भगवा रङ्ग का रेशमी लबादा, माथे पर उसी रङ्ग का फेंटा बाँधकर किसी राजा के समान शोभा देने लगे । इन सबकी व्यवस्था खेतड़ी के दीवान जगमोहनलाल ने ही की थी । जगमोहनलाल और मद्रास के एक भक्त अलसिंह पेरुमल उन्हें जहाज के दरवाजे तक पहुँचाने को आये । थोड़ी देर बाद जहाज के छूटने का घण्टा बजा । दोनों भक्तों ने स्वामी जी के पैर पकड़कर आँसू भरे नेत्रों से विदा ली और जहाज चल दिया । कोलम्बो, पिनांग, सिंगापुर, हाँगकाँग, नागासाकी, ओसाका, टोकियो आदि बड़े नगरों को देखते हुए स्वामीजी अमरीका के वैंकोवर बन्दरगाह पर उतरे । वहाँ से रेल द्वारा शिकागो पहुँच गये ।

स्वामीजी जुलाई के आरम्भ में अमरीका पहुँच गये थे । वहाँ उनको मालूम हुआ कि सभा सितम्बर मे होने वाली है । इतने समय तक शिकागो जैसे खर्चीले शहर मे होटल में रहने लायक धन स्वामीजी के पास न था । यह भी कहा गया कि किसी प्रसिद्ध संस्था के प्रमाण-पत्र के बिना वे धर्म-सभा के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते । कुछ दिन बाद कम खर्च की निगाह से बोल्टन चले गये । रास्ते में एक भद्र महिला से परिचय हो गया, जिसने आग्रहपूर्वक उनको अपने घर ठहरा लिया । पर उस शहर में अपनी पोशाक के कारण उन्हें असुविधा होने

लगी । विचित्र ढङ्ग का गेरुआ लबादा और फेंटा देखकर मार्ग मे अनेक व्यक्ति और लड़के एक तमाशा समझकर उनके पीछे लग जाते और "हुर्रे-हुर्रे" का शोर मचाने लगते। इस दिक्कत से बचने के लिये उस महिला ने उनको सलाह दी कि सामान्यतः आप यहीं की पोशाक पहिना कीजिये । स्वामीजी संन्यासी होने पर भी रूढ़ियों के गुलाम नहीं थे और उद्देश्य की सिद्धि के लिये इस प्रकार के बाह्य परिवर्तन में उनको कुछ भी एतराज न था । पर कठिनाई यह थी कि अब उनके पास अधिक रुपया नहीं बचा था । इससे वे धैर्यपूर्वक कठिनाइयों को सहन करके दिन बिताने लगे । इतने में स्त्रियों की एक संस्था ने उनको अपने यहाँ व्याख्यान देने के लिये आमन्त्रित किया । उस भाषण से जो आय हुई उनसे स्वामीजी के लिये अमरीकन पोशाक बन गई और तबसे उन्होंने गेरुआ वस्त्रों को केवल भाषण के समय के लिये रख दिया ।

फिर भी उनकी कठिनाइयों का अन्त न हुआ और शिकागो वापस आने पर एक दिन उनको स्टेशन के बाहर पड़ी खाली पेटी के भीतर सारी रात काटनी पड़ी । फिर भी उनका धैर्य सहायक बना रहा और सब तरह की बाधाओं को पार करके वे 'धर्म-सभा' के अधिवेशन मे प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित होने में सफल हो गये ।

सर्व धर्म-सम्मेलन

सन् १८९३ की ११वीं सितम्बर को धर्म-सम्मेलन का उद्घाटन हुआ । संसार भर के विभिन्न देशों के प्रतिनिधि तथा शहर के बहुसंख्यक प्रतिष्ठित व्यक्ति 'आर्ट पैलेस' (कला मन्दिर) के विशाल हाल में एकत्रित हुए । प्रत्येक प्रतिनिधि अपने-अपने धर्म की महत्ता सिद्ध करने को उत्सुक था और इस उद्देश्य से कई दिनों से अधिक से अधिक प्रभावशाली भाषण देने की तैयारी कर रहा था । पर स्वामीजी को अभी तक इस प्रकार की तैयारी कर सकने की सुविधा नहीं मिल सकी थी और सभा में वे सबसे पीछे बैठे ईश्वर-चिन्तन में संलग्न थे ।

अन्त में दस का घन्टा बजा । ईसाई पादरी अनुभव करने लगे कि 'जगत में ईसाई धर्म सर्वश्रेष्ठ है— इस तथ्य को दुनिया के सामने प्रकट करने का समय आ पहुँचा और वास्तव में इसी भावना से अमरीका के बड़े धार्मिक नेताओं ने इस महा-सम्मेलन का आयोजन किया था । परन्तु किसी को यह खबर न थी कि यह घन्टा तो सनातन हिन्दू-धर्म की विजय का बज रहा है । वहाँ स्वामीजी को कैसा अनुभव हुआ यह उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

"मंच के ऊपर संसार के सब देशों के चुने हुए विद्वान और व्याख्यानदाता बैठे थे । मैंने अपने जीवन मे न कभी ऐसी विशाल सभा देखी थी और न ऐसे उत्कृष्ट जन-समूह के सम्मुख भाषण किया था । सङ्गीत और शिष्टाचार के भाषणों के उपरांत सब प्रतिनिधियो का एक-एक करके परिचय दिया जाने लगा और वे भी संक्षेप में अपना मन्तव्य प्रकट करने लगे । मेरा तो हृदय धड़कने लगा और जीम सूखकर लगभग बन्द हो गई । प्रातःकाल के समय तो मैं बोलने की हिम्मत ही न कर सका । सभा-अध्यक्ष ने मुझसे कई बार बोलने को कहा पर मैं यही उत्तर देता रहा— "अभी नहीं' । इससे सभा-अध्यक्ष भी मेरी तरफ से कुछ निराश हो गया । अतः दोपहर के अन्तिम भाग मे सभाध्यक्ष ने बहुत उत्साहपूर्ण शब्दों में आग्रह किया तो मैं उठकर आगे आया और मेरा परिचय दिया गया ।"

अध्यक्ष द्वारा परिचय समाप्त हुआ और स्वामीजी आँख बन्द करके ध्यान करने लगे । उनको अपने पीछे खड़े और आशीर्वाद देते हुए परमहंस देव के दर्शन हुए । बस, स्वामीजी का चेहरा दैवी तेज से दीप्त हो उठा और उसमें एक अद्भुत शक्ति जागृत हो गई । श्री गुरुदेव और सरस्वती को प्रणाम करके उन्होंने बोलना आरम्भ किया— "भाइयो और बहिनो !"

इन 'भाइयों और बहिनो' शब्दों को सुनते ही सभा में उत्साह का तूफान आ गया । सबके मुख से 'लेडीज और जैन्टिलमेन' के बाह्य शिष्टाचार-युक्त सम्बोधन को सुनते-सुनते जब उनके कानों मे ये 'भाइयो और बहिनो' के आत्मीयतापूर्ण शब्द पड़े तो हजारों व्यक्ति जोश से तालियाँ बजाते खड़े हो गये । स्वामीजी स्वय चकित रह गये । कई मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट सुनाई देती रही ।

अन्त में लोगों के शांत होने पर स्वामीजी ने कहा— "मुझे यह कहते गर्व है कि जिस धर्म का मैं अनुयायी हूँ उसने जगत् को उदारता और प्राणी मात्र को अपना समझने की भावना सिखलाई है । इतना ही नहीं हम सब धर्मो को सद्या मानते है और हमारे पूर्वजों ने प्राचीन काल में भी प्रत्येक अन्याय पीड़ित को आश्रय दिया है । जब रोमन साम्राज्य के जुल्मो से यहूदियों का नाश हुआ और बचे खुचे लोग दक्षिण भारत मे पहुँचे तो उनके साथ पूर्ण सहानुभूति का व्यवहार किया गया । इसी प्रकार ईरान के पारसियों को भी आश्रय दिया गया और वे आज भी गौरव के साथ वहाँ निवास कर रहे है । मै छोटेपन से नित्य कुछ श्लोकों का पाठ करता हूँ, अन्य लाखों हिन्दू भी नियम से उनका पाठ करते हैं। उनमें कहा गया है— "जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानो से उत्पन्न नदियाँ अन्त में एक समुद्र में ही इकट्ठी होती हैं उसी प्रकार हे प्रभु ! मनुष्य अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुकूल पृथक-पृथक जान पड़ने वाले मार्गों से अन्त मे तेरे ही पास पहुँचते हैं ।"

"ऐसी विराट् 'सर्व धर्म-सभा' पहले कभी नहीं की गई थी और यह गीता के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष प्रमाण है। गीताकार ने कहा है— 'मेरे पास कोई भी व्यक्ति चाहे जिस तरह से आवे, तो भी मैं उससे मिलता हूँ। लोग जिन भिन्न-भिन्न मार्गों से अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे सब रास्ते अन्त में मुझमें ही मिल जाते है।' पन्थ सम्बन्धी द्वेष धर्मान्धता और इनसे उत्पन्न क्रूरतापूर्ण पागलपन का जो-ये सब इस सुन्दर धरती को चिरकाल से नष्ट कर रहे हैं। इन बातों ने पृथ्वी पर तरह-तरह के अत्याचार कराये हैं, बार-बार भूमि को मानव रक्त से सिंचित किया, संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है और सब लोगों को निराशा की खाई में धकेल दिया है अगर ये क्रूर दैत्य न होते तो मानव-समाज न जाने अब तक कितनी अधिक प्रगति कर चुका होता। पर अब इन बातो का समय पूरा हो चुका है और मैं अपने हृदय में यही आशा करता हूँ कि आज प्रातःकाल इस सभा के स्वागतार्थ जो घन्टा बजा था, वह एक ही लक्ष्य (ईश्वर) की तरफ जाने वाले मानव-समूह में उत्पन्न हो गई सब तरह की अनुदारता, सङ्कीर्णता और तलवार तथा कलम द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का अन्त करने वाला 'मृत्यु-घन्ट' सिद्ध होगा।"

इतने संक्षिप्त भाषण द्वारा 'हिन्दू-धर्म' में निहित विश्वव्यापी एकता के तत्व और उसकी विशालता का परिचय करा देने से समस्त सभा स्वामीजी पर मोहित हो गई और जैसे ही वे अपना कथन समाप्त करके बैठे समस्त सभा ने उनकी प्रशंसा मे पुनः जयध्वनि की।

मूर्तिपूजा की उपयोगिता

इसके एक सप्ताह बाद स्वामीजी ने अपना 'हिन्दू-धर्म' नाम का निबन्ध धर्म-सभा के सम्मुख पढ़ा, जो कुछ ही समय में संसार में प्रसिद्ध हो गया। इसके आरम्भ में उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त का वह रहस्य बतलाया, जहाँ आधुनिक विज्ञान क्रमशः पहुँचता जा रहा है। उसके पश्चात् उन्होंने अनेक देवी देवताओं की उपासना और मूर्ति पूजा की उस प्रथा पर प्रकाश डाला जिसके लिये उसके विरोधी तरह-तरह के आक्षेप करते रहते हैं। उन्होंने कहा—

"पूजा, उपासना, कर्मकांड आदि के धार्मिक विधि-विधान दूसरी श्रेणी के हैं और ये साधारण मनुष्यों की चित्त-शुद्धि के लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकार मूर्तिपूजा मनुष्य की आध्यात्मिक एकाग्रता के लिये आवश्यक है। जब प्रतिमा को ईश्वर के प्रतीक के रूप मे पूजा जाता है तो उसे 'पत्थर पूजा' नहीं कहा जा सकता। हिन्दुओं का विश्वास है कि किसी खास सिद्धान्त के मानने या न मानने पर धर्म का आधार नहीं है, पर धर्म का उद्देश्य है, ईश्वर का साक्षात्कार। इस दृष्टि से देखने पर साकार पूजा और कर्मकाण्ड, आध्यात्मिक जीवन के आरम्भिक आधार माने जाते हैं। पर यह आधार या सहायता प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य हैं, ऐसा हिन्दू धर्म में कहीं भी नहीं कहा गया है। बाहरी दृष्टि से जो विविधता दिखाई पड़ रही है, उसी में एकता का समावेश हो रहा है विश्वव्यापी धर्म उसी को कहा जा सकता है जो किसी विशेष पथ से बँधा हुआ न हो और जिसमें जङ्गली मनुष्य से लेकर सुसंस्कृत मनुष्य तक की भावनाओं की पूर्ति न हो सके और उस महान समन्वय में प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति अपने-अपने अनुकूल मार्ग से चलकर एक ध्येय पर पहुँच सकें।"

स्वामीजी के इन आरम्भिक भाषणों में उनकी श्रेष्ठता की छाप समस्त धर्मों के अधिकांश प्रतिनिधियों और अमरीकन श्रोताओं के ऊपर लगा दी। संसार भर के और विशेषतः अमरीका के प्रमुख पत्रों में उनकी प्रशंसा में कालम के कालम रंगे जाने लगे। उस देश में सर्वाधिक प्रचारित 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा है कि 'शिकागो धर्म' सभा मे विवेकानन्द ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि ऐसे उच्चश्रेणी के देश (अर्थात् भारत) में ईसाई-धर्म प्रचारकों का भेजना बिलकुल मूर्खता है।" दूसरे "दिप्रेस आफ अमरीका" ने टिप्पणी की— "स्वामी विवेकानन्द धर्म-सभा में उपस्थित सभासदों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने सम्पूर्ण मंडली को मानो सम्मोहिनी शक्ति द्वारा मुग्ध कर रखा था। यहाँ पर प्रत्येक ईसाई चर्च के प्रतिनिधिगण उपस्थित थे, पर स्वामीजी के भाषणों की आँधी में उनके वक्तव्य न जाने कहाँ उड़ गये। उनके ज्ञान-प्रदीप्त मुख मंडल से निकले हुए भाषण प्रवाह ने अंग्रेजी भाषा की मधुरता को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करके धर्म तत्वों को श्रोताओं के हृदय पर गम्भीरता के साथ अङ्कित कर दिया।"

इस प्रकार स्वामीजी ने 'धर्म-सभा' के १७ दिन के अधिवेशन में हिन्दू-धर्म की वह सेवा कर दिखाई जिसको सहस्रों बड़े-बड़े माला, तिलक और त्रिपुण्डधारी मिलकर भी आजीवन न कर सके थे। उस समय पचास-साठ वर्ष से हिन्दू-धर्म पर ईसाई पादरियों का आक्रमण हो रहा था। उनके सर्वसाधन सम्पन्न अनर्थक प्रचार और सरकारी सहायता से इस देश में हिन्दू धर्म की नींव हिलने लगी थी और लाखों नव-शिक्षित सुयोग्य व्यक्तियों का झुकाव ईसाइयत की तरफ होता जाता था पुराने ढङ्ग के साधु संन्यासी और पण्डित इन लोगों को बुरा-भला तो कहते थे, पर किसी से यह नहीं बनता था कि विदेशी धर्म के इस प्रबल प्रवाह के सम्मुख खम ठोककर खड़ा हो जाय। स्वामी विवेकानन्द ने ईसाई धर्म प्रचारकों के भीतर घुसकर उनकी सारी किलेबन्दी को चूर-चूर कर दिया और उनके ऊँचे महल के ऊपर हिन्दू-धर्म

की ध्वजा फहरा दी । इनका परिणाम संसार भर में हिन्दू-धर्म की मान-मर्यादा बढ़ जाना तो हुआ ही भारतीय शिक्षित जनों की आँखें भी खुल गईं और वे समझने लगे कि हम विदेशियों के भुलावे में पड़कर व्यर्थ ही अपने मणि माणिकों को त्याग उनके चमकीले किन्तु नकली नगों के ऊपर लट्टू हो रहे थे यह ऐसी सफलता थी जिसके लिए हिन्दू समाज स्वामीजी का चिरऋणी रहेगा ।

स्वामीजी की सफलता और बाहरी दुनिया पर उसके अप्रत्याशित प्रभाव से ईसाई मिशनरी जल-भुन गये और उसी समय उनके विरुद्ध बे-सिर पैर की बातें कहकर उनको बदनाम करने की चेष्टा करने लगे । उन्होंने कहा— विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या की है और जिस प्रकार आत्मा की महिमा घोषित की है वर्तमान प्रचलित हिन्दू-धर्म में कहीं दिखाई नहीं देती । वे सूक्ष्म तर्क व युक्ति द्वारा मूर्तिपूजा की दार्शनिक व्याख्या करके पाश्चात्य जगत की आँखों में धूल झोंकने को उद्यत हुए हैं, क्योंकि जड़ की उपासना करने वाले मूर्तिपूजक हिन्दू उस प्रकार की विचारधारा स्वप्न में भी नहीं सोच सकते । विशेषतः विवेकानन्द एक कायस्थ परिवार में पैदा हुए हैं और हिन्दू शास्त्रों के अनुसार धर्म-चर्चा उनके लिए अनाधिकार चेष्टा है।'' इस तरह अनेक निन्दा-कुत्साहपूर्ण प्रलाप करके उन्होंने 'धर्म-सभा' के अधिकारियों को 'सलाह दी कि इस उच्छृंखल, चरित्रहीन युवक को सभा से निकाल दिया जाय ।'' उन अधिकारियों ने ऐसे स्वार्थी व्यक्तियों को द्वेषपूर्ण बातों पर विश्वास तो नहीं किया पर स्वामीजी को यह संकेत अवश्य किया कि आप विरोधियों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का खंडन कीजिये ।

दूसरे दिन स्वामीजी ने हिन्दू-धर्म का सार विषय पर भाषण दिया और बोलते-बोलते वे एकाएक चुप हो गये । तब उन्होंने उपस्थित जन-समूह को लक्ष्य करके प्रश्न किया— ''इस सभा में जो सज्जन हिन्दू-धर्म व शास्त्रों से प्रत्यक्ष रूप से परिचित हैं वे अपने हाथ उठायें !'' सात हजार के विद्वत्-समूह में से केवल तीन-चार हाथ ऊपर उठे। इस पर स्वामीजी ने, जिन्हें बाद से अनेक अमरीकन 'योद्धा संन्यासी' कहने लगे थे, मस्तक ऊँचा उठाकर, दोनों बाहो को दृढ़तापूर्वक के छाती के सामने लाकर गर्जते हुए कहा— ''इसी जानकारी पर तुम हमारे धर्म की आलोचना करने का साहस करते हो !'' समस्त सभा निर्वाक् और स्तब्ध रह गई ।

अन्त में २७ सितम्बर को धर्म-सभा के अन्तिम अधिवेशन में स्वामीजी ने वज्र कंठ से घोषणा की— ''इस धर्म-सभा में अगर संसार के सम्मुख कोई महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट किया है तो वह यही है कि पवित्रता, चरित्र की उदारता किसी एक धर्म की मिल्कियत नहीं है । प्रत्येक धर्म मे चरित्रवान स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए हैं । इस सत्य के होते हुए भी यदि किसी धर्म के नेता हृदय मे ऐसी भावना रखते हो कि उनका धर्म ही स्थिर रहेगा और बाकी सब नष्ट हो जायेंगे, तो मैं उन्हें दया का पात्र समझता हूँ । मैं उनको बतला देना चाहता हूँ कि उनके ईर्ष्या-द्वेष के होते हुए भी कुछ समय के भीतर प्रत्येक धर्म के झंडे पर यही शब्द लिखे जायेंगे— ''संघर्ष नहीं वरन् पारस्परिक सहयोग, विध्वंस नहीं वरन् एकता, विरोध नहीं वरन् समन्वय और शांति ।''

विश्व-विख्यात विवेकानन्द

धर्म सभा का अधिवेशन समाप्त हो गया । भारतवर्ष का यह अज्ञात, अकेला भटकता परिव्राजक धर्म की नवीन व्याख्या करने वाले पैगम्बर के रूप में जगत् विख्यात हो गया । चारों दिशाओं में 'विवेकानन्द' के नाम की घोषणा होने लगी । शिकागो के शहर के रास्तों में जगह-जगह उनके बड़े-बड़े चित्र लटकाये गये जिनके नीचे मोटे अक्षरो में ''स्वामी विवेकानन्द'' छपा था । रास्ता चलते अनेक लोग चित्र के सामने खड़े होकर सम्मान प्रदर्शित करते थे। बड़े-बड़े धनकुबेर उन्हें अपने महलों में रहने का निमन्त्रण देने लगे । स्वामीजी एक भक्त के विशेष आग्रह से उनके मकान पर जाकर ठहर गये । पर इस बड़े राजाओं के-से ठाट-बाट वाले महल में रहने से उन्हें सुख के बजाय दुःख का ही अनुभव होता था । प्रथम रात्रि को ही वे उस विशाल महल के शयनागार में बालको की तरह फूट-फूटकर रो पड़े । भारतवर्ष की घोर कङ्गाली और दुर्दशा उनके सामने मूर्तिमय होकर खड़ी हो गई । उसके साथ अमरीका की श्रीमन्ताई की तुलना करने पर वह कोमल शैया उनको काँटों की तरह गड़ने लगी । रोते-रोते वे बेसुध हो गये और कहने लगे—

''माँ ! जब मेरी जन्मभूमि गरीबी मे पड़ी हुई सिसक रही है, तब मै इस नाम और यश को लेकर क्या करूँगा ? हम भारतवासी किस अवस्था को प्राप्त हो गये हैं ? हमारे देश में लाखों अभागे एक मुट्ठी अनाज के बिना मर जाते हैं, जबकि यहाँ केवल ऊपरी शान-शौकत के लिये लाखों करोड़ों धन पानी की तरह बहा दिया जाता है । भारत के गरीबों का उद्धार कौन करेगा ? मुझे वह रास्ता दिखला जिससे मैं उनकी सहायता कर सकूँ ।''

स्वामीजी के ये उद्गार सिद्ध करते हैं कि वे सच्चे 'महामानव' थे । यश और वैभव पाने पर भी जो अपने भाग्यहीन भाइयों की याद न भूले और उनके कष्टो को अपने ऊपर पड़ने वाले कष्टों के समान ही अनुभव करे वही असली

'सन्त' अथवा 'साधु' माना जा सकता है । अन्यथा केवल कपड़ा रङ्ग लेने अथवा छापा-तिलक लगा लेने वाले 'साधु' नामधारी तो आज लाखों दिखाई पड़ रहे हैं, पर उनके द्वारा धर्म का उद्धार तो दूर रहा उल्टा दिन पर दिन पतन होता जा रहा है ।

शीघ्र ही अमरीका की 'एक व्याख्यान संस्था' ने स्वामीजी को समस्त अमरीका में व्याख्यान देने का निमन्त्रण दिया । यह एक व्यावसायिक ढङ्ग पर काम करने वाली संस्था थी । स्वामीजी ने सोचा कि यह इस देश में अपने विचार फैलाने का सबसे सुगम तरीका है । इससे जो धन प्राप्त होगा उससे भारतवर्ष के अनेक लोकोपकारी कार्यों में सहायता की जा सकेगी । उन्होंने इस व्यवस्था के अनुसार अनेक शहरों में जाकर भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म पर भाषण दिये ।

इन भाषणों में एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि अमरीका निवासियों को भारतवर्ष की स्थिति की वास्तविक जानकारी होने लगी । इसके पहिले वे केवल ईसाई पादरियों की उल्टी-सीधी बातें सुनकर भारतवर्ष को बहुत गिरा हुआ और पतित देश मानने लग गये थे । इसी प्रकार की मनगढ़न्त बातें सुनाकर पादरी लोग भारत मे अपने धर्म-प्रचार के नाम पर अमरीकनों से करोड़ों रुपया दानस्वरूप प्राप्त किया करते थे । अब इन भाषणों से लोगों की आँखें खुलने लगीं । स्वामीजी ईसा के प्रति पूर्ण सम्मान का भाव रखते थे, पर वर्तमान ईसाई-सभ्यता के दोषों को खोलने मे किसी की परवाह नहीं करते थे । उदाहरणार्थ उनके एक भाषण का, जो 'डेट्रिइट' नगर में फरवरी १८६४ में दिया गया था, एक अंश इस प्रकार था—

"एक बात मैं तुमसे कहूँ, यद्यपि किसी की झूँठी आलोचना करने का मेरा तनिक भी विचार नहीं है । तुम अपने यहाँ के लोगों को पढ़ा लिखाकर और पादरी बनाकर अच्छा वेतन क्यों देते हो ? क्या इसका उद्देश्य यह है कि ये मेरे देश में आकर मेरे बाप-दादा, मेरे धर्म, मेरे सभी कार्यों की निन्दा करें, गालियाँ दें ? हमारे मन्दिरों के पास से निकलते हुये ये पादरी कहने लग जाते हैं— "ऐ पत्थर-पूजकों ! तुम नरक में डाले जाओगे ।" हिन्दू शान्त और गम्भीर स्वभाव के हैं, वे ऐसी बातें हँसकर टाल देते हैं और 'मूर्ख लोग इसी तरह बकते हैं, यह कहकर मुँह फेर लेते हैं । तुम हमको गालियाँ देने और आलोचना करने के लिये ही पादरी तैयार करते हो तो तुम्हारी मर्जी, हमें उसकी कुछ चिन्ता नहीं । पर मैं जब सदुद्देश्य से भी कभी तुम लोगों की कड़ी आलोचना करता हूँ तो तुम बिगड़ कर चिल्लाने लगते हो— 'हमसे मत बोलना, हम तो अमरीकन हैं । हम चाहे दुनिया भर के गैर ईसाई लोगों की आलोचना क्यों न करें, पर तुम हमसे मत बोलना । हम तो लजवन्ती के पौधे हैं ।'

"मैं कहता हूँ तुम्हारा धर्म तुमको मुबारक, पर हमको भी अपना धर्म पालने दो । तुमको चाहे कुछ कड़वा लगे, तो भी मै कह देना चाहता हूँ कि जिस ईसाई सदाचार और पंथ की महत्ता के इतने गीत तुम गाते हो, वह पूर्णतः बौद्ध धर्म से लिया गया है, उन्हीं के प्रचारकों ने तुमको इसे सिखलाया है । पर किस तरह से ! खून की एक भी बूँद गिराये बिना । पर तुम्हारा ईसाई धर्म कहीं भी तलवार के बिना नहीं फैला है । मुझे तुम संसार में एक भी-केवल एक ही उदाहरण ऐसा बतला दो, जहाँ यह बिना जोर-जबर्दस्ती के फैलाया गया हो । इसका अर्थ यह हुआ कि तुम समझते हो कि दुनिया में बस हम ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि हम मार सकते हैं । अरब वाले भी ऐसा ही कहते थे, ऐसी ही शेखी मारते थे, पर आज वे किस अवस्था में है ? वहाँ केवल रेगिस्तान में भटकने वाले बद्दू ही दिखाई पड़ते हैं । रोमन लोग भी ऐसे ही बड़प्पन का दम भरते थे, पर आज कहीं उनका चिन्ह भी शेष है ? और हम हिन्दू लोग तो जहाँ के तहाँ अपनी मजबूत पत्थर की शिलाओं पर बैठे हुए हैं ।"

"स्मरण करो जिस किसी वस्तु का आधार स्वार्थ पर है, जिसके साधनों में द्वेषभाव है, जिसका ध्येय इन्द्रिय सुख है उस प्रत्येक वस्तु का जल्दी या देर में विनाश होना निश्चित है । तुमको यदि जीवित रहना है तो ईसा की तरफ लौटो । तुम इस समय ईसाई नहीं रहे । ईसा को कहीं बैठने को हाथ भर जमीन भी नहीं मिलती थी और तुम धर्म के नाम पर विलासिता का उपदेश दे रहे हो । ईश्वर और भजकलदारम— इन दोनों की सेवा एक साथ नहीं हो सकती । क्या यह सब विलास और तलवार की धमकी ईसा के उपदेशों के अनुसार है ? यदि आज वह जीवित होते तो इस झूठी शान को अवश्य ही अस्वीकार कर देते ।"

ऐसे भाषणों से ईसाई पादरियों के पेट में तो चूहे कूदने लगे । स्वामीजी के कार्य का स्पष्ट परिणाम उनको यह दिखाई पड़ रहा था कि 'ईसाई धर्म प्रचारिणी संस्था' की आमदनी पहले से आधी रह गई थी । अमरीका के बहुसंख्यक व्यक्तियों ने पादरियों को पहले की तरह सम्मान की दृष्टि से देखना छोड़ दिया था । इसलिये वहाँ के प्रमुख धर्म-नेता स्वामी जी के विरुद्ध झूँठी, सच्ची और सर्वथा निराधार बातें लिखकर उनको बदनाम करने की चेष्टा करने लगे । इतना ही नहीं उन्होंने कई अत्यन्त सुन्दरी रमणीयों को बहुत-सा रुपया देकर इसलिये भेजा कि वे स्वामी जी का चरित्र-भ्रष्ट कर दें । ऐसा काम आजकल धर्म के नाम

पर हो सकता है, इस पर जल्दी विश्वास नहीं होता, पर ये सब बातें नग्न सत्य हैं । किन्तु भारतीय साधकों के स्वर्ग की अप्सराओं द्वारा न बहकाये जा सकने की कथाओं के ज्ञाता स्वामीजी ने उन कामनियों को दूर से ही प्रणाम कर लिया ।

पादरियों द्वारा हिन्दू स्त्रियों के सम्बन्ध में फैलाई हुई बातों को सुनकर एक अमरीकन महिला ने स्वामीजी से भाषण के समय पूछा— "स्वामीजी ! क्या यह सच है कि हिन्दू स्त्रियाँ अपने लड़कों को नदी में मगरमच्छों के सामने फेंक देती है ?" स्वामीजी ने व्यंग्य में उत्तर दिया— "हाँ श्रीमतीजी ! आपके पादरी ऐसा ही कहते है । मुझे भी मेरी माँ ने फेंक दिया था पर मैं बाइबिल में वर्णित 'जोना' की तरह मगर के मुँह से बाहर वापस चला आया ।"

इन पादरियों ने बदला लेने के ख्याल से भारतवर्ष में भी स्वामीजी के विरुद्ध झूठा प्रचार करने में कुछ कसर नहीं रखी । कलकत्ता के 'बँगबासी' के समान कुछ ढोंगी "सनातनधर्मी" भारतीय पत्र भी उनके विरुद्ध विष वमन करने लगे और पादरियों के स्वर में स्वर मिलाकर उन्हें नीचा गिराने की कुचेष्टा करके कृतघ्नता का परिचय देने लगे । यहाँ के कुछ शिष्य गुरु की निंदा को सुनकर विचलित होने लगे । पहले तो स्वामी जी ने ऐसी मनगढ़न्त बातों पर कुछ ध्यान न दिया पर जब शिष्यगण बार-बार पत्र भेजने लगे तो दो-डेढ़ वर्ष बाद उनको एक पत्र मे स्वामीजी ने वास्तविक स्थिति को समझाते हुए रोषपूर्वक लिखा था—

[illegible]

रसोइया और कुछ धन भेज दे । एक पैसे की सहायता करने की प्रवृत्ति नहीं, परन्तु समझदार व्यक्ति की तरह उपदेश देने की खूब योग्यता है, यह देखकर मैं हँसी रोक नहीं सकता । दूसरी ओर यदि ईसाई पादरी कहते है कि मैंने 'कामिनी-काँचन' के त्यागरूप महान व्रत को भङ्ग किया है, तो उनसे कह दो कि वे घोर मिथ्यावादी है । स्मरण रखो कि मैं किसी के निर्देश पर नहीं चल सकता । अपने जीवन का उद्देश्य मैं भली-भाँति जानता हूँ । किसी प्रकार के हल्ला-गुल्ला और निन्दा आदि की मैं परवाह नहीं करता । क्या मैं किसी व्यक्ति या जाति का गुलाम हूँ ? मैं सभी प्रकार की कायरता से घृणा करता हूँ । ऐसी झूठी बातें फैलाने वाले कायर पुरुषों तथा राजनीतिक झगड़ों से मेरा कोई संबंध नहीं । ईश्वर तथा सत्य ही मेरी एकमात्र राजनीति है— बाकी जो कुछ है यह सब केवल कूड़ा-करकट है ।"

वास्तव में सच्चे महापुरुष ऐसी लोकचर्चा और द्वेष बुद्धि रखने वालों की कटूक्तियों की परवाह नहीं करते क्योंकि यदि वे ऐसा करें तो उनके जीवन उद्देश्य की हानि होगी । स्वामीजी इस तथ्य को भली प्रकार समझते थे और इसलिये इन द्वेषयुक्त देशी-विदेशी आलोचकों की तरफ ध्यान न देकर अमरीका में हिन्दू धर्म की नींव जमाने का प्रयत्न करने में लगे रहे । उनके विद्वतापूर्ण भाषणों के प्रभाव से कुछ अमरीकन उनके अनुयायी बन गये और नियमित रूप से योग, वेदांत, गीता, उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त करने लगे । उनके लिये ब्रुकलीन नगर में एक छोटी-सी शिक्षा संस्था (क्लास) खोली गई । कुछ समय पश्चात् दो अमरीकन युवकों तथा एक महिला ने उनसे संन्यास की दीक्षा भी लेली और उनके नाम क्रमशः कृपानन्द, अभयानन्द और हरिदास रखे गये । अब ये लोग स्वयं ही अमरीकनों में हिन्दू-धर्म के उच्च सिद्धांतों का प्रचार करने लगे । जब स्वामीजी अमरीका का कार्य पूरा करके इंग्लैण्ड को चलने लगे तो उन लोगों ने प्रार्थना की आप अपने किसी गुरु भाई को ही यहाँ भेज दें । इस पर स्वामी शारदानन्द को वहाँ पर भेज दिया गया । इन सब लोगो के धर्म प्रचार का यह परिणाम हुआ कि न्यूयार्क में एक वेदांत सोसाइटी की स्थापना की गई जिसका प्रचार बाद में अन्य नगरों में भी हो गया । ये संस्थायें अभी तक उस देश में कार्य कर रही हैं और इनके द्वारा अमरीकनों में अध्यात्म भावनाओं का प्रचार ही नहीं हुआ, वहाँ की जनता में भारत के प्रति सहानुभूति भी उत्पन्न हो गई, जिससे भारत को पर्याप्त सहायता मिली है ।

स्वामीजी का इंग्लैण्ड में प्रचार कार्य

अमरीका में धर्म-प्रचार का कार्य भलीभाँति जम जाने पर स्वामीजी इंग्लैण्ड आये । उस समय भारतवर्ष इंग्लैण्ड के अधीन था और यहाँ के निवासी चाहे वे राजा हों अथवा रङ्क, वहाँ पर प्रजा की तरह ही माने जाते थे । स्वामीजी इंग्लैण्ड में भी अपनी योग्यता द्वारा भारतवर्ष और हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता का प्रभाव स्थापित करना चाहते थे । दो-चार दिन में ही वे लन्दन में 'हिन्दू-योगी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये और बड़े-बड़े विद्वान् तथा शिक्षित लोग उनके उपदेश सुनने को आने लगे । एक दिन उनका भाषण 'पिकेडली प्रिंसेस हाल' में हुआ जिसमें अध्यात्म विषयों में रुचि रखने वाले एक हजार से अधिक श्रोता उपस्थित थे । दूसरे दिन लन्दन के सभी समाचार पत्रों में इनकी विद्वता के विषय में बड़े-बड़े लेख प्रकाशित हुए । 'स्टैण्डर्ड' नामक प्रसिद्ध पत्र ने लिखा कि बहुत दिनों से कोई ऐसा शक्तिशाली भारतीय इंग्लैण्ड के व्याख्यान-मञ्च पर खड़ा नहीं हुआ था । स्वामीजी

ने बतलाया कि हमारे कारखाने, इंजन, वैज्ञानिक आविष्कार तथा पुस्तकों द्वारा जितना उपकार हुआ है उससे अधिक खराबी भी हुई है । उन्होंने इस तथ्य की बुद्ध व ईसामसीह की वाणियों के साथ तुलना करके आधुनिक सभ्यता की तीव्र आलोचना की ।" 'क्रानिकल' नाम के पत्र के संपादक ने लिखा– "लोकप्रिय हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में बुद्धदेव का सादृश्य दिखलाई पड़ता है । वाणिज्य द्वारा प्राप्त हमारी समृद्धि, हमारे रक्त पिपासापूर्ण युद्ध तथा धर्म-प्रचार संबंधी असहिष्णुता की खरी आलोचना करके उन्होंने कहा– "इस मूल्य में बेचारे हिन्दू तुम्हारी खोखली, आडम्बरपूर्ण सभ्यता के प्रेमी न बन सकेंगे ।"

उन्होंने वहाँ पर अनेक भाषणों में बार-बार लोगों को चेतावनी दी कि "यदि शीघ्र उन्नति करने वाली और ऊपर से मनोहर दिखाई पड़ने वाली पश्चिमी-सभ्यता को वेदांत के त्याग और वैराग्य की नींव पर स्थापित न किया गया तो उसका उतना ही शीघ्र नाश होना भी अवश्यम्भावी है । सावधान ! सारा पश्चिमी जगत एक ज्वालामुखी के ऊपर टिका हुआ है । वह किसी भी समय आग उगल कर तुम्हारा विध्वंस कर सकता है । अब भी तुम न चेतोगे तो पचास वर्ष में सर्वनाश का दृश्य दिखलाई देगा ।" कहना न होगा सन् १८९६ में कही गई यह भविष्यवाणी गत दो महायुद्धों के रूप में पूर्णतः सत्य हो चुकी है ।

इंग्लैण्ड में स्वामीजी की भेंट प्रोफेसर मैक्समूलर से भी हुई, जिन्होंने अपना समस्त जीवन लगाकर वेदों को खोजकर प्रकाशित करने का महान कार्य किया था । उनके दर्शन करके स्वामीजी ने लिखा कि "सत्तर वर्ष के वृद्ध प्रोफेसर के मुख से आध्यात्मिकता का भाव स्पष्ट प्रकट होता था और श्वेत बालों से युक्त वे एक ऋषि की तरह ही जान पड़ते थे । उनके निवास स्थान की [illegible]

के होते हुए भी वृद्ध प्रोफेसर उनको पहुँचाने स्टेशन तक आये । जब स्वामी जी ने इसके लिये सङ्कोच का भाव प्रकट किया तो वे कहने लगे- "श्री रामकृष्ण के योग्यतम शिष्य का दर्शन सदैव प्राप्त नहीं होता ।"

जर्मनी के प्रसिद्ध वेदांत ज्ञाता प्रोफेसर पाल ड्यूसन ने स्वामीजी को निमन्त्रण भेजकर अपने यहाँ बुलाया और कई दिन तक उन्हें अपने पास रखकर ज्ञान-चर्चा की । वहीं एक दिन किसी काव्य-ग्रन्थ को पढ़ते हुए वे ऐसे तल्लीन हो गये कि प्रोफेसर के बुलाने पर भी कुछ उत्तर न दे सके । बाद में जब उनको यह बात मालूम हो गई तो उनसे क्षमा माँगी । पर प्रोफेसर का सन्देह दूर नहीं हुआ । इस पर स्वामीजी इस पुस्तक के पृष्ठ के पृष्ठ बिना पुस्तक देखें ज्यों के त्यों सुनाते चले गये तो उनको इनके गम्भीर मनोयोग और अपूर्व स्मरण-शक्ति पर विश्वास हुआ ।

भारत-आगमन

इस प्रकार लगभग चार वर्ष तक योरोप-अमरीका में हिन्दू-धर्म की ध्वजा फहराकर तथा हजारों पश्चिमी लोगों को वेदांत और भारतीय अध्यात्म का अनुयायी बनाकर स्वामीजी ने स्वदेश वापस आने का निश्चय किया । उस समय इंग्लैण्ड के वेदांत प्रेमियों ने कोई अन्य भारतीय शिक्षक वहाँ छोड़ जाने का आग्रह किया तो उन्होंने अपने आश्रम के स्वामी अभेदानन्द को इंग्लैण्ड बुलाकर वहाँ का कार्य-भार उनके सुपुर्द कर दिया । तब १६ दिसम्बर १८९६ को स्वामीजी ने भारतवर्ष के लिए प्रस्थान किया । उनके कई शिष्य भी भारतवर्ष के दर्शनों की अभिलाषा रखते थे । उनमें से कप्तान सेवियर और उनकी धर्मपत्नी तथा श्री गुडवीन तो उनके साथ ही रवाना हो गये । मिस मुलर और मिस नोबल (बाद में भगिनी निवेदिता) ने कुछ समय पश्चात् आने का विचार प्रकट किया ।

चलते समय लन्दन के पत्र संवाददाताओं ने पूछा- स्वामीजी, इस चमकते-दमकते, विलास-वैभवपूर्ण पश्चिम में चार वर्ष रहने के पश्चात् आपको अपना देश कैसा जान पड़ता है?"

स्वामीजी ने कहा– "देखो, यहाँ आने के पहले तो मैं भारतवर्ष से प्रेम ही करता था, पर अब तो वहाँ की धूल और हवा भी मुझे पवित्र करने वाली जान पड़ती है । अब मैं उसे एक तीर्थ के समान समझ रहा हूँ ।"

जहाज की यात्रा करते हुए एक दिन दो पादरी स्वामीजी से विवाद करने आ गये और जब तर्क द्वारा निरुत्तर हो गये तो हिन्दू-धर्म को बुरी-बुरी गालियाँ देने लगे । कुछ देर तक तो स्वामी जी ने सहन किया, पर अब उन लोगों ने अति कर दी तो वे उठे और एक पादरी का गला पकड़कर कुछ हँसी के साथ कहा– "अब जो मेरे धर्म को गालियाँ दीं तो उठाकर समुद्र में फेंक ही दूँगा ।" बिचारा पादरी काँपने लगा और बोला– "महाराज मुझे क्षमा करो, अब कभी ऐसा न करूँगा ।" इसके बाद वह जब कभी स्वामीजी को देखता था तो झुककर प्रणाम करता था ।

भारत में स्वागत

जिस समय से भारतवर्ष में यह समाचार फैला कि स्वामी विवेकानन्द योरोप से भारत के लिये रवाना हो गये तो नगर-नगर में उनके स्वागत और सम्मान के लिये तैयारी की जाने लगी । यहाँ जो लोग चार वर्ष से पश्चिमी देशों

में स्वामीजी द्वारा हिन्दू-सिद्धान्तों के प्रचार के समाचार पढ़ते रहे थे, उनको ऐसा आभास हो रहा था मानो पूर्व युग के किसी महान आश्चर्य ने ही सनातन धर्म के पुनरुद्धार और संसार में उसकी विजय पताका फहराने के लिये फिर से जन्म लिया है ।

जैसे ही स्वामीजी का जहाज कोलम्बो में पहुँचा एक बड़े जन-समूह ने बन्दरगाह पर ही उनका स्वागत किया । २-३ दिन विभिन्न संस्थाओं की तरफ से उनका स्वागत होता रहा । वहाँ से जब वे राजेश्वर के पास रामानन्द पहुँचे तो वहाँ के राजा स्वामीजी को एक गाड़ी में बैठाकर अन्य लोगों के साथ स्वयं खींचकर ले गये । उन्होंने इस घटना के स्मरणार्थ समुद्र के किनारे एक ४० फीट ऊँचा कीर्ति स्तम्भ बनवाया जिस पर निम्न लेख लिखा गया-

।। सत्यमेव जयते ।।

"पश्चिमी गोलार्द्ध में वेदान्त धर्म का परोपकारी प्रचार कार्य, ज्वलन्त और अपूर्व विजय प्राप्त करके, अपने अंग्रेज शिष्यों सहित परमपूजनीय स्वामी विवेकानन्द ने अपने पवित्र चरणों से सर्वप्रथम जहाँ भारतभूमि को स्पर्श किया, उसी के स्मरण में रामानंद के राजा भास्कर सेतुपति ने यह कीर्ति-स्तम्भ खड़ा कराया ।"

रामकृष्ण मिशन की स्थापना

इसी प्रकार मद्रास और कलकत्ता मे इतनी धूम-धाम से सैकड़ों स्वागत-समारोह किये गये कि कई सप्ताह उसी में निकल गये । जब इन सभाओं और भाषणों से छुट्टी मिली तो उन्होंने अपने मुख्य कार्य की ओर ध्यान दिया । अभी तक स्वामीजी के अधिकांश गुरुभाइयों का आदर्श मध्यकाल के संन्यासियो की भाँति सांसारिक विषयो से अलग रहकर कठोर तपस्या और ध्यान द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना ही था । पर स्वामीजी ने उसमे एक नया मोड़ देने के उद्देश्य से कहा-- "समय की गति को देखते हुए तुम्हें लोगों का मार्ग-दर्शन करना चाहिये । गरीब, निराधार और दुःखी मनुष्यों में ईश्वर का दर्शन करके उनकी सेवा करनी, यह अपने उदाहरण से बतलाना चाहिये और दूसरो को वैसा करने की प्रेरणा देनी चाहिये । दूसरो की सहायता और उद्धार के लिये अपना जीवन अर्पण करे, ऐसे संन्यासियों का एक नया संघ भारत में तैयार करना ही मेरा जीवन-कार्य है ।"

बहुत कुछ वाद-विवाद, आनाकानी और अनिच्छा के पश्चात् अन्य संन्यासी स्वामी जी के इस आदेश को श्री रामकृष्ण की ही प्रेरणा समझकर इस पर सहमत हुए । तदनुसार मई १८९७ में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की गई । आरम्भ में स्वामीजी ही इसके जनरल प्रेसीडेण्ट नियत किये गये । पर बाद में उन्होंने इसकी व्यवस्था के लिये एक ट्रस्ट बना दिया । जब संस्था का कार्य अधिक बढ़ने लगा तो 'रामकृष्ण मिशन' तथा 'रामकृष्ण मठ' की अलग-अलग रजिस्ट्री करदी गई ।

स्वामीजी किसी को धर्म के नाम पर अन्याय, अत्याचार का समर्थन करते देखकर आवेश में आकर उसको कठोर उत्तर दे डालते थे, पर यदि कभी अपनी भूल मालूम पड़ती तो उसे स्वीकार करने में भी आनाकानी नहीं करते थे । ऐसी एक घटना मद्रास में हो गई थी । बंगाल के प्रसिद्ध नेता तथा परमहंस देव के भक्त श्री अश्विनीकुमार दत्त छः वर्ष बाद स्वामीजी से मिले तो विभिन्न विषयो पर बातचीत करते हुए पूछ बैठे-- "क्या यह ठीक है कि मद्रास में कुछ ब्राह्मणों ने आपसे कहा था कि तुम शूद्र हो और तुम्हे वेद का उपदेश देने का अधिकार नहीं । इस पर आपने उत्तर दिया-- जो मैं शूद्र हूँ तो तुम मद्रास के ब्राह्मण भङ्गियों के भी भङ्गी हो ।"

स्वामी जी-- "हाँ, ऐसा ही हुआ था ।"

अश्विनीबाबू-- "आप जैसे धर्मोपदेशक और आत्म-निग्रह वाले सन्त के लिये ऐसा उत्तर देना ठीक था ?"

स्वामीजी-- "कौन कहता है कि वह ठीक था ? उन लोगों की उद्धतता देखकर मेरा क्रोध अकस्मात् भड़क उठा और ऐसे शब्द निकल गये, पर मै उस कार्य का कभी समर्थन नहीं करता ।"

यह सुनकर अश्विनीबाबू ने स्वामीजी को हृदय से लगा लिया और कहा-- "आज तुम मेरी दृष्टि में पहले से बहुत महान जान पड़ते हो । अब मुझे मालूम हो गया कि तुम विश्व विजेता कैसे बन गये ।"

१८९८ में बेलूर मठ की स्थापना की गई तो उन्होंने श्रीरामकृष्ण के अवशेष वाले ताम्र-कलश को स्वयं कन्धे पर उठाया और बड़े जुलूस के साथ उसे मठ के नये मकान में ले गये । रास्ते मे उन्होंने कहा-- "देखो, ठाकुर ने मुझसे कहा था कि अपने कन्धे पर बैठाकर तू मुझे जहाँ ले जायगा वहीं पर मैं रहूँगा । इन शब्दों पर श्रद्धा रखकर मैं स्वयं ठाकुर को नये मठ में लेकर चल रहा हूँ । इसलिये यह निश्चित समझ लेना कि जब तक गुरुदेव के नाम पर उनके अनुयायी सच्चरित्रता, पवित्रता और सब मनुष्यों के प्रति उदार भाव का व्यवहार करते रहेंगे, तब तक गुरु महाराज यहीं विराजेंगे ।"

स्वामीजी का स्वास्थ्य अब बहुत निर्बल होने लग गया था । पर इस दशा में अपने कर्तव्य पालन में किसी प्रकार

की कसर नहीं होने दे रहे थे । महापुरुषों की दृष्टि में छोटी या बड़ी उम्र तक जीने का कोई महत्व नहीं होता, वे यही चाहते हैं कि जब तक सांस लेते रहें तब तक भगवान का कोई न कोई काम सम्पन्न करते रहें । इसलिये जब उनका अमरीका से बार-बार बुलावा आया तो वे अस्वस्थ दशा में भी रवाना हो गये । न्यूयार्क पहुँच कर सबसे पहले वेदांत सोसायटी का निरीक्षण किया तो ज्ञान पड़ा कि वह निरन्तर प्रगति कर रही है और अब उसका निजी स्थान हो गया है । इसके बाद कैलीफोर्नियाँ पहुँचे । वहाँ की आबहवा से स्वास्थ्य को कुछ लाभ पहुँचा तो भाषणों तथा राजयोग की शिक्षा का कार्य धूमधाम से चलने लगा । जब वहाँ का कार्य पूरा हो चुका तो एक शिष्या मिस-मिनीबूक ने १६० एकड़ जमीन वेदान्त आश्रम बनाने को दी । स्वामी जी ने उसका कार्यभार स्वामी तुरीयानन्द को दिया जिन्हें वे भारतवर्ष से अपने साथ ही ले गये थे ।

जीवन की उपयोगिता कायम रहे

जब ये सब कार्य व्यवस्थित हो गये तो वे योरोप के कई देशों में होकर सन् १६०० के दिसम्बर मास में पुनः भारतवर्ष लौट आये । उन्होंने अपने आने की सूचना किसी के पास नहीं भेजी क्योंकि इससे स्वागत समारोह में फँसना पड़ता और बहुत-सा अमूल्य समय यों ही निकल जाता, जिसे वे ठोस कार्यों में लगाना चाहते थे । अब उनको अनुभव हो रहा था कि इस तूफानी गति से कार्य करते हुए यह पार्थिव शरीर अधिक समय तक नहीं टिकेगा ।

इन दिनों उनका स्वास्थ्य प्रायः निर्बल ही रहता था और वे अपना बहुत-सा समय ध्यान में लगा देते थे । तो भी सार्वजनिक सेवा का जो काम आता उसे अवश्य पूरा करते और अपने शिष्यों को भी सदा यही उपदेश देते कि मानव-जीवन का उद्देश्य परोपकार और सेवा ही है । जब तक यह उद्देश्य पूरा हो सके तभी तक जीना यथार्थ है । जब इसकी पूर्ति कर सकने की सामर्थ्य न रहे तो जीवन का अन्त हो जाना ही श्रेष्ठ है ।

स्वामीजी के इस आदर्श से आजकल के उन साधु-संन्यासियों तथा धर्म-गुरुओं को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जो अपना कार्य शिष्यों को केवल जबानी उपदेश सुना देना और उनसे प्राप्त दक्षिणा, भेंट द्वारा आराम का जीवन व्यतीत करना ही समझते हैं । यदि भारतवर्ष के हजार-पाँच सौ साधु भी स्वामी विवेकानन्द के पद-चिन्हों पर चलते तो आज हिन्दू धर्म की हालत कुछ और ही होती ।

अब वे मठ के कार्मों से क्रमशः छुट्टी लेने लगे थे और सब भार अपने गुरु भाइयों तथा शिष्यों पर छोड़ने लगे थे । वे कहते थे कि अनेक बार ऐसा देखने में आता है कि गुरु अथवा नेता सदैव अपने अनुयायिओं के साथ रहकर उनका अहित कर डालता है । सरदार या मुखिया का कर्तव्य है कि जब अन्य लोग कार्य करना जान जायें तो स्वयं दूर हटकर रहे, जिससे उन सबका भी पूर्ण विकास हो सके ।"

४ जुलाई १६०२ को जिस दिन उन्होंने देहत्याग किया अन्य दिनों की अपेक्षा वे अधिक सक्रिय रहे । प्रातःकाल शीघ्र ही उठकर नित्यकर्म से निवृत्त हुए और पूजा मन्दिर में जाकर दरवाजा बन्द करके तीन घण्टा गुरुदेव तथा काली माता का पूजन और ध्यान करते रहे ।

सन्ध्या समय आरती हो जाने पर वे माला लेकर जप करने बैठ गये । कुछ देर बाद उन्होंने एक शिष्य से कहा कि मुझे कुछ गर्मी जान पड़ती है तू मेरे पास बैठकर पंखा करता रह । यह कहकर जमीन पर बिछे बिस्तर पर लेट गये और आँखें बन्द करके अर्ध सुषुप्ति की-सी अवस्था में कुछ देर पड़े रहे । लगभग नौ बजे उनका हाथ जरा काँपा उन्होंने एक गहरी साँस ली और प्राण-वायु शरीर से बाहर निकल गया ।

रात्रि भर आश्रमवासी इस आशा में बैठे रहे कि शायद स्वामी जी समाधि अवस्था में हों । पर प्रातःकाल यह देखकर कि उनके नेत्र लाल हो गये हैं और नाक तथा मुँह से कुछ खून निकला है डाक्टर को बुलाया । उसने बतलाया कि इनके मस्तक की शिरा फटने से मृत्यु हुई है । शिष्यों ने समझ लिया कि स्वामी जी ने योग विधि से ब्रह्म-रन्ध्र को भेदकर आत्मा को शरीर से पृथक कर लिया है । तीसरे प्रहर अपार जन-समूह की उपस्थिति में मठ के अहाते में ही एक वृक्ष के नीचे उनका दाह-संस्कार किया गया और हजारों कण्ठों से एक साथ गगनभेदी निकला- "गुरु महाराज की जय ! हिन्दू धर्म की जय !!"

नवजागरण के देवदूत

महर्षि अरविन्द

कलकत्ता के सेशनजज की अदालत में 'मानिकतल्ला बम केस' का ऐतिहासिक मुकदमा चल रहा था । अभियुक्तों में से अधिकाँश ऐसे नवयुवक थे जिन्होंने देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने का सङ्कल्प लिया था और उसके लिये वे प्राण अर्पण करने को प्रस्तुत थे । ये सब युवक बड़े साहसी, उग्र और क्राँतिकारी विचारों के थे और वे अपने रक्त से हस्ताक्षर करके गुप्त-समिति के सदस्य बने थे । इस मुकदमे में उनको फाँसी और कालापानी जैसे कठोर दंडों

की ही संभावना थी तो भी न कोई भयभीत था न अपने बचाव के लिये कोशिश कर रहा था । सब लोग ऐसे आमोद-प्रमोद के साथ जेलखाने में रहते थे जैसे किसी महोत्सव में सम्मिलित होने आये हों ।

पर इन सबकी अपेक्षा अधिक निर्भय और साथ ही अधिक गम्भीर तथा निश्चिन्त थे श्री 'अरविन्द घोष, जो दस वर्ष से अध्यात्म-मार्ग के पथिक थे । वे राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने के साथ ही आध्यात्मिक शक्तियों को बढ़ाने के लिये कई प्रकार के योग संबंधी अभ्यास करते रहते थे । पर जब तक वे बाहर रहे तब तक नौकरी और उसके बाद आन्दोलन के कारण इस तरफ पूरा ध्यान देने का समय ही नहीं मिलता था । अब जेल में जा बैठने पर सब तरह के झंझटों से छूट गये और अपनी कोठरी में बैठकर समस्त मनप्राण से भगवान का ध्यान करने लगे । इसलिये वे अपनी जेल-यात्रा को 'आश्रम वास' कहने लगे थे । वहाँ उन्हें गहरी साधना का अवसर मिला और वे ब्रह्म चेतना तक पहुँच गये, जो अध्यात्म-साधना का सर्वोच्च स्तर माना जाता है । कहते हैं कि जेल में प्राणायाम का अभ्यास करते समय उनका शरीर एक तरफ से हवा में ऊँचा उठ जाता था ।

जेल में रहते हुए ही उनकी 'ब्रह्म-भावना' इतनी बढ़ गई कि उनको सर्वत्र लीलामय प्रभु के दर्शन होने लगे । इसके पश्चात् उनके लिये जेल और जेलर, पुलिस और अदालत, अभियुक्त और जज, भगवान के ही अनेक रूप प्रतीत होते थे । जेल जाने के पहले वे जिस आध्यात्मिक स्थिति तक पहुँचे थे, उसमें वे अपने को भगवान के हाथ का एक यंत्र या माध्यम समझने लगे थे । पर अब तो उनको अपने चारों ओर भगवान् दिखाई देने लगा । उनकी चेतना के हर कोने में गीता और उसके उपदेश समा गये। जब वे जेल से बाहर निकले तो संसार के अणु-अणु में उनको भगवान का ही अनुभव होता था ।

इस प्रकार जेल के भीतर योग साधना करने वाले श्री अरविन्द सच्चे अर्थों में एक युग-पुरुष थे । एक तरफ तो वे योरोपियन भाषाओं और वहाँ के साहित्य में पारंगत थे, लैटिन, ग्रीक, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, इटालियन आदि कितनी ही भाषाओं में ऊँचे दर्जे की योग्यता रखते थे और दूसरी और भारतीय धर्म, दर्शन-शास्त्र तथा उनके विभिन्न अङ्गों के रहस्य के भी पूरे जानकार थे । इस प्रकार पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों विद्याओं के ज्ञाता होकर वे कार्यक्षेत्र में उतरे थे । इस अगाध योग्यता के बल पर ही वे आगे चलकर साधकों के लिये 'पूर्ण योग' की साधन-प्रणाली का अनुसन्धान कर सके, जिसका आश्रय लेकर भारत ही नहीं संसार के सभी देशों के अध्यात्म प्रेमी आत्मोन्नति के उच्च शिखर की तरफ अग्रसर हो रहे हैं ।

जन्म और शिक्षा

श्री अरविन्द (जन्म सन् १८७१) के पिता बङ्गाल के एक बहुत प्रसिद्ध डाक्टर थे । वे सिविल सर्जन के पद पर काम करते थे । अत्यन्त परोपकारी और उदार स्वभाव के थे । वे अपने रोगियों की दवादारू द्वारा ही सहायता नहीं करते थे वरन् आवश्यकता जान पड़ती तो उनके लिये पथ्य और वस्त्र की सहायता भी अपनी तरफ से करते थे । पर उनके स्वभाव में एक विशेषता यह भी थी कि वे अंग्रेजियत के कट्टर समर्थक थे । इस देश वालों की अकर्मण्यता और सङ्कीर्ण मनोवृत्ति को देख कर वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति को निस्सार समझने लगे थे और इसलिये चाहते थे कि उनके पुत्रों को भारतीयता की हवा न लगे और वे पूरी तरह से अंग्रेजों के गुण भावापन्न हो जायें । श्री अरविन्द घोष की इस आध्यात्मिक विश्वास की भी एक विलक्षण कहानी है । उनके पिता डा० कृष्णधन घोष अँग्रेजी आचार-विचार और रहन-सहन के व्यक्ति थे । वे भारतीय सभ्यता एवं विचारधारा से सर्वथा विरक्त और पाश्चात्य के पोषक एवं समर्थक थे । अपनी ही तरह, उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र भी पूरा अंग्रेज बन जाय और अंग्रेजी राज्य में किसी उच्च पद पर आसीन हो । कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु श्री कृष्णधन घोष अँग्रेजियत के इतने भक्त थे कि जिन्होंने अपने पुत्र अरविन्द घोष को बाल्यकाल से ही मातृ-भाषा के स्थान पर अँग्रेजी ही सिखाई और सात वर्ष की अबोध आयु में ही अपने एक अँग्रेज मित्र के पास इंग्लैण्ड में रहने और पढ़ने के लिये भेज दिया ।

श्री अरविन्द घोष बाईस वर्ष की अवस्था तक बराबर इंग्लैण्ड में पढ़ते और रहते रहे । उनके पिता को पूरा विश्वास था कि अब उनका पुत्र भारतीयता से सर्वथा शून्य होकर पूरा अंग्रेज बन जायेगा । किन्तु उनकी यह आशा पूरी न हुई । अरविन्द उल्टे और भी अधिक भारतीय और आध्यात्मिक व्यक्ति बन गये । इस दृष्टि से उनकी तुलना भारत के महान् नेता पं० जवाहरलाल जी नेहरू से ही की जा सकती है, जिनको बहुत छोटी अवस्था में ही इङ्गलैण्ड भेजकर एक अंग्रेज परिवार में रखकर शिक्षा-दीक्षा दिलाई गई थी । अपने इस विचार को पूरा करने के लिये उनके पिता किसी बङ्गला भाषा बोलने वाले को अपने यहाँ नौकर भी नहीं रखते थे । इस प्रकार घर में रहते हुए अरविन्द और उनके भाइयों ने अंग्रेजी के सिवा भारतीय भाषाओं का एक शब्द भी नहीं सीखा ।

पाँच वर्ष की आयु में ही श्री अरविन्द को दार्जिलिंग के एक ऐसे स्कूल में दाखिल करा दिया गया जो पूर्णतया योरोपियन था। इसमें पढ़ने वाले बालक और पढ़ाने वाले शिक्षक सब योरोपियन थे और भारतीय भाषाओं का कोई वहाँ नाम भी नहीं लेता था। दो वर्ष बाद सात वर्ष की अवस्था में उनको विलायत शिक्षा प्राप्त करने भेज दिया गया। कम उम्र होने के कारण उनको होस्टल में न रखकर मि० ड्रिवेट नामक गृहस्थ के घर में रहने की व्यवस्था की गई। ये महाशय योरोप की प्राचीन भाषा 'लैटिन' के, जिसका सम्मान उस महाद्वीप में हमारी संस्कृत भाषा की तरह किया जाता है, बड़े विद्वान् थे। उनके यहाँ रहकर श्री अरविन्द ने छोटी अवस्था में ही इस भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। सन् १८८५ में जब मि० ड्रिवेट इंग्लैण्ड छोड़कर आस्ट्रेलिया में रहने को चले गये तो अरविन्द को सेण्टपाल स्कूल में दाखिल करा दिया गया। वहाँ के हैडमास्टर को इतनी छोटी आयु में इनकी लैटिन भाषा की योग्यता को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ और उनसे प्रसन्न होकर निजी तौर पर इनको दूसरी प्राचीन भाषा 'ग्रीक' पढ़ाना आरम्भ कर दिया। इसको भी उन्होंने शीघ्र ही सीख लिया। योरोप की समस्त वर्तमान भाषाओं की जननी 'लैटिन' और ग्रीक भाषाएँ ही मानी जाती हैं। इनका उच्च ज्ञान प्राप्त कर लेने से श्री अरविन्द को वहाँ की सभी भाषायें सीखनें में बड़ी सुविधा हो गई और वे बहुत जल्दी ऊँचे दर्जे में चढ़ा दिये गये। वास्तव में उनमें नई भाषा के सीखने की असाधारण क्षमता थी।

श्री अरविन्द साधारण विद्यार्थी न थे। तेरह वर्ष की आयु में जब उन्होंने मि० ड्रिवेट का घर छोड़ा, तभी अपनी विशेष प्रतिभा, समझदारी और विनम्रता से उन्होंने आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया था। अपनी इस विकसित योग्यता द्वारा उन्होंने सेन्टपाल स्कूल की पढ़ाई चार वर्ष में ही पूरी करली और सत्तरह वर्ष की आयु में कैम्ब्रिज के 'किंग्स कालेज' के लिये ८० पौण्ड (लगभग ११०० रु०) की सर्वोच्च छात्र-वृति प्राप्त करली। अंग्रेजी और फ्रौंसीसी भाषाओं की विशेष योग्यता के साथ उन्होंने जर्मन, इटालियन और स्पेनिश भाषाओं का भी साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने एक कविता-पुस्तक रच डाली जिसकी अनेक विद्वानों ने प्रशंसा की। ग्रीक और लैटिन की काव्य-संबंधी योग्यता के लिये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में जो पुरस्कार दिये जाते थे वे प्रतिवर्ष इन्हीं को मिलते थे।

पिता के आदेश से श्री अरविन्द ने आई. सी. एस. (इण्डियन सिविल सर्विस) की परीक्षा बिना किसी शिक्षक से सहायता लिये ही दे डाली और उसमें उच्च श्रेणी में पास हो गये, पर उन्होंने घुड़सवारी की ओर ध्यान नहीं दिया जिससे परीक्षा का प्रमाण पत्र इनको न मिल सका। पर जो विद्यार्थी अन्य विषयों में अच्छी योग्यता दिखलाते थे, उनको घुड़सवारी का इम्तहान दुबारा देने का मौका दिया जाता था, पर इन्होंने उसकी तरफ कुछ ध्यान नहीं दिया। इससे अनेक लोगों ने बाद में यह ख्याल किया कि ये इस परीक्षा में जानबूझ कर फेल हो गये, क्योंकि उनकी यह आकाँक्षा नहीं थी कि भारतवर्ष में कलक्टर या कमिश्नर बनकर अँग्रेजी नौकरशाही के एक अङ्ग बन जायें। भगवान को भी यह अभिप्रेत नहीं था कि जिस व्यक्ति को संसार के मार्ग प्रदर्शन के लिये भेजा गया है, वह कोई बड़ा सरकारी अफसर बनकर खाने, पीने और फैशन की बातों में अपनी जिन्दगी बितादे। इसलिये उनकी विचार धारा किसी दूसरी तरफ ही बहने लग गई थी।

जीवन का मार्ग परिवर्तन

इस तरह सन् १८९३ तक इक्कीस वर्ष की आयु में अरविन्द ने इंगलैंड के कालेजों की सब पढ़ाई समाप्त कर डाली। अँग्रेजी पर तो उनको ऐसा अधिकार था कि उसमें बढ़िया कविता की रचना कर डालते थे। इतना ही नहीं लैटिन और ग्रीक भाषाओं में काव्य रचना की शक्ति भी उनको प्राप्त हो चुकी थी। पर योरोप की भाषाओं का इतना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी किसी भारतीय भाषा को वे अभी तक नहीं बोल सकते थे। आई० सी० एस० की परीक्षा के लिये उनको बँगला भाषा सीखनी पड़ी थी पर उसमें उनका ज्ञान बहुत टूटा-फूटा था, जैसा कि विदेशी लोग भारत वर्ष में आकर किसी प्रकार हिन्दी बोलकर काम चला लेते हैं। उनके पिता उनको पक्का अँग्रेज बनाना चाहते थे और जन्म से अब तक वे अंग्रेजी वातावरण में ही रहे थे। उनका सोचना, विचारना, बोलना, लिखना, पढ़ना सब अँग्रेजी में ही होता था। ऐसी परिस्थिति में रहकर और अँग्रेजों के बीच में ही पलकर, कुछ वर्षों के बाद वे अंग्रेजी राज्य के घोर विरोधी और भारतीय क्रांति के प्रमुख नेता के रूप में प्रगट हुए, क्या यह एक चमत्कार नहीं था?

दूसरी आश्चर्य की बात यह भी थी कि इक्कीस वर्ष तक यद्यपि उन्होंने योरोपियन भाषाओं तथा वहाँ के साहित्य में बहुत योग्यता प्राप्त करली थी, पर बाद में जिस आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में प्रविष्ट होकर उन्होंने विश्वव्यापी कीर्ति

प्राप्त की, उसका उस समय तक कहीं चिन्ह भी नहीं था। उस समय उन्होंने दार्शनिक विषयों से संबंधित केवल दो-एक पुस्तकें प्लेटो की पढ़ी थीं। इन सब विषयों का अध्ययन उन्होंने भारतवर्ष आकर ही किया और तभी संस्कृत भाषा को भी सीखा।

जैसा हम आरम्भ में बतला चुके है कि अरविन्द के पिता अन्य लोगों की तरह पूजा-पाठ करने वाले धार्मिक व्यक्ति नहीं थे, पर दया, परोपकार उदारता की दृष्टि से वे बहुत उच्च कोटि के व्यक्ति थे। इन कार्यो में इतना अधिक खर्च कर डालते थे कि कभी-कभी अपने लड़कों की पढ़ाई के लिये खर्च भेजने में भी असमर्थ हो जाते थे। इसके कारण तीनों भाइयों को अनेक बार बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। अरविन्द और उनके दोनों भाई अक्सर जाड़ों में बिना कोट के रह जाते और कभी-कभी उन्हें पूरे भोजन से भी वंचित रहना पड़ता था। उस समय वे पाव रोटी, चाय और कुछ सूखी चीजें खाकर ही काम चलाते थे।

अन्तिम दिनों में श्री अरविन्द का सम्पर्क कुछ ऐसे भारतीय युवकों से हो गया जिन पर योरोप के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव पड़ चुका था और इसलिये उनको अपने देश की पराधीन अवस्था खटकने लगी थी। इनमें से कुछ युवक जो बहुत गर्म विचारों के थे अपने सिद्धान्तों के अनुसार उसी समय कोई कार्य आरम्भ करने पर जोर देने लगे, फलस्वरूप लन्दन में ही एक संस्था की स्थापना की गई जिसका नाम 'लोटस एण्ड डैगर'' (कमल और कटार) था। इसके प्रत्येक सदस्य को इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह कोई ऐसा कार्य करेगा जिससे भारत में ब्रिटिश शासन समाप्त हो सके। पर यह सभा कोई क्रियात्मक कदम न उठा सकी यद्यपि उसके श्री अरविन्द जैसे सदस्यों ने व्यक्तिगत रूप से उस शपथ को अच्छी तरह पूरा करके दिखा दिया।

जिस समय अरविन्द अपना अध्ययन समाप्त करके भारत लौटने की तैयारी कर रहे थे, उसी समय अपने आप उनके लिये जीविकोपार्जन की व्यवस्था भी हो गई। बड़ौदा के महाराज सयाजीराव उन दिनों लन्दन गये हुए थे। वहाँ पर सुप्रसिद्ध भारत हितैषी सर हेनरी काटन के भाई श्री जेम्स काटन से बातचीत होने पर जब उनको यह ज्ञात हुआ कि अरविन्द नाम का एक बड़ा प्रतिभाशाली और कर्मठ युवक उनके यहाँ कार्य करने को मिल सकता है, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी समय श्री अरविन्द को बुलाकर सब बातें तय करलीं और उनको राज्य मे एक अच्छी जगह दे दी। फरवरी १८९३ में वे इग्लैण्ड से रवाना होकर बड़ौदा में आकर रहने लगे। यहीं से उनके जीवन का दूसरा अध्याय आरम्भ होता है।

सार्वजनिक जीवन की तैयारी

बड़ौदा में दो-तीन सरकारी पदों पर काम करने के पश्चात् उनको वहाँ के कालेज में फ्राँसीसी भाषा का प्रोफेसर बना दिया गया। कालेज में भी वे निरन्तर उन्नति करते गये और सन् १९०६ में राजनैतिक कार्य करने के लिये जब उन्होंने कालेज को छोड़ा तो वे 'वाइस प्रिंसिपल' के पद पर काम कर रहे थे और ७५० रु० मासिक वेतन मिलता था।

बड़ौदा में श्री अरविन्द ने जो तेरह वर्ष व्यतीत किये उन्हें हम उनके भावी कार्यक्रम– राजनीतिक, आध्यात्मिक और योग–की तैयारी का समय मान सकते हैं। सबसे पहले वे दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों की ओर झुके। भारत के प्राचीन साहित्य का अवलोकन करके उन्होंने यह समझ लिया कि यह देश वास्तव में एक ऐसी महान संस्कृति का उत्तराधिकारी है जिसकी तुलना संसार में अन्यत्र मिल सकनी असम्भव है। पर साथ ही यहाँ की लज्जाजनक पराधीनता और करोड़ों लोगों की भीषण गरीबी को देखकर उनको खेद भी कम नहीं होता था। वास्तव में अपने देश और समाज की तत्कालीन हीनावस्था में प्राचीन संस्कृति पर गर्व करना हास्यास्पद है। भारतवासियों के जीवन में से प्राचीनकाल के उत्तम गुणों का तो लोप हो गया और उनका स्थान अनेक मूढ़ताजनित कुसंस्कारों, हानिकारक रूढ़ियों ने ले लिया। इसलिये भारत के उद्धार की आकांक्षा करने वाले किसी भी व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य यह था कि वह सबसे पहले समाज के भीतर जमा हो जाने वाले इस कूड़ा-करकट की सफाई कर डाले।

श्री अरविन्द ने इस तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम किया, पर उनको यह भी अनुभव हुआ कि समाज की सफाई का कार्य आरम्भ करने से पहले हमको अपनी सफाई कर डालनी चाहिये। भारतवर्ष एक धर्मप्रधान देश है, यहाँ की अशिक्षित जनता भी, गलत या सही ढंग से धार्मिक भावों से ही संचालित होती है। इसलिये उसका सुधार-उत्थान करने वाले को पहले आध्यात्मिक दृष्टि से स्वयं अपने को कुछ योग्य बना लेना चाहिये।

यह निश्चय कर लेने पर उन्होंने सबसे पहले भारतीय भाषाओं को सीखने की तरफ ध्यान दिया। अभी तक उनको अपनी मातृभाषा बंगला का भी ठीक अभ्यास नहीं था। इसलिये उन्होंने एक बंगाली विद्वान को शिक्षक के रूप में बुलाया। साथ ही मराठी और गुजराती का अभ्यास भी करने लगे, क्योंकि बड़ौदा राज्य में इन्हीं दोनों का प्रयोग

किया जाता था । धार्मिक साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्होंने संस्कृत सीखी और धीरे-धीरे उसमें इतनी उन्नति की कि वे वेद और उपनिषदों की व्याख्या भी करने लग गये ।

इस प्रकार योरोप की उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भारत में भी वे अपना जीवन एक विद्यार्थी की ही तरह व्यतीत करते रहे । रात में भी बड़ी देर तक मिट्टी के तेल के लैम्प से ही पढ़ते रहते थे । वैसे भी उनको जीवन-चर्या अत्यन्त साधारण थी । वे लोहे की चारपाई पर सोते थे और बहुत बार जाड़े में भी रजाई नहीं रखते थे । उनका भोजन भी साधुओं की तरह अत्यन्त सादा और आडम्बर रहित होता था । उनको अगर कोई धुन या व्यसन था तो वह पढ़ने का ही था, जिससे उनका ज्ञान-भंडार बढ़ता जाता था ।

अब उनके राजनीतिक विचारो मे भी परिवर्तन हो रहा था । बचपन से ही अंग्रेजों के मध्य में रहने और अपनी पूरी शिक्षा अँग्रेज शिक्षकों द्वारा ग्रहण करने के कारण वे अब तक योरोपियन सभ्यता को आदर की दृष्टि से देखते थे और कभी उस पर आक्षेप या व्यंग नहीं करते थे । पर भारत में आकर यहाँ की पराधीनता तथा अँग्रेजों के अहम्मन्यतापूर्ण व्यवहार को देखकर उनमें जातीयता का भाव बढ़ने लगा और वे उग्र शब्दों में विदेशी शासन की आलोचना करने लगे । उसी समय उन्होंने बम्बई के 'इन्दु-प्रकाश' पत्र में 'पुराने की जगह नये चिराग' शीर्षक लेखमाला प्रकाशित कराई थी जिसमें उन राजनीतिज्ञों की कठोर आलोचना की गई थी जो अँग्रेजों की खुशामद करके कुछ अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा किया करते थे ।

सन् १९०१ मे उनका विवाह राँची (बिहार) के निवासी श्री भूपालचन्द्र की कन्या मृणालिनी देवी से हो गया । यद्यपि अपनी पत्नी के साथ श्री अरविन्द का व्यवहार सदैव प्रेमपूर्ण रहा, पर ऐसे असाधारण व्यक्तित्व वाले महापुरुष की सहधर्मिणी होने से उसे सांसारिक दृष्टि से कभी इच्छानुसार सुख की प्राप्ति नहीं हुई । प्रथम तो राजनीतिक जीवन की हलचल के कारण उसे पति के साथ रहने का अवसर ही कम मिल सका, फिर आर्थिक दृष्टि से भी श्री अरविन्द का जीवन जैसा सीधा-सादा था उसमे उसे कभी वैभवपूर्ण जीवन के अनुभव करने का अवसर नहीं मिला । केवल जब तक वे बड़ौदा में रहे वह कभी-कभी उनके साथ सुखपूर्वक रह सकी । उनकी इस नई जिंदगी की झलक उनके अनेक उन पत्रों से मिल सकती है जो उन्होंने बड़ौदा से अपनी नव विवाहिता पत्नी को लिखे थे । जिनका आशय प्रायः इसी प्रकार का होता था– 'मैं एक पागल हूँ, और मेरी पागलपन की तरंगो में से जो तीन तरंगें मुख्य हैं उनमें से एक यह कि संसार की सारी संपत्ति उस परमात्मा की है । दूसरी यह कि मैं परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये व्यग्र हूँ और पूर्ण आशान्वित हूँ कि मैं उसके दर्शन पाकर रहूँगा, और तीसरी यह कि मैं अपने देश की भूमि उसके पहाड़, नदियों तथा वनों को मात्र भौगोलिक सत्ता नहीं मानता बल्कि समस्त जड़-चेतन प्रकृति की माता मानता हूँ और उसी अनुसार उसकी पूजा उपासना करता हूँ । फिर जब वे पाण्डिचेरी में जाकर रहने लगे तो उनकी बढ़ी हुई योग-साधना की दृष्टि से पत्नी का साथ रहना निरापद नहीं था तो भी कर्त्तव्य-भावना से उन्होंने उसे पाण्डिचेरी आने को कह दिया। पर उसी अवसर पर इन्फ्लुऐंजा की महामारी के आक्रमण से उनका देहावसान हो गया ।

बड़ौदा में रहते समय ही श्री अरविन्द का संबंध क्रांतिकारी दल से हो गया था । वास्तव में इस दल के सूत्रधार और प्रमुख कार्यकर्ता उनके छोटे भाई वारीन्द्र ही थे । श्री अरविन्द यद्यपि इसमें सक्रिय भाग नहीं लेते थे, पर सम्मति और सहायता उनसे सदैव मिलती रहती थी । इसके साथ ही उनका जीवन अध्यात्म की तरफ भी अग्रसर हो रहा था । यद्यपि उस जमाने की दृष्टि से वे पर्याप्त वेतन पाते थे, जिसमें अमीरों की तरह रह सकते थे, पर इस तरफ उन्होंने कभी ध्यान ही नहीं दिया । उनका रहन-सहन बहुत सादा था, पर दूसरों के लिये खर्च करते रहने के कारण महीने के अन्त में उनके पास एक पाई भी नहीं बचती थी । कभी-कभी तो ऐसी हालत हो जाती थी कि वे अपनी पत्नी को जो प्रायः देवधर (बिहार) में रहती थी, खर्च भेजने में भी चूक जाते थे । इस संबंध में श्री दीनेन्द्रकुमार ने, जो शिक्षक के रूप में उनके साथ एक वर्ष तक रहे थे, लिखा है-

"श्री अरविन्द कोई सांसारिक जीव नहीं थे । वे तो कोई देवता थे जो भटक कर भूमंडल पर आ गये थे । उनके चेहरे पर एक भाव था, बाल लंबे थे और आँखें नींद की माती-सी लगती थीं । फैशनेबिल कपड़े न पहिन कर वे देशी कपड़े की एक मिर्जई पहिनते थे, उनकी कोई आकाँक्षा नहीं थी । ख्याति से बचते थे, बात-चीत बहुत कम करते थे, आत्म-संयम का पालन करते थे और केवल अध्ययन ही उनका मुख्य कार्य था ।"

योगाभ्यास की प्रगति

यद्यपि श्री अरविन्द को अध्यात्म तथा योग की आन्तरिक प्रेरणा बड़ौदा आने से पहले भी प्राप्त होती रहती थी पर उस समय वे साहित्य और काव्य के प्रवाह में विशेष

रूप से वह रहे थे, इसलिये उन्होंने उस प्रेरणा पर अधिक विचार नहीं किया। भारतवर्ष आकर जब उन्होंने यहाँ के प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया तो उनका झुकाव स्वयमेव इधर होने लगा। पर योगाभ्यास का आरंभ बिना गुरु के नहीं किया जा सकता। यद्यपि उन्होंने उस समय बाकायदा कोई गुरु तो नहीं बनाया; पर उनको कई उच्चश्रेणी के पथ प्रदर्शक मिल गये। नर्मदातट के चोंदोद स्थान में प्रतिष्ठित गंगा-मठ के सद्गुरु ब्रह्मानन्द ने दर्शन देकर श्री अरविन्द के लिये योग-मार्ग को प्रशस्त किया। यह बात प्रसिद्ध थी कि ये महात्मा किसी की आँखों की तरफ नहीं देखते थे, पर श्री अरविन्द को अधिकारी समझकर उन्होने इनकी ओर देखा ही नहीं वरन् सफलता के लिये शुभाशीर्वाद भी दिया। यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मानन्द के एक शिष्य ने ही इनको सर्वप्रथम प्राणायाम की शिक्षा दी। सन् १९०४ में ये प्राणायाम और धारणा का अभ्यास करने लगे और क्रमशः इसमें कई घन्टे तक लगाने लगे। तीन वर्ष पश्चात् उन्होंने ग्वालियर के श्री लेले को अपना सहायक बनाया और इससे योग-मार्ग में अच्छी प्रगति हुई। इस सबके साथ उनके भीतर एक ऐसी शक्ति काम कर रही थी जिसकी सहायता से वे योग संबंधी बहुत विषयों की जानकारी स्वयं ही प्राप्त कर लेते थे।

क्रान्तिकारी आन्दोलन में सहयोग

क्रान्तिकारी दल का संगठन और संचालन यद्यपि श्री अरविन्द की आध्यात्मिक प्रकृति के विशेष अनुकूल तो नहीं था, तो भी आरम्भिक काल में उन्होने इसमें महत्वपूर्ण योग दिया। इस संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्होंने कभी शस्त्रास्त्र की शिक्षा, बम बनाना, हथियार जमा करने के कामों को स्वयं नहीं किया। आन्दोलन का यह विभाग तो श्री वीरेन्द्र के जिम्मे था और उसने इसके लिये कुछ साथी भी बना लिये थे। श्री अरविन्द तो इस कार्य में भाग लेने वाले युवकों को प्रेरणा दिया करते थे और आवश्यक होने पर मार्ग-दर्शन करते थे। जब छुट्टी मिलती तो बङ्गाल के विभिन्न स्थानो का दौरा करके ऐसे लोगों से सम्पर्क स्थापित करते जिनसे इस कार्यक्रम मे सहायता मिल सकती थी। उन्होंने महाराष्ट्रीय क्रान्तिकारियो से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया था। यह एक अनोखी बात हुई कि श्री अरविन्द के नाना ऋषि राजनारायण बोस जैसे धार्मिक वयोवृद्ध सज्जन इस आन्दोलन से प्रभावित हो उठे। नवयुवक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी क्रान्तिकारी दल की शपथ ग्रहण की। योगेन मुखर्जी और चारुचन्द्र दत्त जैसे ऊँचे दर्जे के मजिस्ट्रेट और आई० सी० एस० अफसरों ने इस कार्य में सहयोग प्रदान किया। सिस्टर निवेदिता, जो स्वयं अँग्रेज थी, भारतवासियों से सहानुभूति रखने के कारण इस आन्दोलन में सहायता पहुँचाने लगीं। बड़ौदा के एक सरदार श्री केशवराव जाधव के भतीजे श्री माधवराव को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने तथा बम और रिवाल्वर का ठीक प्रयोग सीखने के लिये इंग्लैण्ड भेजा गया। श्री अरविन्द ने इसके लिये कुछ आर्थिक सहायता भी दी थी। इस प्रकार उन्होंने भारतवर्ष को पराधीनता के बन्धनों से छुड़ाने वाले आन्दोलन को अग्रसर बनाकर मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया। उस समय वे भारतीय क्रान्तिकारियों के एक प्रमुख संचालक थे। पर जब वे खुले तौर पर राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने लगे तो आतंकवादी दल से उनका संबंध बहुत कम हो गया।

राजनीतिक संघर्ष का युग

जब सन् १९०५ का जमाना आया और लार्ड कर्जन ने बङ्गाल को दो टुकड़ों में बाँट दिया तो देश में एक भयंकर राजनीतिक तूफान उत्पन्न हो गये। इसके फल से भारत के कोने-कोने से एक जोरदार आन्दोलन छिड़ गया, जिसका केन्द्र बङ्गाल था। लोगों ने विदेशी माल का बहिष्कार करके विलायत कपड़ों की होली जलाई। हजारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल कालेज छोड़कर स्वदेशी प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया।

उस समय भी देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था कांग्रेस ही थी। पर उसमें नरम दल वालों की प्रधानता थी, जो सरकार से प्रार्थना करने के सिवाय किसी सीधी कार्यवाही के लिये उद्यत नहीं थे। इधर लोकमान्य तिलक, ला० लाजपत राय, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि गर्म दल के नेता सरकार के सामने स्वराज्य की माँग को बलपूर्वक रखने के पक्ष में थे। श्री अरविन्द भी इसी दल में थे, पर बड़ौदा में सरकारी नौकरी के कारण अभी इस आन्दोलन में अप्रत्यक्ष रूप से ही भाग ले रहे थे- खुलकर मैदान में नहीं कूदे थे। जब आन्दोलन बढ़ने लगा और लो० तिलक से उनका सम्बन्ध स्थापित हो गया तो उन्होंने एक वर्ष की छुट्टी लेकर बड़ौदा कालेज से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इसके पश्चात् उन्होंने कलकत्ते के नवस्थापित 'नेशनल कालेज' में नाम मात्र के लिये १५० रुपये वेतन लेकर विद्यार्थियों को अँग्रेजी भाषा की शिक्षा देने का भार अपने ऊपर ले लिया।

राजनीतिक आन्दोलन की सफलता और देशवासियों तक स्वाधीनता का सन्देश पहुँचाने के लिये, वन्देमातरम्

नाम का एक दैनिक पत्र निकाला गया, जिसका आर्थिक और सम्पादकीय भार श्री अरविन्द के ही ऊपर था। इनके तेजस्वी और युवकों को आकर्षित करने वाले लेखों से सरकार डर गई और ऐसा अवसर ढूँढने लगी जिससे इनको हटाया जा सके। शीघ्र ही इन पर दो मुकदमे चलाये गये जो युगान्तर और वन्देमातरम् में प्रकाशित लेखों के संबंध में थे। युगान्तर के लेख को तो श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त से, जो स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई थे, अपना लिखा बतलाया, जिससे उनको सजा हो गई। वन्देमातरम् वाले अभियोग में सरकार यह सिद्ध नहीं कर सकी कि ये लेख श्री अरविन्द के लिखे हैं, इसलिये मजिस्ट्रेट ने उनको बरी कर दिया।

इस मुकदमे के कारण 'वन्देमातरम्' और श्री अरविन्द का नाम देश भर में फैल गया और लोग उनको पूज्य-भाव से देखने लगे। उधर सरकार को भी अपनी हार में कुछ अनुभव हो गया। इनके लेख वास्तव में ऐसे उग्र भावों से युक्त होते थे कि उनको घृणा फैलाने वाला या हिंसा के लिये उत्तेजना देने वाला सिद्ध नहीं किया जा सकता था। उनके लेखों का वातावरण आध्यात्मिक रहता था और वे कर्तव्यपालन के रूप में भारतमाता की वेदी पर सर्वस्व न्यौछावर कर देने का उपदेश देते थे। वे कहते थे कि विदेशी हुकूमत अच्छी हो तो भी अपने शासन स्वराज्य की समता नहीं कर सकती। इन लेखों को पढ़कर अँग्रेजों के प्रमुख पत्र 'स्टेटमैन' ने लिखा था–'वन्देमातरम' में प्रकाशित लेख यद्यपि राजद्रोह से भरे रहते हैं, पर उनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। उसके लेख की चतुरता और अँग्रेजी भाषा के प्रयोग का कौशल वास्तव में प्रशंसनीय है।

इसी समय सूरत काँग्रेस की तैयारी होने लगी। पिछले काशी और कलकत्ता के अधिवेशनों में देश के कुछ वयोवृद्ध नेताओं ने अल्प और नरम दल वालों को समझा-बुझाकर काँग्रेस में सम्मिलित कर रखा था, पर अब सरकारी दमन के कारण देश मे बड़ी उत्तेजना फैल गई थी। इससे लोग काँग्रेस के ध्येय को बदल कर नई परिस्थिति के अनुकूल बनाने पर जोर दे रहे थे। पर नरम दल वाले इसके विरोधी थे और काँग्रेस को पुराने ढर्रे पर ही चलाना चाहते थे। इस पर दोनों पक्षों मे सङ्घर्ष हो गया। जूते-लात तक की नौबत आकर अधिवेशन भंग हो गया। श्री अरविन्द इस अवसर पर गरम दल के मुखिया और लो० तिलक के प्रधान सहयोगी थे। उनकी अध्यक्षता में गरम दल वालों की एक विशाल सभा पृथक हो गई। जिसमें हजारों व्यक्तियों ने अपना सर्वस्व देश पर बलिदान करने की प्रतिज्ञा की।

गिरफ्तारी और कारागारवास

अब श्री अरविन्द स्वतंत्रता के सन्देश का नगर-नगर में प्रचार करने लगे। कलकत्ता वापस आने पर उनका बहुत धूमधाम से स्वागत किया गया। इन दिनों भाषण देते समय वे आँखें बन्द करके सोच-विचार करना छोड़ देते थे और जो कुछ आवाज स्वभावतः आत्मा में से निकलती थी उसी को श्रोताओं के सामने प्रकट कर देते थे। ये भावनायें ऐसी होती थीं जैसे 'डायनमो' चलने से विद्युत-धारा की उत्पत्ति होती है। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध जाते थे और उन पर सनसनी भरा प्रभाव पड़ता था। उनको ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी राजनैतिक नेता का नहीं वरन् किसी प्राचीन ऋषि या देवदूत का उपदेश सुन रहे हैं।

देश में चारों ओर उत्तेजना के वातावरण की वृद्धि और जनता में राजद्रोही भावों का प्रसार होते देखकर सरकार ने जबर्दस्त दमन करके इस आन्दोलन को कुचल डालने का निश्चय कर लिया। 'वन्देमातरम्' कहने पर अनेक बालक पीटे जाने लगे, स्वदेशी वस्त्र धारण करने वालों को चाहे जब अपमानित किया जाने लगा। ऐसी घटनाओं से आतङ्कवादी नवयुवकों को जोश आ गया और उन्होंने एक अँग्रेज जज की गाड़ी पर बम फेंक दिया। फटने में कुछ भूल हो गई जिससे जज के बजाय दो अन्य व्यक्ति मारे गये। इस घटना से देश भर में तहलका मच गया और पुलिस राजनीतिक कार्यकर्ताओं के पीछे पड़ गई। वारीन्द्र का बम का कारखाना पकड़ा गया और उससे किसी प्रकार का संबंध न होते हुए भी श्री अरविन्द को भी गिरफ्तार करके रस्सी से बाँध कर हवालात में पहुँचा दिया गया। उनके साथ इस तरह का अपमानजनक व्यवहार करने का विरोध प्रदेश के अधिकांश गणमान्य व्यक्तियों ने किया और सरकार की निन्दा की।

यह मुकद्दमा पूरे एक वर्ष तक चलता रहा। श्री अरविन्द जैसे विश्वविख्यात विद्वान् और आध्यात्मिक व्यक्ति के इसमे अभियुक्त होने से उसका महत्व और भी बढ़ गया। सरकार की तरफ से इस बात की बेहद कोशिश की गई कि उनको दोषी सिद्ध करके सजा दे दी जाय। इसलिये सरकारी बैरिस्टर नार्टन ने अदालत में श्री अरविन्द के विरुद्ध बहुत-सा दोषारोपण किया, पर वे स्वयं इस विषय में बिल्कुल उदासीन रहे। उन्होंने आन्तरिक प्रेरणा से इसका पूरा-पूरा भार एक नवयुवक वकील चितरंजनदास– जो बाद में सी० आर० दास के नाम से देश के एक महान नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए, के ऊपर छोड़ दिया था और स्वयं अपना अधिकांश समय योग-साधना में लगाते रहे।

अन्त में मुकदमे की कार्यवाही समाप्त हुई और श्री अरविन्द की तरफ से श्री चितरंजन ने जज को सम्बोधन करते हुए अपनी बहस के अन्त में कहा- "आपसे मेरी अपील है कि एक लम्बे समय के बाद जब यह विवाद शान्त हो जायेगा और यह कष्टकर परिश्रम और आन्दोलन बन्द हो जायगा तथा अभियुक्त की जीवन-लीला भी समाप्त हो जायगी तब इनकी पूजा एक देशभक्त कवि के रूप में होगी । इनकी सम्मान एक राष्ट्रदूत और मानवता के प्रेमी के रूप में होगा और जब इनका अवसान हुए बहुत दिन हो जायेंगे, तब इनके शब्द न केवल भारत मे ध्वनित होंगे बल्कि दूर के देशों और समुद्र पार तक गूंजते रहेंगे । इसलिये मेरा निवेदन है कि आज ऐसे ऊँचे दर्जे का व्यक्ति न सिर्फ अदालत के सामने, बल्कि इतिहास के सर्वोच्च न्यायालय के सामने खड़ा है, इस तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर न्यायाधीश को सच्चा न्याय करना चाहिये ।" कहना न होगा इन शब्दों का प्रभाव जज की अन्तरात्मा पर हुआ । 'अफसरों' ने श्री अरविन्द को 'बेकसूर' बतलाया और उनको मुक्त कर दिया । शेष ३४ अभियुक्तों को आजन्म कालेपानी से लेकर लम्बी कैद की सजायें दी गईं ।

राजनीति का त्याग और अध्यात्म का प्रचार

अभियोग समाप्त होने पर जब श्री अरविन्द जेल से बाहर आये तो उन्होंने देखा कि देश की दशा बिल्कुल बदल गई है । सरकार ने भारी दमन-चक्र चलाकर बोलने, लिखने, प्रचार करने पर रोक लगा दी थी और सभी मुख्य नेताओं को जेल में बन्द कर दिया था । 'वन्देमातरम्' का प्रकाशन भी बन्द हो गया था । इसलिये उन्होंने अपने विचारो के प्रकाशन के लिये अँग्रेजी में 'कर्मयोगिन' और बंगला में 'धर्म' नामक साप्ताहिक-पत्र प्रकाशित करने आरम्भ किये । इन पत्रो में वे राजनीति तथा अध्यात्म का समन्वय करके बहुत ऊँचे रूप में प्रकट करते थे । उन्होंने लिखा- "कर्मयोग और धर्म ही मानय जीवन का सार है, वही सच्ची राजनीति है और वही गीता का उपदेश है ।" यद्यपि देश की अवस्था और आवश्यकता को समझ कर उनको राजनीति पर विचार करना पड़ता था, पर वे छोटे-बड़े -सभी विषयों मे आध्यात्मिकता का ध्यान रखना आवश्यक समझते थे । यह धर्म और अध्यात्म से शून्य राजनीति को मानवता के लिये अकल्याणकारी मानते थे, क्योंकि उसका अन्तिम परिणाम कलह, संघर्ष और शत्रुता में ही निकलता है ।

शिक्षा में भी वे अध्यात्म का प्रवेश अनिवार्य मानते थे । उन्होंने योरोप की ऊँची से ऊँची शिक्षा को प्राप्त करके देख लिया था उसकी नींव भौतिकता पर रखी है, इसलिये सांसारिक दृष्टि से वैभव और चमक-दमक प्राप्त कर लेने पर भी उसमें शाश्वत कल्याण और शान्ति प्रदान करने की शक्ति नहीं है । उसके कारण संसार में स्वार्थयुक्त संघर्ष की सृष्टि होती है और मनुष्य ऊँचे धरातल पर पहुँचने के बजाय साधारण श्रेणी की सफलताओं में ही लिप्त रहता है । इसके विपरीत भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य ब्रह्मचर्य और योग द्वारा आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करना बताया गया था । इसी के प्रभाव से उस समय भारतवर्ष इतनी उच्च पदवी को पहुँच गया था कि कोई अन्य देश उसकी समता नहीं कर सकता था । श्री अरविन्द ने भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली को उसी ओर मोड़ने की सलाह दी । उन्होंने प्राचीन भावनाओं को आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल रूप में परिवर्तित करके कार्यान्वित करने पर जोर दिया ।

श्री अरविन्द का विश्वास था कि अन्तरात्मा की सत्ता सर्वव्यापी है और जड़-जगत् के पदार्थ भी उससे पृथक नहीं है । इसलिये वे यह नहीं कहते थे कि प्राचीन काल की तरह कुश के आसन पर बैठकर पढ़ना ही धर्मानुकूल है और कुर्सी-मेज पर बैठकर पढ़ना-लिखना अधोगति का कारण है । उनके मतानुसार आत्म-शक्ति ही सर्वप्रधान है और वही प्रत्येक पदार्थ को भले या बुरे रूप में अनुप्राणित कर सकती है । उन्होंने 'कर्मयोगिन' में लिखा था- "केवल अन्तरात्मा ही हमें बचा सकती है । हम अपने हृदय को महान और स्वतंत्र बनाकर ही सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से बड़े और स्वाधीन बन सकते हैं । जब भारत अपनी खोई हुई जातीयता प्राप्त कर लेगा तो यह संसार में- मानव परिवार में अधिक पूर्ण और विशाल जीवन का अधिकारी बन सकेगा ।"

आत्मा की पुकार

पर इन सब कार्यो को करते और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते हुए भी उनकी अन्तरात्मा उनको एकान्तवास में रहकर आध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरित कर रही थी । कलकत्ता में रहकर उनको बहुत-सा समय राजनीतिक उलझनों के समाधान में लगाना पड़ता था और अनेक समय नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने से व्यस्तता पूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता था । उससे उच्च आध्यात्मिक साधना में व्याघात पड़ता था और लक्ष्य-प्राप्ति में विलम्ब होता था । अन्त मे उन्होंने यही निश्चय किया कि राजनीतिक आन्दोलन से सम्पर्क त्याग कर किसी ऐसे स्थान में जाकर निवास करें जो साधना के लिये विशेष रूप से अनुकूल हो । यह निश्चय करके उन्होंने देशवासियों के नाम एक खुली चिट्ठी प्रकाशित

कराई जिसे वे अपना 'अन्तिम राजनीतिक मृत्यु-लेख अथवा वसीयत नामा' कहते थे। इसमें उन्होंने अपने हटने का संकेत करते हुए अनुयाइयों को आश्वासन दिया कि "हर बड़े आन्दोलन को इस बात की बाट देखनी पड़ती है कि भगवान् उसके लिये विशेष रूप से उपयुक्त नेता को भेजें। यह नेता भगवान् की शक्ति का माध्यम बन जाता है। तब वह आन्दोलन विजयोल्लास के साथ सफलता की ओर बढ़ता है।" श्री अरविन्द का आशय यही था कि "यद्यपि वे इन दिनों परिस्थितिवश आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं, पर वास्तव में उनका क्षेत्र दूसरा है। वे पहले स्वयं उस योग-मार्ग की खोज करेंगे जो मानव को महा मानव (सुपरमैन) बना सकता है और फिर अपने अन्य देशवासियों को भी उसी पर चलने में सहायता करेंगे। राजनीतिक आन्दोलन की सफलता के लिये भगवान् किसी दूसरे ही नेता को भेजेगा।"

इस प्रकार अपने एकान्तवास के इरादे को सार्वजनिक रूप से प्रकट करके पहले तो वे चन्द्रनगर चले गये और बाद में पाण्डिचेरी जाकर साधना करने लगे। इस स्थान को चुनने का कारण यह था कि यह फ्रौंसीसियों के शासन में था और यहाँ वे अंग्रेजी सरकार और पुलिस की निरन्तर छेड़खानी से निश्चिंत रहकर आध्यात्मिक साधना में संलग्न हो सकते थे।

इस संबंध में बाद में कुछ अँग्रेज अफसरों ने अपनी तुच्छ मनोवृत्ति का परिचय देते हुए यह आरोप लगाया कि श्री अरविन्द गिरफ्तारी के डर से भारत की सीमा के बाहर भाग गये। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने 'मद्रास टाइम्स' नामक पत्र में लिखा कि वे उच्च योग की साधना के लिये पाण्डिचेरी में आकर रहने लगे हैं और जिस वारंट के कारण 'भागने' की बात कही जाती है, वह उनके पाण्डिचेरी पहुँचने के बाद निकाला गया है। इसके अतिरिक्त यह वारंट कुछ दिनों बाद खुद ही खारिज हो गया। जिस "खुली चिट्ठी" के आधार पर यह निकाला गया था, उसके मुद्रक को गिरफ्तार करके सरकार ने मुकदमा चलाया था। नीचे की अदालत में तो उसे कुछ सजा दे दी गई, पर हाईकोर्ट में अपील करने पर उसे बरी कर दिया गया और जजों ने कहा कि श्री अरविन्द की खुली चिट्ठी मे राजद्रोह की कोई बात नहीं है।

पाण्डिचेरी में आरम्भिक जीवन

पाण्डिचेरी पहुँचने पर भी अरविन्द पूर्णतः प्रकट रूप से नहीं रहते थे, केवल उनके कुछ घनिष्ठ परिचितों को ही उनकी जानकारी थी। वहाँ के भारतीय राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने उनसे अनुरोध किया कि उनके कार्य में सहयोग करें। परन्तु अब वे योग साधना में तल्लीन हो चुके थे इसलिये इस विषय में उन्होंने सब मित्रों से क्षमा माँग ली। आरम्भ में उनको शङ्कर चेट्टी के घर पर ठहराया गया, जहाँ पहले स्वामी विवेकानन्द भी ठहर चुके थे। यहाँ श्री अरविन्द का जीवन अत्यन्त सादा था। वे और उनके तीन साथी फर्श पर ही सोते थे और गृह स्वामी के यहाँ जो चावल, शाक और मद्रासी 'रसम्' बनता था, उसी को नियमित रूप से खाते थे। चूँकि गृहस्वामी शाकाहारी था, इसलिये बंगालियों का नियमित भोजन मछली उन्होंने त्याग दिया था। वे अपना सब काम अपने हाथ से ही करते थे। सन् १६१४ में जब आर्य का प्रकाशन हुआ, तब एक नौकर रखा गया।

मीरा रिचार्ड का आगमन

इसी वर्ष फ्रांस के विद्वान् दार्शनिक पाल रिचार्ड पाण्डिचेरी आकर इनसे मिले। इस भेंट से उनको यह अनुभव हुआ कि श्री अरविन्द उनके बड़े भाई के समान हैं और उनका ज्ञान भंडार बहुत विशाल है। पाल रिचार्ड की पत्नी छोटी उम्र से ही योग-साधना करती थी। उसने अपने पति द्वारा अरविन्द से योग सम्बन्धी प्रश्न पूछे थे और एक बात यह भी जाननी चाही थी कि स्वप्न में कमल के दर्शन का क्या विशेष अर्थ होता है। श्री अरविन्द ने बतलाया कि कमल के स्वप्न का आशय अन्तर्चेतना के जागरण से है और जब साधक का मन सूक्ष्म स्तर में पहुँच जाता है प्रायः तब यह दिखलाई दिया करता है।

इसके कुछ ही समय बाद मीरा रिचार्ड स्वयं पाण्डिचेरी आकर श्री अरविन्द से मिली। दूसरे दिन इस भेंट का वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी डायरी में लिखा- "जिसके दर्शन हमने कल किये, वह धरातल पर विराजमान है और उसकी उपस्थिति इस बात को साबित करने को काफी है कि एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जबकि अन्धकार प्रकाश के रूप में बदल जायेगा और पृथ्वी पर सचमुच भगवान् का राज्य स्थापित हो जायगा।" यहाँ यह कर देना अप्रासंगिक न होगा कि इसके कुछ ही समय बाद मीरा रिचार्ड श्री अरविन्द की साधना में प्रधान सहायिका हो गई और आज तक वे 'माताजी' के नाम से 'अरविन्द-आश्रम' का संचालन कर रही हैं।

सन् १६१४ में ही एक विशेष घटना कोडयारम् (मद्रास) के जमींदार श्री के० पी० रङ्गस्वामी का श्री अरविन्द का शिष्य बन जाना भी थी। उनके कुलगुरु योगी नगाई जाप्ता ने कुछ समय पूर्व अध्यात्मविद्या के आधार पर यह बताया था कि 'उत्तर भारत से एक महायोगी आयेगा, रङ्गस्वामी उसी से साधना सम्बन्धी उपदेश ग्रहण करें।" जब गुरुजी

को मृत्युकाल समीप आ गया तो रङ्गस्वामी ने उनसे पूछा कि "आखिर उस योगी की पहिचान क्या होगी ?" गुरु ने बतलाया कि "वे कुछ कठिनाइयों से बचने के लिये यहाँ आयेंगे और उनकी तीन विशेषतायें पहले से ही प्रचलित हो चुकेंगी ।" ये बातें श्री अरविन्द पर लागू होती थीं, इसलिये रंगस्वामी उनकी शरण में आये । श्री अरविन्द ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके उनको साधना-मार्ग बतलाया । उसी समय 'योग-साधन' नाम की एक पुस्तक भी परलोक-विज्ञान की सहायता से लिखाई गई । रङ्गस्वामी ने इस पुस्तक को अपने व्यय से प्रकाशित करके प्रचारित किया ।

राजनीति से पृथकता

यद्यपि पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द पूर्णरूप से योग साधना में संलग्न थे और कभी घर के बाहर भी नहीं निकलते थे, तो भी अँग्रेजी सरकार के एजेन्ट उनको फँसाने के लिये षडयन्त्र रचते ही रहते थे । ऐसे ही किसी व्यक्ति ने पाण्डिचेरी की पुलिस को सूचना दी कि दो क्रान्तिकारी श्री अरविन्द की सहायता से आपत्तिजनक साहित्य तैयार कर रहे हैं और इनका संबंध भारत से भागकर फ्रांस में टिके हुए श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा तथा मैडम कामा आदि क्रांतिकारी नेताओं से है । इस पर एक फ्रांसीसी पुलिस अफसर ने आकर श्री अरविन्द के आश्रम की तलाशी ली । उसे वहाँ कोई आपत्तिजनक सामग्री तो नहीं मिली पर ग्रीक और लैटिन भाषाओं में लिखी कई पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ देखने में आईं । इससे वह इतना प्रभावित हुआ कि इनका मित्र बन गया ।

अँग्रेजी पुलिस की दूसरी कार्यवाही यह थी कि उसने वीरेन्द्र रायनामक बंगाली जासूस को इनके आश्रम में नौकर करा दिया ।कई महीने के बाद कुछ संदेह होने पर उसने स्वीकार किया कि वह भारतीय पुलिस का आदमी है । इसके बाद वह छिपकर वहाँ से भाग गया, पर उसने गम्भीरता पूर्वक यह घोषणा भी की, कि श्री अरविन्द या उनके किसी साथी के विरुद्ध उसने कोई रिपोर्ट नहीं की है ।

श्री अरविन्द के छोटे भाई श्री वारीन्द्र को बम-केस में आजन्म काले पानी की सजा दी गई थी, पर राजनैतिक कैदियों को विशेष क्षमा-दान की सरकारी घोषणा के अनुसार वे १९२० में छोड़ दिये गये । वे पाण्डिचेरी आकर इनसे मिले और फिर इनकी प्रेरणा से कलकत्ता मे एक आध्यात्मिक केन्द्र की स्थापना की । इसके अतिरिक्त ला०- लाजपत राय, श्री पुरुषोत्तम टंडन डा० मुँजे, श्रीमती सरला चौधरानी, मि० पियर्सन, जैम्स आदि अन्य राजनीतिक कार्यकर्ता भी उनसे समय-समय पर मिलते रहे ।

अब उनके एकान्तवास का नियम भी कुछ शिथि घला था । शाम के समय प्रायः एकाध स्थानीय राजन मित्र बात करने आ जाया करते थे । कभी-कभी वे भी मित्रों से मिलने चले जाते थे । आरम्भ में इस का भंग उन्होंने तब किया जब वे श्रीनिवासाचार्य के आग्रह करने पर उनकी लड़की की शादी में गये । समय लोगों ने इसे एक बड़ी घटना माना था, क्योंकि आश्रम के भीतर रहने से किसी को सहज में इनके द हो सकना कठिन था । फिर तो कभी-कभी वे पाण्डि के 'मेयर' (नगरपालिका के अध्यक्ष) से भी मिलने चले थे । उन्होंने एक 'आर्य स्टोर्स' भी खोल दिया था जिस आर्थिक भार पाल रिचार्ड पर था । इस प्रकार उन आर्थिक दशा आरम्भिक दिनों की अपेक्षा कुछ सुधर पर फिर भी पाँच-छः वर्ष तक उसमें ऐसा कोई वि परिवर्तन नहीं हुआ जिससे वे आराम के साथ रह सव थे । अधिक किराया न दे सकने के कारण उनको निरन्त ऐसे ही मकान में ही रहना पड़ा जिसमें पृथक स्नान घर नहीं था और सब लोगों को खुले स्थान में नल के नी बैठकर ही स्नान करना पड़ता था ।

अरविन्द-आश्रम का विकास

सन् १९१५ में योरोपीय महायुद्ध में भाग लेने के लि श्री पाल रिचार्ड को फ्रांस जाना पड़ा । उनकी पत्नी मीर भी उनके साथ गईं । युद्ध समाप्त होने पर जब उनको छुटकारा मिला तो १९२० में वे पुनः पाण्डिचेरी आ गये । अब मीरा रिचार्ड ने अरविन्द आश्रम की व्यवस्था अपने हाथ में ले ली जिससे कुछ समय में वहाँ की कायापलट होने लग गई । उनके लिए स्नानघर की व्यवस्था ऊपर की मंजिल में कर दी गई और खाने-पीने में भी काफी सुधार हो गया । अब उनके पास आने वाले दर्शकों की संख्या अधिक हो गई और कार्यशीलता में भी पूर्वापेक्षा बहुत वृद्धि हो गई ।

अब आश्रम में कितने ही लोग साधना के लिये आने लगे और आसपास मकान लेकर रहने लगे । इस प्रकार जब आगन्तुकों की संख्या बढ़ने लगी तो भोजन की समस्या उत्पन्न होने लगी । सब लोगों को उनके स्वाद के अनुकूल भोजन दिया जा सकना कठिन था । इस संबंध में श्री अरविन्द ने एक दिन एक साधक से कहा-- "किसी को खास तरह और विशेष स्वाद के लिये आग्रह नहीं करना चाहिये। ऐसी आदत में कोई लाभ नहीं होता । घटिया खाना शरीर को खराब कर देता है इसलिये भोजन उत्तम तो होना चाहिये, पर उत्तम भोजन का मतलब यही है कि

उससे शरीर को ठीक पोषण प्राप्त हो सके न केवल उसका स्वाद बढ़िया हो ।"

'आर्य' का प्रकाशन और अन्य रचनायें

श्री अरविन्द ने जो 'आर्य' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया था, उसमें उच्च श्रेणी के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक लेख प्रकाशित हुआ करते थे । उसके जो दो उद्देश्य प्रथम अङ्क में प्रकाशित किये गये थे, वे इस प्रकार थे--

(१) अस्तित्व की उच्चतम् समस्याओं का विधिवत् अध्ययन ।

(२) ज्ञान के विशाल समन्वय की रचना । पूर्व और पश्चिम की मानवता युक्त सभी धार्मिक परम्पराओं का मेल । इस कार्य को बौद्धिक और वैज्ञानिक अनुशासन के साथ पूरा किया जायगा ।

इसमें प्रथम पाँच-छः वर्षों में जो लेख प्रकाशित हुए थे उनमें से कुछ विशेष महत्व के ये थे-- 'गीता निबन्धावली'-दैवी जीवन, 'योग समन्वय', 'वेद रहस्य', 'मानव एकता का आदर्श', 'भारतीय संस्कृति के पक्ष में', 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान ।' इनमें से कई रचनायें संशोधित होकर पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुकी हैं । कुछ लेख तो ऐसे हैं जो सार्वभौम दृष्टि से स्थायी निधि हैं ।

इन लेखों और अपनी अन्य रचनाओं में श्री अरविन्द ने जो विचार प्रकट किए हैं वे एक प्रकार से भविष्य के स्वप्न थे और उनको अन्तरङ्ग भावनाओं से ही उत्पन्न हुए थे । पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि जहाँ अन्य लोगों के स्वप्न प्रायः स्वप्न ही रह जाते हैं, उन्होंने अपने स्वप्नों को काफी दूर तक सत्य सिद्ध कर दिखाया और उनकी पूर्ति में काफी परिश्रम भी किया । सन् १६४७ को १५ अगस्त को जब भारत स्वतंत्र हो गया तो उन्होंने अपने बयान में कहा था--

"आज के दिन मैं लगभग समस्त संसार के उन आन्दोलनों को देख रहा हूँ, जिन्हें मैं अपने जीवन काल में फलीभूत देखने की आशा करता था । यद्यपि, उस समय वे ऐसे थे की उनकी सफलता एक स्वप्न सी जान पड़ती थी, पर अब वे सफल होने के निकट पहुँच चुके हैं या सफलता के मार्ग पर हैं । भारतवर्ष की स्वाधीनता के पश्चात् मेरा दूसरा स्वप्न था, एशियावासियों के पुनरुत्थान और मुक्ति का, जिससे वह मानव-सभ्यता की प्रगति मे अपना महान योग दे सकें । तीसरा स्वप्न था समस्त संसार का एक संघ स्थापित होने का, जिसका बाह्य आधार मानव-मात्र का उत्तम, समुज्ज्वल और शिष्य जीवन हो ।" ये सभी बातें निकट आती जा रही हैं और कम या ज्यादा अंशों में उनकी संभावना बढ़ती जा रही है ।

इसके पश्चात् वर्तमान परिस्थिति पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने भविष्य की जो रूपरेखा खींची वह बहुत महत्वपूर्ण और विश्व-संचालक शक्तियों के संबंध में उनकी जानकारी की परिचायक है । उन्होंने कहा-- "जो कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं, उनके मार्ग में आपत्तियाँ आ सकती हैं, वे उन यत्नों को नष्ट कर सकती हैं, फिर भी अंतिम परिणाम निश्चित हैं । कारण यह है कि 'एकीकरण' प्रकृति की आवश्यकता है, यही उसकी अनिवार्य गति है । समस्त देशों के लिये स्पष्ट रूप से यही नियम आवश्यक है । जब तक ऐसा 'एकीकरण' न होगा छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता किसी भी समय खतरे में पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रों का जीवन भी अरक्षित हो सकता है । ऐसी दशा में 'एकीकरण' में सभी का हित है और केवल मानव की जड़ता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थ भाव ही उसमें बाधक बन सकता है । पर प्रकृति की आवश्यकता और दैवी इच्छा के आगे ये चीजें सदैव टिकी नहीं रह सकतीं । तो भी इसकी प्राप्ति के लिये केवल बाहरी आधार ही काफी नहीं है । इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण और सद्भाव की भी आवश्यकता है । ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन और संस्थाओं का निर्माण होना आवश्यक है, जिनसे संसार के सभी भागों में बसने वाले आपस में सब प्रकार का आदान-प्रदान कर सकें । इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों की राष्ट्रीयता की भावना सर्वथा जाती रहेगी, पर वह क्रमशः विशुद्ध रूप में पहुँच जायगी और उसकी युद्ध-प्रियता नष्ट हो जायगी । इससे मानव-जाति में एकता की एक नई भावना जागृत हो जायगी ।

"एक और स्वप्न है, संसार को भारत की तरफ से आध्यात्मिकता का उपहार, जिसका श्री गणेश हो चुका है । भारत की आध्यात्मिकता योरोप और एशिया में पर्याप्त परिमाण में प्रवेश पा चुकी है । यह आन्दोलन बढ़ता ही जायगा । युग-सङ्कटों के साथी-संसार की अधिकाधिक आँखें उसकी ओर आशा से देख रही हैं और बहुसंख्यक लोग उसका क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने को आ रहे हैं ।

"अंतिम स्वप्न है विकास की ओर एक नया कदम, जिससे मनुष्य वर्तमान की अपेक्षा उच्च और विशाल चेतना की ओर अग्रसर हो सके । वह उन समस्याओं को हल कर सके, जिनको हल करने में आज तक परेशानी और किंकर्तव्यविमूढ़ता अनुभव कर रहा है । यह एक ऐसा आदर्श है जिसका प्रभाव भारत और पश्चिम के प्रगतिशील

मस्तिष्कों पर पड़ने लगा है । इस कार्य में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ हैं, पर वे दूर की जा सकती हैं, और जगन्नियंता की इच्छा हुई तो शीघ्र ही उनका अन्त हो जायगा । इस कार्य का आरम्भ आत्मा और अन्तर्चेतना की शक्ति द्वारा इसी देश में हो सकता है । यद्यपि इसका लक्ष्य सार्वभौम होगा, पर इसका केन्द्र भारत में ही रह सकता है ।''

बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद

श्री अरविन्द की साधना जैसे-जैसे बढ़ती गई बाह्य संसार से उनका सम्बन्ध कम होता गया । अन्त में उनकी सिद्धि का दिन आ पहुँचा । उस २४ नवम्बर १६२६ को उन्होंने संसार से पूर्णतः संबंध विच्छेद करके एकान्त जीवन बिताने का निश्चय कर लिया । इसके पश्चात् अपने शिष्यों और साधकों से जो मार्ग-दर्शन का संबंध रखा, वह भी 'माताजी' के द्वारा होने लगा । इस बीच में उनके अनुयायिओं और शिष्यों की संख्या पर्याप्त हो चुकी थी और 'आश्रम' का स्वरूप और व्यवस्था भली प्रकार जम गई थी । इस कार्य को पहले भी 'माताजी' ही करती थीं और श्री अरविन्द के नीरव साधना में तल्लीन हो जाने के पश्चात् तो एकमात्र वे ही सबका संचालन करने लगीं और अब तक कर रही हैं ।

इस प्रकार नवम्बर १६२६ से जीवन के अन्तिम दिन (५ दिसम्बर, १६५०) तक वे एकान्तवास करके एक ऐसी साधना में निमग्न रहे जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक भाव सम्पन्न लोगों को साक्षात्कार के मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायता पहुँचाना था । भारत तथा अन्य देशों के उद्धार के लिये जो आन्दोलन चल रहे थे उनमें भी वे सङ्कल्प-शक्ति द्वारा सहयोग देते रहे । इस प्रकार एकान्त और अज्ञात स्थिति में रहते हुए भी वे संसार के सभी महत्वपूर्ण कार्यक्रमों और योजनाओं में महत्वपूर्ण प्रेरणा और शक्ति प्रदान करते थे । दैवी-शक्तियों की कार्य-प्रणाली प्रायः यही होती है । बहुत थोड़े दैवी महामानवों ने प्रकट रूप से कार्य किया है । श्री अरविन्द ने बहुत पहले ही कह दिया था कि उनकी साधना का उद्देश्य अपनी मुक्ति प्राप्त करना नहीं है वरन् वे बन्धनों में पड़े व्यक्तियों और समाजों के लिये एक ऐसा नवीन और सुनिश्चित मार्ग प्रस्तुत कर देना चाहते हैं जिस पर चलकर वे अपने उस लक्ष्य तक पहुँच सकें ।

मानवता को आध्यात्मिक दान

आरम्भिक जीवन में श्री अरविन्द एक बहुत ऊँचे दर्जे के विद्वान तथा साहित्यिक के रूप में प्रसिद्ध हुए थे । उन्होंने साहित्यिक विषयों पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले थे । उन्होंने 'सावित्री' नाम का एक महाकाव्य भी अँग्रेजी में लिखा है, जिसकी तुलना कुछ लोग महाकवि मिल्टन की रचनाओं से करते हैं । वैसे तो यह एक पौराणिक कथा ही है, पर इसको पढ़ते समय पाठक इस दृश्य जगत् से बहुत ऊपर एक अज्ञात लोक में पहुँच जाता है । उसके सम्मुख सृष्टि के मूल रहस्य प्रगट होने लगते हैं और वह विश्व-चेतना के उस सर्वोच्च शिखर तक पहुँच जाता है, जिसका अनुसंधान अभी किसी ने नहीं किया ।

वेदों, उपनिषदों और गीता की समीक्षा में श्री अरविन्द ने जो पुस्तकें और लेखमालायें लिखी हैं, उनसे भारतवर्ष के इस महान् साहित्यिक की महत्ता पर एक अभिनव प्रकाश पड़ता है । जैसा हम पहले बता चुके हैं उन्होंने वेदों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया था और उनके गूढ़ार्थ को हृदयङ्गम करके वास्तविक आशय को प्रकट करने का प्रयत्न किया था । इस संबंध में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है-

''वैदिक-युग में भारत अथवा विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान या गूढ़ विद्या की सफलता केवल-समूह तो धीरे-धीरे विकास की मंजिलों को पार करते हुये, जड़वादी सशक्त प्राणी से विचारशील प्राणी बना है । थोड़े से लोग ऐसे हुए हैं जो बन्धनों-बाधाओं को तोड़कर आगे बढ़े और निगूढ़ विद्या तथा ज्ञान के दरवाजे खोलने में सफल हुए और आध्यात्मिक मनोमय पुरुष बन सके ।''

''भारत में ऐसे 'सहज ज्ञान' का प्रभाव पहले आया । बौद्धिक मानस का विकास तो बाद में दर्शन और विज्ञान से हुआ । वैदिक काल के पश्चात् बौद्धिक और तत्वज्ञान का युग आया जिसने आध्यात्मिक तत्वों को अपना आधार बनाया और उन्हें नये ढङ्ग से समझाने की चेष्टा की । पर यह प्रयत्न वैदिक ऋषियों की तरह सहज ज्ञान से अथवा गूढ़ प्रक्रिया से संचालित न था वरन् मानसिक-चिन्तन, कल्पना और तर्क की शक्ति द्वारा प्राप्त किया जाता था । साथ ही योग-क्रियाएँ भी विकसित हुईं जिससे विचारकों के मन में आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग विकसित होते गये ।''

राजनैतिक क्षेत्र में भी श्री अरविन्द की देन बड़ी ठोस और बहुत से लोग जिनको आध्यात्मिकता से प्रेम नहीं है, उनकी प्रतिष्ठा राजनैतिक कार्यों के लिये ही करते हैं । जिस समय उन्होंने राजनीति में हिस्सा लिया उस समय और आजकल की परिस्थिति में जमीन-आसमान का अन्तर है । आज का वातावरण पार्टीबन्दी के कारण जैसा दूषित हो रहा है और जिस प्रकार राजनीति की ओट में लोग गन्दे से गन्दे कामों को भी करने में सङ्कोच नहीं करते वैसी दशा उस

समय न थी। तब राजनीति में हाथ डालना आग से खेलने के समान था, जिसमें अधिक से अधिक त्याग करना और हर तरह के कष्टों को सहन करना अनिवार्य था। उनके लिये भारतभूमि माता और देवी के समान पूजनीय थी और उन्होंने अपना सर्वस्व उसकी वेदी पर उत्सर्ग कर देने की प्रतिज्ञा की थी। इसलिये उनकी राजनीति का आधार 'धर्म' था जिसमें किसी प्रकार का मैल अथवा दूषण नहीं था।

वे सबसे पहले राजनीतिक नेता थे जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में अंग्रेजों से संबंध भंग करके पूर्ण स्वाधीनता की बात कही थी। उन्होंने 'युगान्तर' के लेखों में यह घोषणा की थी कि वे अँग्रेजी अदालतों को न्यायालय नहीं मानते थे और इसलिये हमको उनके सामने अपनी सफाई देने की आवश्यकता नहीं। विदेशियों के पंजे से देश को मुक्त कराने के लिये उन्होंने आतङ्कवाद का ही नहीं छापामार युद्ध का भी समर्थन किया था। उनका मत था कि जब अधिकांश जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो जायगी और यह अँग्रेजी शासन के विरुद्ध कार्य करने को तैयार हो जायगी तो अँग्रेज सब कुछ खोने की अपेक्षा भारतवासियों को स्वराज्य का अधिकार देने को राजी हो जायेंगे।' अन्त मे उनका यह विचार सत्य सिद्ध हुआ और महात्मा गाँधी ने उसी का अवलम्बन करके देश को स्वतंत्रता के द्वार तक पहुँचा दिया।

श्री अरविन्द भारतीय संस्कृति से बड़ा प्रेम रखते थे और उसके समर्थन में उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। विलियम आर्थर नामक अंग्रेज लेखक ने एक बार भारतीय कला और संस्कृति के विरुद्ध बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिख मारी थीं और इस देश को असभ्य तथा बर्बर सिद्ध करने का दुस्साहस किया था। उसने भारत को पलायनवादी, परलोकवादी, क्रियाहीन कहा था और उसके धर्म को अन्धविश्वास का समूह कहकर हँसी उड़ाई थी। श्री अरविन्द ने एक लेखमाला के रूप में विद्वेषपूर्ण आलोचना का बड़ा जोरदार उत्तर दिया। उन्होंने सिद्ध किया कि कम से कम तीन हजार वर्ष से भारत संसार को बहुत कुछ देता और सिखा रहा है और उसने मानव-क्रियाशीलता के हर क्षेत्र में मानवता को अग्रसर करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। आज भी उसकी देन जारी है और संसार के बड़े-बड़े विद्वान् इस तथ्य को कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हैं।

श्री अरविन्द की योग-प्रणाली

श्री अरविन्द ने जिस योग-प्रणाली का प्रचार किया, वह पहले से प्रचलित योग-प्रणालियों से कितनी ही बातों में बिलकुल नवीन थी। उन्होंने कहा कि "वैदिक काल में योग का आशय यह था कि उसकी सहायता से मनुष्य अपने स्वाभाविक जीवन का अधिक विकास कर सके। पर मध्यकाल में उसे केवल गृहत्यागी साधु-संन्यासियों के काम की चीज बना दिया गया।" उनके मतानुसार "हमारा समस्त जीवन' योग ही है, चाहे हम उसे समझकर करें और चाहे बिना समझे। क्योंकि इस शब्द से हमारा तात्पर्य यही होता है कि मनुष्य अपनी सोई हुई शक्तियों को जगा सके और उसकी सहायता से आत्म-परिपूर्णता की ओर अग्रसर हो सके। अगर हम जीवन को उसकी प्रतीतियों के आधार पर देखें तो समस्त जीवन एक विशाल योग ही जान पड़ता है। प्रकृति माता के इस सहज योग और विशेष योग पद्धतियों में अन्तर यही है कि जहाँ प्रकृति इस कार्य को विस्तृत रूप में मन्दगति से कर रही है, इस कार्य में बहुत-सी सामग्री और शक्ति का क्षय भी कर रही है, वहाँ विशिष्ट-प्रणालियों द्वारा वही काम शक्ति को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करके तीव्रता और शीघ्रता से पूरा कर लिया जाता है। इन दोनों मार्गों में से हम किसी का भी अवलम्बन क्यों न करे योग का सच्चा और पूरा उद्देश्य तभी सिद्ध होता है जबकि योग की साधन-विधि और साधक की प्रकृति में तादात्म्य स्थापित हो जाय।

श्री अरविन्द ने अपने 'पूर्ण योग' का विस्तृत विवेचन 'आर्य' मासिक पत्र में किया था, जिसकी लेखमाला छः वर्ष तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित होती रही। इसका शीर्षक था- "सिन्थैसिस आफ योग" (योग-समन्वय) इसमें उन्होंने भारतवर्ष में प्रचलित एकांगी योग-प्रणालियों (जैसे हठयोग, ज्ञानयोग, राजयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, लययोग आदि) को त्यागकर एक ऐसी प्रणाली का प्रतिपादन किया है, जो सम्पूर्ण जीवन की पूर्णता और साधना के उपाय बतलाती है। पर वह शैली 'वैज्ञानिक' होने से अधिक गूढ़ और क्लिष्ट हो गई है। हमने नीचे उसका सारांश यथासंभव सरल रूप मे देने का प्रयत्न किया है--

प्रकृति का निरीक्षण करने से यही जान पड़ता है कि उसका उद्देश्य मानव-चेतना को अधिकाधिक विकसित करना ही है। वर्तमान समय में यह चेतना अपूर्ण है और उस पर ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का प्रभाव ही अधिक है। अहङ्कार के कारण द्वन्द्व-भाव या विरोध की उसमें उत्पत्ति हो जाती है। पर यह स्थिति अन्तिम नहीं है, इसके पश्चात् एक ऐसी स्थिति अवश्य होनी चाहिये जिसमें यह द्वन्द्व और विरोध न हो और एक अनुकूल समन्वय पाया जाय। यह उद्देश्य कोई अपूर्व या अनहोनी बात नहीं है। मनुष्य जाति के इतिहास मे अनेक आध्यात्मिक वीरों ने प्रयत्न करके इस स्थिति को प्राप्त किया है। श्री अरविन्द के विचारों और

प्रणाली में विशेषता यही है कि इस उच्च उद्देश्य को कुछ इने-गिने 'वीरों' के लिये ही नहीं वरन् मनुष्यमात्र के लिये आवश्यक और सम्भव बतलाया है-- ये कहते हैं कि मानव चेतना के भीतर कुछ ऐसे निश्चित संकेत मिलते है, जिनसे प्रगट होता है कि मनुष्य एक दिन 'अति मानवता' की स्थिति को अवश्य प्राप्त कर लेता है । इस 'अतिमानवता' को हम 'देवत्व' की स्थिति भी कह सकते हैं ।

इस प्रकार श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य 'मानव-चेतना के स्वरूप का बदलना है । इस समय यह चेतना अहङ्कारमयी होने से वस्तुओं के बाह्य रूप तक ही सीमित रह जाती है । पर नवीन और परिवर्तित रूप मे यह विश्व-सत्ता के अखण्ड आत्मतत्व को ग्रहण करने वाली होगी । 'मानव-चेतना' को देव चेतना के रूप में परिवर्तित करने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी संपूर्ण शक्तियों का प्रयोग किया जाय, अर्थात् ज्ञान, कर्म और भक्ति, इन तीनों को समन्वय की स्थिति में लाया जाया । इस प्रकार के सर्वाङ्गीण विकास के लिये उद्योग करना ही जीवन का उद्देश्य है । साथ ही यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हर व्यक्ति की ज्ञान, कर्म अथवा भक्ति में से किसी एक में विशेष रुचि होती है । इस रुचि या प्रवृत्ति का पूरा उपयोग करना चाहिये । प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपनी प्रवृत्ति की प्रबलता ही 'विशेष मार्ग' है । इसको लेकर वह अपनी साधना आरम्भ करे और बढ़ावे । परन्तु संपूर्ण चेतना के रूपान्तर के लिये उसे दूसरे अङ्गों को भी विकसित करना होगा । ऐसा न करने से उसकी विशेष प्रवृत्ति में भी अपूर्णता रह जायगी । उदाहरणार्थ किसी भक्त का भक्ति-भाव तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति न कर लेगा ।

अरविन्द का पूर्णयोग और उसका महत्व

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में कुछ शारीरिक क्रियाओं अथवा खान-पान के नियमों का नाम ही 'योग' पड़ गया था । दूसरे शब्दों में योग शारीरिक क्षमता का एक अभ्यास बन गया था, अथवा व्यवहार की एक मर्यादा हो गया था । अरविन्द का योग व्यावहारिक क्रमों की कुछ अंशो में उपयोगिता मानते हुए भी अपना विशेष ध्यान चेतना की गति अथवा वृत्तियों के व्यवहार पर रखता है । दृष्टान्त के लिये अरविन्द इस बात को विशेष महत्व नहीं देते कि रसनेन्द्रिय को जीतने के लिये भोजन का नियंत्रण कुछ बाह्य व्यावहारिक नियमों द्वारा किया जाय । भारतीय साधना-प्रणाली मे उपवास को एक प्रधान साधन के रूप में माना गया है । परन्तु अरविन्द इसके पक्ष मे अधिक नहीं हैं, क्योंकि साधारणतया उपवास करने की अवस्था में मनुष्य भोजन का अधिक चिन्तन करता है अथवा उसके बाद अधिक लालच से खाता है । रसनेन्द्रिय के संबंध में साधना का लक्ष्य होना चाहिये कि मनुष्य आवश्यकता के अनुसार बिना लालच या अरुचि के, हर स्थिति में एक सी प्रसन्नता की भावना से भोजन करे । उसके लिये सदा गभीर चित्त की अभीप्सा (अभिलाषा) होनी चाहिये । उसके लिये कभी उपवास का उपयोग भी किया जा सकता है । परन्तु उपवास का आध्यात्मिकता से कोई निश्चित या अमिट संबंध नहीं है और जबर्दस्ती उपवास रखना तो स्पष्टतः हानिकारक है ।

जबर्दस्ती या बलात्कार का विचार अरविन्द के योग के प्रतिकूल है । अनेक साधक इन्द्रिय-विषयों से घबराकर जो विषय उन्हें ज्यादा तङ्ग करते हैं उससे उल्टा कर्म करना चाहते हैं । जैसे किसी का मन बार-बार स्वादिष्ट पदार्थों के पीछे लगता हो तो वह परेशान होकर अत्यन्त विरोधी कर्म पर उतारू हो जाता है जैसा हम प्रायः अघोरियों आदि के बारे में सुना करते हैं साधारण श्रेणी के साधकों के मामले में ऐसी-चेष्टा वास्तव में सफल नहीं होती । किसी क्लिष्ट वृत्ति या आदत को सुधारने के लिये उसके साथ वैसा ही व्यवहार चाहिये जैसा किसी बिगड़े हुए बालक को सुधारने के लिये किया जाता है । जैसे बिगड़े हुए बालक को सुधारने के लिये यदि ताड़ना की जाती है तो बाद मे उसे समझाया जाता है कि उचित व्यवहार क्यों ज्यादा अच्छा है । हमारा उद्देश्य हमेशा यही रहता है कि अंत के बच्चे को स्वयं यह विश्वास हो जाय कि सभ्य व्यवहार करना ही उसके योग्य है और यही उसकी सामान्य और सहज स्थिति हो जाय । इसी प्रकार साधक के लिए भी आवश्यक है कि वह असीम धीरज के साथ धीरे-धीरे मन को मनाता चला जाय जिससे उसका स्वभाव स्वयमेव बदलता जाय । बलात्कार को हम बिलकुल निरर्थक नहीं कह सकते, बच्चे को ताड़ना भी की जाती है, उसे कई बार अनुचित कार्यों से जबर्दस्ती भी रोका जाता है, पर स्वभाव का जड़ से परिवर्तन इस प्रकार संभव नहीं । स्वभाव और आन्तरिक वृत्ति को बदलने के लिए उसके दबाने से काम नहीं चलता, बल्कि ज्ञान और सहानुभूति के साथ उसे मनाकर ठोस रास्ते पर लाना ही आवश्यक होता है ।

अरविन्द का योग विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक है । साधना के सिद्धान्त तो सबके लिए एक-से ही है, परन्तु किसके लिए किस समय अथवा किस अवस्था में कैसी साधना उपयोगी है ? यह प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक विकास और स्थिति पर निर्भर है । यहीं पर वास्तव मे गुरु की

आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है । साधना और योग में पुस्तकें पढ़कर इसीलिये सफलता नहीं मिलती कि इनके क्रमभेद बड़े सूक्ष्म हैं । अवस्था और व्यक्ति के भेद से इनके क्रम में भेद करना आवश्यक होता है । अरविन्द ने एक स्थान पर कहा है कि वास्तव में योगी का गुरु परमात्मा है, पर विशेष व्यक्तियों की छोड़ कर सामान्यतया साधक के लिये शरीरधारी गुरु की आवश्यकता होती है । गुरु अपने आत्मबल से सूक्ष्म रूप में साधक की आत्म-जिज्ञासा को जागृत करता है और अपने उसी सूक्ष्म प्रभाव द्वारा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में से गुजारते हुए चेतना के मार्ग पर अग्रसर कराता है ।

साधारणतया योग का उद्देश्य समाधि अवस्था और उसका आनन्द माना जाता है । भारतवासियों की वर्तमान धारणा के अनुसार इसके लिये संसार का त्याग आवश्यक समझा जाता है । अधिकांश अध्यात्म विषयक ग्रन्थों में इसी मत का प्रतिपादन किया गया है । केवल 'गीता' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसने इस मत को स्वीकार न करके संसार को ही आध्यात्मिकता का वास्तविक क्षेत्र माना है । अरविन्द भी योग का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति को समझते हैं और कहते हैं कि एक समय आयेगा जब समग्र मानव-जाति की चेतना विकसित होकर वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्तर को प्राप्त कर लेगी । उच्च स्थान पर पहुँच जायेगी ।

अरविन्द की योग-प्रणाली के तीन मौलिक अभ्यास हैं-- एक अभीप्सा (एस्पाइरेशन), दूसरा परित्याग (रीजेक्शन), तीसरा आत्मोद्घाटन (डिवाईन इन्फ्लुऐंस) । अभीप्सा का अर्थ है-- गम्भीर आत्म-जिज्ञासा की अन्तःचेष्टा । यह ऊर्ध्वमुखी और अन्तर्मुखी होती है । यह आत्मा की अपने पूर्णानन्द के लिये खोज है । अभीप्सा से इस स्वरूप का आधार अनुभव ही है और साधक कुछ अभ्यास के पश्चात् ही उसे स्पष्ट पहिचानने लगता है । प्रारम्भ में तो अभीप्सा साधारण इच्छा के समान ही जान पड़ती है, पर इन दोनों में बड़ा अन्तर है । इच्छा वास्तव में हमारी बाह्य चेतना-सामान्य मन बुद्धि की चेतना है, जो बाह्य जगत् के पदार्थों से रूप, रस, गन्ध आदि को ग्रहण करती है । इन रूप, रस आदि के लिए हमारे मन मे ग्रहण अथवा त्याग की जो प्रेरणा उत्पन्न होती है, उसी का नाम इच्छा है । इसके विपरीत जब हम बाह्य पदार्थों के ऊपरी रूप, रस, गन्ध को नहीं बल्कि उनके आन्तरिक भाव और सत्य को ग्रहण करते हैं, तब हमको अपने भीतर एक गम्भीर प्रेरणा का अनुभव होता है, वही अभीप्सा होती है ।

योग-मार्ग की उपयोगिता

अन्त में हम फिर यह बतला देना चाहते हैं कि 'योग-मार्ग' को साधु-संन्यासियों या गृहत्यागियों की चीज समझना एक बड़ी गल्ती है । इसका उद्देश्य वास्तव में शरीर, मन और आत्मा (चेतना) को इस प्रकार प्रशिक्षित करना है, जिससे वे विपरीत परिस्थितियों में भी अपना सन्तुलन स्थिर रख सकें । हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह संसार केवल फूलों का बगीचा ही नहीं वरन् इसमें काँटे भी हैं और सच पूछा जाय तो वर्तमान समय में तो अधिकांश व्यक्तियों के लिए काँटों की ही प्रधानता है । ऐसी स्थिति में योग-दृष्टि को अपनाया जाय तो प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य मन को सन्तुलित और शान्त रखकर अपना कर्तव्य पालन कर सकता है, और जो सदैव अपना कर्तव्य पालन करता रहता है, उसका ही जीवन सफल माना जा सकता है । यदि समग्र मानव-जाति को इस मार्ग की जानकारी करा दी जाय और वे अपनी मनोवृत्तियों को इसी के अनुकूल बना ले तो निस्सन्देह पृथ्वी पर 'देवत्व' का अवतरण हो सकता है । योगी अरविन्द घोष ने अपनी साधना और कार्यों द्वारा संसार पर यह प्रकट कर दिया कि भारत की आध्यात्मिक साधना पद्धति में अनन्त शक्ति है । संसार का वास्तविक कल्याण अध्यात्म का अवलम्बन लेकर ही हो सकता है ।

गिरे हुओं को ऊपर उठाने वाले प्रभु जगद्बन्धु

फरीदपुर (बङ्गाल) की बूनापाड़ा नाम की बस्ती में बाग्दी जाति के कई सौ व्यक्ति निवास करते थे । ये लोग सर्वथा अशिक्षित और कुसंस्काराच्छन्न थे । एक लेखक के कथनानुसार "बूनापड़ा अश्लील नाच-गान, व्यभिचार और शराब पीने के लिये प्रसिद्ध था । वहाँ के सभी स्त्री पुरुषों का चरित्र अत्यन्त दूषित था और आजीवन ये भाँति-भाँति के पाप-कर्मों में ही लीन रहते थे ।" उनकी ऐसी दशा देखकर उस जिले के कलक्टर हार्टवर्ट साहब ने उनको ईसाई धर्म मे दीक्षित करके सुधार करने का विचार किया । उनके परामर्श से वहाँ के पादरी मिड साहब ने तरह-तरह के उपायों से बाग्दी लोगों को धर्म परिवर्तन के लिये राजी कर लिया और इसके लिये एक दिन भी नियत कर दिया गया ।

इसी बीच फरीदपुर में एक विशाल कीर्तन का आयोजन किया गया और कई सौ भक्तजन मृदङ्ग, करताल, घण्टा, घड़ियाल लेकर शहर के मुख्य-मुख्य मार्गों को हरिनाम की सुमधुर ध्वनि से मुखरित करने लगे । चलते-चलते यह

जुलूस बूनापाड़ा मे जा पहुँचा और वहाँ बाग्दी लोगों को 'हरिनाम' का अमृत पिलाने लगा । उसके प्रभाव से उनके मन, चित्त, बुद्धि सबका संस्कार हो गया और ईसाई बनने की बात न जाने कहाँ विलीन हो गई ।

इस प्रकार कीर्तन के माध्यम से कलुषित विचारों का निराकरण करके धर्म-भाव का उद्‌बोधन करने वाले प्रभु जगद्‌बन्धु (जन्म सन् १८७१) केवल भजनानन्दी बाबाजी न थे । वर्तमान समय में भगवन्नाम-कीर्तन को भी जिस प्रकार अनेक लोगों ने एक प्रकार का प्रदर्शन अथवा शौक बना लिया है और उसकी आड़ में अपनी वासनाओं की पूर्ति करने में भी सङ्कोच नहीं करते, वह प्रवृत्ति प्रभु जगद्‌बन्धु और उनके कीर्तनों से कोसों दूर थी । वे बाल्यावस्था से ही सद्‌भावनाओं और सत्कार्यो का प्रचार करने लग गये थे । जिस समय वे स्कूल की आठवीं-नवीं क्लास में ही पढ़ते थे उस समय भी छोटे विद्यार्थियों को एकत्रित करके इस प्रकार 'उपदेश' दिया करते थे-

"चैतन्य बनो, नैष्ठिक बनो, धर्म पर स्थिर रहो । आत्म-संयम ही आत्म-रक्षा है । पवित्रता और निष्ठा का सदैव पूरा ध्यान रखो । निष्ठा ही आरोग्य और जीवन है तथा अनिष्ठा ही रोग और मृत्यु है । व्यर्थ की बातें मत करो, इससे हानि होती है । विशेष बात-चीत से कलह उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है । अपने को बड़ा समझो, नहीं तो कुछ भी नहीं कर पाओगे । अपने पद तथा प्रतिष्ठा को स्थिर रखो । शरीर, मन और प्राण से धर्म की रक्षा करना ही सर्वोपरि है । धर्म-रक्षा करते हुए चाहे कैसी भी विपत्ति आवे और चाहे मृत्यु भी आ जाय तो भी कोई हानि नहीं, क्योंकि धर्म ही ईश्वर आदेश है और उससे बढ़कर संसार में और कुछ भी नहीं है ।

"तुमको किसी से गुरु दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है । बङ्गाल में तो दीक्षा लेने का अर्थ 'तांत्रिक' बन जाना है, जिससे मनुष्य में अनेक दोषो की वृद्धि होने की सम्भावना रहती है । इसलिये सबसे बड़ा मन्त्र भगवान का नाम ही है । वही भवसागर से पार लगाने वाला है और उसी का आश्रय लेकर मनुष्य परमार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है ।

"मैं जानता हूँ कि हरिनाम का प्रचार करना सहज नहीं है । संसार के लोग तो धूम-धाम और हल्ला-गुल्ला चाहते हैं । तुम उनकी नकल मत करना । धीरतापूर्वक, परम प्रेम से, दृढ़ निष्ठा से भगवान् का स्मरण करते रहो । हताश या निराश कभी मत होना, हरिनाम से प्राण और मन को शीतल करते रहो ।"

होम करते हाथ जला

प्रभु जगद्‌बन्धु के उपदेशों का बालकों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता था और वे बुरी आदतों का त्याग कर संयम और धार्मिकता का अभ्यास करने लगे थे । यद्यपि यह बात सबके लिये कल्याणकारी थी, तो भी अज्ञानता के कारण कुछ बालकों के अभिभावक इस काम की बुराई करने लगे। वे कहते थे कि इस प्रकार लड़कों का ध्यान अपनी पढ़ाई से हटकर व्यर्थ की बातों में लग जायगा । कुछ लोग यह भी आक्षेप करते थे कि इस प्रकार से लड़के संसारी बनने के बजाय वैरागी बनने की तरफ आकर्षित होने लगेंगे । इस प्रकार भ्रामक विचारों में पड़कर वे इनसे द्वेष करने लगे और दण्ड देने का अवसर ढूँढ़ने लगे । एक दिन प्रातःकाल जब ये नदी में स्नान करने गये तो कई दुष्टों ने, जो वहाँ पहले से ही छिपे हुए थे, इनको पकड़ कर जल के भीतर डुबा दिया । कुछ देर बाद जब बाहर निकाला तो ये बाह्यज्ञानशून्य अवस्था में थे । यह देखकर दुष्टों को इनकी मृत्यु हो जाने का भय लगा और वे इनको घेर कर होश मे लाने का प्रयत्न करने लगे । कुछ देर बाद इनकी चेतना लौट आई और प्राण-रक्षा हो सकी ।

पर जब इस घटना से यह भयभीत नहीं हुए और जिस कार्य को अपना धर्म-कर्तव्य मान लिया था उसको पूर्ववत् करते ही रहे, तो विरोधी लोग फिर इनको हानि पहुँचाने का प्रयत्न करने लगे । एक दिन उन्होने अँधेरे में इनको पकड़ लिया और खूब मारा । जब ये बेसुध होकर जमीन पर गिर पड़े तो आततायी भाग गये । कुछ देर पश्चात् एक सज्जन वहाँ होकर निकले और इनकी अवस्था देखकर अपने घर उठा ले गये । वहाँ इनको एक शैय्या पर लिटाकर भावपूर्वक कीर्तन करने लगे । जैसे-जैसे कीर्तन होता गया इनको होश आने लगा और चोट की पीड़ा भी कम होने लगी । धीरे-धीरे ये शैया से उतर आये और स्वयं भी कीर्तन में सम्मिलित होकर नृत्य करने लगे । मानसिक शक्ति और हार्दिक श्रद्धा का यह चमत्कार देखकर दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ ।

इस घटना का समाचार जब अन्य लोगो को मिला तो समीप के ग्राम के एक निवासी राजर्षि वनमाली राय ने जो एक बहुत बड़े जागीरदार थे, अपना एक सेवक हाथी लेकर इनको बुलाने को भेजा । वहाँ पहुँचने पर वनमाली राय ने इनसे मारने वालों का नाम बतलाने का बहुत आग्रह किया, ताकि उनको इस दुष्कर्म का उचित दंड दिया जा सके, पर इन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं किसी मारने वाले को हर्गिज

दंड दिलाना नहीं चाहता । इन्होंने एक पद्य लिखकर राजर्षि के हाथ में दिया-

पाप रूप हिमाचल शिरोदेश छिल ।
लाहिड़ी पवन वेगे उड़ाइया दिल ।।

अर्थात्-"मेरे सिर पर हिमाचल के सदृश्य जो पाप का भारी बोझ था उसे लाहिड़ी (मारने वाले का नाम) ने आँधी बन कर उड़ा दिया ।"

प्रभु जगद्बन्धु की यह क्षमावृत्ति एक सच्चे संत के अनुरूप ही थी । राजर्षि वनमाली राय उस प्रदेश के एक बहुत बड़े और शक्तिशाली जमींदार थे । उनके लिये किसी प्रकार की सरकारी कार्यवाही किये बिना भी किसी दुष्ट को उचित दंड दे सकना कुछ भी कठिन न था, पर बुराई के बदले भलाई करना ही सन्तों का लक्षण होता है और उसी का परिचय प्रभु जगद्बन्धु ने दिया । पर इसका आशय यह नहीं कि सर्वसाधारण भी उनका अनुकरण करें और सभी दुष्टों को उनके दुष्कर्मों के लिये क्षमा कर दिया जाय । हम जानते हैं कि वर्तमान समय में अनेक अपराध सामाजिक अव्यवस्था और और अन्यायपूर्ण नियमों तथा प्रथाओं के प्रचलन हो जाने के कारण होते हैं, पर तो भी कुछ लोग दुष्ट स्वभाव के भी होते हैं, जिनको दूसरों को कष्ट पहुँचाने, हानि करने में ही आनन्द आता है । ये गोस्वामी तुलसीदास जी की 'परहित हानि लाभ जिन केरे' वाली उक्ति के उदाहरण होते हैं । ऐसे लोगों को क्षमा करना एक प्रकार से साँप को दूध पिलाने के समान होता है और हमको ऐसे मामलों पर व्यक्तिगत रूप से नहीं वरन् सामाजिक शान्ति और सुव्यवस्था की दृष्टि से विचार करना चाहिये ।

आधुनिक युग के मनीषी बर्नार्ड शा की तो सम्मति यह है कि ऐसे दुष्टों को समाज में स्थान नहीं मिलना चाहिये और उनको जेल भेज कर वहाँ के वातावरण को दूषित करने के बजाय चुपचाप इस पृथ्वी से ही हटा देना चाहिये, क्योंकि ऐसे लोग सज्जन पुरुषों की जान-माल के लिये खतरनाक ही नहीं होते वरन् अपने उदाहरण और प्रेरणा से अनेक अन्य कम दोषी लोगों को भी बढ़ावा देकर समाज का शत्रु बनाने वाले सिद्ध होते हैं ।

भारत-भ्रमण और सामाजिक स्थिति का निरीक्षण

राजर्षि वनमालीराय के साथ ये भ्रमण के लिये वृन्दावन चले गये और वहाँ से लौटकर कुछ समय तक कलकत्ता की डोम-बस्ती में ठहरे । डोम लोग हिन्दू-समाज में अस्पर्श माने जाते थे और अत्यन्त उपेक्षित दशा में कलकत्ता की एक दूरवर्ती बस्ती रामबागान में निवास करते थे । बाग्दी लोगों की तरह ईसाई मिशनरियों की दृष्टि इन पर भी थी और वे समझते थे कि हिन्दू-समाज के दुर्व्यवहार के कारण इनको समझा-बुझाकर शीघ्र ही अपने दल में सम्मिलित किया जा सकता है । जब प्रभु जगद्बन्धु को इस स्थिति का आभास हुआ तो वे डोम लोगों की बस्ती में पहुँचे और वहीं एक छोटे से मन्दिर में ठहर गये । उन्होंने वहाँ रहकर डोम लोगों की जो मनोवृत्ति देखी इससे वे इसी परिणाम पर पहुँचे कि हिन्दू-जाति इसी प्रकार अपने एक-एक अङ्ग को काट कर निर्बल और शक्ति-हीन होती जायगी । इसलिये उन्होंने "पतितोद्धार" का एक बड़ा कार्यक्रम बनाया जिससे हिन्दू-समाज का नेत्रोन्मीलन हो और विधर्मी धर्म प्रचारकों की गृद्ध-दृष्टि भी हमारे भूल-भटके और पददलित भाइयों को अपना शिकार समझने से विरत हो जाय ।

पर ऐसे देशव्यापी और पुरातन रूढ़ियों का खंडन करने वाले कार्यक्रम को अमल में लाने से पहले उन्होंने भारत-भ्रमण करके देश और समाज की दशा का भली प्रकार अध्ययन कर लेना आवश्यक समझा । इसलिये वे साधु वेष में कलकत्ता से चल दिये और डेढ़ वर्ष तक इस कोने से उस कोने तक का भ्रमण करते रहे । इस यात्रा में वे अनेक तीर्थों मे गये, अनेक नगरों का पर्यटन किया, ढोंग और रूढ़िवादिता का ही परिचय मिला । जब ये वृन्दावन से अपने निवास स्थान फरीदपुर के लिये प्रस्थान करने लगे तो वहाँ के एक प्रसिद्ध वैष्णव धर्मानुयायी श्री श्यामानन्द दास ने कहा- "आप फरीदपुर जाकर क्या करेंगे ? जहाँ तुलसी का एक पूजा-स्थान भी नहीं है । मै यहीं पर यमुना के तट पर आपके लिये एक उत्तम भजनालय बनवा दूँगा, आप उसी में रहकर साधना करें । इस पर जगद्बन्धु ने उत्तर दिया कि- "क्योंकि फरीदपुर में एक तुलसी-पूजा-स्थान नहीं है, इसीलिये मुझे वहाँ जाकर रहना चाहिये । आप देखेंगे कि जो फरीदपुर पृथ्वी का सबसे पतित स्थान है वही एक दिन भगवत्-भक्ति का केन्द्र बनेगा ।"

वे वैष्णव धर्म और भक्ति का आशय बहुत अधिक तिलक और कण्ठी माला धारण करना नहीं वरन् दुःखार्त आत्माओं की सेवा, सहायता करके उनके हृदय को शीतल बनाना ही समझते थे । वे नरसी-भक्त के इन उद्‌गारों के अनुसार सच्चे वैष्णव थे-

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाने रे ।
पर दुःखे उपकार करे तो ए, मन अभिमान न आनेरे।।

इसी बात को लक्ष्य करके वे कहा करते थे कि यदि देश मे एक भी सच्चा वैष्णव रहता तो मुझे इस कार्य का भार अपने ऊपर लेने की आवश्यकता न थी ।'

पतितोद्धार का कार्यारम्भ

जिस समय प्रभु जगद्बन्धु ने कार्यारम्भ किया, देश में अछूत और छोटी जाति कहलाने वालों की दशा बहुत दयनीय थी। उच्च जाति वाले उनको हेय-दृष्टि से देखते थे और वे भी अपने को नीच समझ कर वैसी ही दुर्दशा में पड़े रहते थे। सब तरफ से उपेक्षा और लांछनापूर्ण व्यवहार सहन करते-करते उनकी उच्च भावनायें बिलकुल मर गई थीं और तरह-तरह के दोष दुर्गुण उनमें प्रवेश करते जाते थे। प्रभु जगद्बन्धु ने आरम्भ से ही हिन्दू-जाति के इस कोढ़ की चिकित्सा की तरफ ध्यान दिया और जब वे अपने गाँव 'ब्राह्मण काँदों' में रहते थे तभी से उनका निवास स्थान साहा, नमःशूद्र बाग्दी जैसी जातियों का सम्मिलन केन्द्र बन गया था।

वे इन लोगों को समझाया करते थे कि मनुष्यों में जन्म से छोटा बड़ा कोई नहीं होता, सब कोई अपने कर्मों से ही उच्च या नीच बन सकते हैं। अछूत कहलाने वालों का कर्तव्य है कि हानिकारक और पतनकारी प्रवृत्तियों का त्याग करें तथा अपना ध्यान भगवत्-भक्ति मे अधिक से अधिक लगायें। जो भगवान का भक्त है वह कभी नीच या पतित नहीं हो सकता और न इहलोक और परलोक में उसकी दुर्दशा हो सकती है। सांसारिक सुख-सामग्री का अभाव होने पर भी उसकी मानसिक शान्ति भंग नहीं हो सकती और न वह किसी के सामने दीनता प्रकट कर सकता है। भगवान की शक्ति और सत्ता संसार में सर्वोपरि है, उस पर दृढ़ विश्वास रखने वाला और उससे सम्बन्ध जोड़ने वाला कभी आपत्तियों में ग्रसित नहीं हो सकता, यह निश्चित है। कालकी कुटिलता से यदि उसे कठिनाइयाँ अथवा अन्यायियों का दुर्व्यवहार सहन करना पड़े तो भी उसकी आत्मा पर इसका प्रभाव नहीं पड़ सकता और वह प्रत्येक दशा में सन्तुष्ट, शान्त और सुदृढ़ ही बना रहता है।

जिस बाग्दी जाति का उन्होंने कीर्तन द्वारा उद्धार किया था और ईसाई होने से बचाकर भगवद्भक्त बनने की प्रेरणा की थी उनका मुखिया रजनी पाशा मन्त्र-तन्त्र में बड़ा निपुण था और प्रायः वाममार्ग की क्रियाओं में सलग्न रहता था। उन्होंने पहले ही दिन उसे अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया और उपदेश दिया कि केवल हरिनाम का आधार लेकर ही व्यक्ति और समाज का उद्धार हो सकता है। उन्होंने उसे आत्मा का पतन करने वाले जादू-टोना का त्याग करके हरिभक्ति का उपदेश दिया। उनके प्रभाव से रजनी पाशा थोड़े ही समय में एक लोकप्रिय कीर्तनकार बन गया और उसका नाम 'हरिदास मोहन्त' प्रसिद्ध हो गया। प्रभु जगद्बन्धु ने असभ्य और आचार-भ्रष्ट 'बूना' जाति का कायाकल्प कर दिया और उनको 'मोहन्त' की उपाधि देकर पक्का हरिभक्त बना दिया।

डोम जाति का उद्धार

जिस समय प्रभु जगद्बन्धु रामबागान (कलकत्ता) की डोमबस्ती में जाकर ठहरे तो थोड़े ही दिनों में वह गुमनाम और दीनजनों की बस्ती एक बड़े तीर्थ की तरह बन गई। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति, धनी और उच्च पदाधिकारी भी वहाँ जाकर जमीन पर बैठने लगे और भी सैकड़ों स्त्री-पुरुष दर्शनों के लिये वहाँ नित्य प्रति आया करते थे। वहाँ जाकर रहने से प्रभु का उद्देश्य डोम लोगों का सुधार करके उन्हें सनातन धर्म का दृढ़ अनुयायी बनाना था। इस कार्य में ठाकुर अतुलकृष्ण चम्पटी उनके प्रधान सहकारी थे। धर्म प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने आरा (बिहार) के हाईस्कूल की हैडमास्टरी से इस्तीफा दे दिया था। उस समय कलकत्ते में ईसाई पादरियों का बड़ा जोर था और वे रास्ते में खड़े होकर हिन्दू देवी-देवताओं के संबंध दो अपशब्द कहा करते थे। चम्पटी महोदय को उनकी बातें सुनकर बड़ा रोष आता था। उन्होंने इन पादरियों की पोल खोलने के लिये अँग्रेजी में (मिशनरियों की कुंजी) नाम की पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराई और उसे श्रीरामपुर मिशन के सबसे बड़े पादरी मैकडोलैण्ड साहब के पास भेज दिया। जब चम्पटी ने इस घटना का जिक्र प्रभु जगद्बन्धु से किया तो उन्होंने कहा- "ऐसी बातें लिखकर अँग्रेजों को उत्तेजित मत करो। क्या वे हमारी तरह दो हाथ, दो पैर वाले मनुष्य हैं? वे तो असुर हैं! असुर को उत्तेजित करने से वह पृथ्वी को हलाहल विष से भर देगा। असुर को वश में करना सबका काम नहीं है। यह मेरा कार्य है क्योंकि मैं उनकी कमजोरियों को जानता हूँ।"

डोम जाति को हिन्दू-धर्म प्रेमी बनाकर उन्हें ईसाइयों के फन्दे से बचाने के लिये प्रभु जगद्बन्धु ने उनमें हरि-कीर्तन का प्रचार करना आरम्भ किया। ये लोग पहले से ही मृदङ्ग बजाने मे सिद्धहस्त थे। प्रभु जगद्बन्धु की प्रेरणा से वे ऐसे उच्च श्रेणी के कीर्तनकार बन गये कि देश में उनकी तुलना के अन्य कीर्तन करने वाले मिलना कठिन हो गया। उनका सरदार हरिदास था जिसके लिये प्रभु प्रायः कहा करते थे कि 'जिस नाम-सङ्कीर्तन में हरिदास उपस्थित न हों, वह सङ्कीर्तन ही नहीं है!" वे डोम परिवारों की स्त्रियों की तुलना ब्रज की गोपियों से करते थे। जिन भक्तों को वे किसी के घर का भोजन ग्रहण न करके अपने हाथ से बनाकर खाने का आदेश दे चुके थे, उनको भी डोम स्त्रियों के हाथ की

मधुकरी माँगकर खाने की आज्ञा दे दी थी । वे स्वयं भी उनके दिये भोजन को निस्संकोच भाव से ग्रहण कर लेते थे ।

एक दिन चम्पटी ठाकुर बड़े निराश भाव से रामबागान पहुँचे और माला, करताल आदि को उनके सामने पटक कर बोले– "महाराज ! आपके हरीकीर्तन की बात कोई नहीं सुनता, उल्टी सब मेरी हँसी करते हैं । जिसे देखो वही कामिनी-कंचन रूपी माया की ओर आकर्षित है ।" प्रभु ने उन्हें समझाया– "घबड़ाओ मत ! ऐसा समय आ रहा है, जब किसी परिवर्तन के फलस्वरूप कीर्तन सर्वव्यापी बन जायगा ।"

इस घटना के पश्चात् एक दिन वे रामबागान के निवास स्थान से अकस्मात् गायब हो गये । चम्पटी ठाकुर ने बहुत ढूँढा तो उनके आसन के नीचे एक नोटबुक मिली जिसके एक पन्ने पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था– 'भक्तों की सूची-लार्ड कर्जन, शिशिर घोष, द्वारिकामिश्र, यतीन्द्र ठाकुर ।'

चम्पटी ठाकुर की समझ में न आया कि इन नामों के लिखने का क्या उद्देश्य है ? वे उस नोटबुक को श्री शिशिर कुमार घोष के पास ले गये, जो भारत विख्यात 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक थे । वहाँ पर दोनों ने बहुत कुछ विचार करके यह अनुमान किया कि प्रभु ने कीर्तन के प्रचारार्थ जिस विशेष घटना का संकेत किया था उसी से इसका कुछ संबंध होगा ।

इसके कुछ ही दिन बाद कलकत्ता मे प्लेग का प्रकोप हुआ और समस्त नगर में प्रलयकाल का-सा दृश्य दिखाई पड़ने लगा । प्राणों के भय से दल के दल व्यक्ति शहर छोड़कर भागने लगे । इससे सरकारी अधिकारियों को भय हुआ कि यह महामारी समस्त कस्बों और गाँवों मे भी फैल जायगी । इस विपत्ति से बचने के लिये तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन ने आदेश दिया कि कोई व्यक्ति कलकत्ता को छोड़कर बाहर न जाय ? इस नियम को कोई भी भङ्ग न कर सके, इसलिये शहर के चारों तरफ पुलिस और फौज का पहरा लगा दिया गया ।

यह बड़ा भयङ्कर समय था । हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों मे प्लेग का प्रकोप फैला हुआ था और एक के बाद एक बड़े-बड़े नगर उसके प्रहार से वीरान बनते जाते थे । ब्रिटिश साम्राज्य के द्वितीय महानगर कहलाने वाले कलकत्ता की भी एक सप्ताह के भीतर ही प्लेग ने दुर्दशा कर डाली । शहर में रहने से बीमारी का आक्रमण होकर प्राणो का भय और बाहर निकलने पर फौज और पुलिस द्वारा गिरफ्तारी का आदेश–इन दोनों विपत्तियों के बीच में फँसकर कलकत्ता के नागरिक त्राहि-त्राहि करने लगे । जो नगर देश भर में अपनी शान-शौकत के लिये प्रसिद्ध था और जहाँ दिन-रात अमीरों और बड़े लोगों के उत्सव, मनोरंजन हुआ करते थे, वहाँ श्मशान का-सा दृश्य दिखलाई पड़ने लगा । इस अवसर पर छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, पण्डित-मूर्ख सब कोई इस दैवी विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये भगवान से प्रार्थना करने लगे । देश-पूज्य स्वामी विवेकानन्द ने भी इस अवसर पर अपने संन्यासी समुदाय को प्लेग-पीड़ितों की सहायतार्थ लगा दिया और अपनी पूरी शक्ति से विपत्तिग्रस्तों के कष्टों को कम करने के लिये प्रयत्न करने लगे ।

महामारी का प्रकोप अधिक बढ़ते देखकर महात्मा शिशिर घोष ने गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन से इस संबंध में परामर्श किया और फिर अनेक गण्यमान्य नागरिकों के सहयोग से जिनमें हाईकोर्ट के प्रधान जज श्रीद्वारिकानाथ मिश्र और प्रमुख जमींदार यतीन्द्रमोहन ठाकुर भी थे, एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा का आयोजन किया । इस सभा में चम्पटी ठाकुर ने हरिनाम संकीर्तन द्वारा इस महाविपत्ति से परित्राण पाने के संबंध में एक हृदयग्राही भाषण किया । सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया गया कि कलकत्ते के मैदान में सब धर्मों की सम्मिलित ईश्वर-प्रार्थना और विशाल कीर्तन का आयोजन किया गया ।

पर बाबू और अन्य बड़े लोग तो कीर्तन करना जानते ही न थे और उनकी दृष्टि में यह सामान्य दर्जे के लोगों का ही काम था । इसलिये रामबागान के डोमों को ही इस कार्य मे अगुआ बनना पड़ा । क्रमशः प्राणों के भय से अन्य उच्च जातियों के लोग भी कीर्तन में थोड़ा-बहुत भाग लेने लगे । उस आपत्तिकाल में ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि का भेद-भाव जाता रहा और काले-गोरे, उच्च-नीच सब मिलकर परमपिता की प्रार्थना करने लगे । धर्मतल्ला की बड़ी मस्जिद के कट्टर मुल्लाओं ने भगवान की आरती में भाग लिया । स्वयं लार्ड कर्जन भी इस अवसर पर आये और उन्होंने जूता तथा टोपी उतार कर ईश-प्रार्थना तथा भगवन्नाम-कीर्तन के प्रति सम्मान का भाव प्रकट किया ।

अन्त में कीर्तन का एक विशाल जलूस रामबागान की तरफ रवाना हुआ । इस अवसर पर प्रभु जगद्बन्धु भी प्रकट होकर अपने मंदिर में आ विराजे । कीर्तन में सम्मिलित हजारों व्यक्ति उनके दर्शनों के लिये उत्सुक हो रहे थे । उन्होंने भी इस अवसर पर अपनी अपूर्व सौन्दर्यमंडित मूर्ति को लोगों के सामने प्रकट कर दिया । उनको देखते ही असंख्य कंठों से 'हरिध्वनि' होने लगी, जिससे आकाश गूँज उठा । ठाकुर चम्पटी इस कीर्तन-समारोह में निरन्तर नृत्य और कीर्तन करते आये थे । इस प्रकार कलकत्ता में कीर्तन की ऐसी विशेष शक्ति को देखकर उनका हृदय प्रभु की भक्ति

से भर गया । इस महासङ्कीर्तन के पश्चात् प्लेग का बढ़ना रुक गया और धीरे-धीरे नगर मे शान्ति हो गई ।

हिन्दू-समाज के रक्षक

इस प्रकार प्रभु जगद्बन्धु ने डोम जाति का उत्थान करके उनकी स्थिति को हिन्दू-समाज में सुदृढ़ बना दिया । उनकी प्रेरणा से तिनकौड़ी डोम साक्षात् दया का अवतार बन गया, हरि डोम करताल, मृदङ्ग द्वारा कीर्तन का महाप्रचारक हो गया, पीताम्बर बाबाजी ने आदर्श वैष्णव गृहस्थ का उदाहरण उपस्थित किया । इनका मनुष्य मात्र के प्रति आत्मीय भाव और प्रेमाश्रु विगलित भाव देखकर बहुत बड़े पाखण्डी के हृदय मे भी भक्ति-भाव का संचार हो जाता था । थोड़े ही समय के भीतर रामबागान के आबाल वृद्ध, बनिता सबके भीतर सच्ची भक्ति और आस्तिकता का आविर्भाव प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देने लगा । जिस समय उच्च वर्ण के हिन्दू दल के दल ब्रह्मसमाजी अथवा ईसाई होते जाते थे, जब उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों में विदेशियों का अनुकरण करने का भाव प्रबल होता जाता था, जब वर्णाश्रम धर्म का दावा करने वाले सनातनी जाति-पाँति संबंधी हानिकारक रूढ़ियों में फँसे हुए थे, उस समय सच्चे ब्राह्मण प्रभु जगद्बन्धु ने डोम और बूना जाति वालों के मध्य अपने पतितोद्धारक रूप को प्रकट किया । उन्होंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि ये घृणित और पतित समझे जाने वाले लोग भी सत्प्रेरणा द्वारा श्रेष्ठ बन सकते हैं ।

जाति-पाँति का विकृत रूप और अपने ही धर्म-भ्राताओं को पतित, घृणित मानना हिन्दू-समाज की एक बहुत बड़ी व्याधि है । इसके फल से इसकी जड़ निरन्तर कमजोर पड़ती जाती है और संसार के अन्य भागों की तो क्या बात स्वयं अपने ही देश में इसकी प्रतिष्ठा घट रही है । यद्यपि ये बात-बात मे धर्म की दुहाई देते है, अपने को संसार भर में सबसे बड़ा धर्मनिष्ठ मानते है, सदैव अपनी पवित्रता का अपने मुँह से ही बखान करते रहते है, पर परिणाम उल्टा ही देखने मे आता है । भारतीय धर्मशास्त्रों में बड़े स्पष्ट शब्दो मे यह घोषणा कर दी गई है कि "जिससे श्रेय और निःश्रेयस (इहलौकिक और पारलौकिक लाभ) की प्राप्ति हो वही सच्चा धर्म है । पर हिन्दू-समाज की वर्तमान दशा को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि यह उत्कर्ष को प्राप्त हो रही है अथवा सुख, सम्पत्ति, शक्ति, प्रभाव की दृष्टि से इसकी प्रगति हो रही है । इसकी निर्बलता और दूसरो के मुकाबले में हीनता का मुख्य कारण पारस्परिक भेद-भाव और अपने ही अङ्गों के प्रति उपेक्षा का व्यवहार करना ।"

प्रभु जगद्बन्धु ने इस व्याधि को अच्छी तरह पहिचान लिया था और इसी के उन्मूलन में अपनी शक्ति लगा दी थी । वे 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि वाक्यों को मुख से कहना अनावश्यक समझते थे वरन् इन भावनाओं को कार्य रूप में परिणत करना ही उनकी दृष्टि में महत्व रखता था । अपने प्रयत्न द्वारा वे लाखों व्यक्तियों को धर्म का सच्चा मार्ग दिखा गये और उन्हें इधर-उधर भटकने से बचा गये ।

दलित जातियों के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार से उनको कैसी वेदना होती थी इसका उदाहरण उस समय भी देखने को मिला जब वे फरीदपुर के वाकचर नामक स्थान में आश्रम बनाकर निवास करते थे । उसके पास ही खलीलपुर की जमींदारी में चारुचन्द्र घोष नाम का व्यक्ति नायब का काम करता था । यह बड़ा अत्याचारी तथा कठोर प्रकृति का व्यक्ति था । जमींदारी में रहने वाले नमः शूद्र और अन्य गरीब लोगों को वह सदैव सताया करता था और उनसे जबर्दस्ती बेगार लेता था । वह कई बार प्रभु जगद्बन्धु की प्रशंसा सुनकर दर्शनों के लिये आया, पर उसकी क्रूरता को जानकर उसे इनकार कर दिया । इससे क्रुद्ध होकर वह वाकचर निवासियों पर मनमाना जुल्म करने लगा । दुःखित होकर लोग उसे कोसने लगे । इस पर प्रभु ने कहा- "उसको श्राप देकर अपनी जिह्वा को क्यो खराब करते हो ? वह स्वयं अपने कर्मों का ऐसा फल पा जायेगा कि फिर अन्य लोग ऐसा अन्याय करने का साहस नहीं करेंगे ।"

कुछ समय पश्चात् चारुचन्द्र की बदली तेलेहारी नामक गाँव मे हो गई, जहाँ चारों ओर नमःशूद्र की बस्ती थी । वहाँ भी नायब साहब ने अपना रौब जमाना और लोगों को तङ्ग करना शुरू कर दिया । एक दिन उन्होंने बलराम सरकार नामक वृद्ध को बेगार में पकड़ मँगाया और उससे सामर्थ्य न होते हुए भी जबर्दस्ती लकड़ी चिराई । इस पर गाँव वालों को बड़ा रोष आया और बलराम के पुत्रो तथा कुछ अन्य गाँव वालो ने मिलकर एक दिन रास्ते में उसे घेर लिया और कुल्हाड़ो से काट डाला ।

विदेशों में वैष्णव-धर्म का प्रचार

प्रभु जगद्बन्धु समझते थे कि सनातन धर्म और नाम-कीर्तन मे निहित सेवा-धर्म का महान् आदर्श केवल भारतीय समाज का संस्कार होने से ही प्राप्त नहीं हो सकेगा । इस समय संसार के सब भागों में जिस प्रकार आवागमन की सुविधा बढ़ती जाती है और आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे से संबंधित रहने की स्थिति उत्पन्न हो रही है, उसे देखते हुए इस प्रेम-धर्म का प्रसार भारत ही नहीं विदेशों में

भी होना चाहिये । यदि भारतीय समाज समय के प्रतिकूल पुरातन जराजीर्ण रूढ़ियों और बाह्य आचार-विचारों की श्रृङ्खलाओं में जकड़ा हुआ है, तो पाश्चात्य जगत् भौतिकता की चकाचौंध से भ्रमित होकर आत्मा की सत्ता को ही भुला बैठा है । उसके निकट सम्पत्ति और सुखोपभोग के अतिरिक्त प्रेम, दया, उदारता, क्षमा आदि उच्च मानवीय गुणों का कोई मूल्य ही नहीं है । वह स्वयं तो जड़-प्रकृति की उपासना में संलग्न हो ही रहा है, साथ ही अपनी भौतिक शक्ति के द्वारा संसार के अन्य लोगों को भी उसी गलत रास्ते पर चलने को बाध्य कर रहा है । इसलिये आवश्यक है कि विदेशों में भी मानव-प्रेम का सन्देश सुनाया जाय और दैवी-जीवन का मार्ग प्रदर्शित किया जाय ।

प्रभु जगद्बन्धु जब फरीदपुर में ही रह कर छोटे गाँवों में भक्ति का प्रचार कर रहे थे, उस समय कलकत्ता के कुछ भक्तों ने इसका मार्ग प्रशस्त कर दिया । उन दिनों कलकत्ता में एक 'थियोसोफिकल सोसाइटी' स्थापित की गई थी जिसके सदस्य अन्य आध्यात्मिक साधनाओं के साथ-साथ कभी-कभी परलोकगत आत्माओं के आवाहन द्वारा भी धार्मिक विषयों की विवेचना किया करते थे । इसमें प्रमुख भाग श्रीअन्नदाचरण दत्त नामक सज्जन का था, जो उस समय हुगली की अदालत में सरिश्तेदार का कार्य करते थे और समय-समय पर अपने मित्रों के साथ 'आत्म-आवाहन विद्या' के प्रयोग किया करते थे । 'अमृत बाजार पत्रिका' के अधिष्ठाता श्री शिशिर कुमार घोष और कृष्णनगर के डिप्टी मजिस्ट्रेट श्री महेन्द्रनाथ विद्यानिधि से उनकी विशेष घनिष्ठता थी और उन्हीं के साथ ये इन प्रयोगों को करते थे । ऐसे अवसर पर स्वयं अन्नदा बाबू ही 'मीडियम' (माध्यम) का कार्य करते थे और परलोकगत आत्मायें उन्हीं के द्वारा अपने को प्रकट करती थीं ।

एक बार ऐसा ही प्रयोग करते हुए उनको प्रभु जगद्बन्धु का परिचय प्राप्त हुआ । उस समय तक वे प्रकट रूप से बाहर नहीं निकले थे, इसलिये बहुत ही थोड़े लोगों को उनके विषय में कुछ जानकारी थी । इसलिये पहले तो इन सज्जनों को कुछ आश्चर्य हुआ, पर फिर जाँच करने पर उनको पता चला कि निस्सन्देह फरीदपुर में एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ है जो अभी यद्यपि थोड़ी ही अवस्था के हैं, पर जिन्होंने मानवमात्र के प्रेम का व्रत अङ्गीकार किया है और जो इसी की साधना और प्रचार में संलग्न हैं । यह भी ज्ञात हुआ कि उनका शारीरिक सौन्दर्य और देह-माधुरी ऐसी अपूर्व है जिसे देखते ही दर्शक मुग्ध हो जाते हैं और इसलिये अनेक भक्तजन उनको 'गौराङ्ग महाप्रभु' का अवतार मानने लगे हैं । कुछ समय पश्चात् संयोगवश एक स्टीमर में यात्रा करते समय इन लोगों को प्रभु के दर्शन भी प्राप्त हो गये ।

इसी प्रकार 'आत्म-आवाहन-विद्या' का प्रयोग करते हुए उपरोक्त सज्जनों को श्री प्रेमानन्द भारती का पता चला । वे मुंशीगंज के एक प्रसिद्ध वकील थे, पर तीव्र वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाने से वकालत त्यागकर संन्यासी बन गये थे । 'मीडियम' ने भारतीजी को अपने पास बुलाया और कहा-- "तुमको जटाजूट का मुण्डन कराके गेरुआ वस्त्र त्यागकर वैष्णवों की वेषभूषा धारण करनी होगी । तुमको बहुत काम करना है, अमरीका जाकर वैष्णव धर्म का प्रचार करना होगा ।"

भारतीजी ने 'मीडियम' के आदेश को दैव-आज्ञा समझकर संन्यासी का वेष छोड़ दिया और कलकत्ता में ही वैष्णव-धर्म का प्रचार करने लगे । फिर जब 'मीडियम' द्वारा प्रभु जगद्बन्धु के संबंध में सुना तो वे उनके दर्शनों को व्याकुल हो गये । जब वे फरीदपुर में प्रभु के निकट पहुँचे तो उन्होंने साक्षात् दर्शन देने के बजाय भीतर से ही उनके साथ ऐसा मधुर आलाप किया कि उनका मन और प्राण कृतकृत्य हो गये । कुछ वर्ष पीछे प्रभु ने उनको वैष्णव-धर्म के प्रचारार्थ अमरीका भेजा । वहाँ वे दस वर्ष तक रहकर भक्ति का प्रचार करते रहे । उन्होंने उस देश में अनेक स्त्री-पुरुषों को वैष्णव-धर्म में दीक्षित किया और 'श्रीकृष्ण' नामक एक बड़ा ग्रन्थ अँग्रेजी में लिखकर प्रकाशित कराया । श्रीकृष्ण होम नाम की संस्था की स्थापना भी की गई । सन् १९०८ में वे भारतवर्ष लौट कर आये । उनके साथ अमरीका की कई महिलायें और पुरुष भी प्रभु जगद्बन्धु के दर्शनों के लिये आये थे । पर प्रभु इससे पहले ही एक कुटी के भीतर बन्द हो चुके थे और उससे बाहर कभी नहीं निकलते थे । इसलिये इन विदेशी भक्तों को प्रभु के दर्शन तो नहीं हो सके, पर वे उनकी आध्यात्मिक शक्ति का लाभ उठाकर चले आये । बाद में इनको वैष्णव-धर्म की नियमानुसार दीक्षा देकर इनका नाम गौरीदासी, हरिमती, हरिदासी, लीलामनी और श्यामदास आदि रखे गये ।

विदेशों में भारतीय धर्म-प्रचार का कार्य यद्यपि विवेकानन्द के समय से हो रहा है, पर अभी तक वहाँ इस तरफ आकर्षित होने वालों की संख्या कुछ हजार भी कठिनता से होगी । समय आयेगा तो यह छोटा-सा बीज ही एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो जायगा । इस समय तो इससे यही लाभ हो रहा है कि संसार के विभिन्न देशों मे भारतीय-धर्म और भारतवासियों का सम्मान पहले की अपेक्षा बढ़ गया है । इस समय योरोप, अमरीका में जो अध्यात्म

की चर्चा सुनने में आती है वह भी इन्हीं आरम्भिक भारतीय धर्म-प्रचारकों के त्याग-तपस्या और परिश्रम का परिणाम है ।

ब्रह्मचर्य की अपूर्व साधना

प्रभु जगद्बन्धु अपने जीवन के अन्तिम समय तक, जबकि उनकी आयु पचास वर्ष की थी, ब्रह्मचर्य पर पूरी निष्ठा के साथ दृढ़ रहे । बाल्यावस्था से ही उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था और जिस समय स्कूल में पढ़ते थे, तभी अन्य सब लड़कों को भी ब्रह्मचर्य का महत्व समझाकर उसका व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा देते रहे । इसी अपूर्व साधना का परिणाम था कि वे सब तरह की कठिनाइयों, विरोधों और तपस्याओं को सहन करके सदैव विजयी होते रहे । नारी के स्पर्श से कितना अधिक बचकर रहते थे इस संबंध मे उनके अन्यतम भक्त ब्रह्मचारी परिमलबन्धु ने लिखा है–

"प्रभु जगद्बन्धु ने अपने एक भक्त 'रामदास' को वृन्दावन में रहकर भगवान की उपासना करने का आदेश दिया था । कुछ समय पश्चात् वे स्वयं भी वृन्दावन में आ गये और वहाँ कई मास तक ठहर कर भक्तो को साधना का मार्ग दिखाते रहे । एक महीने तक वे गोवर्धन स्थित राधाकुंड पर भी रहे थे । पर उनको स्त्रीवाची वस्तुओं से इतना परहेज था कि कभी राधाकुंड में स्नान नहीं किया । एक दिन वे भगवान के मंदिर में दर्शन करने गये । उस समय रामदास से उन्होंने कहा कि देखना किसी प्रकृति (स्त्री) का मुझसे स्पर्श न हो जाय । पर जब वे मंदिर के प्रांगण में खड़े हुए भगवान की मूर्ति का दर्शन कर रहे थे कोई स्त्री उनको छूती हुई निकल गई । वैसे ही प्रभु "अरे गया, जल गया, मर गया" इस प्रकार पुकारने लगे और छटपटाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे– यह देखकर रामदास भय से काँपने लगे । प्रभु उनकी ओर देखकर कहने लगे- "अरे, ऐसी यन्त्रणा मैंने जीवन में कभी नहीं पाई । तू दूर चला जा, मैं तो जल गया, मर गया ।" रामदास दूर जाकर अपराधी की तरह खड़ा हो गया । इस बीच मे प्रभु मिट्टी मे इधर-उधर लौटते रहे । इसके पश्चात् उन्होंने उनको पास बुलाया और सांत्वना देकर निर्भय किया ।"

"फिर जब रामदास प्रभु के आदेशानुसार राधाविनोद के मंदिर में कीर्तन कर रहे थे तो राजर्षि वनमाली राय की पत्नी ने प्रभु के लिये नौकरानी द्वारा एक हाँडी में गोविन्दजी का प्रसाद भेजा । नौकरानी ने आकर हाँडी रामदासजी के सम्मुख रख दी और उन्होंने उसे बगल में दबा लिया । जब वे कीर्तन करके वापस आये तो उन्होंने तुरन्त पूछा,

"बगल में क्या है ?" रामदास ने उत्तर दिया, 'प्रसाद'। फिर पूछा, कहाँ से पाया ? जब उनको मालूम हुआ कि रानी की नौकरानी उसे दे गई है तो वे कृत्रिम रोष प्रकट करते हुए कहने लगे– "क्यों रे ! इस प्रकृति (स्त्री) के स्पर्श किये हुए पदार्थ को तूने क्यो रख लिया ? मेरी शपथ है जो तू ऐसा काम फिर कभी करे ।"

प्रभु जगद्बन्धु इस प्रकार के व्यवहार द्वारा रामदास को ब्रह्मचर्य के व्रत पर पूर्ण दृढ़ता के साथ आरूढ़ कर रहे थे । इस प्रकार उन्होंने उसे नारी मात्र का स्वप्न में भी ध्यान न करने की प्रेरणा दी और वास्तव में इसके कारण वह आगे चलकर सब प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों से बचकर उच्च आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में सफल हो सके । फिर उन्होंने वृन्दावन मे ही रामदास को अपने हाथ से कोपीन पहना दी और कहा कि "भक्त वैष्णवों का यही वेष है । इसके बिना वह सम्मान का पात्र नहीं होता ।" इस प्रकार वे अपने शिष्यों को स्वयं का उदाहरण दिखाकर उच्च जीवन व्यतीत करने और आध्यात्म-मार्ग में प्रगति की शिक्षा देते थे ।

चमत्कार नहीं, चरित्र

भारतवर्ष में अभाग्यवश साधु-महात्माओं का एक लक्षण 'चमत्कार' दिखाना हो गया है । साधारण लोग साधुओं की छुटाई-बड़ाई का निर्णय उनके 'चमत्कारों' के आधार पर ही करते हैं । समझदार व्यक्ति जानते हैं कि इस प्रकार की धारणा हानिकारक है और ऐसे चमत्कारी बाबाजियों में से अधिकांश दिखावटी ही होते है । प्रभु जगद्बन्धु ऐसे साधुपन के विरुद्ध थे और प्रसङ्ग चलने पर सदैव अपने शिष्यो को यही उपदेश देते थे कि सत्य का, सदाचरण का, सच्चरित्रता का अनुसरण करो ।

गाँव के आश्रम को छोड़कर जब उन्होंने फरीदपुर नगर में नये आश्रम 'श्रीभंजन' की स्थापना की तो वहाँ के स्कूल, कालेज के अनेक छात्र उनके पास आने लगे । वे भी बड़े प्रेम के साथ उनको तरह-तरह के उपदेश देते रहते थे और उनके चरित्र-निर्माण की चेष्टा करते रहते थे । पर वे उनको दर्शन नहीं देते थे, क्योंकि उन्होंने एक ही बन्द स्थान में रहने का निश्चय कर लिया था । एक दिन किसी छात्र ने उनसे कहा- "प्रभु ! इस प्रकार घर में बन्द न रहकर बाहर आइये । आपको देखकर सब सुखी होंगे ।" इसके उत्तर में प्रभु ने बड़ी दुःखित वाणी में कहा– "अरे ! मैं किसके लिये बाहर आऊँ ?" कौन मुझको चाहता है ? कोई तो मेरी बात नहीं सुनता । मेरे कहने से कोई हरिनाम लेने को भी तैयार नहीं होता । मैं तो सबको पास रखना चाहता हूँ

पर कर्मदोष से सब दूर चले जाते हैं । मैं इसका कारण भी अच्छी तरह जानता हूँ । कुपथ्य करने वाले रोगी को दवा देने से क्या लाभ हो सकता है ? काल, कलि, पाप, प्रपंच और प्रारब्ध के कारण जीव दुःख पाता है । लोग धर्म की ओर ध्यान नहीं देते और न उसका उपदेश सुनना चाहते हैं । मैं तीस वर्ष से घर-घर फिर कर लोगों से हरिनाम लेने का- सच्चे भक्त की तरह आचरण करने का आग्रह करता हूँ, पर कोई उस बात को नहीं सुनता । तुम भी ऐसा ही करते हो । पर देखना एक दिन ऐसा आयेगा जब लोग इस अवहेलना के लिये रोयेंगे । तब लोग हरिनाम के लिये व्याकुल होने लगेंगे ।

"अभी तुम सब विचार करते हो कि हम प्रभु के सङ्गी बनेंगे । पर ऐसा नहीं हो सकेगा । इस महापापी और स्वार्थी दुनिया के प्रवाह में तुम तिनके की तरह बह रहे थे । अभी भी मैंने तुमको पकड़ रखा है, इससे ठहरे हुए हो । अब काल और कलि की प्रवंचना में फँसकर मुझको खो मत बैठना । सदा अपनी वास्तविकता को ध्यान में रखना जब हम सब मिलकर चेष्टा करेंगे तभी इससे पार हो सकेंगे ।"

"सभी मुझको साधु-संन्यासी मानकर तरह-तरह से परीक्षा करना चाहते हैं । सब कोई इन्द्रजाल (चमत्कार) की कामना रखते हैं । कोई बेटे को लेकर आता है और कहता है-- 'प्रभु ! प्रभु ! कुछ औषधि दो, लड़का बहुत बीमार है ।' मैं कुछ उत्तर नहीं देता तो भी आश्रम की भूमि पर लोट-लोट मानता मानते हैं । कोई कहता है कि कर्ज हो गया है । रुपया दीजिए ।' कोई कहता है-- हमारे व्यवसाय की उन्नति हो, कोई संसार-सुख की याचना करता है । इस प्रकार जिसकी जैसी मनोवृत्ति है वह वैसी ही कामना करता है । देखो, लोग इस तरह अनेक प्रकार की चीजें माँगते हैं, पर भगवद्भक्ति को, संसार से उद्धार होने को कोई नहीं माँगता । इसी से मैं कहता हूँ कि लोगों की मनोवृत्ति केवल परीक्षा की, चालाकी की है । इन्द्रजाल ने पृथ्वी को ढक दिया है । इस पाप के संसार में भगवन्नाम का सत्यव्यवहार का प्रचार करना बड़ा कठिन है । आजकल लोग केवल दिखावा चाहते हैं, हल्ला-गुल्ला को पसन्द करते है ।"

"तुम यदि अपना उद्धार चाहते हो तो दिखावा और शोर से दूर रहो । धीरे, अति धीरे, बड़े प्रेम से निष्ठा के साथ आगे बढ़ते जाओ, कभी हताश मत होना । भगवान के ऊपर पक्का भरोसा रखो । सदैव उसके आदेश को कल्याणकारी समझकर उसी को अपना लक्ष्य रखो । लोग तुमको टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर ले जाना चाहेंगे, पर तुम कर्तव्य से पश्चात्पद न होना । इस पतित संसार में काम ही प्रेम के नाम से बिकने लगा है । यही तो सबसे बड़ा धोखा है- चालाकी है । इससे तुम कदम-कदम पर सावधान रहना । सदैव भगवान को स्मरण करते रहो-- इससे पाप-समूह चिनगारी से रूई की तरह जल जायेंगे ।"

सेवा-मार्ग की बाधायें

यदि मनुष्य संसार की माया से बचना चाहता है, इसके सुख-दुःख के फन्दे से छूटना चाहता है तो उसका एक-मात्र आधार भगवान्-सृष्टि की मूल परमात्म शक्ति का सान्निध्य प्राप्त करना है. । इसका अर्थ संसार को त्यागकर लँगोटी लगाकर, भीख माँगकर जीवन निर्वाह करना नहीं है । अभी तक भारतीय परम्परा के अनुसार यद्यपि यह मार्ग भी श्रेष्ठ माना जाता है और इस पर चलने वालों को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, पर यह मार्ग सबके लिये नहीं है । लाखों में से कोई एक सच्चा त्यागी और परमार्थपरायण व्यक्ति ही इसका अधिकारी हो सकता है । स्वयं प्रभु जगद्बन्धु अपने अनुयायियों से कहते थे कि "यदि तुम मुझको चाहते हो तो सुख की आशा त्याग दो. । इसके लिये तुमको अनेक कष्ट सहन करने पड़ेंगे । लोग तुमको पागल और मतलबी कहेंगे, तुम्हारे ऊपर धूल फैंकेंगे, चोर, लम्पट कहकर गाली देंगे, कितनी ही तरह से तकलीफ देंगे । तुमको सब कुछ त्यागकर मेरे पीछे-पीछे वन-जङ्गलों में घूमना पड़ेगा । खाना, पीना, सोना भी कठिन हो जायगा । जो कोई ऐसा नहीं कर सकता तो अच्छा यही है कि वह दुनिया में ही अन्य लोगों की तरह व्यवहार करके सुख और आराम का जीवन बिताये ।"

प्रभु जगद्बन्धु ने इस थोड़े से कथन में सार्वजनिक जीवन का सच्चा चित्र खींच दिया है और उसका वास्तविक मार्ग भी बतला दिया है । जो लोग वर्तमान 'नेतागिरी' को सार्वजनिक सेवा समझते हैं और इसी आधार पर उसकी आलोचना करते हैं, वे इस कथन मर्म को न तो समझेंगे न समझना चाहेंगे । पर जो लोग इसे जानने की सच्ची इच्छा रखते हैं उनको प्रभु ने यही बतलाया है कि सेवा धर्म और त्याग का संबंध अटल और अपरिवर्तनीय है । जब तक हम अपने धन, श्रम, सुख, सुविधा, अधिकार आदि का किसी तरह त्याग न करेंगे तब तक दूसरे की सेवा का दावा करना विडम्बना मात्र है ।

यह ख्याल करना अथवा प्रकट करना कि हम लोकोपकार, दूसरों की सेवा भी करते रहेंगे और साथ ही अपनी सुख, सुविधा, सम्पत्ति, सत्ता की भी वृद्धि करते रहेंगे

जो संस्कार या परम्परायें बाधा स्वरूप सिद्ध हो रहे थे, उन्हीं को वे दूर करना चाहते थे । तो भी उनका मार्ग हिंसा और प्रतिशोध का न था । वे प्रेम-धर्म के अनुयायी थे और प्रेम द्वारा ही वर्तमान दूषित अवस्था को बदल कर विश्वबन्धुत्व की स्थापना करने में प्रयत्नशील थे ।

एक दिन वे फरीदपुर नगर के निकट एक मैदान में होकर गुजर रहे थे जहाँ कांग्रेस की एक बड़ी सभा स्वदेशी प्रचार के लिये हो रही थी । उसके पास पहुँचते ही उनका चित बड़ा अशान्त हो गया और वे बड़े जोर से पुकार-पुकार कर कहने लगे-- "इस बार मैं खाऊँगा- खाऊँगा- सब खा जाऊँगा ।" उस सभा का सभापतित्व सुप्रसिद्ध नेता श्री अम्बिकास्वरूप मजूमदार कर रहे थे । वे तथा सभा में उपस्थित अन्य व्यक्ति प्रभु के इस दैवी भाव को देखकर चकित रह गये ।

इस प्रकार प्रभु जगद्बन्धु ने यह प्रकट कर दिया कि पृथ्वी पर नवयुग की स्थापना तो होगी, पर यदि लोगों की मानसिक वृत्ति ऐसी ही जड़ बनी रही और उन्होंने अपने दोषों को त्याग कर न्यायपक्ष को अपनाने का प्रयत्न नहीं किया तो प्रकृति स्वयं उनके दुष्कर्मो का दंड देकर उनको सुमार्ग पर लाने को विवश करेगी । वर्तमान समाज में इतनी विकृतियाँ आ गई है और बहुसंख्यक व्यक्ति स्वार्थवश या स्वभाव पड़ जाने से अन्याय मार्ग पर चलने के ऐसे अभ्यस्त हो गये हैं कि जब तक दैवी-दंड द्वारा उनका कायाकल्प नहीं किया जायगा तब तक वे न तो स्वय सुधरेगे और न संसार का सुधार होने देंगे । इसके लिये समाज-सेवा के अभिलाषी व्यक्ति को हृदय मे सबके लिये सद्भावना और प्रेमभाव रखते हुए भी एक डाक्टर की तरह समाज की चीर-फाड़ करनी पड़ेगी । वर्तमान समाज के गले-सड़े अंश को काटकर फेंक देना होगा ताकि शेष शरीर स्वस्थ और उपयोगी रह सके ।

जिन निकटवर्ती लोगों ने उस समय उनके इस भाव को देखा था और समय-समय पर उनके उद्‌गारों को सुनते रहते थे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रभु जगद्बन्धु एक ऐसे संसारव्यापी महान् परिवर्तन की सूचना दे रहे हैं जिसमें हमारे समाज का एक बड़ा भाग अपने दोष-दुर्गुणों सहित डूब जायगा और फिर एक नूतन समाज की रचना होगी । इस समय एक तरफ तो भौतिक विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप संसार के विभिन्न भागों मे घनिष्ठ सबंध स्थापित होता जाता है, और दूसरी तरफ मनुष्य मे स्वार्थपरता की-पृथकता की भावना इतनी बद्धमूल हो चुकी है कि वह उसे त्यागने को राजी नहीं होता । इस पारस्परिक विरोधी स्थिति का स्वाभाविक परिणाम एक दिन महा सङ्घर्ष के रूप में प्रकट होगा, तब नाश तथा कष्टो की भट्‌टी में तप कर हमारे समाज का पूर्ण रूप से संशोधन-संस्कार हो जायगा । तभी हम संसार में एक सच्चे आत्मीयभाव-विश्व बन्धुत्व की मानवोचित भावना का उदय होते देखेंगे ।

कीर्तन द्वारा विधर्मियों से रक्षा

प्रभु जगद्बन्धु अजात शत्रु थे । किसी विरोधी के प्रति भी उन्होंने कभी दुर्भावना अथवा शत्रुता का भाव प्रकट नहीं किया । उनका चरित्र और प्राणीमात्र के प्रति प्रेममय व्यवहार मानवता के लिये आदर्श स्वरूप था । यह आवश्यक है कि उन्होंने सार्वजनिक सेवा और परोपकार के कार्य, धर्म-पालन के रूप में किये और उनकी शिक्षा भी धार्मिक शब्दावली में ही दी जाती थी, पर उसका प्रभाव समाज-सुधार और जातीय उन्नति के लिये कल्याणकारी ही सिद्ध हुआ । उनके अछूतोद्धार संबंधी कार्यों की उपयोगिता से तो कोई इनकार कर ही नहीं सकता । उनका दूसरा मुख्य कार्य था-- संकीर्तन जिसके सबंध में आधुनिक-शिक्षित--जनों से मतभेद हो सकता है । आज देश में अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो कीर्तन को अनावश्यक और हानिकारक भी बतलाते है । पर इस प्रकार का आक्षेप करते हुए उनकी निगाह भारतवर्ष की दशा और उसके निवासियों पर नहीं जाती । वे यहाँ की दशा पर अपने विदेशी चश्मे से ही दृष्टिपात करते हैं । उनको इस बात का कोई ख्याल नहीं कि यहाँ की साधारण जनता किस स्तर की है और उसका बौद्धिक विकास कहाँ तक हुआ है ?

अब से पाँच-सौ वर्ष पहले चैतन्य महाप्रभु ने हिन्दू-जाति को जाग्रत करने के लिये कीर्तन का आविष्कार किया था । उस समय समस्त देश में पठान शासकों का आतङ्क छाया हुआ था और वे इस देश के निवासियों के धार्मिक और सामाजिक विषयों में भी मनमाने ढङ्ग से हस्तक्षेप करते थे । इससे सब श्रेणियों के हिन्दू भयभीत होकर अपने धर्म-कर्म से विमुख होते जाते थे । चैतन्य प्रभु ने इस निर्बलता का अनुभव किया । वे सैनिक शक्ति से तो मुसलमानों का मुकाबला कर नहीं सकते थे, इसलिये उन्होंने भगवन्नाम-कीर्तन का प्रचार करके लोगों को धार्मिक निष्ठा को दृढ़ करने का प्रयत्न किया । इसका परिणाम यह हुआ कि जो हिन्दू साधारण मुसलमान सिपाहियों से डरकर पूजा पाठ बन्द कर देते थे, मन्दिरों को अरक्षित छोड़कर भाग जाते थे, उन्होंने नवद्वीप जैसे नगर में काजी की आज्ञा का उल्लङ्घन करके अत्यन्त विशाल जलूस निकाला और स्वयं काजी के मकान पर जाकर बड़ी देर तक कीर्तन किया ।

इससे अन्य नगरों में हिन्दुओं का भी साहस बढ़ गया और कुछ ही वर्षों में चैतन्य महाप्रभु ने भगवन्नाम कीर्तन को देशव्यापी बनाकर हिन्दू जाति को एक सुदृढ़ आधार पर खड़ा कर दिया ।

वर्तमान समय में भी हिन्दू धर्म पर ईसाइयत के आक्रमण हो रहे थे । उच्च श्रेणी के लोगों को विदेशी साहित्य और दर्शन से प्रभावित करके, नीची श्रेणी वालों को सांसारिक सुख-सुविधाओं का लालच दिखाकर धर्मच्युत करने का प्रयत्न किया जा रहा था । लाखों व्यक्ति इस फन्दे में फँस भी गये थे इसके सिवाय लाखों ही व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने यद्यपि धर्म-परिवर्तन नहीं किया था, पर उनके हृदय पर विदेशियों के प्रचार का गहरा प्रभाव पड़ा था और भारतीय धर्म पर से उनकी आस्था बहुत शिथिल हो गई थी । ईसाइयत के इस प्रबल प्रवाह का मुकाबला करने के लिये 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की गई, पर उसके अनुयायी बहुत अधिक 'आधुनिक' बनकर एक प्रकार से हिन्दू-समाज से कट गये थे । ऐसी अवस्था में प्रभु जगद्बन्धु ने कीर्तन का सहारा लेकर जन-साधारण के धर्म-भाव को जागृत करने की योजना बनाई और जहाँ तक छोटी जातियों का संबंध था उनको सफलता मिली । उन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से एकाध लाख व्यक्तियों को ईसाई बनने से बचा लिया ।

पर उच्च शिक्षित तथा उच्च वर्ण के लोगों ने उनसे बहुत कम सहयोग किया । इसका एक कारण शायद यह ही कि उन्होंने स्कूली शिक्षा थोड़ी ही पाई थी और इस विचार से उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति उनसे कम प्रभावित होते थे । दूसरी बात यह भी है कि उच्च श्रेणी वाले कीर्तन को कम पढ़े और छोटे दर्जे के लोगों का काम समझते थे । पर ये दोनों ही धारणायें भ्रममूलक और अहंभाव पर आधारित है । यह तो हम नहीं कह सकते कि सभी लोग कीर्तन में भाग लें, क्योंकि यह बहुत कुछ व्यक्तिगत मनोवृत्ति पर निर्भर है । उदाहरण के लिये सनातन-धर्म में पूर्ण निष्ठा रखने वाले ज्ञान-मार्गी, योगमार्ग वाले, वेदान्ती आदि भी कीर्तन में सम्मिलित नहीं होते । पर इसका यह आशय नहीं कि वे कीर्तन का विरोध करें ।

भारतीय धर्म में ईश्वरोपासना की अनेकों पद्धतियाँ और विधियाँ हैं जिनमें कोई एक स्तर वालो और कोई दूसरे स्तर के व्यक्तियों के अनुकूल पड़ती है । ऐसी दशा मे अगर कोई पद्धति हमारे अनुकूल न हो तो भी उसकी निन्दा करने या उसे गलत बतलाने की आवश्यकता नहीं । हम अपनी पसन्द के मार्ग पर चलते रहें और दूसरे मार्गो को अन्य लोगो के लिये छोड़ दें तो यह कोई हानि की बात नहीं है । धर्म के विषय में लोगों को सदा उदारता से काम लेना चाहिये । जो धर्म हमको सङ्कीर्ण बनाये अथवा दूसरों के साथ वैमनस्य करने की शिक्षा दे उसे 'धर्म' समझना ही व्यर्थ है । जो लोग अपनी शक्ति को दूसरों के खंडन-मंडन में लगाते हैं उनकी धार्मिकता को हम संदिग्ध समझते हैं ।

प्रभु जगद्बन्धु का धार्मिक प्रचार इस दृष्टि से प्रशंसनीय है कि उन्होंने किसी अन्य धर्म या सम्प्रदाय की निन्दा-कुत्सा नहीं की और सदैव लोगों को प्रेम-धर्म का ही उपदेश दिया । कीर्तन की प्रथा बङ्गाल मे प्राचीन समय से प्रचलित थी और भक्ति-मार्ग वालों को सामूहिक कीर्तन-पद्धति बहुत प्रभावशाली जान पड़ती है । इसीलिये प्रभु जगद्बन्धु को जन-समुदाय के जागृत और संगठित करने में बहुत हद तक सफलता मिल सकी । इन बातों पर विचार करने से उनके कार्य की प्रशंसा ही की जानी चाहिये । कीर्तन द्वारा पारस्परिक ऐक्य की कितनी वृद्धि हो सकती है । इसकी विवेचना करते हुए उन्होंने कहा था–

"हरिनाम या 'हरिबोल' में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता नहीं है । शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय का व्यक्ति क्यों न हो 'हरिनाम' सबके लिये कल्याणकारी और अनुकूल है । गुरु, गौराङ्ग, गोपी, राधा, श्याम सब मिलकर हरिनाम बनता है, इसलिये इस एक शब्द का उच्चारण करने से अन्य सबका उच्चारण अपने आप हो जाता है । जो लोग अभ्यासवश ऊँच अथवा नीच कहे जाते हैं वे इस भेद-भाव को भूलकर केवल हरिनाम का कीर्तन, उपासना करें तो इसके द्वारा ही समस्त हिन्दू एक-दूसरे को भाई-भाई कहकर धार्मिक-साम्यवाद के एक सूत्र में आबद्ध हो सकते हैं । जिस प्रकार मुसलमानों की नमाज के स्थान में राजा और प्रजा का अन्तर कुछ भी ज्ञात नहीं होता, सब कोई यहाँ पर एक दूसरे को धर्म-भाई मानकर गले से मिलते हैं और इससे उनकी जातीय एकता का पथ बहुत सरल, सहज साध्य हो गया है, उसी प्रकार हिन्दू भी एकमात्र सङ्कीर्तन के द्वारा अपनी जाति की चिरवांछित एकता को प्राप्त कर सकते हैं ।"

आध्यात्मिक जीवन का अभ्यास और प्रचार

यदि प्रभु जगद्बन्धु के जीवन की विभिन्न घटनाओं और उनकी कार्यप्रणाली पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वे एक आध्यात्मिक व्यक्ति थे और भक्ति तथा कीर्तन के द्वारा उनका उद्देश्य मनुष्यों को स्वार्थपूर्ण भौतिकता से हटाकर अध्यात्म की प्रेरणा देना ही था । उन्होंने स्वयं आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन किया, अत्यन्त-सादा खान-पान रखा, वर्षों तक

मौनावस्था में रहे । दूसरों को भी उन्होंने इन्हीं बातों का उपदेश दिया और उनके प्रभाव से सैकड़ों व्यक्ति आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सके । उनके मौनावलम्बन के संबंध मे एक स्थान पर कहा गया है-

"प्रभु जगद्बन्धु जिस समय कलकत्ता में निवास करते थे तभी मौन रहा करते थे । कुछ समय बाद वे फरीदपुर आकर अपने 'श्री अङ्गन' में एक कुटी के भीतर बन्द होकर रहने लगे । उनका कहना था कि अब मेरे शरीर का आध्यात्मिक तेज इतना अधिक हो गया है कि कोई सामान्य मनुष्य उसे सहन नहीं कर सकता । उस समय के कई प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि जिन दो एक व्यक्तियों ने छिपकर उनको देखा वे प्रायः बेसुध हो गये । इसलिये वे अपनी कुटी को सदैव बन्द ही रखते थे और यदि कभी किसी भक्त से कुछ कहने की आवश्यकता होती तो कागज पर लिखकर बतला देते थे । पर धीरे-धीरे उसे भी बन्द कर दिया और प्रायः १७ वर्ष 'महा-नीरवता' की दशा में ही व्यतीत किये । इस बीच में देश-विदेश के न जाने कितने धार्मिक-अधार्मिक, विद्वान, मूर्ख, राजा-जमींदार, साधु-संन्यासी, भक्त-वैष्णव आदि सभी श्रेणियों के व्यक्ति उनकी आध्यात्मिक शक्ति से आकर्षित होकर 'श्री अङ्गन' मे आये और उन्होंने दर्शनों के लिये बड़ी विनती की, पर उनका प्रत्यक्ष दर्शन किसी को न हो सका । हाँ जिनकी हार्दिक भावना बहुत तीव्र थी और जो कौतूहल के लिये नहीं वास्तविक आत्मोत्थान के आकांक्षी थे, उनको किसी रूप में उनका दर्शन मिल ही गया । पर यह कैसे हुआ इसे वे स्वयं नहीं बतला सकते । हम तो इस संबंध मे केवल इतना ही कह सकते हैं कि ऐसी घटना दो उच्चश्रेणी के अध्यात्म शक्ति संपन्न हृदयों में पारस्परिक आकर्षण से ही हो सकती है ।"

प्रभु जगद्बन्धु जब 'श्री अङ्गन' में रहने लगे तो वह स्थान प्रायः निर्जन रहता था । उस समय कलकत्ता निवासी एक युवक उनकी सेवा करने लगा था । यह अपने आरम्भिक जीवन में पर्याप्त विलासी व्यक्ति था, पर प्रभु जगद्बन्धु की आध्यात्मिक प्रेरणा से ही दीन-दशा मे रहकर जप-तप और सेवा-कार्य करने लगा ।

कुछ समय तक तारकेश्वर वणिक सेवा-कार्य में संलग्न रहा । यह बी० ए० तक पढ़ा और आधुनिक शिक्षितों की तरह 'प्रभु' की परीक्षा करने की चेष्टा करता रहता था । इसलिये उन्होंने एक दिन एक कागज पर उसे लिख कर दिया-- "तुम परीक्षा करने के चक्कर में मत पड़ो । क्योंकि परीक्षा का भाव रखने से किसी प्रकार का आत्म-लाभ नहीं हो सकता वरन् आत्मा निर्बल पड़ जाती है ।"

कृष्णदास नामक व्यक्ति ने एक बार कलकत्ता की एक सड़क पर प्रभु जगद्बन्धु के दर्शन किये थे । इससे वह इतना प्रभावित हुआ की सब काम छोड़ कर भक्ति-प्रचार में ही लग गया और दो-तीन वर्ष बाद 'श्री अङ्गन' में रहकर प्रभु की सेवा करने लगा । वे उसे यही उपदेश देते थे कि 'धर्म करना है तो कर्म करो ।' केवल कृष्ण या राधा का नाम लेकर भावाविष्ट होकर कीर्तन करने से काम नहीं चल सकता । समाज और सत्पात्र व्यक्तियों की सेवा-सहायता करने ही मनुष्य ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है । महापुरुषों के सान्निध्य में रहना और उनसे दैवी-जीवन की प्रेरणा प्राप्त करना बहुत अच्छा है, पर वास्तविक महत्व समस्त प्राणियों और मनुष्यों में आत्म-भाव का अनुभव करना और जब आवश्यकता अथवा अवसर आवे तो निःस्वार्थ भाव से जहाँ तक बन पड़े उनकी सेवा करना ही आध्यात्मिकता का सच्चा लक्षण है ।

इसी प्रकार अनेक व्यक्ति 'प्रभु' के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निष्काम भक्ति की शिक्षा प्राप्त करके अध्यात्म-मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे । सन्तों के उपदेश देने के अनेक ढङ्ग होते हैं । प्रभु जगद्बन्धु अपने प्रेमियों से अदृश्य रहकर, उनसे एक शब्द न बोलकर केवल भावना के आधार पर उनकी मनोभूमि को उच्च स्तर पर पहुँचाने की योजना करते थे । उनके इस प्रकार के भक्तों में 'एक महेन्द्रजी' थे । वे एक भद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे और बाल्यावस्था से भक्ति-भाव उत्पन्न हो जाने से २० वर्ष की आयु मे वृन्दावन चले गये थे । एक बार उनको स्वप्नावस्था में 'प्रभु' का दर्शन हुआ और फिर किसी तरह उनका पता लगाकर वे श्री अङ्गन में आ गये । वहाँ पर वे लगभग सात-आठ वर्ष तक रहकर प्रभु की सेवा करते रहे । इस बीच में 'प्रभु' ने बार-बार प्रार्थना करने पर भी उनको एक भी दिन दर्शन न दिया और न एक शब्द उच्चारण किया । प्रथम तो 'महेन्द्रजी' इससे अत्यन्त खिन्न हुए और आत्मघात की कल्पना करने लगे, पर ऐसे अवसर पर 'प्रभु' किसी प्रकार अज्ञात रूप से उनके हृदय में प्रेरणा देते रहे कि निष्काम-भक्ति का यही मार्ग है । जो व्यक्ति सर्वदा अनजान हो, जिसको कभी देखा भी न हो, ऐसे व्यक्ति से प्रेम कर सके, बिना किसी भी प्रकट-लाभ की आशा के अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहे, तो समझना चाहिये कि उसने निष्काम-कर्म या सर्वोच्च भक्ति के मार्ग को जान लिया है ।

प्रभु जगद्बन्धु की निस्पृहता

'प्रभु' के जीवन-काल में ही उनके भक्तों की संख्या पर्याप्त हो गई थी और आज यद्यपि उनको जीवनमुक्त हुए

४७ वर्ष के लगभग हो चुके होंगे तो भी अनेक आत्मज्ञानी व्यक्ति उनके उपदेशों को मानकर अध्यात्म-पथ पर अग्रसर हो रहे है । आज फरीदपुर नगर जहाँ 'प्रभु' 'महासमाधि' अवस्था में अवस्थित हैं, पाकिस्तानी शासन के अन्तर्गत जा चुका है, तब भी ये भक्तगण इस आशा से आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं कि एक दिन 'प्रभु' द्वारा उपदेश दिया हुआ 'प्रेम-धर्म' इस समग्र पृथ्वी को अवश्य पावन करेगा ।

आज हम 'विश्व-प्रेम', विश्व-शान्ति', 'विश्व-कल्याण' की बातें करते हैं, पर प्रभु जगद्बन्धु ने अपने जीवन में इन्हीं सिद्धान्तों को क्रियान्वित करके दिखाया था और छोटे से छोटे व्यक्ति को गले लगाकर उसमे आत्म-भाव को जागृत किया था । उन्होंने आजकल के नेताओं की तरह कोई धूम-धाम का सार्वजनिक आन्दोलन उठाकर या अखबारों के लेखो या सभाओं मे दिये भाषणों से अपना नाम फैलाने की चेष्टा नहीं की वरन् उनको जो कुछ करना था उसे चुपचाप ठोस रूप मे करते रहे और बाद में एक एकान्त कुटी में बैठकर विचार-शक्ति और सङ्कल्प-बल द्वारा जन-जन मे उसका प्रसार करते रहे । परिणाम यह हुआ कि वे जो कुछ चाहते थे वह पूरा होकर सामने आ गया । उन्होंने डोम और बागदी जैसी अछूत जातियों को स्वधर्म में स्थिर रखने के लिये उनकी सेवा का व्रत लिया, उनको ऊँचा उठाया, तो आज समस्त भारत में अछूत कहे जाने वालों को समानता का दर्जा मिल गया है और पहले जमाने को देखते हुए उनकी दशा की कायापलट हो गई है । चाहे इस शुभ परिवर्तन का श्रेय महात्मा गाँधी को है, उन्होंने अपने प्राणो की बाजी लगाकर उनके अधिकार दिलाये, पर इसमें प्रभु जगद्बन्धु की शुभ कामनाओं और एकान्त तपस्या का भी कुछ योग हो तो यह कोई आश्चर्य की या असंभव बात नहीं है । शुभ-विचार इसी तरह न मालूम कितने सूक्ष्म उतार-चढ़ावों के भीतर होकर स्थूल जगत् मे प्रकट हुआ करते हैं । प्रभु जगद्बन्धु ने इस कार्य को किस प्रकार तन, मन और प्राण लगाकर सफल बनाया इसकी विवेचना करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है–

"प्रभु जगद्बन्धु अजातशत्रु थे । यदि और सब बातों को छोड़ भी दिया जाय तो भी आदर्श-मानवता के विकास के लिये उन्होंने दिव्य-जीवन के जो कार्य किये और उदाहरण उपस्थित किये, उनके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । फिर भी उनकी बातो और कार्यो को लेकर विद्वान् लोग विचार और चर्चा क्यों नहीं करते ? भारतीय और विशेषतः बङ्गाली समाज में इस समय जो जागृति दिखाई देती है, उसमें 'प्रभु' का भी पर्याप्त अंश है । यद्यपि आधुनिक शिक्षित व्यक्ति कीर्तन का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं, पर यह उनकी विदेशी शिक्षा-दीक्षा का ही प्रतिफल है । आज भारत के बड़े-बड़े नेता असाम्प्रदायिकता का राग अलापते हैं, पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो साम्प्रदायिकता का विष भीतर ही भीतर बढ़ रहा है । इसकी सचाई चुनावों में जातीयता के प्रवेश और भाषा तथा प्रान्त के नाम पर देशव्यापी कलह में स्पष्ट दिखाई पड़ रही है । पर प्रभु जगद्बन्धु ने 'कीर्तन' के रूप में भगवान का नाम लेने का जो क्रम चलाया था वह वास्तव में 'एक ईश्वर' की भावना उत्पन्न करके साम्प्रदायिक भेद-भाव को दूर करने वाला था । हृदय से भगवान का नाम लेने वाला कभी दूसरे व्यक्ति को पराया अथवा विरोधी ख्याल नहीं कर सकता । क्या दूसरे लोगों को किसी दूसरे भगवान ने बनाया है ? फिर एक ही भगवान के बनाये होकर हम अलग-अलग कैसे हो सकते है ? भगवान के नाम-कीर्तन का यदि समझदारी के साथ प्रचार किया जाय और उसकी मूल भावना समझते रहा जाय तो समस्त संसार को वह चाहे एक न बना सके पर हिन्दू-जाति में तो एकता पैदा कर ही सकता है ।

सङ्गठन और सहयोग में बड़ी शक्ति है । आज ही नहीं अति प्राचीन काल से वही जाति सफलता प्राप्त करती आई है, जिसका सङ्गठन सुदृढ़ रहा और जिसके सदस्य परस्पर में आत्मीयता रखते थे । मनुष्य तो क्या छोटे प्राणियों मे भी शहद की मक्खी तथा चींटी जैसे जीव सगठन और सहयोग के बल से अपनी सुरक्षा और अस्तित्व को कायम रखने में बढ़े-चढ़े दिखाई पड़ते है । प्राचीन काल में आर्य जाति में जिस यज्ञ प्रथा का विशेष रूप से प्रचार था, उसका एक मुख्य उद्देश्य समस्त जातियों मे सङ्गठन और सहयोग भी था । प्रभु जगद्बन्धु ने सङ्कीर्तन द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति की थी । उस समय भी पूर्व बङ्गाल में, जो कि उनका मुख्य कार्यक्षेत्र था, हिन्दुओं की संख्य अल्प थी और संगठन तथा सहयोग की दृष्टि से भी ये बहुत पिछड़े हुए थे । इससे उनको दबकर रहना पड़ता था और अनेक प्रकार के अन्याय भी सहन करने पड़ते थे । उनके पड़ोसी मुसलमान बहुसंख्यक ही नहीं थे वरन् सङ्गठन का भाव उनमें मर्यादा से बहुत अधिक था । प्रभु जगद्बन्धु ने सङ्कीर्तन द्वारा हिन्दुओं मे एक और सङ्गठन की एक नवीन भावना उत्पन्न की जिससे जागृति की वृद्धि हुई और वे सङ्गठित होकर आत्म-रक्षा और आत्म-विकास में समर्थ हो सके ।

कोई समय था जबकि भारतीय साधु-संस्था द्वारा निरन्तर जन-कल्याण के आयोजन होते रहते थे और धर्म की रक्षा

के लिये वे प्राणोत्सर्ग करने को अग्रसर रहते थे । इसी से उनको समाज में पूजनीय स्थान मिला था और लोग उनके जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं का स्वयं ही पूरा ख्याल रखते थे । पर आज दशा प्रायः उल्टी हो गई है और साधु नामधारी व्यक्तियों में से ९० प्रतिशत छल-बल, कपट-पाखंड, ठगी-चोरी आदि जघन्य कार्यों के करने में भी आगा-पीछा नहीं करते । शेष १० चाहे इस तरह के नीच कर्म न करते हों, पर जनता की भलाई, सेवा, समाज-कल्याण की चिन्ता आदि का ध्यान उनको भी नहीं है । इसलिये वर्तमान 'साधु' नामधारी व्यक्ति समाज के लिये एक भार ही नहीं वरन् अभिशाप स्वरूप सिद्ध हो रहे हैं । हमको तो यह दिखाई दे रहा है कि जिस दिन भारत में जन-क्रांति की किसी भी प्रकार की लहर उठेगी ऐसी हानिकारक और असामयिक संस्था का चिन्ह भी शेष न रहेगा । यदि जो इस भीषण-भविष्य से अपनी रक्षा चाहते हैं उनको प्रभु जगद्बन्धु जैसे साधुओं का पदानुसरण करना चाहिये, जिन्होंने समाज से जीवन-निर्वाह के लिये कम से कम सामग्री लेकर अपना जीवन उसके सुधार और उद्धार के लिये उत्सर्ग कर दिया ।

इस सुधार कार्य में प्रभु जगद्बन्धु ने इतना परिश्रम किया और अपने सहयोगियों के सम्मुख त्याग और तपस्या का आदर्श रखने के लिये समस्त सुख-सुविधाओं को इतना अधिक छोड़ दिया कि उनका स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अल्प आयु में ही निर्बल पड़ गया और वे पचास वर्ष की आयु में ही (१७ सितम्बर, सन् १९२३) परलोक को प्रयाण कर गये, किन्तु वे कीर्तन के जिस पौधे को लगा गये वह बहुत समय तक लाखों नर-नारियों को पवित्र और त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता रहेगा । विशेषतया दलित, अस्पर्श्य, अछूत कहलाने वाली जातियों पर उनके इस कार्यक्रम का प्रभाव बहुत कल्याणकारी पड़ा और वे ईश्वरोपासना का श्रेष्ठ मार्ग मिल जाने से अनेक प्रकार के दोष-दुर्गुणों से छुटकारा पा सके । यदि कीर्तन के प्रचारक इसी भावना से काम करने लगें तो वह लाखों व्यक्तियों के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है ।

व्यावहारिक वेदान्त के प्रचारक स्वामी रामतीर्थ

जिस समय स्वामी रामतीर्थ जापान होकर अमरीका पहुँचे तो जहाज पर आपको बिना किसी तरह के सामान के देखकर एक अमरीकन सज्जन को बड़ा आश्चर्य हुआ । तपस्या की ज्योति और प्रेम की भावना से परिपूर्ण ऐसा चेहरा उसने पहले कभी नहीं देखा था । वह उनके पास आकर पूछने लगा--

प्रश्न-- आपका सामान कहाँ है ?

उत्तर-- मेरे पास इतना ही सामान है जो मेरे शरीर पर है।

प्रश्न-- तो फिर आप अपना रुपया पैसा कहाँ रखते हैं ?

उत्तर-- मेरे लिये रूपया-पैसा अपने पास रखना मना है ।

प्रश्न-- आप कहाँ जायेंगे ? क्या आप अमरीका में किसी को जानते है, आपका कोई मित्र यहाँ है ?

उत्तर-- हाँ, मैं आपको जानता हूँ, आप ही मेरे मित्र हैं ।

स्वामी जी के इस आन्तरिक आत्म-भाव को देखकर वह अमरीकन सज्जन, जिसका नाम मि० हिल्लर था, चकित रह गया । वह उसी क्षण उनका भक्त बन गया और उन्हें अपने साथ घर ले गया । स्वामी जी को उसने दो वर्ष तक अपने यहाँ ही रखा ।

अमरीका में ही एक महिला स्वामी राम से मिलने आई। वह बड़ी दुःखी थी, क्योंकि उसका बच्चा मर गया था । वह चाहती थी 'राम' उसका दुःख दूर करके सुखी होने का उपाय बता दें । स्वामी जी ने कहा--

"राम खुशी बेचता है, पर तुम्हें उसकी कीमत देनी होगी ।"

स्त्री-- आप जो कुछ माँगे मैं देने को तैयार हूँ ।

स्वामी जी-- सुख के राज्य का सिक्का दूसरा ही है, और तुम्हें राम के देश का ही सिक्का देना पड़ेगा ।

स्त्री-- हाँ, स्वामी जी ! आप जो कुछ माँगेंगे वही मैं दूँगी ।

स्वामीजी-- बहुत अच्छा, उस छोटे गरीब हब्शी (नीग्रो) बच्चे को ले लो । उसे अपने बच्चे की तरह प्यार करो और पालो । खुशी प्राप्त करने का बस यही इलाज है ।

स्त्री-- "आह, यह तो बहुत मुश्किल है ?" पर अन्त में स्वामीजी की बात की सचाई उसकी समझ में आ गई और उसने काले लड़के को अपना बच्चा बना लिया । उसे प्यार करना और यत्नपूर्वक पालना शुरू किया । कुछ समय मे वास्तव मे वह अपना दुःख भूलकर प्रसन्न रहने लगी ।

ये दो घटनायें बतलाती हैं कि स्वामी रामतीर्थ (सन् १८७३ से १९०६) आत्मसत्ता के बहुत उच्च स्तर तक पहुँच गये थे, जहाँ मनुष्य को कोई भी पराया (गैर) नहीं जान पड़ता । सब जगह एक ही आत्मा का अस्तित्व और प्रभाव दिखलाई पड़ता है । ऐसे महापुरुषों की दृष्टि में से अपना-पराया, मित्र-शत्रु, देशी-विदेशी, काला-गोरा, उच्च-नीच का अन्तर पूर्णतः निकल जाता है और वे सबको आत्म-स्वरूप

में देखने लगते हैं यद्यपि यह स्थिति हर एक व्यक्ति को प्राप्त हो सकनी बहुत कठिन है, पर यदि हम अपने जीवन को वास्तव में सुखी और सार्थक बनाना चाहें तो हमको इसी लक्ष्य की तरफ जहाँ तक संभव हो, अग्रसर अवश्य होना चाहिये। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने भी मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति यही बतलाई है-

दुःखेष्वनुद्विग्न मनाः सुखेषु विगतं स्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीर्मुनिरुच्यते ।।

अर्थात्- "जो विपरीत बातों से घबड़ाता नहीं और अनुकूल बातों के लिये भी चिन्ता नहीं करता और जिसने मित्रता-शत्रुता, क्रोध, भय आदि मानसिक निर्बलताओं को त्याग दिया है वही वास्तविक ज्ञानी है।"

यद्यपि वर्तमान समय में अनेक व्यक्ति यह कहा करते हैं कि हिन्दू धर्मशास्त्रों के अध्यात्म, वेदान्त, योग संबंधी उपदेश मनुष्य को निर्बल और अकर्मण्य बनाने वाले हैं, पर इस कथन में सत्यता का अंश बहुत कम है। स्वामी रामतीर्थ ने अपने जीवन और उपदेशों से यह सिद्ध करके दिखा दिया कि अध्यात्म और वेदान्त सिद्धान्त मनुष्य को निर्बल बनाने के बजाय शक्ति और साहस का भंडार बना देते हैं और यह शक्ति भी ऐसी है कि जो अपना और अन्य समस्त मनुष्यों का कल्याण ही करती है। इस सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए स्वामी राम ने अमरीका में अपने एक भाषण में कहा था–

"कुछ लोग कहते हैं कि वेदान्त निराशावाद की शिक्षा देता है, वेदान्त नाउम्मेदी, आलस्य, सुस्ती सिखाता है। राम की उन लोगों से प्रार्थना है कि अपना 'न्याय-शास्त्र' (तर्क) अपने ही पास रखें और दूसरों के हाथ अपनी-बुद्धि न बेचें। वे अपनी बुद्धि को स्थिर रखते हुये विचार करें कि वेदान्त की शिक्षा जीवन, शक्ति, उद्योग, सफलता का कारण होती है या किसी और चीज का ? यह प्रश्न मत करो कि भारत के निवासी इसका व्यवहार करते हैं या नहीं? राम साफ कहता है कि यह केवल भारतीयों की सम्पत्ति नहीं है, इस पर हर एक का अधिकार है। यह अपना निजी जन्म-सत्व है। अमेरिका निवासी अपने व्यापारिक जीवन में इसका अधिक उपयोग करते हैं, और इसी से उनको इस संबंध में अधिक सफलता होती है। भारतीय उतनी मात्रा में इसका व्यवहार नहीं करते, और भौतिक दृष्टि से इसीलिये वे पिछड़े हुए हैं।"

"वेदान्त और योग की प्राप्ति के लिये आपको जंगलों में जाने और असाधारण कार्यों का अभ्यास करने की कोई जरूरत नहीं है। जब तुम कर्म में डूबे हुए हो, जब किसी कर्तव्य पालन में पूर्णतः लीन हो, तब समझ लो कि तुम योगी जनक हो, तुम स्वयं शिव हो। वेदान्त के अनुसार शरीर तुम्हारा आत्मा नहीं है। क्या आप यह नहीं देखते कि आप तभी अत्युत्तम काम कर दिखाते हैं जब आप उसमें इतने अधिक तन्मय हो जायें कि शरीर और मन का ध्यान ही न रहे।"

स्कूल और कालेज की शिक्षा

स्वामी राम (जिनका पहला नाम तीर्थराम था) के लिये इस प्रकार का वेदान्त केवल एक सिद्धान्त न था। उसको उन्होंने किसी ग्रन्थ में पढ़कर ग्रहण न किया था वरन् उनका जीवन आरम्भ से ही 'वेदान्तमय' था। उनके पिता पं० हीरानन्दजी की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी अतएव वे इनको उच्च शिक्षा नहीं दिला सकते थे। जब तक ये अपने गाँव मराली (गुजरानवाला, पंजाब) में रहे तब तक वहाँ के प्राइमरी स्कूल में एक मौलवी से उर्दू पढ़ते रहे। नौ वर्ष की आयु में शहर के हाईस्कूल में भरती करा दिये गये, जहाँ इनके पिता के एक मित्र धन्ना भगत इनकी देखभाल करते रहते थे।

पंद्रह वर्ष की आयु में इन्होंने इन्ट्रेंस की परीक्षा पास कर ली, पंजाब प्रान्त में सर्वप्रथम आये। इससे इनको विशेष छात्रवृत्ति मिल गई और उसी के आधार पर लाहौर के एक कालेज में एफ. ए. की पढ़ाई करने लगे। इनके पिता कालेज की पढ़ाई के लिये राजी न थे, इसलिये उन्होंने किसी प्रकार की आर्थिक सहायता देना कतई बन्द कर दिया। ये पुस्तकों और फीस आदि का खर्च तो छात्रवृत्ति से पूरा करते थे और भोजन के लिये कोई ट्यूशन करके काम चलाते थे। कुछ समय बाद एक कठिनाई और आ गई। इनके पिता ने जब इनको अपनी मर्जी के विरुद्ध कालेज में पढ़ते देखा तो इनकी स्त्री को भी इनके पास भेज दिया, ताकि जब खर्च की कमी पड़े तो यह कोई नौकरी कर लें। पर ये अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे और सब प्रकार के अभावों और कष्टों को सहन करके भी पढ़ाई को जारी रखा। इनका विवाह उस जमाने की प्रथा के अनुसार बहुत छोटी आयु में ही हो गया था।

त्याग और तपस्या का विद्यार्थी जीवन

इस प्रकार तीर्थराम को अपने विद्यार्थी-जीवन में ही त्याग और तपस्या का पूरा परिचय देना पड़ा। उस जमाने की दो चार घटनायें सुनने में आती हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि उस समय भी आप एक 'योगी' की भाँति एक मात्र विद्याध्ययन को लक्ष्य बनाकर संसार की और सब बातों को भूले हुए थे। उस समय की अत्यन्त कठिन गरीबी का वर्णन करते हुए उनके एक जीवन चरित्र लेखक ने कहा है–

"यह सच है कि जिस भयानक गरीबी में-तीर्थराम जी ने कालेज में शिक्षा प्राप्त की वह शायद ही और किसी विद्यार्थी ने अनुभव की हो । अनेक दिन ऐसे भी आये कि लाहौर जैसे शहर में केवल तीन पैसे रोज पर गुजारा करते रहे । सुबह के वक्त एक दुकान पर दो पैसे की रोटी खरीद लेते और दाल के साथ खा लेते । शाम को उसी दुकान से एक पैसे की रोटी खाते, दाल मुफ्त में मिल जाती । कुछ दिन तो इस तरह बिताये । पर बाद में दुकानदार ने कह दिया कि एक पैसे की रोटी के साथ दाल मुफ्त में नहीं मिल सकती । इस पर लाचार होकर शाम का खाना बन्द कर देना पड़ा, सुबह एक बार खाकर ही सन्तोष कर लेते । उनके पास पहिनने को न कोट था, न पतलून और नेकटाई। आपके पास घर के खद्दर की बनी एक कमीज थी और एक पायजामा । पैरों में एक मामूली देशी जूती पहिन कर काम चलाते थे ।"

एक बार दुकान से कुछ सामान खरीदते समय आपकी एक जूती नाली मे गिरकर खो गई । दूसरे दिन आप एक जूती अपनी और दूसरी पुरानी जनानी जूती पहिन कर कालेज गये । जब पैसे आ गये तो नौ आने की नई जूती खरीदी । यह दशा देखकर उनके कुछ मित्र भी समय-समय पर थोड़ी बहुत सहायता कर देते । १८९३ के एक पत्र में आपने लिखा था-

"झण्डामल ने मुझे दो कुर्ते और एक पाजामा दिया है और ज्वाला प्रसाद का कोई कपड़ा पहिन लेने की भी मुझे छूट है । इसलिये चिन्ता की कोई बात नहीं ।"

स्वामी राम के एक निकटतम सहयोगी और उच्चकोटि के विद्वान् प्रोफेसर पूर्णसिंह ने स्वामीजी की छात्रावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है-

"रात को पढ़ने के हेतु दीपक के तेल के लिये वे कभी-कभी वस्त्र नहीं बनवाते थे व किसी-किसी दिन भोजन भी नहीं करते थे । स्वामी राम की छात्रावस्था में प्रायः ऐसा हुआ है कि वे शाम से सवेरे तक पढ़ने मे लीन रहे । विद्या का प्रेम इतने जोर से उनके हृदय को मसोसता था कि विद्यार्थी-जीवन में साधारण सुख और शारीरिक आवश्यकताएँ बिल्कुल भूल गये थे । भूख और प्यास, सर्दी और गर्मी का उनकी इस ज्ञान-पिपासा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । गुजरान वाला और लाहौर के जिन लोगों ने उन्हें उस समय देखा था उनका कहना है कि शुद्धचित्त गोस्वामी (तीर्थराम) दिन-रात असहाय और अकेला परिश्रम करता रहता था अर्थात् बिना युद्ध के साधनों के जीवन से संग्राम करता था ।"

पाठक इसकी तुलना आजकल के विद्यार्थियों से करें जिनके लिये पाठ्यक्रम की पुस्तकों का अध्ययन तो बड़ा कठिन जान पड़ता है पर सिनेमा और सिगरेट के बिना जिनका काम नहीं चलता । यही कारण है कि स्कूल और कालेज के जीवन में ही उनके अन्दर इतने दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं, और सच्ची योग्यता और परिश्रम का अभाव हो जाता है, कि उनका आगामी जीवन अधिकांश में असफल ही होता है । या तो वे आलसी और निकम्मे बनकर अभावयुक्त अवस्था में समय काटते हैं अथवा गुण्डा और बदमाश बनकर अपने और समाज के लिये दुष्टता की वृद्धि करने वाले सिद्ध होते हैं । इसके विपरीत तीर्थराम ने एक तपस्वी की तरह सब प्रकार के कष्टों का ध्यान छोड़कर पढ़ाई में इतना अधिक मनोयोग किया कि सदा यूनीवर्सिटी में प्रथम आते रहे और जब एम० ए० की परीक्षा देने से कुछ समय पूर्व सरकारी कालेज के अँग्रेज प्रिंसीपल ने इनकी सच्ची लगन से प्रसन्न होकर अपने पास बुलाया और पूछा कि "क्या मैं आपका नाम आई० सी० एस० (इंडियन सिविल सर्विस) की परीक्षा के लिये भेज दूँ ?" तो इनकी आँखों मे आँसू भर आये और कहने लगे- "मैंने इतनी मेहनत से ज्ञान का जो खजाना पाया है उसे मजिस्ट्रेट और जज बनकर अपराधियों के मुकद्दमे सुनने में क्यों खो दूँ ! इस ज्ञान की दौलत को बाँटकर अपने आपको और दूसरों को सुखी करना ही मेरा कर्तव्य है ।"

एक दिन फिर कालेज के प्रिंसीपल ने पूछा कि- 'एम० ए० पास करने के बाद क्या करोगे ? तो आपने उत्तर दिया-

"यदि कोई इच्छा है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक साँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ और मनुष्य मात्र की सेवा करूँ क्योंकि लोक-सेवा ही ईश्वर-सेवा है ।"

स्वामी राम के ये मनोभाव बतलाते हैं कि एक सच्ची आत्मा में सेवा-धर्म पालन करने की कैसी उत्कट अभिलाषा होती है । जिस विद्यार्थी जीवन में सब कोई ऊँची नौकरी करने की बात ही सोचा करते है और भले बुरे सब उपायों से उसी के लिये प्रयत्न करते रहते हैं, उस समय तीर्थराम ने स्वयमेव मिलती हुई कलक्टर और जज की नौकरियों की तरफ निगाह भी नहीं डाली । उस समय में भारतवासियों की पहुँच अधिक से अधिक इन्हीं पदों तक होती थी और श्री अरविन्द, देशबन्धु दास, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस आदि सर्वोच्च नेताओं के अभिभावकों ने उनको आई० सी० एस० बनाकर इन पदों की ही अभिलाषा की थी । यह बात दूसरी थी कि उस समय के गर्म राजनीतिक वातावरण से प्रभावित होकर वे अन्य मार्ग पर चले गये, पर तीर्थराम आरम्भ से ही मानते थे कि यह ज्ञान वास्तव में एक ईश्वरीय अनुदान

है जिसका उपयोग हमको मुख्यः उसकी सृष्टि को सुखी और श्रेष्ठ बनाने के लिये ही करना चाहिये । यही मनुष्य का सबसे प्रथम और सर्वोत्तम कर्तव्य है । यदि हम इस ज्ञान को पाकर उसका उपयोग केवल स्वार्थ-साधन के लिये ही करते है अथवा उससे भी नीचे उतर कर उसके द्वारा दूसरों का अनहित करते हैं तो हम मनुष्य कहलाने के भी हकदार नहीं हैं और सम्भवतः आगामी जन्म में हमको उन्हीं योनियों में जन्म लेना पड़ेगा जिनमें ज्ञान का अभाव है ।

परोपकार की सक्रिय साधना

जब बी० ए० की परीक्षा में प्रान्त भर में प्रथमोत्तीर्ण होने पर उनको एम० ए० में ६० रु० मासिक छात्रवृत्ति मिलने लग गई तब उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ जाती रहीं । पर इसका आशय यह नहीं कि वे आराम की जिन्दगी गुजारने लगे या सांसारिक भोगों में प्रवृत्त हो गये । यद्यपि उनकी पत्नी साथ मे थी, तो भी वे धर्म-शास्त्रों के नियमानुसार गृहस्थ धर्म का पालन करने के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का सदैव ध्यान रखते थे । एम० ए० में गेहूँ की रोटी खाना भी छोड़ दिया कई-कई दिन केवल दूध पर रह जाते या उबला हुआ चावल खाकर काम चला लेते । आपका कहना था-

"जो लोग अपने पेट को हलुआ-पूरी या अन्य बढ़िया समझे जाने वाले भोजन से भरे रहते है वे प्रतिभाशाली होने पर भी मूर्ख हो जाते हैं । भोजन जितना हलका होता है दिमाग भी उतना ही काम करता है । इसके अतिरिक्त चित्त की एकाग्रता के लिये दिल की पवित्रता भी बहुत आवश्यक है । जिस विद्यार्थी का दिल पवित्र नहीं है, जो गन्दे विचारों को मन में स्थान देता है, वह किसी तरह अपने दिल, दिमाग को ऐसी सही हालत में नहीं रख सकता जिससे विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में ऊँचा उठ सके ।"

इसलिये एम० ए० में जब आपको ६० रु० महीना (आजकल के भावों के अनुसार लगभग एक हजार रु०) वजीफा मिलने लगा और सन् १८९६ में मिशन कालेज, लाहौर में दो सौ रुपया वेतन पाने लगे, तब भी आपने अपना रहन-सहन बिलकुल सादा ही रखा । जो रुपया बचता उसे अपने पिता, अपने सहायक धन्ना भगत को भेजते और गरीब विद्यार्थियों की मदद करते रहते । स्वय वही खद्दर की पोशाक पहिनते और उन कपड़ो को भी अपनी पत्नी से ही सिलवा लेते ।

इस प्रकार तीर्थराम जी ने अपना उदाहरण दिखाकर लोगों को उपदेश दिया कि जीवन की वास्तविक सफलता बड़े पद पा लेने अथवा भारी चमक-दमक बढ़ा लेने मे नहीं है । सच्ची प्रसन्नता और शान्ति वही पा सकता है जो त्याग और परोपकार का जीवन वितायेगा । चाहे अनजान लोग उसे सीधा-सादा या बुद्धू कहें, पर वह निरन्तर ऊँचा उठता जायगा और समझदार लोग उसका आदर सम्मान ही करेंगे । स्वामी रामतीर्थ सदा मोटा-छोटा खाकर और मामूली कपड़े पहिन कर रहे, अमरीका में भी अपने लिये जङ्गल से लकड़ियाँ काटकर सर पर रखकर ले आते थे, तो भी वहाँ उनका इतना सम्मान किया जाता था कि उस देश का प्रेसीडेण्ट इनसे मिलने को दो बार आया । इसलिये जो लोग सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं उनको सदा सचाई का ख्याल रखना चाहिये, इस बात की फिक्र करने की जरूरत नहीं कि अगर हम दूसरों की तरह शान-शौकत से नहीं रहेंगे तो लोग हमारी इज्जत न करेंगे अथवा हमको मामूली आदमी समझेंगे । भारत के तो सभी महान् पुरुष, ऋषि, सन्त बहुत अधिक सादगी तथा निर्धनता की अवस्था में रहते आये हैं और आज भी सबसे अधिक आदर और सम्मान के साथ उन्हीं का नाम लिया जाता है ।

सांसारिक विभूतियों के त्याग की प्रवृत्ति

स्वामी रामतीर्थ में सांसारिक धन-सम्पदा को असार समझने और आत्मिक क्षेत्र में प्रगति करने की भावना आरम्भ से ही पाई जाती थी । यद्यपि उनको विद्यार्थी अवस्था मे बहुत अभाव और तकलीफ का जीवन बिताना पड़ा था, पर केवल इसी आधार पर वे इतने बड़े आत्मज्ञानी और सर्वस्वत्यागी महापुरुष नहीं बन गये । हम देश के और भी अनेक विद्वानों और नेताओं को जानते है जिनको बाल्यावस्था में ऐसी ही या इससे भी अधिक गरीबी का अनुभव करना पड़ा था, पर बाद मे पढ़-लिखकर उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी बना ली । इसलिये तीर्थरामजी, जो उच्चकोटि के प्रतिभाशाली थे और गणित में जिनकी टक्कर के जानकार विद्वान समस्त देश में इने-गिने थे, अगर शिक्षा के क्षेत्र में ही संलग्न रहते तो एक समय निश्चय ही अन्य प्रसिद्ध पुरुषों की तरह यश और नाम के साथ धन के अधिकारी भी हो जाते । पर उनका झुकाव सदा अध्यात्म की तरफ ही अधिक रहा, दूसरों की भलाई और उपकार को सदा तैयार रहे और हमेशा यही अभिलाषा रखी कि मुझसे संसार की जो अधिक से अधिक सेवा हो सकती है, उसमें कमी न रहे । इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे अवश्य ही उन महान आत्माओं में से थे जो अनेक जन्मों से आध्यात्मिक मार्ग पर चलते हुए, आत्म-विकास के उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं और जिनको ईश्वर विशेष रूप से सांसारिक लोगों के मार्ग-दर्शनार्थ को भेजा करते हैं । 'गीता' में ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषों के लिये यही कहा गया है-

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते (६.४०.४१,४२,४४)

अर्थात्–"ऐसे पुरुष का लोक और परलोक में कभी नाश नहीं होता । क्योंकि शुभ कर्मों का फल कभी दुर्गति के रूप में नहीं मिला करता । ऐसा योग मार्ग का पथिक बहुत समय तक स्वर्ग में रहकर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में अथवा ज्ञानवान योगियों के कुल में जन्म लेता है । वह पूर्व जन्म के अभ्यास से ही भगवान की ओर आकर्षित हो जाता है और सकाम कर्मकाण्ड के मार्ग का उल्लंघन करके समत्व बुद्धि रूपी योग को प्राप्त कर लेता है ।"

स्वामी रामतीर्थ और परमहंसदेव रामकृष्ण का जीवन यही सिद्ध करता है कि कुछ आत्मायें निश्चय ही पूर्व जन्म के संस्कारों से अनायास ही अध्यात्म-मार्ग पर चलने लग जाती हैं और शीघ्र ही इतनी अधिक प्रगति कर लेती हैं जितनी अन्य लोग सब कुछ साधन होने और पूर्ण प्रयत्न करने पर भी नहीं कर पाते ।

स्वामीजी इस अध्यात्म भावना के प्रभाव से सभी प्राणियों में भगवान के दर्शन करते थे और स्वयं को भी 'राम' के नाम से ही पुकारा करते थे । वे जब तक संयासी नहीं हुए थे तब तक भी शरीर की तरफ से बिलकुल बेफिक्र रहते थे और इसे आत्मा का वाहन मात्र समझते थे । प्रोफेसरी की हालत में एक दिन गुर्दे का दर्द पैदा हो गया और इतना अधिक बढ़ गया कि उसके मारे तड़पने लगे । पर पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् श्री इकबाल (जो बाद में उर्दू के सबसे बड़े कवि सर इकबाल बन गये) जब उनसे मिलने आये तो उन्होंने स्वामीजी को हँसते हुए ही पाया । उन्होंने इकबाल से कहा– "क्या हुआ अगर 'राम' का यह शरीर रोगी है । राम तो इस शरीर में बन्द नहीं है । वह सब जगह है । इस देह में तो बीमारी आई है पर मेरी आत्मा हँसी-खुशी की हालत में है ।"

इसी मनोवृत्ति का प्रभाव था कि विद्यार्थी अवस्था में सब प्रकार से साधनहीन होते हुए भी वे कभी विचलित नहीं हुए । उस दशा में भी वे सदैव सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते थे और अपना ध्यान एकमात्र विद्याध्ययन और अपने ज्ञान को बढ़ाने मे लगाते रहते थे । उस निर्धन अवस्था में भी उनका लक्ष्य बड़े होकर कमाई करने और सुखपूर्वक रहने की तरफ न था वरन् जैसा उन्होंने अपने कालेज के प्रिंसीपल से कहा उनकी हार्दिक अभिलाषा यही थी कि वे अन्य मानव-भाइयों की कुछ सारयुक्त सेवा कर सकें । कालेज में अध्यापक की नौकरी करते हुए भी वे अक्सर कहा करते थे-

"मैं किसी चीज को अपना नहीं समझता, इस संसार का धन जमा करने में मुझे कोई खुशी नहीं । अपनी धर्मपत्नी के लिये जेवर बनवाना भी मेरे लिये सुख का कारण नहीं। मेजों, कुर्सियों आदि से मकान सजाने की भी मुझे जरूरत नहीं । मेरे लिये मकान के बजाय किसी पेड़ की छाया ही काफी है । कपड़ा न मिले तो बदन पर राख मलकर और बिस्तर पर हो तो जमीन रूपी पलँग पर सोकर भी मैं बिलकुल खुश हूँ ।"

"मैं तो गरीबदास हूँ । मेरा कर्तव्य यह है कि काम किये जाऊँ और अपने दिल में प्रभु का एक छोटा-सा मन्दिर बना लूँ । ईश्वर के लिये काम करने में- सार्वसाधारण की सेवा करने में जो शान्ति प्राप्त होती है वही मेरे लिये मुआबजा (आमदनी) है । मुझे कालेज के वेतन की परवाह नहीं । इन चीजों के आने-जाने की मुझे चिन्ता नहीं होती ।"

"हमारा जीवन तभी धन्य होता है जब अपना कर्तव्य पालन करते हुए हमारा दिल भगवान में डूबा रहे । जब हम उसकी याद को कभी न भुलायेंगे तभी हमारा जीवन सार्थक माना जा सकता है ।"

वास्तव में संसार में "प्रभुमय जीवन" जीने की बड़ी आवश्यकता है । सफलता और सन्तोष का सबसे बड़ा आधार यही है कि हम सांसारिक कामों को भी इसी भावना से करें । इसका परिणाम यह होता है कि हम आरम्भ से ही सफलता या असफलता, अन्य लोगो के विरोध या सहयोग, लाभ या हानि के विचारों मे अपना समय न गँवाकर पूर्ण मनोयोग से कार्य में दत्तचित्त रहते हैं । इस प्रकार निस्पृह होकर काम करने पर उसमें प्रायः अधिक सफलता मिलती है और उससे अपना और दूसरों का कल्याण ही होता है । इसके बजाय जो लोग किसी काम को करते हुए सदा उसके असफल होने का भय करते रहते और किसी प्रकार की हानि की सम्भावना देखते ही निराश और हताश होने लगते है, वे लोग कभी कोई बड़ा काम नहीं कर सकते। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में संसार में जीवनयापन करने और कर्म में लगे रहने की यही विधि बताई है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।

योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गत्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वयोग उच्यते ।।

अर्थात्- "मनुष्य का अधिकार कर्म करने का ही है, कर्म का फल या परिणाम उसके वश में नहीं है । इसलिये तुमको चाहिये कि सदैव पूरी तरह मन लगाकर काम तो करते रहो, पर उसकी सफलता के संबंध में चिन्ता मत करो । इस प्रकार जो मनुष्य लाभ की आसक्ति को त्यागकर, सफलता और असफलता को समान समझकर ईश्वरीय नियम का पालन करने की दृष्टि से- कार्य में लगे रहना अपना धर्म मानकर व्यवहार करता है, वह कभी दुःखी नहीं हो सकता । उसी को सच्चा 'योगी' समझना चाहिये ।"

स्वामी राम इस सिद्धान्त को आरम्भ में ही समझ गये थे । इसी कारण विद्यार्थी जीवन की घोर गरीबी और अध्यापक जीवन की अच्छी आमदनी, जिसमें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया जा सकता था, इन दोनों हालतो में वे एक समान सन्तुष्ट और प्रसन्न बने रहे । उनका विश्वास था कि यह जो कुछ हो रहा है वह ईश्वरीय विधान के अनुसार ही है और इससे अन्त में हमारा भला ही होगा । इसी विश्वास के आधार पर वे तमाम कठिनाइयों को सहन करके महान सफलता प्राप्त कर सके, अन्यथा उसी हालत में कोई अन्य ऐसा व्यक्ति होता, तो वह अवश्य ही घबड़ा कर या तो निराश होकर बैठ जाता अथवा बुरे-भले उपायो से काम लेकर अपने आचरण को कलङ्कित कर लेता । पर स्वामी राम, जो आरम्भ से ही भगवान की न्यायपरता और कृपा में विश्वास रखने वाले थे, न कभी घबराये न मार्गच्युत हुए और इसी सिद्धांत पर चलते हुए उस उच्च पद पर पहुँच गये, कि आज तक उनका उज्वल चरित्र और नाम चन्द्रमा की तरह चमक रहा है और लाखों व्यक्ति उनसे प्रेरणा प्राप्त करके अपना जीवन सुखी और सफल बना रहे हैं ।

भक्ति और वेदान्त का अध्ययन

स्वामी राम ईश्वर-भक्त तो आरम्भ से ही थे और उसी के बल पर सब विघ्न-बाधाओं को पार करके एक ऊँचा लक्ष्य प्राप्त कर सके थे । कालेज में प्रोफेसर हो जाने के बाद वे सार्वजनिक जीवन में भी भाग लेने लगे । सन् १८८६ में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ, ये उसमें शामिल हुए और बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने । पर उनको कोई आनन्द न मिला । उन्होंने देखा कि कांग्रेस जैसी राजनीतिक सभाओं में अधिवेशन के अवसर पर तो लोग बड़ा उत्साह दिखलाते हैं, सुधार और प्रगति की बड़ी-बड़ी योजनायें बनाते हैं, जोरदार भाषण देते है, पर वहाँ से लौटकर फिर अपने धन्धे में लगकर इन सब बातों को भूल जाते हैं । इस प्रकार तीन दिन के तमाशे से देश का कोई लाभ हो सकता है, इसे मानने को वे तैयार नहीं हुए । वे भी देश की पराधीनता को एक बड़ा अभिशाप मानते थे और देश की हालत सुधारने के लिये जो कुछ सम्भव था यत्न करते रहे, पर कांग्रेस की नीति उनको प्रभावित न कर सकी ।

इसके कुछ ही दिन बाद स्वामी विवेकानन्द का आगमन हुआ । वे संसार-त्यागी, संन्यासी और हिन्दू धर्म के पूर्ण ज्ञाता थे, और उन्होंने अपनी समस्त शक्ति वर्तमान हिन्दू जाति को ऊँचा उठाने और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में लगा दी थी । स्वामी राम ने लाहौर में उनके भाषणों की सब व्यवस्था की और जब तक वे ठहरे, उनके साथ रहकर सत्सङ्ग का आनन्द लेते रहे । स्वामी विवेकानन्द के विचारों, कार्यों का उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा । चलते समय उन्होंने एक सोने की घड़ी स्वामीजी को भेंट दी । विवेकानन्द जी ने कुछ देर उसे पास रखकर फिर रामतीर्थ की जेब में ही रख दिया और कहा कि-- "मैं इसको अपनी इस जेब में रखूँगा ।" जिस प्रकार स्वामी राम समझते थे कि वे एक ही शरीर में बन्द नहीं हैं वरन् सभी शरीर उनके हैं, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द सभी 'जेबों' को अपना ही समझते थे । इसमें सन्देह नहीं कि इन दो 'स्वामियों' का मिलन बड़ा महत्वपूर्ण था और इससे स्वामी राम को सर्वस्व-त्यागी होकर हिन्दू-धर्म की सेवा करने की बड़ी प्रेरणा मिली ।

पर अभी तक स्वामी राम का झुकाव भक्ति-मार्ग की तरफ अधिक था और वे सदा "कृष्ण-कृष्ण" की रट लगाया करते थे । सन् १८९७ में गुजरात, काठियावाड़ की तरफ से जगतगुरु शङ्कराचार्य का आगमन हुआ । उस समय स्वामी राम लाहौर की सनातन सभा के मन्त्री नियुक्त किये गये थे और शङ्कराचार्य जी की सेवा का भार उन्हीं के ऊपर पड़ा । शङ्कराचार्य जी उनके धर्मभाव को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उनको अपने साथ रखकर वेदान्त की शिक्षा देने लगे । इस भ्रमण-काल में उन्होंने ऋषिकेश आदि कई स्थानों में रहकर एकान्त में जप और ध्यान भी किया और उपनिषदों का अध्ययन करते रहे । इससे उनके त्याग-भाव की और भी वृद्धि हुई और उन्होंने सासारिक बन्धनों को निस्सारता समझकर अपना जीवन पूर्ण रूप से धर्म प्रचार में लगा देने का निश्चय कर लिया ।

कुछ महीने बाद वे लाहौर वापस आ गये, पर अब उनका मन नौकरी में नहीं लगता था । उन्होंने मिशन कालेज से त्यागपत्र दे दिया और ओरियन्टल कालेज मे जीवन निर्वाह

के लिये केवल दो घण्टा काम करने लगे । पर उनका वैराग्य भाव दिन पर दिन बढ़ता गया और सन् १८९९ में उन्होंने नौकरी को बिलकुल ही छोड़ दिया और पूरा समय अध्यात्म चिन्तन तथा धर्म ध्यान में लगाने लगे । जिस समय उनके इस्तीफा पर पंजाब विश्वविद्यालय की कमेटी में विचार हो रहा था कुछ सदस्यों ने, जो दुनियावी बातों को ही जीवन का आवश्यक अङ्ग मानते थे कहा कि– "तीर्थराम पागल हो गया है ।" इस पर (सर) इकबाल के मुँह से निकल गया कि– "अगर तीर्थराम पागल है तो फिर दुनिया में अकल कहाँ है ?" सच है ज्ञान की दूरवर्ती सीमा अल्पज्ञान वालों को तो पागलपन ही जान पड़ेगी !

संन्यास-आश्रम में प्रवेश

अब स्वामी राम ने सांसारिक जीवन को पूरी तरह से त्यागकर संन्यासी हो जाने का निश्चय कर लिया । इसलिये उन्होंने दिवाली का शुभ दिन चुना जो उनका जन्म दिन भी था, और भगवान् की माया से यही उनका "निर्वाण दिवस" भी हुआ (स्वामीजी का देहान्त सन् १९०६ में दिवाली के दिन हुआ जिस दिन उनकी आयु का ३३ वाँ वर्ष पूरा हुआ था ।) उनका यह त्याग कितना पूर्ण था इसके संबंध में किसी कवि ने एक भावपूर्ण कविता लिखी थी, जिसके एक चरण में कहा गया था-

चिर सहचरी रियाजी छोड़ी, रम्य तटी रावी छोड़ी ।
शिखा-सूत्र के साथ हाय उन बोली पंजाबी छोड़ी ।।

अन्य सभी व्यक्ति संन्यास लेते समय घरबार और शिखा-सूत्र का त्याग किया करते हैं, पर स्वामी राम ने बौद्धिक विषयों का भी त्याग कर दिया । 'रियाजी' (गणित) उनका बड़ा प्रिय विषय था । उन्होंने इसी में एम० ए० किया था, कालेज में वे यही विषय पढ़ाते थे, और जो विद्यार्थी उनको होनहार जान पड़ते थे उनको गणित की शिक्षा निजी तौर पर देने को भी प्रस्तुत रहते थे । पंजाबी भी उनकी मातृभाषा थी पर संन्यास लेने के बाद शायद ही उनको उसमें बातचीत करने का अवसर मिला हो । तब वे भारतवर्ष में तो हिन्दी में और विदेशों में अँग्रेजी में ही वार्तालाप करते और भाषण देने लगे थे । छब्बीस वर्ष की चढ़ती हुई युवावस्था में, जबकि उन्नति का विस्तृत मैदान सामने हो, इस प्रकार सर्वस्व त्याग के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं ।

उन्होंने अपने पास किसी तरह का सामान न रखा और किसी कठिनाई का ख्याल किये बिना उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने लगे । वहाँ की जलवायु का जब विपरीत प्रभाव पड़ा तो वे बहुत बीमार हो गये । उसी समय श्री नारायण स्वामी से उनका साक्षात्कार हुआ जिन्होंने सगे भाई अथवा पुत्र से भी बढ़कर आपकी सेवा की और उसके फलस्वरूप आप फिर से स्वस्थ हो गये । उस समय से नारायण स्वामी आपके प्रमुख अनुयायी और शिष्य बन गये और सदैव साथ रहकर सेवा करते रहे । स्वामी राम का देहावसान हो जाने पर उन्होंने उनके उपदेशों का प्रचार भी अपना जीवन-कर्तव्य बना लिया । उन्हीं के प्रयत्न से स्वामी राम के समस्त भाषण और लेख आदि देश की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो सके हैं और लाखों व्यक्ति उनके द्वारा आत्म-ज्ञान का लाभ प्राप्त कर रहे हैं ।

मथुरा के धर्म-सम्मेलन में

सन् १९०१ के दिसम्बर में मथुरा में एक बहुत बड़ा धर्म-सम्मेलन हुआ, जिसमें दूर-दूर के विभिन्न धर्मों के विद्वानों ने भाग लिया । स्वामी रामतीर्थ को सर्वसम्मति से उसका सभापति चुना गया । स्वामीजी सब धर्मों के ज्ञाता थे और सबको सम्मान की दृष्टि से देखते थे । तीसरे दिन के अधिवेशन में स्काट नामक पादरी ने हिन्दू धर्म पर आक्षेप किया जिसका समाधान स्वामी जी ने बड़े ही नम्र और प्रेमपूर्ण शब्दों द्वारा कर दिया । उससे पादरी साहब बड़े प्रभावित और लज्जित हुए और उन्होंने अपनी गलती स्वीकार करके क्षमा-प्रार्थना की । हिन्दू-धर्म का मुख्य सिद्धांत ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है । वह धर्म के नाम पर किसी के साथ कब शत्रुता अथवा द्वेष-भाव कर सकता है ? स्वामीजी के व्यवहार से समस्त धर्मों के विद्वान् बहुत प्रसन्न हुए ।

तीसरे दिन के अधिवेशन में इतने विद्वानों के भाषण हुए कि सभा के लिये नियत समय उन्हीं में समाप्त हो गया और स्वयं स्वामीजी को कुछ कहने का अवसर ही न मिला । पर अधिकांश जनता फिर भी उनका भाषण सुनने को वहीं बैठी रही । यह देखकर स्वामीजी ने कहा कि– "सभा का समय तो समाप्त हो चुका है और अब यहाँ कुछ कहना नियम विरुद्ध है । वैसे भी मैं इस चारों तरफ से बन्द स्थान में कुछ कहना पसन्द नहीं करता । इसलिये अगर आपको मेरा भाषण सुनना है तो यहाँ से उठकर जमुना के किनारे भगवान के बनाये शामियाना (आकाश) के नीचे चलिये, वहीं पर 'राम' अपने ख्यालात को जाहिर करेगा ।" यह कहकर आपने सभा भङ्ग कर दी और उठकर जमुनाजी की तरफ चल दिये, श्रोतागण भी सभा-मंडप को त्याग कर उनके पीछे चल दिये और सब लोग जाकर जमुनाजी की रेती में बैठ गये । यद्यपि पौष का महीना था, रात हो चली थी

और बालू ठण्डी लग रही थी, तो भी सब लोग मंत्रमुग्ध होकर आठ बजे तक स्वामीजी का वचनामृत पान करते रहे ।

मथुरा में कुछ महीने एकान्तवास और साधना करके सन् १९०२ के अप्रेल मास में स्वामीजी टेहरी पहुँचे । श्री नारायण स्वामी जी भी उनके साथ थे । इस समय तक स्वामीजी का नाम समस्त देश में फैल चुका था, इसलिये शीघ्र ही टेहरी नरेश ने आपसे भेंट की और आपकी इच्छानुसार एक कुटी गङ्गा के किनारे बनवा दी ।

विदेशों में धर्म-प्रचार

उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में एक समाचार छपा कि जापान की राजधानी टोकियो में शीघ्र ही एक 'धर्म-सम्मेलन' होने वाला है, जिसमें संसार के सब धर्मों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर धर्म सम्बन्धी समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे । इससे पहले सन् १८९३ में एक ऐसा धर्म-सम्मेलन अमरीका में हो चुका था जिसमें स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म का डङ्का बजाया था । इस समय भी बहुसंख्यक धर्म प्रेमियों की अभिलाषा थी कि यदि फिर वैसा ही मौका आये तो पुनः उसमें हिन्दू-धर्म की ध्वजा फहराई जाय । इसलिये टोकियो में धर्म-सम्मेलन का समाचार सुनकर टेहरी के महाराज भी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने स्वामी राम से आग्रह किया कि आप जापान जाकर धर्म-प्रचार करें । स्वामीजी हिन्दू-धर्म की उच्च शिक्षाओं द्वारा विश्व-कल्याण की भावना सदैव से रखते आये थे, अतः इसके लिये तैयार होकर शीघ्र ही जहाज द्वारा रवाना हो गये ।

रास्ते में भी जिन बन्दरगाहों पर जहाज रुका वहाँ के हिन्दू व्यापारियों ने स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया । जब आप योकोहामा होते हुये टोकियो पहुँचे तो सबसे पहले 'भारतीय-जापानी' क्लब मे सरदार पूर्णसिंह से भेंट हुई जो एबटाबाद (सीमाप्रांत) के रहने वाले थे और उन दिनों जापान में उच्च शिक्षा प्राप्त करने आये थे । स्वामी राम के उपदेशों और जीवन का आप पर इतना प्रभाव पड़ा कि सिक्ख होते हुये भी आप उनके शिष्य हो गये और बाल मुँड़ा कर संन्यास ग्रहण कर लिया । बाद में ये बहुत दिनों तक देहरादून में प्रोफेसर भी रहे और आजीवन स्वामी राम के उपदेशों के प्रचार में लगे रहे । ये बहुत बड़े कवि और लेखक थे और स्वामी राम के भाषणों को अँग्रेजी मे प्रकाशित कराने में मुख्य रूप से सहायक ये ही रहे ।

जापान में स्वामीजी लगभग दो सप्ताह ठहरे । आपके भाषणों को वहाँ के सभी लोगो ने बहुत पसन्द किया । वे कहने लगे कि जितनी शान्ति हमको स्वामीजी के उपदेशों से प्राप्त हुई उतनी मैक्समूलर आदि बड़े विद्वानों के भाषणों से भी नहीं मिली थी ।

एक जापानी ने आपसे प्रश्न किया कि आपने घर बार और स्त्री-बच्चों को क्यों छोड़ा ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "अपने छोटे से परिवार को एक बहुत बड़ा, विशाल परिवार बनाने के लिए ।" वास्तव में स्वामीजी संसार के सभी मनुष्यों को चाहे वे किसी-जाति, देश और रंग के क्यों न हों, आत्मीय की तरह ही समझते थे और तो क्या वे पशु-पक्षी और सिंह, सर्प आदि जैसे जीवों को भी आत्मवत् मानते थे । इसलिये कभी किसी मनुष्य या प्राणी ने उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं की । स्वामी राम जापानी लोगों से भी बहुत शीघ्र हिल-मिल गये । वे उनकी परिश्रम शीलता और प्रसन्न रहने के स्वभाव से बहुत खुश थे और चलते समय उन्होंने कहा--

"राम जापानी लोगों को क्या सिखाये ? यह तो सबके सब वेदान्ती हैं । ये राम की मूर्ति हैं । कैसे हँसमुख हैं, कैसे चुपचाप मेहनत करने वाले हैं । राम इसी को जीवन का सार समझता है ।"

जिस सर्वधर्म सम्मेलन की बात सुन कर स्वामी राम जापान पहुँचे थे वह गलत निकली । इस पर आप खूब हँसे और कहने लगे कि "मैं तो यहाँ पूर्णसिंह को मार्ग-दर्शन कराने आया हूँ । इसके बाद उनकी इच्छा अमरीका जाने की हुई और बिना किसी प्रकार भी व्यवस्था के और खर्च का इन्तजाम किये आप अकेले ही रवाना हो गये ।

अमरीका में दो वर्ष तक उपदेश

अमरीका आज से सत्तर वर्ष पहले भी उद्योग धन्धों और कल-कारखानों में काफी उन्नति कर चुका था और धन-सम्पत्ति की निगाह से उसका दर्जा संसार में बहुत ऊँचा था । पर स्वामी राम को वहाँ अमरीका वालों मे भौतिकवाद की अधिकता और आत्मशक्ति की कमी जान पड़ी । इसलिये उन्होंने अपने एक भाषण में कह दिया--

"तुम्हारे मकान बड़े शानदार और ऊँचे हैं पर उनमें रहने वाले मनुष्य बहुत छोटे हैं ।"

फिर भी आप अमरीकन लोगों की उद्योगी प्रकृति को बहुत पसंद करते थे और कहते थे कि इसी के अभाव से भारतवर्ष के निवासी दुर्दशा मे पड़े हुये हैं । भारतवर्ष की प्राचीन सस्कृति महान थी, पर अब भारतवासी आलस्य और उद्योगहीनता के कारण उसके पात्र नहीं रहे और नीचे गिर गये है ।

अमरीका में स्वामी राम के सैकड़ों व्याख्यान हुए और लोगों ने उनको बड़े शौक से सुना । कई व्यक्ति आपके शिष्य भी हो गये । मिसेज वाइटमन नाम की महिला ने आपके अनेक भाषणों के 'नोट्स' लिखे थे । स्वामीजी के आकस्मिक देहान्त हो जाने के पश्चात् उन्हीं के आधार पर उनके भाषणों का संग्रह प्रकाशित किया गया । यह कार्य स्वामी नारायण ने किया जो रात-दिन स्वामीजी के साथ ही रहते थे । उन भाषणों में इतना तेज और ओज भरा हुआ है कि पाठक के हृदय पर तुरन्त उनका प्रभाव पड़ता है और उसकी आत्मा ऊँची उठ जाती है ।

एक दूसरी वृद्ध महिला श्रीमती वैलमन भी अपने मानसिक कष्टों से छुटकारा पाने के लिये स्वामीजी की शरण में आयी थी । पहले तो उसने स्वामी जी को ध्यान और मौन अवस्था में ही बैठे रहने के कारण असभ्य और घमण्डी समझा, पर स्वामीजी ने एक बार आँखें खोलकर उसे देखा और माँ कह कर पुकारा । वे फिर 'ओम्' का जप करने लग गये तो वृद्धा का मनोभाव एक दम बदल गया । वह स्वामी राम की ऐसी भक्त हो गई कि उनके जन्म स्थान का दर्शन करने भारतवर्ष आई और उनके गाँव में जाकर सब घर वालों से मिली । देहरादून में श्री पूर्णसिंह से अपना अनुभव उसने इन शब्दों में प्रकट किया--

"स्वामीजी की दृष्टि से मुझमें एक नया जीवन आया । मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं जमीन से उठकर हवा में रोशनी की तरह उड़ रही हूँ । उस समय मैंने अनुभव किया कि मैं जगत की माँ हूँ । सभी देश मेरे हैं । सभी लोग मेरे बच्चे हैं । मेरे दिल में इतना आनन्द आया कि भारत को देखने की इच्छा हो आई । मैंने सोचा कि जाऊँ और देखूँ कि स्वामीजी कहाँ पैदा हुए और पले । इसीलिये मैं यहाँ आई हूँ । मेरा आनन्द अब कभी कम नहीं होता । आह ! 'ओम्' का शब्द मेरी हड्डियों में गूँजता है । 'माँ' का शब्द मुझे भगवान तक ले जाता है । मै चाहती हूँ कि मैं उनके पैरों को पूजूँ और जो आनन्द उन्होंने मुझे दिया है, उसी में सदा पड़ी रहूँ । मेरे अन्दर अमृत स्रोत बहने लग गये हैं जिससे मेरा सब मल दूर होकर मै पवित्र हो गई हूँ ।"

यद्यपि स्वामी जी ने अमरीका वालों की स्वतंत्रता, विद्या प्रेम, उद्योग शीलता की बहुत सराहना की, पर यह भी कहा कि केवल इस भौतिक उन्नति से काम नहीं चल सकता । रेल, मोटर, बिजली, तार, टेलीफोन आदि वैज्ञानिक आविष्कार तरक्की के सबूत जरूर हैं, पर यदि इनके साथ आत्मिक उन्नति न होगी, वे सबके साथ सत्य, न्याय और प्रेम का बर्ताव करना न सीखेंगे तो यह बाहरी उन्नति उनके नाश का कारण भी बन सकती है । इस सम्बन्ध में स्वामीजी कहा करते थे-

"संसार की सभ्य कौमें भी जात-पाँत की जंजीरों में बँधी हुई हैं । सबको अपनाने के बजाय वे लोग गरीबों से दूर रहते और प्रकृति के सहवास से हटकर बन्द कमरों में समय बिताना पसन्द करते हैं । उन्नति का असली उद्देश्य नीति व धर्म की राह पर आगे बढ़ना है । संसार का धन बटोर लेना या निकम्मी आवश्यकताओ को बढ़ा लेना असली उन्नति नहीं है । योरोप और अमरीका के लोग रुपया जमा करने के लोभ में फँसे हुए हैं । धन का लोभ ईश्वर दर्शन में सबसे बड़ी रुकावट है ।"

इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो भारतीय शास्त्रों का 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' का समन्वय सबसे अधिक स्वाभाविक और कल्याणकारी सिद्ध होता है । संसार में न धन के बिना काम चल सकता है और न बिना धर्म के । जो इनमें से केवल एक की तरफ ध्यान देगा वह अवश्य ही विपत्ति में पड़ेगा । जैसा श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे– "भूखे आदमी को धर्म का उपदेश देना व्यर्थ है ।" इसी प्रकार जो व्यक्ति या देशधर्म का ख्याल न करके केवल धनोपार्जन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है उस पर इसका आशय नहीं कि वे कीर्तन में सम्मिलित नहीं होते । लक्ष्य भी क्षणस्थायी रहती है । बुद्धिमान उसी को कहा जा सकता है जो इन दोनों पहलुओं पर उचित रूप से ध्यान देकर धर्मपूर्वक धन का उपार्जन और व्यय करता है स्वामी राम ने जहाँ अमरीका, योरोप का रोग भले-बुरे का विचार त्यागकर धन की पूजा करना बतलाया उसी प्रकार उसके मतानुसार भारतवर्ष का रोग सच्चे धर्म को त्यागकर काल्पनिक और जबानी धर्म के पीछे पड़ जाना था ।

स्वदेश आगमन और देह-त्याग

अमरीका से लौटते समय स्वामी राम योरोप के रास्ते मिश्र पहुँचे और वहाँ कुछ दिन ठहरे । इस समय मिश्र में इस्लाम का प्रचार है, पर कोई जमाना था कि वहाँ भारतवर्ष की प्राचीन आध्यात्मिक सभ्यता ही प्रचलित थी । इन दोनों देशों का संबंध वैदिक काल में भी था और आर्यों की किसी शाखा ने ही वहाँ प्रचार किया था । बाद में यहूदी और ईसाई धर्मों के आविर्भाव होने से उसमें अनेक परिवर्तन हो गये और मुसलमानों ने तो तलवार के जोर से उसे पूरी तरह अपने धर्म में दीक्षित कर ही लिया । फिर भी प्राचीन परम्परा के प्रभाव से अभी तक वहाँ कुछ लोग अध्यात्म-चर्चा में रस लेने वाले मौजूद हैं और भारतवर्ष की तरह मंत्र-साधन

आदि का भी प्रचार देखने में आता है । स्वामी राम वहाँ कुछ समय तक ठहरे रहे और नगर की बड़ी मस्जिद में भारतीय अध्यात्म पर एक महत्वपूर्ण भाषण दिया । आप वहाँ के निवासियों के सामने धड़ल्ले से फारसी में बोले जिससे श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वहाँ आपका बड़ा आदर-सम्मान किया गया ।

भारतवर्ष आने के पश्चात् स्वामी जी जब बम्बई में उतरे तो मथुरा के स्वामी शिवगुण आचार्य वहाँ आपका स्वागत करने को उपस्थित थे । उनके साथ आप मथुरा आ गये और शांति आश्रम में ठहर गये । शिवगुण आचार्य का विचार था कि अब स्वामी राम का नाम इतना फैल चुका है कि यदि ये कोई संस्था कायम करें तो उसे लाखों रुपया सहायता सहज में मिल सकती है । इसलिये वे बार-बार उनसे यही कहने लगे कि- "आप राजनीतिक झगड़ों में न पड़कर राजाओं से मिलें । उनसे इतना रुपया आसानी से मिल जायगा, जिससे वेदान्त-प्रचार का कार्यक्रम अच्छी तरह चलाया जा सकेगा ।" पर स्वामीजी तो माया के फन्दे को पूरी तरह से काटकर आजाद रहने का कार्यक्रम बना चुके थे, वे धन कमाने के इस जंजाल में क्यों फँस सकते थे । कुछ लोगों ने आपको यह भी सलाह दी, कि आप एक नई सभा बनायें जो आपके विचारों के अनुसार देश-सेवा का काम करे । पर आपने इस सुझाव को भी नापसन्द किया और कहा--

"सब सभायें मेरी हैं । अलग सभा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं ।"

आजकल इससे उलटी ही बात देखने मे आती है । काम चाहे कुछ भी न किया हो, कोई महत्वपूर्ण काम करने की योग्यता भी न हो, पर अपनी पृथक संस्था पहले बनाई जायगी, ताकि स्वयं को बड़ा बनने का अवसर मिल सके और जनता से उसके नाम पर चन्दा इकट्ठा करने का मार्ग निकल सके । पर स्वामी राम ने कहा कि अगर सभाओं की मारफत काम करना ही उत्तम हो तो क्या देश में सभाओं की कमी है ? सच्चे काम करने वाले को न काम की कमी है न साधनों की । योग्य और सच्चे आदमियों के सैकड़ों ग्राहक होते हैं । पर सचाई और योग्यता दोनों गुण एक व्यक्ति में बहुत ही कम देखने में आते हैं, और इसीलिये सार्वजनिक संस्थायें थोड़े समय में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करके केवल रजिस्टरों में नाम लिखा छोड़ जाती है ।

फिर आप हिमालय पर्वत पर चले आये विभिन्न स्थानों में रहकर ध्यान-योग में संलग्न रहे । आपने संन्यासी होते समय जो भगवा वस्त्र धारण कर लिये थे । धीरे-धीरे उनसे भी विरक्ति हो गई और एक दिन श्री पूर्णसिंह से कहा- "पूर्णजी ! राम को यह मालूम न था कि यह भगवे कपड़े इस देश में अब आजादी की निशानी नहीं रहे । गुलामों ने भी भगवे कपड़े पहिनना शुरू कर दिया है । यह ऐसी दिखावे की चीज बन गई है कि अब जी नहीं चाहता कि इन्हें पहनूँ । इसलिये जब पहाड़ से मैदान में आऊँगा तो आजादी की पोशाक न होने की वजह से इन भगवे कपड़ों को एक आम सभा में फाड़ डालूँगा ।" कुछ समय बाद आपने सचमुच भगवा कपड़ों को त्याग दिया और दाढ़ी भी रखली ।

कुछ दिन तक वशिष्ठ आश्रम में रहे । उस समय ईश्वर-भक्ति की ऐसी प्रबलता हो गई थी कि आप चाहे जब गाने और नाचने लग जाते थे । आपको चारों तरफ सिवाय ईश्वर के कुछ नजर नहीं आता था । आपने आदेश दे रखा था कि आश्रम में किसी सार्वजनिक नेता की आलोचना न की जाय । जिस प्रकार अनेक लोग दूसरों की निन्दा करके अपना बड़प्पन जाहिर करते हैं वह आपको बहुत नापसन्द था ।

पर उत्तराखण्ड के जलवायु में आपका स्वास्थ्य फिर खराब रहने लगा । खासकर वहाँ का भोजन आपको माफिक नहीं आता था । इसलिये एक दिन अपने प्रिय शिष्य नारायण स्वामी से कहा-- "बेटा ! राम की तबियत अब संसार से ऊब गई है । अतः शीघ्र ही यह इस शरीर को त्यागने वाला है । तुम किसी बात की चिन्ता मत करना । 'राम' की तरह प्रसन्न रहना और अपने स्वरूप का चिन्तन करते रहना ।"

इसके कुछ ही दिन बाद सन् १९०६ की दीपावली के दिन जबकि ये ३३ वर्ष के हो चुके थे गङ्गाजी में स्नान करने को उतरे, पर पैर के नीचे से एक पत्थर निकल गया और वे पानी में बह चले । यद्यपि स्वामीजी बड़े अच्छे तैराक थे और अमरीका में समुद्र में बारह मील तक तैर चुके थे पर उस दिन कुछ तो अस्वस्थता और कुछ आत्म-बलिदान की मानसिक स्थिति के कारण जल के तीव्र बहाव में बहते ही चले गये और गङ्गा में ही उन्होंने जल-समाधि प्राप्त कर ली । बाद में टेहरी नरेश ने कुछ तैराक भेजकर उनकी मृत देह को निकलवाया । उसके बाद नारायण स्वामी ने वैदिक रीति से उसे एक सन्दूक मे रखकर जल में विधिपूर्वक विसर्जित कर दिया ।

स्वामीजी को देह की नश्वरता की आत्मा की अमरता की भावना का अनुभव निरन्तर होता रहता था और वे मृत्यु का स्वागत करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे । जल समाधि लेने के दिन भी आपने लेख में ये पंक्तियाँ लिखी थीं--

"मुझे मृत्यु का कुछ भी भय नहीं है । मुझे तो सेवा करने की धुन है । जहाँ जिस रूप में रहूँगा कर्तव्य पालन करता रहूँगा । इस शरीर का बन्धन मुझे अपने में बाँधकर नहीं रख सकता । मौत जब चाहे इसको ले जाय । मेरे पास व्यवहार करने के अनेक शरीर हैं । मैं सदा उनमें रहकर लोगों की सेवा करूँगा, रोतों को हँसाऊँगा और हँसतों को और भी प्रसन्न करूँगा ।"

निस्सन्देह स्वामीजी ने आत्म-तत्व को पूरी तरह समझ लिया था, और वे इस शरीर की उपयोगिता तभी तक समझते थे जब तक इसके द्वारा संसार की सेवा और कर्तव्य पालन होता रहे । जब उन्होंने अनुभव किया कि अस्वस्थता के कारण हम इसके द्वारा दूसरों की सेवा करने के बजाय उनसे अपनी ही सेवा कराते रहेंगे तो उन्होंने तुरन्त इसको बदल डाला । वे वास्तव में ऐसी जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँचे महापुरुष थे जिनके लिये जीवन और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं होता ।

स्वामीजी के ये विचार मृत्यु के अवसर पर ही नहीं थे वरन् अमरीका में भी वे लोगों को यही उपदेश दिया करते थे । उनके देहावसान के पश्चात् एक अमरीकन शिष्य ने उनके शिष्य महात्मा पूर्णसिंह जी को एक पत्र में लिखा था-

"राम" सदा हम लोगों से कहा करते थे- "हर घड़ी ऐसा अनुभव करो कि जो शक्ति सूर्य और नक्षत्रों में अपने को प्रकट करती है, वही मैं हूँ, वही तुम हो । इस वास्तविक आत्मा को अर्थात् अपने गौरव को लो, ऐसे अमर जीवन का चिन्तन करो, अपनी इस असली सुन्दरता पर मनन करो, और तुच्छ शरीर के समस्त विचारों तथा बन्धनों को साफ भूल जाओ, मानो तुम्हारा इन मिथ्या और दिखाऊ बातों से कभी कोई सम्पर्क न था । न कोई मृत्यु है, न रोग, न शोक । । पूर्ण आनन्दमय जीवन पर नित्य ध्यान दो । पूर्ण मंगलमय, पूर्ण शान्तिमय बनो ।"

स्वामीजी का सच्चा वेदान्त

स्वामी राम 'वेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं । उन्होंने भारत और अमरीका दोनों जगह लोगों को वेदान्त मार्ग पर चलने का उपदेश दिया था । पर उनके 'वेदान्त' का अर्थ जगत को मिथ्या कह कर भीख माँग कर अथवा लोगों को ठगकर अपना पेट भर लेना नहीं था वरन् वे कहते थे कि 'वेदान्त के अनुसार तो अत्यन्त काम करना ही विश्राम है। यद्यपि ये दोनो कथन परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं । पर इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि सच्चा कार्य विश्राम मात्र है।" अपने इन वेदान्त सम्बन्धी विचारो को समझाने के लिये आपने जापान और अमरीका में 'सफलता का रहस्य' विषय पर दो महत्वपूर्ण भाषण दिये थे जिनमें व्यावहारिक दृष्टि से 'वेदान्त' पर चलने की शिक्षा दी गई है । आपने सफलता के जो सात साधन बतलाये थे उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है--

(१) कार्य-- चोट लगाते जाओ- चोट लगाते जाओ' सफलता का पहला सिद्धान्त है । कार्य- परिश्रम बिना तुम कभी सफल नहीं हो सकते । 'जीवन-संग्राम में सुस्त आदमी का नष्ट हो जाना अटल है । वेदान्त कहता है कि मनुष्य को कार्य करते समय उसमें इस प्रकार निमग्न हो जाना चाहिये कि अपने आप का भी ध्यान न रहे । सभी महान कार्य तभी पूरे होते हैं जब मनुष्य 'अहम्भाव' (अपनत्व) से ऊपर उठकर अपने को सर्वतोभावेन उसमें लगा देता है । उस समय मनुष्य को यह भी ख्याल नहीं रहता कि 'मैं काम कर रहा हूँ ।' न उसे धन के लाभ का ध्यान रहता है न प्रशंसा का । दीपक जब जलता है तभी उसमें चमक-प्रकाश उत्पन्न होता है । एक सैनिक जब युद्ध क्षेत्र में लड़ने लगता है तो अपने लक्ष्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती । उस समय उसका शरीर यन्त्रवत् काम करने लगता है । इसी प्रकार कोई लेखक या कवि उसी समय उच्चकोटि की रचना कर सकता है जब अन्य सब बातों का ध्यान छोड़कर तन्मयता का आश्रय लेता है । इसलिये सफलता का पहला रहस्य यही है कि यदि तुम किसी विषय में निश्चित रूप से सफल होना चाहते हो तो अन्य समस्त बातों का ध्यान छोड़ कर अपनी संपूर्ण शक्ति उसी में लगा दो ।

(२) त्याग-- एक बार किसी तालाब या नदी में वाद-विवाद होने लग गया । तालाब ने कहा-"हे नदी ! तू बड़ी मूर्ख है । तू अपना सब जल समुद्र को दे डालती है जबकि मैं अपना जल सदा अपने ही पास रखता हूँ । तू अपना वैभव इस तरह मत लुटा । समुद्र तो अकृतज्ञ है, उसे तेरी कोई परवाह नहीं । तू अपनी संचित निधियाँ उसमें भरती जाती है, पर वह उतना ही खारा बना हुआ है।" नदी ने उत्तर दिया- "परिणाम और फल मेरे लिये कुछ महत्व नहीं रखते- सफलता और असफलता मेरे लिये तुच्छ है । मैं काम करती जाऊँगी, यही मेरा ध्येय है । कर्मशीलता ही मेरा जीवन है ।' नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों मे कंजूस तालाब का पानी सूख गया और उसमें कीचड़ ही शेष रह गई । पर नदी को अमर स्रोतों द्वारा समुद्र का ही जल मिलता रहा और वह बराबर ताजा और परिपूर्ण बनी रही ।

अतएव त्याग ही संसार को जीवित और सक्रिय रखने का मुख्य साधन है । जो लोग द्रव्य को संग्रह करने में लगे रहते हैं । उनको उसकी रक्षा में ही सदैव व्यस्त रहना पड़ता है । उनको सम्पत्ति के नष्ट होने का भय सदा लगा रहता है । पर लोकहितार्थ त्याग करने वाला सदा निर्भय होकर विचरता है और उसे कभी विघ्न बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता ।

(३) प्रेम-- सफलता का तीसरा सिद्धान्त है-- प्रेम। इसका आशय है कि विश्व से एकता, परिस्थिति के अनुकूल वातावरण । प्रेम का अर्थ है अपने पड़ोसियों और सभी संसर्ग में आने वालों से अपनी एकता और अभेदता का अनुभव करना, दुनियाँ में कोई पराया नहीं है, सभी आपस में भाई-बहिन है । अगर किसी के दिल में प्रेम की भावना न हो तो उसमें चाहे और कितने ही गुण हों सब व्यर्थ हैं । सबके दिलों को जीतने का एकमात्र उपाय यही है कि उनसे प्रेम करें, और यही भगवान् को प्रसन्न करने का सर्वोत्तम मार्ग है ।

(४) प्रसन्नता-- यह भी सफलता का एक आवश्यकीय साधन है । इसके लिये वेदान्त के सिद्धान्त को समझना और तदनुकूल आचरण करना अनिवार्य है । वेदान्त शिक्षा देता है कि तुम अपने शरीर को ही सब कुछ मत समझो । यह तो अन्य बाहरी वस्तुओं की तरह एक वस्तु है । अगर मनुष्य बाहरी चीजो के मोह को त्याग दे तो उसको कभी कष्ट नहीं हो सकता । संसार के नाते रिश्तो में कोई सार नहीं है । ये तो खिलौने या नाटक के पात्रों की तरह हैं । जैसे वे सब अपना-अपना पार्ट अदा करते जाते हैं, वैसा ही हाल हमारे सगे-संबंधियों का भी समझना चाहिये । इनसे अधिक ममता रखने के कारण ही मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि के भाव प्रकट होते हैं और इन्हीं के परिणामस्वरूप मनुष्य दुःख का अनुभव करता है । इसलिये जो मनुष्य सांसारिक वस्तुओं का मोह छोड़कर व्यवहार करेगा वह सदा प्रसन्न रह सकेगा ।

(५) निर्भयता-- साँसारिक जीवन की सफलता के लिये निर्भयता का गुण बड़ा बहुमूल्य है । भयभीत रहने वाला मनुष्य प्रत्येक कार्य में हाथ डालते हुए आगा-पीछा करता रहता है, जिससे सफलता सन्दिग्ध हो जाती है । जो मनुष्य अपनी आत्मा को जितना पहचानने लगता है वह निर्भयता के उतने ही निकट पहुँच जाता है । एक बार हिमालय के ऊपर मेरी (स्व० राम की) रीछों से भेंट हो गई । पर मेरे अन्दर भय का भाव पैदा न हुआ क्योंकि मैं अपने को शरीर या मस्तिष्क तो मानता नहीं । मैं तो साक्षात् ब्रह्म हूँ, फिर भय किस बात का । मैंने ज्योंही आँखें फाड़कर रीछों की तरफ देखा वैसे ही वे सब भाग गये । इसी प्रकार भेड़िया और चीता भी मेरे देखने पर चले गये थे । इसलिये अपनी महान् शक्ति को समझकर मनुष्य को सदैव निर्भय रहना चाहिये ।

(६) आत्म-विश्वास-अपने में पूरा विश्वास रखना सफलता में सबसे बड़ा सहायक है । उदाहरण के लिये आकार की दृष्टि से हाथी पहाड़ जैसा लगता है और उसके मुकाबले में सिंह का आकार बहुत छोटा रहता है । पर एक सिंह को देखकर हाथियों का पूरा दल भाग जाता है । वेदान्त का कहना है कि मनुष्य अपने को किसी से हेटा न समझे । वह अपने को शक्तिशाली और ब्रह्म की प्रतिमूर्ति ही समझे, बस सफलता निश्चित है ।

(७) पवित्रता-- यह भी एक बड़ा गुण है । अपवित्र विचारों और कार्यों वाले व्यक्ति से सब घृणा ही प्रकट करेंगे, चाहे वह विद्वान् और शूरवीर ही क्यों न हो । पवित्रता से ही आत्मिक बल बढ़ता है, आत्मिक-बल सफलता का आधार है ।

देश-भक्ति और समाज-सेवा के महान् प्रेरक

कुछ लोग यह कहा करते हैं कि स्वामी रामतीर्थ ने देशोन्नति और समाज-सेवा की दिशा में कोई सक्रिय योजना का समारम्भ नहीं किया । जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण मिशन' के रूप में एक महान् लोकसेवी संस्था की स्थापना कर दी, जिससे आज तक लाखों व्यक्ति लाभ उठा रहे हैं, वैसा कोई आयोजन स्वामी रामतीर्थ चाहते तो कर सकते थे । निस्सन्देह स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द को धार्मिक दृष्टि से समतुल्य ही समझा जाता है, पर दोनों में कुछ अन्तर भी था । कुछ धार्मिक साधक तो आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों में समन्वय करने की प्रवृत्ति रखते है और कुछ व्यावहारिक पक्ष को आध्यात्मिक प्रगति में अनावश्यक समझकर उसकी तरफ ध्यान नहीं देते ।

स्वामी राम भी आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक होने और पश्चिम के एमर्सन, कैंट, वाल्ट ह्विटमैन, थोरो, हक्सले आदि दार्शनिको के अध्यात्म और मानवता सम्बन्धी विचारो से भी पूर्ण परिचित होने के कारण देश और समाज के महत्व को पूर्ण रूप से समझते थे । पर वे आत्मिक जगत मे इतना ऊपर पहुँच चुके थे कि उनको संसार की छोटी-छोटी घटनायें और विभिन्न जातियों के उतार-चढ़ाव खेल की तरह जान पड़ते थे और वास्तव में जो व्यक्ति जीवन और मरण में-सृष्टि और विनाश मे कोई अन्तर नहीं मानता वह स्वाभाविक दुःख-सुख अथवा हर्ष-शोक को भी अधिक महत्व कैसे दे सकता है ?

हम स्वामी राम की तुलना विवेकानन्द से करने के बजाय उनके गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस से करना ज्यादा उचित समझते हैं । ये भी समाज और देश की वास्तविक अवस्था को अच्छी तरह पहचानते थे और उसी के अनुकूल लोगों को उपदेश देते थे, पर वे सांसारिक स्तर से इतना ऊपर उठ गये थे कि किसी व्यावहारिक कार्य करने की उनको कभी प्रवृत्ति ही नहीं हुई । स्वामी राम से जब किसी ने इस प्रकार के कार्यों के लिये आग्रह किया तो उन्होंने सदा यही उत्तर दिया कि– "दुनिया में जो इतने कार्यकर्ता, सभायें, संस्थायें काम कर रही हैं वे सब मेरी ही हैं, अलग संस्था खड़ी करने की क्या आवश्यकता है ?" फिर वे अधिक समय तक संसार में ठहरे ही नहीं, नहीं तो शायद स्वयं नहीं तो शिष्यों द्वारा कोई कार्य कराते, जैसा कि श्री रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द को प्रेरणा देकर कराया ।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि स्वामी राम ने देश और समाज का कार्य किया ही नहीं । जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है उन्होंने अपने उपदेशों में लोगों को [illegible]

[illegible]

है । स्वामी राम की प्रेरणा से उसी समय लाखो व्यक्तियों का जीवन सुधर गया और आज तक भी उनके उपदेशो से लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं । ईश्वरीय-सत्ता के उच्च स्तर पर पहुँचे हुए अधिकांश साधक कार्य रूप में जनता का मार्ग-दर्शन करने के बजाय विचारों द्वारा ही परिस्थिति को बदलने का उद्योग करते हैं ।

इसीलिये स्वामी राम ने कालेज की शिक्षा समाप्त करके उच्च सरकारी अधिकारी बनने के बजाय अध्यापक का कार्य अधिक पसन्द किया, जिसमें बहुसंख्यक विद्यार्थियों को आत्मोत्थान की शिक्षा देने का अवसर मिलता है । इसके बाद जब उन का आत्मिक स्तर और ऊँचा हो गया तो उन्होंने अध्यापकी छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर लिया, जिसका उद्देश्य समस्त समाज को सत्य, धर्म, कर्तव्य का उपदेश देना था। इस प्रकार स्वामी राम ने एक भिन्न तरीके से वही कार्य किया जो समाज के एक सच्चे मार्गदर्शक (नेता) को करना चाहिये । उन्होंने भारतवासियों को वही उपदेश दिया जो उस स्थिति मे उनको पतन से निकालकर उत्थान की ओर अग्रसर करने के लिये आवश्यक था । उन्होंने देखा कि उद्योगहीनता, ऊँच-नीच का झूँठा अहङ्कार, धर्म के नाम पर कुसंस्कारों और पाखण्डों का पालन आदि ही ऐसे दोष है जिनके कारण भारतवासी अवनति के गड्ढे मे पड़े है ।

अपनी आत्मा को पहिचानिये

यह देखकर स्वामी राम ने अपनी पूरी शक्ति भारतवासियों को यह समझाने में लगा दी कि वे जवानी वेदान्त को त्यागकर असली वेदान्त को समझें और तदनुसार आचरण करें । उन्होंने अमरीका और भारत दोनों में जितने भाषण दिये उन सबमें यही ध्वनि गूँजती है कि भारतवासी वेदान्त के सच्चे स्वरूप को भूल गये हैं और इसीलिये आज कर्मवीर के बजाय भिक्षुक बने हुए हैं । हमारे देश में इस समय वेदान्त "स्वामी-संन्यासियों" द्वारा ही आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बन गया है, इसलिये सर्वसाधारण उसका आशय संसार को त्यागकर किसी एकान्त स्थान में बैठ जाना ही समझते हैं । पर स्वामी राम "वेदान्त" की व्याख्या करते हुए कहते थे–

"वेदान्त चाहता है कि आप कर्म प्रवृत्ति की तीव्र लगन के द्वारा परिच्छन्न आत्मा अर्थात् क्षुद्र अहङ्कार से ऊपर उठें । वेदान्त चाहता है कि आप काम को केवल काम की खातिर ही करें । वेदान्त में 'कर्म' का अर्थ है अपनी असली आत्मा से मेल और विश्व से अभिन्नता । वेदान्त के अनुसार घोर कर्म ही विश्राम है । सभी सच्चा काम आराम है । शरीर को तो कर्मशील उद्योग में निरत रखने से और मन को शान्ति और प्रेम में तल्लीन रखने से यहीं इसी जन्म में पाप और ताप से मुक्ति मिल सकती है ।"

स्वामी राम ने विदेशों में प्रश्नकर्ताओं की शङ्काओं का उत्तर देते हुए सदैव यही कहा कि आप वेदान्त सिद्धान्त की सचाई का निर्णय वर्तमान समय के भारतवासियों की निम्न स्थिति और आचरणों को देखकर मत कीजिये । जिस प्रकार महान् क्षमा व्रतधारी महात्मा ईसा के सिद्धान्तों का निर्णय आजकल के संसार भर में युद्ध का दावानल भड़काने वाले ईसाईयों से नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार "अहं ब्रह्मास्मि" कहकर भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले भारतीयों को देखकर 'वेदान्त' को उपेक्षणीय नहीं बतलाया जा सकता । व्यावहारिक अथवा असली वेदान्त का अर्थ है–

"साहसपूर्ण आगे बढ़ाने वाला परिश्रम, न कि जकड़ देने वाला आलस्य- काम में आराम, न कि थकाने वाली बेगार-वृत्ति- चित्त की शान्ति, न कि संशयरूपी घुन- सङ्गठन न कि विघटन- समुचित सुधार, न कि लकीर के फकीर- गम्भीर और सत्य भावना, न कि लच्छेदार बातें- तथ्य और सत्यभरी कविता, न कि कपोल कल्पित कहानियाँ- घटनाओं के आधार पर तर्क, न कि प्राचीन लेखकों के प्रमाण- जीता-जागता अनुभव, न कि जीवनशून्य वचन ।'

ये ही सब बातें मिलकर व्यावहारिक वेदान्त बनता है । भारतीय शास्त्रों के गम्भीर अर्थ में अगर गोता लगाया जाय तो यही निष्कर्ष हाथ लगता है । इसलिये स्वामी राम भारतवासियों को वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान त्रुटियों को दूर करने के लिये यही कहा करते थे--

(१) भारतवर्ष के प्यारे पुराण-प्रिय शास्त्र-परायण भाइयो ! शास्त्रों का उचित प्रयोग करो । देश का धर्म तुमसे जात-पाँत के कठोर बन्धनों को ढीला करने और जाति-भेद की तीक्ष्ण कटुता को राष्ट्रीय सहानुभूति से दबा देने को कहता है ।

(२) जिन्हें भूल से तुम 'पतित' कहते हो, वे अभी 'उठे नहीं' हैं । वे अभी उसी प्रकार विद्यालय के नये विद्यार्थी हैं, जिस प्रकार किसी समय तुम भी थे ।

(३) मेरे प्यारे हिन्दुओं ! परिवर्तन- समयानुकूल परिवर्तन से घृणा मत करो और न पुरानी रीतियों तथा वंश-परम्परा पर अधिक जोर दो । ये बातें तुमको मनुष्यता के आसन से गिराने वाली हैं ।

(४) ओह चौका-चूल्हे वाले धर्म ! तुझे क्या कहा जाय जो अपरिमित और अमर आत्मा को किसी गैर के भोजन से बिगड़ा हुआ मानता है । तू सचमुच ही शोचनीय है ।

(५) यदि हम एक दिन हजारों भूखों को भोजन करादें तो इससे क्या लाभ ? इस प्रकार का विवेकहीन दान कुछ 'सभ्य दरिद्रों' को उत्पन्न करने में भले ही सहायता दे, इससे अधिक कुछ नहीं ।

(६) सभ्य-समाज में स्त्री को निर्जीव पदार्थ का दर्जा दिया जाता है । पुरुष अपने कार्यों में सर्वथा स्वतंत्र है, स्त्री के हाथ-पाँव जकड़े हुए हैं ।

(७) सभ्य-समाज के मुख पर यह बड़ा भारी कलङ्क है कि उसने स्त्री को व्यापार की चीज बना डाला है । जिस प्रकार पेड़, घर या धन-धाम मनुष्य की सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार स्त्री भी मनुष्य की सम्पत्ति मान ली गई है ।

(८) स्त्रियों, बालकों तथा श्रमजीवी जातियों (शूद्र कहलाने वाले) की शिक्षा पर ध्यान न देना, उन्हीं शाखाओं को काट गिराना है, जिनके आश्रय पर हम खड़े हुए हैं । इतना ही नहीं, यह तो राष्ट्रीयता के वृक्ष की जड़ पर ही घोर कुठाराघात करना है ।

(९) सर्वोपरि श्रेष्ठ दान जो आप किसी मनुष्य को दे सकते हैं, वह विद्या या ज्ञान का दान है । आप किसी मनुष्य को आज भोजन खिला दें तो कल वह फिर उतना ही भूखा हो जायगा । आप उसको कोई कला सिखला दें तो वह जीवन पर्यन्त अपनी जीविका प्राप्त करने में समर्थ हो जायेगा ।

(१०) धर्म का सार-तत्व है अपने ऊपर से पर्दे का हटाना, अर्थात् अपने आपका रहस्य समझना । सच्चे धर्म का आशय 'ईश्वर' शब्द पर विश्वास करने से भी पहले 'भलाई' पर विश्वास करना है ।

इस प्रकार स्वामी राम ने देश में यथार्थ ज्ञान की वह लौ जलाई जिसके प्रकाश में हमारी अकर्मण्यता और अन्ध-विश्वास का निराकरण होकर आत्मोद्धार के दर्शन होने लगे । स्वामीजी आज हमारे बीच में नहीं हैं पर उनकी वाणी, उनकी अन्तरात्मा निरन्तर हमारी पथ प्रदर्शक बनी रहेगी ।

विश्व-प्रेम के प्रचारक
ठाकुर दयानन्द

भारत अध्यात्म-प्रधान देश है । इसके मनीषियों ने आरम्भ से ही स्थूल शरीर को प्रधानता न देकर आत्मा को ही प्रधानता दी है । उनका विश्वास था कि यह समस्त विश्व एक ही महातत्व से विकसित हुआ है और प्राणीमात्र में एक ही आत्मतत्व और प्राणशक्ति व्याप्त है । इसलिये वे परस्पर में भिन्नता का अनुभव न करके ऐक्य की भावना ही करते थे और उसी समय उनके मुख से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे महावाक्य प्रकट हुए थे ।

पर संसार के अधिकांश व्यक्तियों ने व्यवहार में इस आत्मतत्व को एक कल्पना से अधिक महत्व न दिया और भौतिक लाभ के लिये अध्यात्म का ध्यान सर्वथा भुला दिया । सिकन्दर, सीजर, हलाकू, चंगेज और नेपोलियन जैसे रक्त बहाने वालों को इतिहासकारों ने उच्च पद प्रदान किया । अन्य जातियों पर आक्रमण करके उनको पराधीन बनाने वालों को चक्रवर्ती और शहंशाह की पदवियाँ दी गईं । दूसरे देशों को लूट-पाट कर अपने राज्य की सम्पदा बढ़ाने वाले देशभक्त कहलाये । संसार के प्रायः सभी देश प्राचीन काल से इसी नीति पर चलते आये हैं । भारतवर्ष के शासकों ने आध्यात्मिक शिक्षा के प्रभाव से अन्य देशों पर तो आक्रमण नहीं किया, पर राज्य के लोभ से परस्पर में ये भी खून-खच्चर करते रहे । विदेशियों का मुकाबला करने के लिये भी इनको युद्ध-कला का विकास करना पड़ा और क्षत्रियों तथा राजपूतों आदि का एक वर्ग ही ऐसा बन गया जिसका कर्तव्य युद्ध करना बतला दिया गया । इस प्रकार से संसार के सभी देशों में अब तक प्रायः अशान्ति और संघर्ष का दौरदौरा ही रहा ।

पर अब मानव जाति के इतिहास में एक ऐसा अवसर आ रहा है जब कि इस मार-काट और लड़ाई-झगड़े के जमाने

के बजाय भ्रातृभाव और विश्वशान्ति का युग आने की सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी है । सार्वजनिक शिक्षा और वैज्ञानिक उन्नति के परिणामस्वरूप लोगों के मानसिक क्षितिज और भावनाओं में परिवर्तन होने लग गया है और वे समझने लगे हैं कि इस प्रकार लड़ते-झगड़ते रहना मनुष्य को शोभा नहीं देता । जंगली और पालतू जानवर भी आपस में इतना अधिक नहीं लड़ते जैसा कि मनुष्यों में देखने में आता है । इसलिये योरोपीय देशों के कितने ही विचारक भी कई सौ वर्ष से विश्वशान्ति और विश्व-ऐक्य का प्रचार और समर्थन करने लगे हैं । विशेषतः प्रथम योरोपीय महासमर (सन् १९१४-१८) की भीषणता और वैज्ञानिक अस्त्रों की बढ़ती हुई संहारात्मक शक्ति को देखकर लोगों में यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि यदि संसार के राष्ट्र विश्व-शान्ति के कार्यक्रम पर अमल नहीं करेंगे तो मानव-जाति का अस्तित्व थोड़े ही समय तक रह सकता है । फिर जबसे अणु-अस्त्रों का प्रयोग आरम्भ हुआ है तब से तो यह संभावना सौ गुनी अधिक बढ़ चुकी है ।

'अरुणाचल-मिशन' की स्थापना

हमारे देश के विचारक भी पिछले कितने ही वर्षों से इस खतरे को अनुभव करने लगे है और यहाँ के कुछ प्रसिद्ध नेता विश्व-शान्ति परिषदों (वर्ल्ड पीस कान्फ्रेंस) में भाग लेते रहते है । पर यहाँ इस विचारधारा के सबसे पहले प्रचार करने का श्रेय बङ्गाल के ठाकुर दयानन्द (सन् १८८१-१९३३) को है । उनका जन्म एक सामान्य श्रेणी के परिवार में हुआ था और बाल्यावस्था से ही इनका झुकाव संकीर्तन और कथा-वार्ता की तरफ था । इसलिये उन्होंने स्कूल की शिक्षा भी कम ही पाई और मैट्रिक से ही पढ़ना छोड़ दिया । उसके पश्चात् कुछ समय तक सरकारी नौकरी भी की पर संकीर्तन प्रेम और आध्यात्मिक विषयों की ओर विशेष रुचि होने से वह भी कुछ ही वर्ष करके छोड़ दी । इनका विशेष ध्यान इसी तरफ रहता था और अपने परिचित जनों को सदैव उसकी प्रेरणा देते रहते थे ।

सन् १९०९ में ठाकुर दयानन्द ने सङ्कीर्तन का स्थायी रूप से प्रचार करने के लिये सिलचर (आसाम) में नगर से तीन मील के फासले पर एक पहाड़ी टीले पर 'अरुणाचल आश्रम' की स्थापना की । इसमें माँ आनन्दमयी (काली) और अरुणाचलेश्वर (शङ्कर) की मूर्तियाँ स्थापित की गई । इस संस्था का उद्देश्य संकीर्तन के माध्यम से जनता में आध्यात्मिक भावनाओं का प्रचार करना था । वे ब्राह्मण और अछूत, स्त्री और पुरुष तथा छोटे-बड़े का भेद मानने के विरुद्ध थे और उन्होंने अपने आश्रम तथा प्रचार कार्य में सबको समान अधिकार दिया । इतना ही नहीं उन्होंने अपने आश्रम की अध्यक्षा भगिनी निवेदिता को बनाया, जो स्वामी विवेकानन्द की एक प्रमुख अंग्रेज शिष्या (जिनका पहला नाम मिस मारगरेट नोबुल था) थीं । उस समय वे भारत में स्त्री-शिक्षा और समाजसेवा का कार्य कर रही थीं और राजनैतिक आन्दोलन में परोक्ष रूप से भाग लेती थीं ।

अरुणाचल आश्रम में कितने ही आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक सम्मिलित हो गये और उनमें से अधिकांश ने संन्यास ग्रहण कर लिया । कुछ स्त्रियाँ भी संन्यासिनी बनकर कीर्तन में तल्लीन हो गईं । आरम्भ में कुछ महीने तो किसी ने इस तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया, पर जब इन लोगों ने गाँव-गाँव घूम कर प्रचार तथा सङ्गठन का कार्य आरम्भ किया तो सरकारी अधिकारियों की वक्रदृष्टि इन पर पड़ी । कुछ लोगों ने जो इनके समाज-सुधार, नारी-स्वतंत्रता, अस्पर्शता निवारण आदि के विरोधी थे, इन पर आरोप किया कि ये गुप्त रूप से राजविद्रोही कार्य करते हैं । इससे सरकारी अधिकारियों को भी संदेह हुआ कि सम्भवतः 'आनन्द मठ' नामक क्रांतिकारी उपन्यास में वर्णित संन्यासी संगठन के आदर्श पर ही यह आश्रम देश में क्रांति फैलाना चाहता है और संकीर्तन की आड़ में उसी की तैयारी कर रहा है । इसलिये आश्रम के पास एक पुलिस कर्मचारी नियत कर दिया गया जो उसकी कार्यवाहियों पर दृष्टि रखता था और वहाँ आने-जाने वालों के नाम भी लिखता रहता था ।

विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार

आश्रम के एक सहयोगी 'मैत्री' तथा 'प्रजाशक्ति' नाम के दो सामयिक पत्र प्रकाशित करते थे, जिनके द्वारा जनता में जागरण की भावनायें फैलाई जाती थीं । यद्यपि इनकी लेखन शैली धार्मिक होती थी, पर उसका मुख्य उद्देश्य जनता में समाज-सेवा, देश-सेवा के भावों का प्रचार करना ही होता था । 'मैत्री' के एक लेख में 'अरुणाचल' मिशन के प्रचार कार्य के सम्बन्ध में लिखा गया था--

"एक नवीन शक्ति प्राप्त करके बंगाली संन्यासियों का एक दल कार्य के लिये उद्यत होगा । बहुत से बंगाली युवक साधनारत होकर सिद्धि प्राप्त करेंगे । श्रीकृष्ण की वंशी बज उठी है । इस वंशी के स्वर से बहुत से पागल बन जायेंगे । बंगाली जग रहे हैं, भारत को जगाने के लिये । भारत जाग्रत होगा समस्त जगत् में धर्म का राज्य-शान्ति का राज्य-प्रेम का राज्य स्थापित करने के लिये । पृथ्वी के शैशवावस्था में जो जड़ शक्ति का युग था वह समाप्त हो गया । उसके पश्चात् जो पशु-शक्ति का युग आया वह भी पूरा हो चुका । इस समय बुद्धि-शक्ति का युग चल रहा है

और इसके पश्चात् प्रेम-शक्ति का युग आने वाला है । तब फिर जगत् में श्रीकृष्ण का धर्म-राज्य स्थापित होगा ।"

इसी प्रकार 'प्रजाशक्ति' में भी विश्वव्यापी समस्याओं पर ही विचार किया जाता था । उसके एक लेख में सामाजिक भेदभाव का प्रतिकार करते हुए कहा गया था–

"भाइयो ! तुम यह विचार करो कि तुम किसका अपमान कर रहे हो ? इस प्रकार तो तुम स्वयं भगवान का ही उपहास करते हो । इस समय समस्त जगत् में एक महा भ्रातृत्व और साम्य-संस्थापन का प्रयास किया जा रहा है यह भगवान के अतिरिक्त और किसी का नहीं है । क्या तुम उसी की हँसी उड़ा रहे हो ? ऐसा करने से तो तुम देव-द्वेषी, आत्मद्रोही बन जाओगे, तुम अन्धकार के मित्र और प्रकाश के शत्रु कहलाओगे । तुम क्या अब भी सब घरों में अन्धकार ही देखना चाहते हो ? पर भगवान की ऐसी इच्छा नहीं । नया प्रकाश लेकर, नवीन आनन्द लेकर, नवयुग आ रहा है । अब घर-घर में प्रेम का प्रवाह बहेगा । घोर अन्धकार में प्रकाश की लहरें उठने लगेंगी । अब भारतवासी क्षुद्र (हीन) होकर नहीं रहेंगे । गङ्गा के देश में रहने वालों को समस्त जगत् में एक विराट्-उदार सभ्यता का विस्तार करने के लिये चारों तरफ दौड़-धूप करनी पड़ेगी । वे चीन के किसानों का प्रेमपूर्वक आलिंगन करेंगे, उनके उपदेश से जापान के सामुराई अपनी तलवारों को तोड़ कर हल का फार बना लेंगे । जर्मनी में 'क्रुप' (कारखाना) अस्त्र बनाने वाला 'मिलन मंदिर' के रूप में परिणत हो जायगा । फ्रांस 'ला मार्शल' को त्याग कर प्रेम का गान करने लगेगा । भारत-सन्तान जगत् में नवीन गीता का प्रचार करेंगे ।'

ठाकुर तथा उनके सहयोगी इस प्रकार देशभक्ति के साथ विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार करके जन जागरण का प्रयत्न कर रहे थे और बहुसख्यक युवक उससे प्रेरणा प्राप्त करके इस कार्य के लिये जीवन दान करके संन्यासी बन रहे थे, यह देख कर सरकार का भय और भी बढ़ गया। उसको 'अरुणाचल मिशन' के सब कार्यों में राज्यद्रोह की गन्ध और कुछ गुप्त अभिसंधि जान पड़ने लगी । आश्रम से संबंध रखने वाले व्यक्तियों में से जो कहीं पर सरकारी नौकर थे उनको नौकरी से निकाल देने की धमकी दी गई । पर इन लोगों ने बिना किसी संकोच के आश्रम को छोड़ने के बजाय नौकरी को ही छोड़ने का निश्चय कर लिया । इस घटना से अरुणाचल आश्रम का महत्व अनेक लोगों की दृष्टि में बहुत बढ़ गया और वे कहने लगे कि ये लोग धर्म के लिये सब प्रकार की हानि, कष्ट और निन्दा सहन करने को प्रस्तुत हैं तो निस्सन्देह प्रशंसा के पात्र हैं । कुछ लोगों द्वारा यह शिकायत कराई गई कि आश्रम वालों के कीर्तन से रात्रि में निद्रा में व्याघात पड़ता है । इस प्रकार सरकार तरह-तरह के उपायों से आश्रम के प्रचार कार्य को रोकने के लिये कटिबद्ध हो गई ।

भक्तजनों पर आश्चर्यजनक प्रभाव

पर ठाकुर पर इन बातों का कोई प्रभाव न पड़ा और दूर-दूर के नगरों और कस्बों में कीर्तन का प्रचार करने लगे । उनके कीर्तन में कुछ ऐसा आकर्षण था कि सभी स्त्री-पुरुष उसे सुनते ही आकर्षित हो जाते थे । लोगों को आश्चर्य होता था कि एक सामान्य पढ़े-लिखे और कल तक जिलाबोर्ड में क्लर्क की नौकरी करने वाले व्यक्ति में ऐसी शक्ति कैसे आ गई कि बी० ए०, एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण युवक उसके पीछे-पीछे फिर रहे हैं और अनेक गण्यमान्य नेता भी उनके आश्रम को देखने आ जाते हैं । बस वे वास्तविकता की खोज करने के बजाय ठाकुर पर 'इन्द्रजाल' और 'हिप्नोटिज्म' का आरोप करने लगे । विशेषतः जब वे देखते थे कि उनके साथ रहने वाले युवा संन्यासियों के स्वभाव में शीघ्र ही बड़ा परिवर्तन हो जाता है और वे साधना-पथ पर इतनी शीघ्रता से बढ़ने लगते हैं कि जिसकी उनसे कभी आशा नहीं थी । इसलिये इनके विरोधी और इनकी उन्नति से ईर्ष्या करने वाले कोई अन्य बहाना न पाकर सर्वत्र यही प्रचार करने लगे कि ये 'मेस्मरेजिम' और 'हिप्नोटिज्म' जैसी विधियों से युवकों के दिमाग को खराब कर देते है जिससे वे अपने घर बार और कर्तव्य कर्म को भूल कर इनके पीछे लग जाते हैं । जैसे-जैसे ठाकुर का कार्यक्षेत्र बढ़ता गया वैसे-वैसे इस तरह की अफवाहें भी अधिकाधिक फैलती चली गईं और अन्त में इन्हीं के परिणाम स्वरूप अँग्रेज सरकार को ठाकुर और उनके अनुयायियों पर सशस्त्र आक्रमण करने का बहाना मिल गया ।

पर इन विघ्न बाधाओं से ठाकुर का कार्यक्रम घटने के बजाय बढ़ता ही जाता था । उनका कहना था कि विरोधियों के आक्रमण से भयभीत होने या मार्गच्युत होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है । उन्होंने अपने साथियों को समझाया कि "जब तक प्रतिक्रिया नहीं होती तब तक हृदय के बल को बढ़ाने का और कोई उपाय नहीं है । हमारे विरुद्ध खूब आन्दोलन होने दो, उससे हमारा कार्य और भी पक्का होगा । हमारा आन्दोलन जितना ही तीव्र होगा, लोग उतना ही उसकी वास्तविकता को जानने का प्रयत्न करेंगे और इससे उनके संस्कार दृढ़ होते जायेंगे । राख से ढकी हुई अग्नि की तरह एक दिन सत्य अवश्य प्रकट होगा ।

इस दृष्टि से विरोध होना सौ गुना अच्छा है किन्तु उदासीन रहना ठीक नहीं ।"

जब सरकार की तरफ से संकीर्तन के प्रचार को रोकने की बार-बार चेष्टा की गई और कीर्तन स्थल में पुलिस के सिपाही तैनात करके लोगों को भयभीत करने की चेष्टा की गई तो ठाकुर दयानन्द ने ३० जून, १९१२ को निम्नलिखित घोषणा की । इस घोषणा को भारत सरकार के पास भेजने का साथ ही देश के समस्त अखबारों मे छपने के लिये भी भेज दिया गया। । पर उस समय किसी का साहस ऐसी सरकार के विरुद्ध बातों को छापने का नहीं हुआ । घोषणा इस प्रकार थी-

"गत चार वर्ष से 'अरुणाचल' देशवासियों के सम्मुख उपस्थित है । इस बीच में इसके ऊपर गवर्नमेन्ट की तरफ से अन्यायपूर्वक घोर अत्याचार और उत्पीड़न होते रहे हैं । प्रत्येक समय शासनकर्ताओं ने सम्राट् की प्रतिज्ञा के विरुद्ध कार्य किया है । आश्रम के सेवक-सेविकाओं ने धर्म के विषय में इस प्रकार के अनुचित हस्तक्षेप की सूचनायें तार द्वारा भारत सरकार (वायसराय) को भेजी है । पर अब यह अवस्था इतनी असह्य हो गई है कि हमको बड़े दुःख के साथ इस गैर कानूनी शासन को अमान्य करना पड़ रहा है । राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजा के धर्म पालन में सहायता करना ही है । पर इस समय राजा अपने इस फर्तव्य से भ्रष्ट हो रहा है और बार-बार सुधार के लिये प्रार्थना करने पर भी ध्यान नहीं दे रहा है । इस परिस्थिति में हम भी अपने को राजा और प्रजा के संबंध से मुक्त समझते है । भारत सदा से धर्म भूमि रहा है । धर्म-मार्ग में राज्य अधिकारियों द्वारा इस प्रकार की बाधाएँ सहन करने की अपेक्षा 'अरुणाचल' इसका जो कुछ भी अन्य परिणाम हो उसे अच्छा समझेगा ।"

उस समय तो शक्तिशाली अंग्रेजी सरकार और विरोधी पक्ष वालों ने भी इस घोषणा पत्र को 'छोटे मुँह बड़ी बात' बतलाया और उसे हँसी में उड़ा देने की चेष्टा की । पर कौन जानता था कि यही विचार रूपी सूक्ष्म बीज आगामी वर्षों में बढ़कर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेगा और भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा 'अँग्रेजो ! भारत को खाली करो' के महान् आन्दोलन के रूप में प्रकट होगा । पर उस समय तो स्थानीय सरकारी अफसरों ने इस आन्दोलन को कुचलने का दृढ़ निश्चय कर लिया और इसके लिये हर तरह की कानूनी तैयारी करने लगे । ४ जुलाई के दिन उनके द्वारा आश्रम की निगरानी के लिये नियुक्त पुलिस के सिपाहियों ने निम्नलिखित रिपोर्ट तैयार करके अफसरों के पास भेजी-

"निवेदन है कि हम कल दिन और रात भर दयानन्द स्वामी और बाबू महेन्द्रनाथ (ऋषि युगानन्द) की गतिविधियों को विशेष रूप से देखते रहे । वे इस मौलवी बाजार थाने के जगदशी ग्राम में कीर्तन कर रहे हैं और उनके साथ बहुत से साधु- स्त्री और पुरुष हैं । कल दिन के ४ बजे से रात के १० तक वहाँ लगभग १५०-२०० व्यक्ति जमा थे । उस समय 'साधुओं' ने भाषण दिया कि हम अंग्रेज सरकार के अधीन नहीं हैं, ठाकुर दयानन्द ही हमारे राजा हैं, आस-पास के सभी लोगों को यहाँ आकर उनकी चरण वन्दना करनी चाहिये, नहीं तो अन्य कोई उपाय नहीं है । उस गाँव के लोग अंग्रेजी फौज के आने की बात सुनकर बहुत डर गये है और वहाँ से अपने स्त्री-पुत्र, सम्पत्ति आदि को हटा रहे है ।"

इस प्रकार परिस्थिति को खूब सङ्गीन बना कर ६ जुलाई को असिस्टेन्ट पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट मि० बोमण्ट दल-बल के साथ आश्रम में पहुँच गये । इसकी संभावना समझ कर ठाकुर ने एक दिन पहले आश्रम स्थित सब लोगों से कह दिया कि "जिस किसी को भय प्रतीत होता हो वह इसी समय चला जाये और जो लोग यहाँ ठहरें वे किसी हालत में सरकारी अधिकारियों का प्रतिकार न करें वरन् जो कुछ सङ्कट आये उसे भगवान का मङ्गलमय विधान समझ कर हर्षपूर्वक सहन करें ।" इसलिये जब मि० बोमण्ट घोड़े पर सवार होकर आये तो उनको किसी ने न रोका और वे आश्रम के भीतर पहुँच गये । श्री अभेदानन्द ने उनसे तलाशी का वारन्ट दिखलाने को कहा तो उन्होंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया । वास्तव में उनके पास कोई वारन्ट था ही नहीं । इस पर अभेदानन्द जी ने अपने त्रिशूल द्वारा उनके घोड़े को आगे बढ़ने से रोका । बस पुलिस वालों ने गोली चलाना आरम्भ कर दिया जिससे कितने ही व्यक्ति घायल हुए । इनमें से ऋषि युगानन्द के घाव सांघातिक थे और दस दिन पश्चात् अस्पताल में उनका देहावसान हो गया । स्वामी अभयानन्द, अमरानन्द, पियूषानन्द, प्रणवानन्द भी भयङ्कर रूप से घायल हो गये ।

पर जब इस प्रकार की गोली वर्षा के सामने से भी कीर्तन करने वाले नहीं भागे और पहले की अपेक्षा भी अधिक वेग से "प्राणगौर नित्यानन्द" की ध्वनि करने लगे तो बोमण्ट साहब डरे कि इन लोगों के पास अवश्य भयङ्कर अस्त्र शस्त्र छिपे हुए रखे हैं और ये उनसे अब हमारे ऊपर हमला करेंगे । इस काल्पनिक भय से वे शीघ्र ही गोली चलाते-चलाते वहाँ से भाग गये ।

मि० बोमण्ट ने वापस जाकर उच्च अधिकारियों को जो रिपोर्ट दी उससे उनको ऐसा जान पड़ा कि इन 'भयङ्कर'

संन्यासी और सन्यासिनियों के दल का मुकाबला करने के लिये बड़ी तैयारी करने की आवश्यकता है ! उन्होंने जिले के सदर मुकाम में तार भेजकर सैनिकों की सहायता माँगी । वहाँ से कई सौ सशस्त्र सिपाही और लाठी वाले भेज दिये गये, जिससे जगत्सी का गाँव एक रण क्षेत्र की तरह जान पड़ने लगा । सरकारी सेना ने आश्रम से एक मील की दूरी पर अपना पड़ाव डाला ।

इस तरह सात तारीख को ही आश्रम की नाकेबन्दी कर ली गई । उसी सन्ध्या को डिप्टी कमिश्नर ने ठाकुर दयानन्द के पास पत्र भेजा कि वे ८ तारीख को आश्रम के दरवाजे पर उनसे मिलें और उस समय कोई झगड़ा पैदा करने का कार्य न करे । आश्रम की तरफ से उत्तर दे दिया गया कि "ऐसे अवसर पर हमारी तरफ से कोई विपरीत आचरण नहीं होगा क्योंकि ऐसा करना तो अतिथि-धर्म के विरुद्ध है ।" दूसरे दिन डिप्टी कमिश्नर कुछ सिपाहियों को लेकर आश्रम के समीप आये तो ठाकुर दयानन्द ने पुलिस वालों के जोर-जुल्म की सब बात सुनाई । डिप्टी कमिश्नर ने इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया और आज्ञा दी कि आश्रम में जितने व्यक्ति हैं वे सब पाँच-पाँच करके बाहर आयें और आश्रम से २०० गज के फासले पर आकर आत्म-समर्पण कर दें । पर ठाकुर ने कहा कि इस समय सब लोग अखण्ड नामयज्ञ का संकल्प लेकर उसमें तल्लीन है इसलिये वे तुरन्त उसे त्यागकर अपने पवित्र-व्रत को भङ्ग नहीं कर सकते । डिप्टी कमिश्नर उनको सैनिक बल प्रयोग की धमकी देकर चले गये और घन्टे भर पश्चात् एक सौ से अधिक सशस्त्र पुलिस और फौजी सिपाही तथा कितने ही लाठी वालों को साथ लेकर आश्रम में पहुँच गये ।

उस समय वहाँ पर तुमुल कीर्तन चल रहा था और उसमें उन्मत्त आश्रमवासियों को बाहर की घटनाओं की कुछ खबर न थी । वे पूरी तन्मयता के साथ गगनभेदी स्वर में "प्राणगौर नित्यानन्द" की ध्वनि कर रहे थे ।

डिप्टी कमिश्नर ने वहाँ पहुँचते ही सबको गिरफ्तार करने का आदेश दिया । क्रोधित सिपाहियों ने पहले तो सबको सङ्गीनों से खूब मारा और फिर हाथों में हथकड़ी डाल दी । पर किसी ने न तो किसी प्रकार का प्रतिरोध किया न तनिक क्रोध प्रकट किया । सिपाहियों ने ठाकुर दयानन्द के पास पहुँचकर बन्दूक के कुन्दे से माथे, छाती और पेट पर आघात पहुँचाया और फिर स्वयं डिप्टी कमिश्नर ने आकर उनको पदाघात किया । माता मैत्रेयी जी ठाकुर की रक्षा करने के लिये बीच में कूद पड़ीं । सिपाहियो के भयङ्कर आघात से माताजी के गले की हड्डी टूट गई ।

आश्रम के कुल ५७ व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया जिनमें से ४५ के लगभग स्त्रियाँ और बालक-बालिका थे । इनको वर्षा के कारण कीचड़ से भरे रास्ते और खेतों में होकर पैदल ही मौलवी-बाजार के थाने में ले गये । जहाँ पुरुष और स्त्रियों को दो कमरों में पृथक-पृथक बन्द कर दिया गया । संध्या के समय एक डाक्टर ने आकर घायलों की मरहम पट्टी कर दी और कुछ खाने के लिये भी दिया गया । तीन विशेष घायल महिलाओं को छोड़कर शेष समस्त स्त्रियों और बच्चों को संध्या होने पर छोड़ दिया गया ।

पुलिस वालों ने आश्रम में प्रतिष्ठित गौराङ्ग की मूर्ति को तोड़-फोड़कर फेंक दिया था । कुछ समय पश्चात् जब इस संबंध में सरकार पर आरोप लगाया गया तो चीफ कमिश्नर ने जाँच करके फैसला किया कि "दयानन्द जाति से बहिष्कृत व्यक्ति हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रतिष्ठित देव-मूर्ति में किसी प्रकार की पवित्रता का होना संदेहजनक है । जहाँ पहले से ही कोई पवित्रता नहीं थी, वहाँ पवित्रता होने का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता ।'

आश्रमवासियों को गिरफ्तार कर लेने पर चार दिन तक पुलिस ने आश्रम पर कब्जा किये रखा और उसकी पूरी तरह से तलाशी ली । उन्होंने घरों के फर्श खोद डाले और छप्परों की टीन को खोलकर देखा, तालाब में भी जाल फेंककर जाँच की, पर बम, बन्दूक, पिस्तौल तो दूर की बात, कोई भी गैर-कानूनी चीज वहाँ नहीं मिली । हाँ, वहाँ पर खाने का सामान, वस्त्र, बिस्तर, नगद, रुपया, पुस्तकें आदि जो कुछ भी मिला उसे सिपाही लूटकर ले गये ।

ठाकुर दयानन्द और उनके बारह साथियों पर सिलहट जेल के भीतर ही मुकदमा चलाया गया । ठाकुर दयानन्द ने निम्नलिखित संक्षिप्त बयान दिया-

"मैं अपने सहज और सरल धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत कर रहा हूँ और जानता हूँ कि मैंने कोई अपराध नहीं किया । पिछले दो-तीन वर्षों में हमारे विश्व प्रेम-धर्म के प्रचार-कार्य में जिस तरह बिना कारण ही बाधा डाली जा रही है और अभी जगत्सी आश्रम में मेरे और मेरे सहयोगियों के ऊपर जो अमानुषिक अत्याचार किये गये है, उनको देखते हुए इस मुकदमे को भी मैं उसी श्रृंखला की एक कड़ी समझता हूँ । अभी तक मेरी शिकायतों पर कभी न्याय नहीं किया गया है और भविष्य में भी कभी न्याय होगा, इसकी आशा नहीं । इसलिये अदालत के सामने किसी प्रकार का बयान देना निरर्थक समझकर, मैं अपने बचाव के लिये कुछ भी कहना नहीं चाहता ।"

जब किसी अभियुक्त ने अपना बचाव ही नहीं किया तो फैसला करने में क्या लगता था । अँग्रेज मजिस्ट्रेट ने ठाकुर दयानन्द और स्वामी अभेदानन्द को डेढ़-डेढ़ वर्ष का कठोर कारावास और शेष को तीन माह से लेकर साल भर तक की सजा दे दी ।

सरकारी दमन का मुकाबला

इस प्रकार जो व्यक्ति परमार्थ भावना से समस्त मानव-जाति में भ्रातृत्व की भावना का प्रचार करने के लिये उद्यत हुआ था, जो अज्ञान अन्धकार में पड़े अपने अन्य भाइयों में आध्यात्मिकता की ज्योति प्रज्वलित करने के लिये प्रयत्नशील था उसका विदेशी सरकार और सङ्कीर्णभावापन्न स्वदेशी लोगों ने मिलकर नाश करने का प्रयत्न किया, इस प्रकार का उदाहरण कम ही देखने में आता है । पर ठाकुर इस घटना से विचलित नहीं हुए । उन्होंने जेल जाते समय यही कहा--

"जिस मनुष्य में आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो चुका है उसकी गति को तो समस्त संसार मिलकर के भी नहीं रोक सकता ।"

और हुआ भी ऐसा ही । ठाकुर के साहस से अनुप्राणित होकर भक्तवृन्द ने कीर्तन प्रचार का कार्यक्रम बन्द नहीं होने दिया वरन् वे चारों तरफ भ्रमण करके प्रत्येक नगर और कस्बे को "प्राणगौर नित्यानन्द" और "अभय वाणी सुना, ओ मा ! अभया" की ध्वनि से गुँजारने लगे । देश के प्रभावशाली अंग्रेजी दैनिक-पत्र अमृतबाजार पत्रिका ने स्वयं खतरा उठाकर भी 'जगत्शी कांड' के संबंध में इतना तीव्र आन्दोलन उठाया कि अन्त में सरकार को उसकी जाँच करने का आदेश देना पड़ा और 'सुरमा घाटी' के कमिश्नर ने एक महीने तक जाँच करके सरकारी पक्ष को उचित सिद्ध किया। उधर जनसाधारण में ठाकुर दयानन्द और उनके संन्यासी दल के संबंध में तरह-तरह की अफवाहें फैल गईं । वे कहते थे कि अरुणाचल के संन्यासी अंग्रेजी बन्दूकों की गोलियों को निगल जाते थे ।

जगत्शी-आश्रम पर आक्रमण के कुछ महीने बाद भारतीय क्रांतिकारी दल का एक अज्ञात युवक मौलवी बाजार के सबडिवीजनल अफ्सर मि० गार्डनर की हत्या करने पहुँचा । वह उनके बँगले के अहाते मे घुसने की कोशिश कर रहा था कि काँटेदार तारों मे उलझकर गिर पड़ा और बम के फट जाने से स्वयं ही मर गया । यद्यपि इस घटना से अरुणाचल आश्रम का कोई संबंध न था और उस युवक की शिनाख्त भी न हो सकी, पर इस बहाने को लेकर फिर आश्रम की तलाशी ली गई और वहाँ के रहने वालों को तंग भी किया गया ।

ठाकुर भी जेल में जाकर हताश और निष्क्रिय नहीं हो गये वरन् उत्साहवर्धक सन्देश भेजकर अपने अनुयायियों को उत्साहित करते रहे । अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा-

"एक व्यक्ति ऋषि हो सकता है, सन्त और अवतार भी हो सकता है, ईश्वर का प्रियपात्र हो सकता है, किन्तु ईश्वरीय नियमों का अपवाद नहीं हो सकता । इतिहास इस बात का साक्षी है कि जितने भी लोगों ने मानवता की सेवा की उन्हें सब सहना पड़ा, अपने प्राणों की आहुति देकर ही वे कुछ कर पाये । उद्देश्य की पूर्ति में विलम्ब देखकर आप लोगों को हताश नहीं होना चाहिए । कष्टों की अग्नि में तप कर ही कुन्दन बना जाता है । आप लोगों को विश्व के लिये कुछ करना है ऐसा मैं जानता हूँ । आप लोगों का प्रत्येक कार्य सार्थक है । प्रगति का पथ यदि कंटकाकीर्ण है तो कोई चिन्ता नहीं रास्ते में विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़े तो कोई भय नहीं । उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही है । आप भय, आशंका, निराशा सबका परित्याग कर हमारे साथ बढ़ें । हमारे सामने दूसरी कोई चीज नहीं- हमारा महान् उद्देश्य है और हम हैं ।"

गुरुदेव से नवीन प्रेरणा पाकर भक्तगण दलबद्ध होकर विभिन्न स्थानों में कीर्तन करने लगे । जगत्शी-कांड के कारण इनका नाम इतना प्रसिद्ध हो गया था कि जन-साधारण इनके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखने के साथ डरने भी लगे थे । पर सबसे अधिक भयभीत तो सरकार हो रही थी । वह इनके आगे और पीछे सदैव पुलिस और खुफिया वालों को लगाये रहती थी । पवना शहर में एक सज्जन के घर पर इनका कीर्तन सात दिन, दिन-रात लगाकर चलता रहा । इससे वहाँ का मजिस्ट्रेट घबरा गया और भय हुआ कि यहाँ 'जगत्शी' की पुनरावृत्ति न हो जाय । इसलिये उसने संन्यासियों से प्रस्ताव किया कि वे लोग यहाँ से चले जायें, उसके जाने का खर्च सरकार दे देगी । पर संन्यासी बिना एक विशाल नगर कीर्तन किये जाने को तैयार नहीं हुए । यह नगर कीर्तन बड़ी धूमधाम से निकला । इसके पश्चात् उनको दिनाजपुर से 'श्रीगौरी गौरांग आश्रम' की प्रतिष्ठाना के उत्सव में सम्मिलित होने का निमंत्रण आ गया और वे स्वेच्छा से वहाँ के लिये रवाना हो गये । इस निमंत्रण में कहा गया था--

"जिन्होंने जगत्शी के नाम-महायज्ञ में अपने प्राणों की आहुती दे दी वे स्वनामधन्य ऋषि युगानन्द (श्री महेन्द्रनाथ एम. ए. बी. एस.-सी.) इस आश्रम की आयोजन करने वाले थे । उनकी इच्छा थी कि नाम-महायज्ञ के 'यज्ञशेषामृत' को इस आश्रम मे स्थापित करके संसार के सब लोगों को

उस अमृत का रसास्वादन करायेंगे । पर दुर्भाग्य से उस महायज्ञ को बलात् रोक दिया गया और कीर्तन-प्रचार की योजना में एक बड़ी बाधा उपस्थित कर दी गई जिससे यह कार्य अभी तक रुका रहा । अब भक्तों ने उस संकल्प को पूर्ण करने का दृढ़ निश्चय किया है और उसके लिये वे समस्त प्रेमियों को आमंत्रित करते हैं ।"

इस समय ठाकुर भी डेढ़ वर्ष का कारावास समाप्त करके छूट गये थे, शेष सहयोगी पहले से ही आ गये थे, अतएव वे सौ से अधिक सहयोगियों को लेकर उत्सव में सम्मिलित हुए । एक बहुत बड़ा नगर कीर्तन का जुलूस निकाला गया । उसमें कई हजार नर-नारी प्रेमोन्मत्त होकर कीर्तन कर रहे थे । पुलिस का भय, गवर्नमेंट की चेतावनी, समाज के कुछ नेताओं का विरोध-कुछ भी जनता को उसमें भाग लेने से नहीं रोक सका । इस जुलूस में कलकत्ता निवासी यहूदी धर्म के नेता मि० एजरा और बहाई सम्प्रदाय की मिसेज स्टैनार्ड ने भी भाग लिया था ।

योरोपीय महासमर और अरुणाचल मिशन

इसके कुछ ही समय बाद अगस्त १९१४ में योरोप में युद्ध का दावानल भड़क उठा । जर्मनी के भीषण पराक्रम से ब्रिटिश-सिंह का कलेजा भी काँपने लगा । उस अवसर पर ठाकुर की प्रेरणा से स्वामी अभयानन्द ने भारत के बड़े लाट (वायसराय) के पास एक तार भेजकर प्रार्थना की कि उनको योरोपीय रणक्षेत्र में जाने की आज्ञा दी जाय जिससे वे दोनों युद्ध करने वाली सेनाओं के मध्य में खड़े होकर भगवान से महाशान्ति के लिये प्रार्थना कर सकें ।" वाइसराय ने तार के उत्तर में उनके विचार की प्रशंसा की, पर जाने के विषय में कुछ नहीं कहा ।

ठाकुर अध्यात्मवाद के प्रचारक थे और इस कारण विदेशी सरकार के द्वारा इतना निर्यातन सहन करने पर भी उन्होंने अंग्रेज जाति के प्रति कभी द्वेष-भावना नहीं रखी वरन् वे अपने देशवासियों से सदा यही कहते रहे– "भारतवर्ष पूर्वीय सभ्यता की उत्पत्ति और विकास का मूल-स्थान है । यह सभ्यता अध्यात्म-प्रधान है । उधर इंग्लैण्ड में जिस पश्चिमीय सभ्यता की उत्पत्ति हुई है वह भौतिकता प्रधान है । ये दोनों ही अपूर्ण हैं और इस अपूर्णता को दूर करने के लिये ही भगवान की इच्छा से भारतवर्ष में हिन्दू और अंग्रेजों का सम्मिलन हुआ है । अब तक भारत को अँग्रेजों से जो कुछ सीखना था वह सीख लिया । अब वह समय आ रहा है जब भगवान के विधानानुसार अँग्रेज भारतवर्ष से जो कुछ सीखना आवश्यक है उसे सीखेंगे । सब प्रकार की शिक्षा, विद्या और सभ्यता बिना आध्यात्मिकता के भाव से सम्पन्न हुए अपूर्ण ही रहती है । इसलिये इस आध्यात्मिकता-प्रधान भारतभूमि में इन दोनों जातियों का सम्मिलन हुआ है ।"

राष्ट्रसंघ के सदस्यों से विश्व-शान्ति की अपील

इसी बीच में योरोपीय महासमर समाप्त हो गया और फ्रांस की राजधानी पेरिस में विजयी और पराजित दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों की एक कान्फ्रेन्स बुलाई गई जिसका उद्देश्य भविष्य के लिये ऐसी व्यवस्था करना था जिससे पुनः संसार मे ऐसा विनाशकारी दृश्य उपस्थित न हो । ठाकुर दयानन्द ने इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर विश्वव्यापी स्थायी शान्ति की एक योजना तैयार करके तार द्वारा इस कान्फ्रेन्स के पास भेजी । तत्पश्चात् उसे छपा कर समस्त देशों के नेताओं तथा विद्वानों और भारतवर्ष के प्रधान सामयिक-पत्रों के पास भी भेजा गया । इस योजना का सारांश इस प्रकार था–

"महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही दुनिया में शान्ति और उन्नति के एक नये युग का आविर्भाव हुआ है । सभी देशों के राजनीतिज्ञ और दार्शनिक शान्ति तथा एकता लाने को किसी श्रेष्ठतम तरीके को खोज रहे हैं और उन्होंने कुछ सलाह भी दी है । मैंने भी इस संबंध में विचार करके एक योजना बनाई है और उसे शान्ति सम्मेलन के सामने रखने का साहस कर रहा हूँ । पर उसके पहले मैं कुछ नम्र-निवेदन करना चाहता हूँ ।"

"युद्ध में एक पक्ष ने विजय प्राप्त की और वह प्रसन्न है, दूसरा पक्ष पराजित हुआ है और वह अपने को असहाय अनुभव कर रहा है । एक बहुत अधिक खुशी मना रहा है और दूसरा खिन्न और दुखी हो रहा है । पराजित राज्यों (जर्मनी और आस्ट्रेलिया आदि) ने सन्धि की शर्तों को इसलिये स्वीकार किया है क्योंकि उनके लिये और कोई रास्ता नहीं था । अगर शान्ति हो जाने पर हारने वाले देशों के लिये कठोर शर्तें रखी जायेंगी तो वे कठोर परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये उनको स्वीकार तो कर लेंगे, पर उनके मन मे तीव्र वेदना होती रहेगी और वे ऐसी सन्धि को तोड़ डालने का अवसर खोजते रहेंगे । इस प्रकार जो दिखावटी शान्ति स्थापित की जायेगी वह कभी यथार्थ और स्थायी नहीं हो सकेगी । इसलिये शान्ति का प्रयत्न-मानव-भ्रातृत्व के आधार पर होना चाहिये और उसके द्वारा समस्त मानव जाति को प्रेम तथा एकता के सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न करना चाहिये ।

अतः मै पूर्ण सम्मान और नम्रता के साथ शान्ति-सम्मेलन के प्रत्येक सदस्य से ऐसी चेष्टा करने का अनुरोध करता हूँ जो सज्जन इस शान्ति-सम्मेलन में भाग ले रहे हैं, उनको यह

अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि इतना महान उत्तरदायित्व पहले और किसी को नहीं सौंपा गया था। उनके सामने एक बड़ा महान और पवित्र कार्य है, जिसको उन्हें पूरी योजना से करना होगा। इसके लिये उनको सब प्रकार के जातीय विरोध और सङ्कीर्णता से ऊपर उठ कर विश्व-मानव की कल्याण-भावना का विचार करना होगा। यदि उनको समग्र संसार-हित के लिये अपने राष्ट्र के हित का किसी अंश में बलिदान करना पड़े तो उसमें भी संकोच नहीं करना चाहिये।

शान्ति-सम्मेलन के सदस्यों के सामने असली प्रश्न शत्रु से अधिक से अधिक हर्जाना लेना नहीं होना चाहिये वरन् उनको सबसे पहले उन उपायों पर विचार करना चाहिये, जिससे भविष्य में ऐसे युद्धों का होना असम्भव ही नहीं अनावश्यक भी हो जाय। अब मैं अपनी उस योजना को आपके सम्मुख रखता हूँ जिससे मेरे विचारानुसार उपर्युक्त उद्देश्य पूरा हो सकता है।

प्रत्येक देश की जनता एक निश्चित अवधि के लिये अपने बीच से एक राष्ट्रपति चुने, जो एक शासन-सभा की सहायता से वहाँ की शासन-व्यवस्था चलायेगा। फिर समस्त देशों के राष्ट्रपति अपने बीच से एक प्रधान राष्ट्रपति का चुनाव करें जो भिन्न-भिन्न देशों द्वारा भेजे गये मंत्रियों के साथ मिल कर एक विश्व-सरकार बनायें। यह विश्व सरकार हर एक देश की कार्यवाहियों पर दृष्टि रखेगी और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विभिन्न देशों के बीच समन्वय की स्थिति उत्पन्न करेगी। यह कार्य इस प्रकार सम्पन्न किया जायगा जिससे सब देशों को समान रूप से बढ़ने और उन्नति करने का अवसर मिलेगा और कोई एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अनुचित लाभ नहीं उठा सकेगा।

प्रधान राष्ट्रपति और विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रपति भी अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि और सेवक समझें। वे सब देशों के निवासियों को अपना भाई समझें। साथ ही वे अपने को संसार भर की शान्ति, सुख और प्रगति के लिये ईश्वर और मनुष्यों के सम्मुख उत्तरदायी समझें।

अगर यह योजना स्वीकार कर ली जाय और इसे कार्य रूप में परिणत किया जाय तो यह प्रतिस्पर्धा और दुर्भावना की मनोवृत्ति को मिटायेगी। इससे श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष दूर होगा और विभिन्न देशों के आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय भेदभाव मिट जायेंगे। इससे किसी देश के निवासियों की कुछ भी हानि नहीं हो सकती वरन् वे हर जगह लाभ में ही रहेंगे। वे अपनी संस्कृति से तो लाभान्वित होंगे ही, साथ ही अन्य सब जातियों की संस्कृतियों की विशेषताओं से भी लाभ उठा सकेंगे। इस योजना में उच्चता और निम्नता अथवा स्वामित्व और दासता का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। इसलिये उनमें न तो ईर्ष्या की भावना रहेगी और न सेना-सज्जा की आवश्यकता होगी। मैं अपने हृदय में अनुभव करता हूँ कि संसार की कठिन समस्याओं को हल करने का एकमात्र यही उपाय है, अन्य कोई नहीं।

यह सच है कि इस आदर्श को पूरा करने में बहुत बड़ी-बड़ी और अनेक कठिनाइयाँ हैं। पर संसार में शान्ति और ऐक्य स्थापित करने के लिये इस योजना को कार्यान्वित करना ही होगा। चाहे दुनिया के राष्ट्रों में से कुछ परस्पर में समझौता करके कोई सङ्गठन बनालें और उसे विश्व-शान्ति के नाम से पुकारने लगें, पर सच्ची शान्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि इस आदर्श को स्वीकार करके पूरा न किया जाय। वास्तव में इस विश्वव्यापी महासमर का स्वाभाविक परिणाम इस प्रकार का कोई 'राष्ट्र-संघ' ही होना चाहिये।

"शान्ति सम्मेलन के सदस्यों का कर्तव्य है कि वे राष्ट्रीय अहङ्कार और पक्षपात की भावना को सर्वथा त्याग दें। तब उनको इस प्रकार समस्त राष्ट्रों को मिलाकर एक महा-राष्ट्र निर्माण करने से बढ़कर उच्चतर आदर्श और कोई प्रतीत नहीं हो सकेगा। अब संसार एक ऐसे स्थल पर आ पहुँचा है जबकि इस कार्य में देर नहीं की जानी चाहिये। यह समय इसके लिये पूर्णतः अनुकूल भी है और अब इस दिशा में कोई गंभीर प्रयत्न किया ही जाना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि शान्ति परिषद् के सदस्य इस महान कार्य से पश्चात्पद न होंगे। यह समस्त जातियों का विधाता-पुरुष उनको पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य स्थापन का साहस प्रदान करें।"

इस प्रकार ठाकुर दयानन्द ने संसार के तत्कालीन कर्णधारों और शासनाध्यक्षों के सामने वह प्रस्ताव रख दिया, जिस पर निश्चय ही एक दिन सबको अमल करना पड़ेगा, अन्यथा आधुनिक मानव-सभ्यता पूर्णरूप से ध्वंस हो जायगी। पर शक्ति और वैभव से गर्वित मनुष्य इन सत्य सिद्धान्तों को शीघ्र नहीं समझता और समझ भी लेता है तो अहङ्कार अथवा स्वार्थ के कारण उनके अनुसार आचरण करने को प्रस्तुत नहीं होता। वही बात उस अवसर पर हुई। जीतने वाले राष्ट्रों ने एक झूँठ-मूँठ का राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) बना डाला जो कुछ ही वर्षों में हास्यास्पद स्थिति को प्राप्त हो गया और दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर जिसकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कर दी गई।

ठाकुर दयानन्द ने यह योजना सन् १९१८ में शान्ति परिषद के सन्मुख उपस्थित की थी, अब पचास वर्ष बाद तीसरे विश्वव्यापी ही नहीं सर्वनाशी संग्राम की तैयारी देखकर

आवश्यकता होती जाती है जो समस्त विश्व के लिये हो और ऐसा धर्म केवल प्रेम और विश्व बन्धुत्व के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।"

ठाकुर दयानन्द ने आधुनिक समय में जैसे धर्म की आवश्यकता बताई है उसको संसार के सभी विचारशील व्यक्ति अनुभव कर रहे हैं । अधिकांश धर्मों की सङ्कीर्णता के कारण वर्तमान युग के शिक्षित लोगों को यह विचार हो गया है कि मनुष्य जाति के लिये धर्म आवश्यक नहीं है, यह केवल मन बहलाव की वस्तु है । पर इसका कारण यही है कि उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप पर विचार नहीं किया है और धर्म के ऊपरी विधि-विधानों और रस्मों को ही सार वस्तु मान लिया है ।

सच्ची बात यह है कि धर्म मनुष्य के लिये वैसा ही आवश्यक है जैसे कि वायु और प्रकाश । मनुष्य को जिस आन्तरिक शान्ति और सुख की आवश्यकता है उसकी पूर्ति के लिये धर्म का होना अनिवार्य है । पर यह धर्म एक देशीय अथवा एक जातीय नहीं होना चाहिये और न उसका आधार बाहरी रीति-रिवाजों और विभिन्न प्रकार के पूजा और उपासना की पद्धतियों पर होना चाहिए । इस आवश्यकता की पूर्ति केवल एक विश्व-व्यापी धर्म ही कर सकता है । ठाकुर के शब्दों में "ऐसा विश्व-धर्म वही हो सकता है जिसमें सबको अपने में निहित कर लेने की शक्ति हो । किसी को भी न त्यागना उसका मुख्य गुण होना चाहिये । जो धर्म छूत-अछूत, मोमिन-काफिर, आस्तिक-नास्तिक इत्यादि का भेद उत्पन्न करता है वह धर्म नहीं है, आडम्बर है । अब ऐसे धर्म की आवश्यकता नहीं । ऐसा धर्म वर्तमान समाज की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता । संसार को आज उस धर्म की आवश्यकता है जो अखिल-विश्वव्यापी प्रेम का प्रसार करे । जिसकी शिक्षा विश्व-प्रेम हो और जिसकी आत्मा विश्व-बन्धुत्वमय हो ।"

विश्व की समस्या और भारतीय स्वाधीनता

"अरुणाचल मिशन" आरम्भ से भारतीय स्वाधीनता का समर्थक रहा है । उसकी मान्यता है कि इस समय पश्चिमी देश जिस प्रकार भौतिक विचारधारा में बहते जा रहे हैं और संसार को दबाकर अपनी प्रधानता के मद में नाश के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, उसे देखते हुए इस बात की कोई आशा नहीं कि वे विश्व-शान्ति के लिये सच्चे हृदय से प्रयत्न करेंगे । इसके लिये केवल भारत ही तत्पर हो सकता है क्योंकि वह ऐसी आध्यात्मिक संस्कृति का उत्तराधिकारी है जिसमें सदा से मनुष्य मात्र को एक ही परम पिता की सन्तान माना गया है और प्रत्येक के साथ वैसा ही व्यवहार करने का आदेश दिया गया है जैसा कि हम अपने लिये पसन्द करते हैं । इसलिये 'अरुणाचल मिशन' बराबर यह आवाज उठाता रहा है कि संसार के उद्धार के लिये भारत की स्वाधीनता अनिवार्य है । सन् २५ में ठाकुर दयानन्द का निम्न सन्देश काँग्रेस के नेताओं के पास भेजा गया था—

"भारत का भविष्य ईश्वर द्वारा ही पूर्व निर्धारित है । भारतीयों को हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिये कि अनेकानेक आपदाओं के होते हुए भी भारतवर्ष जो जीवन्त रखा है, इसके पीछे ईश्वर का कोई विशिष्ट उद्देश्य ही है । इस विश्व में भारत की स्थिति किसी महान् और विराट् उद्देश्य की पूर्ति के लिये है । उसने ऐसा किया भी है और तभी वह आज तक टिका हुआ है, जबकि उसके सामने ही जन्म लेने वाले कितने ही राष्ट्र नष्ट हो गये । विश्व के सामने भारत को अपना वह आदर्श रखना है जिसके द्वारा विश्व को मार्ग-दर्शन मिल सके ।

"संसार की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयास असफल हो चुके हैं और वह कभी सफल हो भी नहीं सकते । बल्कि उससे अनेकानेक नई समस्याएँ उत्पन्न होती जाती हैं, जिनका समाधान नहीं मिल रहा है । अब एकमात्र आध्यात्मिकता का ही अवलम्बन रह गया है और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में नेतृत्व करने वाला भारत को छोड़कर दूसरा कौन है ? व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि को भी मोक्ष दिलाने वाला भारत के अतिरिक्त दूसरा कौन है ? भारत ही यह कर सकता है और इसीलिये अब तक इसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहा है । आध्यात्मिक नेतृत्व करके उसे विश्व को दिखला देना है कि त्याग और भोग में किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जा सकता है ? आसक्ति और विरक्ति के बीच सन्तुलन कैसे स्थापित हो सकता है ? भारत को आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय का आदर्श विश्व के सामने रखना है ।"

पर वर्तमान समय में भारत भी मार्गभ्रष्ट हो रहा है । पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से 'धर्म' को अनावश्यक बतलाने वाले थोड़े-से ऊपरी तड़क-भड़क पर लट्टू होने वाले युवकों की बात हम नहीं कहते, वरन् इस देश के ९० प्रतिशत नर-नारी जो ईश्वर का नाम लेते हैं, उनके नाम पर मूर्तियों का दर्शन, पूजन करते हैं, वे भी अध्यात्म से कोसों दूर हैं और 'लकीर पीटने' की तरह 'धर्म' पालन करते हैं। इसको देखकर ठाकुर ने कहा था— "इस समय भारतवासियों का जीवन भी आध्यात्मिक नहीं है, वरन् उसमें तामसिकता की ही प्रधानता है । अभी स्थिति यही है कि लोग ईश्वर की

उसकी याद लोगों को आ रही है। यद्यपि इस बार जो राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) बना है वह पहले की अपेक्षा बहुत अधिक कार्यशील है और कई छोटे-मोटे युद्धों को रोक चुका है, तो भी अभी इस बात के लक्षण कम ही दिखाई पड़ते हैं कि वह विभिन्न देशों के राष्ट्रीय-अहङ्कार और स्वार्थ की मनोवृत्ति को उस प्रकार परिवर्तित कर सके जैसा उपर्युक्त योजना में सुझाव दिया गया है। मालूम पड़ता है कि संसार की महाशक्तियाँ (ग्रेट पावर्स) अपने पूर्व कर्मों का परिणाम भोगे बिना नाश के मार्ग को न छोड़ सकेंगी।

नवयुग आगमन का सन्देश

इस प्रकार ठाकुर दयानन्द का लक्ष्य आरम्भ से ही संसार को एक ऐसे आने वाले युग का सन्देश देता रहा जिसमें मानव-सभ्यता का एक मात्र उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की सुख-सुविधा का ध्यान रखना होगा। इसके लिये उन्होंने दो मुख्य सिद्धान्तों पर विशेष रूप से जोर दिया- एक मानव-मात्र को समान अधिकार और दूसरा सांसारिक व्यवहार में आध्यात्मिकता का समावेश। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा-

"मानव-जीवन का लक्ष्य स्थायी आनन्द प्राप्त करना है जब तक यह लक्ष्य प्राप्त न होगा तब शिक्षा, सङ्गठन, साधना सब व्यर्थ रहेंगे। चाहे शिल्प और वाणिज्य की वृद्धि होकर अपरिमित धन इकट्ठा हो जाय, चाहे गाँव-गाँव, कस्बे-कस्बे में विद्यालय खुलकर लोग विद्वान् बन जायें, बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार किये जायें, पर इनसे समाज की उन्नति का प्रमाण नहीं मिल सकता। जब तक समाज के सब सदस्यों की दीन-हीन अवस्था में पड़े व्यक्तियों की अवस्था का सुधार नहीं होगा, वे सुखी नहीं होंगे, तब तक उन्नति की बात करना व्यर्थ है। हमको प्रत्येक कार्य की सफलता का निर्णय इसी दृष्टिकोण से करना चाहिए।"

पर साथ ही वे यह भी कहते थे कि वह सुख क्षणस्थायी न होकर स्थायी होना चाहिये। जो सुख थोड़ी ही देर में दुःख में परिवर्तित हो जाय वह किस काम का? ऐसे सुख से न व्यक्ति का लाभ है न समाज का। इस अवस्था में समाज का प्रत्येक सदस्य सुख का साधन समझे जाने वाले पदार्थों का अधिक से अधिक अपने लिये प्राप्त करना चाहता है जिससे उसकी स्थिति स्थिर बनी रहे। पर यह केवल एक भ्रम ही होता है। उन्होंने इसकी विवेचना करते हुए कहा था-

"हम आतिशबाजी के प्रकाश की तरह क्षणस्थायी सुख नहीं चाहते, जिससे दूसरे ही क्षण अवसाद आ जाय। हम तो अन्तरात्मा मे एक सघन, निर्मल आनन्द-धारा का प्रवाहित होना चाहते हैं। हमारा जीवन-एक आनन्द सङ्गीत में परिणत हो जाय यही मानव-जन्म का लक्ष्य है। यदि इस प्रकार का सच्चा आनन्द एक व्यक्ति भी प्राप्त कर लेता है तो वह चारों तरफ विस्तीर्ण होने लगता है। जिस किसी प्रयत्न से इस लक्ष्य के प्राप्त होने में सहायता मिले उसी को उन्नति समझना चाहिये, शेष सब तो फूङ्काफ़ूट है।"

उन्नति का आधार धर्म ही है

ठाकुर दयानन्द विश्व-शान्ति का मूल आधार धर्म को ही मानते थे। उनका विश्वास था कि केवल राजनीतिज्ञों की चेष्टा से इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। उन्होंने कहा—"जब तक सम्पूर्ण विश्व में एक धर्म का विस्तार न होगा, जब तक एक व्यक्ति दूसरे को भाई की तरह न समझेगा तब तक भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में एकता के भाव का उदय होना असम्भव है। आज एक मजहब के अनुयायी दूसरे मजहब वाले को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को मिटाने पर तुले हुए हैं। संसार की इस मनोवृत्ति में परिवर्तन करना होगा। मैं संसार की विकृत मनोवृत्ति को दूर करके नया युग या सतयुग लाना चाहता हूँ। धर्म में बाह्य-आडम्बर की आवश्यकता नहीं। उसकी आत्मा है ईश्वर के अस्तित्व में सतत विश्वास रखना। इस सतत सत्य को धर्म के सभी सच्चे अन्वेषकों ने जाना है। यह कहना कि यह अमर सत्य हिन्दू या इस्लाम धर्म के ही पास है, मिथ्या है। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध इत्यादि सब उसी अमर सत्य को प्रकट करने वाले थे। यह कहना कि अमुक धर्म ने ही इस अमर सत्य का ज्ञान प्राप्त किया, हास्यास्पद है-अज्ञान का द्योतक है।

"समय-समय पर ईश्वर ने व्यक्त प्रेम और एकता का सन्देश देने के लिए अवतार भी लिया है। इन अवतारों के ज्ञान-प्रकाश द्वारा ही हम उस अमर सत्य के निकट तक पहुँच जाते हैं। मनुष्य की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल जान पड़ने वाले अवतार की ही शिक्षा ग्रहण कर सकता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अन्य धर्मानुयायिओं से प्रेम न करे, क्योंकि सभी अवतारों का आदर्श और उद्देश्य तत्वतः एक समान होता है। किसी धर्म विशेष का ग्रहण करना हमको अन्य धर्मों का शत्रु बनने को नहीं कहता। प्रत्येक धर्म विश्व-समाज की दृष्टि से दूसरे धर्मों का सहायक अङ्ग है, प्रत्येक का स्थान समान है, प्रत्येक विश्व के लिये जरूरी है। आधुनिक समाज को अब ऐसे धर्मों की जरूरत नहीं है, जो मनुष्यों को एक खास स्थान या विशेष समाज के भीतर सीमित करदें। अब ज्यों-ज्यो हमारे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यो हमें एक ऐसे धर्म की अनिवार्य

आवश्यकता होती जाती है जो समस्त विश्व के लिये हो और ऐसा धर्म केवल प्रेम और विश्व बन्धुत्व के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।"

ठाकुर दयानन्द ने आधुनिक समय में जैसे धर्म की आवश्यकता बताई है उसको संसार के सभी विचारशील व्यक्ति अनुभव कर रहे हैं । अधिकांश धर्मों की सङ्कीर्णता के कारण वर्तमान युग के शिक्षित लोगों को यह विचार हो गया है कि मनुष्य जाति के लिये धर्म आवश्यक नहीं है, वह केवल मन बहलाव की वस्तु है । पर इसका कारण यही है कि उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप पर विचार नहीं किया है और धर्म के ऊपरी विधि-विधानों और रस्मों को ही सार वस्तु मान लिया है ।

सच्ची बात यह है कि धर्म मनुष्य के लिये वैसा ही आवश्यक है जैसे कि वायु और प्रकाश । मनुष्य को जिस आन्तरिक शान्ति और सुख की आवश्यकता है उसकी पूर्ति के लिये धर्म का होना अनिवार्य है । पर यह धर्म एक देशीय अथवा एक जातीय नहीं होना चाहिये और न उसका आधार बाहरी रीति-रिवाजों और विभिन्न प्रकार के पूजा और उपासना की पद्धतियों पर होना चाहिए । इस आवश्यकता की पूर्ति केवल एक विश्व-व्यापी धर्म ही कर सकता है । ठाकुर के शब्दों में "ऐसा विश्व-धर्म वही हो सकता है जिसमें सबको अपने में निहित कर लेने की शक्ति हो । किसी को भी न त्यागना उसका मुख्य गुण होना चाहिये । जो धर्म छूत-अछूत, मोमिन-काफिर, आस्तिक-नास्तिक इत्यादि का भेद उत्पन्न करता है वह धर्म नहीं है, आडम्बर है । अब ऐसे धर्म की आवश्यकता नहीं । ऐसा धर्म वर्तमान समाज की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता । संसार को आज उस धर्म की आवश्यकता है जो अखिल-विश्वव्यापी प्रेम का प्रसार करे । जिसकी शिक्षा विश्व-प्रेम हो और जिसकी आत्मा विश्व-बन्धुत्वमय हो ।"

विश्व की समस्या और भारतीय स्वाधीनता

"अरुणाचल मिशन" आरम्भ से भारतीय स्वाधीनता का समर्थक रहा है । उसकी मान्यता है कि इस समय पश्चिमी देश जिस प्रकार भौतिक विचारधारा में बहते जा रहे हैं और संसार को दबाकर अपनी प्रधानता के मद में नाश के पथ पर अग्रसर हो रहे है, उसे देखते हुए इस बात की कोई आशा नहीं कि वे विश्व-शान्ति के लिये सच्चे हृदय से प्रयत्न करेंगे । इसके लिये केवल भारत ही तत्पर हो सकता है क्योंकि वह ऐसी आध्यात्मिक संस्कृति का उत्तराधिकारी है जिसमें सदा से मनुष्य मात्र को एक ही परम पिता की सन्तान माना गया है और प्रत्येक के साथ वैसा ही व्यवहार करने का आदेश दिया गया है जैसा कि हम अपने लिये पसन्द करते हैं । इसलिये 'अरुणाचल मिशन' बराबर यह आवाज उठाता रहा है कि संसार के उद्धार के लिये भारत की स्वाधीनता अनिवार्य है । सन् २५ में ठाकुर दयानन्द का निम्न सन्देश काँग्रेस के नेताओं के पास भेजा गया था—

"भारत का भविष्य ईश्वर द्वारा ही पूर्व निर्धारित है । भारतीयों को हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिये कि अनेकानेक आपदाओं के होते हुए भी भारतवर्ष जो जीवन्त रखा है, इसके पीछे ईश्वर का कोई विशिष्ट उद्देश्य ही है । इस विश्व में भारत की स्थिति किसी महान् और विराट् उद्देश्य की पूर्ति के लिये है । उसने ऐसा किया भी है और तभी वह आज तक टिका हुआ है, जबकि उसके सामने ही जन्म लेने वाले कितने ही राष्ट्र नष्ट हो गये । विश्व के सामने भारत को अपना वह आदर्श रखना है जिसके द्वारा विश्व को मार्ग-दर्शन मिल सके ।

"संसार की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयास असफल हो चुके हैं और वह कभी सफल हो भी नहीं सकते । बल्कि उससे अनेकानेक नई समस्याएँ उत्पन्न होती जाती हैं, जिनका समाधान नहीं मिल रहा है । अब एकमात्र आध्यात्मिकता का ही अवलम्बन रह गया है और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में नेतृत्व करने वाला भारत को छोड़कर दूसरा कौन है ? व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि को भी मोक्ष दिलाने वाला भारत के अतिरिक्त दूसरा कौन है ? भारत ही यह कर सकता है और इसीलिये अब तक इसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहा है । आध्यात्मिक नेतृत्व करके उसे विश्व को दिखला देना है कि त्याग और भोग में किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जा सकता है ? आसक्ति और विरक्ति के बीच सन्तुलन कैसे स्थापित हो सकता है ? भारत को आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय का आदर्श विश्व के सामने रखना है ।"

पर वर्तमान समय में भारत भी मार्गभ्रष्ट हो रहा है । पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से 'धर्म' को अनावश्यक बतलाने वाले थोड़े-से ऊपरी तड़क-भड़क पर लट्टू होने वाले युवकों की बात हम नहीं कहते, वरन् इस देश के ९० प्रतिशत नर-नारी जो ईश्वर का नाम लेते हैं, उनके नाम पर मूर्तियों का दर्शन, पूजन करते हैं, वे भी अध्यात्म से कोसों दूर हैं और 'लकीर पीटने' की तरह 'धर्म' पालन करते हैं। इसको देखकर ठाकुर ने कहा था— "इस समय भारतवासियों का जीवन भी आध्यात्मिक नहीं है, वरन् उसमें तामसिकता की ही प्रधानता है । अभी स्थिति यही है कि लोग ईश्वर की

स्थिति मन्दिरों में ही मानते हैं, जहाँ फूल चढ़ा लेना अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं । इसी को वे 'धर्म' मान लेते हैं । उनके व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में भी ईश्वरीय विधान ही हमारे आचरण का मूल आधार होना चाहिए ।"

उन्होंने यह भी कहा– "सार्वजनिक आध्यात्मिक चेतना को जगाना होगा । आत्म चेतना लानी होगी । जब तक आदमी आत्म-चेतन नहीं हो जाता उसके सारे प्रयास तब तक व्यर्थ है । सच्चे अर्थ में वही स्वतंत्र है जिसकी आत्मा स्वतंत्र है ।"

ठाकुर भारतीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षपाती थे इसलिये प्रत्येक अवसर पर उसके नेताओं के पास भारत को पूर्ण स्वाधीन घोषित करने के लिए संदेश भेजते रहे । पर वे ऐसी स्वाधीनता नहीं चाहते थे जिसमें केवल कल-कारखानों की, उद्योग-धन्धों की, गरीब-अमीरों की, मालिक मजदूरों की वृद्धि होती चली जाय, जिसमें हमको भी अन्य देशों की तरह तोप, बन्दूक और बमों के भरोसे ही रहना पड़े । सेना की इस तैयारी पर जो करोड़ों ही नहीं अरबों रुपया खर्च करना पड़ेगा उससे जनता के कल्याणकारी कार्यों में खर्च करने के लिये क्या शेष रहेगा ? इतना ही नहीं इससे तो सामान्य वर्ग पर करों- टैक्सों का भार इतना लद जायगा कि वह स्वाधीनता उल्टी मँहगी जान पड़ेगी ।"

इतना ही नहीं, भारत यदि भौतिकवाद को छोड़कर अध्यात्म के मार्ग को पसन्द भी कर ले, युद्ध से विरत होकर अपने साधनों को लोक-कल्याणकारी कार्यों में लगाने की इच्छा करे, तो भी ये बातें केवल उसके हाथ में नहीं है । यदि दूसरा राष्ट्र लोभ या द्वेषवश युद्ध छेड़ ही दे तो उसे भी युद्ध की ज्वाला में कूदना ही होगा और तब इसकी भी वही दुर्दशा होगी जो भौतिकता के वेग में अन्य देशों की हो रही है । इसलिये भारतवर्ष का हित भी तब तक नहीं हो सकता, जब तक समस्त संसार में विश्वबन्धुत्व और विश्व शान्ति की भावना वास्तविक रूप में प्रसारित न हो । इसलिये 'अरुणाचल मिशन' आरम्भ से इस सिद्धान्त की घोषणा करता रहा है-

माता च पार्वती गौरी, पिता देवो महेश्वरः ।
भ्रातो मानवाः सर्वे स्वदेशो भुवनत्रयम् ।।

उसका यह भी अभिमत है कि "भारत की वास्तविक सुरक्षा इसी में है कि विश्व की समस्त जनता स्वतंत्र हो जाय । इस समय भारत तथा अन्य सभी देशों की समस्याओं के समाधान का एक ही उपाय है– विश्व-संघ की स्थापना। यह विश्व-संघ ही संसार में शान्ति रख सकता है, किसी युद्धोन्मादी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से लड़ने से रोक सकता है। इसकी स्थापना में भारतवर्ष का नेतृत्व होना चाहिए, इसी के प्रयास से इसका सङ्गठन होना चाहिए । इसी में विश्व का कल्याण है, भारतवर्ष का तो है ही ।"

विश्व-संघ का विचार ईश्वर प्रेरित है

ठाकुर दयानन्द ने तथा और भी बहुसंख्यक मनीषियों ने विश्व-संघ की जो भावना प्रकट की है, अनेक प्रकार की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं, उनको हमारे अनेक देशवासी कल्पना प्रसूत अथवा "मन के लड्डू" बतलाते हैं । उनका कहना है कि संसार में ऐसा समय कभी नहीं आ सकता जब सब मनुष्य शान्ति के अनुयायी बनकर लड़ना-भिड़ना सर्वथा त्याग दें । हमारे ये देशवासी ही ऐसी बात नहीं कहते जर्मनी के 'नित्शे' जैसे दार्शनिक ने भी युद्ध का खुलकर समर्थन किया है और उसे राष्ट्र के उत्थान का मुख्य साधन बतलाया है । पर इसका परिणाम यह हुआ कि जर्मनी ने दो बार अपना सर्वस्व दाँव पर लगाकर समस्त संसार में युद्ध का दावानल भड़का दिया, पर अन्त में उसी को ध्वस्त और त्रस्त होना पड़ा और आज उसे संसार का कर्ता-धर्ता बनने के बजाय अमरीका और रूस जैसे राष्ट्रों के सम्मुख पदावनत होना पड़ रहा है ।

वास्तव में विश्व-संघ की भावना कोई नई चीज नहीं वरन् एक ईश्वर प्रेरित सत्य है । "मानव की सृष्टि के साथ-साथ मानव-जाति के महामिलन का विचार भी सृष्टिकर्ता के मन में था । सूक्ष्म-जगत् अथवा भाव-जगत् में भगवान् की यह विचारधारा सदा से मौजूद है और काल प्रवाह में मानव के क्रम विकास के साथ-साथ थोड़ा-थोड़ा करके इसकी वृद्धि होती रही है । स्थान, काल और पात्र के भेद से यह आदर्श मनुष्यों के विचार, वाणी और कार्य द्वारा प्रकट होने की चेष्टा करता रहा है । भाव-जगत् में तो इसका अस्तित्व बहुत समय से अनुभव किया जा रहा है, पर स्थूल-जगत् में उसके कार्यरूप में परिणत होने का एक निर्दिष्ट समय है ।"

यह ईश्वरीय प्रेरणा ही है कि आज से हजारों वर्ष पहले वैदिक ऋषियों ने 'सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनाँसि जानताम्' (मानव-सन्तान ! तुम एक साथ गमन करो, एक साथ उच्चारण करो और समान रूप से विचार करो) की ध्वनि उठाई थी । भारतीय पुराणकारों ने 'सतयुग' का, ईसाई संतों ने 'पृथ्वी पर ईश्वर के स्वर्ग-राज्य' के आगमन का और सूर-तुलसी जैसे महाकवियों ने रामराज्य का सन्देश समय-समय पर सुनाया था ।

दैववाणी को सुनने और ग्रहण करने वाले आध्यात्मिक महापुरुषों के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारक और राजनीतिक पुरुष विभिन्न भावों से प्रेरित होकर समस्त विश्व का एक सङ्गठन बनाने की योजना और प्रयत्न करते रहे

है । ऐतिहासिक काल के आरम्भ मे यूनानी और रोमन जाति वालों ने समस्त देशों को जीत कर एक विशाल साम्राज्य (World Empire) सङ्गठित करने की चेष्टा की थी । रोम के पोप ने युद्ध के द्वारा संसार में एक 'ईसाई-साम्राज्य' (Holy Roman Empire) स्थापित करने का स्वप्न देखा था । इसी प्रकार टर्की के सुलतानों ने एक संसार-व्यापी 'मुस्लिम-साम्राज्य' के निर्माण के लिये दूर-दूर के बहुसंख्यक देशों को जीतकर वहाँ तलवार के जोर से अपने धर्म को फैलाया था और तो क्या अब से दो-सौ वर्ष पहले फ्रांस के रण देवता नैपोलियन ने अपनी सैनिक शक्ति के द्वारा समस्त संसार को जीत कर फ्रांसीसी- साम्राज्य के अन्तर्गत एक सूत्र में सङ्गठित करने की महत्वाकाँक्षा की थी । यद्यपि इन सब प्रयत्नों के भीतर सङ्कीर्ण राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता की हीन भावना की प्रधानता थी और इसलिये इनकी सफलता अल्पकाल में ही स्थायी हो सकी । तो भी अपरोक्ष रूप से इनके भीतर मानव-जाति को सम्बद्ध करने की मूल-भावना मौजूद थी ।

जिन विचारकों ने ऐसी चेष्टा की उनमें सबसे पहले जिस व्यक्ति का परिचय मिलता है वह योरोप का एक धर्म प्रचारक था जिसने सन् ११८२ में युद्ध के विरोध मे 'शांति-भ्रातृ-संघ' (ब्रैदरैन आफ पीस) की स्थापना की थी । सन् १३०५ में 'पिरे डुवस' ने 'धर्मराज्य का पुनरुद्धार' (रीकवरी ऑफ होली लैण्ड) नामक ग्रन्थ लिखकर उसे इंग्लैण्ड के सम्राट् प्रथम एडवर्ड को समर्पित किया । इसमे युद्ध निवारण के लिये एक 'राष्ट्र-संघ' (लीग आफ गवर्नमेंट) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था । सोलहवीं शताब्दी में विलियम शिवर ने (लीग आफ पीस) की योजना बनाकर प्रिंस चार्लस के सम्मुख उपस्थित की । सत्रहवीं सदी में एमेरिकक्रुसि ने युद्ध निवारण और अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का समाधान करने के लिये 'न्यू साइनियस' ग्रन्थ में युद्ध से होने वाली हानियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया । उसने यह भी कहा कि अगर युद्ध करना आवश्यक हो जाय तो 'धर्म-नियमों' के अनुसार किया जाय ।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में जब फ्रांस के शासक 'लुई चौदहवें' ने योरोप के बहुत बड़े भू-भाग को विध्वस्त कर दिया तो अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक विलियम पेन ने सन् १६६७ में 'योरोप की वर्तमान और भावी शांति' नामक एक ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें बतलाया गया था कि योरोप में किस प्रकार स्थायी शान्ति रखी जा सकती है । विभिन्न देशों के विवादों का निर्णय करने के लिये उसने एक 'योरोपियन पार्लियामेंट' संगठन करने का प्रस्ताव किया था' । जो देश इस पालियामेन्ट के आदेश को न मानेगा उसको सब देश मिलकर दंड दें ।

जिन योरोपीय दार्शनिकों ने इस समस्या पर विचार किया उनमें सबसे पहला रूसी था जिसने सन् १७६१ में "योरोपियन संघ द्वारा (A lasting peace through the federation of Europe) नामक ग्रंथ में योरोप के देशों में शान्ति स्थापन की एक योजना उपस्थित की । अठारहवीं शताब्दी के अंत में इंग्लैण्ड के जैरमी बेन्थम ने विश्वव्यापी स्थायी शान्ति की योजना (ए प्लानफॉर यूनीवर्सल एण्ड परपैचुअल पीस) ग्रन्थ लिखा था जिसमें अस्त्र शस्त्रों को कम करने, पराधीन देशों को स्वाधीन बनाने और एक अन्तर्जातीय न्यायालय स्थापित करने के प्रस्ताव थे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने नैतिक बल पर विशेष जोर दिया था ।

सन् १७९५ में सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट ने 'चिरस्थायी शान्ति' (प्रोजैक्ट फॉर ए परपैचुअल पीस) नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया । इसमें विश्व-संघ की योजना पर बड़ी स्पष्टता से विचार किया गया था और प्रस्ताव किया गया था कि सर्वप्रथम समस्त देशों में प्रजातंत्र शासन (रीपबलिक) की स्थापना की जाय और फिर सब मिलकर एक राष्ट्रसंघ संगठित करलें । सब देशों के निवासी अपने को विश्व-राज्य की प्रजा (वार्ल्ड-सिटीजन) मानें । स्थायी सेना का अन्त कर दिया जाय । कान्ट की योजना में दो बातें विशेष उल्लेखनीय थीं । पहली बात तो उसने यह कही की "समस्त मानव-जाति अन्त में एक 'महाराष्ट्' में परिणत हो जाय, यह ईश्वरीय विधान है ।" दूसरी बात यह है कि "आर्थिक कारण से बाध्य होकर विचारशील व्यक्ति संसार में से युद्ध-प्रथा को हटा देंगे ।" इसमें संदेह नहीं कि कान्ट की योजना अन्य सब योजनाओं से अधिक विचारपूर्ण और उत्कृष्ट थी । पर उस समय की स्थिति को देखते हुए उसने स्वयं इसको सम्भव नहीं माना और एक सुन्दर आदर्श के रूप में ही इसको उपस्थित किया ।

सन् १८१८ में 'अमेरिकन शान्ति समिति' स्थापित हुई। तब से आज तक वह अन्तर्जातीय कानूनों द्वारा जगत् में शाँति स्थापित करने की बात मनुष्यों को सुनाती-समझाती रहती है । सन् १८६८ में 'बहाई' सम्प्रदाय के गुरु 'ऋषि बहाउल्ला' ने समस्त मानव-जाति में शान्ति स्थापन पर विचार प्रकट किए और विभिन्न देशों के विवादों का निर्णय करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित करने की बात भी कही । सन् १८९९ में हालैण्ड के 'हेग' नगर में वास्तव में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम कर दिया गया जो आज तक अपना काम करता चला जाता है ।

यद्यपि इन योजनाओं और चेष्टाओं का विशेष परिणाम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं पड़ा, पर इसने उस ईश्वरीय आदेश को, जो आरम्भ में केवल 'भावरूप' में ही था 'वाणीरूप' में परिणत कर दिया । इसके फल से संसार में 'विश्व-शान्ति' की एक विचारधारा प्रवाहित होने लगी उसके संबंध में चर्चा करने लगे और उसे उसी समय नहीं तो आगे चलकर सम्भव मानने लगे । ठाकुर दयानन्द इन 'शान्तिदूतों' की श्रेणी में एक अन्यतम व्यक्ति थे । उन्होंने अपने कार्यक्रम में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया और मुक्तकण्ठ से घोषणा की-

"मैं देख रहा हूँ कि संसार में विश्व-बन्धुत्व की भावना परिव्याप्त हो गई है और एक ही विश्व-धर्म पूर्व और पश्चिम की मिलन भूमि बन गया है ।'

इन महानुभावों का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया । इस जगत् की रचना ईश्वर और प्रकृति ने जिस प्रकार की है उससे एक तिनका का गिरना भी निरर्थक नहीं होता । फिर ऐसे अध्यात्म-शक्ति के पुञ्ज महामानवों की विचार-धारा-संकल्प शक्ति बिना किसी प्रकार का प्रभाव प्रकट किये ही व्यर्थ चली जाय यह त्रिकाल में संभव नहीं । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही समस्त मानव-जाति इससे प्रभावित होने लग गई और योरोपीय महा-समर की समाप्ति के उपरान्त तो योरोप, अमरीका तथा अन्य महाद्वीपों मे भी शान्ति आन्दोलन आँधी की तरह फैल गया । योरोप के सभी देशों में 'नो मोर वार', 'युद्ध विरोधी-संघ (वार रैसिस्टर्स लीग) जैसी संस्थाएँ हजारो की संख्या में स्थापित होने लगीं और सैकड़ों व्यक्ति 'अनिवार्य फौजी तालीम' लेने से इनकार करके जेलों में चले गये । जर्मनी और इंगलैंड के बड़े-बड़े हथियार बनाने वाले कारखानों में खेती के औजार और मशीनें बनने लगीं । अमरीका के सबसे बड़े उद्योग-पति हेनरी फोर्ड ने कहा कि "मै संसार के सब राष्ट्रो के जंगी जहाजों को लोहे के मूल्य पर खरीदने को तैयार हूँ । मैं उनको तोड़-फोड़ कर खेती करने वाले 'ट्रैक्टरों' तथा अन्य मशीनों के रूप में परिवर्तित कर दूँगा ।"

आज भी, जब संसार में असम्भव समझी जाने वाली घटनायें आँखों के सामने हो रही हैं और 'युग परिवर्तन' का समय कुछ ही कदम दूर रह गया है, ऐसे लोगों का अभाव नहीं जो अपने 'नासाग्र' से अधिक दूर देखना नहीं चाहते अथवा जिनमें दूर-दर्शन की शक्ति ही नहीं है । हमने ऊपर जो संसार के गत आठ-नौ-सौ वर्षों के शान्तिकामी विचारकों का परिचय दिया है यदि उनके विचारों तथा योजनाओं का क्रम विकास देखा जाय तो मालूम होता है कि हम 'विश्व-संघ' के आदर्श पर कितनी दूर बढ़ आये हैं । जो बात दो-तीन-सौ वर्ष पहले केवल कुछ उदार विचार वाले लेखकों की कल्पना जान पड़ती थी आज वह १०० नहीं तो ५० प्रतिशत कार्य रूप में परिणत हो चुकी है । 'यूनाइटेड नेशंस' के कार्यालय में निरन्तर संसार के सौ से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक जगह बैठकर संसार की छोटी-बड़ी सैकड़ों समस्याओं पर विचार करना और उनमें से अधिकांश को कार्य रूप में परिणत करना सामान्य परिवर्तन नहीं है । यह हमको निश्चित रूप से विश्वास दिलाता है कि आज नहीं तो कल "विश्व-राज्य का ईश्वरीय विधान" मूर्त रूप धारण करने वाला है ।

'अरुणाचल मिशन' की स्थापना के समय ठाकुर का लक्ष्य भारतवर्ष की स्वाधीनता था, पर उसमें समस्त विश्व की स्वाधीनता का भाव भी पूर्णतया सन्निवेशित था । सन्तोष और हर्ष का विषय है कि आज भी वह उसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है । अभी उसकी तरफ से प्रकाशित "भारतेर मुक्ति साधनाय अरुणाचलेर अवदान' पुस्तक में कहा है-

"विश्वशांति, विश्वमुक्ति, विश्व में रहने वाले प्रत्येक नर-नारी को पार्थिव और आध्यात्मिक सर्वाङ्गीण पूर्णता के लिये 'अरुणाचल' गत अर्द्धशताब्दी से तपस्या करता आया है । भारत भी इस विराट्-विश्व का एक अङ्ग है और जगत् के कल्याण के लिये भारत की मुक्ति अनिवार्य रूप से आवश्यक है- इसी भावना को लेकर हम इसकी स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे । 'अरुणाचल' ने भारत की स्वाधीनता को कभी एक खण्ड-समस्या के रूप में नहीं देखा, वरन् भारत की पराधीनता को जगद्व्यापी पराधीनता का एक प्रतीक रूप मानकर, समस्त विश्व के कल्याण साधन के लिए-विश्व-शान्ति के लिये ही यह कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है ।"

इस महान् परिवर्तन के सूत्रधार के रूप में अनेक लोग 'अवतार' का प्रश्न भी उठाते हैं । उनका विचार है कि संसार की कायापलट करने वाली इतनी बड़ी घटना बिना किसी अलौकिक शक्ति के नहीं हो सकती । इसलिये जितनी संस्थायें और 'संघ' नवयुग आगमन का प्रचार कर रहे हैं उनमें प्रायः किसी न किसी रूप में दैवी शक्ति के अवतरण का विश्वास भी पाया जाता है । 'अरुणाचल मिशन' के अनुयायी भी ठाकुर के कार्यों को- 'मिशन' को अलौकिक ही मानते हैं । पर स्वयं ठाकुर ने कभी इस बात पर जोर नहीं दिया, वरन् उन्होंने बार-बार यही कहा-

"अवतार ढूँढ़ते फिरने की क्या आवश्यकता है ? प्राणों को प्रिय मनुष्य मिलना चाहिये, जहाँ जाने से प्राणों की प्यास मिटे उसी तरह के मनुष्य की आवश्यकता है ।"

"अखण्ड-ज्योति" की 'युग-निर्माण' योजना 'विश्व-ऐक्य' के आदर्श पर ही आधारित है। यद्यपि हमको एक-एक सीढ़ी पर ही क्रमशः चढ़ना पड़ेगा, पर अन्तिम लक्ष्य 'विश्व-मानव' का आविर्भाव ही है। इसके बिना अब संसार की गति नहीं है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'अखण्ड-ज्योति' अपने देशवासियों में और फिर उनके द्वारा समस्त विश्व में आध्यात्मिकता का प्रसार करने को कृत-संकल्प है। इसकी विवेचना करते हुए हमने अपने नवम्बर ६७ के अंक में लिखा था–

"अध्यात्म-भावना के प्रसार का परिणाम यह होगा कि मनुष्यों का दृष्टिकोण विशाल बनेगा और ये 'विश्व-मानव' की भावना को ग्रहण करने लगेंगे। आजकल विभिन्न देशों के निवासियों में धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों, भाषा, शिष्टाचार आदि सम्बन्धी जो अन्तर पाया जाता है, वह आगे चलकर पारस्परिक सद्भावना; सहयोग और मिलते-जुलते रहने के साधनों की वृद्धि होने से कम होता चला जायगा। इससे विभिन्न जातियों और नस्लों के व्यक्तियों के बीच भेद-भावना मिटने में बहुत सहायता मिलेगी और सौ-पचास वर्ष बाद ऐसा समय आ जायगा जबकि एक परम-पिता के 'पुत्र' होने के नाते समस्त मनुष्य एक ही मानव-परिवार के सदस्य समझे जाने लगेंगे। संसार में इस प्रकार के मानव-धर्म का विकास होने पर वर्तमान समय में विभिन्न मजहब वालों में जो पारस्परिक घृणा और द्वेष की प्रवृत्ति पाई जाती है वह प्रेम-भाव में बदल जायगी।"

क्षुद्र और संकीर्ण आकांक्षाओं के वशीभूत होकर मनुष्य ने अपना बहुत आत्मिक पतन कर लिया है और मानव को एक महाभयंकर संकट के सामने पहुँचा दिया है। अब उसे अपने सच्चे रूप को समझकर मानवोचित आदर्श ग्रहण करना चाहिए। इस दृष्टि से ठाकुर दयानन्द का 'विश्व-प्रेम' का सिद्धान्त सब प्रकार से कल्याणकारी है। इस सृष्टि के संचालक ने मनुष्य को घृणा करने के लिये नहीं वरन् प्रेम करने के लिए संसार में भेजा है और उसी के लिये हमको सदैव प्राणपण से सचेष्ट होना चाहिए। वर्तमान समय में मनुष्य की स्वार्थयुक्त मनोवृत्ति को देखकर यह विचार बना लेना कि यह इसी प्रकार पाशविक बनी रहेगी 'आत्म-हीनता की ग्रन्थि' का चिह्न है। 'अरुणाचल मिशन' के वर्तमान अध्यक्ष श्री आलोकानन्द महाभारती ने ठीक ही कहा है–

"आप प्रश्न करते हैं यह परिवर्तन कब होगा? मैं कहता हूँ कि इसकी अवधि पूर्ण हो चुकी है। आप धैर्य धारण करके और थोड़े दिन प्रतीक्षा कीजिए। एटम-बम और हाइड्रोजन-बम का परिचय संसार को मिल चुका है। तो क्या भगवत्-शक्ति का परिचय जगत् को नहीं मिलेगा? अवश्य मिलेगा।"

यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि लगभग वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी ठाकुर दयानन्द द्वारा प्रवाहित 'विश्व-प्रेम' की विचारधारा शुष्क नहीं हो गई है, वरन् उनके शिष्य-स्वा० हंसानन्द जी, सम्पदानन्द जी, श्री ठाकुरदास राय आदि विभिन्न स्थानों में 'अरुणाचल मिशन' की शाखायें स्थापित करके निरन्तर उस कार्यक्रम को जीवित रखे हुए हैं। सार्वजनिक आन्दोलन में प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए भी वे आध्यात्मिक भावनाओं से पूर्ण कीर्तन द्वारा जनसमुदाय को उसकी प्रेरणा देते रहते हैं। इस प्रकार आन्तरिक प्रेरणा से बहुसंख्यक व्यक्ति तथा संस्थायें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती रहती हैं और वे अपने-अपने ढंग से विश्व-प्रेम के लक्ष्य को समीप लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मालूम होता है उनकी प्रार्थनायें उस "विश्व-संचालक" के समीप पहुँच चुकी हैं और अब उनकी इच्छा से 'विश्व-परिवर्तन' का दृश्य-पट हमारे सामने आने ही वाला है।

साधु-संन्यासियों के लिये आदर्श कर्मयोगी केशवानन्दजी

भारतवर्ष की अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता यहाँ के साधु-संन्यासी भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह परम्परा अति प्राचीन काल से चली आई है, पर विभिन्न युगों में इसका इतना अधिक रूपान्तर हुआ है कि आज के साधु-संन्यासियों को देखकर प्राचीन काल के साधुओं का किसी भी प्रकार अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हमको भारतीय-साहित्य में वशिष्ठ, विश्वामित्र, व्यास, गौतम, कपिल, कणाद आदि ऋषियों का जो विवरण मिलता है, उससे यह कभी प्रकट नहीं होता कि वे आजकल के 'साधुओं' की तरह बिना कोई समाजोपयोगी कार्य किये दूसरों के परिश्रम की कमाई से पेट भरने वाले जीव थे। उनमें से शायद ही कोई गृहत्यागी था। वे सच्चे अर्थों में समाज और धर्म के संचालक थे और यदि दान ग्रहण भी करते थे तो उसका उपयोग अधिकांश में विद्या-प्रचार, समाजोन्नति की विविध प्रकार की प्रवृत्तियों में ही करते थे। यदि आजकल के पचास-साठ लाख 'साधु' नामधारी व्यक्ति उस परम्परा का कुछ अंशों में भी पालन करते तो आज भारतीय समाज और हिन्दू-जाति की दशा वर्तमान से बहुत भिन्न और सन्तोषजनक हो सकती थी पर इस समय हम 'साधुओं' की जो गतिविधियाँ देख रहे हैं उसका परिणाम विपरीत ही देखने में आ रहा है, उससे समाज की किसी प्रकार की सेवा या

उन्नति होने के बजाय उसके पतन में ही सहायता मिलती दिखाई पड़ रही है ।

ऐसी दशा में जब हम साधुओं की वेषभूषा में रहने वाले और नाम के आगे भारतीय संन्यासियों का परिचायक 'स्वामी' शब्द लगाये हुए श्री केशवानन्द जी के जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो सहसा एक आश्चर्य का-सा भाव मन में उदय होता है । साधु-संन्यासियों को हमारे समाज में जो सम्मान मिलता है, उनके प्रति जो श्रद्धा और भक्ति की भावना प्रकट की जाती है, उसका मुख्य आधार यही धारणा हो सकती है । कि "साधु एक सच्चा परोपकारी जीवन व्यतीत करने वाला समाज का उपकारकर्ता होता है । गृह-जीवन को त्यागकर साधु का बाना ग्रहण करने का अगर कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि गृहस्थी के भार और झंझटों से मुक्त होकर वह व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों को पूर्णतः धर्म के अभिवर्धन, लोकोपकार और जनसेवा में लगायेगा । आज लाखों साधु-संन्यासियों की जाँच करने पर दस भी इस आदर्श पर चलने वाले नहीं मिलते । स्वामी केशवानन्द जी ने साधुओं की बदनाम प्रचलित-परम्परा को छोड़कर एक सच्चे जन-सेवक, महान् कर्मयोगी का जो आदर्श उपस्थित किया है, उस पर यदि सौ में से एक भी भगवावस्त्र धारी चलने लग जाय तो देश और समाज का कल्याण होते देर न लगे ।

आरम्भिक जीवन और साधुवृत्ति का अवलम्बन

स्वामी केशवानन्द जी (जन्म सन् १८८३) की दूसरी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि सर्वथा निरक्षरता के वातावरण में उत्पन्न होने और किसी भी प्रकार के साधन न होने पर भी उन्होंने अपने को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाया और स्वयम् अल्प शिक्षित होने पर भी अन्य हजारों-लाखों व्यक्तियों को शिक्षित बनाने के लिये एक नहीं दस-बीस शिक्षा संस्थाओं और पुस्तकालयों का निर्माण कर दिया । जैसा हमको उनके स्वलिखित एक सस्मरण से विदित होता है उनके माता-पिता शेखावटी (राजस्थान) के मगलूणा नामक बहुत छोटे से गाँव मे रहते थे । वे जाति के जाट थे और ऊँट द्वारा सवारी या माल ढोने का धन्धा करते थे । जब ये दो-ढाई वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहान्त हो गया ।

एक तो पहले ही इनका घर बिल्कुल निर्धन था, फिर जब अकेली माता रह गई तो उसे रोटियों का मिलना भी कठिन हो गया । इससे इनको पाँच-छः वर्ष की आयु से ही गाय और बछड़े-बछियों चराने का काम करना पड़ा । पन्द्रह-सोलह वर्ष तक की आयु इसी तरह व्यतीत हुई । उसके पश्चात् कुछ पढ़े-लिखे लोगों को देखकर और धार्मिक विषयों में रुचि उत्पन्न हो जाने से इनके मन में संस्कृत पढ़ने की अभिलाषा पैदा हुई । बस ये अपने गाँव से निकल पड़े और पैदल चलकर ही फजिल्का आ पहुँचे । लोगों से पूछते-पूछते सन्त कुशलदास जी के साधु आश्रम में चले गये। वहाँ उस स्थान में ठहरे हुए साधुओं ने इनकी कथा सुनकर सम्मति दी कि "यदि तुम संस्कृत पढ़ना चाहते हो तो साधु हो जाओ, क्योंकि इसके बिना भोजन-वस्त्र की सुविधा नहीं हो सकती ।

यद्यपि केशवानन्द जी की इच्छा आरम्भ से साधु होने की नहीं थी, पर विद्याध्ययन का और कोई साधन न मिल सकने पर उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और महन्त कुशलदास जी के चेले बन गये । कई महीने आश्रम में रहे पर जब फजिल्का में कोई ठीक ढंग से पढ़ाने वाला न मिला तो ये घूमते-फिरते १६०५ के कुम्भ में इलाहाबाद जा पहुँचे। वहाँ अनेक साधुओं से परिचय हुआ, इनके गुरु भी फजिल्का से आ गये । सबकी सलाह से इनको हरिद्वार की एक संस्कृत पाठशाला में भेजा गया । हरिद्वार में कुछ महीने रहकर अमृतसर आ गये और वहाँ 'लघुकौमुदी' पढ़कर संस्कृत का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया । सन् १६०८ में गुरुजी का देहान्त हो गया और इनको ही साधु-आश्रम का संचालक बनाया गया । दो वर्ष तक वहाँ ठहर कर आश्रम की व्यवस्था ठीक की और एक पुस्तकालय की स्थापना की । कुछ समय बाद वहीं एक संस्कृत पाठशाला भी स्थापित कर दी ।

पर केशवानन्द जी को अन्य सन्त-महन्तो की तरह आश्रम में बैठे रहकर भक्तों से पूजा कराना और आश्रम से खाते-पीते रहना पसन्द नहीं था । वे समझते थे कि यह मानव तन कर्म करने के लिये ही मिला है और जब 'साधु' का बाना धारण कर लिया तो उसकी सार्थकता परमार्थ के मार्ग पर चलने में ही है । इसलिये वे तीर्थ भ्रमण के रूप में देश की दशा का निरीक्षण करके स्वानुभव प्राप्त करने लगे और साथ ही यह भी देखने लगे कि हमारे सेवा करने योग्य क्षेत्र कौन हो सकता है ? इस प्रकार भ्रमण में पाँच सात वर्ष व्यतीत करके वे फजिल्का के निकटवर्ती अबोहर कस्बे में प्रचार-कार्य करने लगे और सन् १६२० में कुछ उत्साही युवकों के सहयोग से 'नागरी प्रचारिणी सभा, के नाम से एक छोटा-सा पुस्तकालय स्थापित कर दिया । पर दो-तीन वर्ष बाद जब स्वामीजी असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण जेल चले गये तो पीछे से संस्था की व्यवस्था बिगड़ गई । जब लोगों ने पुस्तकों को नष्ट होते देखा तो

सब पुस्तकें तथा अन्य सामान इनके फजिल्का वाले 'साधु आश्रम' के पुस्तकालय में भेज दिया।

जेल से लौटने पर स्वामी जी ने यह दशा देखी तो उनको दुःख तो अवश्य हुआ, पर उसकी चिन्ता न करके फिर दूसरा पुस्तकालय निर्माण करने में लग गये। इस बार उन्होंने पहले पुस्तकालय को निजी मकान बनाने का निश्चय किया जिससे उसका कार्य स्थायी रूप से चल सके। उन्होंने इस जमीन और भवन आदि की रजिस्ट्री हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के नाम से करा दी और इस संस्था को वहीं की एक शाखा बना दिया। पुस्तकालय की इमारत सन् १९२६ तक बनकर कार्य आरम्भ हो गया और अगले दो वर्षों में इसकी पर्याप्त वृद्धि भी हो गई, पर उसे पूरा करने में कुछ कर्ज हो गया जिसके लिये बार-बार तकाजा किया जाने लगा। यह देखकर स्वामी जी धन संग्रह को निकल पड़े और प्रतिज्ञा की कि मैं तभी लौटूँगा जब यह कर्ज चुकाने लायक धन्दा प्राप्त हो जाय।

उनके उद्योग से यह उद्देश्य शीघ्र ही पूरा हो गया और 'अबोहर साहित्य-सदन' अपना कार्य क्षेत्र दिन पर दिन बढ़ाने लगा। स्वामीजी ने गंगानगर, एलनाबाद, मुक्तसर, बहावलनगर आदि स्थानों में उसकी शाखायें खुलवादीं। साहित्य सदन की बगल में एक व्यायामशाला भी स्थापित की जिसमे सदस्यगण शारीरिक उन्नति भी कर सकें। एक छोटा-सा संग्रहालय स्थापित कर दिया, जिसमें प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ, सिक्के, चित्र और कारीगरी की वस्तुयें रखी गई। 'दीपक' नाम का एक मासिक-पत्र प्रकाशित किया जाने लगा और उसके लिये प्रेस भी खोल दिया गया। एक चलता-फिरता पुस्तकालय खोला गया, जिसका उद्देश्य आस-पास के सैकड़ों गाँवों में समय-समय पर पुस्तक पहुँचाते रहना था। इससे जहाँ एक ओर ग्रामीण जनता की बौद्धिक, सामाजिक आर्थिक विषयों पर जानकारी बढ़ी, वहाँ उनमें पठन-पाठन की रुचि भी उत्पन्न हो गई और कुछ समय पश्चात् अनेक स्थानों के निवासी स्वयम् ज्ञान-प्रचार के विभिन्न आयोजन करने लग गये।

इस प्रकार स्वामी जी ने पंजाब के एक प्रदेश में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार का एक ऐसा स्थायी केन्द्र स्थापित कर दिया, जहाँ से विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ समय-समय पर आरम्भ करके जनता में हिन्दी-भाषा और भारतीय संस्कृति का प्रचार किया जाने लगा। इसके पहले उस प्रान्त में और खास कर हरियाणा प्रदेश में हिन्दुओं की प्रधानता होते हुए भी उर्दू का प्रचार ही अधिक था। लोगों को देवनागरी लिपि सिखाने के लिये 'साहित्य-सदन' की तरफ से १५ हजार 'हिन्दी वर्णमाला चार्ट' बाँटे गये और 'गुरुमुखी-हिन्दी शिक्षक' तथा 'उर्दू हिन्दी शिक्षक' नाम की प्राइमरी पुस्तकें तैयार करके बिना मूल्य प्रचारित की गई, जिससे लोग हिन्दी पढ़ना-लिखना सीख सकें। साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाओं का एक बड़ा केन्द्र भी वहाँ खोल दिया गया, जिससे साहित्यिक ज्ञान बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो गया। इस प्रकार 'साहित्य-सदन' ने दस पाँच वर्ष के भीतर ही अबोहर और उसके आस-पास सौ-पचास मील के क्षेत्र को साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से पर्याप्त प्रगतिशील बना दिया। इन्हीं दिनों जब हरियाणा के प्रमुख राजनीतिक नेता पं० नेकीराम शर्मा ने इस संस्था का निरीक्षण किया तो उन्होंने यहाँ की 'सम्मति-पुस्तक' में जो विचार प्रकट किये गये उनमें एक जगह लिखा था--

"अबोहर का यह 'साहित्य-सदन' है तो पुस्तकालय पर इसका यह ठाठ दर्शनीय है। यह सब तरह से सुन्दर है, स्थान खुला हुआ है, स्वास्थ्य के लिये इसे 'आरोग्य भवन' कहा जा सकता है। जिस प्रदेश में हिन्दी-भाषा और देवनागरी अक्षरों का प्रवेश कठिन था वहाँ आज साहित्य सदन के प्रताप से हिन्दी साहित्य का एक विशेष स्थान बन गया है। यह हिन्दी भाषियों के लिये हर्ष व उत्साह-वर्द्धक उदाहरण है। स्वामी केशवानन्द जी के देश-प्रेम और राष्ट्रभाषा अनुराग का गीत यह 'सदन' ऊँचे स्वर से गा रहा है।"

सन् १९१४ में यहाँ पर 'अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन बड़ी धूमधाम से किया गया। प्रयाग विश्व-विद्यालय के श्री अमरनाथ झा उसके अध्यक्ष थे और डाक्टर भीखनलाल आत्रेय एम. ए. डी. लिट्. (हिन्दी-विश्वविद्यालय) तथा डाक्टर रामनारायण डी. एस. सी. (कृषि कालेज, लायलपुर) आदि विद्वान् अन्य परिषदों के सभापति थे। अबोहर छोटा-सा स्थान होने पर भी स्वामी केशवानन्द जी के परिश्रम और अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से सहयोग प्राप्त कर सकने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप यह अधिवेशन बहुत सफलतापूर्वक हो गया और दो-ढाई हजार आगन्तुकों के ठहरने तथा भोजन आदि की जैसी सुव्यवस्था यहाँ की गई वैसी अनेक बड़े-बड़े नगरों में भी सम्भव नहीं हो सकती थी।

इस सफलता के पश्चात् साहित्य-सदन देश भर में विख्यात हो गया और देश के गण्यमान्य नेता यहाँ समय-समय पर पहुँचते रहे। सरदार वल्लभभाई पटेल भी एक अवसर पर वहाँ गये और सदन की कार्यवाही से सन्तुष्ट होकर उन्होंने लिखा--

"यह एक रमणीक स्थान है, जिसे देखकर चित्त बहुत प्रसन्न होता है। कोई भी एक व्यक्ति किसी संस्था के पीछे

अपना चित्त लगाकर प्रयास करते हुए कितना काम कर सकता है, वह इस संस्था को देखने से मालूम होता है । सदन का लाभ आस-पास के लोग ठीक पा रहे हैं ।"

इसके अतिरिक्त पंजाब के कांग्रेस नेता डा० गोपीचन्द भार्गव, बाबा राघदास, कृष्णकान्त मालवीय, धुरेन्द्र शास्त्री, श्री हरिभाऊ उपाध्याय अनेक देश प्रसिद्ध व्यक्ति समय-समय पर इसका निरीक्षण करते रहे, जिससे इसकी कार्यशीलता और उपयोगिता दिन पर दिन बढ़ती गई । 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने यहाँ आकर जो कुछ देखा और उससे प्रभावित होकर उन्होंने अपने जो विचार एक लेख के रूप में प्रकट किये, उससे इस संस्था के वास्तविक महत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है-

"साहित्य-सदन का मुझे परिचय था । वहाँ एक बड़ा पुस्तकालय है यह भी मैं जानता था वहाँ के कार्यकर्ताओं के त्यागी तपस्या और लगन की कहानी भी मैंने कुछ सुन रखी थी लेकिन, उनके विशाल और व्यापक रूप का परिचय मुझे यहाँ जाने पर ही मिला । जितनी विशाल उसकी इमारत है और जितना सुन्दर उसके भीतर का दृश्य है, ठीक उतना ही विशाल और सुन्दर उसका वह स्वरूप है जो आँखों से नहीं दीख पड़ता, पर यहाँ जाने पर सहज ही समझ में आ जाता है । 'साहित्य सदन' एक पुस्तकालय या संग्रहालय ही नहीं है, वह एक जीती-जागती प्रगतिशील संस्था है, जिससे न केवल अबोहर शहर में, बल्कि आस-पास के पचासों गाँवो और शहर के चारों ओर के इलाके, यहाँ तक कि साथ लगी हुई बीकानेर, पटियाला, बहावलपुर की रियासतों तक में जीवन, जागृति और प्रगति का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है । पंजाब हिन्दी के लिये मरुभूमि में कहा जाता है । उस मरुभूमि में यह 'सदन' सचमुच एक सोता और तीर्थस्थान है ।

"गुरुकुल काँगड़ी के उस वातावरण में, जिसे तीन लोक से न्यारा कहा जा सकता है, मुझे चौदह वर्ष बिताने का सौभाग्य मिला है । पूज्य महात्मा गाँधी के 'सत्याग्रह आश्रम' में भी कुछ दिन रहने का अवसर प्राप्त हुआ है । सात्विकता, उदारता, स्वच्छता, पवित्रता और आत्मीयता की दृष्टि से 'सदन' का वातावरण इन संस्थाओं से कम नहीं है । इसके संस्थापक श्री केशवानन्द जी में त्याग, तपस्या, बलिदान, कष्ट-सहन, लगन, धुन और परिश्रम आदि के सभी गुण न मालूम कहाँ से और कैसे इकट्ठे हो गये हैं ? सादगी, सरलता, मिलनसारिता और नम्रता आदि उनके स्वभाव में दूध-पानी की तरह एक हो गये हैं । उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समस्त संस्था पर वैसे ही व्यापक या समाया हुआ है, जैसे स्वामी श्रद्धानन्द जी का 'गुरुकुल' में और गाँधीजी का 'सत्याग्रह आश्रम' में तथा गुरुदेव का 'शान्ति निकेतन' में था ।

'नौकर' नाम का कोई प्राणी, सिवा एक माली के सदन में नहीं है और माली भी नौकर न होकर सदन वालों का एक साथी ही बन गया है । जहाँ नौकर न हो वहाँ मेहतर का होना तो कोई अर्थ नहीं रखता । इतने पर भी सदन में सफाई कमाल की रहती हैं । संस्था का सारा कार्य जिसमें कमरों में झाडू देना, चारों ओर सफाई रखना और अतिथियों की सेवा करना भी शामिल है, कार्यकर्ता स्वयं करते हैं । इस प्रकार सदन का वातावरण एक आश्रम का-सा बन गया है और कार्यकर्ताओं के पारस्परिक व्यवहार से वे सब एक परिवार के सदस्य जान पड़ते हैं ।"

इस प्रकार का संगठन और ऐसी आत्मीयता का वातावरण वहीं सम्भव है जहाँ मुख्य कार्यकर्ता स्वयं निस्स्वार्थ और सच्चे सेवाभावी हों । इन्हीं दोनों गुणों के बल पर स्वामीजी उस मरुभूमि में 'साहित्य-सदन' जैसी एक हरी-भरी भूमि (नखलिस्तान) निर्मित कर सके । स्वयं के लिये त्याग और कठोर परिश्रम का अभ्यास तो उनको बाल्यावस्था में ही हो गया था जबकि उनको भूख-प्यास ठंड-गर्मी सहन करके दिन भर कोसों तक गाय चराने जाना पड़ता था । स्वामी जी लिखते हैं कि "गर्मी की ऋतु में उस मरुभूमि में गाय चराते समय जब प्यास से प्राण निकलने लगते तो हम सन्तोष और आत्म-नियन्त्रण द्वारा ही उस पर विजय पाते थे । वहाँ कुछ अछूत जाति के बालकों के पास पानी होता भी था, पर गाँव वालों की कट्टरतापूर्ण जाति प्रथा के कारण हमें उस लालच को भी संवरण करना पड़ता था ।"

ग्रामोत्थान विद्यापीठ संगरिया

सेवा-धर्म की महिमा अपरम्पार है । यह एक इतना महान् कर्तव्य है, जिसके पालन करने का अवसर देवताओं को भी कम ही मिल पाता है । सेवा-धर्म के नाम पर किये जाने वाले सभी कार्य एक स्तर के नहीं होते । कुछ व्यक्ति शहरों में ही, जहाँ आवागमन, खान-पान, निवास स्थान, प्रकाश, सुरक्षा आदि सब बातों की सुविधा होती है, सेवा-कार्य कर सकते हैं । पर सेवा की अधिक आवश्यकता और महत्व उन स्थानों में होता है जहाँ सुख-सुविधाओं का अभाव होता है । और जहाँ के निवासी थोड़ी-सी सहायता को, आश्रय की बड़ी कृतज्ञता के साथ शिरोधार्य करते हैं। ईसाई मिशनरियों ने ऐसे घोर जंगलों, अगम्य घाटियों और दुनिया की नजरों से छिपे हुए द्वपुओं में पहुँचकर और अपनी

जान को खतरे में डालकर सेवा कार्य किये हैं। जिससे कि उनकी कीर्ति अमर हो गई और साथ ही ईसाई-धर्म की जड़ भी मजबूत हो गई।

स्वामी केशवानन्दजी का संगरिया में स्थापित 'ग्रामोत्थान विद्यापीठ' एक ऐसा ही सेवाकार्य है। यह एक बहुत बीहड़ और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से वंचित स्थान था। यह राजस्थानी रेगिस्तान के एक किनारे पर बसा हुआ था और बड़ी-बड़ी आधुनिक सुविधाएँ तो दरकिनार वहाँ पीने का पानी भी नहीं मिलता था। वहाँ के निवासी तीन मील की दूरी से ऊँट या कन्धे पर पीने का पानी लाते थे। जब पानी की यह दशा थी-तो वहाँ हरियाली, बाग-बगीचा, फल-फूल की सम्भावना ही कहाँ से होती। वहाँ पर गर्मियों में आँधियाँ अक्सर आया करती थीं और इतनी धूल उड़ा करती थी कि दिन में ही रात हो जाती थी। इस कारण यहाँ हरियाली कम ही दिखाई देती थी और अकाल की-सी अवस्था बनी रहती थी।

इस प्रकार की प्राकृतिक और आर्थिक परिस्थितियों में शिक्षा, ज्ञान-चर्चा, स्कूल, पुस्तकालय की क्या आशा की जा सकती थी? सन् १६१६ तक संगरिया के आस-पास के सैकड़ों वर्गमील के क्षेत्र में एक भी स्कूल न था। सन् १६१७ में यहाँ के कुछ नवयुवकों के हृदय में, जो अखबारों में देश-विदेश की प्रगति के समाचार पढ़ा करते थे और कभी-कभी आर्य-समाज के जलसे में उपदेशकों के प्रेरणाप्रद विचार सुन लेते थे, अपने यहाँ की गिरी हुई दशा पर बड़ा खेद हुआ और परस्पर सम्मति करके यहाँ एक स्कूल की स्थापना करने का विचार किया।

पर इन लोगों के पास साधनों का अभाव था और वहाँ की परिस्थितियों को देखते यह स्पष्ट जान पड़ता था कि जब तक स्कूल का निजी मकान न होगा उसके स्थायी होने की कोई आशा नहीं। इस पर कुछ उत्साही व्यक्तियों, जिनमें से चौधरी बहादुरसिंह ने इस काम के लिये जीवन ही अर्पित कर दिया, इस कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाया। एक स्थानीय सज्जन ने चौदह बीघा जमीन स्कूल के लिये दान कर दी और अन्य लोगों ने बड़ी दौड़-धूप करके पाँच-सात कमरों के बनाने लायक चन्दा इकट्ठा करके कार्यारम्भ कर दिया। सन् १६१८ में स्कूल का निजी मकान तैयार हो गया और कुछ पढ़ने वाले भी तैयार हो गये। पर जब कार्य अग्रसर हुआ तो अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आने लगीं। उनका जिक्र करते हुए इस स्कूल की आरम्भिक रिपोर्ट में कुछ ऐसी बातें बतलाई गई हैं जिनसे हमारे देश की अत्यन्त पिछड़ी हुई सामाजिक परिस्थिति और प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाले एक 'विशेष श्रेणी' के व्यक्तियों की हेय मनोवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है-

"यह बता देने की आवश्यकता है कि, इसका प्रारम्भिक नाम "जाट ऐंग्लो संस्कृत मिडिल स्कूल' था। चूँकि इस इलाके में जाटों की ही आबादी अधिक है, इसलिये संस्थापकों ने लोगों की मनोवृत्ति समझकर इसके नाम के साथ 'जाट' शब्द जोड़ना ही उचित समझा। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह संस्था जाति-पाँत के संकीर्ण दायरे में आबद्ध थी। इसमें आरम्भ ही में समस्त जातियों के, यहाँ तक कि हरिजनों के बालकों को भी समानता के भाव से शिक्षा देने की व्यवस्था की। हरिजनों के कारण कुछ समय तक उच्च कही जाने वाली जातियों ने इस स्कूल का विरोध भी किया। ये इसे ढेड़ियों (चमारों) का स्कूल कहने लगे। इसके संचालकों को अधार्मिक कहा गया। वह समय ही ऐसा था जब लोगों को संध्या-हवन आदि करना भी अच्छा नहीं लगता था। जब स्थानीय सेठों को यह मालूम होता कि उनके लड़कों को गायत्री आदि वेद-मन्त्र सिखाये जाते हैं तो वे उनको स्कूल से उठा लेते थे। बात यहीं तक सीमित नहीं रही। लोगों ने इसकी शिकायत रियासत के अधिकारियों से भी की और इस पर एक सरकारी मिडिल स्कूल संगरिया में खोल दिया गया। विरोधी लोग प्रचार करने लगे कि सरकारी स्कूल में पढ़े लड़कों को राज्य की नौकरी मिलने में सुविधायें दी जायेंगी और उनको छात्रवृत्तियाँ भी मिल सकेंगी। पर इस संस्था के संचालक धैर्यपूर्वक अपना सेवा-कार्य करते रहे जिससे अन्य स्थानों में भी उन्होंने अपने स्कूल की १२ शाखायें स्थापित कर दीं जिनमें सन् १६२५ में १२० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

इस प्रकार निःस्वार्थ कार्यकर्ताओं के सेवा-भाव के आधार पर यह संस्था क्रमशः उन्नति करती गई। एक बात तो धन के अभाव से संस्था का कार्य स्थगित होते देखकर चौ० बहादुरसिंह ने आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। इस पर स्कूल के वार्षिकोत्सव पर अनेक स्थानीय नेताओं द्वारा धन-संग्रह की चेष्टा की गई। इसमें कई हजार रुपया इकट्ठा हो गया और स्कूल की अधूरी इमारतों का कार्य पूरा होकर संस्था का कार्य ठीक ढंग से चलने लग गया। पर इसके कुछ समय पश्चात् इस सच्चे सेवक का देहान्त हो गया तो फिर इसके ऊपर काली घटाएँ घिरने लगीं। फिर भी शेष, कार्यकर्ता कुछ नये सज्जनों की सहायता से इसके कार्य को चलाते रहे और आगामी सात वर्षों में उन्होंने इसके कार्यक्षेत्र को कुछ और आगे बढ़ाया। उन्होंने प्रयत्न करके इसके लिये सरकारी सहायता भी प्राप्त की जिससे इसमें भी कुछ छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगीं।

स्वामी केशवानन्दजी का आगमन

पर फिर भी अब संस्था के सामने नई समस्यायें उत्पन्न हो रही थीं, जिनकी पूर्ति कर सकना वर्तमान कार्यकर्ताओं को सम्भव नहीं जान पड़ता था । स्कूल के मकान और छात्रावास आदि साधारण श्रेणी की सामग्री से बनाये गये थे और इन चौदह वर्षों में उनकी दशा बहुत कुछ मरम्मत तलब हो गई थी । इस काम को पूरा करने के लिये कई हजार रुपये की आवश्यकता थी । कार्यकर्ताओं ने इस पर विचार किया और जान पड़ा कि जब तक कोई जीवनदानी व्यक्ति इस भार को न उठायेगा तब तक इसकी सुचारु व्यवस्था नहीं हो सकती । उनका ध्यान स्वामी केशवानन्दजी की तरफ गया जिन्होंने अबोहर के 'साहित्य-सदन' की उस प्रदेश में धूम मचा दी थी । इस पर स्वामीजी से प्रार्थना की गई कि वे संगरिया की इस शिक्षा-संस्था की व्यवस्था का भार ग्रहण करने की कृपा करें ।

स्वामी जी ने संगरिया आकर देखा कि स्कूल की सभी इमारतें अब जीर्ण हो चुकी हैं और उनके जीर्णोद्धार की बड़ी आवश्यकता है । उन्होंने 'काया पलट' शीर्षक एक पर्चा प्रकाशित किया और इस कार्य के लिये बीस हजार रुपये की अपील की गई । स्वामीजी तन-मन से इस योजना की सफलता में जुट गये और कुछ ही समय में बीस हजार के बजाय साठ हजार की लागत से पुरानी इमारतों का जीर्णोद्धार होने के साथ ही कितनी ही नई इमारतें भी बन गईं और संस्था का कार्य दिन पर दिन प्रगति करने लग गया । स्वामीजी के उदाहरण से अन्य कार्यकर्ताओं में भी उत्साह की वृद्धि हुई और वे अपना अधिक समय इस काम में देने लगे । इसके परिणामस्वरूप कुछ और मकान बनाकर मिडिल स्कूल को हाई-स्कूल बना दिया गया और एक नया छात्रावास भी बना दिया गया जिससे विद्यार्थियों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गई ।

स्वामीजी का कलाप्रेम और संग्रहालय

स्वा० केशवानन्दजी किसी एक कार्य की पूर्ति करके वहीं रुक जाना नहीं जानते । निरन्तर सेवा-कार्य करते रहना उनका जीवन-व्रत है । अथवा यों कहना चाहिये कि प्रतिदिन बिना कठिन श्रम किये उनसे रहा नहीं जा सकता। इसलिये वे संस्था की वृद्धि के लिये निरन्तर उद्योग करते रहते हैं और इससे उसमें नई-नई प्रवृत्तियों का जन्म होता रहता है । सन् १९३८ में उन्होंने स्कूल के साथ एक संग्रहालय स्थापित कर दिया जो धीरे-धीरे बढ़कर एक महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थान बन गया है । आरम्भ में तो इसमें संस्था के ही एक चित्रकला के अभ्यासी शिक्षक के बनाये चित्र और कुछ इधर-उधर से माँगकर प्राप्त की गई वस्तुएँ ही रखी गई थीं, पर जब स्वामीजी ने उस प्रदेश के ग्रामीण लोगों को उससे लाभ उठाते देखा तो वे उसकी उन्नति की तरफ अधिक ध्यान देने लगे और जगह-जगह से दर्शनीय वस्तुएँ लाकर उसकी श्रीवृद्धि करने लगे । वे स्वयं भी एक कलाप्रेमी हैं और इस बात को जानते हैं कि मनुष्य की सोई हुई श्रेष्ठ प्रवृत्तियों के जगाने में कला का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । स्वामीजी ने इस संग्रहालय को किस प्रकार सजाया और सँवारा है इसका कुछ परिचय श्री कुमारिल स्वामी नामक कलाकार के स्वानुभव से मिलता है । वे लिखते हैं-

"सन् १९५६ की बात है । दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब' में कोई जल्सा था और वहाँ के रंगमंच पर मेरे बनाये चार-पाँच चित्र टँगे हुए थे । इनमें से एक था 'कर्ण और परशुराम' । जब अधिवेशन समाप्त हुआ तो गेरुआ वस्त्र पहिने एक साधारण, सरल किन्तु तेजस्वी संन्यासी रंगमंच पर आये और गहरी दृष्टि से उन चित्रों को देखने लगे । कर्ण और परशुराम चित्र के सामने आकर तो वे एकदम खड़े रह गये । उनकी चित्रकला के प्रति निष्ठा ने मुझे क्षण भर के लिये तो अभिभूत किया, पर दूसरे ही क्षण मैंने उपेक्षापूर्वक अपने मन में कहा- संन्यासी और चित्रकला से प्रेम, यह हो नहीं सकता और मैं उसी समय बाहर चला गया ।

"थोड़ी देर बाद जब मैं दुबारा भीतर गया तो देखा कि वही संन्यासी श्रीमन्मथनाथ गुप्त के साथ खड़े किसी को ढूँढ़ रहे हैं । मन्मथनाथ मुझे देखते ही कहने लगे- "अरे कुमारिल सुनो ! स्वामीजी तुमसे मिलने के इच्छुक थे । तुम्हारे चित्र इनको बहुत पसन्द आये हैं ।" मैंने ऊपरी शिष्टाचार से स्वामीजी से कुछ बातें कीं । लेकिन स्वामीजी मुझसे इस प्रकार मिले मानों मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ और वे कोई बिल्कुल छोटे व्यक्ति हैं । उनकी नम्रता देखकर मैं बहुत लज्जित हुआ और मन में कहा- यह निश्चय ही कोई उदार पुरुष हैं । कुछ बातें करके स्वामीजी ने 'कर्ण और परशुराम' चित्र के खरीदने की इच्छा प्रकट की । मैं उसे बेचना नहीं चाहता था, पर उन्होंने जब बहुत आग्रह किया तो उसकी कीमत ५००) रु० बतला दी । स्वामीजी ने मेरा पता नोट कर लिया । तो भी मैंने अपने मन में यही कहा- यह संन्यासी मेरे चित्र को खरीदने के लिये ५००) रुपये खर्च नहीं कर सकेंगे और इसलिये मैं इस सौदे की तरफ से उदासीन हो गया ।"

"पर तीन दिन बाद अपने ठहरने के स्थान 'हरिजन निवास' पर पहुँचने पर पता चला कि एक संन्यासी मुझे पूछते-पूछते आये थे और काफी प्रतीक्षा के बाद चले गये । इसी प्रकार चौथी बार आने पर मेरी उनके साथ भेंट हुई और उन्होंने ५००) रु० देकर उक्त चित्र खरीद लिया । उस अवसर पर स्वामीजी से मेरी विस्तृत बात-चीत हुई कि वे कहाँ रहते हैं और चित्र उन्होंने क्यों खरीदा है, आदि ? उन्होंने मुझसे संगरिया आने का भी आग्रह किया । कुछ समय पश्चात् एक दिन मैंने बहिन सत्यवती मल्लिक से स्वामीजी के विषय में पूछा तो उन्होंने बताया– 'कुमारिल जी ! यह सौभाग्य है कि एक देवता से आपका परिचय अनायास हो गया । जीवन में ऐसे व्यक्ति कम मिलते हैं स्वामीजी सच्चे अर्थों में निस्पृह साधु हैं । आप उनकी संस्था देखने अवश्य जाइये, जब वह बुला गये हैं तो ।"

"मेरा मन स्वामीजी के आश्रम को देखने को उतावला हो उठा और एक दिन अपने आने की सूचना देकर मैं संगरिया के लिये चल ही पड़ा । अभी संगरिया से दो स्टेशन आगे गाड़ी मंडी डबवाली स्टेशन पर खड़ी थी कि मैंने देखा कि स्वामीजी गाड़ी की तरफ आ रहे हैं । अपने प्रति स्वामीजी का यह स्नेह देखकर मैं सिकुड़ गया और आवाज देकर उनको बुलाया । स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले– 'कुमारिल जी ! मेरे पास तो थर्ड क्लास का टिकिट है ।' मैं अपर क्लास में था, इससे लज्जित हो उठा । आश्रम में पहुँचकर हम उनके कमरे में गये और बड़ी प्रसन्नता से वे मुझे अपने संग्रहीत चित्र दिखाने लगे–

"मैंने देखा कि स्वामीजी उस क्षेत्र में सचमुच देवता की तरह माने जाते हैं । गाँव के लोगों का विश्वास है कि स्वामीजी सिद्ध व्यक्ति हैं और उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हो गया है । इन लोगों ने स्वामीजी के सम्बन्ध में कई ऐसी बातें मेरे सामने कहीं जिन पर विश्वास करना मेरे लिये सम्भव न था । पर मैंने इतना जान लिया कि चाहे स्वामीजी ने आकाश के ऊपर रहने वाले भगवान् का साक्षात्कार भले ही न किया हो, लेकिन उन्होंने जनता-जनार्दन का साक्षात्कार अवश्य किया है । सर्वसाधारण के उत्थान के लिये उन्होने अपने खून की एक-एक बूँद अर्पित की है । जनता की सेवा ही उनका एक मात्र लक्ष्य है और इस दृष्टि से वे आदर्श संन्यासी हैं ।"

स्वामीजी जनता की सेवा में किस प्रकार व्यस्त रहते हैं इसका वर्णन भी उपर्युक्त लेखक ने एक स्थान पर किया है– संगरिया और गंगानगर के इलाके मे अब पानी की एक नहर जारी कर दी गई है । इस नहर ने वहाँ के जन-जीवन को बदल दिया है । दूसरी बार जब मैं वहाँ गया तो इस नहर में पानी आना बन्द हो गया था और इससे समस्त जनता परेशान हो उठी थी । स्वामी जी यह देखकर बड़े दुःखी हुए और जीप लेकर चंडीगढ़ दौड़े गये । तीन-चार चक्कर लगाने पर दूसरे दिन पानी को लेकर ही वापस लौटे । मैं आश्रम के बाहर खड़ा स्वामीजी को देख रहा था । वे नंगे बदन कड़ी धूप में खड़े कुण्डों को पानी से भरवा रहे थे और उनके हाथ में फावड़ा था । मुझे उस समय वे साक्षात् 'आधुनिक भागीरथ' ही लग रहे थे । स्वामीजी भारतीय संसद के सदस्य हैं, बहुत बड़े शिक्षा-प्रचारक हैं, कितनी ही संस्थाओं के संचालक हैं, आदि बातों का परिचय मैं अनेक व्यक्तियों से सुन चुका था । पर आज उनको फावड़ा हाथ में लिये देखकर जो परिचय मिला उससे मालूम हुआ कि वे उन विशेषताओं से भी बहुत ऊपर हैं । वे वास्तव में मनुष्यता, त्याग और तपस्या के आदर्श हैं ।"

स्वामीजी ने जनता तथा विद्यार्थियों के लिये ज्ञानवृद्धि के साधन रूप इस 'संग्रहालय' मे किस प्रकार के पदार्थ परिश्रमपूर्वक इकट्ठे किये है, इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(१) **पुरातत्व विभाग**– इसमें ईसा की चौथी शताब्दी तक की मूर्तियाँ, सिक्के और वर्तमान समय के देश-विदेशों के सिक्के, करेंसी नोट, डाक-टिकिट आदि हैं ।

(२) **ऐतिहासिक कला विभाग**– इसमें भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों तथा अन्य देशों के बने ताँबा, पीतल, काँसा, चाँदी आदि के बर्तन तथा मूर्तियाँ हैं । बादशाही जमाने के ताँबे पर ठप्पे के सुनहरी काम के जूते हैं जिनमें बादशाहों और बेगमों के चित्र बने हैं । भारत, चीन और काश्मीर के चित्रित कलापूर्ण मिट्टी के बर्तन, गुलदस्ते तथा अन्य सजावट की वस्तुएँ भी काफी संख्या मे हैं ।

(३) **काष्ठकला विभाग**– काश्मीर, पंजाब, उड़ीसा, तिब्बत, चीन आदि की लकड़ी का सुन्दर काम की हुई वस्तुएँ इसमें संग्रहीत हैं ।

(४) **शस्त्रागार**– बादशाही जमाने की ढाल, तलवारें, पंजाब, पटियाला, राजस्थान के विभिन्न हथियार व जिरह-बख्तर आदि रखे गये है ।

(५) **वस्त्र और आभूषण**– पंजाब और राजस्थान की तरह-तरह की बन्धेज की साड़ियाँ, फुलकारियाँ, पुराने जमाने के वस्त्र और कसीदा के बढ़िया नमूने इस विभाग में देखे जा सकते हैं ।

(६) **हाथीदाँत और हड्डी का काम**– भारत व चीन का हाथी दाँत पर किया गया सुन्दर काम व तिब्बत के बने हड्डी के आभूषण इसमें रखे गये हैं । तिब्बत मे मनुष्य

की हड्डी को अस्पर्श्य गन्दा नहीं मानते और उसके कलापूर्ण आभूषण बनाकर धारण किये जाते हैं ।

(७) जङ्गली जानवर– मृत जङ्गली जानवरों की खालों से बनाये गये उनके नमूने ।

(८) चित्रशाला– इसमें मुगल, राजपूत व अन्य शैलियों की बहुत-सी प्राचीन और नवीन कलाकृतियाँ संग्रहीत हैं । हाथी दाँत पर बनाये चित्र और कला की अन्य वस्तुएँ भी प्रदर्शित हैं ।

इस संग्रहालय से विद्यार्थियों और दर्शनार्थ आने वाली जनता की बहुत ज्ञान-वृद्धि होती है और वे संसार के दूर-दूर के देशों की संस्कृति और विशेषताओं की अनेक बातें यहीं पर जान लेते हैं । स्वामी जी को भी इस विभाग से बड़ा प्रेम है और जब वहाँ होते हैं तब दिन में दो बार उसका निरीक्षण अवश्य कर आते हैं । इस संग्रहालय में प्रदर्शित वस्तुओं की संख्या इस समय ४-५ हजार के बीच में है और उनको संग्रह करने में डेढ़ लाख के लगभग रुपया खर्च किया गया है । वर्ष में लगभग पचास हजार व्यक्ति इसको देखने के लिए आते हैं । दर्शकों को नियन्त्रित रखने के लिये अब इसमें एक आना टिकिट प्रणाली जारी कर दी गई है ।

पुस्तकालय और वाचनालय

स्वामी जी की दृष्टि में पुस्तकालयों का बड़ा महत्व है और उनका सार्वजनिक जीवन फजिल्का और अबोहर के पुस्तकालयों से ही आरम्भ हुआ है । वे समझते हैं कि जब तक भारतीय जनता में अध्ययन और ज्ञान-प्राप्ति की रुचि जाग्रत न होगी तब तक देशोन्नति का कार्य कठिन ही है । इसीलिये संगरिया विद्यापीठ का चार्ज लेने के दो वर्ष पश्चात् ही यहाँ पुस्तकालय के लिये 'सरस्वती मन्दिर' नाम की एक इमारत अलग ही बनवाई और उसमें 'आर्य भाषा पुस्तकालय' की स्थापना की । इसमें अब समस्त भाषाओं की तीस हजार से ऊपर पुस्तकें हैं । राजस्थान में किसी निजी संस्था का पुस्तकालय इससे अधिक बड़ा नहीं है । छपी हुई पुस्तकों के अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फारसी आदि के बहुसंख्यक प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ भी इसमें संग्रहीत हैं। पुस्तकालय के साथ एक बहुत बड़ा वाचनालय भी है। जिसमें पचास से अधिक समाचार-पत्र आते रहते हैं ।

महिला-श्रम तथा स्त्री शिक्षा का प्रचार

जैसा बताया जा चुका है– सन् १९१७ तक संगरिया के आस-पास ८०० वर्ग मील के क्षेत्र में एक भी स्कूल नहीं था और उसी कमी को दूर करने के लिये यह शिक्षा-संस्था एक छोटे से मिडिल स्कूल के रूप में आरम्भ की गई थी । जब स्वामी जी ने इसका कार्यभार सँभाला और लड़कों की शिक्षा के लिये यहाँ एक बड़ा हाईस्कूल बना दिया तथा आस-पास बहुत से छोटे स्कूल भी खुलवाये, तो उनके सामने लड़कियों की शिक्षा का प्रश्न भी आया । वे जानते थे कि समाज की उन्नति केवल लड़कों के शिक्षित हो जाने से ही सम्भव नहीं है । स्त्रियाँ समाज का आधा भाग हैं और भावी सन्तान को सुयोग्य बनाना उनके ही ऊपर निर्भर है । इस विचार से स्वामी जी ने इस तरफ भी ध्यान दिया और लोगों में बालिका-शिक्षा की रुचि उत्पन्न करके संगरिया के समीप चौटाला गाँव में एक लड़कियों का स्कूल स्थापित कर दिया । इसके पश्चात् विद्यापीठ में ही एक महिला आश्रम खोला गया जिसके पृथक् हाईस्कूल, छात्रावास, अध्यापिका निवास, पुस्तकालय, वाचनालय आदि विभाग लगभग ८ बीघा जमीन में फैले हुए हैं ।

यह संस्था मुख्य रूप से प्रौढ़ महिलाओं को साक्षर बनाकर सुयोग्य गृहिणी और सामाजिक कार्यकर्ता बनाने के लिये खोली गई थी, पर इसमें बालिकायें भी बराबर शिक्षा प्राप्त करती रहीं । अब इसमें लगभग २५० लड़कियाँ शिक्षा पा रही है और सौ के लगभग छात्रावास में रहती हैं । महिला आश्रम में पढ़ने-लिखने की शिक्षा के अतिरिक्त कसीदा, पाकशास्त्र, शिशु-पालन आदि की भी शिक्षा दी जाती है । इसमें लड़कियों के खेल-कूद और व्यायाम आदि की भी व्यवस्था है । जब देश की एक प्रसिद्ध महिला दर्शक ने इस संस्था की छोटी-छोटी लड़कियों को भाले की नोकों को माथे से लगाकर बड़ी-बड़ी चीजों को हटाते और भारी-भारी पत्थरों को बालों में बाँधकर उठाते देखा तो वे आश्चर्यचकित रह गई ।

विद्यापीठ की स्त्री-शिक्षा प्रचार की प्रवृत्तियाँ दूर-दूर तक फैली हुई हैं । जब उन्होंने देखा कि पास ही गंगानगर में भी लड़कियों के छात्रावास की काफी माँग है तो उन्होंने वहाँ एक पुराने लड़कों के छात्रावास को ही लड़कियों के छात्रावास के रूप में बदलने का विचार किया । पर गंगानगर के जिलाधीश स्वामीजी की योजना और उनके कार्यों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको एक नई जमीन दे दी और वहाँ पर अब छात्रावास ही नहीं, लड़कियों का एक इण्टर कालेज बनवाने की भी व्यवस्था कर दी । अब यह संस्था स्त्री-शिक्षा का प्रचार बहुत बड़े रूप में कर रही है ।

कुछ समय पश्चात् स्त्री-शिक्षा के प्रदेश-व्यापी प्रचार के लिये किसी पृथक् संस्था के निर्माण की योजना सोची गई और इसके लिये 'महाजन' नामक गाँव को पसन्द किया गया क्योंकि वहाँ रेलवे का बड़ा स्टेशन है और दिन में कई बार गाड़ियाँ आती-जाती हैं जिससे विद्यार्थियों को आने-जाने

में काफी सुविधा हो सकती है । इस योजना को लेकर स्वामी जी जब महाजन के जागीरदार राजा रघुवीरसिंह जी के पास पहुँचे तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक संस्था के लिये ५०० बीघा जमीन और १००१) रुपये नकद देने की स्वीकृति दे दी । सन् १६५१ में तो इस भूमि में शामियाना लगाकर दो महीने के लिये प्रौढ़-शिक्षा शिविर खोला गया जिसमें तीस नर-नारी साक्षर बनाये गये । सन् ५३ से इमारतों और जलाशय का निर्माण कार्य आरम्भ हुआ और अगले वर्ष दिल्ली विधान सभा की अध्यक्षा श्रीमती डाक्टर सुशीला नैयर से इसका उद्घाटन करा दिया गया । इस संस्था का नाम 'कस्तूरबा ग्रामोत्थान विद्यापीठ' रखा गया । इसमें पढ़ने वाली समस्त छात्राओं को भोजन, वस्त्र, पुस्तकें आदि सब संस्था की तरफ से ही दिया जाता है । अब इस संस्था में एक बड़ी संख्या में महिलायें और लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करके समाज में उत्थान सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने को तैयार हो रही हैं । इसकी प्रगति से सन्तुष्ट होकर राजा रघुवीर सिंह जी ने इसे १५०० बीघा जमीन और कई दुकानें और प्रदान कर दी हैं ।

आयुर्वेद और धात्री-शिक्षा

शिक्षा के साथ स्वास्थ्य-रक्षा का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । बहुत से शिक्षित व्यक्ति शारीरिक निर्बलता और अस्वस्थ रहने के कारण ही जीवन में यथोचित सफलता प्राप्त नहीं कर पाते । स्वामी जी स्वयं जो इतना अधिक सेवाकार्य कर सके उसका एक बड़ा आधार उनका सुदृढ़ स्वास्थ्य ही रहा है । इसी से वे अल्प साधनों से समस्त भारत का भ्रमण कर सके और तत्पश्चात् निरन्तर दौड़-धूप करके इतनी संस्थाओं की स्थापना तथा सुव्यवस्था में समर्थ हो सके । इसलिये उन्होंने इस संस्था की 'कायापलट' का कार्यक्रम बनाते समय उसमें व्यायाम और चिकित्सा को भी प्रमुख स्थान दिया ।

व्यायाम के लिये तो संस्था के एक विद्यार्थी श्री केवलराम शर्मा को बड़ौदा की सुप्रसिद्ध 'जुम्मा दादा व्यायाम शाला' में प्रशिक्षण प्राप्त करने को भेजा गया । जब वह वहाँ से पूरी ट्रेनिंग प्राप्त करके वापस आ गया तो खेलकूदों की साधारण सामग्री के सिवाय लाठी, गदका, तलवार, भाला, डम्बल, लेजम आदि के समस्त उपकरण भी एकत्रित कर दिये गये । इससे छात्रों में व्यायाम की रुचि स्वयमेव बढ़ गई और सभी विद्यार्थी कोई न कोई व्यायाम करने लगे । इसके लिये एक बड़ी इमारत भी बनवा दी जिसमें सब सामग्री सुरक्षित और सुव्यवस्थित रहे और हर एक ऋतु में व्यायाम नियमित रूप से होता रहे ।

चिकित्सा के लिये एक आयुर्वेद विद्यालय स्थापित किया । स्वामीजी की एक योजना यह भी थी कि छोटे गाँवों में जो स्कूल खोले जायें उनमें ऐसे शिक्षक नियुक्त हों जो शिक्षा के साथ चिकित्सा का कार्य भी कर सकें । इससे उनकी उपयोगिता बढ़ जायगी, ग्रामीणों पर उनका प्रभाव भी अधिक पड़ेगा और उनका कार्यक्षेत्र भी बढ़ जायेगा, जिससे फालतू समय का सदुपयोग हो सकेगा । विद्यापीठ में आयुर्वेद की केवल किताबी शिक्षा ही नहीं दी जाती है वरन् एक ओषधालय भी खोल दिया गया है जिसमें सब प्रकार की आयुर्वेदिक ओषधियाँ जैसे चूर्ण, आसव भस्में आदि भी बनाई जाती हैं । इस ओषधालय द्वारा विद्यार्थियों को ओषधि निर्माण और चिकित्सा का व्यावहारिक अभ्यास भी हो जाता है । महिलाओं की चिकित्सा के लिये एक स्त्री-चिकित्सिका भी रखी गई है ।

आयुर्वेद का ही एक अंग धात्री-शिक्षा भी है । पर खेद है कि इस तरफ हमारे सामाजिक कार्यकर्ताओं और शिक्षा-संस्थाओं ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया है । इसे एक छोटा और गन्दा काम समझ कर नीच जाति की स्त्रियों के लिये छोड़ दिया गया है, जो अपने अज्ञान के कारण इसको बड़े असन्तोष जनक ढंग से करती हैं । इस देश की अशिक्षित दाइयों के कारण यहाँ की स्त्रियों को प्रसवावस्था में कितना कष्ट उठाना पड़ता है और उनमें से कितनी भयंकर यौन-रोगों की शिकार हो जाती हैं यह किसी से छिपा नहीं है । इसलिए स्वामी जी ने विचार किया कि लड़कों से भी बढ़ कर लड़कियों को चिकित्सा की शिक्षा देने की आवश्यकता है । उनको विशेष रूप से शिशु-चिकित्सा, गर्भिणी चिकित्सा और प्रसूति-विज्ञान का ज्ञान कराया जाना परमावश्यक है ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो पाठ्यक्रम निश्चित किया गया है उसमें छात्राओं को सबसे पहले शरीर की रचना और उसके अंगों का साधारण ज्ञान कराया जायगा, क्योंकि इनके बिना केवल दवाओं के नुस्खे जान लेना या बनी हुई ओषधियाँ लाकर रख लेने से काम नहीं चल सकता । आजकल हमारे देश के अनेक वैद्य नामधारियों में इस बात की कमी है कि वे शरीर के भीतरी अंगों का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते और केवल दवाओं के गुणों के आधार पर ही चिकित्सा किया करते हैं । ऐसे व्यक्तियों द्वारा दी गई ओषधियाँ संयोगवश कभी लाभ पहुँचा देती हैं और कभी हानिकर सिद्ध हो जाती हैं । अगर वे रोगी की भीतरी अवस्था की जाँच करके इलाज करें तो उनको बहुत अधिक सफलता मिल सकती है । शरीर-विज्ञान में हृदय

के कार्य और रक्त संचार, फेंफड़ों की बनावट और प्राण वायु के कार्य, पाचन-संस्थान और आमाशय, मलाशय आदि के कार्य, मलनिष्कासक अंग जैसे गुदा, मूत्राशय, त्वचा आदि का कार्य, प्रजनन अंग और उनके कार्य आदि की जानकारी होने से उचित ओषधि देने में विशेष सुविधा रहती है ।

दूसरा विषय रोगी परिचर्या का रखा गया है क्योंकि ओषधि उचित होने पर भी यदि रोगी के पथ्य स्वच्छता, उठाने-बैठाने, सर्दी-गर्मी का पूरा ध्यान न रखा जाय तो उसे लाभ होने के बजाय हानि पहुँच सकती है ।

इन बातों के साथ ही जड़ी-बूटियों की साधारण पहिचान और उनके द्वारा अधिक काम में आने वाली सामान्य ओषधियाँ स्वयं तैयार कर लेना भी एक चिकित्सक के लिये आवश्यक है । डाक्टरी ओषधियाँ आजकल अधिकांश में तैयार मिलने लगी हैं और एलोपैथिक डाक्टर विभिन्न दवाओं के मिश्रण स्वयं बनाने के बजाय बाजार में तैयार मिलने वाली पेटेण्ट औषधियों से ही ज्यादा काम लेने लगे हैं । पर यह तरीका ज्यादा खर्च का है, जो इस देश की बहुसंख्यक गरीब जनता के अनुकूल नहीं । इसलिये यदि अपने निवास स्थान के आस-पास बिना मूल्य मिलने वाली जड़ी-बूटियों और बाजार में बिकने वाली साधारण मूल्य की दवाओं से काम लिया जा सके तो वह इस देश की आर्थिक स्थिति और प्राकृतिक वातावरण के अधिक अनुकूल सिद्ध होगा ।

दूसरे वर्ष में धात्री-विद्या की विशेष शिक्षा दी जायगी जिसमें गर्भ-धारण करने का सामान्य ज्ञान, गर्भावस्था में उत्पन्न होने वाले रोगों और कठिनाइयो का प्रतिकार, शिशु-जन्म के समय काम आने वाले आधुनिक उपकरणों और यन्त्रों का परिचय और उपयोग, प्रसव के पश्चात् होने वाला रक्तस्राव और उसकी चिकित्सा, समय से पहले उत्पन्न होने वाले बच्चों की देखभाल आदि का समावेश होगा ।

धात्री-शिक्षा में गर्भिणी की परिचर्या का भी बड़ा महत्व है । हमारे यहाँ इस विषय में बड़ा अज्ञान देखने में आता है । बच्चा पैदा होते समय स्त्रियों को प्रायःजैसी प्रकाश और वायु विहीन कोठरियों में रखा जाता है, उससे न मालूम कितनी जच्चा और नवजात शिशु अकाल में ही कालकवलित हो जाते है । इसलिये प्रत्येक महिला-चिकित्सा को गर्भ के समय के उपद्रवों और प्रसव के पश्चात् की निर्बलता और विभिन्न रोगों की चिकित्सा का ज्ञान होना आवश्यक है ।

शिल्प और उद्योग शिक्षा

स्वामी केशवानन्द जी जन्म से ही स्वावलम्बी रहे हैं और इसी गुण के भरोसे वे आधुनिक शिक्षा की दृष्टि से नाममात्र के शिक्षित होने पर भी सार्वजनिक क्षेत्र मे नये-नये चमत्कार दिखा सके हैं । अपनी शिक्षा-संस्था में उन्होंने जहाँ पढ़ाई की व्यवस्था की है, वहाँ शिल्प और उद्योग की शिक्षा की तरफ भी पूरा ध्यान दिया है । सन् १९४४ से ही विद्यापीठ में सिलाई, रँगाई, बढ़ईगीरी, लुहार का काम और कताई-बुनाई की शिक्षा दी जाने लगी है । इन क्लासों मे स्कूल के बाहर के लड़कों को भी शिक्षा दी जाती है और जो विद्यार्थी गरीब होते हैं उनको छात्रवृत्तियाँ देने की व्यवस्था की गई है । संस्था के कोश और बाहर के दानियों- दोनों से ऐसे विद्यार्थियों की पूरी सहायता की जाती है । भारत सरकार का पुनर्वास-विभाग भी कुछ छात्रवृतियाँ यहाँ पढ़ने वाले शरणार्थी छात्रों को देता है ।

आरम्भिक चार वर्षों में ही इस संस्था में ५९८ विद्यार्थियों ने बढ़ईगीरी, ३७६ ने बुनाई, ३६७ ने सिलाई, १५६ ने लुहारगीरी, ५६ ने वैद्यक और २०७ ने अन्य दस्तकारियों की शिक्षा प्राप्त की । बाहर के जिन विद्यार्थियों ने इसमें प्रशिक्षण प्राप्त किया उनकी संख्या अलग है । अंगहीन (लूले-लंगड़े) व्यक्तियों को विशेष सहायता देकर स्वावलम्बी बनाया गया, जिससे वे अपने निर्वाह लायक कोई काम कर सकें । इनके अतिरिक्त कितने ही विद्यार्थियों को टाइप राइटिंग, शार्टहैण्ड, फोटोग्राफी की शिक्षा भी दी गई । अब इन उद्योग विभागों को स्थापित हुए लगभग २२ वर्ष हो चुके है । इस बीच में इनकी काफी वृद्धि हुई है और दस-बीस हजार व्यक्ति इसमें सीख कर तरह-तरह के व्यवसायों में संलग्न है ।

कृषि-महाविद्यालय की स्थापना

जिस प्रदेश में यह संस्था कार्य कर रही है ।वहाँ छोटे गाँवों और खेती बारी की ही अधिकता है । बड़ा शहर तो काफी दूरी पर बीकानेर को छोड़कर कोई भी नहीं है । इसलिये इसके संचालकों के सामने प्रायः यह विचार आया करता है कि हाईस्कूल और हायर सैकण्डरी स्कूल तो अब जगह-जगह खुलने लग गये है, पर इस प्रदेश की मुख्य जीविका कृषि का आधुनिक ज्ञान कराने वाला कोई विद्यालय नहीं है । इसलिये वे लोग इसे एक 'कृषि विश्वविद्यालय' के रूप मे परिवर्तित करने की योजना बना रहे हैं । इस संस्था के पास इस समय काफी इमारते, छात्रावास, बहुत अच्छा पुस्तकालय और संग्रहालय आदि सब साधन मौजूद हैं । दो-तीन हजार बीघा जमीन भी इसे मिल चुकी है । भाखड़ा की नहर इसके पास होकर निकली है । इसलिये इसको 'कृषि महाविद्यालय' का रूप देना कुछ भी कठिन नहीं है । जब ग्रामीण युवक इसमें से कृषि-विज्ञान की शिक्षा

प्राप्त करके निकलेंगे तो वे अपनी भूमि और कृषि की उन्नति करके उस प्रदेश के जन-जीवन की कायापलट कर सकेंगे इसमें सन्देह नहीं ।

छोटे गाँवों में शिक्षा-प्रचार

यद्यपि संगरिया विद्यापीठ एक मामूली कस्बे में स्थापित किया गया है और उसके आस-पास ग्रामीण क्षेत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो भी यहाँ के गाँवों में अधिक संख्या अब भी ऐसे गरीब लोगों की है जो अपने लड़कों को दस-पाँच मील के फासले पर पढ़ने के लिये भेजने का भी खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकते । इसलिये जब स्वामीजी प्रचारार्थ इस 'बागड़' इलाके के दूरवर्ती गाँवो में जाते थे तो गरीब लोग उनसे प्रार्थना करते थे– "स्वामीजी ! संगरिया जाकर तो धनी लोगों के लड़के ही पढ़ सकते हैं, कुछ हम गरीब लोगों के बालकों की शिक्षा के लिये भी प्रयत्न करो ।" स्वामीजी स्वयं ऐसे ही एक छोटे गाँव के रहने वाले हैं और बचपन में उनको ऐसी ही निर्धन-परिस्थितियों में पलना पड़ा है । इसलिये वे इन लोगों की वास्तविक दशा को खूब अनुभव करते हैं । इन लोगों के हार्दिक उद्‌गारों से उनका हृदय पसीज उठा । उन्होंने इस विषय पर विचार किया और 'मरुभूमि में सेवाकार्य' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखकर प्रकाशित की जिसमें इन गरीबों की असहाय अवस्था का हृदयद्रावक वर्णन किया गया था और उनकी सहायता के लिये कुछ सुझाव भी दिये गये थे ।

सन् १९४४ में विद्यापीठ के वार्षिकोत्सव पर इन गाँवों में शिक्षा-प्रचार के लिये स्वामीजी ने एक "त्रैवार्षिक शिक्षा-योजना" उपस्थित की, जो लोगों को पसन्द आई और उसी समय चन्दा इकट्ठा करने का कार्यारम्भ हो गया । इसके पश्चात् वे कलकत्ता गये, वहाँ कुछ मारवाड़ी व्यवसायियों से मिलकर नमूने के तौर पर दस ग्रामीण पाठशालाएँ खोलने का निश्चय कर लिया । इनका व्यय सूरजमल नागरमल ट्रस्ट ने देने का निश्चय किया । इन दस पाठशालाओं ने जो काम करके दिखाया उससे सब लोग बहुत उत्साहित हुए और आगे सौ पाठशालाये खोलने की योजना बनाई गई । इस कार्यक्रम की पूर्ति के लिये स्वामी जी कुछ प्रमुख कार्यकर्ताओं को लेकर फिर कलकत्ता जा पहुँचे और प्रवासी मारवाड़ियों की एक सभा बुलाई गई । उसमें इस अवसर पर ५५ पाठशालाओं के खोले जाने का निश्चय हो गया और प्रत्येक पाठशाला के लिये डेढ़ हजार रुपये का वार्षिक बजट मंजूर कर लिया गया ।

अब इन पाठशालाओं की संख्या सौ से ऊपर पहुँच चुकी है । इनमें से अधिकांश की व्यवस्था राजस्थान सरकार के शिक्षा-विभाग ने नियमानुसार ग्रहण कर ली है । जो शेष बची है और जो नई खोली जा रही हैं उनकी व्यवस्था "ग्रामोत्थान विद्यापीठ" स्वयं कर रही है । अब ग्रामीण जनता भी शिक्षा के महत्त्व को अनुभव करने लग गई है और इस कार्य मे उससे काफी सहयोग मिल जाता है ।

प्रेरणा के स्रोत केशवानन्दजी

सफल सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के दो मुख्य गुण होते हैं– कर्मठता और ईमानदारी । स्वामी केशवानन्दजी का जीवन आरम्भ से ही कठिनाइयों और अभावों का रहा, जिससे उनको परिश्रम और सहिष्णुता का पर्याप्त अभ्यास हो गया । इस श्रेणी के अभावग्रस्त लोगों का, लाभजनक अवसर प्राप्त होने पर, ईमानदारी पर पूरी तरह कायम रहना कठिन तो होता है, पर स्वामीजी को इसमें भी अधिक परेशानी नहीं हुई, उन्होंने जो साधु-संन्यासी का बाना ग्रहण किया था वह दिखावटी नहीं था । यद्यपि हम पुराने ढंग के परोपजीवी साधुओं को पसन्द नहीं करते और आजकल के सभी बुद्धिवादी लोगों का ऐसा ही मत है, पर सार्वजनिक सेवा की दृष्टि से देखा जाय तो एक सच्चा साधु निस्सन्देह इस क्षेत्र में अद्‌भुत कार्य कर सकता है । जिसको अपना कोई स्वार्थ न हो और जो दो रोटी के सिवाय किसी प्रकार के धन-वैभव की अभिलाषा न रखता हो, जिसको अपने बड़प्पन अथवा बहुत अधिक सम्मान की भी कुछ परवाह न हो, ऐसा व्यक्ति ही कोई ठोस काम कर सकने में सफल हो सकता है । स्वामीजी में ये सब गुण थे, इसी से सैकड़ों लोगो को उनसे प्रेरणा मिली और वे भी सार्वजनिक हित के कार्यों, विशेषतया शिक्षा-प्रचार और ज्ञान के प्रसार मे सहयोग देने को अग्रसर हुए । स्वामीजी की प्रेरणा और सहयोग से आस-पास के स्थानों में जो पुस्तकालय, छात्रावास, स्कूल आदि स्थापित किये गये उनका विवरण भी सेवा मार्ग पर चलने वालों के लिये उपदेशप्रद है ।

(१) युवक-समिति, सिरसा– इस संस्था की स्थापना स्वामीजी द्वारा स्थापित अबोहर के साहित्य-सदन से प्रेरणा लेकर की गई । आरम्भ में इसमें सात सदस्य और १२५ पुस्तकें थीं । बीच-बीच में स्वामीजी कुछ पुस्तकें देकर इसे अग्रसर करने की प्रेरणा करते रहे । इसने राष्ट्र-भाषा के प्रचार के लिये कई बार हिन्दी पुस्तक प्रदर्शिनी का आयोजन किया । अपने वार्षिकोत्सव पर अनेक महापुरुषों को निमन्त्रित किया और वैसे भी किसी अवसर पर नगर में आने वाले नेताओं को बुलाकर पुस्तकालय का निरीक्षण कराया । इस प्रकार माननीय मालवीयजी, सरदार पटेल, श्रीमती सरोजिनी नायडू जैसे महान् नेताओं का पदार्पण भी

इसमें हो सका । अब इसमें पुस्तकों की संख्या ५ हजार से ऊपर है और सदस्य संख्या ३०० से अधिक पहुँच गई है ।

(२) **हिन्दी साहित्य-सदन, मण्डी डबवाली**– यह स्थान संगरिया के समीप ही है । यहाँ स्वामीजी की प्रेरणा से सन् १९३२ में एक छोटा-सा पुस्तकालय स्थापित किया गया । मण्डी के कुछ उत्साही व्यक्तियों ने दूसरे ही वर्ष इसके लिये एक बड़ा कमरा बना दिया जिससे इसकी प्रगति संतोषजनक रूप से होने लग गई । अब इसमें तीन कमरे बन गये हैं और पुस्तकें भी तीन हजार के लगभग हो गई हैं जिनसे स्थानीय जनता में साहित्य का प्रचार होता रहता है ।

(३) **ग्राम छात्रावास, भादरा**– इस कस्बे में एक मिडिल स्कूल था, पर छात्रावास के अभाव से दूर के गाँवों के लड़के उससे लाभ नहीं उठा सकते थे । यह बात एक स्थानीय सज्जन चौ० बीरबलराम जी को खटकी । उन्होंने कुछ सज्जनों से सहायता लेकर कुछ कमरे बनवाये और उनमें छात्रावास कायम कर दिया । इसमें गरीब छात्रों को हर तरह से सहायता भी दी जाती थी, पर इस रेगिस्तानी इलाके में प्रायः अकाल पड़ते रहते थे जिससे संस्था की हालत डाँवाडोल हो जाती थी । ऐसे अवसरों पर स्वामी केशवानन्द जी अन्य स्थानों से सहायता प्राप्त करके इसको स्थिर रखने में पूरा सहयोग देते रहे । परिणाम यह हुआ कि संस्था की निरन्तर प्रगति होती रही और इस समय लगभग सौ छात्र इसमें रहकर विद्याध्ययन कर रहे हैं ।

(४) **विद्यार्थी-भवन, रतनगढ़**– बीकानेर मे रतनगढ़ एक प्रसिद्ध कस्बा है । अब से तीस-चालीस वर्ष पहले वहाँ के गाँवों में एक भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता था और जब कभी किसी ग्रामीण के यहाँ कोई चिट्ठी भी आ जाती थी तो उसे पढ़वाने के लिये कई मील चलकर किसी कस्बे में जाना पड़ता था । यह दशा देख श्री रूपराम नामक सज्जन के हृदय में शिक्षा प्रचार की लगन उठी और उन्होंने नौकरी छोड़कर रतनगढ़ मे एक शिक्षा संस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिसमें आश्रय पाकर ग्रामीण विद्यार्थी स्थानीय स्कूलों में पढ़ सकें । इस प्रकार इस संस्था की नींव तो पड़ गई, पर काम अच्छी तरह जम नहीं सका । तब संचालकों ने स्वामी केशवानन्द जी से सहयोग की प्रार्थना की और उनके उद्योग से शीघ्र ही कई सौ रुपया कार्य को सुचारु रूप से संचालन करने के लिये मिल गया । कुछ समय पश्चात् स्वामीजी ने ही इस विद्यार्थी-भवन के लिये एक स्वतन्त्र इमारत का शिलान्यास किया । अब इसमें छात्रावास के अतिरिक्त एक पुस्तकालय, शिक्षक-आश्रम, व्यायामशाला और पशु गृह की इमारतें भी बन गई हैं जिनके निर्माण में विद्यार्थियों ने भी श्रमदान किया है । इस संस्था के उदाहरण को देखकर और भी संस्थायें काम करने लगी हैं और अब वहाँ के गाँवों को सर्वथा अशिक्षित नहीं कहा जा सकता ।

(५) **विद्यार्थी-आश्रम राजगढ़**– इसकी स्थापना स्वामीजी की प्रेरणा से चौ० जीवनराम आर्योपदेशक ने की थी । फिर स्वामीजी ने इसके संचालन के लिये एक और सज्जन श्री अमीचन्द जी को तैयार किया, जिन्होंने आगे चलकर इसके लिये अपना जीवन ही अर्पण कर दिया । स्वामीजी बराबर सहयोग देते रहे । जब इसके लिये इमारत बनाने की योजना तैयार हो गई तो राज्य कर्मचारियों ने उसके लिये जमीन दिये जाने में कई प्रकार की बाधायें पैदा कर दीं । इससे छात्रावास के बन्द होने की स्थिति जान पड़ने लगी । तब अमीचन्दजी ने बिना सरकारी मंजूरी के ही विद्यार्थी भवन का मकान बनवा दिया । सरकारी अधिकारियों ने उन पर मुकदमा चला दिया जिसमें उनको तीन वर्ष तक परेशान होना पड़ा, पर छात्रावास चल निकला । अब इसमें कई नये कमरे और जलाशय आदि बन गये हैं और इसका कार्यक्षेत्र बराबर बढ़ रहा है ।

(६) **किसान-छात्रावास, बीकानेर**– बीकानेर एक बड़ा शहर है, जहाँ अनेक शिक्षा-संस्थायें काम कर रही हैं । पर ठहरने की समस्या के कारण गाँवों के गरीब लड़के उनका लाभ बहुत कम उठा सकते थे ।

(७) **शिक्षा-सदन, खींवी वाला**– स्वामी केशवानन्द जी के एक सहकारी श्री नित्यानन्दजी को किसी गाँव में रहकर शिक्षा प्रचार करने का उत्साह उत्पन्न हुआ और वे उपर्युक्त स्थान तलाश करने को निकल पड़े । खींवी वाला का वातावरण उनको आकर्षक लगा और वे एक खेत में थोड़ी-सी जमीन साफ करके बैठ गये । गाँव में जाकर रोटी माँग लाते और पानी का एक घड़ा पास के किसी खेत वाले से माँग लिया । इसी प्रकार आठ-नौ दिन बीत गये पर कोई विद्यार्थी नहीं आया । वे अपने प्रयत्न में लगे रहे और खेती का काम कम होने पर कुछ बालक आने लगे । इन सबने स्वयं ही सरकण्डे काटकर और रस्सियाँ बटकर एक इतना बड़ा छप्पर तैयार कर लिया जिसमें बैठकर साठ-सत्तर विद्यार्थी पढ़ सकें । इसके पश्चात् नित्यानन्द जी स्वामी केशवानन्द जी की प्रेरणा से आस-पास के गाँवों का सहयोग प्राप्त करके इस कार्य को बढ़ाते रहे । इस संस्था में एक छात्रावास खोला गया है जिसके विद्यार्थी थोड़ी-सी जमीन में खेती करके अपने खर्च लायक अनाज और साग-तरकारी

पैदा कर लेते हैं और उससे ही अपना निर्वाह अच्छी तरह कर लेते हैं । उन्होंने गौ-पालन का कार्य भी आरम्भ कर दिया है जिससे उनकी घी, दूध, दही आदि की आवश्यकता पूरी हो जाती है ।

इस प्रकार स्वामी केशवानन्द जी उस पिछड़े हुए प्रदेश के लिये प्रेरणा के एक अक्षय स्रोत बन गये हैं और अब ऐसी स्थिति आ गई है कि उनके प्रोत्साहन और थोड़ी सहायता से ही नई-नई संस्थायें खुलती जाती हैं जिनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँच गई है । ऐसी दशा में यदि वहाँ के निवासी उनको देवता की तरह मानें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

सादगी और मितव्ययिता

ये दोनों गुण स्वामी जी में स्वाभाविक है और उनकी सफलताओं का बहुत कुछ श्रेय इनको ही है । जब लोग उनको सार्वजनिक सेवा कार्यों में इतना अधिक परिश्रम और त्याग करते देखते हैं तो वे बिना कहे ही उनसे प्रभावित हो जाते हैं और तन, मन, धन से, जैसा जिसके लिये सम्भव होता है, सहायता करने को तैयार हो जाते हैं । इतनी बड़ी-बड़ी संस्थाओं का कार्य करते हुए और उनमें लाखों रुपया खर्च करते हुए भी स्वामी जी स्वयं अपना खर्च कैसी मितव्ययिता से चलाते हैं ? यह उन अधिकांश कार्यकर्ताओं के लिये दृष्टान्त स्वरूप है, जो सार्वजनिक धन को खर्च करते समय लापरवाही से काम लेते हैं और समझते हैं कि, इसमें क्या नुकसान होता है ? स्वामीजी की किफायतशारी कभी तो इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे लोग एक त्रुटि समझने लगते हैं । इसका नमूना उनके एक सहकारी ने इस प्रकार दिया है--

"एक बार उनकी बीमारी के बाद मैं उनके दर्शनार्थ संगरिया गया हुआ था तो क्या देखता हूँ कि उनके कमरे के एक कोने मे कुछ कच्चे-पक्के बेर रखे हैं । मैंने पूछा-- 'स्वामी जी आप बेरों का क्या करते हैं ?' उत्तर मिला-- थोड़े खा लेता हूँ, यह इस इलाके का मौसमी फल है और कोई दूसरा फल आजकल है भी नहीं-- और फिर रोज किससे लाने को कहा जाय ? स्वामी जी का उत्तर सुनकर हैरानी हुई कि पेट की बीमारी का अस्पताल में इलाज करवाने के बाद वे कितनी लापरवाही कर रहे हैं । अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में और वह भी बीमारी की हालत में ऐसा संकोच किस काम का ? जब मैं वहाँ से लौटकर अबोहर आया और एक मित्र से इस घटना का जिक्र किया तो उन्होंने सौ रुपये देकर कहा कि इसे पथ्य और फल आदि के लिये स्वामी जी को भेंट कर आओ । जब मैंने वह रुपया देकर अपने मित्र का सन्देश सुनाया तो कहने लगे-- "इसकी क्या आवश्यकता थी, मुझे तो जल्दी ही बाहर जाना है, वहाँ फल कहाँ मिलेंगे ?". मैं तो चला आया-- पर जहाँ तक मैं जानता हूँ उस रुपये का उपयोग उन्होंने अपने स्वास्थ्य के बजाय किसी दीन-हीन छात्र या कष्टपीड़ित व्यक्ति की सहायतार्थ कर दिया होगा ।

"अभी हाल की बात है वे राज्य-सभा के सदस्य के रूप में दिल्ली में ही थे, एक दिन मैंने देखा कि हाथ पर दो-तीन रूखी रोटियाँ रखे हुए दाल से खा रहे हैं । दाल में खूब मिर्च पड़ी थी और रोटियाँ ठंडी होने के कारण सूख गई थीं और वे जल्दी-जल्दी उनको गले के नीचे उतार रहे थे । जब मैंने इसका कारण पूछा तो कहने लगे-- "मुझे कई जगह जाना है और शाम को गाड़ी पकड़नी है । यहीं तन्दूर वाले से इस लड़के के हाथ दो रोटी मँगवाली हैं ।" इस पर मैंने कहा-- इस आयु मे आपको इस तरह भोजन नहीं करना चाहिये और कुछ नहीं तो कम से कम कुछ मक्खन, दही, फल तो भोजन के साथ लिये जा सकते थे। वे बोले-- "घी तो यहाँ इन लड़कों का है ? और तन्दूर वाले के पास जब मैं जाता हूँ तो वह रोटी चुपड़ देते हैं पर मुझसे उसके पैसे नहीं लेते ।" मैंने कहा कि ऐसे अवसर पर आप चतुर्वेदी जी (श्री बनारसी दास जी) के यहाँ भोजन कर लिया करें । वे इसके लिये कई बार कह भी चुके हैं।" उन्होंने उत्तर दिया-- यह तो ठीक है, पर मुझे कई जगह आना-जाना होता है और वहाँ पर आने-जाने में समय ज्यादा खर्च हो जाता है ।"

स्वामी केशवानन्द ने संगरिया और आस-पास के इलाके में विद्यापीठ और बहुसंख्यक शिक्षा-संस्था स्थापित करके उसकी कायापलट कर देने का जो चमत्कार दिखाया है, उसका वर्णन करते हुए उसी प्रदेश के एक निवासी चौधरी शिवदत्तसिंह ने स्वानुभव के रूप में लिखा है--

"उस दिन (२६-३-२७) को मध्याह्नकाल के समय सब विद्यार्थी संगरिया के स्कूल के कच्चे बरामदे में बैठकर बालसभा का आयोजन कर रहे थे । मैं तथा प्रधानाध्यापक श्री ज्ञानीराम जी भी इस बाल-सभा की कार्यवाही में लगे हुए थे । उसी समय एकाएक एक अनजान साधु महोदय का सभा-स्थल में आगमन हुआ वे चुपचाप बाल-सभा की प्रत्येक कार्यवाही को देखते रहे । उस समय इस 'विभूति' की सूरत से त्याग, सादगी, उच्च-विचार तथा विद्या-प्रेम की एक अनूठी आभा झलक रही थी । मैंने आपसे निवेदन किया कि बालकों को कुछ उपदेश दीजिये । स्वामीजी ने प्रार्थना स्वीकार करके विद्याध्ययन पर ऐसा उपदेश दिया कि जिससे समस्त विद्यार्थी और प्रधानाध्यापक महोदय बहुत

ही प्रभावित हुए । इस पर हम सबने आपसे यहीं विराजने का आग्रह किया । आपने इसे भी स्वीकार किया और तब से विद्यालय की उन्नति के लिये अथक-परिश्रम कर रहे हैं । उसके फलस्वरूप यह संस्था उन्नति की ओर निरन्तर अग्रसर होती जा रही है और उन साधु महोदय (स्वामी केशवानन्द) को जो एक दिन संगरिया वालों के लिये अजनबी थे आज इस प्रान्त का बच्चा-बच्चा जानता है ।

"स्वामी जी का ध्यान पहले विद्यालय भवन की तरफ गया और इस कार्य के लिये वे दिन-रात बाहर भ्रमण करने लगे । सचमुच स्वामी जी में कर्म करने की एक अद्भुत शक्ति है जिसके द्वारा उन्होंने थोड़े ही समय में अच्छी मात्रा मे अर्थ-संग्रह करके, उन कच्चे कोठों की जगह एक विशाल, सुरम्य पक्का विद्यालय-भवन बना दिया । नीम के वे दस बारह वृक्ष, जिन्हें कभी हम लोगों ने बड़े परिश्रम से लगाया था और जिनके पास पहले रेतीले मैदान के सिवाय और कुछ न था आज एक सुन्दर वाटिका के रूप में अपनी बगल में कई जलकुण्ड लिए लहरा रहे है । इनके पास खड़े अन्य पचासों वृक्ष-समूह भी स्वामीजी का यशोगान करते दिखलाई दे रहे हैं ।

"यह संगरिया वही स्थान है जहाँ पर अ, आ, इ, ई, की पोथी का मिलना भी दुर्लभ था, परन्तु आज स्वामीजी के त्याग ने सर्व साधारण के लिये महत्वपूर्ण ग्रन्थों का उपलब्ध होना भी सहज बना डाला है । स्वामीजी ने विद्यालय में एक ऐसे पुस्तकालय को जन्म दिया है जिसमें अनेक भाषाओं, विचारों तथा धर्मो की पुस्तके संग्रहीत है ।

"पहले हमारे समय में इस स्थान पर छूआछूत का महाभयंकर रोग पाया जाता था । उसका यहाँ होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह प्रान्त विद्या के नाते पिछड़ा ही रहा है और इसी अविद्या के कारण छूआछूत की महामारी का बोलबाला था । एकबार तो अछूतो को पढ़ाने के कारण मण्डी वाले हमारे ऐसे विरोधी बन गये कि उन्होंने हमको पीने के लिये पानी देने से इन्कार कर दिया था । पर स्वामीजी के पधारने से वह छूआछूत रफूचक्कर हो गई और आपने संगरिया विद्यालय का द्वार प्रत्येक वर्ग और जाति के लिये खोल दिया । श्री धर्मपाल हरिजन इसी विद्यालय के एक विद्यार्थी हैं, जिन्होंने बड़ी कठिनाइयों का सामना करके विद्या ग्रहण की और आज वे हमारे प्रान्त में एम० एल० ए० के पद पर सुशोभित हैं ।

"एक समय की बात है कि स्वामी जी विद्यापीठ के लिये ५० हजार का चन्दा करने को बाहर निकले । मेरे एक मित्र ने हँसी में मुझसे कह दिया कि यदि वे मेरे पास आये तो एक पैसा भी न दूँगा । पर जब स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो झट से ३००) रु० चन्दा दे दिया । मैंने मिलने पर उनसे कहा– आप तो कहते थे कि एक पैसा भी न दूँगा, अब ३००) रु० कैसे निकाल दिया ? तब मित्र ने कहा– क्या करूँ, वास्तव में स्वामीजी का व्यक्तित्व अनोखा ही है । ऐसे त्यागी पुरुष को मैं खाली हाथ कैसे लौटा सकता था ?"

स्वामीजी अपनी संस्था को अपने शरीर से ज्यादा चाहते हैं । एक बार आपको पहाड़ी प्रदेश में स्वास्थ्य-सुधार के लिये भेजा गया था और चलते समय आपके शिष्यों ने खर्च के लिये ५००) रु० भेंट किये । स्वामीजी ने इस रकम को भी अपने लिये खर्च नहीं किया और वहाँ पर अपना काम बड़ी तंगी से चलाकर उस रुपये से विद्यापीठ के संग्रहालय (म्यूजियम) के लिये कई अनूठी वस्तुएँ खरीद लाये । जब शिष्यों ने आपसे इस सम्बन्ध में कहा तो यही उत्तर मिला– भाई ! मेरे पास अपने लिये जो वस्तु है वह भी मैं इसी संस्था के निमित्त समझता हूँ ।

यद्यपि स्वामी जी ऐसी ही सादगी और कम खर्च का जीवन बिताकर गरीब गाँव वालों के साथ रहकर उनकी सेवा कर रहे हैं, पर आयु के तकाजे का ध्यान रखना भी उचित है । स्वामी जी ने कई सहस्र विद्यार्थी और लाखों ग्राम निवासियों के हित का भार उठा रखा है, इसलिये इस अस्सी वर्ष की आयु में उनको अपने स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना ही चाहिये । उनके सभी साथी और उनकी योजनाओं से लाभ उठाने वाले छात्रवृन्द सदैव यही मनाते रहते है कि स्वामी जी अभी अनेक वर्षों तक जीवित रहकर लोक-सेवा के सर्वोच्च धर्म का पालन करते रहें ।

स्वामी केशवानन्द के चरित्र की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने जो कुछ किया है, वह बहुत ही थोड़े साधनो और विपरीत परिस्थितियों मे रहकर किया है । इसलिये उनके कार्य हर एक साधारण स्थिति के व्यक्ति के लिये भी अनुकरणीय और उदाहरणस्वरूप हो सकते हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि जो कोई व्यक्ति लगनपूर्वक किसी सेवा-कार्य में लग जाय तो वह बहुत बड़े कार्यों को पूरा करके दिखा सकता है । स्वामी जी की इन्हीं विशेषताओं को देखकर राष्ट्र-भाषा सुप्रसिद्ध विद्वान श्री सन्तराम जी बी. ए. ने उनका परिचय देते हुए लिखा है–

"यदि परोपकारमय जीवन का नाम साधुता है तो स्वामी केशवानन्द जी सच्चे साधु हैं । यदि कर्मण्यता का नाम साधुता है तो स्वामी केशवानंद जी सच्चे साधु हैं । यदि शिक्षा द्वारा अविद्या-अन्धकार को दूर करने का नाम साधुता

है तो स्वामी केशवानन्द जी सच्चे साधु हैं । यदि तप और त्याग का नाम साधुता है तो स्वामी केशवानन्द जी सच्चे साधु हैं । हजारों-लाखों गेरुआ कपड़े पहने 'ब्रह्मसत्यम् जगत् मिथ्यम् !' का उपदेश देते हुए आलस्य और अकर्मण्यता में जीवन बिताने वाले 'भुवि भारभूत' साधु नामधारी लोगों के लिये स्वामी केशवानन्द जी जैसे सच्चे साधु ज्योति-स्तम्भ के समान हैं । ऐसी विभूतियों के वास्तविक महत्त्व का ठीक-ठीक मूल्यांकन समकालीन लोग प्रायः नहीं कर पाते । आने वाली पीढ़ियाँ ही उनकी गौरव गरिमा का वास्तविक अनुमान कर सकेंगी ।

संन्यास को सार्थक बनाने वाले स्वामी सहजानन्द

एक समय था जब हमारे देश में संन्यास-आश्रम का बड़ा महत्त्व था । भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति और समाज की चिरन्तन प्रगति और विकास की दृष्टि से मनुष्य जीवन के कार्य-काल को चार भागों (आश्रमों)—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजित कर दिया था । इस व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य को एक ऐसा नियमित और विधिवत् प्रशिक्षण देना था, जिससे उसकी समस्त शक्तियों का समुचित विकास हो सके और वह समाज की सेवा तथा उन्नति में भाग ले सकने की वास्तविक योग्यता समाप्त कर सके । जब कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था तो वह अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्यों को कहीं अधिक अच्छे रूप में कर सकने में समर्थ होता था । तब तक उसका कार्य क्षेत्र समीपस्थ व्यक्तियों तक ही सीमित रहता था ।

गृहस्थ आश्रम की अवधि पूरी हो जाने पर वह बहत्तर समाज की सेवा करने के लिये वानप्रस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होता था और त्याग तथा तपस्या का जीवन अपनाकर अपने को चौथे आश्रम (संन्यास) के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न करता था । जिस प्रकार गृहस्थ की शिक्षण-शाला ब्रह्मचर्य-आश्रम था, उसी प्रकार संयास की योग्यता और कर्तव्य पालन करने का शिक्षालय वानप्रस्थ था ।

उस समाज व्यवस्था मे संन्यासी वास्तव में समाज का निरीक्षक–संचालक था । आज समाज में छोटे-बड़े सब श्रेणियों के व्यक्ति स्वार्थपरता की दृष्टि से घोर भ्रष्टाचार कर रहे हैं, पर कोई उनको टोकने वाला, उनकी गति विधियों के विरोध में किसी प्रकार का प्रभावशाली कदम उठाने वाला सामने नहीं आता । कारण यही है कि इस प्रकार का दूषित आचरण करने वाले व्यक्तियों की संख्या दस-पाँच नहीं है वरन् १०० में से ९८ मनुष्य इसी ढर्रे पर चल रहे हैं । जब समाज के सभी सदस्य जीवन के अन्तिम समय तक इसी स्वार्थपरता की नीति पर चलते रहते हैं तो वे दूसरो को किस मुँह से दोषी बतला सकते हैं अथवा समाज विरोधी कार्यों से विरत होने का आदेश दे सकते हैं ?

पर प्राचीन समय में संन्यास आश्रम एक ऐसी संस्थाएँ थीं जो समाज के निरीक्षण और नियन्त्रण का कार्य अच्छी तरह कर सकती थी । ये पूर्ण रूप से संसार त्यागी होते थे, परिवार से सर्वथा नाता तोड़ लेते थे और प्राणीमात्र को आत्मीयता मानकर अपनी शक्तियों को सार्वजनिक कल्याण के लिये अर्पित कर देते थे । वे सर्वत्यागी होते थे, अपने भोजन, वस्त्र, निवास सम्बन्धी आवश्यकताओं को न्यूनतम स्तर तक घटा देते थे, इसलिए किसी तरह का लोभ, लालच, दबाव, भय उनको कभी प्रभावित नहीं कर सकता था । ये समाज के अनाचारी, दुराचारी व्यक्तियों की तुरन्त भर्त्सना करते थे, उनके लिये सामाजिक दण्ड का आदेश देते थे और आवश्यकता होने पर स्वयं भी उनको कभी दण्ड प्रदान करते थे । सम्भवतः दण्डी सन्यासियों का सदैव दण्ड ग्रहण करना उस व्यवस्था का प्रतीक हो, जो आज एक रूढ़िमात्र रह गया है । उस समय संन्यासी की स्थिति समाज में सर्वोपरि थी, वे समाज के नेता और विधायक थे और स्वयं त्याग और समाज कल्याण का उच्चतम आदर्श उपस्थिति करके समाज को भी जनहित कार्यों के लिए प्रेरित करते रहते थे ।

पर जैसे-जैसे समय बीतता गया अनेक बाह्य और अन्तरंग प्रभावों के कारण अन्य संस्थाओं की तरह 'संन्यास' मे भी विकृतियाँ प्रविष्ट होने लगीं और अन्त में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि 'संन्यासी' का अर्थ केवल भिक्षुक ही रह गया । आज देश हितैषी विचारों के व्यक्ति जो 'साधु-संन्यासियों' के ऊपर आक्षेप करते हैं और उनको अन्न खराब करने वाले बतलाते है, उसका कारण यही है कि उन्होंने लोकोपकार की प्रवृत्तियाँ छोड़ दी हैं और अपना समस्त समय 'पेट की चिन्ता' में ही लगाते रहते हैं । जो [illegible] जन-कल्याण की दृष्टि से इनका कोई महत्त्व नहीं समझा जा सकता है ।

ऐसी परिस्थितियों में स्वामी सहजानन्द (जन्म सन् १८८९) ने काशी के मठों में सुविधापूर्वक रहने के जीवन-क्रम को त्याग कर देश के स्वतन्त्रता संग्राम और विशेषतः

जमींदारों के अत्याचारों से पीड़ित किसानो के उद्धारार्थ आरम्भ किये गये आन्दोलनों में आगे बढ़कर भाग लिया यह एक संन्यासी की दृष्टि से विशेष महत्व की बात थी । वे गाजीपुर (उ० प्र०) के एक गाँव के निवासी ब्राह्मण थे और बाल्यावस्था में हाईस्कूल में नौवें दर्जे तक शिक्षा प्राप्त करके १८ वर्ष की आयु में संन्यासी बन गये थे । आरम्भ में उनका उद्देश्य मुख्य रूप से शास्त्राध्ययन और योगाभ्यास था पर जब देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुये सामान्य जनता की दुरवस्था देखी और उनके ऊपर होने वाले तरह-तरह के अन्यायों, अत्याचारों की कथायें सुनीं तो उनकी मनोवृत्ति बदलने लगी ।

जातीय सुधार की चेष्टा

स्वामी सहजानन्द के सार्वजनिक जीवनक्रम का विकास सामाजिक घटनाओं से किस प्रकार होता गया, यह भी एक उल्लेखनीय विषय है । संन्यास लेने के पाँच-सात वर्ष तक तो वे काशी में रहकर अध्ययन और साधना करते रहे । सन् १९१४ में उनको बलिया में होने वाली "भूमिहार ब्राह्मण महासभा" में निमन्त्रित किया गया । वहाँ पर उन्होंने ब्राह्मण धर्म पर कई व्याख्यान दिये । उन्होने स्पष्ट रूप से कहा कि "यद्यपि पुरोहिती का कार्य ब्राह्मण है पर वर्तमान परिस्थिति में पुरोहित-कर्म की अपेक्षा खेतीवारी का कार्य कहीं अधिक श्रेयस्कर है ।" उसके पश्चात् उन्होंने समस्तीपुर, दरभंगा तथा अन्य अनेक स्थानों की सनातन धर्म सभाओं में इसी सिद्धान्त पर प्रचार किया । उनका यह प्रचार समाज और देश समाज के लिए कितना हितकर था इसे वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में कृषिकर्म का बहिष्कार करने वाले ब्राह्मणों को आर्थिक दुरवस्था को देखा समझा है । इस प्रकार के ब्राह्मण अपनी जमीन को जुताने के लिये अन्य जाति के हलवाओं पर आश्रित रहते हैं और ठीक समय पर जब उनको जोतने वाले नहीं मिलते तो उनकी उपज में दूसरे लोगों की अपेक्षा काफी अन्तर पड़ जाता है।

स्वामी जी ने इस बात को उसी समय समझ लिया था और लोगों को समझाया था कि खेती के काम में किसी प्रकार की हिंसा या पाप की कल्पना करना मूढ़ता का लक्षण है । शास्त्रों के अनुसार भी प्रतिग्रह (दान) ग्रहण करना हीनता का चिह्न है जिससे मनुष्य का निश्चित रूप से आत्मिक पतन होता है । किसी प्रकार का शारीरिक श्रम करके निर्वाह करना कभी पाप का कारण नहीं हो सकता । जिन लेखकों ने कृषिकार्य में 'हिंसा होने की बात लिखी है, उन्होंने भावुकतावश ही ऐसा लिखा होगा । ऐसे लोगों ने गृहस्थी के चक्की, चूल्हा, झाड़ू लगाना आदि कर्मों को भी हिंसा युक्त बतलाकर 'पंच सून' पापों के अन्तर्गत माना है और उनसे छुटकारा पाने के लिये 'पंच महायज्ञों' की व्यवस्था की है ! अगर पाप की ऐसी ही व्यवस्था की जाय तो सब प्रकार की कारीगरी कल कारखाने जिनमें हजारों मन कोयला जलाया जाता है और विशालकाय मशीनें चलती रहती हैं 'घोर पाप' माने जायेंगे । पर इन्हीं उद्योग धन्धों का संचालन करने वाले 'सेठों' से दान प्राप्त करके पण्डित-पुजारी-पण्डे आदि उनको धर्म मूरत की पदवी देते रहते हैं । स्वामी ने इस समस्या पर विचार करते हुये अपनी उस समय की स्थिति को इन शब्दों में प्रकट किया था--

"सामाजिक बातों की तरफ मेरी अभी तक प्रवृत्ति न थी । धर्म तो मेरा विषय होना ही चाहिये, सन्यासी जो ठहरा । मगर सामाजिक काम तो स्थूल दृष्टि 'धर्म' के भीतर नहीं आता । इसलिये उस ओर सहसा मेरी प्रवृत्ति नही हुई। असल में तब तक उसका महत्व और उसकी असलियत मैं हृदयंगम कर ही न सका था । पोथियों, ग्रन्थों और व्याख्यानों से यह बात ठीक-ठीक समझी जाती भी नहीं । यह तो घटनाओं का ही काम है जो मानस-पटल पर उसकी महत्ता उसके बड़प्पन उसकी कर्तव्यता को अंकित कर दे। और बलिया में यही बात हुई । निसन्देह भूमिहार-ब्राह्मण समाज में ब्राह्मणोचित्त आचरणों की बड़ी कमी है और इस कारण अन्यान्य लोग सम्बन्ध में तरह-तरह की 'कुत्सित' और निराधार बातें करते रहते हैं । इसके फलस्वरूप इस समाज के कितने सच्चे सेवक मर्माहित हुआ करते थे । उनके भीतर एक तड़फ थी कि कैसे उनका समुचित प्रतिकार किया जाये ? वे लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार यह काम करते भी थे। मगर यह कार्य उनके लिये समुद्र-मन्थन या हिमालय पर चढ़ने के समान था । मैंने यह भी अनुभव किया कि उन लोगों में आत्मविश्वास की कमी थी ।"

पर अब स्वामी जी के सम्मुख यह समस्या आई कि वे सन्यासी होकर किसी विशेष जाति के कार्य में भाग लें या न लें । सन्यासी होते समय जो 'विरजा होम' संस्कार आदि किये जाते हैं उनमें जात-पाँत सम्प्रदाय आदि के समस्त बन्धन त्याग दिये जाते हैं और यज्ञोपवीत तोड़कर तथा शिखा को उखाड़कर जल में फेंक दिया जाता है । उसका आशय यही माना जाता है कि सन्यास ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को समझकर लौकिक बन्धनो से किसी प्रकार का बन्धन न रखेगा । इसलिये वे शास्त्रों द्वारा इस प्रकार की छानबीन करने लगे कि इस प्रकार के कार्यों में भाग लेना सन्यासी के लिये धर्मानुकूल है या नहीं ? इसके

लिए उनको 'श्रीमद्भागवत' में भगवान् नरसिंह और भक्त प्रवर प्रह्लाद के वार्तालाप के प्रसंग में यह श्लोक मिला ।

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्ति कामा ।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थ निष्ठा ।।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको ।
नान्यत्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ।।

अर्थात्-"ऋषि-मुनि तो स्वार्थी बनकर अपनी ही मुक्ति के लिये एकान्त वास करते हैं । उन्हें औरों की चिन्ता नहीं होती । मैं ऐसा नहीं करना चाहता । सभी दुःखियों को छोड़ मुझे केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहिये । मैं तो इन्हीं के साथ रहूँगा ।"

इस प्रकार स्वामी जी को प्राणायाम और समाज के बजाय जन-सेवा की रुचि उत्पन्न हो गई । कुछ लोगों ने इस प्रकार के जातीय-काम में भाग लेने को सन्यास-धर्म के विरुद्ध बतलाया भी । पर स्वामी जी ने इस तरह की बातों पर कोई ध्यान इसलिए नहीं दिया कि उन्होंने यह काम किसी स्वार्थ भावना से नहीं किया था । जब उन्होंने देखा कि समाज का एक बड़ा समुदाय अन्यायपूर्ण व्यवहार के कारण दुःखी हो रहा है और धूर्त तथा अहंकारी व्यक्ति उससे ईमानदारी के कर्तव्यपालन की झूँठ-मूठ निन्दा-कुत्सा करते हैं, तो उनका हृदय तड़प उठा और वे आवेश में आ गये। उन्होंने पीड़ित समुदाय की सहायता लेकर उठाने की चेष्टा की और अपमानित करने वालों के दिमाग अपनी दृढ़ता और धीरता से ठण्डे कर दिये । हम नहीं समझते कि स्वामी जी ने ऐसा कार्य करके किसी तरह की बुराई की । यदि किसी का हक छीना गया हो तो उसकी सहायता को तैयार होकर चोर-लुटेरों से उसे वापस दिलाना शुभ-कार्य ही कहा जायेगा । स्वामी जी समष्टि रूप से समस्त समाज के उत्थान को ही धर्म-सेवा का पालन करना ही मानते थे । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सार्वजनिक आन्दोलन में कूद पड़े । इनमें उनका उद्देश्य न तो किसी व्यक्ति विशेष को नीचा गिराकर निंदित करना था और न वे किसी प्रकार के राजनीतिक दाव-पेंच चलाने का विचार करते थे ।

स्वामी जी ने परोपकार भावना से प्रेरित होकर इस कार्य को हाथ में लिया और बिहार का दौरा करके वहाँ भूमिहारों के साथ मैथिल, सरयू-पारीण, कान्यकुब्ज आदि ब्राह्मणों के खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि के विषय में जाँच करने लगे उनके सहकारी स्वामी पूर्णानन्द जी प्रयाग, गोरखपुर, फतेहपुर आदि का भ्रमण करके कान्यकुब्ज तथा सरयूपारीणों के साथ भूमिहारों का कहाँ-कहाँ सम्बन्ध हुआ है, इसकी जाँच करने लगे । इसके अतिरिक्त उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी ग्रन्थों को भी पढ़ा। इस तमाम सामग्री के आधार पर उन्होंने "भूमिहार ब्राह्मण परिचय" नामक ४०० पृष्ठ का एक बड़ा ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही 'पंचगौड़' ब्राह्मण जातियों में एक प्रकार की सनसनी फैल गई ।

स्वामी जी चारों तरफ घूमकर इस विषय पर जोरदार भाषण करने लगे, जिससे भूमिहार समाज में एक अभूतपूर्व जागृति दिखाई पड़ने लगी । वे जहाँ-जहाँ जाते थे लोग उत्साहपूर्वक उनका स्वागत करते और हर प्रकार का सहयोग करने को तैयार होते थे । पर अब भी समाज के धनी और जमींदार लोगों से बहुत कम सहयोग प्राप्त होता था । वे सर्व साधारण की जागृति से प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि उन्हें यह सम्भावना जान पड़ती थी कि यह जागृति किसी दिन अन्यायी जमींदारों के विरुद्ध भी मुड़ सकती है और संयोगवश उनकी यह आशंका आगे चलकर सचमुच ठीक निकल गई । इस जातीय आन्दोलन से स्वामी का प्रभाव अनेक गाँवों में स्थायी रूप से पड़ा और इसके द्वारा आगे चलकर उनको अपने 'किसान आन्दोलन' में अनेक सहयोगी और कार्यकर्ता प्राप्त हुए ।

असहयोग आन्दोलन में

जिस समय स्वामी गाजीपुर और उससे मिले-जुले बिहार के ज़िलों में जातीय-आन्दोलन कर रहे थे, उसी समय देश में रौलट एक्ट के विरुद्ध गाँधी जी का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और जलियाँ वाला बाग का भीषण नरमेध हुआ । उन समाचारों ने स्वामी जी को बहुत प्रभावित किया और वे भी गाँधी जी का साथ देकर इस जन-आन्दोलन में भाग लेने की इच्छा करने लगे । जब गाँधीजी प्रचारार्थ दौरा करते हुये पटना आये तो वे उनसे मिले और आन्दोलन के सम्बन्ध में काफी देर तक बातें कीं । जब गाँधीजी ने उनके सब प्रश्नों का संतोषजनक रूप से समाधान कर दिया तो वे निस्संकोच भाव से असयोग आन्दोलन में सम्मिलित हो गये ।

इसके कुछ ही दिन बाद वे कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने नागपुर पहुँचे । वहाँ उन्होंने देखा कि अब तक जो कांग्रेस 'भिक्षां देहि' की नीति पर चल रही थी अब उसने 'युद्ध देहि' की घोषणा कर दी है । यह नीति जोशीले स्वामी जी को पसन्द थी । कांग्रेस में ही उनकी भेंट जगन्नाथ पुरी के शंकराचार्य श्री भारती कृष्णतीर्थ से हुई । ये दोनों दण्डी सन्यासी थे, इससे परस्पर विशेष घनिष्ठता बढ़ गई ।

अब स्वामी जी गाँधी जी के पक्के भक्त बन गए और अपने कार्य क्षेत्र बक्सर में आकर कांग्रेस कार्यक्रम का प्रचार

करने लगे । देहातों का दौरा करते समय रामगढ़ के पुलिस दरोगा ने इनको वहाँ से चले जाने को कहा, पर उन्होंने इस धमकी की कुछ परवाह नहीं की । कितने ही गाँवों के निवासी उनके प्रचार कार्य के फलस्वरूप कांग्रेस में शामिल हो गये, अनेक अमीर लोगों ने स्वदेशी व्यवहार की प्रतिज्ञा करके विदेशी वस्त्रों की होली जलाई । वे गाँधी जी के हर एक आदर्शों का श्रद्धापूर्वक पालन करते थे और अनेक अन्य लोगों से भी कांग्रेस का सदस्य बनने का आग्रह करते थे । वे बिना जूता पहिने नंगे पैरों गाँवों का दौरा करते थे । जिससे उनके पैरों में बहुत अधिक बिवाई फट गई। तो भी वे किसी तरह से दौरा करते ही रहे और अनेक नये कार्यकर्त्ता करके कांग्रेस आन्दोलन को आगे बढ़ाते रहे। जो स्वामी जी एक दो वर्ष पहले जातीय सभा का प्रचार करने के लिए हाथी पर चढ़कर घूमते थे और स्थान-स्थान पर उसकी आरती उतारी जाती थी वे गाँधी जी के अनुयायी बनकर पैदल ही सब जगह जाने लगे और गरीब किसानों के यहाँ ठहरकर रूखी-सूखी रोटी खाकर स्वतन्त्रता का शंखनाद करने लगे । प्रत्येक जन-आन्दोलन में भाग लेने का उचित मार्ग यही है कि वह सामान्य जनता के स्तर से अधिक ऊँचा रहन-सहन न रखें । यहीं से स्वामी जी का घनिष्ठ सम्बन्ध किसानों से आरम्भ हुआ जिसने कुछ वर्ष बाद स्वतन्त्र किसान आन्दोलन का रूप धारण कर लिया ।

छोटे-बड़े जमींदार और बड़े धनवान अब भी अधिक संख्या में सरकार के भक्त थे । इसीलिये स्वामी जी उनकी तरफ ध्यान न देकर सामान्य किसानो मे ही काम करते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि जब बाबू राजेन्द्र प्रसाद 'तिलक फण्ड' का चन्दा करने आये तो आगरा जैसे नगर मे उनको केवल तीन सौ रुपया मिला जबकि वक्सर तहसील मे, जहाँ स्वामी जी का कार्य क्षेत्र था एक हजार चन्दा हो गया । सन् १९२१ में जब प्रिंस आफ वेल्स नवीन शासन विधान लागू करने के लिये भारतवर्ष में आये और कांग्रेस ने उनका बायकाट करने की घोषणा की, तो स्वामी जी ने घनघोर प्रचार करके ददरी (बलिया) के प्रसिद्ध मेले में हड़ताल करा दी । सरकारी अफसरो ने हड़ताल रोकने का बहुत प्रयत्न किया पर उनकी एक न चली । वे स्वामी जी को गिरफ्तार कर सकते थे, पर उस दशा मे हड़ताल और भी अधिक फैल जाती । इसको लोगो ने उनकी एक बड़ी जीत समझा ।

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कांग्रेस के आदेश को अमान्य करके प्रान्तीय कौंसिल की सदस्यता के लिए खड़े होने वाले हथुआ नरेश का विरोध किया और उनको हराकर कांग्रेस की धाक सर्वत्र जमा दी ।

अब उन्होंने अपने प्रचार कार्य का प्रमुख केन्द्र शाहबाद जिले का सिमरी कस्बा बनाया जो जीवन के अन्तिम समय तक उनका साथ देता रहा । यहाँ उनको श्रीराम सुमग पांडे आदि ऐसे दृढ़ कार्यकर्ता मिले जिन्होंने हर तरह के कष्ट सहन करके आन्दोलन में सदैव साथ दिया । इसके लिए ये लोग अनेक बार जेल गये पुलिस की लाठियाँ खायीं तरह-तरह के अपमान सहन किये । श्रीराम दर्श की तो एक आँख भी इसी दुर्व्यवहार में फूट गई पर उन्होंने अपना कदम कभी पीछे नहीं हटाया । सार्वजनिक कार्य के संचालनकर्ता का यह भी एक आवश्यकीय गुण है कि वह अन्य लोगों को कार्य करने की ऐसी प्रेरणा दे सके जिससे वे अपने व्रत पर अटल रहें और सब प्रकार के भय प्रलोभन उत्पीड़न का सामना करते हुए लक्ष्य तक पहुँच गये । पर यह तभी सम्भव होता है जब वह स्वयं भी सब प्रकार के स्वार्थ त्याग और कष्ट-सहन को तैयार हो ।

ददरी (बलिया) के मेले के पश्चात् स्वामी जी ने अपना दूसरा कार्यक्षेत्र गाजीपुर को भी बनाया जो उनका अपना जिला था । कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद कांग्रेस का अधिवेश न हुआ जिसमें स्वामी जी भाग लेने को पहुँचे । उस समय देश में राजनीतिक आन्दोलन का तूफान उठा हुआ था और सरकार गाँधीजी के प्रभाव से काँपने लगी थी । स्वामी जी ने इस यात्रा का हाल लिखते हुए बताया है कि "हमारी गाड़ी रास्ते मे जिस स्टेशन पर रुकती थी वहीं पंजाबियों का एक दल करताल आदि लेकर प्लेटफार्म पर उतर पड़ता था और "नहीं रखनी सरकार जालिम नहीं रखनी सरकार" का गाना सुनाने लगता था । अहमदाबाद कांग्रेस के अध्यक्ष देशबन्धु चितरंजन दास चुने गये थे पर सरकार ने उनको पहले ही गिरफ्तार कर लिया तब हकीम अजमल खाँ को अध्यक्ष पद का कार्य-संचालन करना पड़ा और लोगों में उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ा ।"

अब सरकार ने अपनी नीति बदल दी और देशव्यापी गिरफ्तारियों तथा दमन का आदेश दे दिया । स्वामी जी इसके लिए पहले से ही तैयार हो रहे थे और अपने रहन-सहन तथा खान-पान को इतना सादा बना रहे थे जिससे जेल की कठिनाइयों का सामना करना सके । अहमदाबाद से गाजीपुर लौटते ही पुलिस कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में पहुँच गई और स्वामी जी को गिरफ्तारी की सूचना दी । वे इसको स्वतन्त्रता देवी का प्रसाद समझकर सहर्ष तैयार हो गये और एक-दो घण्टे मे ही कोतवाली से जेल पहुँचा दिये गये । वह दो-चार दिन बाद बनारस के जिला जेल में भेज दिये गये, जहाँ उस समय बाबा राघवदास, आचार्य कृपलानी, सम्पूर्णानन्द आदि नेता भी मौजूद थे । इस प्रकार जिस

काशी में विद्याध्ययन और सन्यास लेकर धर्म क्षेत्र मे प्रवेश किया था उसी काशी से उनका राजनीतिक जीवन भी आरम्भ हुआ । इस प्रकार देशोद्धार और जन-आन्दोलन की सफलता के लिए कष्ट सहन करके उन्होंने अपना सन्यास वास्तविक अर्थों में सफलता प्राप्त कर दिखाया ।

जेल के भीतर भी स्वामी जी निष्क्रिय नहीं रहे । उन्होंने राजनीतिक कैदियों का एक दल बनाया जिन्हें वे प्रतिदिन गीता पढ़ाया करते थे । उन्होंने स्वयं भी वहाँ गीता का गम्भीरतापूर्वक मनन और चिन्तन किया और उसके वास्तविक आशय को समझा । बनारस जेल से उन्होंने फैजाबाद और वहाँ से लखनऊ भेज दिया गया । जलवायु के परिवर्तन से वे कुछ बीमार हो गये और इस पर किसी ने उनको जल चिकित्सा की सलाह दी । इसलिये जेल में ही स्नान का 'टब' मँगाकर जल चिकित्सा का प्रयोग आरम्भ किया और चोकरदारी रोटी खाने लगे । इससे कुछ समय पश्चात् उनके स्वास्थ्य की पर्याप्त उन्नति हो गई ।

लखनऊ जेल में स्वामी जी का परिचय पं० जवाहरलाल नेहरू से हुआ । इस प्रसंग का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने अपने 'जेल-संस्मरणों' में लिखा है—"एक दिन उनके साथ दोपहर के पश्चात् बात-चीत होने का निश्चय हुआ । वे दूसरे वार्ड मे रहते थे । मैंने कहा कि धूप ज्यादा होती है, आपको आने में कष्ट होगा, मैं ही चला जाऊँगा । नेहरू जी ने तुरन्त कहा कि "वकील की हैसियत से मुझे तो खाने के बाद दोपहरी में ही कचहरियों में दौड़ने की आदत है । इसलिए तकलीफ का कोई प्रश्न नहीं, मैं ही आपके पास आऊँगा । उनकी इस एक ही बात ने मेरे दिल में उनके लिए उच्च स्थान बना दिया । बहुत कम नेता ऐसे सरल स्वभाव के और बाहरी दिखावे से अलग होते है । यह हमारी राजनीति की एक बहुत बड़ी कमी है । किसी भी आन्दोलन की जान वास्तव में सामान्य कार्यकर्ता ही होते हैं और उनका हृदय ऐसे ही सादगी और आत्मीयता के व्यवहार से जीता जा सकता हैं । अमीर की शान-शौकत दिखाना तो किसी सार्वजनिक आन्दोलन के लिए प्लेग की तरह घातक सिद्ध होता है ।"

एक वर्ष का कारावास दण्ड पूरा हो जाने पर स्वामी जी छोड़ दिये गये । गाजीपुर स्टेशन पर उनका धूमधाम से स्वागत किया गया । पर उस समय कांग्रेस के भीतर ही मतभेद पैदा हो गया था । देशबन्धु चितरंजनदास, पं० मोतीलाल नेहरू कौंसिल के चुनाव में भाग लेने के लिए पक्षपाती थे और श्री पटेल, राजगोपालाचारी आदि अपरिवर्तनवादी थे । स्वामी जी भी कट्टर गाँधीवाद थे और कौंसिल प्रवेश का नाम सुनकर ही बिगड़ खड़े होते थे । इससे कुछ लोगों के साथ उनकी खटपट भी होने लग गई । इस पर वे गाजीपुर जिला कांग्रेस कमेटी का कार्यालय गाजीपुर शहर से हटाकर यूसुफपुर में ले गये और वहीं से चर्खा, खद्दर का खूब प्रचार करने लगे । वे स्वयं चर्खा और तकली चलाते थे । उन्हीं दिनों गोरखपुर मे 'युक्त प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ ।' उसमें कांग्रेस के दोनों दलों—परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी में मुकाबला हुआ । परिवर्तनवादियों को कांग्रेस से हटाने के लिये यह प्रस्ताव किया कि अब से आगे कांग्रेस की सदस्यता की फीस चार आना पैसे के बजाय अपने हाथ से कते सूत के रूप में दी जाय । यह प्रस्ताव स्वामी जी ने ही पेश किया । श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन उसके समर्थक थे और बाबा राघवदास विरोध कर रहे थे । स्वामी जी का प्रस्ताव वापस हो गया जिससे अपरिवर्तनवादियों में उत्साह की लहर फैल गई और उनका बड़ी धूमधाम से जुलूस निकाला गया ।

संस्कृत और पुरोहित शिक्षा का प्रचार

कांग्रेस के आपसी मतभेद और भारत के वायसराय लार्ड रीडिंग की कूटनीति के कारण जब असहयोग का आन्दोलन कुछ ढीला पड़ गया तो स्वामी जी ने भूमिहार ब्राह्मणों में संस्कृति शिक्षा के प्रचार का कार्य आरम्भ किया । इसका एक मुख्य कारण यह था कि स्वामी जी के जेल चले जाने के बाद उनके जातीय सुधार आन्दोलन के विरोधी कितने ही स्वार्थी लोगों ने यह प्रचार शुरू किया कि "स्वामी जी तो इसी प्रकार एक कार्य को अधूरा छोड़कर दूसरे में जा कूदते हैं और भूमिहार ब्राह्मणों को अपनी पुरानी परिपाटी पर ही चलते रहना उचित है । कुछ पुरोहितों ने नये सुधारों के ही विरोध में भूमिहार ब्राह्मणो के यहाँ पुरोहिताई का काम करने से इन्कार कर दिया । जब सब ये बातें स्वामी जी को बतलाई गईं तो वे 'जालिम-सरकार' की तरह स्वार्थी पुरोहितों का मुकाबला करने को तैयार हो गये । उन्होंने बरसात के चार महीनों में सिमरी गाँव में ठहरकर बारह सौ पृष्ठो की एक पुस्तक 'कर्म-कलाप' लिखकर तैयार की जिसकी सहायता से कोई भी साधारण शिक्षा प्राप्त अच्छी तरह धार्मिक संस्कारों को करा सकता था ।"

फिर वे युक्त प्रान्त तथा बिहार के गाँवों में घूमकर भूमिहार ब्राह्मणों की सभायें करने लगे और उनसे कहने लगे कि "यदि आत्म-सम्मान की रक्षा चाहते तो अपने धार्मिक संस्कारों में पुरोहित का कार्य स्वयं ही करो ।" इसके फल से संस्कृत पाठशालाओं और ब्रह्मचर्याश्रमों की स्थापना होने लगी । पर कुछ बड़े जातीय नेताओं ने इसका विरोध किया,

क्योंकि वे सब रूढ़िवादी थे और साधारण जनता में जागृति होने से उनको भय जान पड़ता था । पर स्वामी जी ने अपना कार्य जारी रखा और उनको सफलता मिलती चली गई ।

सन् १६२६ में इस पारस्परिक मतभेद ने अधिक उग्र रूप धारण कर लिया और धनी भूमिहारों की पार्टी के नेता सर गणेशदत्त सिंह ने एक मीटिंग में स्वामी जी से कहा कि "आप समाज को चौपट कर रहे हैं । असहयोग में लड़कों को बहकाकर छुड़ाया और युवकों और गृहस्थों को जेल भिजवाया । अब जाति वालों को भीख माँगने वाला पुरोहिताई का कार्य सिखाकर रहे-सहे को भी चौपट करना चाहते हैं । भूमिहार ब्राह्मण का बेटा कथा बाँचकर पेट भरे तो यह शर्म की--डूब मरने की बात होगी ।" इस पर स्वामी जी ने आवेश में आकर कहा कि "कथा बाँचने अथवा धर्म-संस्कार कराने में ब्राह्मण के लिए कभी शर्म की बात होती ही नहीं । पर जो ब्राह्मणत्व दावा करके वकील का चोला पहनकर अदालतों में जाते हैं और गंगा तुलसी उठाकर झूँठी कसम खिलाते हैं वास्तव में डूब मरने की बात तो उनके लिए है ।" यह कहकर स्वामी जी उठकर चले आये और सर गणेशदत्त, जो वकील का पेशा करते थे, इसके लिये सदैव उनके विरोधी बने रहे ।

सीतारामाश्रम की स्थापना

अब स्वामी जी का सम्पर्क जनता से निरन्तर बढ़ता जाता था और 'बड़े लोग' कहलाने वालों की स्वार्थपरता और अन्याय परायणता उन पर प्रकट होती जाती थी । भूमिहार ब्राह्मणों की जातीय सभा बनाकर उनके सुधार का आन्दोलन करते समय उस जाति के कुछ सम्पन्न और प्रसिद्ध लोगों से उनका सम्पर्क हो गया था और वे जाति के नाम पर आन्दोलन में कुछ सहायता भी देते थे । वे लोग अधिकांश में बड़े या छोटे जमींदार थे । इसीलिये जब स्वामी जी कांग्रेस में शामिल होकर जन-जागरण का काम करने लगे तो उनमें से अधिकांश निजी स्वार्थ के कारण और सरकार के भय से भी उनके विरोधी बन गये । सर गणेशदत्त सिंह से उनका संघर्ष कई वर्ष तक चलता रहा और परिणामस्वरूप जिस "भूमिहार ब्राह्मण महासभा" की स्थापना स्वामी जी ने स्वयं कराई थी उस समय ही तोड़ भी दिया । इस बीच में उनको बराबर यही अनुभव हो रहा था कि इन पुराने ढंग की सभाओं मे सामान्य लोगों का हित तो बहुत कम होता है, और प्रायः वे बड़े लोगों की नामवरी तथा प्रभाव बढ़ाने का साधन बन जाती है ।

जब स्वामी जी ने संस्कृत पाठशाला और आश्रम स्थापित करने का कार्यारम्भ किया तो उनको पटना से थोड़ी दूर बिहटा में एक अच्छा स्थान प्राप्त हो गया । वहाँ सीताराम दास नामक महन्त रहते थे, उन्होंने स्वामी जी के कार्य की महत्ता समझकर अपनी समस्त जायदाय इसी के लिए दे दी और स्वामी जी ने वहाँ 'श्री सीतारामाश्रम' के नाम से एक आश्रम स्थापित कर दिया। इसका एक उद्देश्य जन-आन्दोलन में भाग लेने वाले सुयोग्य और सुदृढ़ कार्यकर्ता तैयार करना भी था इसलिये आश्रम के नियम ब्रह्मचर्य पालन और खान-पान सम्बन्धी संयम के सम्बन्ध में बहुत कड़े रखे गये थे । उसमें वे ही लोग टिक सकते थे जो वास्तव में स्वार्थ त्याग कर देश और समाज की सच्चे हृदय से सेवा करना चाहते हों ।

आरम्भ में तो इसे भी एक जातीय संस्था मानकर कई भूमिहारझकर अपनी सस्तर जमींदारों ने सहायता दी पर जब स्वामी जी की कार्य प्रणाली और उनका उद्देश्य उनको मालूम हो गया तो उन्होंने चन्दा देना ही बन्द नहीं किया वरन् अन्य प्रकार से भी उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करने लगे । इस सम्बन्ध में एक बार स्वामी जी ने लिखा था-

"जमींदारों ने सिर्फ चन्दा देना ही बन्द नहीं कर दिया है वरन् वे इस आश्रम के जानी दुश्मन बन गये हैं । यह इसलिये हुआ कि उनके जुल्मों से कराहने वाले ग्वाले और दूसरे किसान मेरे पास आये तो मैंने उनका पक्ष लेकर जमींदारों का विरोध किया । आज कोई भी आसपास के गाँवों में जाँच कर ले कि पीड़ित लोगों का मेरे और आश्रम के ऊपर पूरा विश्वास है, फिर वे चाहे जिस जाति या धर्म के क्यों न हों पर आश्रम तो क्रांति का एक प्रतीक है । जब जमींदारों ने किसान-आन्दोलन से नाराज होकर चन्दा देना बन्द किया और दूसरों पर भी न देने का प्रभाव डाला, जिससे आश्रम टूट जाय, तो मैंने भी निश्चय किया कि जमींदारों से चन्दा लेने किसी को न भेजूँगा और न आश्रम को टूटने दूँगा । इस प्रकार मैंने जमींदारो का मद चूर किया और उनकी कभी पर्वाह नहीं की ।"

जमींदारों के इस प्रवाह से यह प्रकट हो गया कि वे संस्थाओं में जो चन्दा देते हैं उसमें उनका स्वार्थ होता है । धनी लोग ऐसी जातीय और धार्मिक सभाओं को कुछ रुपया देकर अपने हाथ में रखते हैं, और समय-समय पर उनमें राजभक्ति के प्रस्ताव पास करके, सरकारी अफसरों का स्वागत सम्मान करके अपना प्रभाव बढ़ाते रहते हैं और फिर इसी के जोर पर आर्थिक लाभ उठाते हैं । खासकर चुनाव के अवसरों पर तो वे इन सभाओं को अपने प्रचार का एक बड़ा साधन ही बना लेते हैं । स्वामी जी इन तथाकथित 'बड़े' लोगों की सब चालों को समझते थे और उन्होंने "किसानो को फँसाने की तैयारियाँ" नामक पुस्तक में इन

स्वार्थियों की करतूतों का अच्छी तरह भंडा-फोड़ किया था उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि जमींदार या बड़े व्यवसायी लोग जो कुछ चन्दा जातीय कार्यों या धर्म कार्यों में देते हैं उसका उद्देश्य परलोक-सुधार या परोपकार नहीं होता वरन् अपनी जमींदारी या व्यापार को दृढ़ करना ही होता है ।

किसान आन्दोलन का श्री गणेश

सन् १९२६-२७ में स्वामी जी ने जन-आन्दोलन के लिए 'लोक-संग्रह' नाम का साप्ताहिक पत्र पटना से निकाला । यह बड़ा जोरदार और निर्भय पत्र था और गरीब किसानों और मजदूरों का सदैव समर्थन करता रहता था । इस पत्र में विज्ञापन नहीं छापे जाते थे तो भी इसका इतना प्रचार था कि इसका खर्च अधिकांश में निकल जाता था । इसने जन-जागृति में अच्छा काम किया और किसानों में अपने पैरों पर खड़े होकर सुदृढ़ संगठन बनाने की भावना उत्पन्न की । पर पटना से दूर बिहिटा में रहने के कारण उन्हें इसकी देखभाल करने नित्य पटना आना पड़ता था । इससे अन्य प्रचार सम्बन्धी कार्यों में बाधा पड़ती थी । एक वर्ष बाद उन्होंने इसे स्थगित करके प्रेस अपने एक सहकारी के हाथ बेच दिया ।

सन् १९२७ में ही किसान सभा का जन्म हुआ आरम्भ में इसका नाम "पश्चिम पटना किसान सभा" रखा गया । बिहिटा, जहाँ स्वामी जी का "सीतारामाश्रम" था पटना से पश्चिम की तरफ था । इससे कुछ मील के फासले पर 'मसौढ़ा' नामक बड़ी जमींदारी थी । इसके जमींदार बड़े अन्यायी थे और अपने यहाँ रहने वाले किसानों को कष्ट देते थे । आरम्भ में स्वामी जी की योजना यह थी कि 'किसान-सभा' में जमींदारों को भी शामिल किया जाय और दोनों मिलकर गाँवों की उन्नति का प्रयत्न करें । वे आपस में लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न करने के पक्ष में न थे वरन् किसान जमींदार पूँजीपति मजदूर अमीर-गरीब सबके हितों का सामंजस्य करके विदेशियों के मुकाबले में देश को संगठित और सुदृढ़ बनाने के इच्छुक थे ।

पर जमींदार तो परम्परागत स्वार्थी बन गये थे उनकी दाढ़ों में गरीब किसानों का खून लग चुका था, वे सहज में अपनी लूटमार की प्रवृत्तियों को कैसे छोड़ सकते थे ? उन्होंने स्वामी जी की बातों पर–सद्भावनाओं पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । परिणाम यह निकला कि स्वामी जी ने जो कार्य सुधार की मनोवृत्ति से आरम्भ किया था वह अन्त में क्रांतिकारी मार्ग का अनुयायी बन गया । उसने केवल पटना जिले के जमींदारों के होश ही ठिकाने नहीं लगा दिये वरन् "अखिल भारतीय किसान सभा" का रूप धारण कर देश में जमींदारी प्रथा की जड़ हिला दी । स्वराज होने पर जो 'जमींदारी उन्मूलन' कानून बना उसका बहुत कुछ श्रेय स्वामी जी के 'किसान आन्दोलन' और 'किसान सभा' को था ।

जातीय सभा में संघर्ष

सन् १९२९ में उन्होंने सुना कि बिहार सरकार ने गया के जिला बोर्ड को तोड़ दिया है और उसके कांग्रेसी चेयरमैन बाबू अनुग्रह नारायणसिंह को हटा दिया है । स्वामी जी को इस पर कुछ आश्चर्य हुआ और ठीक पता लगाने को सर गणेशदत्त सिंह के बँगले पर पहुँचे जो इस विभाग के मन्त्री थे, सर गणेश ने कारण तो बताया पर स्वामी जी को उससे संतोष नहीं हुआ और उन्होंने समझ लिया कि सरकार के इशारे पर सर गणेश ने कांग्रेस पर आक्रमण किया है । उन्होंने 'सर्च लाइट' और अन्य पत्रों में एक लम्बा वक्तव्य छपा कर इस देश द्रोह का रहस्य उद्घाटन किया । इस समय से उनकी सर गणेश से और भी तानातानी हो गई । स्वामी जी कहते थे कि "सर गणेश ने सरकार की खूब भक्ति की है । उनके जैसा सरकारी अधिकारियों का अतिथि सत्कार करने वाला कोई नहीं है । वे अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का ध्यान करते हैं, और समझदार भी खूब हैं मगर सरकार परस्ती के कारण उनके इन सब गुणों पर पानी फिर गया ।"

जब कुछ महीने बाद स्वामी जी ने सुना कि मुंगेर में 'भूमिहार ब्राह्मण सभा' अधिवेशन हो रहा है और सर गणेश उसके सभापति हैं तो उनको यह बहुत बुरा लगा और कहने लगे–"क्या समाज में और कोई पढ़ा-लिखा आदमी नहीं है ? जो इस काम को सँभाल सके । क्या समाज उनके हाथ बिक गया ? फिर कांग्रेस के समय जातीय सभा की आवश्यकता ही क्या है । इस प्रकार की सभायें तो अब

हुजूर बनकर सरकार का समर्थन करने वाली सभाओं में भाग लेते है । कुछ भी हो मैं सर गणेश का विरोध करूँगा और उनकी इस चाल को कभी न चलने दूँगा । देखना है कि अगली बार वे कैसे इस प्रकार चुनाव जीतकर 'मिनिस्टर' बन जाते हैं ?"

बस स्वामी जी बिना बुलाये मुंगेर पहुँच गये और सर गणेश के विरुद्ध धूँआधार प्रचार करने लगे । इससे बड़ी सनसनी फैल गई और भूमिहार–समाज के बड़े नेता जिनमें कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता बाबू श्री कृष्ण सिंह भी थे उनको समझाने आये । स्वामी जी ने उनसे कहा कि आप लोगों ने तो मुझे कांग्रेस का विरोधी और सर गणेश का पक्षपाती

क्योंकि वे सब रूढ़िवादी थे और साधारण जनता में जागृति होने से उनको भय जान पड़ता था। पर स्वामी जी ने अपना कार्य जारी रखा और उनको सफलता मिलती चली गई।

सन् १६२६ में इस पारस्परिक मतभेद ने अधिक उग्र रूप धारण कर लिया और धनी भूमिहारों की पार्टी के नेता सर गणेशदत्त सिंह ने एक मीटिंग में स्वामी जी से कहा कि "आप समाज को चौपट कर रहे हैं। असहयोग में लड़कों को बहकाकर छुड़ाया और युवकों और गृहस्थों को जेल भिजवाया। अब जाति वालों को भीख माँगने वाला पुरोहिताई का कार्य सिखाकर रहे-सहे को भी चौपट करना चाहते हैं। भूमिहार ब्राह्मण का बेटा कथा बाँचकर पेट भरे तो यह शर्म की--डूब मरने की बात होगी।" इस पर स्वामी जी ने आवेश में आकर कहा कि "कथा बाँचने अथवा धर्म-संस्कार कराने में ब्राह्मण के लिए कभी शर्म की बात होती ही नहीं। पर जो ब्राह्मणत्व दावा करके वकील का चोला पहनकर अदालतों में जाते है और गंगा तुलसी उठाकर झूँठी कसम खिलाते हैं वास्तव मे डूब मरने की बात तो उनके लिए है।" यह कहकर स्वामी जी उठकर चले आये और सर गणेशदत्त, जो वकील का पेशा करते थे, इसके लिये सदैव उनके विरोधी बने रहे।

सीतारामाश्रम की स्थापना

अब स्वामी जी का सम्पर्क जनता से निरन्तर बढ़ता जाता था और 'बड़े लोग' कहलाने वालों की स्वार्थपरता और अन्याय परायणता उन पर प्रकट होती जाती थी। भूमिहार ब्राह्मणों की जातीय सभा बनाकर उनके सुधार का आन्दोलन करते समय उस जाति के कुछ सम्पन्न और प्रसिद्ध लोगों से उनका सम्पर्क हो गया था और वे जाति के नाम पर आन्दोलन में कुछ सहायता भी देते थे। वे लोग अधिकांश मे बड़े या छोटे जमींदार थे। इसीलिये जब स्वामी जी कांग्रेस में शामिल होकर जन-जागरण का काम करने लगे तो उनमें से अधिकांश निजी स्वार्थ के कारण और सरकार के भय से भी उनके विरोधी बन गये। सर गणेशदत्त सिंह से उनका संघर्ष कई वर्ष तक चलता रहा और परिणामस्वरूप जिस "भूमिहार ब्राह्मण महासभा" की स्थापना स्वामी जी ने स्वयं कराई थी उस समय ही तोड़ भी दिया। इस बीच में उनको बराबर यही अनुभव हो रहा था कि इन पुराने ढंग की सभाओं में सामान्य लोगों का हित तो बहुत कम होता है, और प्रायः वे बड़े लोगों की नामवरी तथा प्रभाव बढ़ाने का साधन बन जाती है।

जब स्वामी जी ने संस्कृत पाठशाला और आश्रम स्थापित करने का कार्यारम्भ किया तो उनको पटना से थोड़ी दूर बिहटा में एक अच्छा स्थान प्राप्त हो गया। वहाँ सीताराम दास नामक महन्त रहते थे, उन्होंने स्वामी जी के कार्य की महत्ता समझकर अपनी समस्त जायदाय इसी के लिए दे दी और स्वामी जी ने वहाँ 'श्री सीतारामाश्रम' के नाम से एक आश्रम स्थापित कर दिया। इसका एक उद्देश्य जन-आन्दोलन में भाग लेने वाले सुयोग्य और सुदृढ़ कार्यकर्ता तैयार करना भी था इसलिये आश्रम के नियम ब्रह्मचर्य पालन और खान-पान सम्बन्धी संयम के सम्बन्ध में बहुत कड़े रखे गये थे। उसमें वे ही लोग टिक सकते थे जो वास्तव में स्वार्थ त्याग कर देश और समाज की सच्चे हृदय से सेवा करना चाहते हों।

आरम्भ में तो इसे भी एक जातीय संस्था मानकर कई भूमिहारसमझकर अपनी सत्तर जमींदारों ने सहायता दी पर जब स्वामी जी की कार्य प्रणाली और उनका उद्देश्य उनको मालूम हो गया तो उन्होंने चन्दा देना ही बन्द नहीं किया वरन् अन्य प्रकार से भी उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करने लगे। इस सम्बन्ध में एक बार स्वामी जी ने लिखा था--

"जमींदारों ने सिर्फ चन्दा देना ही बन्द नहीं कर दिया है वरन् वे इस आश्रम के जानी दुश्मन बन गये हैं। यह इसलिये हुआ कि उनके जुल्मों से कराहने वाले ग्वाले और दूसरे किसान मेरे पास आये तो मैंने उनका पक्ष लेकर जमींदारों का विरोध किया। आज कोई भी आसपास के गाँवों में जाँच कर ले कि पीड़ित लोगो का मेरे और आश्रम के ऊपर पूरा विश्वास है, फिर वे चाहे जिस जाति या धर्म के क्यों न हों पर आश्रम तो क्रांति का एक प्रतीक है। जब जमींदारों ने किसान-आन्दोलन से नाराज होकर चन्दा देना बन्द किया और दूसरों पर भी न देने का प्रभाव डाला, जिससे आश्रम टूट जाय, तो मैंने भी निश्चय किया कि जमींदारों से चन्दा लेने किसी को न भेजूँगा और न आश्रम को टूटने दूँगा। इस प्रकार मैने जमींदारो का मद चूर किया और उनकी कभी पर्वाह नहीं की।"

जमींदारों के इस प्रवाह से यह प्रकट हो गया कि ये संस्थाओं में जो चन्दा देते है उसमें उनका स्वार्थ होता है। धनी लोग ऐसी जातीय और धार्मिक सभाओं को कुछ रुपया देकर अपने हाथ में रखते है, और समय-समय पर उनमें राजभक्ति के प्रस्ताव पास करके, सरकारी अफसरों का स्वागत सम्मान करके अपना प्रभाव बढ़ाते रहते हैं और फिर इसी के जोर पर आर्थिक लाभ उठाते हैं। खासकर चुनाव के अवसरों पर तो वे इन सभाओं को अपने प्रचार का एक बड़ा साधन ही बना लेते हैं। स्वामी जी इन तथाकथित 'बड़े' लोगो की सब चालों को समझते थे और. उन्होंने "किसानों को फँसाने की तैयारियाँ" नामक पुस्तक में इन

स्वार्थियों की करतूतों का अच्छी तरह भंडा-फोड़ किया था उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि जमींदार या बड़े व्यवसायी लोग जो कुछ चन्दा जातीय कार्यों या धर्म कार्यों में देते हैं उसका उद्देश्य परलोक-सुधार या परोपकार नहीं होता वरन् अपनी जमींदारी या व्यापार को दृढ़ करना ही होता है ।

किसान आन्दोलन का श्री गणेश

सन् १६२६-२७ में स्वामी जी ने जन-आन्दोलन के लिए 'लोक-संग्रह' नाम का साप्ताहिक पत्र पटना से निकाला । यह बड़ा जोरदार और निर्भय पत्र था और गरीब किसानों और मजदूरों का सदैव समर्थन करता रहता था । इस पत्र में विज्ञापन नहीं छापे जाते थे तो भी इसका इतना प्रचार था कि इसका खर्च अधिकांश में निकल जाता था । इसने जन-जागृति में अच्छा काम किया और किसानों में [illegible]

[illegible]

इससे अन्य प्रचार सम्बन्धी कार्यों में बाधा पड़ती थी । एक वर्ष बाद उन्होंने इसे स्थगित करके प्रेस अपने एक सहकारी के हाथ बेच दिया ।

सन् १६२७ में ही किसान सभा का जन्म हुआ आरम्भ में इसका नाम "पश्चिम पटना किसान सभा" रखा गया । बिहिटा, जहाँ स्वामी जी का "सीतारामाश्रम" था पटना से पश्चिम की तरफ था । इससे कुछ मील के फासले पर 'मसौढ़ा' नामक बड़ी जमींदारी थी । इसके जमींदार बड़े अन्यायी थे और अपने यहाँ रहने वाले किसानों को कष्ट देते थे । आरम्भ में स्वामी जी की योजना यह थी कि 'किसान-सभा' में जमींदारों को भी शामिल किया जाय और दोनों मिलकर गाँवों की उन्नति का प्रयत्न करें । वे आपस में लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न करने के पक्ष में न थे वरन् किसान जमींदार पूँजीपति मजदूर अमीर-गरीब सबके हितों का सामंजस्य करके विदेशियों के मुकाबले में देश को संगठित और सुदृढ़ बनाने के इच्छुक थे ।

पर जमींदार तो परम्परागत स्वार्थी बन गये थे उनकी दाढ़ों में गरीब किसानों का खून लग चुका था, वे सहज में अपनी लूटमार की प्रवृत्तियों को कैसे छोड़ सकते थे ? उन्होंने स्वामी जी की बातों पर-सद्भावनाओं पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । परिणाम यह निकला कि स्वामी जी ने जो कार्य सुधार की मनोवृत्ति से आरम्भ किया था वह अन्त में क्रांतिकारी मार्ग का अनुयायी बन गया । उसने केवल पटना जिले के जमींदारों के होश ही ठिकाने नहीं लगा दिये वरन् "अखिल भारतीय किसान सभा" का रूप धारण कर देश में जमींदारी प्रथा की जड़ हिला दी । स्वराज होने पर जो 'जमींदारी उन्मूलन' कानून बना उसका बहुत कुछ श्रेय स्वामी जी के 'किसान आन्दोलन' और 'किसान सभा' को था ।

जातीय सभा में संघर्ष

सन् १६२६ में उन्होंने सुना कि बिहार सरकार ने गया के जिला बोर्ड को तोड़ दिया है और उसके कांग्रेसी चेयरमैन बाबू अनुग्रह नारायणसिंह को हटा दिया है । स्वामी जी को इस पर कुछ आश्चर्य हुआ और ठीक पता लगाने को सर गणेशदत्त सिंह के बँगले पर पहुँचे जो इस विभाग के मन्त्री थे, सर गणेश ने कारण तो बताया पर स्वामी जी को उससे संतोष नहीं हुआ और उन्होंने समझ लिया कि सरकार के इशारे पर सर गणेश ने कांग्रेस पर आक्रमण किया है । उन्होंने 'सर्च लाइट' और अन्य पत्रों में एक लम्बा वक्तव्य छपा कर इस देश द्रोह का रहस्य उद्घाटन किया । इस समय से उनकी सर गणेश से और भी तानातानी हो गई । स्वामी जी कहते थे कि "सर गणेश ने सरकार की खूब भक्ति की है । उनके जैसा सरकारी अधिकारियों का अतिथि सत्कार करने वाला कोई नहीं है । वे अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का ध्यान करते हैं, और समझदार भी खूब हैं मगर सरकार परस्ती के कारण उनके इन सब गुणों पर पानी फिर गया ।"

जब कुछ महीने बाद स्वामी जी ने सुना कि मुंगेर में 'भूमिहार ब्राह्मण सभा' अधिवेशन हो रहा है और सर गणेश उसके सभापति हैं तो उनको यह बहुत बुरा लगा और कहने लगे-"क्या समाज में और कोई पढ़ा-लिखा आदमी नहीं है ? जो इस काम को सँभाल सके । क्या समाज उनके हाथ बिक गया ? फिर कांग्रेस के समय जातीय सभा की आवश्यकता ही क्या है । इस प्रकार की सभायें तो अब सरकार की पिट्ठू बनकर राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध करती हैं । इससे भूमिहार जाति की बदनामी है कि लोग ऊपर से तो राष्ट्र के जातिवादी नेता बनते हैं और भीतर ही भीतर हुजूर बनकर सरकार का समर्थन करने वाली सभाओं में भाग लेते हैं । कुछ भी हो मैं सर गणेश का विरोध करूँगा और उनकी इस चाल को कभी न चलने दूँगा । देखना है कि अगली बार वे कैसे इस प्रकार चुनाव जीतकर 'मिनिस्टर' बन जाते हैं ?"

बस स्वामी जी बिना बुलाये मुंगेर पहुँच गये और सर गणेश के विरुद्ध धुँआधार प्रचार करने लगे । इससे बड़ी सनसनी फैल गई और भूमिहार-समाज के बड़े नेता जिनमें कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता बाबू श्री कृष्ण सिंह भी थे उनको समझाने आये । स्वामी जी ने उनसे कहा कि आप लोगों ने तो मुझे कांग्रेस का विरोधी और सर गणेश का पक्षपाती

कहकर बदनाम किया था । पर अब आप स्वयं उनकी सहायता को क्यों तैयार हुए हैं ? मैं तो उनका जी-जान से विरोध करूँगा और देखूँगा कि वे अब कैसे 'मिनिस्टर' बनकर सरकार के कृपा पात्र बनते है ।"

इसके पश्चात् समाज के अन्य प्रभावशाली व्यक्ति आये और उन्होंने स्वामी जी को समझाया अन्त मे स्वामी जी को कहना पड़ा कि-- "अच्छा ! आप लोग सभा करें मैं उसमें नहीं आऊँगा । यदि आप लोग चाहते है कि वही सभापति हों तो आप ही सभा का काम सँभाल लें ।" स्वामी जी सभा में नहीं गये । पर जब कार्यवाही आरम्भ हुई तो किसी ने सभापति से पूछा कि सभा के जन्मदाता स्वामी सहजानन्द जी मुंगेर में होते हुए भी इस अधिवेशन में क्यों नहीं आये? सर गणेश ने नाराज होकर उत्तर दिया--"स्वामी जी बिना सभा का काम नहीं रुक सकता ।" इस पर हल्ला-गुल्ला मच गया और चारों तरफ से आवाजें आने लगीं--"स्वामी जी को बुलाओ" "स्वामी जी को बुलाओ ।" स्वामी जी के गुरु भाई वृद्ध स्वामी परमानन्द जी ने खड़े होकर कहा--"स्वामी जी ने समाज को जगाया--आपको ऊँचा उठाया और आप ही कहते हैं कि उनके बिना क्या काम रुक जायेगा ?" वे क्रोध से अपना दण्ड लेकर सभापति की ओर बढ़े । फिर तो ऐसी गड़बड़ी मची कि शांति भंग होने का डर होने लगा और लोग--"पुलिस-पुलिस" चिल्लाने लगे । किसी प्रकार लोग सर गणेश को घेरकर बाहर लाये और निवास स्थान तक पहुँचाया ।

कई लोग दौड़कर स्वामी जी के पास पहुँचे और कहने लगे--"आप चलिये ? वहाँ तो अनर्थ हो रहा है । शायद सर गणेश को किसी ने पीट दिया हो !" यह सुनकर स्वामी जी तुरन्त वहाँ पहुँचे । पर तब तक सर गणेश वहाँ से चले गये थे । स्वामी जी ने सब लोगो को शान्त किया और सभा को सदैव के लिए भंग करने की घोषणा कर दी इसके पश्चात् सभा कभी अच्छी तरह नहीं चली और स्वामी जी ने तो उससे पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, वे अब कांग्रेस में कार्यक्रम करने लगे 'किसान संगठन' को अपना प्रधान बनाया । दो नावों पर चढ़ना उनको पसन्द नहीं आया और इसलिये उन्होंने जातीय सभाओं के उस मार्ग को त्याग दिया जिसमें सब तरह के विचारों के लोग भाग लेते हैं और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन के विपरीत आचरण करने में भी संकोच नहीं करते ।

अब स्वामी जी ने 'किसान सभा' का बाकायदा संगठन किया और कांग्रेस के नेता ने भी उसमें पूरी तरह से भाग लिया । स्वयं राजेन्द्र प्रसाद इसमें शामिल थे और श्री कृष्ण सिंह जनरल सेक्रेटरी नियत किये गये थे । स्वामी जी स्थानापन्न सभापति का कार्य करने लगे । वे प्रान्त भर में घूमने लगे । सोनापुर के मेले में एक बहुत बड़ा सम्मेलन भी किया गया । इसी बीच सरदार बल्लभ भाई पटेल का दौरा हुआ । उन्होंने भी 'किसान सभा' का जोरों से समर्थन किया । इस प्रकार सभा का काम बहुत आगे बढ़ गया और किसानों की जागृति से जमींदार भयभीत हो उठे ।

दूसरा कारावास

इसके पश्चात् ही सन् १९३० का नमक-सत्याग्रह आरम्भ हो गया । २६ जनवरी को पूर्ण स्वतंत्रता दिवस मनाया गया । ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक सत्याग्रह का विशेष कार्यक्रम रखा गया था । उसी समय गाँधी जी डाँडी पहुँचने वाले थे और देश भर में नमक कानून तोड़ा जाने वाला था । स्वामी जी प्रान्त भर का दौरा करके नमक-सत्याग्रह का प्रचार करने लगे और अमहरा में स्वयं नमक बनाकर गिरफ्तार हो गये । अदालत में मुकद्मा चलने पर उनको ६ मास की कड़ी कैद का दण्ड दिया गया ।

स्वामी जी को पटना की जेल में रखा गया । अप्रैल, मई के महीनों में पटना में गर्मी अधिक पड़ती है, साथ ही मच्छरों की भी अधिकता होती है । उनमें उनको काफी कष्ट होता था, तो भी उन्होंने अपने लिए किसी प्रकार की सुविधा की माँग नहीं की । इन मच्छरों का वर्णन साहित्यिक शैली मे करते हुए स्वामी जी ने लिखा था--"पटने के मच्छर भी पुराने मुछन्दर हैं ! ये जाड़े में मरते नहीं, इसलिये अपने काम मे काफी अनुभव रखते है । जबकि जाड़े की ऋतु में अन्य स्थानों में मच्छर या तो बिल्कुल नहीं होते या नाममात्र को होते हैं तब पटना में सबसे ज्यादा होते हैं । और जब बरसात में सब जगह उनकी महती सेना अजेय बनकर खड़ी हो जाती है तब पटना में वे सबसे कम पाये जाते हैं । दुनिया में सब जगह गर्मियों की अपेक्षा जाड़ों में मच्छरों की संख्या घट जाती है । गया की भी ऐसी ही दशा है । इसका कारण यह है कि इन नगरों की नालियाँ जाड़े मे गन्दे पानी से भरी रहती है, इसी से खूब मच्छर पैदा होते हैं । गर्मियों में तेज धूप पड़ने से छोटी नालियाँ प्रायः सूख जाती हैं और बड़ी नालियों में भी थोड़ा ही पानी रह जाता है इससे मच्छर भी अपेक्षाकृत कम हो जाते हैं ।"

जेलखाने में बैठक के भीतर ही स्वामी जी खूब टहलते थे । इससे व्यायाम हो जाता था और थकावट आकर नींद भी अच्छी तरह आ जाती थी इस बार जेलखाने में खाने पीने की समस्या भी आई और पहले की तरह विशेष सुविधायें

प्राप्त नहीं हुई । फिर भी वे अनुशासन को भंग करना उचित नहीं मानते थे, इसलिये जेल की रोटी ही खाने लगे । अभी तक वे नल का पानी नहीं पीते थे, पर पटना में उन्होंने यह नियम भी छोड़ दिया । पीने का पानी एक सुराही में अलग रख लेते थे और उसी से काम चलाते थे । उनका छूआछूत का सिद्धान्त बहुत कुछ सफाई पर आधारित था वे जिस प्रदेश (पूर्वीय उत्तर प्रान्त) के रहने वाले थे वहाँ सफाई और शुद्धता पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है । खासकर बर्तनों को खूब माँजकर हमेशा चमचमाता रखा जाता है । पर बिहार में उन्होंने उलटी दशा देखी । वहाँ कुएँ पर रखा ढोल कभी नहीं माँजा जाता था और सभी लोग उसी से पानी पीते रहते थे यहाँ तक कि हाथ से निकालकर चुल्लू से भी पी लेते थे । बिहार के 'मनसिया' (ब्राह्मण रसोई घर) भोजन बनाकर स्नान करते हैं, पर उत्तर प्रदेश में पहले स्नान करके भोजन बनाया जाता है । बिहार में साधुओं के वस्त्र भी हमेशा, मैले गन्दे रहते हैं । इस सबसे स्वामी जी घबड़ाते थे और प्रायः अपने सहकर्मियों से इसकी चर्चा करके सफाई रखने का उपदेश दिया करते थे ।

पटना की जेल में एक-डेढ़ महीना रहने के पश्चात् उनको हजारी बाग की सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया । वहाँ वे और भी नियमपूर्वक रहते थे और गीता का अध्ययन करके "गीता हृदय" भाष्य लिखने की तैयारी करते रहते थे। ये कहते थे कि मुझे जेल की दो बातें पसन्द हैं--सफाई और टाइम-टेबिल के अनुसार हर एक काम ठीक समय पर करते रहना । वे स्वयं भी समय की पाबन्दी के कायल थे और सब जगह इस नियम का प्रचार करने की चेष्टा करते रहते थे । वैसे जेल को लोग 'यमराज का घर' कहते हैं, पर स्वामी जी वहाँ से भी जो कुछ अच्छी बातें हों उनको सीख लेने पर जोर देते थे ।

नकली किसान सभा

जेल से छूटने पर स्वामी जी बिहिटा आये । स्टेशन पर उनका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ और उनको फूल-मालाओं से लाद दिया गया । जेल में उनका स्वास्थ्य कुछ निर्बल हो गया था इसलिए एकाध महीने आश्रम में रहकर उसका सुधार किया । इसी अवसर पर उनको 'यूनाइटेड पार्टी' और नकली किसान सभा का समाचार मिला । बिहार सरकार ने जब देखा कि इस समय कांग्रेस आन्दोलन में फँसी है, उसके सभी नेता जेलो में बन्द हैं तो उसने अपने दोस्त जमींदरों को पीठ ठोककर खड़ा किया कि यही मौका है कि वे उस प्रान्त में अपना नेतृत्व और धाक जमा लें ।

इसलिये एक संयुक्त दल (यूनाइटेड पार्टी) का निर्माण किया गया और यह डंका पीटा गया कि 'इसमें जमींदार, किसान, मजदूर सभी शामिल होंगे ।' काश्तकारी कानून में संशोधन किया जायेगा, किसानों को अपनी जमीन के पेड़ों पर हक मिलेगा, वे जमीन की खरीद बिक्री स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकेंगे । ईंट, खपरैल, कुँआ, तालाब और पक्का मकान अपनी जमीन में बेरोक-टोक बना सकेंगे, आदि सरकार ने यह भी देखा कि किसान सभा के प्रमुख संचालक अस्वस्थ होने के कारण इस समय निष्क्रिय हो रहे हैं इसलिए उन्होंने बाबू गुरुसहायलाल और बाबू शिवशंकर झा जैसे जमींदारों को प्रेरित करके एक किसान सभा स्थापित करा दी । इसकी तरफ से बड़ी सार्वजनिक सभा का आयोजन १३ फरवरी १६३३ को पटना में होने वाला था, स्वामी जी को जान-बूझकर उससे अलग रखा गया था , पर उनको अपने कुछ साथियों से इसका सारा भेद मालूम हो गया और उन्होंने मौके पर पहुँचकर उस नकली आयोजन को खण्ड-खण्ड कर दिया और फिर से असली किसान सभा का झण्डा लहरा दिया ।

स्वामी जी ने प्रान्त भर का तूफानी दौरा करके नकली किसान सभा का भण्डाफोड़ किया उसके सर्वोच्च नेता सूर्यपुरा के राजा तथा बाबू देवकीनन्दन सिन्हा जैसे बड़े जमींदारों का असली उद्देश्य भी लोगों को समझाया उन्होंने कहा कि जिस प्रकार बरगद के विशाल पेड़ के नीचे दूसरा कोई पेड़ पौधा पनप नहीं सकता उसी प्रकार जमींदारों की छाया में किसानों का कोई संगठन उन्नति नहीं कर सकता और न उनका स्थायी हित हो सकता है । उस समय कांग्रेस की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने एक बार बतलाया था--

"उस अवसर पर राजा सूर्यपुरा से भेंट होने पर बहुत बातें हुईं । वे बड़े चतुर और व्यवहार कुशल आदमी हैं । वे सोचते थे कि बाबू गुरुसहायलाल की तरह मुझे भी अपने चंगुल में फँसा लें । सम्भवतः ये ही 'यूनाइटेड पार्टी' के मन्त्री थे । उस पार्टी और 'जमींदार सभा' मे कोई फर्क नहीं था उस पार्टी में कुछ ऐसे लोग थे जो किसानों का प्रतिनिधित्व करते थे । इसी आधार पर किसानों और जमींदारों के समझौते का एक बिल प्रान्तीय कौंसिल में पेश किया गया । उस बिल के पास होने से किसानों को कोई लाभ न था इसलिए मैंने यह प्रस्ताव किया कि जमींदार और किसानों की समस्या का निर्णय एक पंचायत द्वारा किया जाय जिसमे दोनों पक्षो के प्रतिनिधि हों, पर राजा साहब ने उसको नहीं माना तब यह कार्य किसान-सभा की तरफ से

आरम्भ किया गया और एक पंचकमेटी नियत की गई जिसमें पं० यमुना कार्म्मो, पं० यदुनन्दन शर्मा, बा० बद्रीनारायण सिंह आदि थे । इस कमेटी के सदस्यों ने गया जिले को छान डाला। इसमें कितने ही जमींदारों के कर्मचारियों के जुल्मों का हाल प्रकाश में आया ।"

कुछ जमींदारों ने अपना प्रतिनिधि स्वामी जी के पास समझौते के लिए भेजा, पर उनका असली उद्देश्य किसानों के साथ न्याय करने के बजाय स्वामी जी को बहकाकर या कुछ लालच दिखाकर अपना मतलब सिद्ध करना था । इससे स्वामी जी इन लोगों के असली रूप को समझ गये और उन्होंने पंचकमेटी की रिपोर्ट को "गया के किसानों की करुण कहानी" के नाम से छपवाकर प्रकाशित कर दिया । उसके आधार पर स्वामी जी ने ऐसा घोर आन्दोलन उठाया कि जमींदार के अत्याचारों का पर्दाफाश किया जाने लगा। उन्होंने कई बार इन सभाओं को रोकने, इनमें बाधा डालने का प्रयत्न किया । पर किसानों के उत्साह और उठ खड़े होने के कारण उनकी एक भी चाल सफल न हो सकी । स्वामी जी ने बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा दिखाये किसी प्रलोभन में न आकर यह दिखला दिया कि जन-आन्दोलन में भाग लेने वालों को पहले स्वयं सचाई और निःस्वार्थपरता पर दृढ़ रहना चाहिए । तभी वे जनता का कुछ वास्तविक उपकार कर सकते हैं ।

कांग्रेस से मतभेद

अब कांग्रेस और किसान सभा के बीच में भी कुछ मतभेद प्रकट होने लगा । कांग्रेस के नेता स्वयं जमींदार थे और बहुतों का जमींदारों से घनिष्ठ सम्बन्ध था । बिहार के कांग्रेसी डिक्टेटर बा० सत्यनारायण सिंह ने एक नोटिस प्रकाशित कराया कि कोई कांग्रेसी, कांग्रेस के सिवाय और किसी आन्दोलन में भाग न लें, क्योंकि ऐसा करने से कांग्रेस की स्थिति कमजोर होगी । कांग्रेस का ऐसा रुख देखकर जमींदारों को आशा होने लगी कि उनकी तरफ से जो "टेनैंसी बिल" कौंसिल में पेश किया गया है, वह शायद पास हो जायेगा । इस परिस्थिति को देखकर स्वामी जी ने अपना आन्दोलन और आगे बढ़ा दिया और प्रान्त भर में किसान-सभाओं की धूम मच गई ।

सन् १९३४ में बिहार में भयंकर भूकम्प आया । हजारों व्यक्ति मर गये और करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो गई । गरीब किसान तो पहले से ही अभावग्रस्त दशा में जीवन व्यतीत करते थे, भूकम्प उनको और भी मार गया, इस दैवी प्रकोप ने कुछ समय के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों और नेताओं के मतभेद को कुछ देर के लिए दबा दिया और सब लोग भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिए उद्योग करने लगे, योजनायें बनाने लगे । पर ऐसे अवसर पर भी बड़े लोग अपने स्वार्थ की बात को निगाह से ओझल नहीं होने देते और सच पूछा जाय तो ऐसी अर्थ पिशाच जैसी मनोवृत्ति के कारण ही वे लखपति-करोड़पति बन जाया करते हैं । इस सम्बन्ध में एक घटना इस प्रकार बतलाई गई--

"भूकम्प के बाद जब पटना की पीली कोठी में रिलीफ कमेटी (सहायता समिति) का दफ्तर खोला गया तो एक बार दरभंगा महाराज ने बाबू राजेन्द्र प्रसाद से बातें करके यह चेष्टा की कि कांग्रेस से समझौता करके चुपचाप 'टेनैंसी बिल' का प्रश्न तय कर ले और किसान सभा ताकती रह जाय । पर राजेन्द्र बाबू ने महाराज तथा अन्य जमींदारों से कहा कि 'मैं किसान सभा के नेताओं से बात करके ही आपको कोई जबाब दे सकता हूँ कि क्या करना उचित होगा ?" उन्होंने हम लोगों से इस विषय पर बातचीत की हमारा दृष्टिकोण जानकर इस झमेले में पड़ने से इन्कार करते हुए महाराज दरभंगा को पत्र द्वारा अस्वीकृति की सूचना दे दी । उसमें अन्य बातों के साथ उन्होंने यह भी लिखा था--'असल कठिनाई इस झमेले को सुलझाने में यह है कि आप लोग बिहार प्रांतीय किसान-सभा के संचालकों को किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाले मानने को तैयार नहीं है ।' यह पत्र उसी समय अखबारों में छप गया था । इस प्रकार राजेन्द्र बाबू द्वारा किसान सभा के विषय में यह सम्मति प्रकट करना हमारी बहुत बड़ी नैतिक जीत थी ।"

उत्तर बिहार की भूकम्प के कारण अवर्णनीय दुर्दशा हो रही थी स्वामी जी घूम-घूमकर चन्दा इकट्ठा करके गरीबों की सहायता करते थे । उस समय भी उन्होंने देखा कि सर्वथा साधनहीन किसान को भी जमींदार लोग सताने में नहीं हिचकिचाते । भूकम्प के कारण वे किसान दाने-दाने को मुँहताज थे, उनके घर और झोपड़े गिर गये थे, घर में जो थोड़ा अन्न था वह जमीन की दरारों में धँस गया था फिर भी जमींदार लोग निर्दयतापूर्वक उनको लगान देने के लिये विवश कर रहे थे, और न देने पर उनका बचाखुचा थाली, लोटा, गाय, बकरी आदि छीन रहे थे । स्वामी जी ने एक जमींदार का निकाला हुआ ऐसा हुक्मनामा अखबारों में छपा दिया और यह भी कहा कि 'रिलीफ कमेटी' झोंपड़ी बनाने के लिए जो बाँस, लकड़ी आदि की चीजें सहायता के रूप में किसान को दे रही है उन्हें भी जमींदारों के कर्मचारी नहीं देने देते । इससे सर्वत्र बहु हल्ला-गुल्ला मचा और ऐसे जमींदारों की निन्दा की गई ।

अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना

इसके पश्चात् स्वामी जी किसान सभा का प्रचार कार्य बढ़ाने में ही अपनी पूरी शक्ति लगाने लगे। उनको अनुभव हो रहा था कि कांग्रेस पूरी तरह से किसानों का साथ नहीं दे सकती क्योंकि उसमें सब श्रेणियों के लोग शामिल हैं और उसे आर्थिक सहायता विशेष रूप से बड़े लोगों से ही मिलती है। इसलिये वह खुलकर जमींदारों का अधिक विरोध नहीं कर सकती। इस कारण किसानों को अपने पैरों पर ही खड़ा होना पड़ेगा। फिर भी उस समय तक स्वामी जी जमींदारी प्रथा के पूर्ण उन्मूलन के बजाय उसके सुधार की ही माँग करते थे जब गया में किसान-सभा की एक बैठक में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने सभापति की हैसियत से जमींदार के उन्मूलन का समर्थन किया तब भी स्वामी जी ने उसे तत्कालीन परिस्थिति में असामाजिक बतलाया।

पर इसके कुछ ही समय बाद बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन में परिस्थिति बदल गई। उस अधिवेशन में कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर विचार किया गया। स्वामी जी ने उसका घोर विरोध किया, पर गाँधी जी के स्वीकार कर लेने से वह प्रस्ताव पास हो गया स्वामी जी ने समझ लिया कि अब बिहार के जमींदार कांग्रेस में सम्मिलित होकर शासन सत्ता को अपने हाथ में ले लेंगे और किसानों का अधिकाधिक शोषण करेंगे। इस सम्भावना को देखकर वे जमींदारी उन्मूलन के पक्ष में हो गये। अभी तक स्वामी जी ने जमींदारों को खूब समझाया बुझाया था, बार-बार उनको सँभल जाने का मौका दिया था, सात वर्ष तक वे किसानों और जमींदारों के बीच सद्भावपूर्वक समझौते की चेष्टा करते रहे पर जब उन्होंने देखा कि कुत्ते की पूँछ सीधी न हो सकने की तरह जमींदार कभी किसानों के साथ न्याय करने को तैयार न होंगे तो इस प्रथा को जड़ मूल से नष्ट करने को बद्धपरिकर हो गये। एक लेखक के मतानुसार उसके बाद उन्होंने किसानों में जो प्रचार कार्य आरम्भ किया उसमें वे आग उगलते थे, और कभी मेघ गर्जन का दृश्य उपस्थित करते थे। कभी शोक का भाव दिखलाकर श्रोताओं को द्रवीभूत कर देते थे। भूकम्प के अवसर पर जमींदारों ने जैसी हृदयहीनता का परिचय दिया था उसे याद करके स्वामी जी की शान्ति सदा के लिए किसी दूरवर्ती स्थान को चली गई थी।

अब वे कहने लगे थे कि जमींदार नाम की चीज ही बुरी है। वह रहने लायक नहीं। उनकी धारणा हो गई कि यदि कोई भी जमींदार हो तो वह भी खतरनाक होगा। अब वे किसानों में यही भावना भरने लगे कि यदि वे अपना उद्धार चाहते हैं तो जमींदारी प्रथा का अन्त किये जाने की आवाज बुलन्द करें। सन् १९३५ में कांग्रेस के उग्रदल के अनेक नेताओं ने मेरठ में एकत्रित होकर आगे के लिए जो राजनीतिक कार्यक्रम बनाया उसमें एक 'अखिल भारतीय किसान सभा' के संगठन का निश्चय भी किया गया। इसके लिए जो संगठन समिति बनी उसके मंत्री स्वामी सहजानन्द जी ही बनाये गये। श्री रंगा और श्री मोहनलाल गौतम भी उसमें शामिल किये गए। इस संस्था का निर्माण हो जाने पर उन्होंने भारत के विभिन्न प्रान्तों का दौरा करके किसान संगठन का संदेश सुनाया। उन्होंने सभा का केन्द्र बिहिटा के सीताश्रम आश्रम मे रखा। कार्यालय का काम चलाने के लिए वे किसानों से ही थोड़ा-थोड़ा चन्दा इकट्ठा कर लेते थे, पर जमींदारों और पूँजीपतियों से कभी-कभी चन्दे की चर्चा भी नहीं करते थे। वे कहते थे--

"मालदार और जमीन-जायदाद वाले पूँजीपति बड़ी धूर्तता से जनता का शोषण करते हैं। बड़े-बड़े नेता, महात्मा और धर्मात्मा उनके शिकंजे में फँसकर उनके शोषण में मदद करते हैं। वे पूँजीपतियों से दान दिलवाकर समझते हैं कि हम पूँजीपतियों का उपयोग जनता के लाभार्थ कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में पूँजीपति ही उनका प्रयोग अपने लाभ तथा गरीबों के शोषण के लिए करते हैं। मैंने अपने अनुभव द्वारा समझ लिया था कि ये नेताओं को किस तरह ठगते हैं। अगर मैं जरा-सा ढीला पड़ता तो बिहिटा की चीनी मिल से दो-चार सौ रुपये मासिक और कुछ हजार एक मुश्त लेकर आश्रम में मकान बनवा देता और कोई पंडित रखकर लड़कों को पढ़वाता, सुन्दर पुस्तकालय बनवा देता। फिर तो चारों ओर यह शोर हो जाता कि स्वामी जी बड़ा काम कर रहे हैं। पर फल यह होता है कि मिल वाले साल में किसानों का लाखों रुपया लूट लेते और उसी खून में से दो-चार बूँद हमको भी देते रहते। यही बात सब जगह होती है। जो नेता या महात्मा धनियों और पूँजीपतियों से पैसे लेकर सार्वजनिक सेवा का ढोंग रचते हैं वह गरीबों का खून इसी प्रकार लुटवाकर उसी में से दो-चार बूँदें पा लेते हैं। यह ध्रुव सत्य है।"

कांग्रेसी मंत्रिमंडल की स्थापना और किसान आन्दोलन

सन् १९३६ में कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में स्वामी जी ने इस बात के लिए बहुत कोशिश की कि कांग्रेस-कार्यक्रम में किसानों के हित के प्रस्तावों को विशेष रूप से रखा जाय पर बिहार के नेता इस पर नाराज होने लगे। पर उस अधिवेशन के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्वामी जी को धन्यवाद देकर आश्वासन दिया कि किसानों के लिए—

कुछ प्रोग्राम बनाया जायगा और अन्त में उन्होंने ऐसा किया भी। वह पीछे 'फैजपुर किसान-कार्यक्रम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । फैजपुर में "अखिल भारतीय किसान सभा" का दूसरा अधिवेशन हुआ और उसमें स्वामी जी ने किसानो की शक्ति प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया । किसानों के कई जत्थे कई सौ मील से फौजी ढंग से मार्च करते हुए फैजपुर पहुँचे। कांग्रेस नगर के झण्डा चौक में एक बड़ी जबरदस्त सभा हुई जिसके अध्यक्ष प्रो० रंगा थे । राष्ट्रपति, नेहरू जी भी वहाँ थोड़ी देर के लिए आये और उन्होंने दो-चार शब्द कहे।

फैजपुर में स्वामी जी ने इस बात के लिये बहुत कोशिश की कि किसान प्रतिनिधियों को कांग्रेस पंडाल में जाने का टिकिट मुफ्त या रियायती दाम में मिले, पर इसमें कुछ भी सफलता न हुई । जब गाँधी जी से बातें कीं तो उन्होंने कहा कि गरीबों की निगाह से कांग्रेस की फीस पाँच रुपये की बजाय एक रुपया कर देनी चाहिए । पर वास्तव में कुछ नहीं हुआ । साथ ही कांग्रेस में चुने गये मेम्बरों और पदाधिकारियों के लिए खादी पहिनना जरूरी बना दिया । स्वामी जी ने कहा—"पाँच रुपया फीस गरीब नहीं दे सकते और मँहगी होने के कारण खादी भी वे नहीं पहिन सकेंगे, इस कारण कांग्रेस धनियों और महाजनों के हाथ में चली जायगी । तो भी गाँधी जी की राय से वे दरिद्र नारायण के अच्छे पुजारी निकले ।" इस पर डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने धीरे से स्वामी जी से कहा—"यू आर टैरीबल स्वामी ।" (आप तो एक भयंकर स्वामी हैं !)

इसके पश्चात् १९३७ के चुनाव में कांग्रेस की जीत होकर उसके मन्त्रिमण्डल कई प्रान्तों में शासनारूढ़ हो गये। बिहार में किसानवादियों को स्वामी जी ने चुनाव में सफल कराके कौंसिल में भिजवाया और अन्य कांग्रेस नेताओं के जीतने में बहुत कुछ सहायता की । चुनाव समाप्त होते ही "बिहार प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन" हुआ । उसमें प्रस्ताव किया गया कि कीमत देकर जमींदारियाँ खत्म कर दी जायें। किसान प्रतिनिधियों ने संशोधन पेश किया कि बिना कीमत दिये ही जमींदारी खत्म की जाय । कुछ जमींदारो ने पुराने ग्रन्थों से जमींदारी को सिद्ध करना चाहा पर स्वामी जी ने पांडित्यपूर्ण ढंग से उनका खण्डन कर दिया । संशोधन पास हो गया पर उस समय वह अमल में न लाया जा सका ।

चुनाव के बाद बिहार में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना पर उसने किसान और मजदूरों की भलाई के लिए कोई काम नहीं किया । उनकी हड़तालें और आन्दोलन पहले की ही तरह जारी रहीं । इस पर स्वामी जी ने दो पुस्तकें अँग्रेजी में प्रकाशित करके मन्त्रिमण्डल की इस उदासीनता की आलोचना की । इनमें से पहले थी, 'दी अदर साइड आफ दी शील्ड (समस्या का दूसरा पहलू) और दूसरी थी, 'रेण्ट रिडक्शन इन बिहार-हाउ इट वर्क्स (बिहार में लगान का घटाया जाना उसकी वास्तविकता) इन पुस्तकों के कारण प्रान्त में बड़ा शोरगुल मचा और कांग्रेस नेता समझने लगे कि स्वामी जी कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डल को बदनाम करना चाहते हैं, पर स्वामी जी की ऐसी नीयत कदापि न थी । इस आक्षेप के निराकरण के लिए स्वामी जी कुछ समय के लिए अमरनाथ यात्रा के लिए काश्मीर चले गए । पर उनके पीछे भी किसानों के बड़े-बड़े प्रदर्शन होते रहे । एक "किसान रैली" में तो दस लाख की भीड़ हो गई थी । कांग्रेसी मन्त्री ऐसी किसान सभाओं से बहुत घबड़ाते थे । पर किसान सभा का काम बढ़ता ही गया और सन् १९३७ से १९४० तक बछवारा, बैनी और मोतिहारी आदि स्थानों में विशाल कान्फ्रेंसें होती रहीं । इनमें महा पण्डित राहुल सांस्कृतायन और जयप्रकाशनारायण आदि जैसे मजदूर पक्षपाती नेता अध्यक्ष होते रहे । धीरे-धीरे किसानों का जोश बढ़ता गया और जमींदार और सरकार दोनों उससे भयभीत होने लगे। सन् ३८ में स्वामी जी पटना के सेक्रेट्रियट तक एक मील लम्बा जुलूस लेकर गये । उस समय किसान यह नारा लगाने लगे थे—

लट्ठ हमारा जिन्दाबाद

इस नारे को सुनकर कांग्रेस में काफी गर्मा-गर्मी हुई और महात्मा गाँधी और महादेव देसाई, राजेन्द्र बाबू आदि प्रधान नेताओं ने इसका विरोध किया । स्वामी पर हिंसा प्रचार का दोष लगाया गया । इस पर स्वामी जी ने प्रान्तीय जिला कांग्रेस कमेटियों से त्याग-पत्र दे दिया ।

स्वामी जी ने इस बात से इन्कार नहीं किया कि उन्होंने आत्मरक्षार्थ किसानों को लाठी डण्डा प्रयोग करने की अनुमति दी है। जमींदारों के नौकर किसानों को जूते और डण्डे से ही 'दुरस्त' करते रहते थे । उनके घर की चीजें लूट लेते थे, बहू-बेटियों की इज्जत भी नहीं बच पाती थी । स्वामी जी ने जमींदारों को सैकड़ो बार समझाया कि इन गैर-कानूनी कामों को बन्द कीजिये, पर वे अपनी हरकतों से बाज नहीं आये । तब उन्होंने किसानों को भी लाठी और डंडे का उपयोग करने के लिए ललकारा । इस पर कई जगह किसान और जमींदार की मुठभेड़ हो गई जिसमें कहीं-कहीं जमींदारो को मार खानी पड़ी । इन बातों को लेकर गाँधीवादी बिगड़े। कुछ स्वामी जी के अनुयायी भी कहने लगे कि इसे बन्द कीजिये । इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया कि गाँधी जी

ने भी कई बार अहिंसा के नाम पर कायरता की अपेक्षा हिंसा को ठीक बताया है । प्रान्तीय कांग्रेसी कमेटी ने उनके विरुद्ध एक प्रस्ताव भी पास किया । इस प्रकार जो स्वामी जी गाँधी जी के सम्पर्क में आकर सन् १९२० में कांग्रेसी बने थे वे १९४० में किसान-नेता और समाजवादी होकर कांग्रेस से पृथक् हो गये ।

इसके बाद स्वामी जी के अनुयायियों ने अनेक स्थानों में किसान-सत्याग्रह आरम्भ किया जिससे जमींदारों के छक्के छूट गये । बड़हिया का आन्दोलन तीन वर्ष तक चलता रहा । उसके संचालक पं० कार्यानन्द शर्मा दो बार जेल भेजे गये । दूसरा सत्याग्रह 'रेवड़ा' में हुआ जिसमें पचीस हजार किसान और उनके स्त्री बच्चे धर्म-युद्ध करके मर मिटने को तैयार थे । स्वामी जी तूफानी दौरा करके किसानों में जोश भर रहे थे । कितनी ही जगह किसान नेता पीटे गये, किसानों पर गोली चलाकर उनका खून बहाया गया, महापंडित राहुल सांस्कृतायन दो बार जेल भेजे गये और वहाँ अनशन किया । अमबारी नामक स्थान के सत्याग्रह की संचालन व्यवस्था श्रीरामवृक्ष ब्रह्मचारी ने की थी जिसमें लाल वस्त्र धारण किये एक महिला दल भी कार्य कर रहा था । जब पुलिस ब्रह्मचारी जी को पकड़ने आई तो इन स्त्रियों ने उनको घेरकर ऐसा रोका कि पुलिस के सिपाही भी दंग रह गये । ब्रह्मचारी जी ने जेल में जाकर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अनशन किया और ६० दिन तक भूखे रहकर प्राण दे दिये ।

कांग्रेस से अलग होकर स्वामी जी किसान-आन्दोलन को बराबर आगे बढ़ाते गये । उनका कार्यक्षेत्र केवल बिहार ही नहीं रहा वरन् "अखिल भारतीय किसान-सभा" के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने कुमिल्ला (बंगाल) रानी परज (गुजरात) पलासा (आंध्र) आदि के किसान सम्मेलनो में जाकर वहाँ भी किसानों के उद्धार की आवाजें उठायीं । वे तीन बार पंजाब में भी गये, जहाँ सिकन्दर हयातखाँ के मन्त्रिमण्डल ने उन पर रोक लगादी । महाराष्ट्र, बंगाल, मध्य प्रदेश, आसाम आदि सभी प्रदेशों में उनके प्रभावशाली दौरे हुए जिनमें किसान मीलों तक खड़े होकर उनका स्वागत करते थे । इस प्रकार स्वामी जी ने किसान आन्दोलन और उसकी माँगों को देशव्यापी बना दिया ।

इस किसान-सेवा के फलस्वरूप स्वामी जी को फिर गिरफ्तार कर लिया गया और अप्रैल १९४० से मार्च १९४२ तक वे जेल में बन्द रहे । जब वे वहाँ से छूटे तो योरोपीय महायुद्ध पूरे जोर से चल रहा था और सब प्रकार के आन्दोलन दबे हुए थे । पर फिर भी स्वामी जी अपने जीवन लक्ष्य किसान संगठन को ठोस आधार पर स्थापित करने में लग गये और सन् १९५० तक जबकि उनकी लीला समाप्त हुई । किसान सेवा के मार्ग से कभी इधर-उधर नहीं हटे । इस प्रकार स्वामी जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन अन्याय पीड़ित गरीबों के सहायतार्थ लगा दिया और इसी को सन्यास की सबसे बड़ी सफलता माना ।

स्वामी सहजानन्द की गिनती हम उन लोगों में करते हैं । जो अल्प साधनों और सामान्य शक्ति से ही महान कार्यों की पूर्ति करके दिखा देते हैं । वे एक पिछड़े हुए इलाके के ग्रामीण व्यक्ति थे और अपने घर की परिस्थिति के अनुसार आठ-दस के दर्जे तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके थे । इस प्रकार के लड़के सभी गाँवों और कस्बों में काफी तादात में पाये जाते हैं । पर सार्वजनिक-सेवा की भावना न तो स्वयं उत्पन्न करते हैं और न कोई उनको ऐसी प्रेरणा ही देता है । परिणाम यह होता है उन सबका जीवन प्रायः पेट भरने और गृहस्थी के छोटे-मोटे कामों को पूरा करने में ही व्यतीत हो जाता है । उनमें से अनेक धार्मिक कथा-वार्ता सुनते-सुनते अथवा किसी भगवान वस्त्रधारी की प्रेरणा से साधु जीवन की तरफ भी चल पड़ते हैं । पर वहाँ पहुँचकर उनकी अधिकांश शक्ति 'पेट-पालन' में ही खर्च होती है । 'राम' का नाम लेना अथवा कुछ 'जपतप' कर लेना भी एक निरर्थक-सा दिखावा मात्र होता है । हजारों में से कोई एक साधु वेषधारी सच्चे अर्थों में आत्म-चिन्तन और आत्मोत्कर्ष की तरफ ध्यान दे पाते हैं ।

इसलिये यह कम महत्व की बात नहीं है स्वामी जी ने साधु बन जाने पर भी केवल उदर-पोषण और भजन-साधन की घिसी-पिटी प्रणाली में ही सन्तोष न करके मानव-कर्तव्यों का ध्यान रखा । यद्यपि सन्यास आश्रम में भी उनको मान-सम्मान तथा जीवन-निर्वाह की दृष्टि से सफलता प्राप्त हो गई थी, पर उन्होंने अनुभव किया कि इस प्रकार जनता के श्रम पर खाते-पीते रहना और उसका कुछ भी हित-साधन न करना वास्तव में निकृष्ट श्रेणी का भिक्षुकपन है । सच्चा साधु तो वह है जो जनता से एक छटांक लेकर उसका एक सेर उपकार करे । इसके प्रतिकूल आज यह देखा जा रहा है कि दानदाता गृहस्थ तो रूखी-सूखी रोटी खाकर कठिनाई में जीवन-निर्वाह करता है और निष्कर्म सन्यासी महाराज के 'दूध और फल' में दस रुपया रोज खर्च हो जाता है । इस परिस्थिति को देखकर सहजानन्द जी ने अपना मार्ग बदल दिया और साधु वेष में रहते हुए भी जन सेवा का कार्य अपनाया । इसमें भी विशेषता यह थी कि उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया, वह पाठशाला चिकित्सालय आदि जैसे सेवा

कार्यों की तरह शान्तिमय न होकर अत्यन्त कंटकाकीर्ण था। उसमें निरन्तर विदेशी सरकार से संघर्ष, गिरफ्तारी तथा जेल आदि की सम्भावना थी । पर अत्यन्त विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर भी स्वामी जी कभी पश्चात्पद नहीं हुये और बड़े-बड़े आन्दोलनकारियों की तरह निर्भयतापूर्वक जेल गये और वहाँ सब प्रकार के कष्टों को धैर्यपूर्वक सहा ।

वर्तमान समय में भारतीय सन्यासी 'त्यागी' कहलाने पर भी घोर परिग्रहशील बन गये हैं । कहाँ तो प्राचीन समय में उनके लिये यह नियम था कि किसी स्थान पर एक दिन के सिवा दूसरे दिन न टिकें और सूखी रोटी के सिवा और कुछ भोजन ग्रहण न करें । पर इन दिनों सन्यासी बड़े-बड़े मठ और 'अखाड़े' स्थापित करते रहते हैं जिनमें से किसी-किसी की सम्पत्ति का परिमाण दस करोड़ रुपया तक बतलाया जाता है । क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 'नागा' (नग्न) कहलाने वाले साधु कमर में सोने की जंजीर पहिन लें और उनके पास अनेक घोड़े, हाथी, मोटर आदि हों ? स्वामी सहजानन्द जी ने इस ढोंग को त्याग कर सर्वथा अकिंचन वृत्ति से ही जीवन व्यतीत किया और आन्दोलन के लिए अगर कभी कुछ इकट्ठा भी किया तो उसमें से एक पैसा भी अपने पास न रखकर सब कुछ सार्वजनिक कार्य के लिए ही खर्च कर दिया ।

क्या यह कम महत्व की बात है कि जहाँ अन्य प्रसिद्ध 'साधु-संन्यासी' सेठ-साहूकारों और धनवानों की प्रशंसा करते हैं, आशीर्वाद देते हैं उन्हीं के यहाँ ठहरते हैं, सहजानन्द जी गरीब किसानों की झोंपड़ियों में ही आतिथ्य स्वीकार करते थे और उन्हीं के अधिकारों के लिए बड़े-बड़े जमींदारों और राजाओं के मुकाबले में खड़े होते थे । अनेक अवसरों पर बड़े लोगों ने उनको धन और सम्मान के प्रलोभन दिये और अपने साथ काम करने को बुलाया, पर स्वामी जी ने भूलकर भी उनकी कोठियों और राजसी भवनों पर दृष्टिपात नहीं किया और जीवन के अन्तिम क्षण तक दरिद्रनारायण का पक्ष लेकर उनका विरोध ही करते रहे. । उनकी यह निस्पृह-भावना और न्याय का समर्थन ही सच्चे संन्यासी की पहिचान है ।

ज्ञान-कर्म-भक्ति के समन्वय-संत विनोबा

सन् १९५१ की बात है । आंध्र के तैलंगाना प्रदेश में साम्यवादियों का उत्पात चरम सीमा पर पहुँच गया था । कितने ही लोग मारे जा चुके थे । वे रात्रि के समय दल बनाकर किसी गाँव में जाते और वहाँ के बड़े आदमियों की सम्पत्ति, अनाज, फसल को लूट लाते थे । देशहितैषी व्यक्ति इस स्थिति से बहुत चिन्तित थे । लूटने वाले प्रायः निर्धन किसान होते थे और लूटे जाने वाले धनवान् किसान, बोहरे और जमींदार श्रेणी के लोग । इससे यह तो प्रकट था कि इन मामलों को डकैती अथवा गुण्डागर्दी नहीं कह सकते । उन लोगों का कहना भी यही था कि उनके पास खेती के लिए जमीन नहीं है, धनवान् लोग काम कराके भी बहुत थोड़ी मजदूरी देते हैं, ऐसी दशा में अगर हम लूटमार करके अपनी तथा अपने बाल-बच्चों की प्राण रक्षा न करें, तो और क्या करें ?

ये सब बातें बाबा विनोबा (जन्म् १८९५ ई .) ने उस समय सुनीं जब वे हैदराबाद के सर्वोदय-सम्मेलन में ३०० मील की पैदल यात्रा करके गये थे । कांग्रेस पक्ष वाले ग्रामीण तैलंगाना के कम्यूनिष्टों को 'रात का राजा' कहते थे । वे लोग सदा भयभीत रहते थे कि न मालूम कब ये 'राजा लोग' आकर लूट ले जायेंगे । अपने देश के एक भाग में लोगों की ऐसी निकृष्ट स्थिति विनोबा को सहन न हुई और उन्होंने इसको अपनी आँखों से देखने और शान्ति स्थापना का कुछ प्रयत्न करने का निश्चय किया । हैदराबाद से चलकर वे 'पोचम पल्ली' पहुँचे, जिसे कम्यूनिष्टों का गढ़ कहा जाता था । इसमे कुछ ही महीनों के भीतर चार खून हो चुके थे । यह भी मालूम हुआ कि गाँव की तीन हजार आबादी में सिर्फ सात बच्चे पढ़ने को जाते हैं, जिनको एक 'गुरुजी' कभी-कभी आकर पढ़ा जाते हैं । ताड़ी पीने का दुर्व्यसन बहुत जोरो पर है । ऐसे समाज मे अपराध होना स्वाभाविक ही था ।

विनोबा प्रातःकाल ही एक हरिजन मुहल्ले मे पहुँचे और बातचीत करते हुए पूछा-"यह तो बताओ की तुम्हारी गुजर कैसे होती है ।"

हरिजन-"उसका हाल क्या कहें, बाबा ? न तो हमें पूरा काम मिलता है और न हमारे जमीन ही है कि उसमें खोद खायें । हरदम पेट भरने के लाले पड़े रहते हैं । साल भर मेहनत करने पर जमींदार हमें खेत की उपज पीछे दो सेर गल्ला देते हैं, ओढ़ने को एक कम्बल और पहिनने को एक जोड़ी जूता । भला इतने में हमारी गुजर कैसे हो ? यदि हमे कुछ जमीन मिल जाय तो हमारा संकट दूर हो सकता है ।"

विनोबा-"अच्छा, कितनी जमीन में तुम्हारा काम चल जायगा ।"

हरिजन-"हमारे लिए ८० एकड़ जमीन काफी है । ४० एकड़ तरी वाली और ४० एकड़ खुश्की वाली जमीन मिल जाये तो हमारी गुजर ठीक तरह होने लग जायगी ।"

विनोबा ने पहले तो हरिजनों से एक अर्जी लिखकर देने को कहा और सोचा कि सरकार से इस विषय में बातचीत

करेंगे । फिर अकस्मात् उनके दिल में खयाल आया कि क्यों न यहाँ के गाँव वालों से इस विषय में चर्चा की जाय ।

जैसे ही उन्होंने कुछ लोगों के समुदाय में यह बात प्रकट की कि तुरन्त रामचन्द्र रेड्डी नामक सज्जन ने खड़े होकर कहा--"बाबा मेरे पिताजी की बड़ी इच्छा थी कि अपनी कुछ जमीन इन भाइयों को दे दूँ । वे अब नहीं हैं । उनकी इच्छा पूरी करने के लिए मैं अपने पाँच भाइयों की तरफ से अपनी सौ एकड़ जमीन भेंट करता हूँ । आप उसे इन हरिजन भाइयों को देने की कृपा करें ।".

गाँव की लक्ष्मी गाँव में रहे

यह था भूदान-यज्ञ का श्री गणेश, जिसने बाद में एक विशाल आन्दोलन का रूप धारण कर लिया अब तक लाखों एकड़ जमीन 'दान-स्वरूप' प्राप्त करके भूमि रहित लोगों को दी जा चुकी है, ग्रामों के लाखों व्यक्तियों से नशा और दुर्व्यसन छुड़ाकर गाँवों में सदाचार और नैतिकता का वातावरण उत्पन्न किया गया है और आपस में लड़ाई-झगड़े तथा मुकद्मेबाजी मिटाकर लोगों को एक सूत्र में संगठित होने की प्रेरणा दी गई है । विनोबा गाँव वालों को समझाते हैं कि उसका कल्याण तभी हो सकता है जब 'गाँव की लक्ष्मी गाँव में ही रहे ।' आजकल वह बड़ी तेजी से शहरों की तरफ भाग रही है । अगर उसे रोका न जा सका तो गाँव अवश्य बर्बाद हो जायेंगे । इस सम्बन्ध में उनके उपदेश का सारांश इन शब्दों में दिया जा सकता है--

"गाँव की लक्ष्मी पाँच रास्तों से भागती है , वे हैं--शादी, ब्याह, बाजार, व्यसन, साहूकार और सरकार । जब तक इनको रोका न जायगा तब तक गाँव का भला नहीं हो सकता ।"

१--गाँव वाले शादी-ब्याह में अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च कर देते हैं । कर्ज भी ले लेते हैं । लड़की ससुराल में जाकर गृहस्थी सँभालने लगती है फिर भी माँ-बाप को कर्ज से छुटकारा नहीं मिलता । इसलिये ब्याह के खर्च में कमी की जाय । भोज समारोह की क्या जरूरत है ? मैं समारोह को भी रोकना नहीं चाहता, पर उसमें खर्च करने का तरीका भी बदल देना चाहिए । लड़के-लड़की की शादी माँ-बाप ठीक करें । उसके बाद उनका काम खत्म । शादी करना, उसका जल्सा करना, यह काम गाँव के जिम्मे रहे । खर्च का सारा बोझ थोड़ा-थोड़ा करके सब गाँव वाले बाँट लें । इससे कर्ज नहीं लेना पड़ेगा और ब्याह का काम आनन्द से निपट जायगा ।

२--बाजार का रास्ता बन्द किये बिना गाँव वालों का काम नहीं चल सकता । वे कपास पैदा करते हैं, पर उसे बाजार में बेचकर वहीं से कपड़ा खरीदते है । गन्ना पैदा करते हैं, उसे बेचकर शहर से चीनी (शक्कर) खरीदते हैं । मूँगफली, तिल और सरसों पैदा करते हैं पर तेल बाहर से खरीद कर लाते है । अब इतना ही बाकी रह गया है कि वे अनाज भेजकर बाहर से 'रोटियाँ' मँगा लें । अगर इस तरह सब चीजें बाजार से ली जाएंगी, तो तुमको निर्धन रहना पड़ेगा । इसलिये नमक, मिट्टी का तेल, मिर्च-मसाला, दियासलाई और औजार गाँव में भले ही बाहर से लाने पड़ें, पर और चीजें गाँव में ही बनालो। शहर की चीजें गाँव में ही बनालो और गाँव की ही चीजें खरीदो ।

"हर गाँव को हरा-भरा गोकुल बनाना है । यह अपने पैरों पर खड़ा हो, उसमें सब लोग हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त हों, सब मेहनती हों, सब एक-दूसरे से प्रेम करते हों । ईख का कोल्हू चल रहा है, चरखा कत रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेल का कोल्हू चूँ-चर बोल रहा है, कुएँ पर मोट चल रही है, ग्वाला गायें चरा रहा है और वंशी बजा रहा है । ऐसा गाँव बनने दो । इसी का नाम हो--गोकुल ।"

३--दुर्व्यसन बिल्कुल मिट जाने चाहिए । कुछ लोग दिन भर बीड़ी फूँकते हैं । वे कहते हैं कि--'बीड़ियाँ तो घर की ही बनी हैं, बाहर से थोड़े ही आती हैं ।' अरे, भाई जहर अगर घर का हो, तो क्या खा लोगे ? तो जहर चाहे घर का हो चाहे बाहर का उसे तो छोड़ ही देना है । व्यसन सभी बुरे हैं । बीड़ी हो या शराब--सबको छोड़ना जरूरी है । हिन्दू धर्म में भी इसकी मनाही है और मुसलमानी धर्म में भी उसे बुरा कहा गया है । साथ ही बात-बात में तकरार करना भी छोड़ दो । अगर कभी हो जाय तो गाँव के पाँच जने मिलकर उसे सुलझा लो ।

४--अगर गाँव वाले ऊपर की तीन शिक्षाओं पर अमल करने लगेंगे, तो फिर कर्ज लेने की जरूरत ही नहीं रह जायेगी । धीरे-धीरे साहूकारों के फन्दे से छूटने की कोशिश करनी चाहिए । पर कर्ज के फेर में पड़कर बाल-बच्चों की फिक्र करना बन्द मत कर दो । खुद भी भर पेट खाओ और बच्चों को भी खिलाओ । घर की जरूरत पूरी होने पर जो बचे उससे कर्ज चुकाते जाओ और नया कर्ज कभी न करो ।

५--जब इस तरह तुम चार मार्गों को रोककर लक्ष्मी को गाँव में ठहराये रहोगे तो सरकार तो स्वयं ही रास्ते पर आ जायेगी । लक्ष्मी तो दर-असल गाँव में ही रहती है । पेड़ों में फल लगते हैं खेतों में गेहूँ होता है गन्ना होता है--यही तो सच्ची लक्ष्मी है ।

ईशावास्यमिदं सर्वं

विनोबा गीता और उपनिषदों के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। गीता पर उनका प्रवचन वर्तमान समय के लिये धर्म का एक

विशेष मार्ग-दर्शन माना गया है । विनोबा ने उसके आरम्भ में ही स्पष्ट कह दिया है कि 'गीता' किसी विशेष सम्प्रदाय या खास युग से बँधी नहीं है । वरन् उसका सिद्धान्त इतना सर्वकालीन और विकसनशील है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व आज से सर्वथा भिन्न वातावरण और समाज संगठन में कही जाने पर भी वह इस बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में भी वैसी ही उपयोगी सिद्ध हो रही है । इसका मूल कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है—"पुरानी संज्ञा परिभाषा को नया अर्थ प्राप्त करा देना गीता की प्रवृत्ति है । पुराने शब्दों से नया अर्थ उन्मीलित करना विचार क्रान्ति की अहिंसक प्रक्रिया है । भगवान् व्यास इस कला में अति कुशल हैं । इसलिये गीता के शब्दों का सामर्थ्य विकासशील रहा है । अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभव के अनुसार विचारक तत्वदर्शी उसमें से विविध अर्थ पाते है । विचारकों की भूमिका के अनुसार सभी अर्थ समुचित हो सकते हैं ।"

ऐसी ही विवेचना उन्होंने "ईशावास्योपनिषद्" की व्याख्या में की है । इस उपनिषद् का मुख्य सिद्धान्त इसके पहले श्लोक में ही बतला दिया गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यांजगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।

"इस जगत् में जो कुछ भी है वह सब ईश्वर द्वारा आच्छादित है । अर्थात् उसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है और वही उसका स्वामी है । इसलिये मनुष्यों को उन सब सांसारिक पदार्थों का उपभोग त्याग और न्याय की भावना रखकर ही करना चाहिए, क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी इस भौतिक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं कहा जा सकता ।"

सन्त विनोबा ने इसी शाश्वत सिद्धान्त का प्रयोग भूदान-यज्ञ के लिये किया और लोगों को समझाया कि जमीन किसी एक व्यक्ति की नहीं हो सकती । इसे न तो किसी ने बनाया और न कोई इसे अपने साथ लाया या ले जा सकता है । यह तो भगवान की ही बनाई है और उसने इसे मनुष्य मात्र के उपयोग के लिये दे दिया है । अब यदि इस पर कोई एक आदमी अपना अधिकार जमाकर दूसरों को उसका उपयोग करने से रोके तो यह स्पष्टतः ईश्वरीय आदेश के विपरीत है । इसी आधार पर उन्होंने जनता के सम्मुख यह नारा लगाय—

सबै भूमि गोपाल की ।
नहीं किसी की मालिकी ।।

इसका मतलब उन्होंने यही समझाया कि—"जितनी जमीन है, जितनी दौलत है, लक्ष्मी है—सब भगवान् की है, किसी आदमी की नहीं । इस पर किसी की मालिकी नहीं चल सकती । जो लोग कहते हैं कि फलां आदमी इतनी जमीन का मालिक है, वह गलती करते हैं । पृथ्वी तो हमारी माता है । हम उसकी सेवा कर सकते हैं, उसके मालिक होने की बात कैसी ?"

पर आज जमाना उलटी चाल चल रहा है । जिन लोगों ने हल, बैल, खुरपी, फावड़ा से कभी हाथ नहीं लगाया वे ही अधिकांश जमीन के मालिक बने बैठे हैं । उन्होंने जमीन के चारों तरफ दीवार खड़ी करके या तार लगाकर उसके फाटक पर 'नो एडमिशन' (प्रवेशाधिकार नहीं) लिख दिया हैं । चाहे वे उस जमीन को खाली पड़ी रहने दें या उस पर तम्बाकू, अफीम, भाँग, गाँजा, चाय आदि कोई अनावश्यक और हानिकारक पदार्थ बोयें, पर दूसरे लोग जिनको वास्तव में अन्न पैदा करके अपना पेट भरने की आवश्यकता है, उसमें कदम नहीं रख सकते । यह स्थिति बड़ी अस्वाभाविक है और समस्त सामाजिक अशान्ति तथा तरह-तरह के अपराधों की जड़ है । मालूम होता है कि जब तक सम्पत्ति की मालिकी का रोग न मिटेगा अथवा स्वयं 'सम्पत्ति' का ही अन्त न हो जायेगा तब तक दुनिया में शान्ति, प्रेम, एकता न होगी ।

विनोबा ने यही आदर्श सामने रखकर कार्य आरम्भ किया, वे सच्चे धर्म को मानने वाले थे और चाहते थे कि मनुष्य ईश्वरीय आदेश का पालन करें—संसार के ईश्वर प्रदत्त पदार्थों पर अपना अधिकार जमाकर दूसरों को इनसे वंचित न करें । जब उन्होंने देश के लाखों व्यक्तियों और उनके स्त्री बच्चों को निर्वाह के साधनों की कमी के कारण भूखे नंगे रहते देखा तो उनके हृदय को बड़ी पीड़ा हुई और उसी भावना से अन्त में उनको 'भू-दान' आन्दोलन की प्रेरणा मिली । "ईशावास्योपनिषद्" के सिद्धान्तानुसार वे लोगों को यही उपदेश देते हैं कि तुम अपने पास उतनी ही सामग्री रखो जिसकी तुमको वास्तव में आवश्यकता हो । आवश्यकता से अधिक पर अधिकार जमाने वाला और उसमें से दूसरे जरूरतमन्दों को भाग न देने वाला 'गीता' के कथनानुसार 'चोर' है ।

इस सिद्धान्त की सचाई और महानता से कोई इन्कार नहीं कर सकता । यही भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक आचार्यों का 'अपरिग्रह' व्रत है । और यही वर्तमान युग के समाजवादी अथवा अराजकतावादी सिद्धान्त का सार है । आज संसार में जो हलचल मची है, अशान्ति फैल रही है, सर्वनाश के लक्षण पैदा हो रहे हैं, उन सबका कारण उपर्युक्त ईश्वरीय आदेश की अवहेलना ही है । इसी के कारण

दुनिया गरीब और अमीर, शोषित और शोषक, साम्यवादी और पूँजीवादी दलों में बँटी हुई है और उनकी कलह मानव सभ्यता के लिए एक भयंकर खतरे का रूप धारण करती जाती है । मानवता की रक्षा के लिये इस समस्या को सुलझाना अनिवार्य है ।

आस्तिक और नास्तिक

जब विनोबा ईश्वर का नाम लेकर गरीबों की सहायता के लिए अपील करते हैं तो कुछ ऐसे व्यक्ति भी निकल आते हैं जो अपने को अनीश्वरवादी कहते हैं और समझते हैं कि धर्म-ग्रन्थों में जिन बातों को ईश्वरीय वाक्य बतलाया गया है वे हम पर लागू नहीं होतीं । कांचीपुरम् (मद्रास) में किसी ने विनोबा से कहा कि–"यहाँ एक ऐसा समुदाय है जो ईश्वर को नहीं मानता ।" वे कहने लगे कि–"इसमें कौन-सी नई बात हो गई । ऐसे आदमी सारे देश में हैं सारी दुनिया में हैं हमें इसकी कोई परवाह नहीं, क्योंकि वे लोग भले ही भगवान को न मानें, भगवान तो उनको मानता है । बच्चा माँ को भूल जाय तो कोई बात नहीं, माँ बच्चे को भूल जाय तो बड़ी बात है ।"

"जो लोग यह कहते हैं कि हम भगवान् को नहीं मानते वे यह तो कहते ही हैं कि हम सज्जनता को मानते हैं, मानवता को मानते हैं । हमारे लिए इतना ही बहुत है । कोई आदमी मानवता को माने और भगवान को न माने तो हमें चिन्ता नहीं । क्योंकि मानवता को मानना और ईश्वर को मानना हमारी निगाह में एक ही बात है । इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग भगवान् को मानते हैं उन सबका भी एक-सा विचार कहाँ है ? हम मानते हैं कि ईश्वर है भी और नहीं भी है और दोनों से परे भी है । भगवान को कोई शिवजी के रूप में मानता है, कोई विष्णुजी के रूप में, कोई देवी के रूप में । इसी तरह यदि वास्तव में उसे शून्य के रूप में मानते हैं तो हमे कोई ऐतराज नहीं। इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं ।"

भगवान पर विश्वास रखने से उसका नाम लेकर आगे बढ़ने से अनेक दुनियादारी सामान्य स्तर के व्यक्तियो को सहारा मिलता है, मार्ग में कठिनाई आने पर भी साहस बना रहता है और अनुचित कार्य से भय लगता है । पर यदि किसी की बुद्धि मे ईश्वर का प्रचलित स्वरूप नहीं आता, कोई व्यक्ति यदि यह मानने से इन्कार करता है कि भगवान आकाश स्थिति किसी लोक में सिंहासन पर बैठकर राजाओं की तरह सबका न्याय और संसार की व्यवस्था करता है, तो इसमें कोई हानि नहीं । अगर किसी मनुष्य में इतना आत्मविश्वास और नैतिक बल हो कि वह अपना मानव कर्तव्य स्वयं ही अच्छी तरह पालन कर सकता है समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ठीक तरह निर्वाह कर सकता है तो उसमें और आस्तिक में कोई भेद मानना आवश्यक नहीं है । भगवान भी मनुष्य की ऊपरी बातों को–प्रथा और परम्पराओं को नहीं उसके हार्दिक भावों और सचाई को देखते हैं । इसी आधार पर विनोबा ने नास्तिकों को 'मानव-कर्तव्य' का पालन करने की प्रेरणा देते हुए आस्तिकों को भी नहीं छोड़ा, क्योंकि वे उनकी कमजोरियों को खूब जानते थे । उन्होंने कहा–

"बहुत लोग मानते हैं कि चन्दन लगाने से, माला फेरने से, राम का नाम लेने से, झांझ-मजीरा लेकर कीर्तन करने से भगवान प्रसन्न होते हैं । ये सब चीजें अच्छी हो सकती हैं, लेकिन भगवान खुश होते हैं–ईमानदारी से, सचाई से, दया से, प्रेम से, सेवा से । ये गुण हैं तो दूसरी चीजें भी अच्छी हो सकती हैं, ये नहीं तो कुछ नहीं ।"

भगवान की सबसे पहली आज्ञा यही है कि मनुष्य को यह अद्भुत कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मनुष्य शरीर और भले-बुरे को समझ सकने का विवेक दिया है । उसका उपयोग सदैव अपने और दूसरों के कल्याण के लिए किया जाय । 'आस्तिकता' का अर्थ इतना ही नहीं है कि प्रातःकाल उठकर कुछ भजन कर लिया जाय या मन्दिर जाकर भगवान की मूर्ति का दर्शन कर लिया जाय । आवश्यकता तो यह है कि दिन भर अपने समस्त कामों में भगवान के आदेश का ध्यान रखें, उसके विपरीत आचरण न करें । विनोबा कहते हैं–

"किसान खेत में काम तो करता है, लेकिन खेत जोतते हुये पड़ोसी की जमीन में कुछ हाथ बढ़ा देता है । कहता है कि दूसरे के खेत में घास ही है, उसमें क्या नुकसान है? यह तो धर्म नहीं, अधर्म है । उस किसान से भगवान कैसे खुश होगा ? मजदूर मालिक के खेत में काम करता है । नाम तो वह काम का लेता है पर बीच-बीच में आलस्य करता है । जब बैल की तरह उस पर भी देख-रेख रखी जाती है, तब तो वह काम करता है, नहीं तो वह बैठ जाता है । उसे आठ घण्टे काम करना चाहिए लेकिन यह मुश्किल से चार घण्टे काम करता है । कहता है–"यह तो मालिक का काम है अपना इसमें क्या बिगड़ता है ?" यह भी धर्म नहीं है और न इससे भगवान खुश हो सकता है । इसी तरह मालिक भी मजदूर से दिन भर काम लेकर उसे पूरी मजदूरी देने में झूँठे बहाने निकालता है और उसके कुछ पैसे काट लेता है । यह भी भगवान का मार्ग–धर्म नहीं है ।"

"हमारे पास जो धन-दौलत है, शक्ति है, उसका उपयोग हम अपने साथ ही अपने पड़ोसियों के हित की दृष्टि से भी

करें तो यह भगवान की भक्ति कही जायगी । हम सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, इसलिये हम सब मिलकर काम करें, मिल बाँटकर खायें एक होकर भगवान का नाम लें तो ईश्वर अवश्य प्रसन्न होगा । हम ईमानदारी से अपना काम करें, पूरा काम करें, तो भगवान खुश होगा । हम शराब न पियें, व्यसन न पालें, झगड़ा न करें, तो भगवान खुश होगा । जो लोग अपने को 'आस्तिक' कहते हैं, भगवान को मानते है, धर्म को मानते है, उनको चाहिए कि ऐसे ही काम करें जिससे भगवान उनसे खुश रहे ।"

आस्तिक हो या नास्तिक, ईश्वर के निकट पहुँचने का अधिकारी वही होगा जो स्वार्थ को कम करके परमार्थ का व्यवहार भी करेगा । इस समय संसार में सबसे हानिकारक प्रवृत्ति समाजोपयोगी वस्तुओं पर अपना अधिकार जमा कर उनका ज्यादा से ज्यादा हिस्सा अपने लिये रख लेने, ताले में बन्द कर देने की है । इसी से लोगों में तरह-तरह के झगड़े और दोष-दुर्गुण फैलते हैं । इसलिये विनोबा यही कहते हैं कि तुम चाहे भगवान को मानो या न मानो पर 'मालिकियत' सबको छोड़नी पड़ेगी । 'स्वामी' बनने की हवस छोड़कर अपना न्याययुक्त भाग प्राप्त करने में सहायता दो तो तुम भगवान के भक्त ही माने जाओगे, चाहे मुँह से या उसका नाम लो या न लो ।

दान नहीं गरीबों का हक

विनोबा ने अपने जीवन काल में भूमिहीनों के लिए लाखों एकड़ जमीन प्राप्त की । उनका कहना था–"मैं जमीन माँगता नहीं, मैं भीख माँगता नहीं । मैं तो गरीबो का हक माँगकर उनको दे देना चाहता हूँ ।" वास्तव में माँगने में दान ग्रहण करने में हीनता की भावना अवश्य ही रहती है। और उससे मनुष्य की मानवता को धक्का लगता है । एक पौराणिक कथा है कि जब ब्रह्माजी ने महर्षि वशिष्ठ जी से सूर्यवंशी राजाओं का पुरोहित बनने को कहा तो वे बड़े दुःखी हुए और कहा कि 'प्रतिग्रह' या 'दान' ग्रहण करना आत्म-बल और सम्मान को नष्ट करने वाला है, इसलिये मैं पुरोहितों के धन्धे को नापसन्द करता हूँ । अन्त में जब ब्रह्माजी ने उनको सूर्यवंश में भगवान के अवतार होने का आश्वासन दिया तब कहीं जाकर वे बड़े संकोच के साथ इस कार्य के लिए तैयार हुए ।

विनोबा भी इसी विचार के थे इसलिये वे इस बड़ी उम्र में भी बिना कड़ी मेहनत किये अपने निर्वाह की सामग्री नहीं लेते थे । गरीबों की सामाजिक समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने जो भूदान प्रचलित किया उसमें भी उन्होंने यही भाव रखा है कि मनुष्य जमीन पर परिश्रम करके अपने पसीने की कमाई खाये । एक प्रवचन सभा में जब उन्होंने भूमि-दान की अपील की तो एक व्यक्ति उठकर उनके पास आया और उसकी जेब में जितना रुपया पैसा था सब निकालकर सामने रख दिया और कहा–"बाबा, आप यह रुपया गरीबों में बाँट दीजिये ।"

विनोबा–"भाई, मैं गरीबों को लज्जित नहीं करना चाहता । इस रुपया ने ही तो सारी खराबी फैलाई है । गरीबों को रुपया बाँटने से काम नहीं चलेगा । अगर आपको गरीबों से सहानुभूति होती है, तो आप इसी रुपया से थोड़ी जमीन खरीदकर गरीबों को दे डालिये । उस पर वे मेहनत करेंगे और अपना पसीना बहाकर फसल पैदा करेंगे । उसमें उन्हें शान मालूम होगी । पैसा बाँटने से तो उनकी शान में बट्टा लगेगा ।"

एक मुसलमान भाई से विनोबा की भेंट हुई तो उनसे भी कहा--"आप गरीबों के लिए अपनी जमीन में से हिस्सा दीजिये ।"

उन्होंने जबाब दिया–"कितना हिस्सा दूँ ।"

विनोबा–"छठा हिस्सा दीजिये ।"

"छठा हिस्सा ही क्यों ? उसके पीछे क्या उसूल है ?"

विनोबा–घर में अक्सर पाँच भाई होते हैं । मैं छठा भाई बनकर हिस्सा माँगता हूँ ।"

उन सज्जन ने कहा–आपका कहना बिल्कुल ठीक है । हम लोग पाँच भाई हैं । लेकिन हमारे यहाँ (मुसलमानों में) बहिनों का भी हक माना गया है । मेरी दो बहिनें हैं ।"

विनोबा–"अगर आप सात भाई-बहन हैं तो मैं आठवाँ हुआ । मुझे आप आठवाँ भाग दें ।"

उन्होने प्रसन्नतापूर्वक अपनी जमीन का आठवाँ भाग 'भू-दान' में दे दिया ।

विनोबा जब तैलंगाना के कम्यूनिष्टों से मिले तो उनको समझाया कि–"तुम लोग रात में क्यो लूटते हो ? मेरे साथ आओ तो मैं तुम्हें बताऊँगा कि दिन दहाड़े किस तरह लूटा जाता है ।" और सचमुच उन्होंने दो-चार दिन में ही अपनी बात को यथार्थ कर दिखा दिया–

"एक दिन प्रवचन में एक भाई ने उठकर कहा–"मैं एक एकड़ जमीन भू-दान के लिये देना चाहता हूँ ।"

विनोबा–आपके पास कुल कितनी जमीन है ?

"लगभग तीन सौ एकड़ होगी ।"

विनोबा–"फिर भी मुझे केवल एक ही एकड़ क्यों देना चाहते हैं ? इतना कम देने से आपकी बदनामी होगी । मैं गरीबों और अमीरों दोनों की इज्जत बढ़ाना चाहता हूँ । अगर मुझे कोई आश्रम बनाना होता तो मैं आपसे थोड़ी जमीन ही ले लेता । लेकिन मैं तो गरीबों का दरिद्र नारायण का प्रतिनिधि हूँ मुझे तो उनका हक चाहिये ।"

इस प्रकार समझाने से वे एक के बजाय तीस एकड़ जमीन दे गये । इसी प्रकार बिहार की एक चीनी मिल का योरोपियन मैनेजर मिलने को आया तो उसने कहा--"बाबा ! मेरा एक फार्म है । उसकी पचास एकड़ जमीन मैं भूदान में देता हूँ ।"

विनोबा--"आपके फार्म में कुल कितनी जमीन है ।"

मैनेजर--"फार्म में ६०० एकड़ जमीन है ।"

विनोबा--"तो पचास एकड़ मुझे और चाहिए । जमीन का छठा हिस्सा मैं चाहता हूँ ।"

मैनेजर--"कोई बात नहीं, आप इसे मेरी पहली किश्त मान लीजिये ।"

बाबा ने उनकी बात स्वीकार की । साथ ही यह प्रार्थना भी की कि आप अपनी मिल और फार्म में मजदूरों को भी साझीदार मानिये और उनके साथ समानता का व्यवहार कीजिये । इसी से आपकी और उनकी उचित रूप में उन्नति हो सकेगी ।

इस तरह लगातार १४-१५ वर्ष तक समस्त देश का पैदल भ्रमण करके विनोबा ने लाखों गरीबों की जीविका की व्यवस्था करने के साथ ही भारतीय जनता की दशा का निरीक्षण किया और उसकी समस्या को समझा । उन्होंने देखा कि जहाँ गरीबों को साधनों की कमी और उच्च वर्गों की असहानुभूति के कारण उनको पतित अवस्था में रहना पड़ता है, वहाँ उनकी अपनी त्रुटियाँ भी उनको दरिद्रता और निर्बलता की दशा में ग्रस्त रखने की जिम्मेदार हैं । इसलिये उन्होंने गरीबों को भूमि दिलाने के साथ ही उनसे दुर्व्यसनों के त्याग, मितव्ययिता, सहयोगी, प्रवृत्तियाँ, अशिक्षा उन्मूलन आदि की प्रतिज्ञायें भी कराईं । उन्होंने उनको समझाया कि उनकी आपस की फूट, मुकदमेबाजी और शराबखोरी की वजह से ही उनको उन्नति का अवसर नहीं मिलता और उनको सीमित साधन भी हानिकारक प्रवृत्तियों में बर्बाद हो जाते हैं । इसलिये उनको यदि भूदान के द्वारा लाभ उठाना है तो उनको अपना सुधार भी करना होगा, दोष और दुर्गुणों को त्याग कर ही वे सुखी-जीवन के अधिकारी बन सकेंगे ।

कन्याकुमारी में संकल्प

इस भारतवर्ष के विविध प्रदेशों की पैदल-यात्रा करते हुए विनोबा देश के अंतिम छोर 'कन्याकुमारी' तक जा पहुँचे । यह वही स्थान था जहाँ भारतभूमि का अन्तिम पत्थर हिन्दमहासागर के जल का स्पर्श करता है और जहाँ एक चट्टान पर बैठकर विनोबा के जन्म से भी पाँच वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने देशोद्धार की प्रतिज्ञा की थी । उस समय भारतवासी सोये पड़े थे और विदेशियों की विद्या तथा यान्त्रिक सभ्यता की चमक-दमक से प्रभावित होकर अपनी ऋषि-प्रणीत और संस्कृति से दूर हटते जाते थे । यहाँ के आर्थिक साधनों का शोषण भी विदेशी बड़ी मात्रा में कर चुके थे और सर्वत्र खोखलापन ही नजर आता था। यह देखकर विवेकानन्द अमरीका और योरोप पहुँचे और अपनी योग्यता और आत्म-शक्ति से विदेशों से साधन प्राप्त करके उन्होंने भारत-उद्धार का कार्य आरम्भ किया । फिर देश में जागृति हो जाने पर यहाँ वालों ने ही उनके संकल्प को पूरा कर दिखाया ।

इसलिये जब विनोबा उस 'अन्तिम पत्थर' पर पहुँचे, तो विवेकानन्द की आत्मा ने इनके भीतर एक नई भाव-प्रेरणा उत्पन्न की । वैसे तो कन्याकुमारी एक तीर्थ स्थान है । 'रामेश्वर' के यात्रियों में से अनेक यहाँ तक जाकर दक्षिण दिशा में भारत की अन्तिम सीमा के दर्शन कर आते हैं । पर उनको वहाँ कन्याकुमारी के साधारण मन्दिर और समुद्र जल से घिरी हुई छोटी-बड़ी चट्टानों के सिवाय कुछ दिखाई नहीं पड़ता । स्वामी विवेकानन्द का सन्देश उनको सुनाई नहीं पड़ता, उनमें से अधिकांश तो उनके नाम से भी अनजान होते हैं । पर जब भारतमाता के महान् सुपुत्र और संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष गाँधी के उत्तराधिकारी सन्त विनोबा यहाँ पहुँचे तो विवेकानन्द की आत्मा को परम सन्तोष हुआ और दोनों आत्मायें प्रेमपूर्वक मिलीं ।

विवेकानन्द की आत्मा ने कहा--"मैंने सत्तर वर्ष पूर्व इस स्थान पर जो प्रतिज्ञा की थी और फिर आगामी दस वर्षों में जो नव-निर्माण का श्री गणेश किया था वह लोक मान्य तिलक और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में दो सीढ़ियाँ और पार कर चुका है । अब तीसरी सीढ़ी तुम्हारे सामने है । विदेशियों के शासन से छुटकारा पाकर देश बाह्यरूप में स्वाधीन अवश्य बन गया है, पर सच्ची स्वाधीनता अब भी दूर है । भारतीय समाज के दोष-दुर्गुण अब भी मिटे नहीं थे, वरन् भौतिकता की वृद्धि के कारण उनमें नई-नई शाखायें फूट रही हैं । इस समय यह तुम्हारा कर्तव्य है कि भारतवासियों की आर्थिक समस्याओं को सुलझाते हुए उनको सच्चा ईश्वर-भक्त भी बनाओ । यह उद्देश्य केवल मन्दिर में जाकर भगवान का दर्शन कर लेने या नाम जप लेने से पूरा नहीं होगा । इन कामों के साथ नैतिकता पर चलने और चरित्र को ऊँचा बनाने की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है ।"

विनोबा ने उस महापुरुष की जीवनमुक्त आत्मा का सन्देश अच्छी तरह सुना उसके आशय को हृदयंगम किया

और उसी समय हाथ में समुद्र का जल लेकर तथा सामने उगते हुए सूर्य-देवता को साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा की–

"जब तक भारतवर्ष में ग्राम-राज्य की स्थापना नहीं होगी तब तक मेरी यह यात्रा जारी रहेगी।"

विनोबा जानते थे कि भारतवर्ष अब भी गाँव में ही बसा है। अब भी यह देश कृषि-प्रधान ही है। सौ में से ७५-८० व्यक्ति गाँव में ही रहते हैं और नगरनिवासियों में से भी एक बड़ा भाग ग्रामीणों का ही होता है। इसलिए जब तक भारत के ग्राम संगठित और स्वावलम्बी न होंगे तब तक उनकी समस्याएँ सुलझ नहीं सकेंगी और न वे पुनः भारत की आध्यात्मिक संस्कृति को उच्च लक्ष्य की तरफ अग्रसर होने के योग्य हो सकेंगे। इसलिए उन्होंने यही निश्चय किया कि ग्राम संगठन को सुदृढ़ बनाया जाय जिससे वहाँ के निवासी अपनी समस्याओं को स्वयं हल करके, स्वावलम्बी बनकर कल्याण-मार्ग पर आगे बढ़ सकें।

यह संकल्प करके विनोबा कन्याकुमारी से चले और पैदल ही केरल, महाराष्ट्र, राजस्थान और पंजाब होकर भारत की उत्तरी सीमा के 'पत्थर' 'पीर-पंजाल' तक जा पहुँचे। सुनने में तो यह साधारण सी बात हो गई। पर यह दो हजार मील के फासले की यात्रा जिसमें तेज से तेज रेलगाड़ी को भी तीन दिन और दिन रात से भी ज्यादा समय लग जाता है, ६५ वर्ष की अवस्था में, विनोबा ने कैसे पूरी की और इस बीच में लाखों बीघा भूमि माँगकर गरीबों को दान कर दी वह कोई साधारण बात नहीं है। एक लँगोटी लगाने वाला ऐसा काम कर दिखावें, तो इसे ईश्वर का प्रसाद ही कह सकते हैं।

डाकुओं का हृदय-परिवर्तन

पीरपंजाल को पार करके विनोबा ने कश्मीर का भ्रमण किया। वहाँ के मुसलमान निवासियों ने भी उनका अपने एक 'गुरु' (पीर) की तरह ही स्वागत सत्कार किया। वहाँ से चलते समय उनको आगरा के प्रसिद्ध डाकू मानसिंह के पुत्र तहसीलदार का पत्र मिला, जिसमें लिखा था–"बाबा! मुझे फाँसी की सजा मिली है। मरने से पहले मैं आपके दर्शन कर लेना चाहता हूँ।" अन्य लोगों ने भी उनसे कहा कि आप इस समस्या को प्रेम से सुलझाने का प्रयत्न करें। हिंसा से तो यह गत दस-पन्द्रह वर्षों मे सुधरी नहीं। पुलिस, जितने डाकुओं को पकड़ती या मारती है, उतने ही फिर नये पैदा हो जाते है। इन सब बातों को सुनकर विनोबा ने इन डाकुओं को अपना जीवन मार्ग बदलने का सन्देश देने का निश्चय किया। ८ मई को वे आगरा के निकट चम्बल के बीहड़ों में पहुँच गये जहाँ डाकुओं के क्षेत्र में उनके मुख्य सहकारी जनरल यदुनाथ सिंह थे। वे डाकुओं के पास जाकर विनोबा का यह सन्देश पहुँचाते रहे कि "डाका डालना किसी को मारना-पीटना, सताना गलत है। जो लोग अभी तक ऐसा गलत काम करते रहे हैं वे अब इसे छोड़ दें और अपनी जिन्दगी सुधार लें।" ८ जून तक एक महीना का समय उन्होंने इस काम में लगाया।

नतीजा यह हुआ कि लुक्का, लच्छी, भगवानसिंह, तेजसिंह, कन्हई जैसे २० प्रसिद्ध डाकुओं ने, जिनको मारने या पकड़ने के लिए सरकार ने बड़े-बड़े इनाम घोषित कर रखे थे। विनोबा के आगे अपने हथियार लाकर रख दिये और प्रतिज्ञा की कि अब ऐसा काम नहीं करेंगे।

एक डाकू ने बम्बई में अखबार में पढ़ा कि बाबा विनोबा चम्बल के बीहड़ों में घूम-घूमकर भूल में पड़े भाइयों को समझा रहे हैं तो उसे अपनी अन्तरात्मा से यह प्रेरणा हुई कि मैं पहुँचकर आत्मसमर्पण कर दूँ। उससे भेंट होने पर विनोबा ने अपनी प्रवचन सभा में कहा–

"आज जो भाई आये हैं, वे परमेश्वर के भेजे हुए ही आये हैं हमारा कोई साथी उनके पास नहीं पहुँचा था। ईश्वर ने प्रेरणा दी और वे यहाँ चले आये। ढाई हजार वर्षों से हम भगवान बुद्ध और डाकू अंगुलिमाल की कहानी सुनते आ रहे हैं। आज कलियुग माना जा रहा है, इस पर कलियुग में भी ऐसी ही कहानियाँ बन रही हैं, यही ईश्वर की कृपा है।"

इस पर दुर्धर्ष और कठोर हृदय-डाकुओं को हानिकारक समाज विरोधी मार्ग से हटाकर समाज-सेवा के कर्म में प्रवृत्त कर देना एक प्रकार का चमत्कार ही माना जायगा। जो दुस्साहसी व्यक्ति पुलिस और फौजवालों की रायफलों और मशीनगनों से नहीं डरते और डटकर उनका मुकाबला करते हैं, वे एक निहत्थे बुड्ढे आदमी के सामने नतमस्तक हो जायें तो यह दैवी शक्ति का ही एक कार्य समझा जा सकता है। जो लोग अध्यात्म शक्ति को केवल एक कल्पना की बात मानते हैं और केवल धन या शस्त्र की शक्ति को ही कारगर बतलाते हैं, वे इस घटना को देखकर अपनी भूल को सुधार सकते हैं। धन और शस्त्र की शक्ति तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ती है, पर अध्यात्म की शक्ति अप्रत्यक्ष होते हुए भी उन दोनों से बढ़कर है, यह तथा महात्मा गाँधी और संत विनोबा जैसी दैवी विभूतियों की कार्य प्रणाली से सत्य सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह विदित होता है कि यदि धन तथा शस्त्र की शक्तियाँ अध्यात्म के नियन्त्रण में रहें तभी वे दुनिया के लिए हितकारी हो सकती हैं।

पाकिस्तान की यात्रा द्वारा भी विनोबा ने इस तथ्य की पुष्टि की। वहाँ के शासक कैसे कट्टर, सम्प्रदायवादी और

हिन्दुओं से द्वेष रखने वाले हैं यह सभी को मालूम है । पर जब विनोबा आसाम की यात्रा करके वापस लौटे तो उन्होंने पाकिस्तान में होकर जाने का विचार किया । पाकिस्तान वालों ने उसे स्वीकार कर लिया और वहाँ पहुँचकर भी विनोबा ने वहाँ की जनता को प्रेम और करुणा का सन्देश दिया । उन्होंने कहा--"मुझे तो यहाँ कोई अन्तर नहीं जान पड़ता । जैसा हिन्दुस्तान वैसा पाकिस्तान । वही जमीन, वही पेड़-पौधे, वही लोग वही जनता । सब कुछ तो एक है ।"

पाकिस्तान में भी विनोबा का धूम-धाम से स्वागत सत्कार किया गया और जमीन माँगने पर १७५ बीघा जमीन की भेंट की गई जो उसी समय भूमि-हीनों में बाँट दी गई ।

चौदह-वर्ष (सन् १९५१ से १९६४ तक) लगभग ४३ लाख मील की पैदल यात्रा करके विनोबा ने जब पुनः अपने आश्रम-सेवाश्रम में प्रवेश किया तो उस समय तक उनको ४२३६९८२७ एकड़ जमीन भूदान में मिल चुकी थी और ७५६० ग्राम दान में मिले थे ।

शान्ति और क्रान्ति के उपासक

इस प्रकार के चमत्कार करने वाले विनोबा बचपन से ही सत्य न्याय और त्याग का जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे । उनकी माँ रुक्मणीबाई बड़ी भक्त और धर्मपरायण महिला थीं और इनको आरम्भिक अवस्था से ही सच्चरिता तथा सदाशयता की प्रेरणा देती रहती थीं । उस छूआछूत के जमाने में भी वह हरिजनों को भी मनुष्य मानकर कहा करतीं कि--"डोम, महार, चमार नीच नहीं है । यदि ये नीच होते तो इनमें 'विनोबा' जैसे सन्त कहाँ से उत्पन्न होते।" अगर पड़ोस की कोई स्त्री रुग्ण हो जाती तो रुक्मिणी बहिन उसकी सेवा करतीं, उसके यहाँ जाकर रसोई कर आती । स्त्री होने पर भी समाज सुधार के सम्बन्ध में उसके विचार बड़े उदार थे ।

एक तो विनोबा प्रकृति से ही संयमी, त्यागी और तपस्वी मनोवृत्ति के थे फिर उनको परिवार वाले भी इसी के अनुकूल मिल गये । बस, बचपन से ही उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर लिया और उनके अनुसार कठोर जीवन बिताने लगे । माँ उनके लिए गद्दा बिछाती, तो वे सोते समय उसे उठाकर अलग रख देते और कम्बल बिछाकर ही सो जाते । वे नंगे पैर रहते और जाड़ों में भी ठण्डे पानी से नहाते जब ठण्ड ज्यादा होती तो इनकी कम उम्र का खयाल करके माँ पानी गरम कर देती तो वे कहते--"यदि स्नान करूँगा तो ठण्डे जल से ही करूँगा अन्यथा करूँगा ही नहीं।"

विनोबा जब हाईस्कूल में पढ़ते थे, उन्हीं दिनों घर से समाचार आया कि--"तुम्हारे विवाह के लिए लड़की ठीक की जा रही है ।" विनोबा ने माँ को लिख दिया कि--"माँ, तुझे मेरी जरूरत हो तो विवाह की बात कभी मत उठाना । यदि जरूरत न हो तो बात दूसरी है । मैं एक बार ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर चुका हूँ अब उसे कभी छोड़ा नहीं जा सकता ।"

उन दिनों विनोबा का ध्यान दो तरफ लगा था । एक तरफ वे निजी तौर पर संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे और भारत के प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य की झाँकी ले रहे थे । वैदिक-कालीन ऋषि-मुनियों ने जिस ब्रह्म ज्ञान की चर्चा की है, उसी को प्राप्त करने के लिये उनका मन उत्सुक हो रहा था । वे अपने मन में कल्पना करते थे कि मैं हिमालय में भगवती भागीरथी के तट पर किसी शिला-खण्ड पर बैठा हुआ उपनिषद् और गीता के तत्वों का आन्तरिक रूप से अध्ययन और मनन कर रहा हूँ ।

दूसरी तरफ उस समय वे समाचार-ऑपत्रों में बंगाल के नेताओं तथा क्रान्तिकारियों के देशभक्ति पूर्ण उद्गार और कारनामों की बातें पढ़ते थे । इन लोगों ने किस प्रकार अपना सर्वस्व ही नहीं प्राण तक मातृभूमि की वेदी पर अर्पण कर दिये, इसको जानकर इनके मन में वैसा ही त्याग करने की भावना उत्पन्न होने लगी । इसलिए सन् १९१६ में जब वे इण्टर की परीक्षा देने को बम्बई जाने वाले थे, तो बिना घर वालों से कुछ कहे सुने काशी चले गये । इनकी इच्छा थी कि कुछ समय तक वहाँ संस्कृत का अच्छी तरह अभ्यास करके 'ब्रह्म' की खोज में लग जाय । उस समय अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने एक बार स्वयं कहा था--

"बचपन से मेरे मन में बंगाल के लिये बड़ा भारी खिंचाव था । रांममोहन, रवीन्द्रनाथ, रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द--मेरे मन्त्र देवता थे । मन में बड़ी साध थी कि कभी बंगाल जाऊँगा । सन् १९१६ में घर को छोड़कर ब्रह्म की खोज में बाहर निकला । सोचा था कि वहाँ से हिमालय जाऊँगा । बंगाल घूम आने की बात भी मन मे छिपी पड़ी थी । दैवयोग से दोनों मे से एक भी उद्देश्य पूरा न कर पाया । चला गया गाँधीजी के पास और वहाँ मेरी दोनों साधें पूरी हो गईं । बापू में मुझे मिल गई हिमालय की शान्ति और बंगाल की क्रान्ति ।"

इसमें सन्देह नहीं कि जिसने अपने भीतर शान्ति और क्रान्ति दोनों का समन्वय कर लिया है, वही सच्चा आत्मज्ञानी और त्यागी-तपस्वी है । मैं शरीर पर भस्म रमाने वाले

अथवा धूनि तापने वाले साधुओं की तो कमी नहीं, वे इतने हैं कि आजकल कुछ अज्ञानी जनों को छोड़कर कोई उनकी पूछ भी नहीं करता, पर जिसने वास्तव में अपनी आत्मा को कुछ समझ लिया है--पहिचाना है वही चाहे जब हिमालय में रहकर शान्ति प्राप्त कर सकता है और जरूरत हो तो बंगाल की सी क्रान्ति करके अपने जीवन को सार्थक बना सकता है । सबसे अधिक महत्व की चीज है हृदय की सचाई और परमार्थ वृत्ति । केवल भोजन, वस्त्र, परिवार की चिन्ता में अपने समस्त जीवन को लगा देना बहुत सामान्य बात है । घटिया से घटिया मनुष्य और बहुत से पशु पक्षी भी इस उद्देश्य को पूरा कर लेते हैं । पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसा व्यक्ति न तो आत्मा को जान सकता है और न ईश्वर को । वह चाहे मुँह से भगवान का नाम लेता रहे, पूजा-पाठ भी करता रहे, पर वह रहेगा नितान्त सामान्य स्तर का ही । जिसने आत्म-तत्व को कुछ भी समझ लिया है, वह अवश्य ही लोक सेवा के मार्ग को ग्रहण करेगा और अपनी परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार और जितना बन पड़ेगा अपनी शक्ति को दूसरों के हित में लगायेगा ।

गाँधीजी और विनोबा

विनोबा आरम्भ से इसी पथ के पथिक थे । उन्होंने विद्यार्थी अवस्था में ही, जबकि उनके पिता श्री नरहर पन्त उनको आई० सी० एस०, या बैरिस्टर बनाने के स्वप्न देख रहे थे, निश्चय कर लिया था कि वे कोई नौकरी नहीं करेंगे। इसलिये उन्होंने अपने समस्त शिक्षा सम्बन्धी सर्टीफिकेट (प्रमाण-पत्र अपने हाथ से अग्नि देव को अर्पण कर दिये थे) इसके पश्चात् जब उन्होंने काशी में हिन्दू विश्व-विद्यालय के उद्‌घाटन उत्सव पर गाँधी जी के विचार सुने तो उनको जान पड़ा कि मैं जिस मार्ग को खोज रहा हूँ वह इन्हीं के पास है । ये काशी से चलकर अहमदाबाद में गाँधीजी के कोचरब गाँव वाले सत्याग्रह-आश्रम में कुछ दिन रहे । यह साबरमती आश्रम बनने से भी पहले की बात है । एकाध-सप्ताह बाद गाँधीजी ने उनसे कहा--"क्यों आश्रम जीवन पसन्द आया? यहाँ रहना तुमको अच्छा लगता हो और अपना जीवन सेवा में लगाना चाहते हो तो तुम आश्रम में रह जाओ । तुम्हारे यहाँ रहने से मुझे बड़ी खुशी होगी।"

विनोबा ने इन बातों पर अच्छी तरह विचार करके देखा तो उनको प्रतीत हुआ कि--"इस प्रकार जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है । इसमें सादगी है, सचाई है, श्रम है, त्याग है, सेवा है, देश-भक्ति है । इसके सिवा मुझे और क्या चाहिए ।" यह समझकर उन्होंने गाँधीजी से कह दिया कि मुझे यहाँ रहना पसन्द है । पर उसी समय उनके सामने एक और अवसर भी उपस्थित हो गया । ये काशी संस्कृत भाषा और अध्यात्म शास्त्र का अभ्यास करने गये थे । पर यहाँ दो महीने भी न रह पाये कि गाँधीजी का आकर्षण उनको आश्रम में खींच लाया । पर तब तक उनकी अध्ययन इच्छा पूरी नहीं हुई थी । इसलिये जब उनको यह मालूम हुआ कि 'बाई' कस्बे में श्रीनारायण शास्त्री मराठे नामक विद्वान् विद्यार्थियों को वेदान्त और अन्य शास्त्र पढ़ाते हैं, तो उनको कुछ समय यहाँ रहकर अपना शास्त्राभ्यास कर लेने की इच्छा हुई । वे गाँधीजी से कुछ दिनों की छुट्टी माँगकर बाई पहुँचे और कुछ महीनों में उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और उन पर शांकर, भाष्य, मनुस्मृति, पातंजल, योगदर्शन का विधिवत् अध्ययन कर लिया ।

पर इस कार्य में उन्होंने जितना सोचा था उससे ज्यादा समय लग गया, तो उन्होंने महात्मा गाँधीजी को एक पत्र में लिखा-- "एक साल पहले तबियत ठीक न होने से मैं आश्रम के बाहर गया था । सोचा था दो-तीन महीना 'बाई' में रहकर लौट आऊँगा । पर इतना अर्सा बीत गया फिर भी मेरा कोई ठिकाना नहीं '। इसलिये यदि वहाँ किसी को ऐसी शंका हुई हो कि मैं आश्रम में लौटूँगा या नहीं अथवा मैं जिन्दा भी हूँ या नहीं, तो यह स्वाभाविक ही है और इसमे सब दोष मेरा ही है । क्योंकि समय पर पत्र न लिखने की मेरी आदत है । पर अब मैं इतना लिख देना चाहता हूँ कि आश्रम ने मेरे दिल में खास स्थान बना लिया है । इतना ही नहीं, बल्कि मेरा जन्म ही आश्रम के लिये हैं, ऐसी मेरी श्रद्धा बन गई है ।........अधिक क्या कहूँ, जब भी सपने आते हैं, तभी मन में यही एक विचार आता है कि ईश्वर मुझसे कोई सेवा लेगा । इसलिए यहाँ भी आश्रम के नियमों के अनुसार अपना आचरण रखता हूँ । अर्थात् मैं आश्रम का ही हूँ और आश्रम ही मेरा साध्य है ।"

बाई में रहकर अध्ययन करते हुए भी ये दूसरों को शिक्षा देकर, हिन्दी प्रचार करके, चक्की पीसकर, पुस्तकालय स्थापित करके कुछ न कुछ सेवा कार्य करते ही रहे । आश्रम के व्रतों में से आस्वाद-व्रत अपरिग्रह, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य का उन्होंने अधिक से अधिक पालन किया । उनका पूरा हाल जानकर और आश्रम के प्रति उनकी अविचल श्रद्धा को देखकर गाँधीजी बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने विनोबा को पत्रोत्तर में लिखा--

"तुम्हें क्या कहकर चिट्ठी लिखूँ, यह मैं समझ नहीं पाता । तुम्हारा प्रेम और तुम्हारा चरित्र मुझे मोह में डुबो देता है । तुम्हारी परीक्षा करना मेरे बस की बात नहीं है । तुमने जो अपनी परीक्षा की है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ

और तुम्हारे लिए पिता का स्थान लेता हूँ । मैं जानता हूँ कि सच्चा पिता अपने से भी ज्यादा चरित्रवान् पुत्र पैदा करना चाहता है । सच्चा पुत्र भी वही है कि पिता ने जो कुछ किया है उसमें बढ़ती करें । तुमने ऐसा ही किया है और इसलिये तुमने मुझे जो पिता का पद दिया है उसमें तुम्हारी प्रेम की भेंट के रूप में स्वीकार करता हूँ । मैं भी उस पद के लायक बनने की कोशिश करूँगा ।"

जिस व्यक्ति के चरित्र की उच्चता और ध्येय के प्रति अटूट श्रद्धा की प्रशंसा करने में गाँधीजी को संकोच जान पड़े, निस्संदेह उसकी महत्ता का निर्णय कर सकना सहज काम नहीं है । यह तो आज से कई वर्ष पूर्व सन् १६१८ की बातें थी । पर आज हम विनोबा के चरित्र पर दृष्टि डालने से स्पष्ट कह सकते हैं कि उन्होंने गाँधीजी से जो कुछ कहा और गाँधीजी ने उनसे जिस प्रकार की आशायें रखीं थे सब शत-प्रतिशत ही नहीं वरन् उससे भी कई गुने रूप में चरितार्थ हो चुकी हैं । विनोबा न होते तो न मालूम इस प्रचधार-युग में जिसमें कांग्रेस के बड़े-बड़े स्तम्भ भी डगमगा गये, गाँधीजी के सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों की लाज कौन रखता ? अब जब बड़े-बड़े नाम वाले नेता पदवी और धन के पीछे ही नहीं पड़े हैं वरन् उन्होंने चरित्र और सचाई की भी चिन्ता छोड़ दी है, तब एक विनोबा ने ही उस लँगोटीधारी 'युग-पुरुष' के झण्डे को ऊँचा रखा और आज अपने आत्मदान से उसमें इतना बल भर दिया कि सच्चे गुण ग्राहकों के मुख से यही निकल रहा है कि 'गाँधी को सराहौं की सराहौं विनोबा भूदानी को ।'

विनोबा की समन्वयात्मक प्रवृत्ति

महात्माजी ने विनोबा को जो इतना प्रेम और सम्मान दिया यह निराधार नहीं था, लोक हित के कार्यों के लिये गाँधी जी की त्याग और तपस्या संसार में प्रसिद्ध है, उस पर स्थिति को उन्होंने बहुत समय में तथा बड़ा प्रयत्न करके प्राप्त किया था पर वे सब प्रवृत्तियाँ विनोबा में जन्मजात थीं, यह भी कहना अत्युक्ति नहीं है । खाने-पीने का स्वाद उनको बाल्यावस्था से ही नहीं था । कभी उनकी माँ दाल में नमक डालना भूल जाती अथवा अन्यमनस्क हो जाने दो बार डाल देती तो भी विनोबा को कुछ पता नहीं चलता और वे उसे बड़ी रुचि से खा लेते । जब अन्य भाई खाने को बैठते तो उसका पता लगता । इस तरह आस्वादव्रत का अभ्यास उनको आरम्भ से ही था । ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा उनने दस वर्ष की अवस्था में ही ले ली थी और आज ७५ वर्ष की उम्र तक निबाहते जाते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि यदि विनोबा ने विवाह कर लिया होता तो वे इस प्रकार का युग-परिवर्तनकारी कार्य नहीं कर सकते थे । महात्मा गाँधी और लोकमान्य तिलक की यही विशेषता थी कि वे गृहस्थ होते हुए, सांसारिक विषयों की व्यवस्था और भली प्रकार संचालन करते हुए भी त्याग की चरम सीमा पर पहुँच सकते थे । यह जीवनमुक्त व्यक्तियों का लक्षण है, प्रत्येक का उसे प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं ।

पर विनोबा में ये लक्षण स्वभावतः ही पाये जाते थे । उन्होंने जो अपने पत्र में महात्मा गाँधी को लिखा था कि-"मुझे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है मेरा जन्म ही आश्रम के लिये हुआ है ।" यह सत्य ही था । ऐसी दैवी विभूतियाँ किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिये संसार में आया करती हैं । विनोबा में छोटी अवस्था से ही गीताध्ययन की जो प्रवृत्ति दिखाई देती थी और उसी के अनुसार उनमें जो ज्ञान कर्म और भक्ति का आविर्भाव हो गया था वह उनकी इस विशेषता को प्रमाणित करता है ।

ज्ञान और कर्म की मात्रा उनमें पहले ही अधिक थी, पर अब जनता की सेवा करते हुए भक्ति-भावना विशेष रूप से विकसित होती जाती है । दक्षिण भारत की एक सभा में जब ये भाषण देने को खड़े हुए तो सामने ही कपड़े पर तेलुगु भाषा में लिखा दिखाई पड़ा-

"रामराज्यमु स्थापनचंदि"

अर्थात्-"रामराज्य की स्थापना कीजिये ।" उस दिन विनोबा ने अपने भाषण में इसी की विशेष रूप से व्याख्या की और कहा-"कौन करेगा रामराज्य की स्थापना ? इसमें संदेह नहीं कि रामराज्य से ही दुनिया के दुःख मिटेंगे, पर रामराज्य हो कैसे ? हमारे मन में बुरी-बुरी बातें भरी हैं, लड़ाई-झगड़े की बातें भरी हैं, 'मेरे' 'तेरे' की बात भरी है, ऊँच-नीच की बात भरी हैं । इनको छोड़े बिना राम-राज्य कैसे आयेगा ? राम-राज्य का मतलब है 'सब का राज' । गरीब का राज, प्रेम का राज । सब लोग होंगे सेवक, राजा होगा राम ।"

यह समझाते हुए विनोबा का गला भर आया । कहने लगे-"लोग हमसे पूछते हैं कि बाबा पाँच साल तो घूमे और अब कहाँ तक घूमते रहोगे ?" हम पूछते हैं कि हमारे राजा राम तो चौदह साल वन-वन में भटके थे, हमारी कीमत ही क्या है ? यह कहते-कहते विनोबा सचमुच रो पड़े । उनके हृदय में गरीबों का दर्द इतना अधिक है कि जब उनके कष्टों का ध्यान आता तो वे रोने लग जाते हैं । यह भक्ति का चरण लक्षण है । नरसी मेहता ने वैष्णव-भक्तों की व्याख्या करते हुये सत्य ही कहा है-

"वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे ।"

अथवा धूनि तापने वाले साधुओं की तो कमी नहीं, वे इतने हैं कि आजकल कुछ अज्ञानी जनों को छोड़कर कोई उनकी पूछ भी नहीं करता, पर जिसने वास्तव में अपनी आत्मा को कुछ समझ लिया है-पहिचाना है वही चाहे जब हिमालय में रहकर शान्ति प्राप्त कर सकता है और जरूरत हो तो बंगाल की सी क्रान्ति करके अपने जीवन को सार्थक बना सकता है । सबसे अधिक महत्व की चीज है हृदय की सचाई और परमार्थ वृत्ति । केवल भोजन, वस्त्र, परिवार की चिन्ता में अपने समस्त जीवन को लगा देना बहुत सामान्य बात है । घटिया से घटिया मनुष्य और बहुत से पशु पक्षी भी इस उद्देश्य को पूरा कर लेते हैं । पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसा व्यक्ति न तो आत्मा को जान सकता है और न ईश्वर को । वह चाहे मुँह से भगवान का नाम लेता रहे, पूजा-पाठ भी करता रहे, पर वह रहेगा नितान्त सामान्य स्तर का ही । जिसने आत्म-तत्व को कुछ भी समझ लिया है, वह अवश्य ही लोक सेवा के मार्ग को ग्रहण करेगा और अपनी परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार और जितना बन पड़ेगा अपनी शक्ति को दूसरों के हित में लगायेगा ।

गाँधीजी और विनोबा

विनोबा आरम्भ से इसी पथ के पथिक थे । उन्होंने विद्यार्थी अवस्था में ही, जबकि उनके पिता श्री नरहर पन्त उनको आई० सी० एस०, या बैरिस्टर बनाने के स्वप्न देख रहे थे, निश्चय कर लिया था कि वे कोई नौकरी नहीं करेंगे। इसलिये उन्होंने अपने समस्त शिक्षा सम्बन्धी सर्टीफिकेट (प्रमाण-पत्र अपने हाथ से अग्नि देव को अर्पण कर दिये थे) इसके पश्चात् जब उन्होंने काशी में हिन्दू विश्व-विद्यालय के उद्घाटन उत्सव पर गाँधी जी के विचार सुने तो उनको जान पड़ा कि मैं जिस मार्ग को खोज रहा हूँ वह इन्हीं के पास है । वे काशी से चलकर अहमदाबाद में गाँधीजी के कोचरब गाँव वाले सत्याग्रह-आश्रम में कुछ दिन रहे । यह साबरमती आश्रम बनने से भी पहले की बात है । एकाध-सप्ताह बाद गाँधीजी ने उनसे कहा--"क्यों आश्रम जीवन पसन्द आया? यहाँ रहना तुमको अच्छा लगता हो और अपना जीवन सेवा में लगाना चाहते हो तो तुम आश्रम में रह जाओ । तुम्हारे यहाँ रहने से मुझे बड़ी खुशी होगी।"

विनोबा ने इन बातों पर अच्छी तरह विचार करके देखा तो उनको प्रतीत हुआ कि-"इस प्रकार जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है । इसमें सादगी है, सचाई है, श्रम है, त्याग है, सेवा है, देश-भक्ति है । इसके सिवा मुझे और क्या चाहिए ।" यह समझकर उन्होंने गाँधीजी से कह दिया कि मुझे यहाँ रहना पसन्द है । पर उसी समय उनके सामने एक और अवसर भी उपस्थित हो गया । वे काशी संस्कृत भाषा और अध्यात्म शास्त्र का अभ्यास करने गये थे । पर यहाँ दो महीने भी न रह पाये कि गाँधीजी का आकर्षण उनको आश्रम में खींच लाया । पर तब तक उनकी अध्ययन इच्छा पूरी नहीं हुई थी । इसलिये जब उनको यह मालूम हुआ कि 'वाई' कस्बे में श्रीनारायण शास्त्री मराठे नामक विद्वान् विद्यार्थियों को वेदान्त और अन्य शास्त्र पढ़ाते हैं, तो उनको कुछ समय वहाँ रहकर अपना शास्त्राभ्यास कर लेने की इच्छा हुई । वे गाँधीजी से कुछ दिनों की छुट्टी माँगकर वाई पहुँचे और कुछ महीनों में उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और उन पर शांकर, भाष्य, मनुस्मृति, पातंजल, योगदर्शन का विधिवत् अध्ययन कर लिया ।

पर इस कार्य में उन्होंने जितना सोचा था उससे ज्यादा समय लग गया, तो उन्होंने महात्मा गाँधीजी को एक पत्र में लिखा– "एक साल पहले तबियत ठीक न होने से मैं आश्रम के बाहर गया था । सोचा था दो-तीन महीना 'वाई' में रहकर लौट आऊँगा । पर इतना अर्सा बीत गया फिर भी मेरा कोई ठिकाना नहीं । इसलिये यदि वहाँ किसी को ऐसी शंका हुई हो कि मैं आश्रम में लौटूँगा या नहीं अथवा मैं जिन्दा भी हूँ या नहीं, तो यह स्वाभाविक ही है और इसमें सब दोष मेरा ही है । क्योंकि समय पर पत्र न लिखने की मेरी आदत है । पर अब मैं इतना लिख देना चाहता हूँ कि आश्रम ने मेरे दिल में खास स्थान बना लिया है । इतना ही नहीं, बल्कि मेरा जन्म् ही आश्रम के लिये है, ऐसी मेरी श्रद्धा बन गई है ।........अधिक क्या कहूँ, जब भी सपने आते हैं, तभी मन में यही एक विचार आता है कि ईश्वर मुझसे कोई सेवा लेगा । इसलिए यहाँ भी आश्रम के नियमों के अनुसार अपना आचरण रखता हूँ । अर्थात मैं आश्रम का ही हूँ और आश्रम ही मेरा साध्य है ।"

वाई में रहकर अध्ययन करते हुए भी वे दूसरों को शिक्षा देकर, हिन्दी प्रचार करके, चक्की पीसकर, पुस्तकालय स्थापित करके कुछ न कुछ सेवा कार्य करते ही रहे । आश्रम के व्रतों में से आस्वाद-व्रत अपरिग्रह, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य का उन्होंने अधिक से अधिक पालन किया । उनका पूरा हाल जानकर और आश्रम के प्रति उनकी अविचल श्रद्धा को देखकर गाँधीजी बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने विनोबा को पत्रोत्तर में लिखा–

"तुम्हें क्या कहकर चिट्ठी लिखूँ, यह मैं समझ नहीं पाता । तुम्हारा प्रेम और तुम्हारा चरित्र मुझे मोह में डुबो देता है । तुम्हारी परीक्षा करना मेरे बस की बात नहीं है । तुमने जो अपनी परीक्षा की है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ

इसके बाद विनोबा ने ईसाई धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' के न्यू टेस्टामेण्ट का अध्ययन शुरू किया और समन्वयवादी दृष्टिकोण से उसका सार निकालते हुए कहा--

"मेरे विचार से सब धर्मों का उद्देश्य लोगों के बीच मेलमिलाप और सौहार्द्र पैदा करना है कि जो धर्म जोड़ने के लिए बना है-वहीं तोड़ने का काम करने लगा और हजारों लाखों लोग धर्म के नाम पर मारे काटे गये । इसीलिये अब धर्म या मजहब के दिन लद गये । साथ ही राजनीति का जमाना भी खत्म हुआ । विज्ञान के इस युग में दुनिया को अध्यात्म या रुहानियत का रास्ता ही अपनाना होगा । जहाँ राजनीति और विज्ञान का गठबन्धन होने से उसका नतीजा सर्वनाश होता है वहाँ अगर अध्यात्म और विज्ञान एक हो जाय तो दुनिया में स्वर्ग का अवतरण होने लगेगा । विज्ञान का फायदा उठाना है उससे काम लेना है तो उसके साथ अध्यात्म को जोड़ना होगा और यदि उससे फायदा न उठाना हो, उसकी बदौलत मर-मिटना हो तो बीच में राजनीति को लाना चाहिए ।"

इस समय संसार के ऊपर जो संकट के बादल छा रहे हैं और जगह-जगह युद्ध की आग भड़क रही है उसके दो ही कारण हैं--एक दलबन्दी और दूसरा विज्ञान का दुरुपयोग । पहली खराबी के बढ़ने का मुख्य कारण कृत्रिम राष्ट्रीयता अथवा विभिन्न धर्मों में खेद करने की प्रवृत्ति है और दूसरी खराबी राजनीतिज्ञों और बड़े व्यवसायियों द्वारा विज्ञान को लूटने-मारने का साधन बना लेना है । जब विज्ञान के साथ अध्यात्म का मेल हो जायेगा तो उसका वर्तमान नक्शा बिल्कुल बदल जायगा । तब एटमबम तथा राकेटों की खोज करने के बजाय वैज्ञानिक उन विधियों को बढ़ाने की कोशिश करने लगेंगे जिनसे लोगों का ठीक ढंग से भरण-पोषण हो और पूर्ण स्वस्थ दीर्घायु और सुखी बनें ।

सादगी और संयम का जीवन

इतने बड़े विद्वान् और इतने बड़े नेता होकर भी विनोबा को न तो अहंकार छू गया था और न उनमें किसी प्रकार की बनावट या दिखावा । उन्होंने वैदिक सभ्यता के सिद्धान्तानुसार सन् १९१८ से ही सिले हुए कपड़े पहनना छोड़ दिया था । एक ही धोती को आधी बाँध लेते थे और आधी ओढ़ लेते थे । भोजन में नमक तक का त्याग भी उसी समय से कर रखा था । फिर किसी प्रकार के व्यसन की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती । गाँधीजी के आश्रम में रहकर प्रतिदिन चौदह से सोलह घण्टे तक कठोर श्रम करते रहे । अध्यापन रसोई से लेकर मेहनत तक का काम करते थे और भोजन बहुत ही सादा तथा मात्रा में भी बहुत कम । इस प्रकार की तपस्या वर्षों तक करते रहने पर शरीर सूख गया । अधिक पढ़ने से आँखें भी खराब हो गयीं । पर दूसरी तरफ इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े नेता भी उनको सम्मान की दृष्टि से देखने लगे । सन् १९२१ में ही सेठ जमनालाल बजाज ने वर्धा में एक आश्रम स्थापित किया तो उन्होंने उसकी व्यवस्था के लिए विनोबा को माँगा । महात्मा जी को उन्हें अपने से अलग करने में कुछ कष्ट मालूम हुआ तो भी उन्होंने सत्याग्रह का एक नया और सुदृढ़ केन्द्र स्थापित करने के उद्देश्य से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । विनोबा ने वर्धा आश्रम को किस प्रकार गाँधीजी के आन्दोलनों का एक प्रधान स्तम्भ बनाया, इस सम्बन्ध में इनके जीवन-चरित्र में एक स्थान कहा गया है--

"वर्धा आश्रम के चलाने में विनोबा जी को कठिन परिश्रम करना पड़ा । खादी कार्य से सम्बन्धित प्रयोगों में इनका प्रमुख योग रहा । लगातार कई घण्टे तक चर्खा और तकली के साथ बैठना इनका नित्य कर्तव्य था । खादी-प्रचार की मूल-भावना क्या है इसे लोगों को समझाने की चेष्टा वे सदैव किया करते थे । साथ ही कातना, धुनना, बुनना आदि क्रियाओं का भी उन्होंने पर्याप्त अध्ययन किया और उनका ज्ञान दूसरों को भी कराया । इसके अनेक नये-नये प्रयोग भी उन्होंने निकाले । यह कहा जा सकता है कि प्रयोग भाषण तथा लेखन द्वारा विनोबा जी ने जितना खादी का काम किया उतना महात्मा को छोड़कर किसी ने नहीं किया । इस सम्बन्ध में स्वयं महात्माजी ने लिखा था--

"विनोबा का यह विचार है कि व्यापक कताई को सारे कार्यक्रम का केन्द्र बनाने से ही गाँवों की गरीबी दूर हो सकती है । कताई को बुनियादी मानकर इन्होंने मूल-उद्योग कातना नामक पुस्तक भी लिखी है जिसका हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में बहुत अधिक प्रचार हुआ है ।"

विनोबा का कहना है कि संस्थाओं के स्थापित करने का उतना महत्व नहीं है, जितना कि अकेले ही जो बन पड़े उसे पूरी सचाई के साथ करते जाने का, संस्था में प्रायः बड़प्पन और पद लोलुपता का भाव उत्पन्न होता है जो हानि ही पहुँचाती है । एक बार कोई बड़े कार्यकर्ता विनोबा के पास आये और एक संस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में उनकी सम्मति पूछी । उन्होंने कहा--"आपको अनाशक्ति बुद्धि से सच्ची सेवा करनी हो तो संस्था खोलने के झमेले में मत पड़िये । स्वयं जितना बन सके उतनां सेवा-कार्य, बड़प्पन की इच्छा रखते हुए करते रहिये । इसी से जनता की सच्ची भलाई हो सकेगी ।"

विनोबा वेदान्त और शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र के विद्यार्थी होने पर भी सच्चे वैष्णव हैं । उन्होंने गरीबों की पीड़ा को बहुत अधिक अनुभव करके ही भूदान आन्दोलन चलाया है । इसके द्वारा अब तक एकाध करोड़ व्यक्तियों की रक्षा हो ही सकी है ।

ज्ञान-कर्म और भक्ति का समन्वय

विनोबा में ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी कितने वेग से बह रही थी । इसका कुछ अनुमान उनकी पुस्तकों से मिलता है, जिनमें उन्होंने सब धर्मों की एक सी खूबियाँ बतलाकर सिद्ध किया है कि विभिन्न धर्मों का सिद्धान्त एक-सा ही है । उनमें जो झगड़े हुआ करते हैं वे 'कट्टर" अथवा भ्रम में पड़े लोगों की करतूते हैं । इसलिये ज्ञान का लक्षण यही है कि प्रत्येक सिद्धान्त के सार को ग्रहण करके उनमें समन्वय की स्थापना करें । समन्वय का अर्थ है 'जोड़ना' अर्थात् अपने को मानव समाज में घुला मिला देना और उससे एकरूपता का अनुभव करना । 'भूदान' का काम करते हुये भी विनोबा यही कहा करते हैं कि मेरा काम जमीन बाँटना नहीं, दिलों को जोड़ना है ।"

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विनोबा ने एक काम यह भी किया था कि 'भूदान-पद-यात्रा' करते हुए विभिन्न धर्मों के प्रमुख ग्रन्थों का सारांश प्रस्तुत कर दिया, जिससे एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म के स्वरूप को भी समझ सकें और उसके प्रति सद्भाव रखते हुए अच्छी बातों को सब जगह से ग्रहण कर सकें । उनकी इस प्रकार की रचनाओं की विवेचना करते हुए उनके एक सहकारी श्री सुरेशराम ने लिखा है—

"विनोबा ने गीता से ही कार्यारम्भ किया है । उन्होंने बहुत वर्ष पहले 'गीताई' के नाम से 'गीता' का मराठी पदों में अनुवाद किया था जिसका वहाँ खूब प्रचार है । पर विनोबा जानते हैं कि संस्कृत या मराठी में कुछ लिखने से तो सब लोग अपना लाभ उठा नहीं सकते इसलिए धूलिया जेल में दण्डाज्ञा भोगते हुए उन्होंने गीता के १८ अध्यायों पर १८ प्रवचन हिन्दी में किये । बाद में यह इतने महत्वपूर्ण माने गये कि पुस्तकाकार छप गये और अब तक उसके कितने ही संस्करण हो चुके हैं जिनमें लाखों प्रतियाँ छापी गई हैं । इस पुस्तक का १८ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है । इसके गुजराती, मराठी और तामिल अनुवाद भी एक-एक लाख प्रचारित हो चुके है । इसकी भूमिका में विनोबा ने लिखा है—

"मेरे जीवन में गीता ने जो स्थान पाया है उसका मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता । 'गीता' का मुझ पर अन्त उपकार है । प्रतिदिन मैं उसका आधार लेता हूँ और प्रतिदिन मुझे उससे मदद मिलती है । उसका भावार्थ जैसा मैंने समझा है इन प्रवचनों में समझाने की कोशिश की है । मैं तो चाहता हूँ कि यह पुस्तक हर एक घर में पहुँचे जहाँ हिन्दी बोली जाती है । सब जगह इसका श्रवण, मनन और पठन हो ।"

इसी प्रकार उन्होंने बुद्ध भगवान के धम्मपद का नये सिरे से संकलन किया और उसके आरम्भ में लिखा है कि—"यह 'धम्मपद' की नवसंहिता पढ़कर पाठकों को प्रतीत होता है कि इसमें नये सिरे से समन्वय करने की बात नहीं है । समन्वय पहले से ही मौजूद है । गौतम बुद्ध से पहले ऋषियों अर्थात् ब्राह्मणों और तपस्वी श्रम की एक परम्परा पहले से ही चली आ रही थी । उनके विषय में नितान्त आदर रखकर गौतम बुद्ध ने अपने विचार प्रकट किये हैं । मुझे विश्वास है कि 'विश्व-मानव' के निर्माण में इससे कुछ मदद जरूर मिलेगी ।"

इसी तरह अपनी कश्मीर यात्रा के समय विनोबा ने सिक्खों के धर्म ग्रन्थ 'जंपुजी' का सामूहिक अध्ययन करके उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है और उसकी प्रस्तावना मे लिखा—

"यह नाम स्मरण की पुस्तक है । इसमें सत्पुरुष भगवान् की उपासना है । हम 'सत्यनिष्ठ' कैसे बनें ऐसा प्रश्न आरम्भ में ही उपस्थित किया है । अन्त में समस्त साधना का सारांश निर्भय और 'निरवैर' इन दो शब्दों मे बता दिया है । आज मनुष्यों के सामने जो समस्यायें उपस्थित है उनका हल इन दो शब्दों में मौजूद है ।"

जब विनोबा ने इसी प्रकार 'कुरान' का सार निश्चय किया तो लोगो ने इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ बतलाईं । उनमें सबसे मुख्य यह थी कि कहीं मुसलमान अपने धर्म ग्रन्थ का इस प्रकार संक्षिप्त संस्करण बनाने में नाराज न हो जायें । पर विनोबा की भावना पूर्ण रूप से निष्पक्ष और शुद्ध थी । इसलिये उन्होंने एक संकलन तैयार करके उसे "रूहुल कुरान" के नाम से प्रकाशित कराया । इसी प्रस्तावना में कहा गया है—

"साइंस ने दुनिया छोटी बना दी और सब इन्सानों को नजदीक लाना चाहता है । ऐसी हालत मे इन्सानी समाज फिरको में बँटा रहे, हर जमात अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझें यह कैसे चलेगा ? हमें एक दूसरे को ठीक समझना होगा । वर्षों से भूदान के लिए मेरी पद-यात्रा चलती रही, इसका मुख्य उद्देश्य दिलों को जोड़ना है । बल्कि मेरी जिन्दगी के कुछ काम दिलो को जोड़ने के लिए सदुद्देश्य से ही प्रेरित हैं ।"

इसके बाद विनोबा ने ईसाई धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' के न्यू टेस्टामेण्ट का अध्ययन शुरू किया और समन्वयवादी दृष्टिकोण से उसका सार निकालते हुए कहा--

"मेरे विचार से सब धर्मों का उद्देश्य लोगों के बीच मेलमिलाप और सौहार्द्र पैदा करना है कि जो धर्म जोड़ने के लिए बना है वहीं तोड़ने का काम करने लगा और हजारों लाखों लोग धर्म के नाम पर मारे काटे गये । इसीलिये अब धर्म या मजहब के दिन लद गये । साथ ही राजनीति का जमाना भी खत्म हुआ । विज्ञान के इस युग में दुनिया को अध्यात्म या रुहानियत का रास्ता ही अपनाना होगा । जहाँ राजनीति और विज्ञान का गठबन्धन होने से उसका नतीजा सर्वनाश होता है वहाँ अगर अध्यात्म और विज्ञान एक हो जाय तो दुनिया में स्वर्ग का अवतरण होने लगेगा । विज्ञान का फायदा उठाना है उससे काम लेना है तो उसके साथ अध्यात्म को जोड़ना होगा और यदि उससे फायदा न उठाना हो, उसकी बदौलत मर-मिटना हो तो बीच में राजनीति को लाना चाहिए ।"

इस समय संसार के ऊपर जो सकट के बादल छा रहे हैं और जगह-जगह युद्ध की आग भड़क रही है उसके दो ही कारण हैं--एक दलबन्दी और दूसरा विज्ञान का दुरुपयोग । पहली खराबी के बढ़ने का मुख्य कारण कृत्रिम राष्ट्रीयता अथवा विभिन्न धर्मों मे खेद करने की प्रवृत्ति है और दूसरी खराबी राजनीतिज्ञों और बड़े व्यवसायियों द्वारा विज्ञान को लूटने-मारने का साधन बना लेना है । जब विज्ञान के साथ अध्यात्म का मेल हो जायेगा तो उसका वर्तमान नक्शा बिल्कुल बदल जायगा । तब एटमबम तथा राकेटों की खोज करने के बजाय वैज्ञानिक उन विधियों को बढ़ाने की कोशिश करने लगेंगे जिनसे लोगों का ठीक ढंग से भरण-पोषण हो और पूर्ण स्वस्थ दीर्घायु और सुखी बनें ।

सादगी और संयम का जीवन

इतने बड़े विद्वान् और इतने बड़े नेता होकर भी विनोबा को न तो अहंकार छू गया था और न उनमें किसी प्रकार की बनावट या दिखावा । उन्होंने वैदिक सभ्यता के सिद्धान्तानुसार सन् १९१८ से ही सिले हुए कपड़े पहनना छोड़ दिया था । एक ही धोती को आधी बाँध लेते थे और आधी ओढ़ लेते थे । भोजन में नमक तक का त्याग भी उसी समय से कर रखा था । फिर किसी प्रकार के व्यसन की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती । गाँधीजी के आश्रम में रहकर प्रतिदिन चौदह से सोलह घण्टे तक कठोर श्रम करते रहे । अध्यापन रसोई से लेकर मेहनत तक का काम करते थे और भोजन बहुत ही सादा तथा मात्रा में भी बहुत कम । इस प्रकार की तपस्या वर्षों तक करते रहने पर शरीर सूख गया । अधिक पढ़ने से आँखें भी खराब हो गयीं । पर दूसरी तरफ इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े नेता भी उनको सम्मान की दृष्टि से देखने लगे । सन् १९२१ में ही सेठ जमनालाल बजाज ने वर्धा में एक आश्रम स्थापित किया तो उन्होंने उसकी व्यवस्था के लिए विनोबा को माँगा । महात्मा जी को उन्हें अपने से अलग करने में कुछ कष्ट मालूम हुआ तो भी उन्होंने सत्याग्रह का एक नया और सुदृढ़ केन्द्र स्थापित करने के उद्देश्य से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । विनोबा ने वर्धा आश्रम को किस प्रकार गाँधीजी के आन्दोलनों का एक प्रधान स्तम्भ बनाया, इस सम्बन्ध में इनके जीवन-चरित्र में एक स्थान कहा गया है--

"वर्धा आश्रम के चलाने में विनोबा जी को कठिन परिश्रम करना पड़ा । खादी कार्य से सम्बन्धित प्रयोगों मे इनका प्रमुख योग रहा । लगातार कई घण्टे तक चर्खा और तकली के साथ बैठना इनका नित्य कर्तव्य था । खादी-प्रचार की मूल-भावना क्या है इसे लोगों को समझाने की चेष्टा वे सदैव किया करते थे । साथ ही कातना, धुनना, बुनना आदि क्रियाओं का भी उन्होंने पर्याप्त अध्ययन किया और उनका ज्ञान दूसरों को भी कराया । इसके अनेक नये-नये प्रयोग भी उन्होंने निकाले । यह कहा जा सकता है कि प्रयोग भाषण तथा लेखन द्वारा विनोबा जी ने जितना खादी का काम किया उतना महात्मा को छोड़कर किसी ने नहीं किया । इस सम्बन्ध में स्वयं महात्माजी ने लिखा था--

"विनोबा का यह विचार है कि व्यापक कताई को सारे कार्यक्रम का केन्द्र बनाने से ही गाँवों की गरीबी दूर हो सकती है । कताई को बुनियादी मानकर इन्होंने मूल-उद्योग कातना नामक पुस्तक भी लिखी है जिसका हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में बहुत अधिक प्रचार हुआ है ।"

विनोबा का कहना है कि संस्थाओं के स्थापित करने का उतना महत्व नहीं है, जितना कि अकेले ही जो बन पड़े उसे पूरी सचाई के साथ करते जाने का, संस्था में प्रायः बड़प्पन और पद लोलुपता का भाव उत्पन्न होता है जो हानि ही पहुँचाती है । एक बार कोई बड़े कार्यकर्त्ता विनोबा के पास आये और एक संस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में उनकी सम्मति पूछी । उन्होंने कहा--"आपको अनाशक्ति बुद्धि से सच्ची सेवा करनी हो तो संस्था खोलने के झमेले में मत पड़िये । स्वयं जितना बन सके उतना सेवा-कार्य, बड़प्पन की इच्छा रखते हुए करते रहिये । इसी से जनता की सच्ची भलाई हो सकेगी ।"

विनोबा का सच्चा-धर्म

विनोबा परम धार्मिक थे । यदि अच्छी तरह जाँच पड़ताल की जाय तो उनके मुकाबले के धार्मिक व्यक्ति देश-भर में सौ पचास भी मुश्किल से मिलेंगे । जिस मनुष्य ने देश और समाज की सेवा के लिए बाल्यावस्था से घर के समस्त सुखों का त्याग कर दिया और आजन्म एकांकी रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरतापूर्वक पालन किया जिसने परोपकार और परमार्थ के लिए महान तपस्या मय जीवन बिताया उसे कौन धार्मिक न कहेगा ।

पर विनोबा सच्चे धर्म का आचरण करने वाले थे । ऊपरी दिखावा और ढोंग से कोसों दूर रहने वाले थे । इसलिये जहाँ सत्य धर्म के अनुयायी उनको एक दैवी आत्मा की तरह पूजते थे, वहाँ लकीर के फकीर और धर्म के नाम पर दुराग्रह करने वाले उनको गालियाँ देते थे तरह-तरह से अपमानित करते थे । बिहार का भ्रमण करते हुए जब वे देवघर पहुँचे तो कुछ लोगों ने उनसे वैद्यनाथ धाम के मन्दिर में जाने को कहा । विनोबा ने उत्तर दिया कि मेरे साथ तो हरिजन भाई भी जाते हैं, इसलिए मन्दिर के पुजारी रजामन्द हों तो मैं जाऊँगा अन्यथा नहीं । पहले तो कुछ पुजारियों ने 'हाँ' कहदी पर जब बे अपनी समस्त मण्डली के साथ पहुँचे तो दरवाजे पर ही मन्दिर वालों ने मार पीट शुरू कर दी । विनोबा के साथियों ने स्वयं मार सहन करके उनको बचाने की चेष्टा की, तो भी उनको कुछ चोटें लगीं जिससे बायाँ कान खराब हो गया । ये मन्दिर से वापस चले आये और सबसे कह दिया कि इस घटना के लिए किसी के विरुद्ध कुछ कार्यवाही न की जाय । इसके पश्चात् बिहार के मुख्यमन्त्री स्वयं अनेक हरिजनों को लेकर वैद्यनाथ के मन्दिर में गये और वहाँ सदा के लिये अछूतों के लिए खोल दिया गया ।

जब वे केरल पहुँचे तो गुरुवयूर के मन्दिर में आमन्त्रित किया गया । पर विनोबा ने कहा मेरे साथ कुछ स्थानीय ईसाई भी रहने लगे हैं । उनको रोका तो न जायगा ? पुजारियों ने उसे स्वीकार न किया और विनोबा ने वहाँ का कार्यक्रम रद्द कर दिया ।

कर्नाटक में गोकर्ण महाबलेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर है। जब विनोबा को मन्दिर के पुजारियों ने बुलाया तो उनके साथ सलीम नाम का एक भूदानी कार्यकर्ता भी था । उन्होंने यह बात मन्दिरवालों को बतला दी और उन्होंने इसे खुशी से स्वीकार कर लिया । तब वे प्रसन्नतापूर्वक सलीम के साथ दर्शन करने पहुँचे ।

महाराष्ट्र में सबसे बड़ा तीर्थ पंढरपुर है जहाँ नामदेव आदि अनेक सन्त हो गये हैं । जब विनोबा भूदान के लिये भ्रमण करते वहाँ पहुँचने वाले थे तो कुछ विघ्नकर्ताओं ने पहले ही अफवाह उड़ा दी कि विनोवा कुछ धर्मभ्रष्ट लोगों को लेकर आ रहे हैं और उनके साथ मन्दिर में घुसेंगे । पर वे ऐसे मनाही वाले स्थानों में स्वयं ही नहीं जाते थे, क्योंकि पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न करना उनको बहुत नापसन्द था । इसलिये अफवाह फैलाने वाले स्वयं ही जनता के सामने झूँठे पड़ गये ।'

जब पुण्डलीक मन्दिर वालों ने स्वयं उनके पास आकर कहा-"बाबा ! आप हमारे मन्दिर में अवश्य पधारें । आपके परिवार में जो भी लोग हैं वे भले ही दूसरे धर्म के हों, पर वे सब भक्त ही हैं । उन्हें लेकर आप जरूर आइये ।"

बाबा ने कहा-"अच्छा, हो आप अपना निमन्त्रण लिखकर दे दें ।"

उन्होंने लिखकर दे दिया । इस समाचार को जानकर रुक्मणी और विट्ठल मन्दिरों के संचालक भी उनके पास पहुँचे और वैसा ही निमन्त्रण-पत्र दे आये । तीनों पत्रों को पढ़कर विनोबा आनन्द से गद्गद हो गये और कहने लगे कि 'इन पंढरपुर के पुजारियों ने अपने प्रेम से मुझे जीत लिया । अब मैं उनके यहाँ अवश्य जाऊँगा ।"

दूसरे दिन सबेरे वे अपने पूरे परिवार के साथ मन्दिर में गये । उनके साथ हरिजन, मुसलमान, ईसाई सब थे । बीबी फातमा भी थी और जर्मनी की लड़की हेमा भी थी ।

जब विनोबा अजमेर पहुँचे तो वहाँ की देश प्रसिद्ध ख्वाजा साहब की दरगाह वालों ने उन्हें बुलाया। वे सर्वोदय सम्मेलन के दस हजार प्रतिनिधियों के साथ दरगाह में पहुँचे और वहाँ उन्होंने गीता की प्रार्थना की । दरगाह वालों ने उनका बड़ा आदर किया और पगड़ी बाँधी ।

पाठक विचार करें कि कौन-सा धर्म कल्याणकारी और सच्चा है ? क्या वैद्यनाथ धाम के पुजारियों का धर्म जिन्होंने जन-कल्याण के तन-मन-धन अर्पण कर देने वाले महापुरुषों पर लाठियाँ चलाईं अथवा विनोवा का धर्म जिन्होंने 'फातमा' और 'हेमा' जैसे दूरवर्ती व्यक्तियों को भगवान् का भक्त और गरीबों का सेवक बना दिया ? वे भगवान पर पूर्ण श्रद्धा रखते थे । उसी का नाम लेकर खूनी और डाकुओं के बीच चले जाते थे, पर वे उसी भगवान् के उपासक हैं । जो दीन-दुःखियों, भूखे-नंगों की खबर लें । वे कहते थे कि "जब ये भूखे-प्यासे, दरिद्र नारायण और हमारे सामने खड़े हैं और हम उनकी तरफ से निगाह फेरकर पत्थर की मूर्ति के लिए घर बनायें, कपड़े पहिनायें, भोग लगायें, तो कैसे चलेगा ? हमारा आज का धर्म तो यही है कि हम इस भूखे-नंगे और सर्दी से ठिठुरने वाले भगवान् को

खिलायें-पिलायें, उसे कपड़े पहिनायें, उसके निवास स्थान की व्यवस्था करें ।"

कथनी और करनी में ऐक्य

विनोबा बड़े शिक्षा प्रेमी थे और उन्होंने शिक्षा देकर ऐसे बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता तैयार किये हैं, जिनकी गति किसी क्षेत्र में नहीं रुकती और जो कहीं असफल होना जानते ही नहीं । गाँधीजी कहा करते थे कि–"विनोबा के पास निर्भय, तेजस्वी, कर्तव्यपरायण अनुयायियों की जैसी मजबूत सेना है वैसी मेरे पास भी नहीं है ।"

पर इसका रहस्य यही था कि विनोबा जिसको जो शिक्षा देते थे, वह केवल मौखिक अथवा पुस्तकीय ही नहीं होती थी, वरन् वे अपने व्यवहार और उदाहरण से ही दूसरों को शिक्षा देते थे । उन्होंने कताई, बुनाई, सफाई व सेवा, कोढ़ियों की सेवा ग्राम शिक्षा आदि बीसियों कार्य आरम्भ किये और इन कार्यकर्ताओं के द्वारा उसमें उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करके दिखाई ।

विनोबा की महानता को संक्षेप में इतने में ही कहा जा सकता है कि वे 'नेताओं के भी नेता थे' महात्मा गाँधी कोई नया आन्दोलन या कार्यक्रम शुरू करने से पहले इनसे सलाह ले लिया करते थे और प्रधानमंत्री श्री नेहरू जी ने भी इनकी जयन्ती के अवसर पर यह कहा था–"मैं थोड़ा बहुत सारी दुनिया से वाकिफ हूँ जो लोग बड़े कहलाते हैं उनसे मिला हूँ । दुनिया में जो माकूल आदमी, समझदार, आदमी, कहलाते हैं, उनसे भी मिला हूँ । लेकिन मैं अक्सर सोचता हूँ कि किसी और देश में विनोबा का-सा आदमी नहीं है।" जिसके सम्बन्ध में आधुनिक भारत के ये दो निर्माता ऐसी सम्मति प्रकट करें उसके लिये कहने को शेष क्या रह जाता है ।

साधुता को सार्थक करने वाले बाबा राघवदास

गोरखपुर के समीपवर्ती बरहज नगर में गंदगी की शिकायत बहुत बढ़ गई थी । वहाँ के "नोटीफाइड एरिया" (म्युनिसिपैलिटी) की लापरवाही से मेहतरों ने कई महीनों से पाखाने साफ नहीं किये थे जिससे उनमें बहुत मैला इकट्ठा होकर सड़ने लगा था । सब लोग इसकी शिकायत करते थे । पर कोई व्यावहारिक रूप से कदम नहीं उठाता था । यह चर्चा दो-एक बार बस्ती से कुछ फ़ासले पर एक आश्रम में रहने वाले बाबा राघवदास के कानों में भी पड़ी । वे उस समय कांग्रेस के एक प्रमुख कार्यकर्ता थे और गोरखपुर जिले के एक बड़े नेता समझे जाते थे । उन्होंने दो-एक बार इस सम्बन्ध में "नोटीफाइट-एरिया" के कर्मचारियों को लिखा भी, पर किसी ने उस पर ध्यान देने का कष्ट न उठाया । यह देखकर उनको देशवासियों की कर्तव्यहीनता पर बड़ी खीज उत्पन्न हुई और उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर जनता और कर्मचारियों के सम्मुख एक उदाहरण उपस्थित करने का विचार किया । यद्यपि वे उस कस्बे के संचालक एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थान के अध्यक्ष और "ब्रह्मचर्य आश्रम" के थे और नगर के प्रतिष्ठित लोग उनको आदर और भक्ति की दृष्टि से देखते थे, फिर भी उन्होंने इन सब बातों का संकोच त्यागकर सफाई का काम अपने ही हाथों से करने का निश्चय किया, जिससे लोग अपनी गलती जानकर स्वच्छता की महत्ता को समझें । बस दूसरे ही दिन सब कस्बे में पहुँचकर दो-चार बहुत गन्दे पाखाने की सफाई में लग गये । मैला बहुत था वह उनके हाथों पैरों में भी काफी लग गया पर वे घबराने के बजाय और भी तेजी से काम करने लगे । उनको यह कार्य करते देख नगरवासियों में तहलका मच गया और बड़े लखपती घरों के पुरुष और स्त्रियाँ बाहर निकलकर उनके काम में सहायता देने लगे । स्त्रियाँ मैला साफ करते समय रोती भी जाती थीं कि इतना बड़ा महात्मा हमारे पाखाने को साफ कर रहा है इससे हमको नरक जाना पड़ेगा ।

गोरखपुर के स्टेशन पर बाबा जी किसी काम से गये तो लोगों ने शिकायत की कि पानी के नलों में गन्दा पानी आ रहा है और वही लोगों को पीना पड़ रहा है । बाबाजी किसी का ख्याल किये बिना तुरन्त ४५ फीट ऊँची टंकी पर चढ़ गये और जाकर देखा कि महीनों से सफाई न होने के कारण उसके भीतर कई इंच मोटी काई जम गई है । बाबा जी ने अपने हाथों से थोड़ी काई निकाल ली और उसे ले जाकर वहाँ की एन० ई० रेलवे के जनरल मैनेजर के सामने रख दिया । रेल का वह सर्वोच्च अधिकारी बाबा जी की जन-कल्याण भावना को देखकर चकित रह गया और उसने तुरन्त टंकी की सफाई का आदेश दिया ।

सन् १९३४ में गोरखपुर-देवरिया के जिले भयंकर बाढ़ के प्रकोप से त्रस्त थे । गाँव डूब रहे थे और बाबा जी अपने साथियों को लेकर वहाँ के निवासियों के रक्षा कार्य में जुटे हुए थे । कछार क्षेत्र का एक गाँव डूबने लगा तो बाबा जी गीता प्रेस, गोरखपुर के कुछ कर्मचारियों के साथ नाव लेकर वहाँ पहुँचे । उनको देखकर गाँव वाले स्वयं ही दौड़-दौड़कर नाव में जाकर बैठ गये । बाबाजी एक झोंपड़ी में बैठी एक बुढ़िया के पास पहुँचे और कहा–'माता, सब लोग चले गये, तुम नाव पर क्यों नहीं बैठतीं ?" बुढ़िया

बोली--"बाबा, हम नाहीं जाइब । मरब चाहे जियब, आपन मँडई नाहीं छोड़ब ।" बाबाजी ने बुढ़िया की बहुत विनय की तो उसने कहा--"अच्छा, जो हम चली तो हमार चकी कैसे चली ?" बाबाजी ने उत्तर दिया--"मैं चक्की ले चलूँगा उन्होंने तुरन्त चक्की के दोनों पाट सिर पर उठा लिये । आगे-आगे बुढ़िया और पीछे-पीछे बाबाजी आधी मील चलकर नाव पर आये । यह दृश्य देखकर दर्शक दंग रह गये ।"

बाल्यावस्था के संस्कार

इस प्रकार गरीबों की सेवा में अपने को खपा देने वाले बाब राघवदास जी का जन्म सन् १८९६ में पूना (महाराष्ट्र) में हुआ था । उनका परिवार वहाँ काफी प्रतिष्ठित समझा जाता था और धन-जन से भी भरा-पूरा था । पर सन् १९०३ में जब ये सात वर्ष के थे प्लेग का प्रकोप हुआ और कुछ ही महीनों में एक-एक करके परिवार के समस्त प्राणी काल के गाल में समा गये । अकेला राघवेन्द्र बीमार होकर भी न मालूम किस शक्ति के प्रभाव से बच गया । उसके पश्चात् बहनोई ने उनका पालन-पोषण किया और पढ़ाया लिखाया ।

वह युग देश में भयंकर राजनीतिक हलचल का था । लोकमान्य तिलक की ओजस्वी वाणी और लेखनी के प्रभाव से पूना राजनीतिक आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र बना हुआ था । उनका 'केशरी' और उनके शिष्य शिवराम पारंजपे का 'काल' देश में क्रान्ति की ज्वाला भड़का रहे थे । राघवेन्द्र उस समय दस वर्ष के ही थे, पर वे भी इस प्रवाह में बहने लगे । सन् १९०७ में जब लाला लाजपतराय को देश निकाला हुआ तो उनके अध्यापक ने सभा करके विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का उपदेश दिया । राघवेन्द्र ने भी अन्य साथियों के साथ विदेशी चीनी न खाने की प्रतिज्ञा कर ली । वह दीवाली का अवसर था, जिस पर महाराष्ट्र में बड़ी धूमधाम होती है । जब राघवेन्द्र ने घर जाकर अपनी बहिन से कहा कि मैं विदेशी चीनी नहीं खाऊँगा, तब वह बड़ी खिन्न हुई और ऐसी प्रतिज्ञा न करने को समझाने लगी। पर राघवेन्द्र ने कहा कि--"हमारे पिताजी ने दस वर्ष की आयु में ही परान्न त्याग की प्रतिज्ञा कर ली थी और आजन्म उसे निभाया । तब तू मुझे प्रतिज्ञा छोड़ने को क्यों कहती है ?" इस कथन से बहिन बड़ी प्रभावित हुई और कहने लगी--"अच्छा, अब मैं तेरे लिये चीनी के बजाय गुड़ के पकवान बनाऊँगी ।"

महाराष्ट्र के युवक उस समय देश के लिए कुछ करके मरने के लिए व्याकुल हो रहे थे । सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक को देश निकाला होने पर तो उत्साह का तूफान आ गया । सभी नगरों में विद्यार्थियों और मजदूरों की हड़तालें, प्रदर्शन और सभाएँ हुई और खुलकर अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध नारे लगाये गये । अनन्त नाम के नवयुवक ने नासिक के गोरे कलेक्टर को गोली से मार दिया और स्वयं भी हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गया । ऐसी घटनाओं को सुनकर राघवेन्द्र भी बड़े प्रभावित होते थे । उन्होंने भी अपने यहाँ के स्कूलों में हड़ताल कराई । वे और भी कुछ अधिक साहस दिखलाना चाहते थे पर रुग्णताजनित निर्बलता के कारण ज्यादा कार्य न कर सके । साथ ही उनके बहनोई कुलकर्णी ने उन्हें समझाया--"पहले अपनी शिक्षा पूरी कर लो, कुछ समर्थ बन जाओ, फिर जो ठीक समझो वह करना । अयोग्य और समर्थक मनुष्य कोई बड़ा काम नहीं कर सकता ।" बहनोई का कथन उन्हें ठीक जान पड़ा और कुछ समय पश्चात् वे अंग्रेजी पढ़ने के लिए बम्बई चले आये ।

जन-सेवा की भावना से गृह-त्याग

बचपन में अपनी आँखों से कुछ ही दिनों भीतर अपने समस्त परिवार का नाश होते देखकर उनके हृदय में वैराग्य की भावना का उदय हो गया था । इधर राजनीतिक आन्दोलन ने भी उनको बाहर निकलकर कुछ करने की प्रेरणा दी । बस वे अध्यात्म साधना का निश्चय करके चुपचाप बहनोई के घर से चल दिये । बम्बई से हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, काशीपुर होते हुये गाजीपुर के मौनी बाबा के आश्रम में जाकर ठहर गये । वहाँ तथा आस-पास के अन्य योगी-महात्माओं की संगत में रहकर बरहज में अनंत महाप्रभु के आश्रम मे पहुँचकर उनके शिष्य बन गये । और उनका नाम भी "राघवेन्द्र" से बदलकर "राघवदास" हो गया ।

इस आश्रम में रहकर उन्होंने कई वर्ष तक कठिन साधना की । वे धीरे-धीरे अपना भोजन घटाने लगे । बहुत दिनों तक केवल एक बार दूध-भात खाते रहे । फिर अन्न को त्यागकर कुछ समय केवल दही, गुड़, आलू आदि पर ही निर्वाह किया । तीन-चार मास बाद उसे भी छोड़कर केवल शीशम की पत्ती पीसकर मट्ठा के साथ पीने लगे । वह दिन भर गुफा के भीतर ही रहकर भजन-साधन करते रहते । दिन भर में केवल दो घण्टा के लिए बाहर निकलते थे । इस प्रकार उन्होंने कई वर्ष तक कठिन तपस्या और साधना करके अपने तन-मन को पूर्ण संयमी और अनुशासित बना लिया । अखण्ड ब्रह्मचारी तो वे पहले से ही थे ।

आगे चलकर जब उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन में भाग लिया तो उनकी इस प्रकार प्राप्त शारीरिक शक्ति और गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, निद्रा आदि को पूर्ण रूप से सहन कर सकने में अभ्यास ने उनका बड़ा साथ दिया। इसी के बल पर वे दिन रात परिश्रम करके जन-सेवा का इतना अधिक काम कर सके कि देखने वाले चकित रह गये। देखते-देखते एक गुफा में रहने वाला साधु संयुक्त प्रान्त का ही जन प्रमुख नेता बन गया, वरन् भारत के सभी भागों में उसकी कार्य तत्परता की ख्याति फैल गई और बर्मा श्याम ट्रिनोडाड जैसे सुदूर स्थिति देशों में रहने वाले हजारों प्रवासी भारतवासी भी जिनके अनुयायी और सहयोगी बन गये।

बाबा राघवदास की मनोवृत्ति सदा से राजनीतिक और जन सेवा की तरफ उन्मुख रही थी। सन् १६१५ में भी जब वे हिमाचल के उत्तराकाशी स्थान में एक विद्यालय के अध्यापक नियुक्त किये गये, अध्यात्म चिन्तन के साथ ही 'केसरी' अमृत बाजार पत्रिका "माडर्न रिव्यू" जैसे पत्र मँगाकर विद्यार्थियों में देशभक्ति के भावों का प्रचार किया करते थे। जब इस बात की सूचना सी. आई. डी. के गुप्तचरों द्वारा उस पहाड़ी रियासत के अँग्रेज पॉलीटिकल एजेण्ट को मिली तो उसने इन्हें तुरन्त रियासत से निकल जाने का आदेश दिया। उसने कहा कि "तुम उत्तम कोटि के अध्यापक अवश्य हो, पर तुम्हारे विचार राजद्रोही हैं। इसलिये तुम हमारे यहाँ से निकल जाओ।"

असहयोग आन्दोलन में

सन् १६२० में जब वे अपने गुरु अनन्त महाप्रभु का देहावसान होने पर जनता द्वारा उत्तराधिकारी बना दिये गये और गुफा में रहकर उन्हीं की तरह योगाभ्यास और आध्यात्मिक साधना में लीन हो थे, उन्होंने गाँधी जी की शंखध्वनि सुनी। समस्त देश में असहयोग आन्दोलन की लहर फैलने लगी और सामान्य जनता में से लाखों राजनीतिक कार्यकर्ता निकलकर स्वाधीनता-संग्राम में कूदने लगे। यह देखकर बाबा राघवदास की देशभक्ति की भावना एकदम जाग्रत हो गई और गुफा में बैठकर भजन करते रहना उनको असामयिक जान पड़ा। थोड़े समय बाद वे कुछ मित्रों की प्रेरणा से सक्रिय राजनीति में सम्मिलित होकर गोरखपुर के सर्वोपरि नेता बन गये।

उस समय की मन-स्थिति का वर्णन करते हुए एक बार उन्होंने कहा था—"मैं गुफा में एकान्त-साधना तो कर रहा था पर मुझे बार-बार ऐसा लग रहा था कि जिस समय देश में देवासुर संग्राम चल रहा हो उस समय एक व्यक्ति का एकान्त में छिपकर तप करना कायरता है। मुझे अब जन संघर्ष से अलग नहीं रहना चाहिये। देव पक्ष की सेना में सम्मिलित होकर आसुरी शक्तियों से युद्ध करना ही चाहिये। उस समय गीता का "मामनुस्मर युद्धयच" (मुझे स्मरण करते हुये लड़ो) वाक्य बार-बार स्मरण आ रहा था।" उन्होंने सुना कि महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन के लिये स्वयं सेवकों की माँग की है। उसी समय महात्मा जी को पत्र लिखा और उत्तर में महात्मा जी के सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई जी का पत्र आया कि "महात्मा जी काशी आ रहे हैं। वहाँ से पटना जायेंगे। आप इन दो में से किसी स्थान पर उनसे मिल लें।" यह पत्र पाकर बाबाजी को परम आत्म-सन्तोष प्राप्त हुआ। उन्हीं के शब्दों में कहा जाय तो "जैसे सुग्गा पिंजड़े से निकलकर खुले वातावरण में जाने की कल्पना करता है उसी प्रकार मैं कांग्रेस वातावरण में जाने का अनुभव करने लगा।"

उसी वर्ष दिसम्बर में वे कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में शामिल हुये जिसमें देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू जैसे महान् व्यक्तियों ने लाखों रुपया वार्षिक की वकालत छोड़ी और श्री जमुनालाल बजाज जैसे सेठों ने राजनीतिक-सन्यास ग्रहण किया। बाबा राघवदास भी वहाँ से असहयोग संग्राम के एक बड़े सैनानी बनकर लौटे और जनता को गाँधी जी का सन्देश सुनाने में जुट गये। दो महीना बाद ही महात्मा जी देशव्यापी दौरा करते हुये गोरखपुर आये तो बाबा राघवदास ने अपने आश्रम के कुछ पीत वस्त्राधारी विद्यार्थियों को साथ ले जाकर वहीं उनका स्वागत किया। गाँधीजी ने विद्यार्थियों से पूछा कि "पढ़ने के बाद तुम लोग क्या करोगे?"

एक छात्र ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"हम आमरण सीखते रहेंगे, केवल किताबों से नहीं वरन् संसार के अनुभवों से। साथ-साथ देश सेवा भी करेंगे।"

महात्मा जी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"तुम लोग बाबा राघवदास के शिष्य हो, मैं तुमसे यही आशा करूँगा।"

इसके पश्चात् बाबाजी ने गोरखपुर जिले का तूफानी दौरा आरम्भ किया। पर वे वर्तमान समय की तरह कुर्सी पर बैठकर अन्य कार्यकर्ताओं को आदेश देने वाले अथवा नाम और दाम कमाने में व्यस्त रहने वाले नेता नहीं थे, वरन् निम्न स्तर की घोर निद्रा में अचेत पड़ी हुई जनता के साथ मिट्टी में बैठकर काम करने वाले सच्चे अगुआ थे। उस दौरे का वर्णन करते हुये उनके एक सहकारी ने लिखा है—"गाँव-गाँव पैदल घूमकर, कौने-कौने में वह गाँधी जी का सन्देश पहुँचाने लगे। आँधी, पानी, जाड़ा, गर्मी, नदी,

नाला, रात-दिन की परवाह न करते हुए वह एक गाँव से दूसरे गाँव तीर की तरह पहुँचते थे । छोटे-बड़े सबसे मिलते, दुखियों के घावों को सहलाते देशभक्तों को गले लगाते, सभायें करते भारत के वीरों की कहानियाँ सुनाते, नेताओं का प्रभावशाली परिचय देते और स्वराज्य-संघर्ष के लिये लोगों में उत्साह फूँकते । जेठ-बैसाख की तपती धूल में उन्हें नंगे पाँव दौड़ते देखकर गाँव के स्त्री-पुरुष हाय-हाय करने लगते । उस समय ब्रह्मचर्य और नई अवस्था के कारण उनका गौर वर्ण शरीर ऐसा हो रहा था कि सींक से खोद लिया जाय तो खून निकल आवें । अपनी अंदरूनी मस्ती में वे इतनी तेजी से चलते कि उनके साथ वालों को दौड़ना पड़ता । उनकी त्याग भावना से किसान बहुत प्रभावित होते थे । एक ही सभा में किसानों से उन्हें इतने गोरखपुरी पैसे दिये कि उनसे बोरे भर गये और मूल्य सात सौ रुपया मिला ।"

चौरी-चौरा काण्ड में ६५ अभियुक्तों की प्राण रक्षा

असहयोग आन्दोलन से घबड़ाकर सरकार ने भीषण दमन आरम्भ किया और लोगो को लाठी, डण्डा, जेलखाने की सजा से डराकर जन-जागरण को कुचलने का प्रयत्न करने लगी । चौरी-चौरा नामक गाँव में स्थानीय थानेदार के अत्याचारों से उत्तेजित होकर एक बड़े जन-समुदाय ने पुलिस के थाने पर आक्रमण करके आग लगा दी जिनमें इक्कीस सिपाहियो सहित थानेदार भीतर ही जल मरा । इससे देश भर में बड़ी सनसनी फैल गई और सैकड़ों व्यक्तियों को गिरफ्तार करके उन पर हत्या का मुकद्दमा चलाया गया । साल भर में अदालत में पेशियाँ होते रहने के पश्चात् ११४ व्यक्तियों को फाँसी की सजा सुना दी गई । इसके अतिरिक्त सैकड़ों को काले पानी और कैद का दण्ड भी दिया गया । एक मुकद्मे में ११४ लोगों को फाँसी की आज्ञा अँग्रेजी शासन के इतिहास में अपने ढंग की पहली घटना थी । बाबा राघवदास ने जब इस फैसले को सुना तो वे तड़फ उठे । उन्होंने तुरन्त ही सरकारी आज्ञा को भंग करके थाने के पास ही एक सार्वजनिक सभा करके घोषणा की कि इतने व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड देने का अपना निर्णय सरकार को बदलना होगा । बस उन्होंने इस कार्य में आने वाली कठिनाइयों का ख्याल छोड़कर अभियुक्तों की पैरवी के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न आरम्भ कर दिया । सबसे पहले वे पं० मोतीलाल नेहरू के पास पहुँचे और हाईकोर्ट में अपील करने में सहायता माँगी । पर बहुत अधिक कार्य व्यस्त रहने से वे तुरन्त इस कार्य में सहयोग न दे सके, तो ये

पीड़ित जनता की सेवा

यद्यपि इस समय जनता में बाबा राघवदास का सम्मान बहुत बढ़ गया था और गोरखपुर क्षेत्र में तो वे देवता की तरह पूजे जाते थे, पर वे अपने को जनता का एक सामान्य सेवक ही मानते थे । अन्य अनेक व्यक्तियों की तरह वे कुर्सीनशीन नेता न थे । जनता पर जहाँ किसी संकट के आने का समाचार मिला कि वे उसकी सेवा के लिए दौड़े। १५ जनवरी १९३४ को जब बिहार में भीषण भूकम्प आया तो राघवदास जी बिना एक दिन की भी देरी लगाये पीड़ितों की सहायतार्थ घटनास्थल पर पहुँच गये । यह भाषण करने अथवा नारे लगाने का कार्य नहीं था वरन् एक मजदूर की तरह परिश्रम करके मरे हुओं की अन्त्येष्टि करना और मरते हुओं को बचाने का प्रयत्न करना था । राघवदास जी अपनी विशेष टोली के साथ टूटे हुये मकानों के मलबे को हटाकर उसमें से लाशों को निकालने, घायलों की चिकित्सा करने, भूख-प्यास से पीड़ित लोगों को खाद्य सामग्री और वस्त्र पहुँचाने का सेवा कार्य करने लगे । वे निरन्तर रक्षा कार्य में ही लगे रहे और इस प्रकार एक महीने के भीतर उन्होंने हजारों लोगो के कष्ट दूर किये । इसके लिए बिहार के बिना ताज के बादशाह राजेन्द्र बाबू ने भी इनके कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की ।

बिहार का काम पूरा नहीं हो पाया था कि गोरखपुर क्षेत्र में जलप्रलय का संकट उपस्थिति हो गया सरयू, राप्ती, छोटी और बड़ी गंडक, तरैना रोहिणी चन्दन आदि अनेक नदियाँ हिमालय से निकलकर इस भूभाग में फैली हुई हैं । वैसे तो इनमें सदैव ही कुछ बाढ़ आती रहती है पर सन् १९३४ में भूकम्प के कारण इन नदियों के धरातल पर काफी प्रभाव पड़ा और ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि ११०० गाँव बह गये । जनता में त्राहि-त्राहि मच गयी तथा लाखों मनुष्यों और पशुओं की प्राण रक्षा की समस्या उपस्थित हो गई । इस तरह की बाढ़ें प्रतिवर्ष आती रहीं । सन् १९३८ की बाढ़ में २२५० गाँव बह गये । और भी हजारों गाँवों में पानी भरा था । हजारों बीघा फसल बह गई और जो बची थी वह भी पानी में डूबी थी । उस समय बाबाजी का सेवा कार्य देखने लायक था । बहते मनुष्यों और पशुओं को बचाने के लिये जल मे कूद पड़े । नाव में खाने पीने की सामग्री और कुछ सहायक लेकर वे एक गाँव से दूसरे गाँव में बड़ी जल्दी-जल्दी पहुँच जाते । अपने खाने-पीने-सोने का उन्हें कुछ पता ही न चलता था । वे स्वयं कौपीन पहने रहते और कठिनाई से एकाध बार कुछ चना-चबैना खा लेते, पर बाढ़ पीड़ितों के लिये उन्होंने अक्षय भण्डार खोल दिया था । उनके अपील करने पर चारों तरफ से सहायता आने लगी । गाँधी जी ने उनको अहमदाबाद से ७० गाँठ कम्बल भिजवाया । मालवीय जी ने निराश्रित मवेशियों को मिर्जापुर के जंगलों में आश्रय मिलने की व्यवस्था थी । बर्मा, इंडोचीन, श्याम, अराकान, फारस तक से प्रवासी भारतीयों ने सहायता भेजी । जहाँ कहीं भी गोरखपुरी व्यक्ति बसे थे, वहीं से उन्होंने बाबाजी की अपील पर यथाशक्ति अधिक से अधिक धन संग्रह करके भेजा । बनारस पहुँचकर बाबाजी ने बाढ़ क्षेत्र के पीड़ित लोगों के कष्टों का अपने भाषणों में जो मर्मस्पर्शी वर्णन किया उससे छोटे-बड़े सब प्रभावित होकर सेवा-कार्य में संलग्न हो गये ।

इस प्रकार बाबा राघवदास ने अपना तन-मन-धन पूरी तरह से सेवा में लगा दिया तो जनता ने भी उनको अपना सच्चा रक्षक समझकर उनके आदेशों का पालन अपना परमधर्म समझा । सन् १९३५-३६ में कांग्रेस ने नवीन साधन सुधारों की घोषणा होने पर चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया । उस समय गोरखपुर की कांग्रेस कमेटी की दशा बहुत गिरी हुई थी । कोष में दस-पाँच रुपयों क भी अभाव था । पर जब चुनाव की घोषणा होने पर बाबा राघवदास ने कमेटी के सभापति की हैसियत से चुनाव-अभियान आरम्भ किया तो समस्त जनता उनके पीछे थी । सवारी के न होने पर वे पैदल ही "तुलसी दल" बाँटने निकले और ८०० मील की पैदल यात्रा करके घर-घर कांग्रेस का सन्देश पहुँचा दिया । नतीजा यह हुआ कि बड़े-बड़े राजाओं और तालुकेदारों को इस लँगोटी वाले साधु के मुकाबले में हारना पड़ा । उनके लाखों रुपया पर पानी फिर गया पर जनता के अधिकांश वोट कांग्रेस उम्मीदवारों को ही मिले । इस प्रकार उन्होंने यह दिखला दिया कि सच्चे सेवा भाव के सम्मुख धन-बल और रौब-दाब की शक्ति प्रभाव रहित हो जाती है ।

रचनात्मक कार्यक्रम

इन्हीं दिनों बाबाजी ने बरहज में एक "ग्रामोद्योग मेला" लगवाया इसमें गाँवों के अनेक लुप्त प्रायः उद्योग-धन्धों को पुनः जीवित करने की चेष्टा की गई और उनका श्रेणी विभाजन भी किया गया । इसमें बढ़ई, कुम्हार, लुहार, धोबी, चमार, जुलाहे, ग्वाला आदि विभिन्न पेशे वालो की अलग-अलग सभाएँ की गई । इनमें इन पेशों के विशेषज्ञों के भाषण कराये गये । मनोरंजन की दृष्टि से कहारों का 'हुरका' , धोबियों का 'घंटी', चमारों का करताल-खंजड़ी, अहीरों के बिरहा, लोरकी आदि नृत्य-संगीतों का आयोजन किया गया । स्त्रियों के ग्राम गीतों का भी सम्मेलन किया

गया । जिस समय सैकड़ों स्त्रियों ने चक्की चलाते हुए अपने प्रचलित गीत सुनाए तो लोगों को प्राचीन काल की एक झलक दिखाई दे गई । बाबाजी ने लोगों को समझाया कि मशीनों से बनी चमकीली-चटकीली दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं का मोह छोड़ो और अपने हाथ की बनी वस्तुओं का प्रयोग करो । मशीन उन्हीं देशो के लिए उपयोगी है जहाँ जनसंख्या और पैदावार कम होती है और लोग बड़े देशों में अपने कारखानों से बना माल बेचकर धन कमाना चाहते हैं । पर उत्तर-प्रदेश जैसे स्थानों में, जहाँ सात-आठ सौ प्रति मील की आबादी हो, मशीनों का उपयोग करना लाखों लोगों को बेकार बना देना है ।

बाबा राघवदास सच्चे जन-सेवक थे । उनकी बातें केवल भाषण देने वालों की तरह श्रोताओं से तालियाँ पिटवाने की युक्ति मात्र न थी, वरन् उन्होंने गरीब से गरीब लोगों के बीच में रहकर उनकी घोर दयनीय दशा को अनुभव किया था । उन्होने कहा था--"यह वह क्षेत्र है जहाँ के लोग "गोबरहा" और आम की गुठली खाकर प्राण रक्षा करते हैं। "गोबरहा" वह अन्न है जो बैलों के गोबर से निकाला जाता है । चैत-बैसाख में जब फसल की मँड़ाई होती है, तब बैल अनाज खाकर गोबर करते हैं । गरीब चमार उस गोबर को सुखाकर अनाज निकाल लेते हैं और कूट-पीसकर खा जाते हैं । इस घोर गरीबी का कारण है खेती पर आबादी का भारी बोझ । जमीन का अधिकांश भाग बड़े जमींदारों और राजाओं के हाथ में है । जो भूमि साधारण जनता के पास है उस पर बहुत बड़ी आबादी का बोझ लदा हुआ है । खेती के छोटे-छोटे टुकड़ों पर जीने वाले बड़े-बड़े परिवार हैं । कुछ लोगो के पास जमीन बिल्कुल नहीं है । वे केवल मजदूरी पर निर्वाह करते हैं । इसी कारण यहाँ के लाखों लोग नौकरी के लिए बाहर चले गये है । वे लोग बाहर से कुछ रुपया बचाकर भेजते है, तब उनके परिवार वाले पेट भर सकते हैं । यहाँ का एक मात्र उद्योग चीनी बनाने की कुछ मिलें हैं । छोटे-छोटे गृह उद्योग जिनसे लोग स्वावलम्बी हो सकते थे, मर गये है । जब तक इस क्षेत्र का औद्योगीकरण न होगा तब तक यहाँ की भयंकर गरीबी नहीं मिटेगी । बड़े उद्योगों की बात बड़े लोग सोचें छोटे उद्योगों की बात हम सोचेगे ।

इसी संदर्भ में वे लोगों को 'स्वदेशी-धर्म' का उपदेश दिया करते थे । एक तो वे स्वभाव से ही भारतीय संस्कृति के उपासक थे और प्राचीन-काल के सादा रहन-सहन को पसन्द करते थे, दूसरे उस जमाने में तो विदेशी वस्तुओं के कारण देशी कारदारों का लोप हो जाने से करोड़ों भारतवासियों के सामने बेकारी और निर्धनता की समस्या उत्पन्न हो गई थी । इसलिये सभी भारतीय नेताओं ने स्वदेशी उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवित करने का समर्थन किया था । पर बाबा राघवदास उन नेताओं में से थे जो केवल आर्थिक दृष्टि से ही उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना पर्याप्त नहीं समझते थे, वरन् "स्वदेशी" की भावना को एक धर्म का रूप देकर अपना समस्त रहन-सहन तथा आचार-विचार आदर्श तक भारतीयता के साँचे में ढालना आवश्यक समझते थे । यही कारण था कि बाबा राघवदास राजनीतिक स्वाधीनता और समाज सुधार के लिये तन-मन-धन सर्वस्व अर्पण करके भी भारतीय संस्कृति को भी याद रखते थे । उन्होने कितनी ही बार बड़े-बड़े यज्ञ कराये जिनमें बड़े परिमाण में हवन सामग्री और घृत की आहुतियाँ दी गईं । पूजा अर्चना, कथा-वार्ता, व्रत-त्यौहार का कोई अवसर सामने आ जाने पर उसमें से भी उत्साहपूर्वक भाग लेते थे । इस दृष्टि से हम उनको एक आदर्श साधु की पदवी दे सकते हैं। वे अपने पुरातन धार्मिक विश्वासों और नियमों के साथ-साथ देशकाल की दृष्टि से आवश्यक कार्यों में भी पूर्ण रूप से सहयोग देते थे और अपनी तपस्या तथा त्याग द्वारा अर्जित आध्यात्मिक कमाई को निःस्वार्थ भाव से जनगण के हित-साधन में व्यय करते थे ।

कूपदान और जलाशयों की रक्षा--

बाबा राघवदास को दीन-हीन लोगो के कष्टों का कितना अधिक ध्यान रहता था और वे अपनी दुर्दशा को देखकर कैसे विह्वल हो जाते थे इसके एक नहीं सैकड़ो हजारों उदाहरण लोगों को याद हैं । इसी तथ्य को समझकर सन्त विनोबा भावे ने बाबाजी के "स्मृति-ग्रन्थ" की चर्चा चलने पर कहा था कि--"असंख्य लोगों के पास उनके असंख्य संस्मरण हैं । उनमें से पुस्तक में कितने भरोगे कितने नहीं भरोगे ? फिर भी लोगों ने सैकड़ों संस्मरण एकत्रित करके बड़े आकार के ४५० पृष्ठ का ग्रन्थ तैयार कर ही दिया ।"

जिस समय बाबाजी सन्त विनोबा के साथ बिहार का दौरा कर रहे थे उन्होंने दो बहिनों को कुएँ से पानी निकालने के सम्बन्ध में लड़ते देखा । पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि उन अभागे ग्रामीणों को पीने के लायक पानी मिलने में भी बड़ी कठिनाई होती है । एक तो वहाँ कुये ही बहुत कम हैं, फिर हरिजनों को तो सार्वजनिक कुओं पर चढ़ने ही नहीं दिया जाता । उन लोगों ने जो एक कच्चा कुँआ खोदा था तो वह बहुत कम पानी देता था और इसी से लोगो में प्रायः पहले पानी खींचने पर कहा-सुनी और झगड़ा हो जाता था । बाबा राघवदास ने जब यह दृश्य देखा तो उनकी अन्तरात्मा रो उठी कि इन गरीबो को पानी भी दुर्लभ है,

अन्य सुख-सुविधाओं की तो बात ही क्या! उन्होंने यह बात विनोबा जी तथा अन्य कार्यकर्ताओं से कही और उसके निराकरण का कोई उपाय ढूँढ़ने का आग्रह किया। उस समय स्वर्गीय जमुनालाल बजाज की धर्मपत्नी श्रीमती जानकी देवी भी वहीं थी। राजस्थान से सम्बन्धित होने के कारण वे जलाभाव के कष्ट को विशेष रूप से अनुभव करती थीं। बस उन्होंने इस कार्य का भार अपने ऊपर लेकर "कूप-दान" का आन्दोलन आरम्भ कर दिया और कुछ ही समय में सब श्रेणियों के व्यक्तियों से सहायता लेकर लगभग एक हजार कुँयें बनवा दिये।

एक यही घटना नहीं बाबाजी साधनहीन ग्रामीणों के हित की दृष्टि से सदैव इस प्रकार की योजनायें लोगों के सामने उपस्थिति करते रहते थे। वे जानते थे कि वैसे तो जल मनुष्यमात्र के लिये प्राण दाता है, पर खेतीबारी पर निर्वाह करने वाले करोड़ों ग्रामीणो की जीवन-रक्षा तो उसके बिना हो ही नहीं सकती। इसलिये उन्होंने कूप निर्माण के साथ ही तालाबों की सुरक्षा पर जोर देते हुए कहा–

"जहाँ पानी की इतनी कमी है वहाँ मैंने एक तालाब में भैंसें घुसी देखीं। आप तालाबों की महिमा को भूल गये हैं। हमारे यहाँ आज भी यह रिवाज चला आता है कि विवाह के समय वर-वधू पोखरा खुदाई का संस्कार करते हैं। इसके पीछे बड़ी ऊँची भावना है। तालाब बड़ा गुप्तदानी होता है। वह अपने को सुखाकर दूसरों को नमी देता और हरा-भरा करता है। गृहस्थ का जीवन भी तालाब जैसा ही है, वह समाज की सेवा उसी गुप्त ढंग से करता है। तालाब में लक्ष्मी जी का निवास है। लक्ष्मी और सरस्वती जी को कमल सर्वाधिक प्रिय है। हमने अभी तक इस कमल को न कुँयें में देखा है, न नदी में, न नहर में, न समुद्र या ट्यूबवेल में। यह कमल तो तालाब में ही होता है। हमने तालाबों को पाटकर अपने गृहस्थ जीवन के संस्कारों को समाप्त किया और लक्ष्मी, सरस्वती तथा भगवान को अप्रसन्न किया। जिसके फलस्वरूप हम बुद्धिहीन, विवेकहीन और दरिद्र होते जा रहे हैं। मेरा नम्र सुझाव है कि आप लोग इसकी महिमा को समझें और तालाबों की रक्षा करें।"

कुष्ठ रोगियों की सेवा

कुष्ठ रोग भयंकर होता है और साथ ही समाज और परिवार वाले भी कुष्ठ रोगी के प्रति कितनी उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, यह सभी को विदित है। गोरखपुर की तरफ इस रोग की प्रबलता थी और उसे जिले के हजारों व्यक्ति इससे पीड़ित होकर कष्टमय जीवन व्यतीत करते थे। उनकी दुर्दशा देखकर बाबा राघवदास को बड़ी करुणा हुई और अपनी आदत के अनुसार उन्होंने उनकी सेवा का भार भी अपने कंधों पर उठा लिया। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के कुष्ठाश्रम देखे और १ अगस्त १९५१ को गोरखपुर में एक कुष्ठाश्रम की स्थापना कर दी। बाबाजी की सच्ची लगन को देखकर सरकारी, गैर सरकारी सभी श्रेणी के लोगों ने इस कार्य में सहयोग दिया और दस वर्ष के भीतर ही इस आश्रम की पन्द्रह-बीस शाखायें विभिन्न स्थानों में स्थापित होकर रोगियों की सेवा करने की व्यवस्था है। इससे प्रति सप्ताह चार-पाँच हजार रोगी लाभ उठाते हैं और अब तक लाखों व्यक्ति रोगमुक्त होकर साधारण जीवन बिता रहे हैं। गोरखपुर के आश्रम में रोगियों की चिकित्सा के साथ ही उनको कताई-बुनाई, जूता निर्माण कला भी सिखाई जाती है। इससे रोग से छुटकारा पाते-पाते वे अनेक अंशों में स्वावलम्बी भी हो जाते हैं और अपने गाँवों में वापस जाकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपना निर्वाह कर सकते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार

बाबाजी शुरू से ही औषधि सेवन के विरुद्ध थे और जब कोई बीमारी हो जाती तो उसका उपचार स्वाभाविक ढंग से ही करते थे। जब वे स्वतंत्रता संग्राम में गिरफ्तार होकर जेल में बन्द थे तो उनको भयंकर रूप से चेचक हो गई। उससे किसी प्रकार बच तो गये पर आँखों की रोशनी प्रायः समाप्त हो गई। उन्होंने उसकी सूचना गाँधीजी को देकर उनकी सम्मति पूछी तो उन्होंने "राम नाम" की चिकित्सा का परामर्श दिया। बाबाजी प्राकृतिक आहार और पानी का प्रयोग करने लगे। जब वे जेल से निकले तो दो चश्मा लगाकर पढ़ सकते थे। पर पानी का "पामिङ्ग" करते-करते कुछ वर्षों में दोनों चश्मे छूट गये और बुढ़ापे में वे सामान्य रूप से पढ़ने-लिखने लग गये। इस प्रकार बीमारी के असर से उनके सर के बाल उड़ गये थे, उसको भी उन्होंने हरे रंग की भीगी हुई पट्टी से बालों को पोंछ-पोंछ कर ठीक कर लिया। बाल फिर से आ गये और काले भी होने लग गये।

सन् १९५० में वे एक मोटरकार दुर्घटना में घायल होकर अस्वस्थ हो गये। डॉक्टरों ने इलाज का बड़ा आग्रह किया पर उन्होंने दवा नहीं खाई। केवल प्राकृतिक चिकित्सा करते रहे। पर भीतरी चिकित्सा न होने से उनको जलोदर हो गया। तब वे डॉ० अप्पाजी के साथ उरलीकाँचन (पूना) चले गये और वहाँ से पूर्ण रूप से स्वस्थ होकर वापस आ गये।

इस सफलता से वे प्राकृतिक चिकित्सा के बड़े भक्त बन गये और उसके प्रचार में जुट गये। उन्होंने डॉक्टर अप्पाजी को गोरखपुर बुलवाया और प्राकृतिक चिकित्सा के

बीसियों शिविर लगवाये । फिर अपने आश्रम बरहज में तथा गोरखपुर में ही प्राकृतिक-चिकित्सालय खुलवाये । गया सर्वोदय सम्मेलन में उन्होंने कलकत्ता के श्री धर्मचन्द्र सरावगी को इस कार्य की प्रेरणा दी । बाबाजी की बातें उनकी समझ में आ गईं और उनके प्रयत्न से कुछ ही समय में अखिल भारतवर्षीय प्राकृतिक चिकित्सा परिषद् की स्थापना हो गई जो आज इस पद्धति का देशव्यापी प्रचार कर रही है । जब बरहज और गोरखपुर के आश्रमों की व्यवस्था आर्थिक कठिनाइयों के कारण डाँवाडोल होने लगी तो उन्होंने "गाँधी निधि" की कोषाध्यक्ष डॉक्टर सुशीला नैयर से कहा कि महात्मा गाँधी ने प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार के लिए सदैव प्रेरणा दी थी, तो अब उसे गाँधी निधि से सहायता क्यों न दी जाय ? सुशीला नैयर ने उनकी बात को मान लिया और बाबाजी के स्थापित दोनों चिकित्सालय प्रतिवर्ष कई हजार रोगियों को लाभ पहुँचाते रहे । बाद में डॉ० सुशीला भारत सरकार की स्वास्थ्य मन्त्री हो गईं तो उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति को सरकारी सहायता दिये जाने की योजना बनाई जिससे अनेक संस्थाओं की अच्छी प्रगति हुई ।

राष्ट्र-भाषा की सेवा

बाबा राघवदास का जन्म यद्यपि महाराष्ट्र में हुआ था और उनकी मातृभाषा मराठी थी, पर उत्तर प्रदेश में रहने के कारण उन्होंने हिन्दी बहुत अच्छी तरह सीख ली थी । गोरखपुर प्रदेश की भोजपुरी बोली में ऐसी शुद्धतापूर्वक भाषण दे लेते थे कि वहाँ के बहुसंख्यक मूल निवासी भी वैसा नहीं बोल पाते थे । इसके पश्चात् उन्होंने महात्मा गाँधी के आदेश से बहुत वर्षों तक विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी प्रचार का काम भी किया । उस समय अनेक उर्दू के पक्षपाती "हिन्दुस्तानी" के नाम से भी उसी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलाने का आन्दोलन कर रहे थे । मुसलमानों से मेलमिलाप बनाये रखने के लिये महात्मा गाँधी और उनके कुछ अनुयायी भी हिन्दी, उर्दू मिली-जुली भाषा का समर्थन करने लगे थे, पर बाबा राघवदास ने सदा शुद्ध हिन्दी का ही पक्ष लिया और उसके लिए सदैव संघर्ष करते रहे । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं एक बार लिखा था--

"उर्दू का षड्यन्त्र वर्षों से चल रहा था जो हमारी राष्ट्रीय एकता और प्रशासन की कड़ियों को छिन्न-भिन्न कर देने वाला था । अतः मैंने इसका सक्रिय विरोध करना आवश्यक समझा । संसार में अपनी मातृभाषा का यदि सबसे अधिक अपमान सहन किया है तो इसी अभागे उत्तर प्रदेश ने किया है । जन-गणना में अपनी भाषा को उर्दू या हिन्दुस्तानी लिखाया जो अकर्मण्यता का सूचक है । सन् १९४८ की जन-गणना में मैं बनारस जेल गया था । वहाँ गणक ने मेरा नाम लिखकर मातृभाषा के खाने में हिन्दुस्तानी लिखा इसके लिये मैंने हल्ला मचाया और मराठी लिखाकर ही दम लिया । उत्तर प्रदेश के किसी क्षेत्र में उर्दू नहीं बोली जाती, अतः वह क्षेत्रीय भाषा नहीं हो सकती । यदि ऐसा हुआ तो मैं पहला व्यक्ति हूँ जो मराठी के लिए लडूँगा । उत्तर प्रदेश में बहुत बंगाली हैं, उनसे कहूँगा कि बंगाल के लिए लड़ें । महाबोधि सोसायटी और बौद्ध भिक्षु भी चीनी, स्याही और ब्रह्मी के लिये लड़ेंगे । उस समय बाबा राघवदास को लोग विद्रोही के रूप में देखेंगे । यदि उत्तर प्रदेश में दम नहीं है तो महाराष्ट्रीय होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी की राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण रखने के लिये मैं मर मिटूँगा ।"

"इधर एक वर्ग अपने को उर्दू का भाग कहकर उत्तर प्रदेश में हिन्दी के साथ उर्दू को भी सरकारी भाषा बनाने के फेर में राष्ट्रभाषा की प्रगति को रोक रहा है । जिस प्रदेश में कठिनाई से १४ या १५ या अधिक से अधिक २० प्रतिशत उर्दू पढ़ने-लिखने वाले हों, उनके लिये सरकारी भाषा उर्दू करायी जाय यह तब ही सम्भव हो सकता है जब बाकी ८० प्रतिशत लोग राष्ट्रद्रोही हों, या कायर हों , इन उर्दू भक्तों ने अँग्रेजी हुकूमत में मर्दुमशुमारी में चाल चलकर या सरकारी अधिकारियों पर नाजायज दबाब डालकर उर्दू को अदालती भाषा बनवा लिया । इससे यह तरीका आज भी जारी रखा जाय, जबकि बालिग मताधिकार हो जाने से लोगों को अपने बहुमत का ख्याल पैदा हो गया है, यह सर्वथा असम्भव है ।"

"इस संकीर्ण मनोवृत्ति वाले लोग आज भले ही अपने जोश में आगे-पीछे का ध्यान रखे, पर वे भविष्य में उर्दू के प्रति घृणा पैदा करने में ही सहायक होंगे । जब बहुमत यह देखेगा कि ये अराष्ट्रीय वृत्ति वाले राष्ट्रभाषा की प्रगति को रोक लगाकर अपनी बात मनवाने की ही फिक्र में हैं तो बहुजन को यह अधिकार होगा कि इन अपराधियों को न्यायतः सजा दें । जबकि बहुमत कहता है कि ८० प्रतिशत हिन्दी भाषी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में हैं तब सरकार उर्दू को सरकारी भाषा बनाने का आदेश देकर कठिनाई में पड़ना क्यों पसन्द करेगी ? कहाँ तो ये उर्दू वाले अपने बच्चों को उर्दू पढ़ाने वाले स्कूलों की माँग कर रहे थे और कहाँ ये अदालत मे पहुँचने की लम्बी दौड़ मारने लगे । अपनी चादर देखकर पैर फैलाना अच्छा होता है । नहीं तो चादर फट जाने की हानि उनको उठानी पड़ेगी ।"

राघवदास जी ने राष्ट्रभाषा का इस प्रकार दृढ़तापूर्वक समर्थन ही नहीं किया वरन् भारत के सभी प्रान्तों में-पर्याप्त समय तक टिककर हिन्दी प्रचार में सक्रिय भाग भी लिया।

सिन्ध, उड़ीसा, बंगाल में उन्होंने विधिवत् शिक्षा-संस्था स्थापित करके सैकड़ों व्यक्तियों को हिन्दी सिखाई, आसाम में तो वे काफी समय तक काम करते रहे । इसके विषय में वे स्वयं गाँधी जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण (सन् १९३५) में कहा था-"बेचारे बाबा राघवदास उत्कल, बंगाल, आसाम में हिन्दी प्रचार के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं । कुछ सफलता भी मिली है, पर उसे नहीं के बराबर ही माननी चाहिए । जो कुछ भी सहायता उनको दिला सकता था वह दिलाने की चेष्टा भी मैंने की है । बाबाजी की मार्फत आसाम में गोहाटी, जोरहट, शिवसागर और नौगाँव में प्रयत्न हो रहा है । वहाँ १३० विद्यार्थी पढ़ते हैं । आसामी प्रतिष्ठित लोग इस प्रचार-कार्य में कम रस लेते हैं ।"

उड़ीसा में भी बाबाजी ने हिन्दी प्रचार का कार्य बड़े परिश्रम और लगन के साथ किया । इस सम्बन्ध में उस प्रान्त की "राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति" के प्रमुख कार्यकर्ता श्री अनुसूइया प्रसाद पाठक ने अपने संस्मरणों में लिखा है-

"बाबाजी हिन्दी प्रचार कार्य के सम्बन्ध में कई बार कटक में आये । वे एक सुन्दर वक्ता थे, प्रथम कोटि के और सच्चे भक्त तथा ईश्वरोपासक थे । महन्तों, मठाधीशों जैसी विलासपूर्ण भोग लिप्सा उनमें नहीं थी । मैंने उन्हें कई दिनों तक केवल कच्ची मूँगफली और गुड़ पर निर्वाह करते देखा वे सच्चे अर्थ में एक तपस्वी साधु थे । एक बार मैं उनके साथ कटक से पुरी के लिये पैदल चला । मैं उनके सामने बच्चा था, लेकिन वे उड़ते चलते थे । उनके साथ उनका जो कम्बल, लोटा, लँगोटी आदि थे उनको भी स्वयं ही उठाकर चलते थे, आग्रह करने पर भी किसी को देने को तैयार नहीं थे । नाना प्रकार की ज्ञानमयी बातें करते, सुन्दर काम करने का उपदेश देते, स्वराज्य मिल जाने के बाद हिन्दी का क्या स्थान होगा, इसकी उत्साहमयी चर्चा करते चल रहे थे ।"

अत्यन्त सादा रहन-सहन और अपरिग्रह

यद्यपि बाबा राघवदास एक प्रसिद्ध धर्म स्थान के महन्त थे और चाहते तो जनता से खूब भेंट चढ़ावा प्राप्त करके अन्य धर्माध्यक्षों की तरह आराम और शान की जिन्दगी व्यतीत कर सकते थे, पर उन्होंने अपना रहन-सहन और और खाना-पीना सदैव एक बिल्कुल गरीब श्रेणी के व्यक्ति की तरह रखा । कांग्रेस के लिये लाखो रुपया चन्दा एकत्रित कर लेने पर भी वे अपना भोजन खर्च दो-चार आना से अधिक नहीं होने देते थे । ऐसा करने में उनका आध्यात्मिक उद्देश्य भी रहा करता था । भू-दान की पदयात्रा करते समय एकबार उन्होंने कहा-

"आत्मा और शरीर दोनों का अस्तित्व हम अनुभव करते हैं । इन दोनों की ओर जब हम उचित ध्यान देते हैं, तभी हमारा सन्तुलन बना रहता है । पर अक्सर होता यह है कि आत्मा की ओर कम ध्यान दिया जाता है और शरीर की सुख-सुविधा का ख्याल करने में ही मनुष्य इतना डूब जाता है कि अन्त में वह इसके लिए भार बन जाता है । मानसिक परेशानी बढ़ जाती है, फलतः आत्म सन्तोष का अनुभव न होने से वह सदा अतृप्त ही रहता है । भूदान की प्रक्रिया द्वारा हम मनुष्यों को भौतिक-सुखों का भार कम करने को कहते हैं । ज्यों-ज्यों यह भार कम होगा, त्यों-त्यों न उसको केवल हल्कापन मालूम होगा बल्कि उसका आत्म सन्तोष भी बढ़ेगा । महापुरुषों ने जो स्वेच्छया गरीबी स्वीकार कर ली, उसका कारण यही है कि शरीर चिंतन में आवश्यकता से अधिक समय तथा शक्ति नष्ट न करनी पड़े । भगवान बुद्ध का मार्ग तथा बापू का समाज सेवा-धर्म यही पाठ हमें पढ़ाते हैं, सिखाते हैं ।"

"समाज तथा व्यक्ति दोनों एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं । समाज में अनेक व्यक्ति हैं इसलिए अकेले व्यक्ति का समाज की तरफ खिंच जाना स्वाभाविक है । पर व्यक्ति जब समाज से पृथक् रहने की कोशिश करता है, तो वह दुर्बल हो जाता है । ज्यों-ज्यों इसकी संग्रह-वृत्ति बढ़ती जाती है, त्यो-त्यों अलगाव अधिक अनुभव होता है और जो समाज हमारा हितैषी मालूम पड़ता था, उससे वह भय खाने लगता है । संग्रह के साथ अविश्वास भी बढ़ जाता है । मनुष्य के बीच जो अपनापन है, सौहार्द्र है, वह भी घट जाता है ।"

इस प्रकार बाबा राघवदास वाणी और कृतत्व दोनों विधियों से अपने देशवासियों को वैराग्य और अपरिग्रह का उपदेश देते रहे । पर न तो उन्होंने कभी किसी को घरबार छोड़कर साधु बन जाने की प्रेरणा दी और न रोजगार व्यवसाय से मुँह मोड़कर कमण्डलु और लँगोटी ग्रहण करने की । यद्यपि वे अपनी परिस्थिति और मनोवृत्ति के अनुकूल साधु बन गये थे, पर उनकी दृष्टि में ये बातें केवल बाह्य प्रतीक मात्र थीं, वे अच्छी तरह जानते थे कि यद्यपि गाँधी जी अन्त तक गृहस्थ के रूप में ही रहे, कभी किसी से दीक्षा लेकर साधु-संन्यासी नहीं बने, पर उस समय उनसे बढ़कर त्यागी, तपस्वी साधु और कोई न था । बाबाजी ने स्वयं भी देशकाल की आवश्यकता को समझकर अपने साम्प्रदायिक विधिविधान में बहुत परिवर्तन कर दिया था और निरन्तर प्रवास में तथा जेल में ही रहकर वहाँ की आवश्यकताओं को पूरा किया । सन् १९४२ में वे फरार होकर दो वर्ष तक वह समस्त देश में विद्रोहाग्नि फैलाते घूमते रहे पर हर

तरह से पता लगाने की कोशिश करने और गिरफ्तारी के लिए बड़े इनाम की घोषणा करने पर भी सरकार उनको पकड़ न सकी । उस समय वे दिन को सोते और रात को चलते थे और तरह-तरह के उपायो से पुलिस की चालों को विफल करते रहते थे । इस प्रकार उन्होने अपने अनुयायियों को बतलाया कि आदर्श का पालन करते हुए व्यवहार में किस प्रकार तदनुकूल कार्यपद्धति का पालन किया जाना चाहिये ।

यज्ञमय जीवन

प्राचीन भारत के यज्ञमय जीवन का यही रहस्य है । मनुष्य अपने अंतरंग में सर्वथा, त्यागी, अपरिग्रही, अनासक्त रहे, पर समाज सेवा के लिये, किसी के कष्ट निवारण के लिये बड़े से बड़े आयोजन का भार उठाने में भी संकोच न करे । महात्मा गाँधी स्वयं लाखों रुपया चन्दा इकट्ठा कर लेते थे और करोड़ों की थैली को भी स्वीकार कर लेते थे पर उसका उपयोग एक मात्र जन-आन्दोलन और जन-सेवा के लिये ही करते थे । जो लोग त्याग और तपस्या का नाम लेकर किसी मन्दिर या गुफा में बैठ जाते हैं, और किसी का कुछ हित करने की बजाय जनता से कुछ न कुछ ग्रहण करते ही हैं, वे बाबा राघवदास के महत्व को नहीं समझ सकते । बाबा राघवदास ने भी आरम्भ में तीन वर्ष तक गुफा के भीतर रहकर नाम मात्र के भोजन पर कठिन तपश्चर्या की । बहुत समय तक तो उन्होंने पेड़ की पत्तियाँ ही खाकर निर्वाह किया, पर जब समय आया तो जन-सेवा के लिए तुरन्त बाहर आये और अपनी उस कठोर साधना से प्राप्त शक्ति को जन-सेवा मे ही लगाया । एक समय वे किसी गाँव में ठहरे थे । अकस्मात् रात के दो-तीन बजे पास के गाँव में आग लगी । चारों तरफ के लोग घटना स्थल की तरफ दौड़े । राघवदास जी नियमित रास्ता छोड़कर नाक की सीध पर होकर खेतों मे दौड़े, जिससे शीघ्र पहुँच सकें । लोगों ने पुकारकर कहा-"उधर होकर मत जाइये। खेतों में अरहर की खूटियाँ निकली हुई हैं । पर वे उसे अनसुनी करके दौड़ते ही चले गये, यद्यपि उनके पैर लोहू-लुहान हो गये । आधमील दौड़कर जलते हुए घर के पास पहुँचे तो उसका मालिक चिल्ला रहा था-"कोई रक्षा करो, मेरे दो बैल भीतर बँधे हैं ।" पर आग के कारण बड़े-बड़े जोरदारों की हिम्मत पास जाने की नहीं हो रही थी। बाबाजी एक कम्बल लपेटकर तेजी से भीतर घुस गये और बैलों को खोल दिया । तब तक अग्नि की लपटो ने दरवाजे को पूरी तरह घेर लिया , लोग भयभीत हो उठे पर बाबाजी एक छलांग मारकर आग में होकर बाहर निकल आये ।

अपनी शक्ति और साधनों का उपयोग उन्होंने किस प्रकार यज्ञमय जीवन के लिए किया इसका जिक्र करते हुये उन्होंने एक भाषण में कहा-"यह भूदान कोई आन्दोलन नहीं वरन् एक यज्ञ है । यज्ञ का काम भगवान पूरा करते है । इस यज्ञ में पूर्णाहुति तिथि विनोबा जी ने सन् १९५७ नियत कर दी है । जब हम सब इसका निश्चय करके प्रयल करेगे तो भगवान अवश्य मदद करके उसे सफल बनायेंगे । मैंने अपने जीवन में कई बार ऐसे कार्य किये और भगवान तथा जनता ने पूर्ण सहयोग देकर उनको सफल बनाया । सन् १९३३ में बरहज आश्रम से डेढ़ मील के फासले पर तालाब खोदकर वरुण यज्ञ का निश्चय किया । सात दिन का समय था । जेठ का महीना था और गर्मी के कारण भूमि खूब कठोर हो गई थी । मैंने देखा कि एक घण्टा खोदने से ही मेरे हाथों में छाले पड़ गये । पर भगवान की कृपा से दो दिन शाम के समय वर्षा हो गई और सात दिन में तालाब खुद गया । दुबारा सन् १९३४ मे हमने महाविष्णु-यज्ञ किया । बिहार में उन दिनों भूचाल आया था । हमने अपने यहाँ से कई हजार रुपया इकट्ठा करके भेजा और एक कार्यकर्ताओं का दल कुँओं से रेत निकालने गया । जनता की विपत्ति को समझकर उस समय हम उस प्रदेश में किसी से सहायता माँगना नहीं चाहते थे । हमने लोगों से केवल राम नाम लेने और जप करने को कहा । पर लोगों ने अपनी इच्छा से बिना माँगे सहायता दी और ८० मन आटा इकट्ठा करके भेजा । अगर मैं सहायता माँगता तो १० मन से अधिक नहीं मिलता । इस प्रकार हम दरभंगा में सेवा कार्य करने में पूर्ण सफल हुये ।"

"इसके बाद आया हमारा-स्वराज्य-यज्ञ । सन् १९३६ मे गोरखपुर जिले में हमारे विरुद्ध चुनाव में ११ राजा खड़े हुये । उन्होंने पाँच लाख रुपया खर्च करने की घोषणा की और इधर उस समय कांग्रेस की हालत ऐसी कमजोर हो गई थी कि आफिस के लिए ५ रुपये महीने के मकान का भी ३ महीने का किराया बकाया था । आटे, दाल, चावल के लिए बनियों का १७ रुपये हम पर उधार था । हमने कांग्रेस कमेटी की मीटिंग की । उसमें हमारे मेम्बरों ने इतना पैसा इकट्ठा कर लिया कि हमारा कर्जा पट गया । फिर हमने ५०० मीटर पैदल यात्रा करने का संकल्प किया । गाँव-गाँव में हमने केवल "तुलसी पत्र" का निमंत्रण दिया। हमने देखा कि हमारी एक महीने की पद-यात्रा के बाद ३०० वालंटियर (स्वयं सेवक).पद यात्रा के लिए निकल पड़े । इसका फल यह हुआ कि हमारे सभी प्रतिनिधि जीते । वह भी कम वोटों से नहीं, ३५-३५ हजार वोटो से ।"

"सन् १६३६ में भी एक बाँध बाँधने की बात हमारे सामने आई। गोरखपुर के गगहा नामक स्थान में साढ़े चार मील लम्बा बाँध बाँधना था। हमने सात दिन का संकल्प किया। साढ़े तीन मील बाँध ६ दिन में बँध पाया था, पर आपको आश्चर्य होगा कि फिर भी सातवें दिन ठीक समय पर काम पूरा हो गया। सन् १६७७ में साढ़े चार मील लम्बा एक नाला खोदना था। इसके बिना बलिया जिले की ८ हजार एकड़ जमीन खराब होती थी। हमने १५ जून से २४ जून तक इसे खोद डालने का निश्चय किया। १६-१७ तारीख को वर्षा हो गई पर उसी में भीगते हुए ५ हजार व्यक्ति काम करते रहे। २३ तारीख तक इस प्रकार श्रम करने पर भी काफी काम शेष रह गया। २४ तारीख को ५ हजार की जगह १० हजार व्यक्ति काम पर जुट गये। २५० स्त्रियाँ भी काम करने आईं, जिनमे ऐसा नव-विवाहिता बहुएँ भी थीं, जिनके पाँव का महावर भी अभी नहीं छूटा था। २४ तारीख को काम पूरा हो गया। नाला खोदने में हमारा कुल १५२ रुपये खर्च हुआ जबकि सरकारी योजना में इसके लिये ८० हजार का खर्च लिखा गया था।"

यही एक सच्चे नेता का लक्षण है कि वह कठिनाई में लोगों का मार्ग-प्रदर्शन करे और उनके कन्धे से कन्धा भिड़ाकर काम करने को सदैव तैयार रहे। वर्तमान समय में तो प्रायः सभी नेता कुर्सीनशीन बन गये हैं या बनना चाहते हैं और कभी-कभी भाषण देकर ही अपने कर्तव्य की पूर्ति मान लेते हैं। यही कारण है कि स्वराज्य हो जाने और इतना हो हल्ला मचने पर भी जनता की वास्तविक प्रगति बहुत कम हुई है तो चरित्र की दृष्टि से उससे अधिक गिरावट आ गई है। यह हानि बड़ी शोचनीय है। धन की हानि मे तो कोई विशेषता नहीं, क्योंकि हानि, लाभ का जोड़ा तो संसार का एक सुनिश्चित नियम है। पर चरित्र की हानि ऐसी है जिसकी क्षतिपूर्ति कभी नहीं हो सकती और जिसके कारण धीरे-धीरे अन्य अनेक प्रकार की हानियाँ भी सहन करनी पड़ती हैं। बाबा राघवदास जैसे नेताओं की कार्य प्रणाली जनता का उद्धार करने के साथ ही उनके चरित्र के स्तर को भी ऊँचा उठाने वाली थी। इसीलिए आज भी हम उनको भावपूर्वक श्रद्धांजलि देते है।

जन उद्धार के लिए व्याकुलता

बाबा राघवदास ने सामान्य स्तर के लोगों को जो इतना अधिक प्रभावित कर रखा था उसका कारण यही था कि वे एक ऐसे महापुरुष होते हुए छोटे से छोटे व्यक्तियों के साथ भी अत्यन्त घुल-मिलकर रहते थे और उनके दुःखों को देखकर आन्तरिक वेदना का अनुभव करते थे। इस सम्बन्ध में उनके एक सहकर्मी ने एक घटना का उल्लेख किया है कि "बरसात की काली रात थी बाबा बाहर गये थे। आश्रम की छत के ऊपर उनकी कोठरी खाली पड़ी थी। मैं उसी में बैठा हुआ वर्षा का आनन्द लेने लगा और धीरे-धीरे निद्रा देवी ने मेरे ऊपर अधिकार कर लिया। बाबा न जाने रात में कब आये और अपने चबूतरे पर सो गये। अँधेरे में उन्होंने मुझे नहीं देखा। प्रातः ४ बजे उनके मधुर स्वर से मेरी नींद टूटी। वे एक बंगला कविता गा रहे थे और सिसक-सिसक कर रो रहे थे। कविता का आशय था--"तुम हमारे मलमूत्र की सफाई करते हो, जाड़े, गर्मी, बरसात में अर्द्धनग्न और आधा पेट रहकर अपने कठिन परिश्रम से हमारी खेती-बारी सँभालते हो। अपने को हमारा अभिन्न अंग मानते हो, गंगा, सरयू, रामकृष्ण के पूजक हो। तो भी हमारे हृदय में तुम्हारे प्रति कृतज्ञता का भाव उदय नहीं हुआ। हमने तुम्हें कुत्ते बिल्लियों से भी बदतर अछूत बना रखा है। हमारे कवियों की आत्मा तुम्हारे लिए क्यों नहीं रोई? साधुओं का हृदय क्यों नहीं गला? हिन्दू जाति ने अपने ही एक वर्ग पर ऐसा अत्याचार क्यों किया? कदाचित इसीलिये तो प्रभु के न्याय ने हमको गुलाम नहीं बना दिया।"

बाबा इस कविता को आध घण्टे तक गाते रहे और रोते रहे। मुझसे उनका रोना सहा नहीं गया और मैंने खाँस दिया। वह चौंक पड़े--'कौन है?' मैंने पूछा--"आप इस प्रकार रोते क्यों हैं बाबाजी?" "मैं नहीं जानता था कि आप यहाँ सोये है। बंगला तो आप जानते हैं न। आपकी हिन्दी में है ऐसी कोई कविता? मैं तो उसी को साहित्य मानता हूँ कि जो या तो जीवन की गहराई में ले जाकर आन्तरिक उद्‌बोधन करे अथवा समाज के किसी अत्याचार के विरुद्ध हमारे हृदय में व्यथा उत्पन्न करे, सोते समाज को झकझोर कर जगावे। आपने "टाम काका की कुटिया" पढ़ी है। उसमें गुलामी का कैसा दर्दनाक वर्णन है। आपकी हिन्दी के किसी कवि या लेखक ने हरिजनों पर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध कोई मार्मिक रचना क्यों नहीं की? पांडेय जी, बापू जैसा पुरुष जल्दी फिर नहीं आयेगा। उन्होने कितनी वेदना और साहस से कहा है--"काश, मेरा जन्म किसी भंगी के घर में होता।" उनके जीतेजी हमें अपनी जाति का यह कलंक धो डालना है, अन्यथा हम बड़े संकट में फँसेंगे। भगवान के घर देर है, अन्धेर नहीं। चार करोड़ हरिजनों को हिन्दू जाति से अलग कर देने का एक सकट उन्होंने जान पर खेलकर अभी टाला है।"

बाबाजी हरिजनों की दुर्व्यवस्था को इतना अधिक अनुभव करने लगे थे कि ऐसी किसी घटना को देखकर तुरन्त द्रवित हो जाते थे। एक दिन वे अपने मित्र स्वामी सत्यानन्द के हरिजन-गुरुकुल में जा पहुँचे। देखा कि स्वामी जी कुएँ पर बैठे एक हरिजन बालक के पैरो को रगड़-रगड़ कर धो रहे हैं। यह देखकर उनका करुणा-भाव जाग्रत हो गया और भरे हुए गले से बोले-"स्वामी जी! आप इतनी बड़ी सेवा कर रहे हैं मुझसे तो इतना नहीं हो पाता।" स्वामी जी ने कहा-"बाबाजी, आप तो दीनबन्धु हैं। मुझे तो लाला जी (लाला लाजपतराय) ने यह काम सौंपा था उसी को जड़वत किये जा रहा हूँ। बड़े गरीब चमार का लड़का है। गरीबी अर्थात् धर्म का नाश। शायद वर्षों से इसका पाँव नहीं धोया गया। देखिये न इसके पाँव पर कितना मैल जमा है! कितने फोड़े निकल आये हैं।"

तब से बाबा जी गरीबों के बच्चों को नहलाने, धुलाने, दूध पिलाने, खेलने-कूदने के लिये जगह-जगह शिशु रक्षा केन्द्रों की स्थापना कराने लगे। वह सदैव हरिजनों को प्राथमिकता देते। एक बार किसी सभा के अध्यक्ष होकर मंच पर बैठे थे। देखा कि सभा के अंतिम छोर पर एक बुड्ढा गरीब किसान एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण कपड़े का टुकड़ा लपेटे खड़ा है। वे अपनी जगह से उठे और दौड़कर उस गरीब को हृदय से लगा लिया। उसे अपने साथ मंच पर ले आये और लोगों से कहा कि जो गरीब किसान हमारे लिये इतना परिश्रम करके भोजन-वस्त्र देता है, हम उसके लिए क्या करते हैं? उसे इस प्रकार आधा भूखा और आधा नंगा रखकर हम किस प्रकार अपना मस्तक ऊँचा उठा सकते हैं!"

वे एक घटना का जिक्र भी प्रायः किया करते थे। एक बार किसी बूढ़े चमार के साथ एक गाँव में जा पहुँचे। जलपान आया तो बूढ़े भगत ने पीने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि हमारे गाँव के ठाकुर की बेटी इस गाँव में ब्याही गई है इसलिये हम इसका पानी नहीं पी सकते। बाबाजी कहते थे-' 'हमारी जातीय एकता का सबसे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? जो इतनी गहराई से हमारे मन चुके हैं उनको हमने अछूत बना रखा है!"

सर्वोदय प्रचार में आत्माहुति

इस प्रकार बाबा राघवदास जीवन के अंतिम समय तक देश और जाति की सेवा में संलग्न रहे। अंतिम कई वर्षों तक वे भूदान की पद-यात्रा में भाग लेकर गरीबों के लिये भूमि का दान माँगकर उनके उत्थान के प्रयत्न में ही लगे रहे। इसके लिए वे अपनी स्थापित की हुई लगभग डेढ़ सौ संस्थाओं से सम्बन्ध तोड़कर सन्त विनोबा के अनुगामी बने। उन्होंने कहा-"भारत की गरीब जनता का कल्याण बापू की सर्वोदय समाज रचना से ही होगा। ग्रामो को आर्थिक स्वतन्त्रता उसी से ही मिलेगी। सन्त विनोबा उसका पथ प्रशस्त करने निकले हैं। उनका भरपूर स्वागत होना चाहिये।" इसलिए जब सन् १९५१ में उत्तर प्रदेश का कार्यारम्भ करने के लिए एक कार्यकर्ता सम्मेलन मथुरा में हुआ तो बाबाजी उसमें उपस्थित थे। उनकी प्रेरणा से भूमिहीनों के लिए पाँच लाख एकड़ जमीन माँगने का संकल्प किया गया। इस संकल्प को लेकर विनोबा ने ११ महीने में ३०० मील की पैदल यात्रा की। इन तमाम दिनों बाबा राघवदास उनके अग्रगामी दल में चलते थे और विनोबा के पहुँचने के पूर्व ही सब तैयारी कर डालते थे। इस बीच में ३००० हजार एकड़ जमीन दान में प्राप्त हुई। जब विनोबा उत्तर प्रदेश से बिहार में प्रविष्ट हुए तो इस कार्य का भार यहीं के कार्यकर्ताओं विशेषतः बाबा राघवदास के कंधों पर पड़ा और वे निश्चित कार्यक्रम को पूरा करने के लिए रात-दिन दौड़ने लगे। लगभग आठ वर्ष तक कठोर परिश्रम (तप) करके उन्होंने एक सौ सम्पूर्ण ग्राम, ५० हजार एकड़ भूमि, ४८ हजार रुपया, १४०० वृक्ष, ४० हजार की जायदाद, २ हजार मन अन्न, ४० जोड़ी बैल, ३० कुएँ, १५ मकान और लगभग २०० खेती के औजार दान में प्राप्त किये। सर्वोदय सिद्धान्त को उन्होंने लाखों जनता के हृदय तक पहुँचा दिया। भूदान यज्ञ के कार्य की उन्होंने इस प्रकार तन-मन लगाकर पूर्ति की कि विनोबा ने स्वयं कहा-"कामना मेरी और सफलता बाबाजी की।" दूसरी बार उन्होंने लिखा-"भूमिदान की कल्पना लेकर मैं अकेला था, किन्तु बाबा राघवदास को पाकर मैं एक से दो गया।"

सच्चे वैष्णव बाबा राघवदास

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक परिस्थिति में काम करने वाले बाबा राघवदास अन्तरंग में सच्चे वैष्णव थे। पर आप इस वैष्णव शब्द से सफेद या लाल तिलक लगाने वाले, तुलसी काष्ठ की मोटी सी माला गले मे डाले हुये बड़ा सा चिमटा लेकर धूनी रमाने वाले वैरागियों की कल्पना मत कीजिये। बाबा राघवदास थे "गाँधी सम्प्रदाय" के वैष्णव, जिनकी प्रार्थना के समय प्रायः नरसी भक्त का "वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाने रे" वाला पद हमेशा गाया जाता था। सन्तों ने भगवान का नाम जपते रहना, कीर्तन करना, उनके मन्दिर में पूजा-उपासना करना, धर्म-कथा सुनना, आदि को भगवद्-भक्तों का लक्षण बतलाया

है, पर सबसे बड़ा लक्षण है "अन्य प्राणियों के कष्टों को समझकर उनको दूर करने के लिये स्वयं परिश्रम करना--कष्ट सहन करना ।" जो दूसरों के दुःख विपत्ति को निवारण करने के लिये, स्वयं विपत्तियों मे कूद पड़ता है वही सच्चा वैष्णव या सच्चा "मनुष्य" माना जा सकता है ।

इस "वैष्णव-धर्म" का पालन करने के लिये बाबा राघवदास बड़े-बड़े आन्दोलनों के संचालन से लेकर गन्दी टट्टियों को साफ करने तक के लिये बिना किसी भेदभाव के तैयार रहते थे । उनकी इन बहुसंख्यक प्रवृत्तियों को देखकर एक सुपरिचित विद्वान ने कहा था--"बाबाजी ने हिन्दी प्रसार-प्रचार की चेष्टा की, गोरक्षा और खादी का कार्य आगे बढ़ाया, शिक्षण-संस्थायें खोली-खुलवाईं, हरिजनों भूकम्प-पीड़ितों, शरणार्थियों में काम किया, वनवासियों की सेवा की, कुष्ठ रोगियों की ओर ध्यान दिया, भूदान का कार्य हाथ में लिया । मतलब कोई सेवा क्षेत्र उनसे अछूता न था । इतने कामों के लिये वे न जाने कैसे समय निकाल पाते थे, न जाने कैसे उनकी व्यवस्था करते थे ।"

"कोई कहता है वह आजादी के सैनिक थे, कोई कहता है कि वे ठोस रचनात्मक कार्यकर्ता थे, कोई कहता है वे जन-नायक थे । मुझे यह सब अपूर्ण लगता है, साधना की परछाइयों के समान । भले ही वह इन विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ते हों, पर वस्तुतः वह आध्यात्मिक, अन्तः साधक थे, जिनके अन्तर से करुणा की वह धारा फूटी थी जो व्यक्ति के समष्टि हो जाने पर फूटती है । राजनीतिक कार्यकर्ता में आसक्ति होती है, सामाजिक कार्यकर्ता में यशैषणा और सामाजिकता का अभिमान होता है, नेता में जन-साधारण से पृथकता की भावना होती है । बाबाजी की सबसे बड़ी सिद्धि यही थी कि उनमें किसी तरह का अभिमान नहीं रह गया था । देश की कोटि-कोटि दरिद्र जनता ही उनकी आराध्या थी । इस निरभिमानता एवं पर दुःख कातरता के कारण ही लक्ष-लक्ष भारतीय जनता उनके प्रति अपना प्रेम बरसाती थी । वह उसके अपने हो गये थे। इसलिये उन्होंने जो काम उठाया तेजी से बढ़ा और सफल हुआ । चालीस वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश का पूर्वोत्तर भाग, एक मात्र काशी को छोड़कर शिक्षा में इतना अधिक पिछड़ा था कि उसकी अब कल्पना भी नहीं की जा सकती। पर बाबा राघवदास की प्रेरणा से पचासों हाईस्कूल इन जिलों में खुल गये । उसी तपस्या की नींव पर अब गोरखपुर में विश्वविद्यालय स्थापित हो चुका है और इन सभी जिलो में इण्टरमीडियेट कालेजों की भरमार हो गई है, और दो-दो एक-एक डिग्री कालेज भी खुल गये हैं ।"

सच्चे जन-सेवक ऐसे ही होते है । ऐसे महान् पुरुष स्वयं सामान्य बने रहने पर भी दूसरे हजारों को आगे बढ़ा देते है । बाबा राघवदास स्वयं चाहे मैट्रिक तक ही पढ़े हों पर उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हजारों व्यक्ति एम० ए० और उससे भी उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके होंगे । देश का अभाग्य है कि आजकल सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसे सच्चे कार्यकर्ताओं का दिन पर दिन अभाव होता जाता है और ऊपर से चाहे सेवा का कैसा भी ढोल क्यों न पीटा जाय भीतर स्वार्थपरता की भावना ही जोर पकड़ रही है ।

लगभग चार-पाँच वर्ष उत्तर प्रदेश में भूदान और सम्पत्ति दान का कार्यक्रम पूरा करके वे इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए मध्य प्रदेश में पहुँचे । वहाँ के आदिवासियों की गरीबी और भुखमरी देखकर तो उनकी वेदना चरम सीमा पर पहुँच गई । पाँच रात और पाँच दिन उन्होंने भोजन त्याग दिया । वे कहते थे कि जंगलों और पहाड़ियों में रहने वाले इन आदिवासियों को आहार नहीं मिलता तो मैं उन भूखों के बीच में रहकर भोजन कैसे करूँ ? अन्त में उस प्रदेश की सरकार को उन गरीबो की तरफ ध्यान देना ही पड़ा और अन्न की व्यवस्था करनी पड़ी ।

मध्य प्रदेश में वे जी तोड़कर सेवा-कार्य में जुट गये । साथियों ने कुछ विश्राम करते रहने को बहुत कहा सुना पर उन्होंने यही उत्तर दिया--"मुझे रोको मत । आगे बढ़ने दो । मैं अब रुकूँगा नहीं, बढ़ता चलूँगा और कहीं गिरकर देश की मिट्टी में मिल जाऊँगा । बड़ी गरीबी है, बड़ा दुःख है । अब इसे देख नहीं सकता ।" बस इसी धुन मे वे आगे बढ़कर काम करते रहे । जाड़ा आया उनके पास वस्त्र बहुत कम थे । इससे ठंड लगकर ८ जनवरी १९५८ को उनके फेफड़े में शीत समा गया और ज्वर आ गया । तो भी अपनी बीमारी को छिपाकर तीन दिन तक सिवनी के सर्वोदय सम्मेलन में दोनों समय भाषण करते रहे । १२ तारीख को वे अशक्त होकर गिर गये और १५ जनवरी को उन्होंने अंतिम साँस लेकर शरीर को त्याग दिया ।

बाबा राघवदास का जीवन इस बात का उदाहरण है कि यदि हृदय में लगन हो तो मनुष्य सर्वथा साधन रहित होने पर बड़े से बड़ा काम कर सकता है । उनके घर वाले बाल्यावस्था में ही उनको अनाथ बनाकर परलोक जा चुके थे, शिक्षा-दीक्षा भी साधारण ही हो सकी थी । पास में एक भी पैसा न था, पर केवल अपने परिश्रम और सच्ची लगन के आधार पर लाखों पतित और निराश्रित लोगों का उद्धार कर दिया । उनके चरित्र को पढ़कर कौन कह सकता है कि हम सेवा और परोपकार कार्य करने में साधनहीन अथवा असमर्थ हैं ।

सेवा और सहिष्णुता के आदर्श

सन्त सुकरात

ईसा मसीह के जन्म से भी चार सौ वर्ष पहले एथेन्स (यूनान) के न्यायालय में एक सत्तर वर्षीय वृद्ध मनुष्य खड़ा हुआ था । उसके ऊपर अभियोग लगाया गया था कि वह नवयुवकों को विपरीत उपदेश देकर गलत रास्ते पर ले जाता है । दूसरा अभियोग यह भी था कि उसने प्रजातन्त्र के अधिकारियों के आदेशों की अवहेलना की है । यह अभियुक्त और कोई नहीं पश्चिमी संसार का अति प्राचीन दार्शनिक सुकरात था ।

संसार में यह भी एक अनोखा दृश्य है कि जिन लोगों को आज दुनिया पूजती है, महान सन्त और देवदूत मानती है, उन्हीं को एक समय 'बुद्धिमान' और 'न्यायकर्ता' कहे जाने वाले लोगों ने अभियुक्त बनाया और कड़े से कड़ा दण्ड दिया अन्यथा कौन कह सकता है कि सुकरात, ईसा, मार्टिन, लूथर आदि किसी भी दृष्टि से 'अपराधी" या 'दोषी' थे । पर जिस प्रकार दुष्टों की दृष्टि में साधु व्यक्ति दोषी जान पड़ता है, जैसे हिरनाकुश को राम नाम लेने वाला प्रह्लाद शत्रु जान पड़ता था, उसी प्रकार ये महापुरुष भी कुछ व्यक्तियों को अपने सत्य व्यवहार और न्याय-परायणता के कारण 'दोषी' जान पड़ते थे । आजकल भी कुछ राजनीतिक मतभेद के कारण गाँधी, कैनेडी, लूथर किंग जैसे लोक कल्याणकारी महामानवों को गोली से उड़ा दिया जाता है । पर यह अब कार्य खुली अदालत में धर्म, कानून तथा न्याय के नाम पर नहीं होता, वरन् जिन लोगों के स्वार्थ को उन महापुरुषों के सत्य का पक्ष ग्रहण करने से अपनी हानि जान पड़ती है, वे ही उनके प्राणों के गाहक हो जाते हैं ।

इसलिये जब सुकरात (जन्म ईसा से ४६६ वर्ष पूर्व) के अभियोगकर्ताओं ने नागरिकों को सम्बोधित करके यह कहा कि आप लोग सावधान रहें और सुकरात के भाषण-जाल में न फँस जायें, तो सुकरात ने उत्तर दिया कि, "एथेन्स का प्रत्येक नागरिक जानता है कि मुझमें चाहे और कोई दोष हों पर मैं असत्यभाषी तो कदापि नहीं हूँ । हाँ, यदि उनका आशय यह है कि मेरा सत्य भाषण लोगों को आकर्षित कर लेता है और इसी को वे जाल समझते हैं तो मैं इस आरोप को स्वीकार कर लूँगा । अनेक बुद्धिमान कहलाने वाले कहते हैं कि सुकरात आकाश के विषय में वितर्क करता है, पाताल की पड़ताल करता है और कुत्सित बात को समुचित कर देता है । उनका संकेत उन बातों से यह है कि मैं देवताओं पर आस्था नहीं रखता । पर इस बात में भी सत्यांश नहीं । मैं कोई वैज्ञानिक नहीं हूँ और एक ऐसे विषय में काल्पनिक बाते कदापि नहीं करता जिसकी मुझे कोई जानकारी नहीं ।"

फिर भी अभियोक्ता लोग उनके सहकारी मुझे 'प्रज्ञावान' (बुद्धिशाली) कहते हैं, तो इसका कोई कारण अवश्य होगा । तो मेरा अनुमान है कि मेरे एक मित्र 'काइरोफोन' ने 'डेलफाई' मन्दिर के देवता से यह पूछा था कि "क्या सुकरात से बढ़कर बुद्धिमान कोई व्यक्ति है या नहीं ?" इस पर देवताओं ने देववाणी की और मन्दिर की पुजारिन ने उसका जो आशय बतलाया वह यही थी कि देवता ने मुझे 'प्रज्ञावान' बताया है । जब मैंने यह सुना तो बड़ा आश्चर्यचकित हुआ कि मैं तो अपने को अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे अन्दर किसी प्रकार की 'प्रज्ञा' नहीं है । तब देवता का वास्तविक आशय क्या हो सकता है ? इसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए मैं विद्वानों, राजनीतिज्ञों, कवियों, शिल्पकारों के पास यह जानने को गया कि उनमें से कोई अधिक प्रज्ञावान है कि नहीं ? पर सब जगह मुझे ढोल के अन्दर पोल ही मिली । ये लोग अपने को 'प्रज्ञावान' कहते अवश्य थे, पर दरअसल अपने पेशे की कुछ बातों को छोड़कर संसार का उनको कुछ भी ज्ञान न था ।

"मैंने समझा कि मैं इस अर्थ में प्रज्ञावान कहा जा सकता हूँ कि मैं अपने विज्ञान को जानता हूँ जब कि वे लोग 'अज्ञानी' होते हुए भी अपने को प्रज्ञावान मानते थे और वैसा ही दोषी कहते थे । जब मैंने इसकी झूठी प्रज्ञा का भण्डाफोड़ कर दिया तो वे सब मेरे शत्रु बन गये और उसी का परिणाम है कि आज मेरे ऊपर इस प्रकार का आरोप लगाया गया है ।"

इतना कहकर सुकरात ने बतलाया कि "सत्य तो यह है कि केवल भगवान् ही 'प्रज्ञावान' हैं । वे ही मेरे तथा अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों के बीच इस तरह की परीक्षा उपस्थित करके यह दिखलाना चाहते है कि मनुष्य की 'प्रज्ञा' अत्यल्प तथा नाममात्र की है । भगवान ही मेरे नाम को निमित्त बनाकर एक दृष्टान्त दे रहे है । इस प्रकार वे ही कह रहे हैं कि -"हे मनुष्यो ! वही मनुष्य 'प्रज्ञावान' है जो सुकरात की तरह यह जानता है अपनी 'प्रज्ञा' का कोई नहीं ।"

सकते

है

वाला व्यक्ति जितना जानता है वह सम्पूर्ण ज्ञान-राशि की तुलना में एक घड़े में एक बूँद के समान नहीं है। जिनको 'महाज्ञानी' भी कहा जाता है वे भी कभी यह नहीं कह सकते कि हमने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। उदाहरण के लिए सांख्य और वैशेषिक जैसे जगत प्रसिद्ध दर्शनों के रचयिता भी शिल्प, संगीत, काव्य के विषय में अपने को निष्णान्त नहीं कह सकते। फिर अध्यात्म-ईश्वर, जीव, आत्मा, परलोक जैसे सर्वथा अप्रत्यक्ष और अव्यक्त विषय में तो कोई दावे के साथ कुछ कैसे कह सकता है ? इसलिये भारतीय ऋषि-मुनियों ने सब कुछ वर्णन कर देने के बाद भी कहा है-"नेति-नेति" अर्थात् जितना हम जानते थे उतना हमने बतला दिया पर यह इस विषय की अन्तिम सीमा नहीं है। इसके बाद भी जानने की बहुत सी बातें हैं। जिनका पता हमको नहीं पर सम्भव है, अन्य किसी को हो अथवा आगे चलकर जिनकी जानकारी हो सके।

सुकरात ने भी अपने अभियोक्ताओं को उत्तर देते हुये यही कहा कि मेरे ऊपर जो इलजाम लगाया गया है कि मैं जनता के बीच अपने को सबसे बड़ा ज्ञानी बतलाकर उनको अपने मनमाने सिद्धान्तों का अनुयायी बना लेता हूँ, तो इसमें सत्य का तनिक भी अंश नहीं है। मैं तो स्पष्टतया अपने को अज्ञानी ही मानता हूँ, क्योंकि मुझे ज्ञान समुद्र सामने लहराता दिखाई पड़ रहा है और मैं उसके किनारे पर पड़े सीप, घोंघा, कौड़ी आदि पदार्थों को समेटकर एक बालक के समान अपना मनोरंजन कर रहा हूँ। समुद्र की गहराईयों में जो बहुमूल्य मुक्ताराशि बिखरी पड़ी है वहाँ तक तो मेरी पहुँच ही नहीं हो सकी है। इस तथ्य को जानते हुए भला मैं अपने ज्ञान का गर्व कैसे कर सकता हूँ ? तो भी इतना अन्तर अवश्य है कि जब मैं अपने इस अज्ञान की बात को समझता हूँ और स्वीकार भी करता हूँ, तब अन्य 'आचार्य' और 'पण्डित' अधिकांश में अपने को 'ज्ञानी' ही मान बैठे हैं और यदि कोई उनके ज्ञान में शंका करता है, तो वे उसे अपना विरोधी, शत्रु समझने लगते हैं।

नास्तिकता का आरोप

सुकरात के विरोधियों ने उस पर नास्तिकता का भी आरोप लगाया। उन्होंने कहा है कि जब हमारे धर्म में सूर्य-चन्द्रमा को देवता माना जाता है, वह उनको जड़ पदार्थ बतलाकर नवयुवकों की श्रद्धा भक्ति को मिटाने का प्रयत्न करता है। इतना ही नहीं यह किसी भी देवता में तनिक भी विश्वास नहीं करता और एक कट्टर नास्तिक व्यक्ति है।

दुनिया का एक अजीब दस्तूर देखने में आता है कि ढोंगी व्यक्ति चाहे जितने नीच हों, आस्तिक बने रहते हैं और सच्चे व्यक्तियों को जो अपनी बात को स्पष्ट कह डालता है, लोग नास्तिक की पदवी दे डालते है, चाहे वे आस्तिक और नास्तिक का वास्तविक आशय समझते भी न हों। सुकरात जिस प्रकार सत्य मार्ग पर चलता था समस्त जिज्ञासुओं को बिना किसी लाभ की आशा के हितकारी सलाह देता था और इसके फलस्वरूप अपने जीविका के कार्य के लिए यथोचित समय न पाने से दरिद्रता का जीवन बिताता था, उसे देखते हुए भी कभी नास्तिक नहीं कहा जा सकता था।

इसके बजाय नास्तिक वह है जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाता रहता है, जो असत्य व्यवहार में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता जो अपने तनिक से लाभ के लिए झट से परमेश्वर की झूँठी सौगन्ध खाता रहता है, जो ईश्वर और धर्म के नाम पर प्रतिज्ञा करके विश्वासघात करता रहता है ऐसे व्यक्ति चाहे रोज मन्दिर में जाते हों, आसन पर बैठकर घण्टा दो घण्टा माला फिराते हों, तिलक छापा भी दूसरों से अधिक लगाते हों पर फिर भी वे पक्के नास्तिक हैं। इसका कारण यही है कि जब वे परमात्मा की झूँठी शपथ खाने में कुछ भी संकोच नहीं करते न तनिक भी डरते हैं तो कैसे माना जाय कि वे परमेश्वर के होने और उसकी शक्ति पर सच्चे दिल से विश्वास करते हैं।

पर जो व्यक्ति प्रलोभनों को ठुकरा कर सचाई पर कायम रहता है, और हानि सहकर भी दूसरों के उपकार में लगा रहता है अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करके साधु-जीवन व्यतीत करता है, वह अवश्य ही आस्तिक है। ऐसे व्यक्ति चाहे हर समय भगवान का नाम रटता न रहे, और चाहे पूजा-उपासना के बाह्य कर्मकाण्डों में भी अधिक भाग न लें, पर वह अपना जीवन उन कामों के लिए अर्पित कर देता है, जिनको करने का भगवान् ने आदेश दिया है। फिर ऐसे व्यक्ति को नास्तिक कैसे कहा जा सकता है ? वह तो पक्का आस्तिक ही है। इसीलिये सुकरात ने अदालत के सामने अपनी निर्दोषिता सिद्ध करते हुए कहा-

"एथेन्स के नागरिक जानते हैं कि मैं दिव्य अथवा आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास करता हूँ और उनकी शिक्षा नवयुवकों को देता हूँ। मेरे विरुद्ध जो अभियोग-पत्र न्यायालय मे दाखिल किया गया है उसमें भी यही बात कही गई है। तब मैं पूछना चाहता हूँ कि यदि मैं आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास करता हूँ तो 'पितृगण' और 'अर्धदेवताओं' में अविश्वास करने वाला कैसे कहा जा सकता हूँ ? क्या कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो घुड़सवारी

में विश्वास करता हो, पर घोड़ों के अस्तित्व से इन्कार करे? इसलिये जब मैं दिव्य शक्तियों को मानता हूँ तो उन्हीं के अंग और उपांग देवताओं के अस्तित्व और महत्व से कैसे इन्कार कर सकता हूँ ?"

"पर मैं जानता हूँ कि मेरे विरुद्ध जो अभियोग लगाये गये हैं । उनका वास्तविक कारण मेरी आस्तिकता अथवा नास्तिकता नहीं है, वरन् कुछ लोगों ने मेरे विरुद्ध जो विद्रोह फैलाया है वही उसका सच्चा कारण है । इसलिये यदि इस अभियोग के फलस्वरूप मेरी मृत्यु होती है, तो उसका कारण यह विद्वेष और विरक्तता का भाव ही होगा । ऐसे ही कारण से पहले भी अनेक सज्जन मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे । इस तरह कुछ लोगों के विद्वेष के फलस्वरूप मरने वालों में मेरा नाम अन्तिम न होगा ।"

मनुष्य के आदेश के बजाय भगवान् का आदेश मान्य

वास्तव में सुकरात के ऊपर अभियोग चलाने का कारण यह था कि एथेन्स के कुछ लोग उसके आध्यात्मिक उपदेशों को अपने लौकिक जीवन के लिये हानिकारक समझते थे । उसके उपदेशों को सुनकर बहुसंख्यक नवयुवक उसके अनुयायी बनते जाते थे और बाह्य कर्मकाण्डों की अपेक्षा उच्च आध्यात्मिक तत्वों को ज्यादा महत्व देने लगे थे । इसलिये उसके अभियोगकर्ताओं ने यही कहा कि या तो सुकरात अपना उपदेश देने का काम बन्द कर दे, या एथेन्स को छोड़कर अन्यत्र चला जाय, नहीं तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाय ।

इसका उत्तर देते हुए सुकरात ने कहा--"यह तुम्हारा भ्रम है । जिस मनुष्य में थोड़ा भी सत्य है उसे मरने और जीने का गणित नहीं करना चाहिये कि उसको तो केवल यही विचार करना चाहिये कि वह जो कुछ कर रहा है वह उचित है या अनुचित --उसका आचरण एक सज्जन मनुष्य जैसा है या एक दुर्जन मनुष्य के समान ।"

अपने इस कथन में सुकरात ने स्पष्ट रूप से उसी सिद्धान्त का उल्लेख किया है जो भारतीय धर्म शास्त्रों में हजारों वर्ष पूर्व कहा जा चुका है । गीता मे स्पष्ट कहा गया है कि 'पंडित जन' (ज्ञानी मनुष्य) जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते ।" (गीता २-११) इसी प्रकार 'नीति-शास्त्र' के एक श्लोक में कहा गया है कि "चाहे हमारा मरण आज हो जाय और चाहे हम युगों तक जीवित रहें पर इसका विचार न करके ज्ञानी मनुष्य सदा न्याय मार्ग पर ही चलते रहते हैं ।" इन्हीं सिद्धान्तों को सत्य स्वीकार करते हुए सुकरात ने न्यायालय के सामने दृढ़ शब्दों में कहा--

"जैसा कि मैं समझता हूँ, भगवान मुझे आदेश दे रहे हैं कि अपने और दूसरे मनुष्यों के विचारों की जाँच-पड़ताल करके उस मार्ग का उपदेश करूँ जो आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से श्रेयस्कर हो अब यदि मृत्यु के भय से या किसी अन्य भय के वशीभूत होकर मैं अपना स्थान छोड़कर भाग निकलूँ तो मेरा यह आचरण वास्तव में लज्जास्पद होगा । कारण, मृत्यु से भयभीत हो जाना तो ज्ञान नहीं वरन् एक पाखण्ड अथवा अज्ञान है । एथेन्स के नागरिको ! आपको मेरे प्रति जो प्रेम है उसके कारण आप कह सकते हैं कि सुकरात ! जाओ इस बार हम अभियोगकर्ताओं की बात को अनसुनी करके तुम्हें छोड़ देते हैं । किन्तु तुमको यह वचन देना होगा कि तुम अब नगर के किसी व्यक्ति को अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का उपदेश नहीं करोगे । और यदि ऐसा करते हुए पकड़े जाओगे तो तुम्हारा वध कर दिया जायेगा । अगर आप इस प्रकार की शर्त के साथ मुझे मुक्त करते है तो मेरा उत्तर यह है कि--"एथेन्स के नागरिको ! मैं आप लोगों का सम्मान करता हूँ । आप लोगों से मुझे प्रेम है । पर आप लोगों की आज्ञा की अपेक्षा मैं भगवान की आज्ञा का ही पालन करना श्रेयस्कर समझता हूँ और जब तक मुझमें प्राण और कार्य करने की शक्ति है तब तक मैं दार्शनिक तत्वों का अध्ययन और उनका प्रचार करने से विमुख नहीं हो सकता ।"

"मैं जिस किसी से भी मिलूँगा, उसी से अपने भाव के अनुसार कहूँगा--'बन्धु ! तुम एथेन्स के समान श्रेष्ठ शक्ति सम्पन्न तथा ज्ञान की दृष्टि से भी प्रसिद्ध नागरिक हो, तो क्या तुमको अपना अधिकाधिक ध्यान धन, मान तथा यश के लिये लगाते तथा ज्ञान, सत्य तथा आत्मा के सच्चे हित की अवहेलना करते हुये लज्जा नहीं आती ? इस विषय का ध्यान और मनन तुम क्यों नहीं करते ?' यदि वह व्यक्ति कहेगा कि "हाँ मैं उनका मनन करता हूँ तो भी उसी क्षण मैं उसको नहीं छोड़ दूँगा । मैं उससे और भी अनेक प्रश्न पूछूँगा, उसकी परीक्षा लूँगा, उसकी समीक्षा करूँगा । और यदि मैं देखूँगा कि उसमे शील नहीं है, तो भी वह अपने शील होने का दावा करता है, तो मैं उसकी भर्त्सना करूँगा मैं मुझसे मिलने वाले सब लोगों से इसी तरह की बातें करूँगा । चाहे वे लोग नवयुवक हों या वृद्ध, चाहे वे अपने देश के रहने वाले हों चाहे परदेश के । हाँ, मेरा ध्यान स्वदेशवासियों की तरफ अधिक जायगा, क्योंकि वे मेरे बान्धव हैं ।"

यद्यपि आज हम इस प्रकार दूसरों को उपदेश देने के लिए आतुर व्यक्तियों को प्रायः हँसी का ही पात्र समझते हैं क्योंकि हमारे पास प्रचार के अन्य अनेक साधन जैसे पुस्तकें समाचार-पत्र, स्कूल, क्लब तथा विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ मौजूद हैं । पर अब से दो-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हमारे देश में भी उपदेश का यही रास्ता था कि कुछ लोग किसी बड़े बाजार, घाट या मन्दिर जैसे सार्वजनिक स्थान पर बैठकर मौखिक चर्चा करते रहते थे । यदि किसी व्यक्ति को अपने सामाजिक अथवा धार्मिक विचार अन्य लोगों में फैलाने होते थे तो वह ऐसी विचार गोष्ठी में खड़े होकर अपनी बात सुनाया करता था । सुकरात के समय में, जिसे लगभग ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो चुके, यह स्थिति और भी सीमित और कठिन थी । उस समय लिखने-पढ़ने का बहुत कम प्रचार हुआ था, संसार में कोई आजकल के समान कागज को जानता भी न था । बहुत आवश्यकता पड़ने पर चमड़े, कपड़े या लकड़ी आदि पर कुछ लिखा जाता था । ऐसी दशा में उस समय लोक शिक्षण और प्रचार का एकमात्र साधन वार्तालाप और भाषण ही था । अपने विचारों का प्रचार करने के निमित्त सुकरात को भी उसी का उपयोग करना पड़ता था ।

भौतिकवाद का विरोधी

यद्यपि इतना अधिक समय बीत जाने तथा देश-काल के बिल्कुल बदल जाने के कारण हम इस बात को पूरी तरह नहीं समझ पाते कि सुकरात को जब किसी प्रकार का लोभ-लालच न था और वह किसी से भेंट पूजा न लेता था, तो उसे इस प्रकार 'उपदेशक' या 'गुरु' बनने की क्या आवश्यकता थी ? जब लोग चाहते थे कि वह उनके लड़कों को नई तरह की शिक्षा न दे, और रास्ते में भेंट हो जाने पर उनसे इस तरह का वार्तालाप न करें, तो उसका इस कार्य में कौन-सा महत्व जान पड़ता था जिसके लिये उसने विष का प्याला पीकर अपनी जान दे दी ?

यद्यपि उस समय 'साम्यवाद' और 'समाजवाद' का नामकरण नहीं हुआ था और 'पूँजीवाद' तथा 'श्रमजीवी' का स्पष्ट वर्गीकरण भी नहीं हुआ था, पर जब हम सुकरात के बयान पर विचार करते हैं और उस समय के इतिहास को ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं तो हम कह सकते हैं कि मूल रूप में यह मतभेद और विवाद वैसा ही था जैसा आज अमीर-गरीब के बीच में देखने में आता है । इसके प्रमाणस्वरूप हम सुकरात के बयान में से एक उदाहरण नीचे देते हैं--

"अब आप लोग समझ लीजिये कि यह भगवान का ही आदेश है । मैं आप लोगों के बीच विचरण करके आप लोगों को समझाने के अतिरिक्त अन्य कोई भी काम नहीं करता । आप लोग नवयुवक हों अथवा वृद्ध, मैं आप सबसे कहता हूँ कि आप लोग अपने प्रति तथा अपनी सम्पत्ति के प्रति आसक्ति का त्याग कीजिये और सबसे पहले अपनी आत्मा के उत्कर्ष की ओर ध्यान दीजिये । मैं आप लोगों से कहता रहता हूँ कि धन के द्वारा शील (सदाचार) की उपलब्धि नहीं होती वरन् शील के द्वारा ही मनुष्य श्रेय की प्राप्ति कर सकता है ।"

"यह है मेरा उपदेश ! और यदि यह सिद्धान्त नवयुवकों के लिए 'कुशिक्षा' बतलाया जाता है तो मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं एक कुचेष्टाकारी व्यक्ति हूँ । अतएव यह एथेन्स के नागरिको ! मैं आप लोगों से कहता हूँ कि आप लोग चाहे 'अनूतास ' (एक अभियोगकर्ता) के कथन को मानें अथवा उसे अमान्य कर दें--आप लोग मुझको मुक्त करें या न करें, इतना काम आप समझ लें कि मैं अपने आचरण में परिवर्तन कभी न करूँगा । इसके लिये मुझे अनेक बार मृत्युदण्ड सहन करना पड़े, तो भी मैं इसे नहीं छोडूँगा ।"

सुकरात के इस कथन से प्रकट होता है कि उस समय एथेन्स निवासियों में धन, वैभव और बाह्य आडम्बर का महत्व बढ़ता जाता था और आध्यात्मिकता की तरफ से वे उदासीन होते जाते थे । अन्य लेखकों के कथनों से भी यही जान पड़ता है कि उस समय एथेन्स वाले सांसारिक सुखों और आर्थिक लिप्सा में फँसकर नैतिक उन्नति और जीवन को पवित्र बनाने वाले सद्गुणों को क्रमशः त्यागते जाते थे । सुकरात की दृष्टि में किसी भी जाति में इस प्रकार की मनोवृत्ति का बढ़ना उसके पतन और अन्त में नाश का कारण होता है । इसीलिये अपने समकालीन लोगों में भौतिकवादी 'विचारधारा के प्रवाह को अवरुद्ध करके आध्यात्मिक भावनाओं को प्रवेश कराने के लिये वे इतने प्रयत्नशील थे '।

आत्म-बलिदानी की महिमा

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सुकरात का विषपान द्वारा मृत्युदण्ड एक प्रकार से उनका आत्म-बलिदान ही था । उनको न्यायालय ने प्राणदण्ड के बदले में यह सुविधा दी थी कि अगर वे अपना उपदेश करना छोड़ दें अथवा अन्य किसी स्थान को चले जायें तो उनको मुक्त कर दिया जायेगा । साथ ही वहाँ ऐसा भी नियम था कि वे कुछ दण्ड देकर भी प्राण दण्ड से बच सकते थे और उसके

अनुयायी इसके लिए तैयार भी थे । उनके एक शिष्य ने तो प्राण दण्ड की आज्ञा होने के पश्चात् भी जेलर से मिलकर इस बात की व्यवस्था कर ली थी कि सुकरात चाहें तो चुपचाप जैल से निकलकर अन्यत्र चले जायें, पर सुकरात ने इनमें से किसी उपाय को अपने सिद्धान्तों और चरित्र के अनुकूल नहीं समझा । उन्होंने अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य अपने समकालीन लोगों को अध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त करना बना लिया था । अगर वे स्वयं किसी हीन उपाय द्वारा अपनी प्राण-रक्षा करने को उद्यत हो जाते हों इससे आध्यात्मिकता के प्रति सर्वसाधारण की भावना निर्बल ही पड़ती । इसलिये उन्होंने भौतिकवादी मनोवृत्ति वालों के आक्षेपों और आक्रमण का वीरतापूर्वक मुकाबला किया और पूर्ण शान्ति तथा निश्चित भाव से अपने प्राण देकर यह सिद्ध कर दिया कि वास्तव में आध्यात्मिकता की शक्ति सर्वोपरि है । इस घटना से सुकरात के सिद्धान्तों, आत्मा की अमरता सबन्धी विचारों को जो बल मिला, वह हजारों भाषणों और ग्रन्थों से मिल सकना सम्भव न था । उनके बलिदान ने भावना-जगत में इतनी बड़ी क्रान्ति की कि उसका प्रभाव समकालीन लोगों पर ही नहीं पड़ा, वरन् आज तक लोग उनसे प्रेरणा ले रहे है । उन्होंने अपने शिष्यों से, जो उनके वियोग की कल्पना से दुःखी हो रहे थे ठीक ही कहा था--

"सच्चे रास्ते पर कौन है इसे अभी तो परमात्मा ही जानता है । पर जो कुछ मैं करता हूँ उसे कार्य रूप में परिणित कर दिखाने से समस्त संसार उसकी यथार्थता को अनुभव करने लगेगा और भावी पीढ़ियाँ उससे लाभ उठाती रहेंगी ।"

एथेन्स के अधिक धनवान और प्रभावशाली लोगों को अपने विरुद्ध एकत्रित देखकर और न्यायाधीशों को भी उन्हीं का साथी देखकर वे भी तनिक भी भयभीत नहीं हुए और उन्होंने भरी अदालत में उन सबको फटकारते हुए कहा--"क्या तुम्हें अपनी वैभव प्रियता और मान-सम्मान को पाने की लालसा पर लज्जा नहीं आती, जबकि तुम्हें सत्य मार्ग पर चलकर और ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मा की तनिक भी चिन्ता नहीं है ?" उन्होंने न्यायाधीशों द्वारा दिये गये मृत्यु-दण्ड की उपेक्षा करते हुए कहा--"मृत्यु के विषय कुछ न जानते हुए भी भयभीत होना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार कुछ भी जानते हुए अपने को ज्ञानी समझना । मुझे यह मालूम नहीं कि मृत्यु क्या है ? वह एक अच्छी वस्तु भी हो सकती है, जबकि अपने सिद्धान्त के विपरीत आचरण करना अवश्य ही बुरा है । इसलिए जो प्रत्यक्ष बुरा है उसकी अपेक्षा मैं सम्भावित अच्छी चीज (अर्थात् मृत्यु) को ही पसन्द करूँगा । हो सकता है कि परमात्मा ने उसे मेरे कल्याण के लिये भेजा हो । मैं उसका हृदय से स्वागत करता हूँ ।"

सुकरात और गाँधीजी

महात्मा गाँधी सुकरात के बड़े प्रशंसक थे और उन्होंने उसके सम्बन्ध में गुजराती में एक पुस्तक "एक सत्यवीरनी कथा" नाम की लिखी थी । संयोग की बात है कि उनका अन्त भी ठीक सुकरात के ढंग पर ही हुआ अर्थात् उन्होंने भी अपने सिद्धान्त की रक्षा और उसके अभिवर्द्धन के लिये प्राणों का बलिदान कर दिया । इन दिनों जमाना बदल गया है, इसलिए न्यायालय द्वारा तो मृत्युदण्ड देना सम्भव न हो सका, पर विरोधी विचार वालों ने उनको गोली से मार ही दिया । सुकरात को जहर का प्याला पिलाने वालों ने सोचा था कि सुकरात को मार देने से अध्यात्मवाद का प्रचार रुक जायगा, पर रुकने के बजाय वह दिन पर दिन बढ़ता ही चला गया और उसने मनुष्यों के विचारो में इतना परिवर्तन तो कर ही दिया कि अब उन बातों पर किसी को सुकरात की तरह न्यायालय मे मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता । इसी प्रकार गाँधी जी ने साम्प्रदायिक एकता अथवा मनुष्य मात्र को एक ईश्वर का बनाया हुआ सिद्ध करने के लिए अपने प्राण दे डाले । उनके बलिदान के फल से मुसलमान भी भारत के अंग बनकर इस देश में टिके रह सके । अन्यथा उनके हत्यारे तो यही सोच रहे थे कि महात्मा गाँधी का अन्त करके साम्प्रदायिक एकता का भी अन्त कर डालेगे । इस प्रकार के हत्याकारियों की दृष्टि बहुत सीमित होती है और वे अपने जघन्य कृत्य के दूरवर्ती परिणाम को देखने मे समर्थ नहीं होते ।

इतिहास में ऐसे उदाहरण केवल ये दो ही नहीं वरन् और भी कितने ही पाये जाते है । महात्मा ईसा को यरुशलम के न्यायाधीशों ने गरीबों का पक्ष लेने पर 'क्रास' (सूली) पर लटका दिया, पर इससे उनके सिद्धान्तों का अन्त नहीं हो गया वरन् आज आधी दुनिया उनके सामने मस्तक झुकाती है । अमरीका के प्रेसीडेंट अब्राहम लिंकन को दास-प्रथा के समर्थकों ने मरवा दिया, पर उसके बाद भी दास प्रथा की जड़ जमी न रह सकी और आज संसार में उसका एक भी समर्थक नहीं है । रूस के महापुरुष लेनिन को भी गरीबों का उद्धारकर्ता होने के कारण गोली से मारा गया, पर आज लेनिन का सिद्धान्त भी संसार के बहुत बड़े भाग पर छाया हुआ है । गत सात-आठ वर्ष के भीतर ही हब्शी-समस्या के लिए अमरीका के प्रेसीडेंट कैनेडी और डॉ० लूथर किंग

के प्राण इसी प्रकार लिये गये । पर हब्शियों को समान अधिकार दिये जाने का आन्दोलन इन घटनाओं से रुक जाने के बजाय दिन पर दिन बढ़ ही रहा है और अब उसने अमरीका ही नहीं समस्त संसार के हब्शियों के मुक्ति-आन्दोलन का रूप ले लिया है ।

ये सब उदाहरण इस बात को बतलाते हैं कि यद्यपि स्वार्थी और दुष्ट व्यक्ति सदा से सत्य और न्याय के प्रचारकों को मारने-नष्ट करने का प्रयत्न करते आये हैं, पर 'साँच को आँच' कहाँ वाले सिद्धान्त के अनुसार अन्त में विजय सत्य की ही हुई है । ये उदाहरण समस्त समाज-सेवियों, परमार्थगामियों और न्याय के समर्थकों को साहस प्रदान करते हैं कि वे सामयिक कठिनाइयों से भयभीत न हों, उनकी सफलता निश्चित है । सत्य के सामने झूठ और न्याय के सम्मुख अन्याय अधिक समय तक नहीं ठहर सकता।

सुकरात के समय का यूनानी-समाज

सुकरात ने आत्मा, ज्ञान और सदाचार के सम्बन्ध में जो उच्च विचार प्रकट किये और उनके अनुसार स्वयं आचरण करके दिखलाया, उसका महत्व उस समय और बढ़ जाता है, जब हमको पता लगता है कि वे ऐसे युग और समाज में उत्पन्न हुए थे जो मुख्यतया "सैनिक-समाज" था और जिसमें अध्यात्म-साधना की कोई सम्भावना न थी । अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व यूनान और उसके आसपास का समाज मुख्यतया दो विभागों में बँटा रहता था—एक स्वामी और दूसरा दास । उस समय दास खरीदे और बेचे जाते थे और उन पर स्वामी का उसी प्रकार पूर्ण अधिकार होता था, जैसा गाय, भैंस, बकरी आदि पर उनके स्वामियों का होता है । वे लोग इन पशुओं को चाहे अच्छी तरह रखें, चाहे नित्य डण्डों से मारें पीटें और चाहे उनको काट डालें, कोई उनसे कुछ कहने वाला नहीं होता । उस जमाने में प्रायः विभिन्न प्रदेशों और जातियों में युद्ध हुआ करते थे और उनमें जो व्यक्ति पकड़े जाते थे वे ही दास बना लिये जाते थे । ये अपने स्वामियों की अचल सम्पत्ति की तरह होते थे, जिनको वे इच्छानुसार खरीद और बेच सकते थे और उनसे हर तरह का काम करा सकते थे ।

दूसरा नियम उस समय यह था कि प्रत्येक नागरिक को देश की सेना में भरती होकर राज्य की आज्ञानुसार युद्धों में भाग लेना पड़ता था । यद्यपि उस समय यूनान के अधिकांश भागों में प्रजातान्त्रिक ढंग के 'नगर-राज्य' स्थापित थे तो भी उन पर कुछ प्रसिद्ध और कुलीन पुरुषों का आधिपत्य होता था, जो बहुत से कार्य अपने लाभ की दृष्टि से भी कराया करते थे । आरम्भ में तो सुकरात ने अपना पैतृक-पेशा, मूर्तियों का बनाना किया, पर बाद में राजकीय नियमानुसार उन्हें भी सैनिक बनकर पचास वर्ष की आयु तक सेना के कर्तव्यों का पालन करना पड़ा था । वहाँ भी वे विवेक बुद्धि से काम लेते थे और किसी पाप कर्म में हाथ बँटवाने को तैयार नहीं होते थे । सन् ४०४ (ईसवी पूर्व) में एथेन्स के तत्कालीन अध्यक्ष ने कुछ लोगों को गिरफ्तार कर लेने की आज्ञा दी । पर सुकरात उनको निरपराध समझते थे, इसलिये उन्होंने इस आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया । राजाज्ञा की अवज्ञा के कारण उनको भी प्राणदण्ड दिया जाता, पर उसी समय प्रजा ने उस शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और इससे उस घटना का अन्त वहीं हो गया ।

उस समय सैनिक ही समाज के मुख्य अंग थे इसलिये प्रत्येक बालक को आरम्भ से ही व्यायाम करने और शस्त्र संचालन की शिक्षा दी जाती है । जिस प्रकार आजकल प्रत्येक बालक के लिए स्कूल जाकर पढ़ना-लिखना सीखना आवश्यक माना जाता है । इसके बिना उसका समाज में कोई मान नहीं होता और न वह सुख-जीवन व्यतीत कर सकता है, उसी प्रकार उस समय सभी को व्यायामशालाओं में जाकर शरीर को खूब मजबूत और कष्ट-सहिष्णु बनाना पड़ता था और उस जमाने के हथियार--तीर, तलवार, भाला आदि के प्रयोग का भरपूर अभ्यास करना पड़ता था । सुकरात भी इस नियम के अपवाद न थे वरन् कहा जाता है कि व्यायाम में उनकी विशेष रुचि थी और उन्होंने उसके द्वारा अपने शरीर को इतना सुदृढ़ बना लिया था कि वह बड़ा दुर्गम और कठिन प्रदेशों में भी अपनी अति सामान्य पोशाक में सब प्रकार के भले-बुरे मौसम को सहन करके अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करते रहते थे ।

सुकरात और उनकी पत्नी

कुछ महापुरुषों की तरह सुकरात की गणना ऐसे व्यक्तियों में की जाती है जिनकी पत्नी उनके प्रतिकूल स्वभाव की होती है । पर उन्होंने आजन्म उसको निभाया और उसके साथ उदारता का व्यवहार किया । कहा जाता है कि उनकी पत्नी—जेंथिप्पी चिड़चिड़े स्वभाव की और कर्कशा थी । उधर सुकरात अत्यन्त शान्त, प्रेमी स्वभाव वाले और सीधे-सादे थे । इसलिये उनके साथ लड़ते-झगड़ते रहना और तरह-तरह से तंग करना उसके लिये साधारण बात थी । उनके ऐसे गार्हस्थ जीवन के कई किस्से इतना समय बीत जाने पर भी आज तक प्रसिद्ध हैं ।

एक दिन जेथिप्पी किसी बात पर सुकरात पर बहुत नाराज हो गई और बड़ी देर तक खूब बकती-झकती रही । पर सुकरात अपने स्वभाव के अनुसार शान्त ही रहे और उन्होंने उसकी बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया । इस पर उसका गुस्सा और भी भड़क उठा और उसने एक बर्तन में भरा मैला पानी उन पर फेंक दिया । पर सुकरात पर इसका कोई खास असर नहीं हुआ और उन्होंने हँसते हुए इतना ही कहा–"मैं तो पहले ही जानता था कि जेथिप्पी इतना गरजने के बाद बिना बरसे नहीं रहेगी ।" हमको यह भी याद रखना चाहिए कि सुकरात का अपनी पत्नी के प्रति यह उदार व्यवहार उस जमाने में था जिसमें स्त्रियाँ भी पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाती थीं और उनके साथ कैसा भी व्यवहार किया जा सकता था ।

सुकरात के गार्हस्थ्य-जीवन की इस घटना को पढ़कर हमको इससे मिलती-जुलती घटना याद आती है और यह भी उनके समान एक बहुत बड़े पुरुष की है । महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम की स्त्री भी बड़ी लड़ाका और कर्कशा थी और तुकाराम से प्रायः झगड़ती रहती थी । एक दिन तुकाराम किसी अन्य गाँव से आ रहे थे तो किसी किसान ने उनको बहुत से गन्ने दिये । पर जब वे अपने गाँव पहुँचे तो रास्ते में ही लड़के उनसे गन्ने माँगने लगे । वे उनको एक-एक गन्ना देने लगे, यहाँ तक कि घर पहुँचते-पहुँचते उनके पास केवल एक गन्ना रह गया । यह उन्होने अपनी स्त्री को दे दिया । इस पर वह इतनी क्रोधित हो गई कि उसने गन्ने को उनकी पीठ पर दे मारा । गन्ना बीच से टूटकर दो टुकड़े हो गया । तुकाराम ने यह देखकर कहा–"देवी जी, यह तो आपने बड़ा ठीक हिसाब लगाया । गन्ने के अब दो टुकड़े हो गये, एक तुम चूस लो और दूसरा मैं लिये लेता हूँ ।"

एक बार जेथिप्पी ने बाजार में ही सुकरात से झगड़ा किया और उसका कोट फाड़ डाला । यह देखकर सुकरात के मित्र बड़े नाराज हुए और उन्होंने कहा कि जेथिप्पी को इसका दण्ड अवश्य दिया जाना चाहिये । पर सुकरात ने कहा–"जिस प्रकार सईस दुष्ट घोड़े के साथ रहकर उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार मैं भी एक चिड़चिड़े स्वभाव वाली स्त्री के साथ रहता हूँ । और जिस प्रकार यदि वह सईस उस दुष्ट घोड़ों पर काबू पा लेता है तो अन्य घोड़ों को तो आसानी से वश में रख सकता है, उसी प्रकार जेथिप्पी के दुर्व्यवहार का मुकाबला करता हुआ मैं समस्त संसार का सामना करने का अभ्यास करता हूँ ।"

एक बार सुकरात के किसी मित्र ने इस प्रकार की घटनाओं को देखकर कहा कि "जेथिप्पी का व्यवहार असहनीय है आप कैसे उसे बरदाश्त करते हैं ? सुकरात ने कहा–जिस जिस प्रकार आप अपनी पालतू बतखों की चें-चें को सुनते रहते हैं उसी प्रकार मैं भी उसकी बातों को सुनने का अभ्यस्त हो गया हूँ ।" मित्र ने कहा–"परन्तु बतखें तो मुझे अण्डे और बच्चे देती हैं ।" सुकरात ने उत्तर दिया–"जेथिप्पी भी मेरे बच्चों की माँ है ।"

एक बात यह भी थी कि अपना अधिकांश समय निस्वार्थ भाव से लोक शिक्षण में लगा देने पर सुकरात के पास अपने जीवन निर्वाह की तरफ ध्यान देने को बहुत समय बचता था इससे उनको सदैव बहुत गरीबी में समय व्यतीत करना पड़ता था । वे स्वयं अत्यन्त सादगी के साथ रहते थे और भोजन के साथ अचार, चटनी, मुरब्बा जैसी जायकेदार चीजों की भी इच्छा नहीं रखते थे । एक बार कुछ धनी व्यक्तियों को उन्होंने भोजन के लिये आमंत्रित किया । जेथिप्पी ने भोजन के घटिया होने पर असंतोष प्रकट किया तो सुकरात ने कहा–"अगर वे समझदार होंगे तो उन्हें इस सीधे-सादे भोजन में कोई खराबी नहीं जान पड़ेगी । और यदि वे मूर्ख है तो मूर्खों के कथन से लज्जित होने की कोई बात ही नहीं ।" इस प्रकार सुकरात तो अपने दार्शनिक ज्ञान और आत्म-नियन्त्रण के कारण प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते थे । पर जेथिप्पी जैसी सामान्य स्त्री से इस प्रकार की आशा करना व्यर्थ था । इस कारण से भी यदि इसकी कटुता में वृद्धि हो गई तो कोई आश्चर्य नहीं ।

कुछ भी हो सुकरात ने अपना गार्हस्थ्य जीवन सुख-दुःख और असुविधाओं की परवाह न करके अच्छी तरह निबाहा और लोग जरा-जरा सी बातों पर तलाक की तैयारी करने लगते हैं, अथवा अपने जीवन का अन्त करके झंझटों से छुटकारे की कोशिश करते हैं, उनके लिये एक उत्तम उदाहरण छोड़ा गया । अपने सांसारिक जीवन मे भी उसने आध्यात्मिकता की महत्ता को सिद्ध करके दिखा दिया । वास्तव में आत्मज्ञानी की निगाह में संसार के जो छोटे-बड़े उतार-चढ़ाव एक खेल की तरह जान पड़ते हैं, वे ही धन तथा सुख के लिए मारे-मारे फिरने वाले भौतिकवादी के लिये जीवन-मरण के प्रश्न बन जाते हैं, यही कारण है कि संसार में सबसे अधिक धनी देश अमेरिका में प्रति वर्ष लाखों व्यक्ति आत्म-हत्या कर डालते हैं, जबकि करोड़ों लोगों को भरपेट रोटी भी न मिलने पर भारत में इस प्रकार अपने

जीवन का अन्त करने वालों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है ।

सामाजिक अधिकार की महत्ता

यद्यपि समाज के ही कुछ लोगों ने द्वेषवश सुकरात को प्राणदण्ड दिलाया, पर वह जीवन के अन्तिम क्षण तक समाज के विरुद्ध कोई काम करने को तैयार न हुए वरन् जब उनके मित्र क्रिसान ने जेल से छिपकर निकल जाने की व्यवस्था कर दी, तब भी उनने यही कहकर अस्वीकार किया ऐसा करना समाज के प्रतिनिधि रूप 'राज्य' अथवा 'शासन' के प्रति अवज्ञा या विद्रोह प्रकट करना होगा । जिस समाज ने हमको जन्म दिया, पाला-पोसा, शिक्षा प्रदान की और संसार में कुछ काम कर सकने योग्य बनाया, उसका किसी भी रूप में विरोध करना अनुचित है । उन्होंने स्वयं ही कल्पित करके इस प्रकार के समाज विरोधी विचारों के सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रस्तुत किया, जिसमे समाज की तरफ से सुकरात से कहा गया--

"सुकरात ! अगर तुम राज्याज्ञा को अमान्य करके जेलखाने से बाहर निकल जाते हो तो इसका अर्थ यह होगा कि तुम उन नियमों तथा प्रतिज्ञाओं को भंग कर रहे हो जो तुमने हमारे साथ की हैं । उन सबका मनन और पालन तुम सत्तर वर्ष तक कर चुके हो । यदि ये नियम अथवा विधान तुमको अन्यायमुक्त प्रतीत होते थे, तो इस बीच में तुम एथेन्स को छोड़कर चाहे जहाँ चले जा सकते थे । पर तुम इस नगर के शासन-विधान में ऐसे अनुरक्त बने रहे कि तुमने कभी बाहर निकलने का विचार भी नहीं किया । अतएव अगर तुम अब इस नगर को छोड़कर इस प्रकार भागते हो तो निश्चय ही अपने को हास्यास्पद बनाओगे ।"

"तनिक यह विचार करो कि यदि तुम इस प्रकार का विपरीत कार्य करते हो तो इससे अपना अथवा अपने मित्रों का कौन-सा हित करोगे ? यह तो निश्चय है कि ऐसा होने पर तुम्हारे मित्रों को निर्वासित किया जायेगा या नागरिकता से च्युत किया जायगा, अथवा उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जायगी । यदि फिर तुम भागकर किसी समीप के राज्य में जाओगे तो वहाँ तुमको एक विदेशी की तरह देखा जायगा और भगोड़ा समझकर घृणा की दृष्टि से देखा जायगा ।"

"अतः सुकरात ! हमारी बात पर ध्यान दो । हमने ही तुम्हारा पालन-पोषण किया है । इसलिये उचित है कि तुम धर्म अथवा कर्तव्य के सम्मुख अपने जीवन अथवा सन्तान की चिन्ता न करो । तुम्हें सबसे पहले धर्म की ही चिन्ता करनी चाहिए जिससे 'परलोक के राजा' (ईश्वर) के समक्ष तुमको निर्दोष समझा जा सके । पर यदि तुमने वह कार्य किया जिसकी सम्मति तुमको तुम्हारे मित्र देते हैं, अर्थात् तुम जेल से भाग गये, तो तुम इस जीवन में और परलोक में भी सुखी नहीं हो सकोगे ।"

"इस समय तो तुम निर्दोष रहकर ही इस लोक से प्रयाण कर रहे हो तुमने दुःख भोगा है, किन्तु कोई पाप कृत्य नहीं किया । तुम्हारा मरण भी राज्य द्वारा नहीं कुछ विदेशी मनुष्यों द्वारा सम्पन्न किया गया है । किन्तु यदि तुम पाप के प्रतिकार में पाप अहित के प्रतिकार में अहित करोगे, तो तुम उन कर्तव्यों का घात करने वाले माने जाओगे जो हमारे प्रति तुमको करणीय है ।"

इस प्रकार सुकरात ने अपनी 'धर्म-बुद्धि' से उन सब तर्कों का उत्तर दे दिया जो उनके मित्र या शत्रु उनके पक्ष या विपक्ष में पेश कर सकते थे । उसने यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसका निर्माण और निर्वाह एक मात्र समाज के आश्रय से ही होता है । इसलिए उसे किसी दशा में ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जो समाज के विपरीत अथवा उसके लिये हानिकारक हो । सुकरात ने देखा कि आज भी एथेन्स के बहुसंख्यक व्यक्ति उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, उसे एक सच्चा और परमार्थी व्यक्ति मानते हैं सैकड़ों मनुष्य उसके भक्त और अनुयायी हैं । ऐसी दशा में यदि कुछ मनुष्यों ने व्यक्तिगत या स्वभावतः मतभेद के आधार पर उसका अहित किया तो भी उसे ऐसा काम कदापि नहीं करना चाहिये जिससे समाज में विशृंखलता उत्पन्न हो अथवा उसकी सत्ता के विरुद्ध अवहेलना का भाव लोगों में बढ़े ।

वर्तमान समय में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मनुष्य समाज के ऊपर पहले से कहीं अधिक आश्रित हो गया है। सब प्रकार के साधनों तथा वैज्ञानिक जानकारी के बढ़ जाने से शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा, परिवहन आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयों में ऐसी सामूहिक सुविधाएँ उत्पन्न कर दी गई हैं जो प्राचीनकाल में लोगों को प्राप्त नहीं थीं । पर खेद का विषय है कि इस समय लोग और खासकर हमारे देश के निवासी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में बहुत ही लापरवाह दिखाई पड़ रहे हैं । ये समाज या उसके प्रतिनिधि स्वरूप राज्य द्वारा मिलने वाले लाभों को तो ईमानदारी या बेईमानी जैसे भी हो अधिक से अधिक लेना चाहते हैं पर उसके प्रति क्या कर्तव्य हैं इसका ध्यान वे कभी नहीं रखते ।

इतना ही नहीं बहुसंख्यक व्यक्ति तो कानून द्वारा लगाये गये उत्तरदायित्वों से भी बचने की चेष्टा करते रहते हैं ।

यही सबसे बड़ी शोचनीय बात है जिसके फल से आज समाज में अनेकानेक दोष उत्पन्न हो गये हैं । जिनके कारण सज्जन लोगों को कष्ट सहन करना पड़ता है और दुष्ट जन उच्छृंखल जीवन व्यतीत करते हैं । इस सम्बन्ध में सुकरात का उपर्युक्त अभिमत हमारे लिये बहुत शिक्षाजनक प्रेरणा प्रद है । उसने अपने प्राण देकर भी यह दिखला दिया है कि मनुष्य अन्ततः समाज की ही सन्तान है और उसे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जो उसके लिये अहितकर हो ।

आत्मा का अस्तित्व और कर्म सिद्धान्त

सुकरात के वक्तव्यों में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ ईसाई और मुसलमान धर्मों में मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं माना है और पशुओं में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया है, वहाँ सुकरात ने भारतीय मान्यता से बिल्कुल मिलता-जुलता हुआ आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया है । उसने यह भी कहा कि मनुष्य अपने कर्मानुसार विविध योनियों में जाता है । कर्मफल का सिद्धान्त कितना सत्य है इस पर यहाँ विवेचना करने का स्थान नहीं है तो भी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जो लोग इसको ठीक तरह से समझ लेते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं वे पाप कर्मों से बचकर अवश्य ही सद्गति को प्राप्त होते हैं यद्यपि ईसाई धर्म और मुसलमान धर्म सुकरात के बाद आरम्भ हुये हैं और उस समय यूनान और रोम आदि प्रसिद्ध देशों में बहुदेववाद के आधार पर जो धर्म प्रचलित था वह इनसे सर्वथा भिन्न था, पर वे लोग भी आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को इतने स्पष्ट रूप में स्वीकार करते थे, इसका कोई प्रमाण नहीं । उस समय बहुसंख्यक व्यक्ति यह भी कहते थे कि मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार देह छिन्न-भिन्न हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी क्षय को प्राप्त होकर समाप्त हो जाती है । पर सुकरात ने जेलखाने में बन्द रहते समय भी अपने अनुयायियों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त जैसे निर्भ्रांत रूप में समझाया उससे विदित होता है कि वह अवश्य ही भारत के ऋषि-मुनियों की मान्यता से परिचित था ।

सुकरात ने कहा-"मित्रो ! संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं-व्यक्त और अव्यक्त (स्थूल और सूक्ष्म) हमारा शरीर व्यक्त पदार्थों की श्रेणी में माना जाता है और आत्मा को अव्यक्त अथवा सूक्ष्म कहा जाता है । इसमें भी संदेह नहीं है कि वह अव्यक्त आत्मा शरीर मे आकर व्यक्त होता है, और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सांसारिक अनुभव प्राप्त करता है । अब जो लोग यहाँ आकर विकारों में फँस जाते हैं, उनकी आत्मा तरह-तरह की भ्रान्तियों का शिकार बन जाती है । पर जो लोग आत्मनिष्ठ होकर चिन्तन करते हैं, वे दूसरे ही लोक में विचरण करते हैं वह क्षेत्र अमृतत्व और अनन्तता का है। आत्मा अन्त में अव्यय के साथ समागम करके स्वयं अव्यय हो जाती है । आत्मा की इसी अवस्था को 'प्रज्ञा' (गीता के शब्दों में स्थित प्रज्ञ) कहते हैं ।"

"आत्मा अदृश्य है और परलोक भी उसी के समान अदृश्य है । वह उसी के समान पवित्र और भव्य भी है तो जब आत्मा परलोक में पहुँचकर उस शुभ और सम्बुद्ध देवता की ओर गम्यमान होगी (जिसके पास यदि भगवान ने चाहा तो मेरी आत्मा शीघ्र जायगी) तो यह कैसे सम्भव है कि साधारण मनुष्यों के कथनानुसार वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाय ? ऐसा कभी नहीं हो सकता-यह बात सत्य के विपरीत है । जो आत्मा मृत्यु के समय शुद्ध है और जो अपने साथ देह का कोई मल नहीं ले जाती, जिसने संसार में रहते हुये भी देह को अपना नहीं समझा अर्थात् जो तत्वज्ञान की निष्ठावान शिष्या रही है । वह आत्मा अदृश्य लोक को ही जाती है-उस लोक को जो दिव्य, अमृतमय और प्रज्ञानयुक्त है वह मनुष्यों की भ्रान्तियों, मूढ़ताओं, आशाओं और उद्दाम वासनाओं से मुक्त हो जाती है ।"

"किन्तु जो आत्मा दूषित हो गई है जो प्रयाणकाल में अशुद्ध है जो देह के साथ अनुरक्त है, देह के सुखों पर मुग्ध है, जो इस देह को ही सत्य मानती है, वह क्या कभी अशुद्ध और अदूषित होकर परलोक को प्रयाण कर सकती है ? कभी नहीं ! आत्मा की इन दोनों प्रकार की गतियों का वर्णन 'भगवद्गीता' में ज्यों का त्यों मिलता है"-

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्ति मन्यया वर्तते पुनः ।।

(गीता ८-२६)

अर्थात्-"संसार में यह शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार की गतियाँ निश्चित मानी गई है । इनमें से प्रथम के द्वारा जाने वाला फिर वापस नहीं आता और दूसरी के द्वारा गया हुआ फिर लौट आता है अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र को प्राप्त होता है ।"

सुकरात को 'कर्मफल' के सिद्धान्त पर पूरा विश्वास था और उसी का उपदेश देकर वह अपने अनुयायियों को सत्कर्म करने की प्रेरणा देता था । इसके विपरीत उस समय के अन्य विद्वान् कहलाने वाले आजकल के अनेक वैज्ञानिकों की तरह यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहते थे कि जो कुछ है यही संसार है । आत्मा कहीं से भी आती हो, पर

वह पृथ्वी पर सुख भोगकर शरीर के साथ ही सदा के लिए समाप्त हो जाती है । इस प्रकार के उपदेश का स्वाभाविक परिणाम 'खाना-पीना और मौज उड़ाना' ही होता है । सुकरात इसको समाज के लिए पतनकारी समझता था, इसलिए प्रायः उन स्वार्थी आचार्यों के साथ वाद-विवाद करके अपने प्रबल तर्कों से उनको निरुत्तर कर देता था । उसकी शास्त्रार्थ की शैली ऐसी थी कि वह लगातार एक के पश्चात् दूसरा प्रश्न करके जो चाहता था प्रतिपक्षी के मुख से ही कहलाता जाता था और अन्त में जान पड़ता था कि सुकरात का कथन ठीक है । उसके फलस्वरूप उस समय के अधिकांश पेशेवर विद्वान् जो अमीरों को उपदेश करके बड़ी-बड़ी रकमें वसूल करते थे, उसके विरोधी बन गये थे और उन्हीं सबने परस्पर सलाह करके अपने अनुयायियों द्वारा सुकरात पर मुकद्मा चलवाकर उसे प्राणदण्ड दिलवाया था ।

आगे चलकर सुकरात ने भारतीय धर्म की मान्यता के अनुसार यह भी सिद्ध किया कि पाप-कर्म करने वाले व्यक्तियों की आत्मायें प्रेत-योनि में जाती हैं अथवा अपनी प्रकृति के अनुसार पशुओं की नीच योनि में जाकर कष्ट भोगती हैं । उसने अपने शिष्यों से कहा--

"और, भाइयो ! जिन लोगों का ध्यान निरन्तर दैहिक-सुखों की ओर लगा रहता है और जो हर प्रकार से इस पार्थिव शरीर की सेवा सुश्रूषा में ही लगे रहते हैं, उनकी आत्मा भौतिक तत्वों के साथ दृढ़तापूर्वक बँध जाती है । यह भौतिक-तत्व तो निश्चय ही स्थूल होते हैं, इसलिये वे जिस आत्मा में लिपटे रहते है, उसका मरण के बाद उत्थान न होकर अधःपतन ही होता है । वे आत्माएँ प्रायः श्मशानों तथा शिव मंदिरों (कब्रिस्तान) के समीप ही भटकती रहती हैं । अनेक लोग कहा करते हैं कि हमने उनको प्रेत की आकृति में वहाँ देखा है ।"

यह निश्चय है कि जो आत्माएँ अपने स्वार्थी और निकृष्ट पूर्व जीवन के कर्मों का फल भोगने के लिये इस प्रकार के स्थानों में भटकती रहती हैं वे सज्जन मनुष्यों की नहीं दुर्जन मनुष्यों की ही होना चाहिए । अन्त में स्थूल पदार्थों की लालसा उनको किसी ऐसे 'कारागार' में अवरुद्ध कर देती हैं, जो उनके पूर्व जन्म की प्रकृति और कर्मों के अनुकूल होता है ।"

जब शिष्यों ने प्रश्न किया कि "हे सुकरात ! आपका आशय किस प्रकृति से है ?" तो उन्होने उत्तर दिया--"मेरा आशय यह है कि जिन मनुष्यों ने अपना ध्यान हमेशा बहुत अधिक खाने-पीने या व्यभिचार अथवा शराब आदि नशों में लगाया है और कभी उनको रोकने की चेष्टा नहीं की वे गधा तथा उसी प्रकार के अन्य पशुओं के शरीर में जन्म लेंगे । और जिन मनुष्यों ने अधर्म अत्याचार तथा हिंसा का मार्ग अपनाया है वे भेड़िया श्येन (बाज-पक्षी) अथवा गिद्धों की योनि में जन्म लेंगे । हम अन्य किसी उत्तम योनि में उनका जन्म कैसे मान सकते हैं ।"

"कुछ मनुष्य इनकी अपेक्षा अधिक भाग्यवान होते हैं । पर सबसे अधिक भाग्यवान वे ही होते हैं जिन्होंने नगर-सम्बन्धी और समाज-सम्बन्धी शील (सदाचार) का आचरण किया है । उन शीलों का नाम है संयम और धर्म। इन प्रवृतियों का आचरण दर्शन-शास्त्र और ज्ञान की जानकारी के बिना भी हो सकता है । ऐसे व्यक्ति उत्तम योनियो में विशेषतः सज्जन और श्रीमान् व्यक्तियों के घर में ही जन्म लेते हैं ।"

"पर जिस मनुष्य ने तत्व विद्या (दर्शन और ज्ञान) का अध्ययन नहीं किया है और जो इस लोक से प्रयाण करते समय पूरा शुद्ध नहीं हो गया है, वह देवताओं के साथ रहने का अवसर नहीं पा सकता । यही कारण है कि तत्वविद्या के आराधक देह को समस्त वासनाओं से विरक्त करते हैं , उनका निरोध करते हैं, और उनके वशीभूत होना स्वीकार नहीं करते । इस प्रकार जो लोग अपने परिवार सम्पत्ति और सांसारिक भोगों की चिन्ता न करके अपनी आत्मा की ही चिन्ता करते हैं, और शरीर को सुखी बनाने के लिए उस बहुत सेवा सुश्रूषा में ही अपना सारा ध्यान और शक्ति नहीं लगा देते, तो वे मरने के बाद स्थूल-जगत के मार्ग से भिन्न अन्य मार्ग द्वारा प्रयाण करते हैं और उस स्वरूप को प्राप्त करते है जो बोधिमय और अदृश्य हैं ।"

इस प्रकार सुकरात ने तीन प्रकार के--उत्तम, मध्यम और अधम व्यक्तियों का वर्णन किया है । सबसे नीचा दर्जा उन लोगों का है जो संसार के भोगों में ही सर्वथा आसक्त रहते हैं और इसके लिए भले-बुरे किसी भी उपाय को अपनाने में संकोच नहीं करते । ऐसे लोग मरते समय भी उन विषयों का चिन्तन नहीं छोड़ सकते इसलिये उन्हीं योनियों में जाते हैं जिनमें इन प्रवृत्तियों की अधिकता होती है । दूसरा दर्जा उन लोगों का है जो सांसारिक भोगों को भोगते हैं पर धर्मानुकूल मार्ग से । वे दूसरे के हित-अहित का भी ध्यान रखते हैं, उनको भी अपनी तरह सुखी देखना चाहते हैं और इसलिए परोपकार युक्त जीवन व्यतीत करते हैं । वे पुनः उत्तम मनुष्यों के घरों में जन्म लेकर आगामी प्रगति का अवसर प्राप्त करते हैं । तीसरा दर्जा उन लोगों का है जिन्होंने स्थूल जगत तथा नश्वर देह की असारता को समझ लिया--

है और इसकी माया ममता को त्यागकर अपना ध्यान केवल परमार्थ की ओर लगा दिया है । वे सांसारिक सुख-दुःख की परवाह नहीं करते और जैसी भी स्थिति में रहना पड़े उसी में पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं । इसलिए अन्तिम समय में भी वे समस्त सांसारिक पदार्थों और अपनी स्थूल देह से भी उदासीन रहकर 'अदृश्य' या स्वर्गीय स्थिति को प्राप्त होते हैं ।

सुकरात का उपर्युक्त कथन पूर्ण रूप से हिन्दू-धर्म के अनुकूल है । इस सिद्धान्त का 'अक्षर और क्षर' विभाग में विवेचन करते हुए भगवान कृष्ण ने कहा है —

यं य वापि स्मरन्भावं त्यजन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।।
अभ्यास योगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।

अर्थात्–"जो मनुष्य सदा जिस रंग में रँगा रहता है वह अन्त में भी उसी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है और उसी भाव में जा मिलता है ।"

"जो मनुष्य अभ्यास की सहायता से चित्त को दूसरी ओर नहीं जाने देता और उसे स्थिर करके केवल दिव्य पुरुष का ध्यान करता रहता है तो वह मनुष्य उसी में जा मिलता है ।"

यह निश्चय हो गया है कि अब से पाँच-सात हजार वर्ष पहले भी मिश्र और फिलिस्तीन आदि देशों का भारत से सम्बन्ध था और कुछ वैदिक धर्मानुयायियों ने विदेश गमन करके उन दूर देशों में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं । उनके द्वारा भारतीय धर्म के सिद्धान्तों का वहाँ भी प्रचार हो गया और वहाँ के अन्य निवासी भी कुछ परिवर्तित रूप में उनको मानने लगे । एथेन्स के निवासी जिस 'ज्यूस' देवता की पूजा करते थे वह विद्वानों के कथनानुसार वैदिक-धर्म के 'द्यौस' (आकाश अथवा सूर्य) का ही बदला हुआ रूप था। 'ज्यूस' का आशय 'सूर्य देवता' से ही था । वैदिक-धर्म में भी परमात्मा का दृश्य रूप सूर्य को ही माना गया है और उसी की 'विवस्वान' 'पूषा' इन्द्र आदि के नाम से उपासना की जाती थी । इसलिये यदि सुकरात आत्मा के अस्तित्व और कर्म सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा की सद्गति या दुर्गति के सिद्धान्त को समझकर उसका प्रचार करने लगा तो भारतीय धर्म का प्रभाव ही माना जा सकता है ।

मृत्यु का स्वागत

कुछ भी हो सुकरात ने जिस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का स्वागत किया उससे यह निश्चय हो जाता है कि अवश्य ही वह एक सच्चा आत्मज्ञानी था । उसने आत्मा की अविनश्वरता के सिद्धान्त को पूर्णतया हृदयंगम कर लिया था । जिस दिन उसको मृत्यु दण्ड होने वाला था उस दिन उसका प्रिय शिष्य 'क्रितान' प्रातः होने से पूर्व ही जेलखाने में पहुँच गया । उसे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि मृत्यु दण्ड के सिर पर खड़े होते हुए भी सुकरात बड़ी शान्ति के साथ गहरी नींद में सोया हुआ था । यह बात उसकी समझ में नहीं आई कि जिस व्यक्ति को आज विष का प्याला पीकर सदा के लिये संसार से चला जाना है वह इस प्रकार निश्चिंत होकर कैसे सो सकता है ? जब उसने अपनी यह शंका सुकरात के सम्मुख व्यक्त की तो उसने यही उत्तर दिया कि "मैं मृत्यु को शत्रु की तरह नहीं वरन् मित्र की तरह समझ रहा हूँ इसलिये मुझको उसके आगमन से अशान्ति अथवा शोक कैसे हो सकता है ? और अब, जबकि ऐसा अवसर उपस्थित हो गया है, मैं अपने प्रण से कैसे विमुख हो सकता हूँ ? जिन सिद्धान्तों में सदा ही मेरी श्रद्धा एवं भक्ति रही है, उनमें अब भी मैं श्रद्धा रखता हूँ जब तक हमको अन्य श्रेष्ठतर सिद्धान्तों का पता नहीं लग जाता तब तक मैं निश्चय ही किसी उपाय द्वारा इस दण्ड से बचने की कोशिश नहीं करूँगा ।"

और फिर जब उनके विष पीने का नियत समय आ गया तब भी वे अंतिम समय तक हँसते-बोलते रहे । उनके शिष्य क्रितान ने पूछा कि 'हम आपके शव का संस्कार किस तरह करें ?' तो उन्होंने मुस्कराते हुए कहा–"जिस प्रकार तुम उचित समझो । पर तुम मुझे पकड़कर रखना और सावधान रहना कि मैं तुम्हारे हाथ से भाग न निकलूँ ।"

जब जेल का अध्यक्ष वहाँ आया तो उसने कहा–"सुकरात ! मैं आपको इस स्थान पर आने वाले लोगों में भद्रतम, सौम्यतम तथा श्रेष्ठतम समझता हूँ । आप के विषय में मैं यह नहीं सोच सकता कि अन्य लोगों के समान आप में भी कोप की भावना है । अन्य लोगों से जब मैं अधिकारियों की आज्ञानुसार विषपान करने का अनुभव करता हूँ तो वे मुझ पर क्रोधित होते हैं और अपशब्द कहते हैं । आपके विषय में मैं निश्चिंत हूँ कि आप क्रोधित नहीं होंगे । अब मै कहता हूँ कि आपकी यात्रा शुभ हो और भावी का जो विधान है उसे धैर्यपूर्वक सहन करें ।" यह कहते हुए उसका गला भर आया, नेत्रों में आँसू छलछला आये और वह मुँह फेरकर बाहर चला गया ।

सुकरात ने कहा–"तुम्हारी शुभकामनाओं के विनिमय में तुम्हे अपनी शुभकामना देता हूँ । विष का प्याला भेज दो ।" फिर उसने अपने मित्रों से कहा–"कैसा अच्छा मनुष्य है यह । जबसे मैं इस कारागार में आया हूँ तबसे नित्य ही

मुझसे मिलने आता है । और इसका व्यवहार यथासम्भव-सज्जनोचित रहा है ।"

जब विष का प्याला आया तो उन्होंने बड़ी तत्परता और प्रसन्नता से उसे होंटों से लगाकर स्वाभाविक ढंग से पी लिया । अभी तक उनके मित्र किसी प्रकार अपने पर संयम रखे थे । पर जब उन्होंने उनको विष पीते देखा और प्याला खाली हो गया , तो वे धैर्य धारण नहीं कर सके । क्रितान और एक अन्य व्यक्ति मुँह ढककर आँसू बहाने लगे, पर 'अपालो दोरास'.आर्तनाद करके रोने लग गया, जिससे अन्य दोनों का भी धैर्य छूटने लगा ।

उस समय एकमात्र सुकरात ही पूर्ण शान्त और अचल थे । उन्होंने कहा-"यह विचित्र आर्तनाद कैसा है ? मैंने स्त्रियों को तो इसलिए बाहर भेज दिया था कि वे यहाँ से किसी प्रकार का अशोभन आचरण न करने लगें । क्योंकि मैंने सुना है कि मनुष्य को शान्ति के वातावरण में मरना चाहिये । तो तुम भी शान्त हो जाओ । क्या आज तक मैंने तुमको संसार की असारता और आत्मा की अमरता का जो उपदेश दिया है उसका यही प्रभाव है ।

सुकरात की दृढ़ता को देखकर और उनका आदेश सुनकर सब लोग संकुचित भाव से चुप हो गये । विष का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया और सुकरात भूमि पर लेट गये । उनके अन्तिम शब्द ये थे-'क्रितान ! मैंने आई स्कूलेपिआस' (यूनान का एक देवता) को एक जीवित कुक्कुट भेंट देने की मानता मानी गयी थी, पर अभी तक उसे पूरा न कर सका । क्या तुम मेरे इस ऋण को चुकाने का ध्यान रखोगे ?"

क्रितान ने कहा-"ऋण का परिशोध हो जायेगा । क्या और कोई बात है ?" पर इसका कोई उत्तर न मिला । सुकरात की आत्मा परलोक की यात्रा कर चुकी थी । जिस किसी ने सुना उसी ने कहा-"इस युग में जितने भी मनुष्य हुए हैं सुकरात उन सबमें प्रज्ञावान, धर्मप्राण और सत्पुरुष थे ।"

सुकरात द्वारा परलोक वर्णन

मरने से कुछ समय पूर्व अपने अनुयायियों से बातें करते हुए सुकरात ने जो परलोक का वर्णन किया था, वह भी भारतीय पुराणों से बहुत कुछ मिलता-जुलता ही है । जब लोगों ने उसके मृत्यु दण्ड के फलस्वरूप होने वाले कष्ट का जिक्र किया तो उसने यही कहा कि-"यदि आत्मा की अमरता में हमको विश्वास है, तो मृत्यु कोई बुरी हानिकारक वस्तु नहीं हो सकती । जैसा कुछ लोग कहते हैं यदि मृत्यु होने पर सब कुछ का अन्त हो जाता, तो दुर्जन मनुष्य मरकर अत्यन्त लाभान्वित होते, क्योंकि मरने के पश्चात् उनको केवल अपनी देह में ही मुक्ति नहीं मिल जाती, वरन् अपने समस्त पाप कर्मों से भी सहज में ही मुक्ति मिल जाती किन्तु जब हम आत्मा को लेकर स्वीकार करते हैं तो श्रेष्ठतम शील (सदाचार) और ज्ञान के बिना पापों से छुटकारा हो ही नहीं सकता । कारण यह कि हमारी आत्मा जब परलोक की ओर प्रयाण करती है तो वह संस्कार और शिक्षा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपने साथ नहीं ले जाती ।"

"मृत्यु के उपरान्त जैसाकि लोग कहते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को यमदूत जिससे जीवन में उसका सम्बन्ध था आत्मा को एक विशेष स्थान पर ले जाता है जहाँ मृतकों को एकत्रित किया जाता है वहाँ पर धर्म न्याय हो जाने के उपरान्त ये उसी पथप्रदर्शक का अनुगमन करती हुई, परलोक में प्रवेश करती है और जब वे वहाँ रहकर अपने कर्म का फल भोग चुकती हैं तो एक अन्य पथप्रदर्शक, अनेक युगों के पश्चात् उनको पुनः संसार में लौटा लाता है ।"

"परलोक का मार्ग सीधा नहीं है वरन् उसमें बहुत से 'चौराहे' और घुमाव हैं । ज्ञानी और शुद्ध आत्मायें तो प्रशस्त पथ का अनुगमन करती हैं । और मार्ग के संकटों से बचती रहती हैं, पर जिन आत्माओं को देह की लालसा बनी रहती है, वे बहुत समय तक अपनी निर्जीव देह अथवा अन्य पदार्थों के पास घूमती रहती है । अनेक संघर्षों और उत्पीड़नों के उपरान्त उनका यमदूत उन्हें आत्माओं के एकत्र होने के स्थान तक ले जाता है । वहाँ पर यदि वह आत्मा अशुद्ध है और उसने जघन्य पाप-कर्म किये हैं तो प्रत्येक आत्मा उससे दूर भागती है और उसकी तरफ से मुँह मोड़ लेती है । उसका संगी कोई नहीं रहता, उसका पथ-प्रदर्शक कोई नहीं बनता और वह एक अवधि पूरी होने तक पाप की पराकाष्ठा में एकाकी भ्रमण करती रहती है । जब यह अवधि पूरी हो जाती है तो वह अनिवार्यतः उसके योग्य योनि में लाई जाती है ।"

यहाँ तक सुकरात ने आत्मा की सद्गति और दुर्गति का जो वर्णन किया है, वह अधिकांशतः आस्तिक व्यक्तियों को मान्य होगा । यह ख्याल करना है कि प्रत्येक व्यक्ति मरने के बाद तुरन्त ही दूसरा जन्म ले लेता है बहुत बुद्धि संगत जान नहीं पड़ता । अभी तक हमने भूत-प्रेतों के उपद्रवों के तथा पुनर्जन्म की याद रखने वाले बालक-बालिकाओं के जो वर्णन सुने और पढ़े हैं यदि उनका एक शतांश भी सत्य हो तो यह मानना पड़ेगा कि अनेक अपराधी व्यक्तियों की आत्मायें मरने के उपरान्त इधर-उधर भटकती रहती हैं और स्वयं दुष्कर्मों का दण्ड सहन करती

हुई कभी-कभी अन्य लोगों को भी आतंकित करती रहती हैं । यदि यह सत्य है कि पाप और पुण्य कर्मो का प्रतिफल मानव आत्मा को भिन्न रूपों में प्राप्त करना होता है, तो निश्चय ही हमको परलोकगत आत्माओं की भली-बुरी स्थिति की बात स्वीकार करनी ही होगी ।

जैसा हम पहले भी कह चुके हैं आत्मा का परलोक गमन और वहाँ पर पाप और पुण्य कर्मो का फल भोगना विशुद्ध हिन्दू शास्त्रों का सिद्धान्त है । पुराणों में ही नहीं, समस्त ब्रह्मविद्या का सार मानी जाने वाली 'भगवद्गीता' में भी इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है–

अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता ।
माम्मात्परम् देहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।
तानहृद्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गीतम् ।।

(गीता अ. १६ श्लोक; ओं १६ से २०)

अर्थात्–"ऐसे आसुरी प्रकृति के व्यक्ति (दुष्ट लोग) तरह-तरह की कल्पनाओं से भूले हुए, मोह के फंदे में फँसे हुये और विषयोपभयोग में आसक्त होकर अपवित्र नरक में गिरते हैं । ये लोग आत्म-प्रशंसा करने वाले, घमण्ड दिखलाने वाले, धन और नामवरी के मद से भरे हुये, जो दान-यज्ञ आदि करते हैं वह भी शास्त्र-विधि से विपरीत केवल अपनी शान दिखलाने के उद्देश्य से होता है ।"

"वे लोग यह नहीं मानते कि ईश्वर सब प्राणियो में व्याप्त हैं, इसलिये अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध से फूलकर अन्यों के प्रति द्वेष-भाव रखते हैं । अशुभ कर्म करने वाले इन-द्वेषी और क्रूर व्यक्तियों को मैं संसार के आसुरी अर्थात् पाप-योनियों में सदैव ही पटकता रहता हूँ । इस प्रकार जन्म-जन्म में आसुरी योनि को ही पाकर, ये मूर्ख मुझे बिना पाये अन्त में अत्यन्त अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं ।"

गीता के विवेचन को पढ़कर और उससे सुकरात के वक्तव्य का मिलान करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पृथक् समझे जाने वाले विविध धर्म सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप मे कोई खास अन्तर नहीं है । धार्मिक और साम्प्रदायिक मतभेदों का मूल कारण मनुष्यों की हठधर्मी अथवा अहंकार ही होता है । यदि कोई मजहब यह कहता है कि दुष्टतापूर्ण कर्मों का बुरा प्रतिफल नहीं मिलता तो उसे धर्म कहने के बजाय किसी स्वार्थी का मनमाना सिद्धान्त ही कहना अधिक उचित होगा ।

आगे चलकर सुकरात ने जनश्रुतियों के आधार पर [१] ओकिआनास, [२] एकरान, [३] पैरिफ्लेगियान, [४] कोकूतास नाम की परलोक में बहने वाली चार नदियों और 'तारतौरस' नामक सर्वापेक्षा वृहद और भयंकर जलाशय का वर्णन किया है । यह उसी प्रकार का है जैसा कि हमारे पुराणों में वैतरणी नदी और रौरव आदि नरक प्रदेशों का वर्णन मिलता है । यह काफी विस्तारयुक्त और मनोरंजक है पर उसको हम विशेष महत्व नहीं देते । स्वयं सुकरात ने भी अपने वक्तव्य के अन्त में कह दिया है–

"किसी बुद्धिमान व्यक्ति को यह नहीं कहना चाहिए कि आत्मा और उसके आवास का जो वर्णन मैंने बतलाया है, वह यथातथ्य सत्य है । मैं भी इस विषय में अधिक निश्चित नहीं हूँ । परन्तु इतना मैं कहता हूँ कि आत्मा की अमरता सिद्ध हो जाने पर, यदि मैं यह सोचने का साहस करूँ कि इसी प्रकार का परलोक का कोई वर्णन सत्य है, तो इसमें कोई अनुचित अथवा अशिष्ट बात नहीं है ।"

वास्तव में इस प्रकार के वर्णन अनुमान और कल्पना पर ही आधारित होते हैं । इसलिये उनको कथा की श्रेणी में रखा जाता है । निश्चय ही सुकरात हमारे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अब से ढाई सौ वर्ष पूर्व भारतीय धर्म-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में इस प्रकार सहयोग दिया । यह आत्मज्ञान का विषय बड़ा गूढ़ और साथ ही महत्वपूर्ण भी है । इससे जीवन की कितनी ही गुत्थियाँ सुलझती हैं और मनुष्यों को सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है । सुकरात ने जो कुछ कहा है वह इस संसार से प्रयाण करने का पूर्ण निश्चय हो जाने पर, और एक जीवनमुक्त महामानव की तरह मृत्यु का स्वागत करते हुये कहा है । इसलिये उसके कथन मे दूसरों की अपेक्षा अधिक सत्यांश होना स्वाभाविक है ।

सुकरात, यद्यपि बाह्य दृष्टि से हमारे लिये एक विदेशी तथा अन्य जातीय थे, पर आन्तरिक दृष्टि वे हमारे सच्चे *'सहधर्मी' और 'सजातीय' माने जायेंगे । तुलसीदास जी ने* कहा है–

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सो जानिये कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ।।

इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे जो भाई-बन्धु असत्य की, स्वार्थपरता की, हिंसा और द्वेष की मनोवृत्ति रखते हैं और अन्य लोगों के साथ वैसा ही आचरण करते हैं, वे

वास्तव में हमारे बन्धु नहीं हैं । और सुकरात के समान व्यक्ति जिसने सत्य की रक्षा और समाज सेवा के लिये प्राण दे दिये और जिसने अन्त समय तक ईश्वर की सत्ता और आत्मा की नित्यता (अमरता) पर दृढ़ विश्वास रखा वही हमारा सच्चा साथी और सखा हो सकता है । उसके उदाहरण को देखकर हम आज भी अपने ईश्वरीय विश्वास दृढ़ कर सकते हैं और यही वास्तव में आत्मा का कल्याण-साधन कर सकता है ।

विश्व-मानव के पुजारी महात्मा फ्रांसिस

"हे प्रभो, मुझे अपनी शान्ति का वाहन बना । जहाँ द्वेष हो, वहाँ मैं प्रेम का बीज बोऊँ, जहाँ वैर-भाव हो, वहाँ मैं क्षमा-भाव फैलाऊँ, जहाँ शंका हो, वहाँ मैं श्रद्धा उत्पन्न करूँ, जहाँ अन्धकार हो, वहाँ मैं प्रकाश फैलाऊँ, जहाँ व्याधि हो, वहाँ मैं आनन्द विकीर्ण करूँ । मेरे प्रभु, मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कर ।"

"मेरे परमेश्वर, मुझे ऐसा वरदान दे कि सहानुभूति चाहने के बजाय सान्त्वना देने वाला बनूँ । दूसरों को समझाने के स्थान पर उनके भावों को समझने वाला बनूँ । दूसरों से प्रेम की अपेक्षा रखने के बजाय प्रेम देने वाला बनूँ । क्योंकि देने में ही हम पाते हैं और क्षमा करने में ही हमें क्षमा मिलती है ।"

"परमात्मा के पास पहुँचने का मार्ग महल की अपेक्षा झोंपड़ी के पास अधिक है ।"

"मेरी आत्मा को मोह बन्धन से मुक्त कर, जिससे मैं तेरे नाम की स्तुति कर सकूँ ।"

"अपरिग्रह और त्याग वह गुण है, जिसके बल पर पृथ्वी पर रहते हुए भी देवताओं के साथ बात-चीत कर सकते हैं ।"

"पवित्र और सच्ची सरलता में सांसारिक ज्ञान को जीतने की शक्ति है ।"

"दुःखी रहना शैतान का काम है ।"

ये कतिपय उद्गार महात्मा फ्रांसिस के हैं, जो जब-तब उनके हृदय से आँसुओं के साथ, एकान्त में भी और जन-समुदाय के बीच भी निकलते रहते थे । उनके ये उद्गार केवल भावुक अनुभूतियाँ मात्र ही नहीं थे, बल्कि उनका सम्पूर्ण जीवन ही उन्हीं के अनुरूप प्रेरित और संचालित होता था । उन्हें समग्र जड़-चेतन जगत से अगाध प्रेम था और उसी के कल्याण में ही उन्होंने अपनी सारी तपस्या, सारी साधना और सारा जीवन लगा दिया था । जिसके पुण्य स्वरूप जनता ने उन्हें अपने सम्पूर्ण श्रद्धा और असंदिग्ध विश्वास समर्पित कर उनकी अर्चना की थी । उन्होंने जन-कल्याण के लिए साधना, तितिक्षा और भौतिक कष्टों को आनन्द माना और जन-गण ने उन्हें श्रद्धा देकर मान किया । पथिक और पथ-दर्शक की यही पावन पारस्परिक ही तो उस मांगलिक मन्दिर का द्वार मुक्त कर देती है, जिससे संसार सागर के विश्रान्त प्राणी शान्ति, सन्तोष और विश्राम पाकर सदा-सर्वदा के लिए भय-व्याधि से त्राण पा जाते हैं ।

महात्मा फ्रांसिस न केवल एक सन्त-साधक ही थे बल्कि जन-सेवा, सहानुभूति और करुणा की साकार प्रतिमा भी थे। उन्होंने समाज की सेवा करने में जिस तप, त्याग और सहिष्णुता का परिचय दिया, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वे समाज के पहले सेवक थे और आध्यात्मिक साधक बाद में । और सच्ची बात तो यह है कि उनकी आध्यात्मिक साधना एकाकी आत्म-कल्याण के लिए नहीं थी, वह समाज सेवा का ही एक प्रकार, एक रूप और एक उपाय था । वे जो कुछ निसर्ग से लेकर आए थे, केवल उसे ही नहीं, अपनी आध्यात्मिक साधना से संचित शक्ति और पुण्य भी जन-कल्याण और लोक-सेवा में लगा दिया था । वे संसार में भण्डार की तरह आए और बाह्य शून्य की तरह निस्सीम हो गए ।

महात्मा फ्रांसिस का जन्म चौदहवीं शताब्दी में इटली के समुद्र तट पर बसे असीसी नामक एक छोटे से नगर में हुआ था । इनके पिता का नाम पिएट्रो वर्नादोन था । वे कपड़े के एक प्रसिद्ध व्यापारी और अपने व्यवहारिक जीवन में बड़े ईमानदार व्यक्ति थे ।

पिएट्रो वर्नादोन अपने पुत्र को अपनी तरह ही एक कुशल व्यापारी बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने फ्रांसिस को थोड़ी-सी शिक्षा दिलाकर अपने साथ व्यापार में लगा लिया । किन्तु फ्रांसिस को उस अल्प-ज्ञान से सन्तोष नहीं हुआ । वे अगाध ज्ञान-सागर में गहराई तक जाना चाहते थे । अस्तु पिता के साथ व्यवसाय में लगे रहकर भी वे स्वाध्याय करते ही रहते थे ।

दुकान पर बैठते समय भी कोई न कोई परज्ञान की पुस्तक उनके साथ बनी ही रहती थी । जैसे ही वे ग्राहकों से निपटकर अवकाश पाते थे, अध्ययन में लग जाते थे ।, उन्होंने अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिए, पाए हुए दो-चार मिनटों का अवसर भी बेकार नहीं जाने दिया । उन्हें स्वाध्याय का इतना चाव था कि नौकर द्वारा माल लाने और दिखलाने के

बीच में जो समय मिलता था उसका उपयोग भी वे पुस्तक की कुछ वांछित पंक्तियों पढ़ लेने में कर लेते थे । इस प्रकार जिज्ञासापूर्वक उन्होंने बूँद-बूँद कर जो ज्ञान संचय किया था उससे एक दिन उसका अन्तर्तम परिप्लावित हो गया ।

दुकान के बाद घर का तो सारा समय वे एक प्रकार से अध्ययन में ही लगाए रहते थे । उस समय की बात ही छोड़ दीजिए, जो सर्वथा स्वतन्त्र होता था, वे तो खाना ही अध्ययन कक्ष में खाते थे । उनकी मेज पर शरीर और आत्मा का भोजन साथ-साथ उपस्थित रहता था । देखने वालों ने तो यह तक बतलाया कि फ्रांसिस अपने नित्यकर्मों के समय भी स्वाध्याय से विरत नहीं रहते थे । उस समय उनके साथ कोई पुस्तक तो अवश्य ही नहीं रहती थी तब भी पुस्तक का पढ़ा विषय वे निरंतर मनन करते रहते थे । रात में एकाग्र चित्त होकर पढ़ने बैठ जाने पर निद्रा और आलस्य जैसे अनेक जीवन से दूर चले जाते थे । उनके पिता अथवा माता को जाग-जागकर कई-बार सूचित करना पड़ता था कि रात ढल चुकी है तुम अभी तक बैठे पढ़ ही रहे हो । इस अखण्ड अध्ययन का ही यह फल था कि फ्रांसिस के लिए आत्मा-परमात्मा, जीव और जगत्, संसार और प्रकृति, पुरुषार्थ और परमार्थ, सेवा और सहानुभूति, दया और क्षमा, त्याग और उत्सर्ग, सुख और दुःख का ज्ञान सामने टँगी तस्वीर की तरह स्पष्ट हो गया । इसी अध्ययन और मनन के आधार पर ही तो वे इस पावन सत्य का परिचय पा सके थे कि एकांत साधना की अपेक्षा, मुक्ति का मार्ग जन-सेवा के रूप में अधिक सुगम तथा निरापद है । इसीलिए उन्होंने लोक-कल्याण के आध्यात्मिक मार्ग को आत्म-कल्याण के लिए अंगीकार किया था ।

अध्ययन और मनन की इस महती तारतम्यता के बीच भी फ्रांसिस अपने स्वास्थ्य की ओर से कभी उदासीन न होते थे । उन्हें पता था कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा आर्थिक पाँचों उन्नतियों का मूल आधार स्वास्थ्य ही होता है । स्वास्थ्य के अभाव में क्या वाह्य और क्या आन्तरिक कोई भी उन्नति नहीं की जा सकती । आरोग्य की रक्षा के लिए आहार, संयम तो उनने अपना स्वभाव बना लिया था । इसके अतिरिक्त वे नियमित व्यायाम का भी कार्यक्रम चलाते थे । व्यायाम के रूप में वे देश-काल की प्रथा के अनुसार खेल खेलते थे, तलवार का अभ्यास करते थे और घोड़े की सवारी भी ।

यह उनके स्वास्थ्य ही का तो सुख था कि धनवान घर के होने पर भी किसी काम के लिए नौकर-चाकर पर निर्भर नहीं रहते थे । सारे काम स्वयं अपने हाथ से करते थे । परिश्रम का स्वभाव उन्होंने पिता से विरासत के रूप में स्वीकार किया था । विद्या, व्यायाम, परिश्रम और आत्मनिर्भरता ने जहाँ इनके व्यक्तित्व और शरीर को सुगठित बना दिया था वहाँ उसने साहस और निर्भयता का अनुदान भी दिया था । जल्दी ही वे नगर के युवकों में लोकप्रिय बन गए । सभी नौजवान उनके नेतृत्व में विश्वास करने लगे ।

फ्रांसिस का जीवन-लक्ष्य जन-सेवा के माध्यम से आत्म-मुक्त के सिवाय और कुछ नहीं था तथापि मार्ग में आए किन्हीं भी कर्तव्यों से विमुख न होते थे । उनका विश्वास था और वे कहा करते थे कि मानव-जीवन के सारे छोटे और बड़े, कठोर और कोमल कर्तव्य ईश्वर प्रदत्त होते हैं । इनका निःस्वार्थ और निष्कलंक पालन, भले ही देखने में आध्यात्मिक प्रकृति का न हो, किन्तु वस्तुतः उसका प्रभाव और परिणाम आध्यात्मिक ही होता है । सावधानी केवल यह रखनी होती है कि ये कर्तव्य, कर्त्तव्य ही हैं या उनमें कर्तव्य का भ्रम-मात्र ही है । इसका निर्णय विद्यालोकित विवेक के आधार पर आसानी से ही हो जाता है । मानव-जीवन के लिए विद्या को इसीलिए ही तो आवश्यक बताया गया है कि उसमें पग-पग पर कर्तव्याकर्त्तव्य की परख करने की आवश्यकता होती है । अन्यथा इस योग्यता के अभाव में मनुष्य और पशु में आकार के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर ही नहीं रह जाता ।

फ्रांसिस अपने किसी भी कर्तव्य से कभी मुँह नहीं मोड़ते थे । मोड़ते भी कैसे ? उन्हें जीवन में जन-कल्याण के साथ आत्म-कल्याण को करना था । यही तो उन्होंने अपना परम-पावन लक्ष्य निर्धारित किया था । कहाँ तो एक ओर उनकी दयालुता और कोमलता की यह स्थिति थी कि-"एक दिन पिता की दुकान पर अकेले ही बैठे थे । एक बड़ा ग्राहक आया और कपड़े का मोल-भाव करने लगा । सौदा लम्बा था । कई हजार का । अच्छी कमाई की आशा थी। फ्रांसिस बड़े सुचारु रूप से ग्राहक से बातचीत कर रहे थे। सौदा तय होने के निकट ही था । तब तक उनकी दृष्टि दुकान पर खड़े एक भिखारी पर गई । जिसकी दशा बड़ी शोचनीय और दयनीय थी । वह फ्रांसिस की ओर ऐसे देख रहा था जैसे कुछ कहना चाहता है । फ्रांसिस का हृदय भिखारी से बात करने और उसका कथन सुनने के लिए उत्सुक हो उठा । लेकिन इतने बड़े ग्राहक को छोड़कर दुकान के द्वार तक जायें कैसे, यदि ग्राहक को छोड़कर भिखारी की ओर उन्मुख होते हैं तो अभ्यागत के प्रति

अशिष्टता होती है । सौदे में खलल पड़ता है । और यदि भिखारी की उपेक्षा करते हैं तो परमार्थ भाव पर स्वार्थ की विजय हुई जाती है, मानवता का तिरस्कार हुआ जाता है । वे बड़े असमंजस में पड़ गए । सौदे की बातचीत से जी उचट गया । किन्तु अपने को तुरन्त सन्तुलित कर उसका हल निकाला--ग्राहक से विनम्रतापूर्वक बोले--"महोदय ! यदि आप बुरा न माने और अनुमति दें तो बाहर खड़े उस दयनीय मनुष्य से जाकर मालूम कर लूँ कि वह क्या चाहता है ? क्योंकि यदि वह खड़ा रहकर चला गया तो उसकी निराशा उसे इतना कष्ट न देगी जितना कि मुझे ।"

ग्राहक बड़े अचम्भे से भिखारी की तरफ देखकर फ्रांसिस की ओर देखता हुआ यह सोचने लगा कि यह नौजवान भी अजीब है ? हजारों के सौदे से उचटकर इसका ध्यान एक नगण्य भिखारी की तरफ चला गया । ग्राहक को क्या पता था कि फ्रांसिस का सन्त-हृदय और उन्नत दृष्टिकोण मनुष्यों के बीच गरीब-अमीर का भेद नहीं मानता । उपेक्षा की जो पीड़ा एक धनवान को होती है वह एक निर्धन को भी हो सकती है । उनके विचार में यह भी हिंसा का ही एक रूप था, जिसे वे मनुष्य के लिए वर्जित मानते थे ।

इसी बीच जब तक ग्राहक कोई उत्तर दे और फ्रांसिस उठकर बाहर जाय--भिखारी जा चुका था । फ्रांसिस की नजर उधर गई और वह मानव मूर्ति दिखाई न दी । वे विकल हो उठे । ग्राहक के प्रति शिष्टाचार अदा हो चुका था । अब रह गया था केवल स्वार्थ । परमार्थ के सम्मुख जिसका मूल्य फ्रांसिस की दृष्टि में हेय था । सौदागर से--"माँफ करियेगा"--कहकर वे बाहर दौड़ गये । वह निर्धन बूढ़ा कहाँ किधर गया ? कहाँ खोजूँ कहाँ पाऊँ--की व्यस्तता में फ्रांसिस को दुकान, सौदा और सौदागर की याद ही नहीं रही । याद आई भी, बहुत देर बाद तब, जब वह [illegible]

बतलाऊँ--आपको बड़ा कष्ट हुआ--मेरा हृदय ही कुछ ऐसा है कि मैं किसी गरीब और आवश्यकता ग्रस्त की उपेक्षा नहीं कर सकता ।" ग्राहक फ्रांसिस की महानता के प्रति विनम्र होकर बोला--"पता लगाना युवक, तुम्हारे हृदय में शायद कोई सन्त जाग रहा है ।" सौदा पूरा हो गया ग्राहक चला गया । किन्तु उसके यह शब्द फ्रांसिस के मस्तिष्क में गूँजते रहे--"पता लगाना, युवक तुम्हारे हृदय में कोई सन्त जाग रहा है । फ्रांसिस का तन-मन एक अनिवर्चनीय अनुभूति से रोमांचित हो गया और वे मन ही मन कह उठे, "मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?"

वहीं, दूसरी ओर ठीक इसके विरोधी कर्तव्य में उनकी कठोरता किस सीमा तक पहुँच जाती है--छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभाजित तत्कालीन इटली के पारूजिया नामक राज्य ने उनकी जन्मभूमि पर आक्रमण कर दिया । नवनीत की तरह कोमल फ्रांसिस फौलाद की तरह कठोर हो उठे । लोगों ने देखा कि एक बीस साल का सजीला नौजवान हाथ में नंगी तलवार लिये और घोड़े की पीठ पर सवार लोगों को शत्रु के विरुद्ध युद्ध के लिये प्रेरित करता घूमता है । उसकी आँखों से रोष की लालिमा और मुख से अंगार निकल रहे थे । वह कह रहा था--"मातृ-भूमि के बहादुरो उठो--शत्रु ने अपनी पवित्र भूमि पर पैर रखने की कोशिश की है । आबाल वृद्ध नर-नारी उठो और दुश्मन को बतला दो कि असीसी में जब तक एक भी प्राण शेष रहेगा तब तक देश की स्वाधीनता पर आँच न आने देंगे । आज बलिदान का पर्व उपस्थित हुआ है शत्रुओं से डटकर लोहा लो । जितने आये हैं उनमें एक भी आततायी बचकर जाने न पावें ।" यह सजीला नौजवान फ्रांसिस ही तो थे ।

उन्होंने केवल दूसरों को ही युद्ध के लिए प्रेरित नहीं किया बल्कि अपने बीस साथियों को लेकर सबसे आगे बढ़कर दुश्मन से जूझ पड़े । फ्रांसिस की प्रचण्डता और उनकी तलवार का रंग देखकर यह अनुमान करा सकना असम्भव था कि ये ही फ्रांसिस हो सकते हैं जिनके हृदय की करुणा किसी को निराश देखकर द्रवित न होने को भी हिंसा मानती है ।

तथापि एक वीर योद्धा के सारे गुण होने पर भी फ्रांसिस ने स्वभाव से न तो युद्ध को कभी पसन्द किया और न उसका समर्थन । उन्हें विनाश का मूल हेतु अपने देश का यह विभाजन और फूट बड़ा कष्ट देती थी । उनकी कामना थी कि इटली के सारे राज्य एक विश्वास और एक भावना के सूत्र में बँधकर अजेय राष्ट्र के रूप में विकास करें । एक विधान और एक निशान के अन्तर्गत सभी राज्य संगठित होकर संसार पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति की शिक्षा दें । अपनी इस सद्भावना का प्रसार करने के लिए वे जो कुछ कर सकते थे किया भी ।

दुर्भाग्य से असीसी और सिसली के बीच जब युद्ध छिड़ा तो कर्तव्य के नाते उन्होंने उसमें भाग तो अवश्य लिया किन्तु अब की वे इस चिन्ता से मुक्त न हो सके कि आये दिन का यह ग्रह युद्ध राष्ट्र को मिटाकर रख देगा । जो लोग युद्ध का अन्त करने के लिए एक अन्तिम युद्ध--के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं वे भयानक भूल में हैं । आग आग से नहीं पानी से ठण्डी होती है । युद्ध से एक दूसरे युद्ध का

जन्म लेना अनिवार्य प्रक्रिया है । कोई भी युद्ध अन्तिम युद्ध नहीं हो सकता । युद्ध का उपचार युद्ध नहीं बल्कि प्रेम और सद्‌भावना है, स्वार्थ का शमन और परमार्थ का प्रसार है ।

इस युद्ध में फ्रांसिस की चिन्ता इतनी बढ़ गई कि बीमार पड़ गये और लम्बे समय के बाद जब वे पुनः स्वस्थ हुए तो उन्होंने संकल्प कर लिया कि अब वे सारा जीवन देशवासियों के बीच प्रेम और सद्‌भावना का प्रसार करने में लगा देंगे । संसार में करुणा, दया और उदारता के बीज बोयेंगे । केवल युद्ध ही नहीं दुःख, गरीबी और आधि-व्याधि से अस्त-व्यस्त मानवता को त्राण दिलाने का प्रयत्न करेंगे । इसके लिए उन्होंने जो भी साधना, तप, त्याग और बलिदान करना होगा करेंगे, जो भी कष्ट उठाने पड़ेंगे खुशी से उठायेंगे । आगे चलकर उन्होंने जीवन भर इसी लोक कल्याण के लिए साधना और प्रचार किया भी । उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन महात्मा ईसा के दया, क्षमा, प्रेम और मैत्री के सन्देशों को पुनः स्थापित करने में लगा दिया ।

फ्रांसिस अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक चिन्तनशील हो गये थे । वे जब तक सन्त डेमियन के एकान्त गिरिजाघर में जाकर बैठ जाते थे और घण्टों मानव कल्याण के लिये सोचते और परमात्मा से प्रार्थना किया करते थे । उस एकान्त चिन्तन और परमात्मा के फलस्वरूप इन्हे जो भी नया विचार और नई भावना मिलती थी उसको जनता के बीच आकर कार्यरूप में मूर्तिमान करते थे । उन्होंने कहीं किसी भी उपलब्धि आध्यात्मिक विधि को अपने सुख और सन्तोष के लिए बचाकर नहीं रखा । वे कहा करते थे कि जो सन्त अथवा महात्मा अपनी साधना के फल समाज को न देकर अपने लिए सुरक्षित कर लेता है वह भौतिक चोर न सही आध्यात्मिक चोर अवश्य है ।

सन्त डेमियन का गिरिजाघर उजाड़ हो चुका था । मन्दिर के नाम पर उसका खण्डहर ही शेष रह गया था । एक दिन फ्रांसिस का ध्यान उसकी ओर गया और वे सोचने लगे । आखिर यह भी एक सन्त का स्थापित किया हुआ भगवान का एक मन्दिर ही है । इसमें बैठकर मैंने बहुत से आध्यात्मिक विचार पाये हैं । क्या मेरा कर्तव्य नहीं है कि इसके जीर्णोद्धार का प्रयत्न करूँ ? इसका पुनर्निर्माण हो जाने पर अवश्य ही आसपास की जनता यहाँ आकर सत्संग और प्रभुस्मरण करने लगेगी । जन-साधारण को थोड़ी देर के लिए भी उपासना में लगा सकना उनका एक बड़ी सेवा होगी । इससे निश्चय ही उनकी नैतिकता का विकास होगा उनकी धर्म-भावना बढ़ेगी और बहुत से पापों से बच जायेंगे । किसी की आत्मा को पवित्र बनाने में सहायक होने से बढ़कर जन-सेवा क्या हो सकती है ?

विचार दृढ़ होते ही वे उसे मूर्तिमान करने में लग गये । घर में एक लम्बा चौड़ा रोजगार था । पैसे की कमी न थी । उन्होंने एक साथ बहुत-सा कपड़ा बेच डाला और गिरजाघर के जीर्णोद्धार के लिए पैसा जमा कर लिया। यह बात उनके पिता को बहुत नापसन्द आई । उन्होंने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा–फ्रांसिस ! तुमने यह काम ठीक नहीं किया इस प्रकार मेरा माल बेचकर उसका पैसा फिजूल खर्ची के लिए रख लेने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है । उस पुराने गिरिजाघर की मरम्मत कराना मैं जरा भी जरूरी नहीं समझता । तुम हमारा सभी रुपया अभी वापिस कर दो । फ्रांसिस ने बहुत कोशिश की कि पिता को अपनी परमार्थ भावना और गिरजाघर के जीर्णोद्धार की आवश्यकता समझा सकें । किन्तु पिता की अनुदारता के कारण वे सफल न हो सके । बल्कि उसके बदले में सुनना पड़ा कि–"यदि मेरा सारा रुपया सीधी तरह से नहीं दोगे तो मैं न्यायालय मे तुम्हारे विरुद्ध प्रसंग प्रस्तुत करूँगा ।"

पिता की बातें सुनकर फ्रांसिस को अपार दुःख हुआ । उन्होंने तुरन्त ही सब रुपया वापिस कर दिया और कहा–धिक्कार है ऐसे धन को जो पिता को उनके विरुद्ध अभियोग की प्रेरणा दे सकता है । जो धन पुण्य परमार्थ के काम न आकर यों ही पड़ा प्रदर्शनीय बना रहता है उसे पाप के हेतु से अधिक कुछ नहीं माना जा सकता । आज मुझे महात्माओं के इस कथन में पूर्ण विश्वास हो गया है कि लोभ की परिधि में बन्दी धन एक दिन उसके रखवाले को सर्प बनकर डस लेता है । जो धन मनुष्य को इस सीमा तक गिरा सकता है उसे मैं आज से नमस्कार करता हूँ और आपकी सम्पत्ति में अपने उत्तराधिकार को तिलाजलि देता हूँ । अब मुझे न आपका धन चाहिए और न कभी भविष्य में चाहिए । जन-कल्याण की भावना से बनने वाला गिरजाघर जनता के धन से बनेगा । उसके लिये मैं जन-जन के आगे हाथ फैलाकर याचना करूँगा । इतना कहकर फ्रांसिस ने अपने कीमती कपड़े उतारकर रख दियें और एक साधारण चोगे के साथ दो एक वस्त्र लेकर चल दिये ।

फ्रांसिस के पास अब उनका शरीर, उनका धर्म, उनकी भावनायें और ईश्वर रह गया था इसके अतिरिक्त न उनके पास घरबार था और न जीविका के साधन । तथापि उन्होंने उनकी रंचमात्र चिन्ता न की । उन्हें विश्वास था कि समाज की सेवा में निःस्वार्थ भाव से सब कुछ उत्सर्ग कर देने पर मनुष्य का स्थान समाज के हृदय मे बन जाता है । वह

समाज के हित की चिन्ता करता है और समाज उसकी सारी चिन्ताएँ अपने ऊपर ले लेता है। हुआ भी ऐसा ही। जल्दी ही समाज ने जब फ्रांसिस की भावनाएँ समझ लीं उन्हें हाथों-हाथ उठा लिया। वे केवल फ्रांसिस से महात्मा फ्रांसिस बन गये।

घर से बाहर आकर महात्मा फ्रांसिस को न अपनी चिन्ता हुई और न अपनी भूख-प्यास की। उन्हें चिन्ता हुई तो गिरजाघर की मरम्मत की। उन्होंने सोचा तो क्या मैं गिरजाघर की मरम्मत के लिये घर-घर जाकर पैसे की याचना करूँ। किन्तु पैसा माँगना उन्हें उचित न लगा, जिस पैसे की बुराई वे अभी-अभी देखकर आये थे, उसका संचय करने के लिये उनकी आत्मा ने स्वीकृति नहीं दी। तो फिर आखिर टूटे-फूटे गिरजाघर का जीर्णोद्धार किस प्रकार हो वे इस समस्या पर निरन्तर विचार करते रहे। उन्हें दिन-रात सोते-जागते हर समय यही एक चिन्ता रहती थी।

विचार किया कि समस्या का हल निकालने की एक स्वाभाविक शक्ति ही है। विचारधारा चलते-चलते एक दिन गन्तव्य पर पहुँच ही जाती है। जब जितना अच्छा मन्तव्य होता है उतना ही अच्छा और उतनी ही जल्दी मार्ग निकल आता है। हल तो किसी ऐसी समस्या का निकालने में विलम्ब एवं कठिनाई होती है जिसका उद्देश्य अशुभ अथवा स्वार्थ पूर्ण होता है। ऐसी दशा में समस्या दोहरी होकर जटिल हो जाती है। मलिनाशयी व्यक्ति को अपने स्वार्थ की रक्षा और लोक भय की भी चिन्ता करनी होती है। इसीलिए ही विद्वानों का अभिमत है कि अपने विचारों एवं कार्यों को सीधा, सरल और निष्कलंक रखो। दुमुखी मन्तव्यों में लोक-परलोक दोनों का भय निवास करता है। सीधे, सरल और सच्चे रहकर कितना बड़ा कोई भी काम हाथ में लिया और निरापद रूप से किया जा सकता है।

महात्मा फ्रांसिस ने जल्दी ही हल सोच निकाला इस समय शुरू से ही विकसित की हुई, उनकी परिश्रमी वृत्ति ने बड़ी सहायता की। गुणों की महिमा इसीलिये बखानी गई है कि ये मनुष्य के बड़े ही सच्चे और सार्वकालिक मित्र होते हैं। एक तो यों ही गुणी व्यक्ति को हर ओर आदर सहयोग और सहायता मिलती रहती है, दूसरे यदि संयोगवशात् एक बार सारा समाज ही उसका साथ क्यों न छोड़ दें तब भी उसके गुण उसे निराश, निरुत्साह अथवा निस्साहस नहीं होने देते। गुणों के आधार पर मनुष्य जल्दी ही अपना स्थान फिर बना लेता है।

याचना करने के स्थान पर महात्मा फ्रांसिस ने गिरजाघर के लिए स्वयं परिश्रम करने की सोची। उनके लिए उन्होंने दो मार्ग चुने। एक तो यह कि वे जिन-जिन स्थानों पर निर्माण कार्य हो रहे होते थे वहाँ जाकर अन्य श्रमिकों की तरह मजदूरी करते थे। दूसरे यह कि छुट्टी के बाद बड़ी देर रात तक वे एक तारे पर गली-गली भजन गाते घूमते थे। जिनका विषय भगवद्भक्ति के साथ समाज-सेवा, समाज कल्याण और धर्म कार्यों की प्रेरणा होता था।

किन्तु महात्मा फ्रांसिस तो बड़े विलक्षण मजदूर थे। मजदूरी लेने के समय जब अन्य मजदूर पैसे लेते थे तब ये मालिक से प्रार्थना करते थे कि मजदूरी के एवज में उन्हें पैसे नहीं बल्कि ईंटें दे दी जायें। भजन-गायन के उपलक्ष्य में भी ये केवल एक घर से थोड़ा सा भोजन ले लेते थे, बाकी सारे दाताओं से यहीं प्रार्थना करते थे कि यदि वे उन्हें कुछ देने की कृपा करना चाहते हैं तो भोजन अथवा पैसा देने के बजाय ईंटें दें।

भोजन के सम्बन्ध में भी महात्मा फ्रांसिस का रवैय्या अजीब ही था। जिस द्वार पर वे भोजन स्वीकार करते थे उसकी गृहणी से पहले दो तीन प्रश्नों का उत्तर लेकर सन्तुष्ट हो लेते थे। वे प्रश्न इस प्रकार के होते थे। माता! क्या आपके पास पुत्र को आजीविका की सिद्धि सरलतापूर्वक हो जाती है? जो भोजन मुझे दे रही हैं। वह बचा हुआ बासी ही तो है, आज का ताजा तो नहीं है? घर के सभी बालक वृद्ध और स्त्री-पुरुष सदस्य अच्छी प्रकार से खा चुके हैं? किन्हीं बचों अभ्यागतों अथवा दूसरे समय के लिए रखे आवश्यक भोजन का भाग तो मेरे लिये नहीं लाई हैं? लाया गया भोजन यदि इन माप दण्ड से अलग होता है तो वो स्वीकार नहीं करते थे और यह कहकर चले जाते थे–हे माता मैं तो गृहस्थों के भोग्य प्रसाद का ही अधिकारी हूँ। अब फिर किसी दूसरे दिन आऊँगा तो मुझे मेरा वांछित भोजन-भाग दीजिएगा। गृहणियाँ उस तरुण तपस्वी की सूरत देखती और करुणा से आँखें गीली कर लेतीं श्रद्धा से सुखी हो जाती। प्रायः सभी घरों में बचे हुए बासी भोजन की एक प्रथा सी चल पड़ी।

मालिकों से लेकर मजदूरों तक की मजदूरी के रूप में ईंटें लाने वाले विचित्र मजदूर के प्रति बड़ी जिज्ञासा होने लगी। आखिर ये पैसा न लेकर ईंटें क्यों लेता है? उन ईंटों को ले कहाँ जाता है और करता क्या है? शायद मस्तिष्क में कुछ विकार है? लेकिन ऐसा भी मालूम नहीं होता। सारी बातें ठीक करता है और काम तो सबसे ज्यादा और सबसे अच्छा करता है? काम के बाद भी किसी सनक के चिह्न दिखलाई नहीं देते। तब आखिर यह रहस्यमय आदमी कौन है और इसका रहस्य क्या है?

लोगों ने उस समय महात्मा फ्रांसिस का पीछा किया जिस समय वे सिर पर ईंट ढो-ढोकर ले जाते थे । कोई विशेष बात नहीं थी । लोगों ने देखा कि यह विलक्षण मजदूर ईंटें ले जाकर सन्त डेमियन के टूटे-फूटे घर में जमा करता है, और उनको देखकर कह उठता है-"अभी काफी नहीं हैं, थोड़ी-सी कमी है ।" लोगों ने यह भी जाना कि वह वहीं रहता भी है और कुछ पूजा उपासना भी करता है। अब तो लोग उसका परिचय और उस परिश्रम का उद्देश्य जानने के लिए और उत्सुक हो उठे ।

धीरे-धीरे संध्या के समय महात्मा फ्रांसिस के पास लोग आने और बैठने लगे । बातचीत के सिलसिले में लोगों ने पूछ ही लिया । महात्मा फ्रांसिस ने बतलाया-"मैं कौन हूँ-इसका छोटा-सा उत्तर यह है-कि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ और मनुष्यों की सेवा मेरे जीवन का उद्देश्य है । ईंटें इसलिए जमा करता हूँ कि पूरी हो जाने के बाद भगवान के इस मन्दिर की मरम्मत करूँगा । बस, इससे अधिक मेरा न तो कोई परिचय है और न रहस्य ।"

महात्मा फ्रांसिस की उन साधारण बातों के पीछे जो महानता छिपी हुई थी सभी ने उसे जाना और स्वीकार किया । अब तो मजदूर उनकी ईंटें ढोने का अनुरोध करने लगे । किन्तु महात्मा फ्रांसिस ने किसी को कष्ट न दिया-हँसकर कह दिया-जब मजदूर को भी मजदूर की जरूरत होने लगेगी तब तो इस दुनिया का काम चल चुका । किन्तु इस सरलताओं और सूक्तियों से महात्माओं का बचाव कब होता है । जनता को तो हर समय उनकी जरूरत रहती है । लोगों को ठीक से किसी महात्मा का पता चल भर भी जाये, फिर वह सेवा से बचने का कितना भी प्रयत्न करें बच नहीं पाते । जानकर भी महात्मा की सेवा का पुण्य भला कोई किस शील संकोच में छोड़ देगा फिर ऐसे महात्मा की सेवा जिसकी साधना स्वयं ही जनता की सेवा हो । महात्मा को उससे क्या हानि-लाभ होती है यह तो वह जाने। जनता तो, उनकी सेवा में हित देखकर उसका सम्पादन तो करेगी ही । इस प्रसंग में वह स्वार्थ के अपवाद से भी नहीं डरती । बहुत कुछ नाहीं-नाहीं करने पर भी लोग आखिर उनकी सेवा सहायता में लग ही गये । किसी ने उनकी एक न सुनी ।

महात्मा फ्रांसिस की लोकप्रियता बढ़ती ही गई और जल्दी से ही वे नगर में ही नहीं बाहर भी दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये । अब तो दिन-रात जन समुदाय से घिरे रहने लगे । लोग योजनायें पूछते और तन-मन-धन से पूरी करने में जुट जाते । इनके मनोनीत गिरजाघर का जीर्णोद्धार हो गया, योजना आगे बढ़ी और दूसरे गिरजाघरों की मरम्मत होने लगी । योजनायें चलती रहीं-गिरजाघर सुधरते रहे यहाँ तक कि ऐसा कोई भी गिरजाघर शेष न रहा जिसमें नवीनता का समावेश न हो गया हो । उसके बाद लोगों ने पूछा-"महात्मन् ! अब आगे ?"

महात्मा फ्रांसिस ने बतलाया-"केवल गिरजाघरों के बन जाने अथवा सज जाने से उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। उनका उद्देश्य तब पूरा होता है जब उनके मन्दिर सत्संग, कथा-वार्ता, स्तुति-गान और प्रार्थनाओं से मुखर होते रहें । उनका उद्देश्य तब पूरा होता है कि उनकी प्रेरणा से सच्चे धर्म का प्रचार एवं प्रसार हो । नये-नये लोग निर्मित होकर उनके द्वारों से निकलें और संसार में फैलकर लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें । उनका उद्देश्य तब पूरा होता है जब उनमें से जन-सेवक निकल-निकलकर लोगों का दुःख दूर करने का प्रयत्न करें दीनों, दुःखियों, अनाथों एवं असहायों के सहारा बनें । भगवान् के इन मन्दिरों की सार्थकता तो तब है जब ये प्रेम, करुणा और मैत्री के स्रोत बनें और इनमें विद्यापीठों की स्थापना हो । इनके एक भाग में पुस्तकालय हों तो एक भाग में धार्मिक कक्षायें चल रही हों । सांस्कृतिक कार्यक्रम और स्वास्थ्य एवं चरित्रवर्द्धक गतिविधियाँ ही इनकी सार्थकता के कारण बन सकते हैं ।"

महात्मा फ्रांसिस ने गिरजाघरों की सार्थकता के मिष से नवनिर्माण के जिस व्यापक सन्देश को प्रसारित किया उसने लोगों के जीवन में नई स्फूर्ति नव-जागरण और नया उत्साह भर दिया । जिधर देखो उधर ही धर्म के उत्थान और समाज के निर्माण के कार्यक्रम चलते दिखलाई देने लगे। महात्मा फ्रांसिस सर्वमान्य सन्देश-वाहक बन गये ।

ऐसा नहीं जनता को जीवन के सही मार्ग पर लगाकर महात्मा फ्रांसिस स्वयं एक ओर बैठकर आत्मलीन हो गए हों । वे बराबर जनता के बीच रहते और उसकी सक्रिय सेवा करते थे । वे कभी एक स्थान पर बँधकर नहीं रहते थे । एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते ही रहते थे। जहाँ पर भी सेवाओं का अवसर देखते थे वहीं ठहर जाते थे और अपना कर्तव्य पूरा कर दूसरे स्थान पर चल देते थे।

अपने पर्यटन में उन्होंने पाया कि कोढ़ियों की दशा बहुत खराब है । वह इसलिए ही नहीं कि उनका शरीर बेकार होता है । घावों में पीड़ा होती है अथवा बेचारे नित्य-क्रियाएँ तक पूरी कर सकने से लाचार रहते हैं । यह सब कष्ट तो उन्हें नियत की ओर से मिले ही होते हैं । इसके लिए कोई कर भी क्या कर सकता है, आदमी तो ज्यादा से उनकी कुछ आर्थिक और शारीरिक सहायता ही

कर सकता है । इसके अतिरिक्त उनकी जो दयनीय दशा थी वह यह कि उन्हें कोई भीख नहीं देता था । लोग देखते ही दूर से ही दुत्कार देते थे । उनके लिए बस्तियों में जाने और भीख माँगने की मनाही थी । नगर के बाहर उन्हें पड़ा रहने पर विवश किया जाता था । बेचारे उधर से निकलने वालों को देखकर पेट दिखलाते और भीख के लिए रिरियाते रहते थे । लेकिन कोई भी इन पर दया नहीं करता था । हर आदमी उन्हें घृणा और तिरस्कार से देखकर मुँह फेर लेता था इतना ही नहीं उन महा-रोगियों को सारे समय अपना पूरा शरीर कपड़े से ढके रहना पड़ता था, जिससे कि लोग उनका शरीर न देख सकें । यदि किसी आवश्यकता वश उन्हें कहीं जाना पड़ता था तो बराबर एक घंटी बजाते रहनी पड़ती थी । यह इसलिए कि लोग जान सकें कि कोई कोढ़ी आ रहा है और उसकी छाया तक से बचने की व्यवस्था कर लें महात्मा फ्रांसिस उन महारोगियों की उस दशा से बड़े दुःखी होते थे । उन्होंने निश्चय किया कि वे उनकी सेवा करेंगे, उनका दुःख बटायेंगे और लोगो में उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करेंगे ।

अब वे अधिकतर कोढ़ियों के बीच रहने लगे । वे उनको सहारा देकर नित्य-क्रियाओं में सहायता करते थे । उनके घाव अपने हाथ से धोते थे । उनके लिए दवा बनाते थे और अपने हाथ से लगाते थे । शहर में जाकर उन महा-रोगियों के लिए भोजन-वस्त्र माँग लाते थे । कभी-कभी जरूरत पड़ने पर अपने हाथ से भोजन भी देते थे । जो हाथों से बिल्कुल लाचार होते थे खिलाते थे । दूसरे-तीसरे दिन उनके स्थान की सफाई करना और लगभग नित्य ही उनके वस्त्र धोना और नहलाना कभी भूलते न थे । उनके लिए स्वच्छ पानी लाना और बर्तनों की सफाई करने में कभी प्रमाद नहीं करते थे ।

इन सेवाओं के अतिरिक्त वे उनकी एक बड़ी और महत्वपूर्ण सेवा और भी करते थे । वह यह कि नित्य प्रति उनको इकट्ठा करके भगवान की प्रार्थना कराया करते थे। अच्छी-अच्छी पुस्तके और कथाएँ सुनाया करते थे । इस प्रकार उन्होंने कोढ़ियों की आत्मा का परिष्कार कर उनकी एक बहुत बड़ी सेवा की थी । उनके इस प्रयत्न में बहुत से कोढ़ी भगवान के बड़े गहरे भक्त बन गए और उन्हें विश्वास हो गया कि किन्हीं कारणों से उनका यह लोक तो बिगड़ गया पर परलोक सुधर रहा है ।

वे नगर में जाकर लोगों को कोढ़ियों के प्रति दया करने के लिये समझाते थे, सहानुभूति करने के लिए कहते थे । उनका उपदेश था कि—इन महारोगियों का शरीर देखकर घृणा मत करो । इन पर अपनी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डालो और उस आत्मा को देखो जो उसी तरह इनमें निवास करती है जिस तरह हम आप में । मनुष्य का पूरा अस्तित्व उसका बाह्य शरीर मात्र नहीं है । उसके अस्तित्व का एक भाग उसका हृदय और आत्मा भी है । मनुष्य के अस्तित्व का यही भाग सबसे महत्त्वपूर्ण है । वह मनुष्य सबसे बड़ा ज्ञानी है जो किसी का शरीर ही न देखकर उसका हृदय आत्मा भी देखता है । इस प्रकार सच्चा धर्मात्मा वह है जो किसी के शरीर के आधार पर उसकी पवित्र आत्मा की उपेक्षा कर हृदय दुखाता है । किन्हीं अज्ञात कारणों से विकृत देखकर किसी का तिरस्कार करना अथवा घृणा दिखलाना, उसकी आत्मा का हनन करना और हृदय को दुखाता है, जिसे हम प्रभु ईसा के अनुयायी हिंसा का पाप मानते हैं । यदि हमारी दया, करुणा और सहानुभूति इन्हीं के काम न आई तो फिर वह किसके काम आएगी ? परमात्मा ने हमें जो दिव्य अनुभूतियाँ अनुग्रह की हैं । वे इसीलिए की हैं कि किन्हीं गरीबो, दुःखियों और पीड़ितों को देखकर हम उनका प्रकाशन करें, अन्यथा उनका उपयोग ही क्या है ।

हमें समझना चाहिए के ये महारोगी भी मनुष्य हैं, हमारे भाई हैं । हमारी नैतिकता तो तब सार्थक है जब हम अपने भाइयों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करें । मनुष्यों के बीच किन्हीं मनुष्यों का इस प्रकार असहाय पड़ा रहना किसी प्रकार शोभनीय नहीं है, हम सबको चाहिये कि इन दुखियों की सहायता के लिए वह सब कुछ करें जो कर सकते हैं।

महात्मा फ्रांसिस के इन उद्गारो का लोगों पर गहरा असर पड़ा और उनके मन से कोढ़ियों के प्रति घृणा का भाव दूर हो गया । जनता ने मिलकर उनकी झोपड़ियों का प्रबन्ध कर दिया । भोजन, वस्त्र और उपचार के लिए कई स्थाई निधि और सामान्य चिकित्सालय का सूत्रपात कर दिया । इस प्रकार महात्मा फ्रांसिस ने मानवों द्वारा मानवों की एक महान् सेवा सम्पादित कराई ।

कोढ़ियों की सेवा की तरह महात्मा फ्रांसिस ने भिखारियों का भी कुछ कम उपकार नहीं किया । सबसे पहले उन्होंने भिखारियों के समूह से दो अलग-अलग वर्ग बना डाले । एक वर्ग में उन्होंने ऐसे भिखारियों को रखा जो अपंग और अपाहिज थे और भिक्षा-दान के ठीक-ठीक अधिकारी थे । दूसरे वर्ग में उन्होंने उन भिखारियों को रखा जो अच्छे-खासे थे और आराम से मेहनत मजदूरी कर सकते थे ।

सबसे पहले उन्होंने दूसरे वर्ग के भिखारियों को समझाया कि जब काम कर सकते हैं, मेहनत-मजदूरी कर सकते हैं इस प्रकार भिक्षा माँगकर खाना घोर अपमान और लज्जा की बात है । सुर-दुर्लभ मनुष्य जीवन का यह अपव्यय एक

जघन्य अपराध है । इससे आँखों देखते यह लोक तो बिगड़ता ही है, परलोक का भी नाश होता है । अच्छा-खासा शरीर पाकर किसी के सम्मुख भिक्षा के लिये हाथ पसारने से आत्मा का घोर अपमान होता है । ऐसा करते देखकर परमात्मा को पश्चाताप होता है कि उसने ऐसे निकम्मे आदमी को सर्व-शक्तियों का यह भण्डार यह सुन्दर शरीर क्यों दिया है? इसके अतिरिक्त समर्थ शरीर वाले भिखारी अधिक तत्परता और चतुराई से समाज की उदारता का शोषण कर लाते हैं और तब ये असमर्थ भिखारियों को जल्दी कुछ दे सकने में अपने को रिक्त अनुभव करते हैं । इस प्रकार भिक्षा के जो सच्चे अधिकारी हैं उनका अवसर समाप्त हो जाता है । यह अन्याय है, अत्याचार है जो किसी को नहीं करना चाहिये। समर्थ भिखारियों को चाहिये कि वे जहाँ भी सम्भव हो मेहनत, मजदूरी करके सम्मानपूर्वक जीने का प्रयत्न करें ।

इस प्रकार दूसरे वर्ग के भिखारियों को सदुपदेश देने के साथ-साथ महात्मा फ्रांसिस नागरिकों को भी बतलाते थे कि वे अपनी उदारता अपव्यय न करें । हर भिखारी भिक्षा का अधिकारी नहीं होता वे जब भी कुछ दें ऐसे भिक्षुक को दें जो वास्तव में अपंग असमर्थ और सहायता के योग्य हो। इसके अतिरिक्त उन्होंने समर्थ भिक्षुओं के लिए यथासम्भव काम के अवसर खोजने की सहायता की और नागरिकों से उन्हें काम देने की अपील भी की । यह कार्यक्रम उनका लगभग प्रतिदिन ही चलता रहता था जिससे भिक्षा जीवियों को बड़ी राहत मिली ।

महात्मा फ्रांसिस के बहुत से अनुयायी हो गये थे और उन्हें किसी बात की कमी नहीं रह गई थीं, अपनी रोटी का क्रम वे पूर्ववत् ही चलाते रहे । पर उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य कर दिया था । वह यह कि पहले जहाँ वे भजन गाकर रोटी पा लेते थे वहाँ काम करके भोजन लेते थे । वे किसी एक घर चले जाते थे और उसका कोई न कोई काम करके रोटी ले आते थे । इन कामों में पानी भरने से लेकर बर्तन माँजने और झाँडू लगाने तक के काम शामिल होते थे । बहुत से लोग प्रार्थना करते थे कि महात्मन् ! कुछ देर आकर मेरे घर भोजन कर जाया करें, पर महात्मा फ्रांसिस इसके लिए तैयार न होते थे । उनका कहना था कि रोटी पानाए का सच्चा अधिकारी वही है जो बदले में कुछ ठोस कार्य करें । परमात्मा का दिया ज्ञान तो जनता में निःशुल्क ही वितरित होना चाहिए । वह तो जनता की ही सम्पत्ति होती है जो वितरित करने के लिए निसर्ग की और किसी को धरोहर के रूप में दी जाती है । उसके आधार पर कुछ पाने की चेष्टा करना अनाधिकार चेष्ट है, जो किसी भी विचार के लिए शोचनीय नहीं है । रोटी के लिए मुझे कुछ काम करना ही है और काम करके ही मुझे अपने मुट्ठी भर अन्न पाना है ।

भिखारियों, कोढ़ियों और गरीबों की तरह महात्मा फ्रांसिस की सहानुभूति अपराधियों के प्रति भी कुछ कम न थी । वे अपराधियों को भी दया और करुणा की दृष्टि से देखा करते थे । "कोई मनुष्य जन्मजात अपराधी नहीं होता, और न वह अपराध प्रवृत्ति लेकर ही पैदा होता है । ईश्वर की ऐसी इच्छा कभी नहीं हो सकती कि उनका उत्पन्न किया हुआ कोई मनुष्य अपराधी और संसार में कष्ट क्लेशों की वृद्धि करें । उनकी स्वाभाविक इच्छा तो यही होती है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति गुणी और सुशील बनें । स्वयं सुख और शान्तिपूर्वक तो रहे ही, अपने विचारों और कार्यों द्वारा दूसरों के सुख में भी सहायक हो । समाज के कतिपय व्यवहार दोष ही मनुष्य को अपराध की ओर मोड़ देते हैं । भूल किससे नहीं होती ? प्रायः सभी से भूल होती रहती है । मनुष्य सर्वथा पूर्ण नहीं है । पूर्ण और निर्दोष तो एक परमात्मा ही है । मनुष्य की अपूर्णता उससे कभी भूल करा सकती है । इससे समाज के किन्हीं अन्य लोगों को असुख अथवा सुविधा हो सकती है । उन्हें बुरा भी लग सकता है और नाराजगी भी हो सकती है । लेकिन उचित यह है कि जिससे भूल बन पड़ी है उसे समझाया जाए । लेकिन लोग मोह वश प्रायः प्रतिशोध का व्यवहार करने लगते है । गलती का उत्तर गलती से देते हैं । इससे क्रिया प्रतिक्रिया की परम्परा चल पड़ती है और अपराध प्रति अपराध होने लगते हैं । सुधार होने के बजाय सामान्य दोषी एक पक्का अपराधी बनकर समाज को त्रस्त करने लगता है ।"

"अपराधी के प्रति प्रतिशोध की नहीं, सहानुभूति की साधना रखनी चाहिए । इस सृजन भावना से अपराधी पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और भविष्य के लिए वह सुधार का प्रयत्न करेगा । सहानुभूति की यह मंगल भावना कोई कठिन प्रयत्न नहीं है । केवल एक बार क्षमा कर देने भर से यह भावना आप से आप उत्पन्न हो जाएगी । इसलिए तो महात्माओं के निकट जाकर अपराधियों की प्रवृत्ति बदल जाती है और वे सज्जन बन जाते हैं । इसी क्षमा शक्ति के बल पर ही सत्पुरुष सब जगह निर्द्वन्द और निर्भय होकर विचरण करते रहते हैं । उन्हें कहीं भी किसी प्रकार का भय नहीं रहता ।"

वे एक ओर नारियों को, अपराधियों को क्षमा करने, उनके प्रति दया और सहानुभूति रखने की प्रेरणा देते थे और दूसरी ओर अपराधियों के बीच जाकर उन्हें सुधार के लिए प्रेरित करते थे । वे उन्हें सुन्दर-सुन्दर उपदेश देते और सदाचरण की महिमा बतलाते थे । सत्संग, सेवा और सन्तोष के द्वारा शिवत्व के प्रति के उपाय बतलाते थे । वे उन्हें उनके उन कष्टों, दुःख और भयों का स्मरण भी कराते थे जिनके कारण अपराधियों को न शान्ति प्राप्त होती थी और न सन्तोष । इस प्रकार उभयमुखी प्रयत्नों से महात्मा फ्रांसिस अपराधियों के सुधार में एक उल्लेखनीय सीमा तक सफल हो सके थे ।

महात्मा फ्रांसिस जिस प्रकार का उपदेश दूसरों को देते थे उसको अपने आचरण में मूर्तिमान भी करते थे ।एक बार कुछ डाकुओं ने उनके निवास पर धावा किया । लेकिन उनके चारों ओर के सजग स्वयं-सेवकों ने कड़े प्रतिरोध द्वारा उन्हें भगा दिया । महात्मा फ्रांसिस को जब पता चला तो उन्होंने स्वयं सेवकों के इस व्यवहार पर दुःख मनाया और कहा—यह आप लोगों ने ठीक नहीं किया । यदि एक बार यहाँ आ जाते तो उनका भ्रम दूर हो जाता । वे जान जाते कि यहाँ मेरे पास सेवा और सद्विचारों के सिवाय और कोई सम्पत्ति नहीं है । प्रतिरोध से तो उनका भ्रम और भी बढ़ गया होगा । इतना कह उन्होंने डाकुओं के पास प्रेम, सहानुभूति और क्षमा-याचना का सन्देश और साथ में अपने लिये बनाई रखी रोटियाँ भेजीं । डाकुओं को जब महात्मा फ्रांसिस की महानता का पता चला तो उन्हें अपने किये का बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे दौड़ते-दौड़ते उनके पास आए और पैरों पर पड़कर क्षमा-याचना करने लगे । महात्मा फ्रांसिस ने उन्हें क्षमा ही प्रदान नहीं की बल्कि हृदय का पवित्र प्रेम भी दिया । महात्मा के इस व्यवहार ने डाकुओं का जीवन ही बदल दिया । उसके बाद वे डाकू बड़े शिष्ट और सभ्य नागरिक बन गए । सच्ची सद्भावना में बड़ी शक्ति होती है ।

इसी प्रकार एक बार जब वे अपराधियों को अपना सुधार करने के लिए उपदेश कर रहे थे तो कई एक डाकू उनसे बड़े क्रुद्ध हो गए । उन्हें अपनी उद्दीप्त अपराध-प्रवृत्ति के कारण उनका वह उपदेश अच्छा नहीं लगा और उन्होंने इनके कथन को अपने विरुद्ध प्रचार समझा । वे उन्हें मारने की घात में रहने लगे । एक दिन महात्मा फ्रांसिस अपने स्वभाव के अनुसार जंगल की ओर प्रकृति-पर्यटन के लिये गये तो उन डाकुओं को अवसर मिल गया उन्होंने उनको पकड़कर खूब मारा-पीटा और अन्त में बरफीले पानी से भरे एक गहरे गड्ढे में ढकेल दिया । किन्तु अपने धुन के पक्के महात्मा फ्रांसिस डाकुओं से मारे खाते और शान्तिपूर्वक मुस्कराते हुए उन्हें उपदेश ही देते रहे । इतना ही नहीं उनके द्वारा गड्ढे में ढकेले जाने के बाद भी वे उसमें शान्तिपूर्वक पड़े-पड़े ईश्वर की लीला पर हँसते और उसके गुण गाते रहे । कभी तो प्रसन्न होकर भजन गाते थे तो कभी करुण होकर डाकुओं को क्षमा कर देने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे । इस प्रकार वे बरफ और पानी से भरे गड्ढे में कई दिन तक पड़े रहे । वहाँ से निकल सकने को कोई सुभीता ही नहीं था । संयोगवश वे ही डाकू उधर से फिर निकले और इस आशा से उस गड्ढे में झाँककर देखा कि अब तो वह फकीर मर गया होगा किन्तु उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह मुक्त पुरुष आनन्दपूर्वक उस गड्ढे में पड़ा-पड़ा ईश्वर के गुण गा रहा है और उन्हें क्षमा कर देने के लिए बार-बार प्रार्थना कर रहा है । महात्मा फ्रांसिस की यह महानता देखकर डाकुओं का हृदय परिवर्तन हो गया । उन्होंने महात्मा फ्रांसिस में प्रभु ईसा की छाया देखी । आदरपूर्वक उन्हें बाहर निकाला पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी और उनके अनन्य भक्त बन गए ।

महात्मा फ्रांसिस के अनुयायियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ने लगी । लोगों ने उनसे प्रार्थना की कि वे एक संघ बनाएँ और नियमित रूप से अपने नये सेवा धर्म का प्रचार करें । किन्तु वे इसके लिए तैयार नहीं हुए । उन्होंने कहा— मैं कोई धर्म प्रवर्तक नहीं हूँ । मैं तो धर्म सुधार कार्य करने वाला एक साधारण जन सेवक हूँ । प्रभु ईसा का दिया हुआ मानव धर्म हमारे सबके सामने मौजूद है ऐसी अवस्था में किसी नये धर्म का प्रवर्तन करना अनुचित है । हम सबका यही परमधर्म है कि हम उनके सिद्धान्तों को मानें और उन्हीं के अनुसार अपने आचरण को ढालें । धर्म में जो विकृतियाँ आ गई हैं दूर करने के लिए प्रयत्न करें । भूली-भटकी जनता को ठीक मार्ग पर लायें ।

उन्होंने अपने अनुयायियों की टोलियाँ बनाईं और उनको यत्र-तत्र धर्म प्रचार तथा सुधार के लिये भेजने लगे । वे स्वयं भी किसी न किसी टोली के साथ जाया करते थे । एक दिन वे यों ही धर्म प्रचार करते घूम रहे थे कि सहसा उनकी दृष्टि एक बूढ़े पर पड़ी । वह बहुत कमजोर और गरीब था । सिर पर लकड़ियों का गट्ठर लिये बाजार में बेचने के लिये जा रहा था । वह बोझ लादे लाठी के सहारे बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे चल रहा था । महात्मा फ्रांसिस ने उसे देखा तो रह न सके वे तुरन्त उस बूढ़े के पास गए और उसका बोझ अपने कन्धे पर रखकर गन्तव्य तक पहुँचा

आए । उनके अनुयायियों में से बहुतों ने चाहा कि बोझ उनके कन्धे पर रख दिया जाए । पर वे इसके लिए तैयार न हुए । उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि पुण्य, परमार्थ और सेवा का जो अवसर उन्हें मिला है वे इसमें किसी को भागीदार नहीं बनायेंगे । लोग अपने लिए राह चलते इस प्रकार के अवसर खोजें और पुण्य लाभ करें । संसार में सेवा करने के अवसर कदम-कदम पर मिल सकते हैं । उनकी यह सिद्धान्तनिष्ठा देखकर लोग निहाल हो गए और श्रद्धा से अवनत भी ।

एक बार उन्हें रास्ते में एक ऐसा आदमी मिला जो बहुत गरीब था । उनके तन पर वस्त्र तक न थे और सर्दी से काँप रहा था । महात्मा फ्रांसिस तुरन्त उसके पास गए और अपना चोगा उतारकर उन्हें पहना दिया । जब उस आदमी ने उन्हें धन्यवाद दिया तो उन्होंने आदरपूर्वक कहा--"बाबा इसमें धन्यवाद की क्या बात है ? इस चोगे पर कोई मेरा अधिकार नहीं था । यह तो मेरे पास तब के लिए केवल ऋण रूप में था जब तक मुझे अपने से गरीब आदमी नहीं मिला । आज आप मिल गए और मैंने अपना ऋण उतार दिया ।" वह आदमी आनन्द से गद्‌गद हो उठा और बोला--आपने वस्त्र देकर जाड़े से मेरी जान ही नहीं बचाई, ज्ञान का प्रकाश भी दिया है । मैं भी आपका यह चोगा ऋण के रूप में अपने पास मानूँगा और जब भी कोई अधिक आवश्यकता-ग्रस्त मिलेगा उतार कर उसे दे दूँगा ।

महात्मा फ्रांसिस में दया का जो भाव बचपन से ही चला आ रहा था वह अब जन सेवा के प्रसाद से पराकाष्ठा तक पहुँचकर आध्यात्मिक आनन्द बन गया था । उनकी यह दया करुणा अब मानवों तक ही सीमित नहीं रह गई थी, बढ़कर पशु-पक्षियों तक पहुँच गई थी । एक दिन उन्होंने देखा कि एक लड़का बहुत से पक्षी एक पिंजरे में बन्द किए बाजार में बेचने जा रहा है । बात स्पष्ट थी कि वे पक्षी बाजार में बिकेंगे । लोग उन्हें खरीदकर ले जायेंगे और उनको मारकर शोरबा बना लेंगे । महात्मा फ्रांसिस ने उन फड़फड़ाते पक्षियों की पीड़ा अपने हृदय में अनुभव कर ली, वे उस लड़के के पास गए और बोले--"भाई तुम इन चिड़ियों को शायद इसलिए बेचने जा रहे हो कि इनसे जो पैसा मिलेगा उससे अपने भोजन की व्यवस्था करोगे ।"

लड़के ने तुरन्त स्वीकार किया और बतलाया कि--इन पक्षियों की कीमत से उसका तीन दिन का भोजन चल जाएगा । महात्मा फ्रांसिस ने कहा--"मैं तुम्हें छः दिन तक अपने पास से एक समय भोजन दे दिया करूँगा । यह पक्षी मुझे दे दो ।" लड़का खुशी-खुशी तैयार हो गया । महात्मा फ्रांसिस ने सारे पक्षी लेकर अपने हाथ से उड़ा दिये । पक्षी मानो मुक्त होकर अपनी बोली में धन्यवाद देते हुए हवा में तैरने लगे । महात्मा फ्रांसिस उनका वह आनन्द बड़ी देर तक देखकर खुद भी आनन्दित होते रहे ।

वे केवल एक दिन में एक बार ही भिक्षाटन करते थे। फिर भी अपने वचनानुसार छः दिन तक अपना भोजन लड़के को देते और खुद भूखे रहते रहे । उन्होंने अपनी इस बात का किसी को पता नहीं चलने दिया । उन्हें डर था कि जानकर लोग उन्हें जबरदस्ती भोजन करने को मजबूर करेंगे और इस प्रकार उनका एक व्रत टूट जाएगा । यह कठोर उपवास चलाते हुए भी उनके चेहरे पर हमेशा प्रसन्नता और ताजगी बनी रहती थी । परोपकार के लिए कष्ट उठाने में उन्हें अपार आनन्द आता था । अपने पर संयम करना उन्होंने भली प्रकार सीख लिया था । उन्हें महात्मा ईसा के उन वचनों में अगाध निष्ठा थी--"व्रत रखो, लेकिन दुःख मत करो ।" उपवास में त्याग में जीवन के सुखों से दूर रहो । "इससे व्रत पालन में सहायता भी मिलती है और आत्मा को सन्तोष भी ।" उनके इस उपवास का पता लोगों को तब चला जब सातवें दिन अनुष्ठानपूर्वक उन्होंने अपना व्रत समाप्त किया ।

एक दिन एक मछुए ने भिक्षा में उन्हें एक जलपक्षी भोजन के लिए दिया । महात्मा फ्रांसिस ने उसे तो ले लिया किन्तु तुरन्त ही उसे देर तक प्यार करने के बाद छोड़ दिया । और कहा, "भाई मैं इन प्यारे पक्षियों का भोजन नहीं करता ।" मछुआ उनका मूल आशय न समझ सका। निदान दूसरे दिन उन्हें एक बड़ी सी मछली लाकर प्रदान की। महात्मा फ्रांसिस ने यह मछली भी एक बड़े तालाब में छोड़ दी और मछुए को बतलाया कि मैं किसी प्रकार का भी माँस नहीं खाता । इससे जीव-हत्या होती है जो कि प्रभु ईसा के दया, क्षमा एवं करुणा के सिद्धान्तों के विरुद्ध है मछुआ तो उनका मन्तव्य समझकर चला गया लेकिन महात्मा फ्रांसिस को दोनों दिन भूखा रहना पड़ा । क्योंकि वे एक दिन में किसी एक से ही कुछ लिया करते थे ।

महात्मा फ्रांसिस की अखण्ड साधना ने उन्हें तरुणावस्था में ही पूरी तरह सन्त बना दिया था । वे हर प्रकार के माया-मोह और आसक्ति, आकर्षण से मुक्त हो गए थे । उनकी कीर्ति जब चारों ओर फैलने लगी तब उनके पिता बहुत बार उनके पास आए और कहा कि वे सारी सम्पत्ति अपने हाथ में ले लें और जिस प्रकार चाहें उसे परमार्थ और परोपकार में खर्च करें । इस प्रकार अभाव और कष्ट का जीवन बिताने का क्या प्रयोजन ? पर महात्मा फ्रांसिस इसके

लिए तैयार न हुए । उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि जिस धन सम्पत्ति की असलियत उन्हें पता चल चुकी है अब वे उसे अपने जीवन में स्थान नहीं दे सकते । जो आनन्द अभावपूर्ण, सादा जीवन बिताने में है । वह धन-सम्पदा में कहाँ ? उन्होंने पिता को सन्देश देते हुए कहा कि अब उनके पुत्र पर सीमित चाहर-दीवारी नहीं रह गई है बल्कि यह विस्तृत और व्यापक संसार ही उनका घर बन गया है और सारे प्राणी उनके परिजन । उन्होंने पिता से अपनी चिन्ता न करने को कहा और बताया कि वह पहले से कहीं अधिक सुखी और प्रसन्न हैं ।

एक बार क्लेर नाम की बड़ी सुन्दर तरुणी उनके पास आई और अपने को सेविका रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की । महात्मा फ्रांसिस उनके मन्तव्य को समझ गए । उन्हें उसके अज्ञान पर बड़ी दया आई । वे बड़ी करुणा से बोले—"माता मैं स्वयं ही जनता का एक साधारण सेवक हूँ, मुझे सेवक या सेविका की क्या आवश्यकता ? आप तो जगत् को जन्म देने वाली हैं, उसके अनुसार मेरी जननी ही हैं । मैं अन्य से किसी प्रकार की सेवा लेने का अधिकारी नहीं हूँ । महात्मा फ्रांसिस के पवित्र वचन सुनकर और उनकी महानता देखकर क्लेर पानी-पानी हो गई । उसे अपने पर घोर ग्लानि हुई । उसने महात्मा फ्रांसिस के पैर पकड़ लिये और कहा "अब आप मुझे अपनी शिष्या बनाकर ज्ञान का दान करें नहीं तो मेरा हृदय पश्चाताप की आग में जलकर भस्म हो जाएगा ।" उन्होंने उसे सांत्वना और उपदेश दिया । आगे चलकर क्लेर बहुत बड़ी सन्त और धर्म-प्रचारक बनी ।"

स्वयं गृह त्यागी होने पर भी महात्मा फ्रांसिस ने किसी को गृहत्याग करने की अनुमति नहीं दी । वे बराबर लोगों को गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक साधना करने की प्रेरणा दिया करते थे । वे अपने सारे अनुयायियों को गृहस्थ साधक कहकर पुकारते थे । उन्होंने अपने अनुयायियों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर जन-सेवा के कार्यों में लगा दिया था । पहली श्रेणी में वे लोग थे जिनको वे अपने साथ रखकर ऊँची साधना का अभ्यास कराया करते थे । दूसरी श्रेणी उन गृहस्थों की जो संसार के सारे कर्तव्य करते हुए लोक-कल्याण के मार्ग से ऊँचे शिखर को अग्रसर हो रहे थे । तीसरी श्रेणी उन्होंने नारियों के लिए रखीं । जिनका कार्य गृहणियों को सुगृहणी बनने की शिक्षा देना होता था । इस प्रकार उन्होंने अपने सारे लोगों को उपर्युक्त श्रेणी में बाँटकर उन मार्गों पर चला दिया जिससे लोक-मंगल का भी सम्पादन हो और लोगों की व्यक्तिगत आत्मोन्नति भी होती चले ।

महात्मा फ्रांसिस ने अपने अनुयायियों के लिए किन्हीं विशेष नियमों का निर्माण नहीं किया था । वे सबको प्राकृतिक नियमों का ही पालन करने की प्रेरणा देते रहते थे। उन्होंने कभी किसी को विशेष नियमों में बाँधकर उनकी निसर्ग प्राप्त स्वाधीनता को नहीं छीना । इस नियम में वे सदैव यही कहा करते थे कि 'मैं अपने साथियों का जेलर नहीं-हूँ जो उन्हें नियमों में बाँधकर चलाऊँ । अपने धर्म का पालन, दूसरों की सेवा और आत्मा की रक्षा करना ही वे नियम हैं जिनका निर्वाह करते रहने पर मनुष्यों को किन्हीं अन्य नियमों की आवश्यकता नहीं रह जाती । केवल इतना ध्यान रखो कि तुम्हारे बाह्याचरण मिथ्या न होने पावें । परमात्मा में अटल विश्वास रखकर स्फूर्ति, प्रसन्नता, अनुकूलता और उपर्युक्तता के साथ अपना जीवन बिताते रहो। बस इससे अधिक जीवन में किन्हीं नियमों की आवश्यकता नहीं है ।'

इस प्रकार असीसी और उसके आसपास जन-सेवा और सुधार का आन्दोलन चलाकर महात्मा फ्रांसिस रोम गए । उन्हें देश का खण्ड-खण्ड रहना अब भी पीड़ा दे रहा था । रोम जाकर उन्होंने लोगों में राष्ट्र की भावना फैलानी प्रारम्भ कर दी । वे लोगों को युद्ध से दूर रहने और आपस में प्रेम के साथ रहने की प्रेरणा देने लगे । उनकी बड़ी इच्छा थी कि रोम का बड़ा पोप राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना करने में उनकी सहायता करें । पूरे इटली में पोप का प्रभाव था और वे इस प्रभाव को देश की शान्ति और अखण्डता में उपयोग करना चाहते थे । अस्तु एक दिन वह पोप से मिलने के लिए उसके निवास स्थान पर गए । पोप ने उनकी साधारण वेशभूषा देखकर एक मामूली किसान समझा और अभिमानपूर्वक उन्हें भगा दिया । महात्मा फ्रांसिस ने इसका जरा भी बुरा नहीं माना और शान्तिपूर्वक आकर जनता में काम करने लगे । धीरे-धीरे पोप को लोगों ने बतलाया कि असीसी के प्रसिद्ध महात्मा फ्रासिस आजकल रोम में आए हुए हैं । पोप उनके विषय में बहुत कुछ सुन चुका था । मिलने के लिए उत्सुक हो उठा । उसने अपनी गाड़ी भेजकर महात्मा फ्रांसिस को बड़े आदर के साथ बुलवाया । महात्मा फ्रांसिस खुशी-खुशी पोप से मिलने चल दिये । किन्तु वे गाड़ी में नहीं पैदल ही गये । पोप से जब उनका मिलन हुआ तब उसने देखा कि ये तो वही व्यक्ति है जिनको उसने एक दिन अपने घर से भगा दिया था । उसे अपने किए पर लज्जा आई । उसने महात्मा फ्रांसिस का बड़प्पन स्वीकार किया और क्षमा माँगी । बाद में पोप ने राष्ट्रीय हित में उनकी बड़ी सहायता की और रोम के सुलतान से मिलाया।

रोम का सुलतान महात्मा फ्रांसिस के कार्यों, विचारों तथा व्यक्तिगत महानता से बड़ा प्रभावित हुआ और उनका अनुयायी बन गया । बाद में महात्मा फ्रांसिस ने उसे एक राष्ट्र की रूपरेखा दी और स्थायी शान्ति स्थापित करने की प्रेरणा भी । यह महात्मा फ्रांसिस का ही प्रयत्न था कि कुछ दिनों बाद इटली में गृह-युद्ध होने बन्द हो गए और सभी राज्य एक राष्ट्र एक की भावना की ओर अग्रसर होने लगे।

महात्मा फ्रांसिस को प्रकृति से एक आत्मिक लगाव था । वे एक-एक फूल और एक-एक पत्ती को अपना आत्मीय जन समझा करते थे । वे वनों, बागों और रास्ते में खिले एक-एक फूल को बड़ी देर तक मन्त्रमुग्ध से देखते रहते थे । वे रास्ते के पेड़-पौधों पर अपना प्रेम बरसाते चलते थे और अपने साथियों से कहा करते थे कि यह सब प्रकृति स्वर्ग में रहने वाले हमारे पिता की रचनाएँ हैं । जीवों के प्रति तो उन्हें इतना प्रेम था कि यदि रास्ते में उन्हें केंचुआ दिखलाई देता था तो चलना रोककर पहले उसे उठाकर सुरक्षित स्थान पर रख देते थे और जब आगे बढ़ते थे । वो कहा करते थे कि इन सब प्राणियों को भी हम मानवों की तरह ही कष्ट और प्रसन्नता होती है । यह सब भी मनुष्य की तरह उस परमपिता का प्रिय है । इन्हें कष्ट पहुँचाने अथवा इनकी उपेक्षा करने का अधिकार किसी को नहीं है ।

महात्मा फ्रांसिस जब कभी हरी-भरी वनस्पति अथवा फूलों से भरे किसी उद्यान में पहुँच जाया करते थे तो तत्काल ही भाव-विभोर होकर कहने लगते थे--ऐ ! सृष्टि के शृंगार फूलो पौधो और पेड़ो तुम सब उस प्रभु के गुणगान क्यों नहीं करते जिसने तुम्हें इतना सुन्दर और इतना सुखी बनाया है ? वे पहाड़ों, नदियों, झीलों और झरनो को देखकर कहा करते थे--कि ऐ ! परमात्मा की रचनाओ तुम इस प्रकार मौन क्यों हो । मेरी ही तरह उस प्रभु की स्तुति के भजन क्यों नहीं गाते । महात्मा फ्रांसिस सारी सृष्टि को परमात्मामय और परमात्मा को सृष्टि में समझते और देखते थे ।

संसार के सारे प्राणियों को वे अपना सहोदर समझकर उनसे वैसा ही व्यवहार किया करते थे । एक बार जब वे एक वनस्थली में कुछ लोगों को उपदेश देने को उद्यत हुए तभी बहुत सी चिड़ियाँ वहाँ आकर आस-पास के पेड़ों पर गाने और चहचहाने लगीं । महात्मा फ्रांसिस ने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर उनसे कहा--"प्यारी बहिनों ! जब आप लोगों का संगीत समाप्त हो जाय तब मुझे कुछ कहने देना ।" इस प्रकार प्रकृति के साथ एकरूपता के उनके न जाने कितने उदाहरण पाये जाते हैं । वे जब तब लोगों से कहा करते थे कि जब मैं किसी को पशु-पक्षी का शिकार करते देखता हूँ तो मुझे अपार कष्ट होता है । हम लोग अपने को महात्मा ईसा का अनुयायी बतलाते हैं और उनके सिद्धान्त के विरुद्ध नित्य ही पशु-पक्षियों की हत्या करते हैं। क्या इस प्रकार हम उनकी आत्मा को दुख नहीं पहुँचाते--"यदि हर एक नगर में नगर-पालक और हर किले के सरदार मुझे वचन देते हैं कि वे प्रभु ईसा के जन्म-दिन पर मैदानों और जंगलों में चिड़ियों और अन्य छोटे-छोटे जानवरों के लिए अनाज बिखरने की व्यवस्था कर देंगे तो शायद मुझे जीवन की सबसे बड़ी खुशी मिल जाती ।"

इस प्रकार कठिन तपस्या और जन-सेवा का व्रत चलाते हुए जब महात्मा फ्रांसिस आयु की तीन सीढ़ियाँ चढ़ गये तब उनका शरीर बहुत शिथिल रहने लगा । अब उनकी इन्द्रियाँ भी धीरे-धीरे जबाब देने लगी थीं । उन्होंने इन लक्षणों का आशय समझ लिया और अधिकाधिक साधना में रत रहने लगे । अब वे अधिकतर अलवानों के पहाड़ पर एकान्त में चले जाते थे और महीनों भगवद् उपासना में लगे रहते थे । उनके शिष्यों ने चोरी-चोरी एक बड़ा सुन्दर भवन बनाया उसमें जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ एकत्र कर दीं । भवन जब बनकर तैयार हो गया तो उन्होंने एक दिन उन्हीं के हाथों से उसका उद्‌घाटन कराया और आदरपूर्वक उन्हें समर्पित किया । महात्मा फ्रांसिस को पता चला कि वह भवन उन्हीं के लिए बनवाया गया है तो वे दुःख और क्षोभ से रोने लगे । उन्होंने कहा--"मुझे दुःख है कि मेरे साथियों ने जीवन भर रहकर भी कुछ नहीं समझा । जरूर ही मेरी साधना में कोई कमी रह गई है जिससे मुझे इस प्रकार अपरिग्रह से हटाने का साहस किया गया है । जाने लोग यह क्यों नहीं समझ पाए कि जो जीवन भर संसार के निःसार सुख-साधना से भागता रहा वह क्या अन्त समय में महल में रहेगा ? मुझे खेद ही नहीं अपने पर ग्लानि है, मेरी तपस्या अभी कम है । मैं अभी ईसा का काँटों का ताज पहनने योग्य नहीं हो पाया हूँ । अब मैं साधना द्वारा ही अपनी इसी कमी का परिमार्जन करूँगा ।"

फिर तो महात्मा फ्रांसिस सारे समय परमात्मा के ध्यान में ही निमग्न रहने लगे । परमात्मा का भजन गाना और उसका स्मरण करना ही उनका एकमात्र काम रह गया । वे अधिक से अधिक उपवास और व्रत रखने लगे । और जो कुछ थोड़ा बहुत खाते-पीते भी थे वह बिना पकाये ही खाते थे । किसी प्रकार के स्वाद से उन्होंने अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखा ।

इस प्रकार कठिन साधना करते और परमात्मा का गुण गाते-गाते वे जमीन पर लेट गये और अपने साथियों से बोले--"अब आप लोग मुझे विदा दें, स्वर्गीय पिता के घर

जाने का समय आ गया है । जीवन में सत्य और सदाचार को धारण करना । प्राणीमात्र पर दया करना और परमात्मा को कभी एक क्षण को भी न भूलना । बस यही आप लोगों से मेरा अन्तिम सन्देश है । विदा, विदा, विदा-कहते-कहते उन्होंने सदा के लिये संसार से विदा ली और अपने स्वर्गीय पिता की गोद में खेलने के लिये चल दिये ।"

महात्मा फ्रांसिस अपने समय के बहुत बड़े महात्मा थे । उनके कार्यों और विचारों ने योरोप में एक सुधार की एक नई क्रान्ति ला दी । जीवन-भर उन्होने अपने में ईसा की भावना मूर्तिमान करने के लिये घोर तपस्या की और उसी के बल पर हजारों लाखों भूले-भटकों को सही रास्ते पर लगाकर अध्यात्म ज्ञान का सच्चा और सरल प्रसाद बाँट गये ।

हमारा भारतवर्ष भी सन्तों की भूमि माना जाता है और निःसंदेह यहाँ पर बीच-बीच में ऐसे सन्तो का प्रादुर्भाव होता रहता है जिनको जीवन मुक्त करने में किंचित भी अतिशयोक्ति नहीं है । सन्तों का जीवन परोपकार और परमार्थ के लिये होता है और वे अपने शत्रुता रखने वाले के साथ भी दुर्व्यवहार नहीं करते । बुराई के बदले भलाई करना उनका मुख्य गुण होता है । पिछले दो-तीन हजार वर्षों के इतिहास पर दृष्टि डालो तो बुद्ध, शंकराचार्य, रामानुज, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, तुलसीदास, रामकृष्ण, परमहंस, महर्षि व्यास अनेकानेक सन्तों ने इस भूमि पर जन्म लेकर जन-साधारण को पारमार्थिक जीवन की प्रेरणाएँ दी हैं । इन लोगों का जीवन एक प्रकाश स्तम्भ की तरह रहा है जिसमें लाखों करोड़ों व्यक्ति अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य मनुष्यों तथा विभिन्न प्राणियों के साथ प्रेम, सहानुभूति, सेवा का व्यवहार करने को प्रवृत होते हैं । यदि हमारे बीच में समय-समय पर सन्तजनों का आविर्भाव न होता रहता तो मनुष्य दिन पर दिन अधिकाधिक स्वार्थी, कठोर, निर्दयी बनते जाते इसमें सन्देह नहीं । मनुष्य स्वार्थपरता की तरफ बहुत शीघ्र और सहज में प्रेरित होता है और उसके उदाहरण भी उसको अपने चारों ओर बहुत मिलते हैं । ऐसी परिस्थिति में यह सन्तजनों की ही महिमा होती है कि वे त्याग, तपस्या और कष्ट सहन द्वारा दूसरों की भलाई का व्रत ग्रहण करते हैं और संसार में बहती हुई आपा-धापी की धारा को मोड़कर अनेक मनुष्यों के हृदय में परोपकार की भावनाओं को जाग्रत करते हैं । सन्तों की इन विशेषताओं को प्रकट करते हुए 'भारत के सन्त महात्मा' ग्रन्थ में बतलाया गया है कि सन्त के कार्यों और चरित्रों से जन साधारण को केवल आध्यात्मिक प्रेरणायें ही प्राप्त नहीं होती, वरन् समाज की सर्वांगीण उन्नति के मूल में भी सच्चे सन्तों का बड़ा सहयोग रहता है ।

"समस्त युगों में सन्त महात्माओं की परम्परा ही भारत देश की अमूल्य निधि रही है । उदात्त सन्त महात्माओं की जीवन कथायें तथा उनकी उपदेशावलियाँ सबसे अधिक बहुमूल्य सम्पत्ति के रूप में हमको अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई हैं । आज तक भारत के लम्बे इतिहास के प्रत्येक युग में वेद, उपनिषद्, महापुराण, काव्य, रूपक, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला तथा लोकगीत आदि अनेक रूपों में ऋषि, मुनि, योगी, भक्त, ज्ञानी और निष्कामकर्मी के ही तेजोमय-जीवन तथा अध्यात्मिक अनुभूति से भारतीय संस्कृति के आत्माभिव्यंजन को प्रेरणा मिलती आई है । भारत के सच्चे निर्माता ये ही हैं । भारत की चिरन्तर चेतना उनके ही जीवन में साकार और सजीव हुई है । निस्सन्देह भारतवर्ष ने विभिन्न युगों के बड़े-बड़े योद्धा, शासक, साम्राज्य स्थापक और राजनीतिज्ञों को जन्म दिया है, उन्होंने अपने समय के भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये हैं ।" पर भारतीय स्मृति पटल पर उन्हें गौण स्थान प्राप्त है और उनमें भी केवल उन्हीं का जीवन स्थायी स्मृति का विषय बन सका, जिन्होंने व्यवहार में महत्वपूर्ण सन्तत्व प्राप्त कर लिया और अपने साथियों की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपनी सम्पत्ति और ज्ञान का सर्वोत्तम सदुपयोग किया । भूत की तरह भविष्य में भी सन्त-महात्माओं के जीवन तथा उपदेश समस्त जनता के लिये सदा ही ज्ञान, शक्ति, आशा और शान्ति के स्रोत बने रहेंगे ।

जो बात हम भारतीय सन्तों के लिये इस देश की जनता की दृष्टि से कह सकते हैं योरोप के लिये सन्त फ्रांसिस की भी समझी जा सकती है । भौतिकवाद का प्रचार अत्यधिक बढ़ जाने पर भी आज जो योरोपीय सामान्य जनता में जो धर्म का भाव मौजूद है और सेवा तथा सहायता के कार्यों में भी वे जिस प्रकार दिल खोलकर तथा मुक्त-हस्त से भाग लेते हैं वह सन्त फ्रांसिस जैसे महामानवों का ही प्रसाद है। जब लोग उनके महान् त्याग और अनुपम सेवा कार्यों का वर्णन पढ़ते और सुनते हैं तो उनकी आत्मा में भी सुप्त भावनायें जाग उठती हैं और वे अवसर मिलने पर यथाशक्ति परोपकार के मार्ग पर चलने का प्रयत्न भी करते हैं ।

सच यह है कि सांसारिक जीवन निर्वाह करते हुए सब लोग सन्त फ्रांसिस के समान प्राणी-मात्र की रक्षा और कल्याण का सदा ध्यान नहीं रख सकते, तो भी उनके जीवन की घटनाओं से कुछ शिक्षा ग्रहण करना और जब जितना अवसर मिले उन्हें न्यूनाधिक अंशों में काम में लाना हम सबका कर्तव्य है । वे तो पशु-पक्षी, चिड़ियाँ, कीड़े-मकोड़े तक की रक्षा में सदैव बड़े प्रेम का व्यवहार करते थे । यदि साधारण मनुष्य इतना नहीं कर सकता तो इतना तो ध्यान रख ही

सकता है कि निर्बल मनुष्य और अनबोल निरीह प्राणियों के साथ कठोरता अथवा निर्दयता का व्यवहार न करें । सन्त फ्रांसिस जब चाहे तब अपना भोजन किसी जरूरतमंद को देते थे और स्वयं भूखों रह जाते थे । उनके उदाहरणों को देखकर हम भी संयोगवश कष्ट और अभाव में ग्रस्त होने वाले लोगों की सहायतार्थ अपने व्यय में कमी करके परोपकार-वृत्ति का परिचय दे सकते हैं ।

वर्तमान समय में हम जिस युग में रह रहे हैं उनकी भयंकरता को देखते हुये तो सन्तों के उपदेश और प्रणाली पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है । इस समय वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप मनुष्य के हाथ में कुछ ऐसी शक्तियाँ आ गई हैं कि वह चाहे तो संसार का बहुत कुछ कल्याण कर सकता है और यदि विपरीत बुद्धि से काम ले तो करोड़ों का काम भी कर सकता है । आजकल संसार के प्रमुख राजनीतिज्ञ और धनकुबेर, उद्योगपति शक्ति और वैभव के मद से उन्मत्त हो रहे हैं और आस्तिकता, आध्यात्मिकता तथा नैतिकता आदि की बातों को निरर्थक बतलाते हैं । यदि यही प्रवृत्ति बढ़ती गई और किसी तरह से इसमें अंकुश लगाने की व्यवस्था न की गई तो संसार की घोर दुर्दशा होना निश्चित ही है । इस दृष्टि से सन्त फ्रांसिस जैसे दैवी आत्म सम्पन्न महामानवों के चरित्र का अध्ययन मनन निश्चय ही कल्याणकारी है ।

सन्तों के जीवन का अनुशीलन करते समय उनके देश और जाति आदि के पार्थक्य का ख्याल करना कुछ महत्व नहीं रखता । सन्त फ्रांसिस का जन्म यद्यपि इटली देश मे हुआ था, पर उनका सादा जीवन, प्राणीमात्र से प्रेम, स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को सुख पहुँचाना आदि जैसे के तैसे पाये जाते हैं और उन्हीं के कारण उनका सम्मान होता है । ऐसे प्रभु के प्यारे व्यक्तियों से कौन न प्रेम करेगा ? सन्त फ्रांसिस जैसे सन्त कहीं भी हों वे मानव मात्र की वन्दना के पात्र हैं ।

नवयुग के सन्देशवाहक

पवित्रात्मा बहा

इस जमाने में कोई व्यक्ति धन-जन, वैभव, सत्ता, पदवी आदि से भरपूर होने पर भी स्वेच्छा से सबको त्यागकर गरीबी को अपनाले, परिचारिकों से सेवा-सुश्रूषा कराना छोड़कर स्वयं समाज के उपेक्षित दीन-दुखियों की सेवा करने लगे, ऊँचे हकूमत के औहदे को लात मारकर सरकारी कर्मचारियों के दुर्व्यवहार और कारावास आदि के कष्टो को सहन करने लगे, तो ज्यादातर लोग उसे सनकी या नासमझ ही मानने लगेंगे । वे यह कहेंगे कि–"बैठे-ठाले अपनी मर्जी से संकट, विपत्ति, बर्बादी बुलाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? हम किसी के साथ अन्याय न करें, कष्ट न पहुँचावें, अवसर पड़ने पर यथासम्भव सहायता भी कर दें इतना तो उचित है। इस प्रकार के आचरण को प्रशंसनीय माना जायेगा । यह जान-बूझकर, बिना किसी के लाभ की आशा के आपत्तियों में कूदना तो एक बहुत बड़ी गलती है ।"

पर इन बुद्धिमान सलाहकारों के होते हुए भी संसार में ऐसे लोग निकल आते हैं, जो पूर्ण सुख-सुविधा के जीवन को त्यागकर कठिनाई और संकटों के मार्ग को अपनाते हैं और उसी में अपने जीवन की सफलता मानते हैं । वैसे तो थोड़े बहुत अंशों में ऐसे आत्मदर्शी और समभावी सज्जन हमेशा ही होते रहते हैं, क्योंकि उनका सर्वथा अभाव हो जाय तो मानव-समाज का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जायेगा । पर कभी-कभी दैवी विधान के अनुकूल इस क्षेत्र में इतनी महान् और त्याग, तपस्या परमार्थ का चरम आदर्श उपस्थिति करने वाली आत्माओं का प्राकट्य होता है जिनके द्वारा एक तरह से संसार की कायापलट ही हो जाती है और मानवता को एक नये युग का मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है, ऐसे राजकीय वैभव को त्यागकर जगद्‌गुरु के महान उद्देश्य से अपने को पूरी तरह खपा देने वाले महामानवों में हम बुद्ध, भगीरथ, महावीर, अशोक, टालस्टाय, क्रोपाटिकन आदि का नाम ले सकते हैं । म० बहा की गिनती भी दैवी विभूति की इसी सर्वोच्च श्रेणी में की जानी चाहिए, क्योंकि उन्होंने केवल सत्य की खातिर ४० वर्ष तक कारागार में बन्द रहकर धर्म विरोधी राक्षसी प्रकृति के व्यक्तियों द्वारा घोर यंत्रणायें सहकर मानवता की आदर्श सेवा और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श के जीवित उदाहरण बनकर संसार के कोने-कोने में इसका प्रचार किया । किसी महासंकट काल में जो दैवी-विभूतियाँ संसार के शोक-सन्तापों को अपने ऊपर लेकर क्रियात्मक रूप से मनुष्यो के उद्धार का मार्ग प्रदर्शित करती हैं, ये चाहे दुनिया के किसी कोठी में रहने वाली और किसी भी जाति या वंश में उत्पन्न हुई हों, उनको गीता के कथनानुसार भगवान की विशिष्ट शक्ति ही मानना चाहिए । ऐसी ही महान् आत्माओं के लिए भगवान कृष्ण ने घोषणा की है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

"संसार में जब कभी अधर्म की वृद्धि होती है और धर्म की हानि होने लगती है उसी अवसर पर भगवान किसी रूप में प्रकट होकर उस दुरवस्था का सुधार करते हैं ।"

यह विचार करना कि भगवान का अवतार केवल भारतवर्ष में और वह भी किसी सनातन धर्मानुयायी के घर

में ही हो सकता है भगवान को एक देशव्यापी और महासंकीर्णतावादी बना देना है। क्या अन्य देशों के निवासी भगवान द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये हैं ? और क्या वे यह नहीं चाहते कि अन्य देशों के निवासी भी अध्यात्म मार्ग में अग्रसर होकर आत्म-दर्शन करें ? 'अवतार' 'मसीह' 'पैगम्बर' 'ईश्वरीयदूत' 'नवी' आदि अनेक शब्द विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों में एक ही भाव को प्रदर्शित करने के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं। हमारे पुराणों में जगह-जगह 'पूर्णावतार' 'अंशावतार' 'युगावतार' आदि का जो उल्लेख मिलता है, वह इसी दृष्टिकोण से किया गया है। 'गीता' के दसवें अध्याय में तो भगवान ने एक श्लोक में ही इस समस्या को हल कर दिया है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश संभवम् ।। ४१

अर्थात्—"हे अर्जुन ! संसार में जो कुछ विभूतियुक्त (ऐश्वर्ययुक्त) कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान।"

तात्पर्य यही है कि भगवान का लक्ष्य केवल किसी एक देश या विशेष जाति के लोगों को ही आत्मोत्थान (स्वर्ग, मुक्ति आदि) का अधिकारी बनाना नहीं है, वरन् जब मनुष्य मात्र उन्हीं से उत्पन्न होते हैं तो निश्चय ही वे सबका उद्धार करके उनको सर्वोच्च गति तक पहुँचाना चाहेंगे। इसलिये वे विभिन्न देशों और जातियों में वहाँ के समाज, सभ्यता, संस्कृति के अनुरूप अवतार लेते हैं और लोगों को आध्यात्मिक क्षेत्रों में प्रगति करने की शिक्षा देते हैं। इसलिए हमको किसी भी सच्चे सन्त, महात्मा की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये चाहे वह किसी भी देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय का क्यों न हो। न्यायकारी भगवान की दृष्टि में सभी उत्तम कर्म करने वाले मनुष्य मात्र की सेवा में अपने को अर्पित करने वाले, इसके लिए हर प्रकार के कष्टों को सहन करने वाले ही सच्चे भक्त माने जाते है और उन्हीं को प्रभु का सान्निध्य प्राप्त होता है।

आरम्भिक जीवन

बहाई समाज के संस्थापक पवित्रात्मा बहा (भाः) (जन्म १२ नवम्बर १८१७) एक अत्यन्त प्राचीन प्रतिष्ठित वंश में हुआ था। उनके पूर्वज किसी समय पारसी थे, पर अरब आक्रमणकारियों ने जब ईरान पर अधिकार कर लिया तो उनको जबर्दस्ती इस्लाम धर्म में दीक्षित कर लिया गया। उनका घराना धन-जन से भरा-पूरा था। उनके पितामह ईरान के बड़े बजीर थे और पिता मन्त्री के पद पर कार्य करते थे। माता-पिता का प्रेम-परिवार वालो का स्नेह, रंग-रूप, प्रतिभा, विद्या सभी कुछ उनको पूरी मात्रा में प्राप्त हुआ था। उनका विवाह अपने देश के एक बड़े सरदार की पुत्री से हुआ था और उनकी पत्नी अपूर्व सुन्दरी और पतिव्रता थी। उनका आरम्भिक पचीस वर्ष तक का समय भी अपने घर में बड़े आदमियों के रहन-सहन के अनुसार व्यतीत हुआ था। पर उस समय भी उनकी स्वाभाविक उदारता और परोपकार की भावना बराबर प्रकट होती रहती थी। किसी भी याचक को विमुक नहीं लौटाते थे। उनका द्वार सदैव अतिथियों के लिए खुला रहता था और इसलिए मेहमानों की भी भीड़ हमेशा बनी ही रहती थी। उनके परिवार के मित्र और शुभचिन्तक उनको समझाते थे कि "इस तरह धन को लुटाकर तुम स्वयं एक दिन इसी तरह कंगाल बन जाओगे। इसलिये अपनी सम्पत्ति को समझ बूझकर खर्च करो।" किन्तु महात्मा बहा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उनके पिता का देहान्त हो जाने पर राज्य की प्रथा के अनुसार उनको अपने पिता का पद दिये जाने का प्रस्ताव किया गया तो उसको भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। यह देखकर अनजान लोग तो उनकी गलती बतलाने लगे पर समझदारों ने कहा—"यह व्यक्ति दूसरे लोक का है। इसके जीवन का कोई महान् उद्‌देश्य है जो आज तो साफ-साफ प्रकट नहीं हो रहा है पर एक दिन यह दुनियाभर को स्पष्ट दिखाई देने लगेगा।"

महात्मा बाब से सम्पर्क

इस अवसर पर ईरान में एक महान् आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय वहाँ की परिस्थितियाँ बहुत दूषित हो गई थीं। राजकीय भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया था वहाँ के शाह ऐश आराम में मस्त रहते थे और प्रजा की भलाई-बुराई पर जरा भी ध्यान न देकर अपनी रंगरेलियों में पानी की तरह रुपया बहाते थे। वे अपने चाहे जिस सरदार मन्त्री या देश के प्रमुख व्यक्ति के आज्ञापत्र भेज देते थे कि अमुक दिन इतना रुपया सरकारी खजाने में जमा कर दो। जो ऐसा न करता उसे राजाज्ञा का उल्लंघनकारी और विद्रोही समझा जाता और फिर उसका घर परिवार ही नहीं लूट लिया जाता वरन् घर के लोगों को भी बिना किसी प्रकार के मुकद्‌मे में जेल में ठूँस दिया जाता। महात्मा बहा के पिता से भी दो बार इसी तरह बड़ी-बड़ी रकमें वसूल की गई थीं। तीसरी बार जब उनकी शक्ति से बाहर धन-राशि माँगी गई तो वे बड़ी आपत्ति में फँस गये, जिससे अत्यन्त कठिनाई से उद्धार हो सका। यह स्पष्ट था कि जब राजा की यह दशा थी तो उसके कर्मचारी कहाँ ईमानदार रह

सकते थे, वे भी खुले तौर पर प्रजा का शोषण करते थे, जिससे सर्वसाधारण की दशा बड़ी ही कष्टपूर्ण हो गई थी।

एक तरफ राजतन्त्र इस प्रकार अन्याय-युक्त बन गया था, तो दूसरी ओर धर्म-तन्त्र भी भ्रष्ट हो चुका था । मुल्ला, मौलवी, इस्लाम की भ्रातृभाव युक्त दिशाओं का प्रचार करने के बजाय कट्टरता और अन्धविश्वासों को बढ़ावा दे रहे थे और उन्हीं के बल पर निकम्मे रहकर भी आराम का जीवन बिता रहे थे । समाज और धर्म की यह दुर्दशा कुछ सच्ची आत्माओं को चुभने लगी और उनमें से सैयद अली मुहम्मद जो इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब के वंश में से थे, इसके विरुद्ध खड़े हुए और सन् १८४४ में उन्होंने एक मानवतावादी समाज की स्थापना की कि "वर्तमान अन्यायपूर्ण दुर्दशा को मिटाना ही उनका जीवनोद्देश्य है, भगवान ने उनको इसी कार्य के लिए पृथ्वी पर भेजा है ।" यद्यपि मुसलमानी शासन में इस प्रकार का दावा करना बड़ा खतरनाक था, पर सैयद अली मुहम्मद ने जो उस समय केवल २५ वर्ष के युवक ही थे, किसी महान् दैवी प्रेरणा से यह निश्चय कर डाला और 'बाब' नाम धारण करके अपने अनुयायियों में इसकी घोषणा कर दी तथा तदनुसार कार्यारम्भ कर दिया। उन्होंने अपने १८ 'शिष्यों' को ईरान व तुर्किस्तान के विभिन्न भागों में इस घोषणा को फैलाने के लिये भेजा और खुद मक्का की यात्रा को चले । वहाँ उन्होंने संसार भर के मुसलमानों के सामने जो हज करने आये थे अपने कर्तव्य और कार्यक्रम की स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी । इससे समस्त ईरान में बड़ी उत्तेजना फैल गई । एक तरफ तो मानवतावादी नवयुग लाने वाले सिद्धान्तों के श्रद्धालु उनके अनुयायी बन जाते थे और दूसरी तरफ कट्टरपंथी लोग ईरान के शासक को उकसाने लगे कि वह इस नवीन विचारधारा को तुरन्त दबा दे । फलस्वरूप कुछ ही दिनों में 'बाब' को कैद कर दिया गया और छः वर्ष तक उनको कारागार तथा कठोर व्यवहार आदि की अनेक यातनाएँ दी गईं । अन्त में ९ जुलाई १८५० को उन्हें एक सार्वजनिक स्थान में गोलियों से उड़ा दिया गया ।

पवित्रात्मा बहा का आत्म-त्याग

'बाब' की प्रथम घोषणा को सुनते ही महात्मा बहा उनके अनुयायी बन गये थे और इन छः वर्षों में अपनी पूरी शक्ति से इस नवयुग लाने वाली दैवी योजना की पूर्ति में संलग्न थे । उनकी स्थिति वहाँ के समाज में बहुत ऊँची थी और आर्थिक साधन भी बढ़े-चढ़े थे इससे वे इस आपत्ति काल में हजारों 'बाबियों' की सहायता और रक्षा कर सके। उनको इस कार्य में धर्मान्ध लोगों और सरकारी कर्मचारियों का घोर दुर्व्यवहार सहन करना पड़ा । अदालत में बाबियों की पैरवी करते हुए उनको भी दो बार जेलखाने में भेज दिया गया ।

सन् १८५० में जब 'बाब' को मृत्युदण्ड दिये जाने पर उनकी वसीयत के अनुसार महात्मा बहा को बाबी समाज का प्रमुख नेता बना दिया गया तो उनका उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया और कदम-कदम पर प्राणसंकट भी जान पड़ने लगा । क्योंकि उस समय सरकारी नीति के कारण 'बाबियों' के प्राणों का कोई मूल्य नहीं था । उनके विरोधी उनको चाहे जैसे मारते-काटते, लूटते सरकारी कर्मचारियों को इसकी कुछ भी परवाह न थी । उलटा समय-समय पर वे इसके लिये दुष्ट अत्याचारियों को उकसाते भी थे, क्योंकि वे चाहते थे कि किसी प्रकार इसी समाज का मूलोच्छेद हो जाय । कुछ यूरोपियन लेखकों के लेखों से हमको विदित होता है कि उस समय बाबी-समाज को एक दृष्टि से राजद्रोही करार दे दिया गया था इसलिए कैसे भी अत्याचार करके उसे विनष्ट कर देने के लिये सरकार और उसके पक्षपातियों ने कमर कस ली थी । दूसरी तरफ मुल्ला उनकी धार्मिक-स्वतन्त्रता को देखकर जल रहे थे, इस प्रकार दो पाटों के बीच में बाबी अत्यन्त क्रूरता के साथ पीसे जा रहे थे ।

अत्याचार की पराकाष्ठा

सन् १८५२ में एक ऐसी घटना हो गई जिसमें बाबी दमन के कार्यक्रम ने तूफानी रूप धारण कर लिया । सादिक नाम महात्मा बाब के एक युवक शिष्य की मानसिक दशा अपने गुरु की दर्दनाक मृत्यु देखकर इतनी बेकाबू हो गई थी कि अन्त में उसने बदला लेने के लिए ईरान के शाह को मारने के लिए आक्रमण कर दिया । जिस समय शाह घोड़े पर सवार होकर घूमने जा रहा था, सादिक ने बिना कुछ सोचे-विचारे एक छर्रे वाली बन्दूक से बिल्कुल पास जाकर 'फायर' कर दिया । वह बन्दूक छोटे जानवरों का शिकार करने वाली थी इससे शाह को थोड़ी-सी ही चोट लग सकी । उसने उसी समय आदेश दिया कि सभी 'बाबियों' को इसका जिम्मेदार समझकर सजा दी जाय । सादिक को तो वहीं टुकड़े-टुकड़े कर दिया और तेहरान में ८० बाबियों को जिनको इस घटना का पता भी न था कत्ल कर दिया गया। अन्य स्थानों में सैकड़ों बाबी पकड़कर जेलों में ठूँस दिये गये और उन पर अमानुषिक अत्याचार किये जाने लगे । महात्मा बहा को भी उनके देहाती निवास गृह में पकड़ लिया

गया और खूब मार पीटकर कारागार में बन्द कर दिया गया। पहले उनके पैरों के तलवों को बेतों और बाँस की खपचियों से खूब पीटा गया और जब वे लोहू लुहान हो गये तो उनको पैदल चलाया गया, जिससे उनको असीम यन्त्रणा होती थी । फिर भी उन्होंने कोई न तो दुःख का भाव प्रकट किया और न किसी से शिकायत की ।

जेल के भीतर उनको भारी जंजीरों से कसकर काल कोठरी में डाल दिया गया । उसी जंजीर में और भी पाँच बाबी बँधे हुए थे । जब इनमें एक भी हिलता था तो जंजीर के खिंचने से सबके पैरों के घावों में रगड़ लगती थी । अधिकारियों ने उनके भोजन की व्यवस्था नहीं की थी । इसलिए उनकी पत्नी असियिह खानुम अधिक रात बीत जाने पर या बहुत सबेरे जब सड़कों पर कोई आदमी नहीं होता था खाना बनाकर पहुँचा आती थी । दिन में उन्हें बाहर निकलने में प्राणों का खतरा था, क्योंकि एक विद्रोही की पत्नी की हैसियत से उनको कोई भी किसी समय मार सकता था । उनकी सब सम्पत्ति तो उपद्रवियों ने महात्मा बहा के गिरफ्तार होते ही लूट ली थी और इन सबके प्राण भी कठिनाई से छुपकर बचे थे ।

जेलखाने में जो बाबी बन्द थे उनकी बड़ी क्रूरतापूर्ण ढंग से हत्या की जा रही थी । उस भयंकरता का वर्णन करते हुए एक लेखक ने बताया है कि "प्रतिदिन प्रातःकाल एक दो बाबियों को जेलखाने से खींचकर बाहर ले जाया जाता था और जल्लाद को सौंपने के पूर्व उन्हें शहर के किसी दुष्ट मनुष्य के सुपुर्द कर दिया जाता था ताकि वह अपनी रुचि के अनुसार उसे अधिक से अधिक यातना पहुँचा सके । लोहार अपनी गर्म शलाकों से बाबी को दाग देता था, कसाई छुरी से उनकी बोटियाँ काट लेता था । कभी-कभी तो किसी बाबी को बाँधकर उसकी छाती में मोमबत्ती जाने लायक छेद कर दिया जाता था और उसमें जलती हुई मोमबत्ती जमा दी जाती थी । जब यह मोमबत्ती जलती हुई पसलियों तक पहुँच जाती थी तो उसे असह्य पीड़ा देकर मार डालती थी इतनी भयानक यातनाओं के बाद भी यदि कोई जीवित रह जाता था तो उसे जल्लाद को सौंप दिया जाता और वह एक ही बार में धड़ से सर अलग कर देता था ।"

पर जैसे-जैसे अत्याचार करने वाले राक्षसों की क्रूरता बढ़ती जाती थी वैसे ही जेल के अन्दर बाबियों का साहस भी बढ़ रहा था । उनकी सहन-शक्ति बराबर अधिक हो रही थी और वे दिन-रात भगवान से प्रार्थना करने में समय को व्यतीत कर देते थे । उनकी सामूहिक प्रार्थनाओं का स्वर निरन्तर कारावास के वातावरण में तैरता रहता था और इस भक्तिभाव से आत्म-विभोर होकर ही वे अमानुषिक पीड़ाओं को भी शान्तिपूर्वक सहन कर लेते थे ।

देश निकाले का दण्ड

इस राक्षसी लीला को होते जब चार महीना बीत गये तो एक दिन महात्मा बहा को भी जेलखाने से खींचकर एक ऐसी अदालत के सामने ले गये जहाँ उनको प्राणदण्ड देने का निश्चय पहले ही किया जा चुका था उसी अवसर पर महात्मा बहा के चाचा ने रूसी राजदूत के पास जाकर जिससे उनकी मित्रता थी, इसकी खबर दी । राजदूत पहले ही सब बातें सुन चुका था और उसको विश्वास था कि इस मामले में उनको झूँठ-मूठ फँसाया गया है । इसलिये वह फौरन अदालत पहुँचा और जैसे ही अदालत महात्मा बहा को मृत्युदण्ड का आदेश सुनाने वाली थी । उसने कहा-"मेरी बात सुनिये, मेरे पास आपको सुनाने के लिये एक बड़ा ही महत्वपूर्ण आवश्यक संदेश है ।"

जब कि अदालत के अधिकारी हक्का-बक्का होकर राजदूत की तरफ देख रहे थे उसने गम्भीरतापूर्वक कहा--"क्या आप अभी तक जरूरत से ज्यादा निर्दयता नहीं कर चुके हैं ? क्या आपने इन निरीह और निर्दोषों में से अनेकों को पहले ही मौत के घाट नहीं उतार दिया है ? क्या आपकी खून की प्यास को शान्त करने को पहले ही खून खराबी नहीं हो चुकी है ? आप कैसे कह सकते हैं कि इस महापुरुष ने शाह को गोली मारने की मूर्खतापूर्ण साजिश की थी ? आप लोग जानते हैं कि उस बन्दूक से जिससे उस दुःखी युवक ने शाह पर गोली चलाई थी, एक छोटी चिड़ियाँ भी नहीं मारी जा सकती । कुछ भी हो अब और अधिक अत्याचार नहीं होने चाहिये । इस निरपराध महापुरुष की रक्षा के लिए मैंने अपने देश की सहायता लेने का निश्चय कर लिया है। इसलिये मैं आप लोगों को सावधान करता हूँ कि आज और इस समय के बाद इस राजपुत्र का यदि बाल भी बाँका हुआ तो इस अपराध की सजा आपके शहर में खून की नदियाँ बहा दी जायेगी । आप मेरी बात को जान ले कि मेरे विरुद्ध अगर आपने कुछ भी किया तो आपके लिए वह कभी उचित न हो सकेगा ?"

रूसी राजदूत के न्यायपूर्ण कथन की अवहेलना तेहरान का गवर्नर नहीं कर सका और उसने महात्मा बहा को मौत के बजाय देश निकाले का दण्ड दिया कि वे ईरान को छोड़कर (इराक) में जाकर रहें । तैयारी के लिए केवल दस दिन का समय दिया गया । महात्मा बहा प्रभु की इस आकस्मिक कृपा से फाँसी के तख्ते से बचकर जीवित घर

लौट आये, पर वे जेल की तकलीफों से बहुत दुर्बल और कमजोर हो गये थे। सब लोग यह चिन्ता कर रहे थे कि ये इतना लम्बा और कठिन सफर कैसे करेंगे ? फिर भी सरकारी हुक्म के अनुसार जो कुछ बन पड़ा इंतजाम कर के चल दिये। वह सर्दियों का मध्यकाल था और मार्ग में बर्फ बिछी हुई थी। इन लोगों के पास पूरे वस्त्र और साधन भी न थे। तब भी सब नियत समय से चल पड़े। सबसे छोटे पुत्र को जिसकी आयु केवल दो वर्ष थी रास्ते की कठिनाइयों का ख्याल करके एक बुड्ढी नानी के पास छोड़ दिया गया। इस यात्रा में महात्मा बहा तो कमजोरी के कारण अपने को सम्भाल भी मुश्किल से सकते थे। इसलिये सारा भार उनकी पत्नी असियिह खानुम पर था। वह एक बड़े घर की नवयुवती थी जिसे सदा महलों के भीतर रहने का ही अभ्यास था। पर इस यात्रा में वह आँधी, वर्षा, हिमपात का मुकाबला करते इस प्रकार चल रही थी मानों उस पर थकान तथा तकलीफों का कुछ असर ही नहीं होता। बोझा को उठाकर चलते हुए उनकी बाँहें लाल हो जाती थीं और दर्द करने लगती थीं, तब भी वह हँसती हुई सबकी खबर सुध लेती हीं राह चल रही थी।

दो वर्ष का एकान्त वास

बगदाद पहुँचने पर महात्मा बहा और उनके परिवार को दो कमरों का एक छोटा-सा मकान दिया गया, जिसमें इतने व्यक्ति कठिनाई से गुजर कर सकते थे। असियिह खानुम का स्वास्थ्य यद्यपि मार्ग के कष्टों से बहुत गिर गया था तो भी बगदाद में उन्हीं को अपने परिवार तथा सब साथियों का भोजन बनाना पड़ता था। महात्मा बहा इस यात्रा में कुछ खा पी न सके और उनको बीमार के उपयुक्त भोजन का अभाव होने के कारण प्रायः उपवास ही करना पड़ता था, इसलिये वह पहले से भी अधिक कमजोर और क्षीण हो गये थे। पर इसकी चिन्ता न करके बगदाद में पहुँचने के कुछ दिन बाद ही उन्होंने अपना ध्यान बाबी समाज के संरक्षण और संगठन की तरफ लगाया। इससे अवस्था कुछ सुधरने लगी और भक्तों और अनुयायियो के हृदय में सुख और शान्ति का अनुभव होने लगा।

इसी समय उनका सौतेला भाई मिर्जा याह्या वहाँ आ पहुँचा। महात्मा बहा का प्रभाव और सम्मान देखकर उसके हृदय में बड़ी ईर्ष्या हो रही थी और वह भीतर ही भीतर उनको अपदस्थ करके स्वयं बाबी समाज का नेता बन जाने का षड्यन्त्र रचने लगा। यद्यपि वह भी आरम्भ में महात्मा बाब का शिष्य बन चुका था पर जब-जब बाबियों पर दमन चक्र चला तब-तब सत्य-विश्वासों का समर्थन करने और उनके लिये कष्ट सहने के बजाय वह किसी गुप्त स्थान में भागकर अपनी जान बचाता फिरता था। अब जब कि महात्मा बहा मौत के मुँह में से निकलकर समाज का पुनर्निर्माण करने लगे तो वह यहाँ आकर भी अपनी कुटिल नीति से बाबी लोगों में फूट फैलाने लगा। महात्मा बहा को यह हर्गिज अभीष्ट न था की बाह्य प्रभाव या सम्मान की खातिर अपने दल में मतभेद और वैमनस्य का भाव उत्पन्न हो। इसलिये वे एक दिन एक जोड़ा कपड़ा लेकर बिना किसी को कुछ बतलाये किसी अज्ञात स्थान की ओर रवाना हो गये। वे अकेले ही बगदाद से काफी दूर कुर्दिस्तान के सुलेमानियाँ पर्वत पर जाकर निवास करने लगे। कई-कई रातों उनको भोजन नहीं मिल पाता, और अन्य कई तरह की परेशानियों के कारण भी अच्छी तरह आराम भी नहीं कर पाते। पर इस एकान्त में उनको प्रभु का चिन्तन करने और अपनी आत्मा से बातें करने का पूरा अवसर मिला। इस समय का हाल उन्होंने एक स्थान में स्वयं इस प्रकार लिखा है—

"हमने उस भूमि पर पहुँचते ही आगे शीघ्र ही होने वाली घटनाओं का अनुमान कर लिया और हमारे रहने से कुछ अनुचित घटना न हो जाय उसके पहले ही एकान्तवास का निर्णय कर लिया हम वन की ओर चल दिये और वहाँ सम्पूर्ण एकान्त में दो वर्ष बिताये। इस समय में लगातार आपत्तियों के होते हुए भी हमारी आत्मा अत्यन्त प्रसन्न रही और एक असीम आनन्द का अनुभव किया, क्योंकि उस एकान्त में हमें किसी के स्वास्थ्य या रोग लाभ या हानि की खबर भी न थी। हमने अकेले ही दुनिया और उसकी वस्तुओं को भुलाकर स्वयं अपनी आत्मा से ही सम्बन्ध रखा। फिर भी इस विषय में प्रत्येक मनुष्य ने अपनी अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न मत और आशय प्रकट किये, अन्त मे हमको ईश्वर की ओर से लौट आने की आज्ञा मिली। हमने उसका पालन किया और लौट आये। लौट आने पर हमें जो भुगतना पड़ा लेखनी उसे लिख नहीं सकती। सभी जानते हैं कि दो वर्ष से शत्रुभाव रखने वाले इस विनम्र सेवक के विनाश का पूरा प्रयत्न और लगातार कोशिशे करते रहे थे।"

एकान्तवास से वापस आने के बाद उनकी कीर्ति पहले से भी अधिक फैल गई और केवल ईरान के निवासी ही नहीं, यहूदी, ईसाई और जरथोस्ती (पारसी) भी दूर-दूर से उनकी शिक्षाओं को सुनने के लिए बगदाद आने लगे। बगदाद के सरकारी अधिकारियों पर भी उनकी श्रेष्ठता का प्रभाव पड़ा और वे उनको सम्मान की दृष्टि से देखते रहे। पर उनके विरोधी मुल्ला अब भी उनके पीछे पड़े थे।

सन्देश भिजवाया
धर्म को पहले से भी
ईरान पर बहुत बुरा
किसी दूरवर्ती
अनपढ़ लोगों को
जब वे सड़क पर
कहा । महात्मा
को देखते निडर
कि वे क्या चाहते
लगते जिसमें
दुष्ट-योजना
। यह देखकर उस
लालच देकर महात्मा
। रिंदा अवसर
एक सार्वजनिक
जाया करते थे ।
तो उसे अनुभव
है ।

से बहुत आग्रह
आने का
में बड़ी हलचल
की संख्या में घेर
नगर के बाहर
पड़ा ताकि इतने
हुए शिष्यों
महात्मा बाव ने
की थी वह
से समस्त
से इसका नाम
बहाई समाज में
के नाम से
उत्सव

ने बगदाद छोड़
रिस नदी के तट
अपार जनसमूह
भी था ।
श्री ईसेली

टिगरिस नदी के तट पर जनता उनके साथ आई । श्री रामचन्द्रजी की विदाई की घटना मानों सरयू तीर पर नहीं वरन् दूर ईराक मे टिगरिस नदी के किनारे फिर से दुहराई जा रही थी। लोग प्रेम विह्वल हो उनके चारों तरफ उमड़ आये । हर एक की साध थी कि उनका दर्शन जी भर के कर लें । उनके समीप रहने की सुखमय अनुभूति वे एक क्षण के लिये भी छोड़ना नहीं चाहते थे । लोग अपने को उनके सामने गिरा देते थे जिससे कदाचित् उनका चरण स्पर्श उनको हो जाय । अन्त में वह समय भी आया जब नाव तैयार हो गई और केवट ने उसे टिगरिस की धारा में छोड़ दिया । नाव आँखों से ज्यों-ज्यों ओझल होती जाती थी लोगों की आँखों से त्यों-त्यों आँसुओं की धारायें भी बढ़ती जाती थीं ।"

कुस्तुन्तुनिया में महात्मा बहा को एक छोटे से विश्राम घर में ठहराया गया जो इतने आदमियों के लिये बहुत तंग पड़ता था उनके पुत्र अब्दुल बहा ने जो अब लगभग बीस वर्ष के हो चुके थे, यहाँ के गवर्नर से एक मकान देने को कहा । इस पर एक और मकान दे दिया गया । महात्मा बहा ने मिर्जा याह्या और उसके परिवार को भी उसी में बुला लिया ।

कुस्तुन्तुनिया में ईरान सरकार का सलाहकार राजदूत उनके पारमार्थिक जीवन को देखकर उनका भक्त बन गया और उसने सलाह दी कि वह एक दो बार यहाँ की अदालत में पधारकर अधिकारियों से मिलें तो उनके रहने-सहने की सुविधा में बहुत सुधार हो सकेगा । पर महात्मा बहा ने उत्तर दिया--"मुझे कोई इच्छा नहीं है कि उनसे किसी बात का अनुरोध करूँ । मै सुल्तान का आदेश पाकर यहाँ आया हूँ और वह जो कुछ भी नया आदेश भेजेगा उसे मानने को तैयार हूँ । मेरा काम इस दुनिया का नहीं है । वह कार्य किसी अन्य स्थान का है जो इस धरती से बहुत दूर है । फिर इन लोगों से मैं क्यों दया की माँग करूँ ।" सचमुच दैवी मार्ग के पथिकों के लिए पार्थिव सुख-सुविधाओं का मूल्य अत्यल्प होता है और वे उनके लिए कभी चिन्तित नहीं होते । उनका विश्वास होता है कि संसार की संचालक शक्ति एवं उनके योग-क्षेम की खबर लेती रहती है ।

कुस्तुन्तुनिया में चार महीने रहने के पश्चात् इनको एड्रियानोपल भेज दिया गया । इस यात्रा में इनको अभूतपूर्व कष्ट सहन करना पड़ा, क्योंकि बर्फ पड़ रही थी उनके पास न पूरा कपड़ा था न खाने के लिये पौष्टिक खुराक । ठण्ड इतनी अधिक थी कि सोतों से पीने का पानी लेने के लिये एक दो घण्टे तक आग जलाकर बरफ को पिघलाना पड़ता था । एड्रियानोपल टर्की के सबसे दूर के कोने में बसा एक

जेल के द्वार खुल गये

महात्मा बहा को कारागार में रखे जाने का जो आज्ञापत्र टर्की के सुल्तान अब्दुल अजीज ने निकाला था वह कभी रद्द किया या बदला नहीं गया, पर पाँच सात वर्ष बाद ऐसी अवस्था हो गई कि सब प्रकार के प्रतिबन्ध अपने आप समाप्त हो गये । एक दिन बात-चीत में उनके मुँह से निकल गया—"नौ वर्ष से मैंने हरियाली देखी नहीं । ग्राम आत्मिक संसार के समान है और नगर दैहिक संसार की तरह ।" यह सुनकर उनके पुत्र अब्दुल बहा ने समझा कि वे किसी ग्रामीण ढंग के स्थान में रहना अधिक पसन्द करते हैं । इस पर उन्होंने प्रयत्न करके अक्का नगर से बाहर एक पाशा (सरदार) की कोठी और बगीचों को किराये पर ले लिया और उसे साफ करके महात्मा बहा से उसमें चलकर रहने की प्रार्थना की । पर उन्होंने कहा कि मैं कैदी हूँ, नगर के बाहर नहीं जा सकता । अब्दुल ने बहा से तीन बार प्रार्थना की पर तीनों ही बार इन्कार कर दिया, जिससे अधिक कहने का उनको साहस नहीं हुआ । अन्त में इस समस्या को हल करने के लिए उनको एक अन्य भक्त द्वारा बहुत अधिक प्रार्थना करानी पड़ी, तब कहीं वे वहाँ रहे ।

दो वर्ष तक इस बाग में रहने के बाद अक्का के पास ही बाहजी नामक स्वच्छ सुन्दर बस्ती में एक बहुत अच्छा मकान नाममात्र के किराये पर मिल गया । बात यह हुई कि वहाँ भयंकर बीमारी का प्रकोप हो गया । उस घर का स्वामी डर के मारे अपने परिवार के साथ कहीं दूर भाग गया और चाहता था कि कोई बिना किराया दिये भी उसके मकान में रहा करें जिससे उसके घर की देखभाल होती रहे । श्री अब्दुल बहा ने उसी में महात्मा बहा के रहने की व्यवस्था कर दी, तब से सबको उनसे मिलने और दर्शन करने की सुविधा हो गई ।

महात्मा बहा ने अपने आन्तरिक सद्व्यवहार और दैवी-प्रेम के प्रभाव से लोगों को ऐसा वशीभूत कर लिया था कि अब बड़े-बड़े शासक और अधिकारी उनका सम्मान करने लगे थे । यहाँ तक कि गवर्नर और बड़े जनरल भी भेंट करने के लिए बार-बार प्रार्थना करते थे, जिनको बहुत कम स्वीकार किया जाता था । एक बार नगर के प्रधान शासक ने ऐसी ही प्रार्थना की और कहा कि उसको उच्च अधिकारियों ने आदेश दिया है कि वह एक फौजी जनरल को साथ लेकर उस ईश्वरीय महापुरुष के दर्शन करे । यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गई । उसका साथी जनरल, जो एक स्थूल आकार का योरोपियन था, उनके दर्शन से इतना प्रभावित हुआ कि द्वार लाँघते ही घुटनों के बल जमीन पर बैठा ही रह गया। इन दोनों दर्शकों की ऐसी दशा हुई और वे अन्त तक ऐसे विनम्र भाव से हाथ जोड़े बैठे रहे कि अन्य देखने वाले विस्मित रह गये ।

वास्तव में दैवी प्रभाव या आध्यात्मिक शक्ति की महिमा अनिर्वचनीय है । दो स्वेच्छाचारी और पाशविक शक्ति सम्पन्न सम्राट उनके विरोधी थे और उन्होंने उनको कारावास का दण्ड दे रखा था । पर जब संसार में ईश्वरीय सन्देश के प्रचार का समय आया तो सब बन्धन अपने आप समाप्त हो गये । योरोपीय देशों में अनेक सत्ताधारी अपने आप उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये अक्का आने लगे । उस समय मालूम होता था कि महात्मा बहा कैदी नहीं वरन् राजाओं के भी राजा हैं । वे वहीं से बड़े-बड़े देशों के सम्राटों के नाम जो शिक्षा-पत्र भेजा करते थे उनका महारानी विक्टोरिया और अन्य कई प्रमुख शासकों की तरफ से बड़े सम्मानयुक्त शब्दों में उत्तर मिला था । इसके बाद वे बहाजी में राजाओं के समान गौरवपूर्ण स्थिति में ही रहे और कभी चर्चा चलने पर भी कह देते थे कि 'इतना दुःखपूर्ण कारावास निश्चय ही अदन के स्वर्ग में बदल गया है ।' सन् १८९० में इंगलैंड के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० एडवर्ड जी० ब्राउन उनसे मिलने आये थे । उन्होंने अपनी भेंट का जो वर्णन किया है उससे महात्मा बहा के विश्वव्यापी प्रभाव पर कुछ प्रकाश पड़ता है । प्रो० ब्राउन कहते हैं—

"मेरा पथ प्रदर्शक जरा ठहरा और मैंने बूट उतार लिये । फिर झट से हाथ का संकेत देकर उसने पर्दा हटाया और मैंने जैसे ही प्रवेश किया उसने पर्दा गिरा दिया । मैं एक बड़े कमरे में था जिसके ऊपर के भाग में एक मसन्द था और द्वार के समीप दो तीन कुर्सियाँ पड़ी थीं दो या तीन क्षण बीते होंगे कि मेरा हृदय भय और विस्मय से धड़कने लगा, मुझे अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि कमरा खाली नहीं है । मैंने कमरे के एक कौने में दीवार के साथ मसन्द पर बैठे हुए एक अद्भुत और आदरणीय व्यक्ति को देखा । उनके मस्तक पर एक ऊँची टोपी थी और उस पर नीचे की तरफ और इर्द-गिर्द एक छोटी-सी सफेद पगड़ी लपेटी हुई थी । उस चेहरे की जिस पर मेरी दृष्टि पड़ रही थी, मैं कभी भूल नहीं सकता । यद्यपि उसका वर्णन कर सकना मेरी शक्ति से बाहर है । वह चमकती हुई तेज आँखें मनुष्य के हृदय के भाव को आर-पार पढ़ लेती थीं, प्रशस्त ललाट जिससे शक्ति और तेज टपकता था और उनके चेहरे तथा माथे पर की झुर्रियाँ जिस अवस्था को प्रकट कर रही थीं

उसे उनके घने काले बाल और कमर तक लम्बी और खूब भरी हुई दाढ़ी दोनों मिलकर झुठला रहे थे कहने की आवश्यकता नहीं मैं किसके सामने खड़ा था । मेरा उस सिर व्यक्ति के आगे झुका हुआ था जो लोगों की उस भक्ति और सम्मान का पात्र था जिसके लिये सम्राट भी तरसते थे।"

एक मधुर और गम्भीर प्रभावशाली ध्वनि ने मुझे बैठने की आज्ञा दी और कहा— "ईश्वर का धन्यवाद है कि तुम्हें प्राप्त हुआ । तुम एक कैदी और निर्वासित से मिलने आये हो । हम संसार भर के कल्याण और मनुष्य मात्र के सुख के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते हैं तो भी लोग समझते हैं कि झगड़े और बगावत फैलाते हैं, इसलिये कारावास और निर्वासन के अधिकारी हैं । सब जातियाँ एक ईश्वर पर विश्वास लायें, सब लोग एक दूसरे को भाई समझें, मनुष्य मात्र में एकता और प्रेम बन्धन सुदृढ़ हो जाये, जातियों का भेद-भाव दूर हो जाये, मतमतान्तरों के झगड़े रुक जायें, जातियों का मतभेद दूर हो जाय भला इसमें क्या हानि है ? और अवश्य यही होकर रहेगा । यह स्वार्थ के झगड़े-बखेड़े और यह विनाशकारी युद्ध अवश्य बन्द होंगे और पूर्ण शांति संसार में स्थापित हो जायगी । क्या योरोप में भी यही बात आप लोगों को अभीष्ट नहीं ? क्या मसीह ने यही भविष्य वाणी नहीं की थी । तो भी तुम्हारे राजा और शासकगण अपने कोप को मानवजाति का सत्यानाश करने में खर्च कर रहे हैं, उसके कल्याण या सुख के लिए नहीं । यह झगड़े यह रक्तपात और तमाम भेदभाव अवश्य रुकना चाहिए । सभी मनुष्य एक सम्बन्ध और परिवार में आने चाहिये । मनुष्य को इस बात का गर्व नहीं करना चाहिये कि वह अपनी जाति या देश का भक्त है, बल्कि उसको इस बात का गर्व होना चाहिये कि वह समस्त मानव जाति से प्रेम करता है ।"

पवित्रात्मा बहा की शिक्षायें

इस प्रकार महात्मा अपने जीवन के अन्तिम समय (२९ मई १८९२) तक अपने अनुयायियों तथा संसार के अन्य सभी मनुष्यों को भी विश्व बन्धुत्व, विश्व-शान्ति, विश्व-एकता की शिक्षा देते हुए मनुष्यों को आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का सन्देश सुनाते रहे । उनके उपदेशों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनमें सांसारिकता और आध्यात्मिकता का अपूर्व ढंग से समन्वय किया गया था । महात्मा बहा ने अपने प्रत्येक अनुयायी को विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की आज्ञा दी और पुरोहिताई का कार्य एक पेशे की तरह करना बिल्कुल बन्द कर दिया। वे नहीं चाहते थे कि मनुष्य धर्म के नाम पर निकम्मा जीवन बिताये और दूसरों पर भार स्वरूप बने ।

धर्म को सभ्यता और शान्ति का आधार बनाया जाय

महात्मा बहा का कथन था कि धर्म मनुष्य की उन्नति और कल्याण का सबसे बड़ा साधन है । जो धर्म पालन द्वारा विश्व का अच्छा नागरिक और दूसरों का हित साधन करने वाला नहीं बनता । तो समझना चाहिये कि उसने धर्म का जो स्वरूप समझा है उसमें कोई भूल है । धर्म का पहला शुभ परिणाम महात्मा बहा ने अपना और समस्त मनुष्यों का कल्याण ही बतलाया है । उन्होंने घोषणा की है—

"संसार के सुप्रबन्ध और मानव जाति की शान्ति का सबसे बड़ा साधन धर्म है । धार्मिक नेताओं की दुर्बलताओं ने अज्ञानियों का हौसला बढ़ा दिया और उन्हें धृष्ट तथा उद्धत बना दिया है । मैं सच कहता हूँ कि ज्यों-ज्यों धर्म का ऊँचा स्तर नीचा किया जायेगा, वैसे ही धूर्तों की उद्दण्डता बढ़ेगी और अन्त में विप्लव का कारण बनेगी ।"

"पश्चिम के लोगों की सभ्यता देखो, उसने संसार भर में कैसी अशान्ति फैला दी है । बहुत बुरे-बुरे हथियारों की सृष्टि हुई और उनसे मानव जीवन का इतनी क्रूरता से ध्वंस हुआ जिसे संसार ने आज तक न देखा और न सुना है । इन अत्यन्त बढ़ी हुई तीव्र बुराइयों का सुधार तब तक नहीं हो सकता जब तक संसार भर की जातियाँ एक होकर केवल एक धर्म में सम्मिलित न हो जायें ।"

महात्मा बहा ने योरोपीय सभ्यता का जो दोष उस समय बतलाया था और उस समय जो नन्हा पौधा ही था वह निरन्तर बढ़कर आज महा विशाल वृक्ष के रूप में परिणित हो गया है, जिसकी चारों ओर फैली शाखाओं ने संसार को एक प्रकार ढक लिया है । इसलिये महात्मा बहा ने संसार को अपने अधिकारों पर ही टिकने और न्याय को पूरा ध्यान रखने की शिक्षा भी दी है ।

इस विषय में महात्मा बहा ने अपने उपदेशों में ठीक उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो हमारे शास्त्रों में हजारों वर्षों पूर्व लिखे जा चुके हैं । जिस प्रकार हमारे यहाँ कहा है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" वैसे ही महात्मा बहा के उपदेशों में यह वाक्य मिलते हैं —

"हे मानव पुत्रो ! यदि तुम ईश्वर की दया चाहते हो तो अपने हित पर ध्यान न देकर उन बातों पर ध्यान दो

जिनसे मानव जाति का भला हो सके । यदि तुम न्याय चाहते हो तो तुम औरों के लिए वही पसन्द करो जो तुम अपने लिये करते हो ।"

विश्व-शान्ति का प्रोग्राम

यह एक आश्चर्य की ही बात है कि महात्मा बहा ने आज से सौ वर्ष पहले जबकि संसार में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो चुके थे और उनके सम्राट बड़ी धूमधाम से शासन कर रहे थे, विश्व-शान्ति की बात उठाई और एक विश्व-परिषद की योजना उपस्थित की । इसी बीच में यद्यपि दो बार ऐसी परिषद् 'लीग आफ नेशन्स' और 'यू. एन. ओ.' के नाम से बन चुकी है पर अभी तक उच्च शिक्षित व्यक्ति भी इसको व्यावहारिक नहीं समझते । पर महात्मा बहा ने उस युग में ही लिख दिया था--

"आज परमात्मा की यह इच्छा हुई कि संसार में सुख-शान्ति और इसके निवासियों की उन्नति हो तो उसने आज्ञा दी कि जब समय आयेगा तो एक विश्वव्यापी सभा स्थापित करने की बात को लोग मान लेंगे । संसार के शासक और नरेश इसमें उपस्थिति होने को बाध्य होंगे और उनको ऐसे ढंग सोचने पड़ेंगे जिससे मनुष्य मात्र में महती शान्ति स्थापित हो । बड़े-बड़े राज्य लोगों की सुख-शान्ति के निमित्त परस्पर मिलकर रहना निश्चित करेंगे और यदि कोई शासक दूसरे पर आक्रमण करेगा तो शेष सब मिलकर उसको रोकेंगे ।"

यद्यपि आज महात्मा बहा की शिक्षायें सिद्धान्त रूप से सर्वोत्तम मान ली गई हैं, राष्ट्रसंघ स्थापित किया जा चुका है और यह भी स्वीकार कर लिया है कि अगर एक राष्ट्र दूसरे पर आक्रमण करे तो उसे रोका जाय, पर व्यवहार में तरह-तरह की कठिनाइयाँ आ रही हैं और अभी महात्मा बहा की बतलाई प्रणाली के यथार्थ रूप में स्थापित हो जाने में कुछ देर जान पड़ती है ।

आर्थिक सुव्यवस्था

आर्थिक समन्वय इस युग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या है । सच पूछा जाए तो आज संसार में जितने झगड़े दिखाई पड़ रहे हैं उनमें से तीन-चौथाई का सम्बन्ध इसी विषय से है । बहाई उपदेशक ने इस विषय पर गम्भीर रूप से विचार किया है और धनी-निर्धन के बीच सद्भावना का सम्बन्ध स्थापित करने पर बड़ा जोर दिया गया है । पर ये उन चरम पंथियों से भी सहमत नहीं जो वर्तमान पद्धति को जड़मूल से उखाड़कर बराबरी के आधार पर नवीन समाज की रचना करना चाहते हैं । इस सम्बन्ध मे महात्मा बहा के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते हुए श्री अब्दुल बहा ने कहा है--

"लोगों की आवश्यकताओं का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि दरिद्रता का लोप ही हो जाय, प्रत्येक व्यक्ति जहाँ तक सम्भव हो सके अपनी स्थिति और अधिकार के अनुसार सुख-चैन से जीवन बिता सके । हम संसार में देखते हैं कि एक ओर तो वे मनुष्य हैं जो धन से भरपूर है और दूसरी ओर वे हैं जो भूखे मर रहे हैं, एक वे हैं जो बड़े-बड़े महलों में रहते हैं और दूसरे वे हैं जिन्हें सिर छुपाने के लिए भी स्थान प्राप्त नहीं । व्यवहार की यह दुर्दशा सर्वथा अनुचित है और इसका अवश्य इलाज होना चाहिये, पर इलाज में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये । मनुष्यों में पूर्ण समता स्थापित कर देने से इसका सुधार नहीं हो सकता । ऐसी समता तो एक भ्रमात्मक कल्पना मात्र ही है और अव्यवहार्य है । ऐसी समता यदि स्थापित कर ली जाये तो वह देर तक नहीं टिक सकती और यदि ऐसी सत्ता सम्भव भी हो गई तो सारे संसार की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी ।"

"इसमें संदेह नहीं कि आजकल कुछ लोग अनन्त धन के स्वामी और दूसरे लोग दयनीय अवस्था में पड़े हैं तो इन अवस्थाओं का नियमन और सुधार अवश्य होना चाहिये । दोनों 'अति' अच्छी नहीं हैं । जब हम दरिद्रों को भूखे मरने तक की दशा में पहुँचते देखते हैं, तो यही स्पष्ट होता है कि अन्याय कहीं न कहीं विद्यमान है । मनुष्यों को चाहिये कि वे इन बातों के सुधार के लिए प्रयत्न करें और ऐसी अवस्थाओं को बदल डालने में विलम्ब न करें जिनसे लोगों की एक बड़ी संख्या दारिद्र्य के कष्ट में पिसती चली जा रही है ।"

आगे चलकर मजदूरों की स्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है--

"समय आ रहा है जब कि लोग दूसरों के गाढ़े परिश्रम से धन संचय न कर सकेंगे । धनी लोग स्वेच्छापूर्वक अपना धन बाँटा करेंगे । यह स्वभाव से ही मन की प्रेरणा द्वारा इस कार्य में प्रवृत्त होंगे । आर्थिक प्रश्नों को सुलझाना धनी और गरीबों के परस्पर विरोध या लड़ाई-झगड़ों से सिद्ध न होगा, बल्कि दोनों के पारस्परिक सहकार से ही सिद्ध होगा ।"

इसका तात्पर्य है कि समाज में से गरीब और अमीर का अन्तर निश्चय ही मिट जाना चाहिये और भूखा नंगा किसी को नहीं रहने देना चाहिए । महात्मा बहा सब लोगों में पूर्ण समानता को न तो सम्भव समझते हैं । और न व्यावहारिक । उनकी यही सम्मति भारतीय शास्त्रों से मिलती है । यहाँ भी धन का बँटवारा सम्भव नहीं माना गया है

वरन् यही कहा गया है कि धनवान् लोग अपना धर्म समझकर असमर्थ लोगों की सहायता करें और धन को एक स्थान पर बन्द कर रखने के बजाय दान तथा उदारता के विभिन्न कार्यों द्वारा समाज में वितरित करते रहें । यद्यपि वर्तमान समय में जो समाजवाद और कम्यूनिज्म के आन्दोलन फैल रहे हैं उनका सारांश भी यही है, पर इनमें जोर जबरदस्ती को ही इसका उपाय बतलाया गया है और ये धनी और गरीब के अन्तर को बिल्कुल मिटा देने के पक्षपाती हैं । इस समय दुनिया में जो विश्व की आग सुलझ रही है उसका सबसे बड़ा कारण यह धन के वितरण की समस्या ही है । अभी तक के अनुभव से यही जान पड़ता है । इसका समाधान किसी प्रकार की उग्र आदर्शवादिता से न होकर मध्यम-मार्ग में ही हो सकेगा ।

पुरुष और स्त्रियों में समानता

धनी और गरीब या मालिक और मजदूर के समान ही एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या नर और नारी की स्थिति सम्बन्धी है । वर्तमान समय में नारियों के पिछड़ जाने से विकास के समाज में बड़ी बाधा पड़ रही है । छोटी अवस्था में बालकों का पालन तथा किसी हद तक शिक्षण माता के हाथ में ही रहता है । मूर्ख मातायें अपने अज्ञान के कारण उसी अवस्था में बच्चों में ऐसी बुरी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर देती हैं जिनसे आजीवन उनके मार्ग में कठिनाइयाँ अनुभव होती रहती हैं । ईरान और मुस्लिम देशों की स्त्रियाँ तो इस दृष्टि से और भी अधिक अंधकार में थीं और वहाँ के धार्मिक नेता-मुल्ला मौलवी भी उसी मार्ग के समर्थक थे, तो भी महात्मा बहा ने बड़े साहस के साथ स्त्रियों की स्वतन्त्रता, शिक्षा, धनोपार्जन आदि का समर्थन किया । इस सम्बन्ध में बहाई ग्रन्थों में कहा गया है-

"मानव समाज एक पक्षी के समान है जिसके दो पंख होते हैं-एक पुरुष और दूसरी स्त्री । जब तक दोनों पंख मजबूत न होंगे और सम्मिलित प्रयत्न से हिलाये ना जायेंगे, पक्षी उड़ नहीं सकता । समय के प्रभाव के अनुसार स्त्रियों के लिए आगे बढ़ना और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़कर पुरुषों के समान ही कार्य करना आवश्यक है । उन्हें पुरुषों के समान बनना चाहिये और पुरुषों के समान ही उनको अधिकार मिलने चाहिये ।"

अनेक पुरुष स्त्रियों के अधिकारों के विपक्ष में यह दलील दिया करते हैं कि स्त्रियों ने कभी ऐसे बड़े-बड़े काम नहीं किये जो पुरुषों ने किये हैं । पर गहराई से विचार करने और जाँच-पड़ताल करने पर यह दलील कमजोर ही जान पड़ती है । इतिहास को देखने से अनेक ऐसी स्त्रियों का पता चलता है जिन्होंने बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं । हमारे देश के पिछले दो-तीन सौ वर्ष के इतिहास में ही रानी, दुर्गावती, चाँदबीबी, लक्ष्मीबाई; के नाम मिलते हैं, जिन्होंने सैन्य-संचालन और युद्ध कला में पुरुषों से बढ़कर योग्यता प्रदर्शित की । शासन प्रबन्ध में अहिल्याबाई अपने समय के अधिकांश शासकों के लिए आदर्श स्वरूप थीं । विद्या और विज्ञान के विषय में आजकल अमरीका योरोप में एक से बढ़कर एक विदुषी और वैज्ञानिक महिलायें हो रही हैं। स्वयं बहाई समाज का उद्देश्य देते हुए अब्दुल बहा ने एक ऐसी ही पूजनीय देवी का परिचय दिया था-

"हमारे समय की स्त्रियों में कुरातुलैन है, जो एक मुल्ला की पुत्री थी । बाब के आविर्भाव के समय इसने ऐसा उत्साह और शक्ति दिखाई कि जो कोई भी इसका भाषण सुनता अत्यन्त विस्मित हो जाता था । अति प्राचीनकाल से ईरान में पर्दा प्रथा रहते हुये भी इसने पर्दा छोड़ दिया दिया । यद्यपि स्त्रियों का बाहरी पुरुषों से भाषण ईरानी समाज में रीति विरुद्ध समझा जाता था । पर यह विदुषी ललना बड़े-बड़े विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करती और सदैव विजय प्राप्त करती थी । बाबी होने के अपराध में इसे गिरफ्तार कर लिया गया, पत्थर फेंके गये, नास्तिक कहा गया, देश निकाले की धमकी दी गई, पर यह स्त्रियों को स्वाधीनता का अधिकार दिलाने के सिद्धान्त से कभी नहीं हिली । उसने ऐसी वीरता और उत्साह से अपने जीवन का बलिदान दिया कि देखने वाले चकित रह गये ।"

श्री अब्दुल बहा ने इस विषय पर प्रकाश डाला है कि अब जमाने के बदल जाने से स्त्रियों का उत्थान होना अनिवार्य है । वे कहते हैं-

"पिछले समय में संसार का शासन बल प्रयोग से होता था और पुरुष शारीरिक अथवा मानसिक बल की उन्नति और प्रबलता के कारण स्त्रियों को अपने अधीन रखता रहा । पर अब दाँव पलट रहा है । बल प्रयोग के दिन बीतते जा रहे हैं और मानसिक स्फूर्ति, निपुणता, प्रेम, सेवा, आध्यात्मिक गुण जिनमें स्त्रियाँ अग्रसर है, विजय प्राप्त कर रहे है । इसलिये नये युग में पुरुष का हस्तक्षेप कम होगा और स्त्रियों के व्यवहार की अभिवृद्धि होगी । अथवा यों समझना चाहिये कि नया युग वह युग होगा, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों संस्कृति के तराजू में एक समान तोले जायेंगे ।"

स्त्रियों की स्थिति वर्तमान समय में निस्संदेह बहुत शोचनीय है और वह मानव समाज की प्रगति में एक बड़े रोड़े की तरह सिद्ध हो रही है । संसार में आज जो अनेक

कष्ट तथा दोष दिखलाई पड़ते हैं, स्त्रियों की यह गिरी हुई दशा भी उनका एक बड़ा कारण है । हमारे अधिकांश देशवासी तो अभी इस तरफ से आँखें ही बन्द किये हुए हैं और लाखों पढ़े-लिखे ऐसे हैं जो घर के काम के सिवा और किसी काम में हाथ लगाना स्त्रियों के लिए अनधिकार चेष्टा मानते हैं । ऐसी दशा में बहाई समाज के संस्थापकों को स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान अधिकारों की घोषणा और उनका यथाशक्ति प्रचार वास्तव में प्रशंसनीय है और जब हम यह विचार करते हैं कि उन्होंने यह कार्य किस समाज में और किस जमाने में किया था, तब उनकी दूरदर्शिता के सम्मुख हमको नतमस्तक होना पड़ता है ।

शिक्षा का महत्त्व

बहाई नेताओं ने शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया है और प्रत्येक बालक को आरम्भ से उपयोगी ज्ञान प्राप्त कराने के साधन उपलब्ध करायें जायें इस पर बहुत जोर दिया गया है । महात्मा बहा के इन आदर्शों में से एक इस प्रकार है—

"आज्ञा है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र और पुत्रियों को लिखने-पढ़ने की शिक्षा दे । जो मनुष्य इस आज्ञा की उपेक्षा करता हो तो न्याय मन्दिर को चाहिये कि यदि वह मनुष्य धनी है तो उससे उतना धन ग्रहण करले जितना उसके बच्चों की पढ़ाई के लिए पर्याप्त हो और यदि वह निर्धन है तो उसके बच्चों की शिक्षा का भार न्याय मन्दिर के ऊपर है । निःसंदेह हमने न्याय मन्दिर को निर्धनों एवं दरिद्रों का शरणालय बनाया है ।"

"मनुष्य के लिये ज्ञान पंख है या कहीं चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान है । विद्या प्राप्त करना आवश्यक है परन्तु ऐसी विद्या या विज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे संसार का उपकार हो सके ऐसा विज्ञान जो शब्दों से आरम्भ हो जाय, न सिखाना चाहिये । संसार भर के लोगों पर कला-कौशल और विज्ञान जानने वालों का बड़ा अधिकार होता है । वास्तव में मनुष्य की सच्ची सम्पत्ति उसका ज्ञान है । ज्ञान से ही मनुष्य सम्मान, सफलता, सम्पत्ति, हर्ष, आनन्द, सुख और उन्नति प्राप्त कर सकता है ।"

सब धर्मों की एकता

बहाई सिद्धान्तों में विश्व-शान्ति के महत्व पर जोर दिया गया है और सब मनुष्य प्रेम और एकता से रहें यही ईश्वर का मुख्य अभिप्राय बताया गया है । यद्यपि आज व्यवस्था बहुत बदल गई है और धर्म का स्थान धन ने ले लिया है, पर जिस समय महात्मा बहा ने अपना प्रचार कार्य किया था उस समय विभिन्न जातियों के संघर्ष अधिकांश में धर्म के नाम पर होते थे । इसलिये उन्होंने लोगों को धर्म के सच्चे स्वरूप को समझने की प्रेरणा की जिससे मनुष्य अपना वास्तविक कर्तव्य को समझकर उसका पालन कर सके । उनके सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए श्री अब्दुल बहा ने कहा था—

"धर्म का काम तो यह है कि वह हृदयों को मिलाए और लड़ाई-झगड़ों को संसार से दूर करे । धर्म के द्वारा आध्यात्मिक भावों का उदय होना चाहिए और प्रत्येक अंतरात्मा को प्रकाश और जीवन प्राप्त होना चाहिये । यदि धर्म ही वैर, घृणा और भेदभाव का कारण बनता है तो अच्छा है धर्म न हो और ऐसे धर्म से परे रहना ही सच्चा धर्म है । क्योंकि यह एक सीधी बात है कि औषधि का काम व्यथा को दूर करना है पर यदि औषधि से रोगवृद्धि होने लगे तो उस औषधि को छोड़ देना ही अच्छा है । जो धर्म प्रेम और एकता का उत्पादक नहीं वह धर्म ही नहीं है।"

महात्मा बहा ने धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ उपदेश दिया है उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे किसी भी देश या समाज की बुराई हो या मनुष्यों के बीच द्वेष घृणा आदि की वृद्धि हो । उन्होंने सदा सब मनुष्यों की एकता पर बल दिया और धर्म के नाम पर उन्हीं बातों की नसीहत दी जिससे किसी का उपकार हो सके ।

जाति या राष्ट्र सम्बन्धी भेद-भाव

युद्धों और संघर्षों का दूसरा बड़ा कारण जाति अथवा राष्ट्र सम्बन्धी भेदभाव भी है । अनेक व्यक्ति इसको बहुत ऊँचा गुण और गौरव का विषय मानते आये हैं । कुछ समय पहले जब तक संसार में आवागमन के साधन कम थे और अधिकांश मनुष्य अपने देश की सीमाओं में ही बँधे रहते थे, इसी भावना को किसी हद तक आवश्यक माना जा सकता था, क्योंकि उससे आत्म रक्षा में सहायता मिलती थी । पर आज जबकि समस्त पृथ्वी एक देश से भी छोटी हो गई है, मनुष्य चौबीस घण्टे के भीतर दुनिया के आर-पार पहुँच सकता है, तब जाति और राष्ट्र के नाम पर दूसरों को चुनौती देना और इसको युद्ध का कारण बनाना नासमझी या मिथ्या अहंकार ही है । बहाई सिद्धान्तों में इसका निराकरण भी स्पष्ट रूप से कर दिया गया है—

"जातीय पक्षपात--राष्ट्रीयता का दुराग्रह केवल धोखा और स्पष्ट भ्रम है, क्योंकि ईश्वर ने हम सबको एक ही जाति (मनुष्य) में पैदा किया है । आरम्भ में भिन्न-भिन्न भू प्रदेशों की न कोई परिधि थी, और न कोई हदबन्दी थी । कोई

जाति किसी भू-प्रदेश की विशेष स्वामिनी न थी । ईश्वर की दृष्टि में विविध जातियों में कोई भेद-भाव नहीं है । फिर मनुष्य ऐसे दुराग्रह के शिकार क्यों बनते हैं ? ईश्वर ने मनुष्यों को इसलिये पैदा नहीं किया कि वह एक दूसरे का विनाश करते रहें । प्रत्येक जाति, वंश, सम्प्रदाय परमपिता के प्रसाद में एक-सा भाग प्राप्त करते हैं ।"

विश्व-भाषा की आवश्यकता

संसार में से भेदभाव को मिटाकर एकता स्थापित करने का एक बड़ा साधन सामान्य भाषा का प्रचार भी है । इसके सम्बन्ध में महात्मा बहा ने बहाई धर्मग्रन्थ (अकदस) में लिखा है–

"एकता ही से संसार में ईश्वरीय धर्म का प्रकाश सदा फैलता आया है और एकता का सबसे बड़ा साधन यह है कि लोग एक-दूसरे की बातचीत या पढ़ने-लिखने को समझें । विश्व न्यायालय के अधिकारियों को चाहिए कि वे या तो वर्तमान भाषाओं में से किसी एक को स्वीकार कर लें या किसी नवीन भाषा की रचना करें । इसी प्रकार किसी एक लिपि को भी विश्व भर में प्रचलित कर लें और संसार भर की पाठशालाओं में बच्चों को इसी भाषा और इसी लिपि में शिक्षा दें जिससे संसार एक देश और एक परिवार बन सके ।"

महात्मा बहा की शिक्षाओं ने संसार के सभी मानवता में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों और विशेषतः बहाई समाज के सदस्यों पर इतना प्रभाव डाला कि वे वास्तव में पूरब और पश्चिम, योरोप और एशिया, ईसाई मुसलमान, बौद्ध आदि जैसे भेदों से ऊपर उठकर एक विश्व राज्य या मानव-समाज की सम्भावना में पूरा विश्वास करने लग गये । श्री अब्दुल बहा ने महात्मा बहा की भविष्यवाणियों की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में बतलाया–

"इस अदभुत युग में संसार सारा बदल जायेगा और मानव जाति शान्ति और सौन्दर्य से विभूषित होगी । विरोध, झगड़ों और हत्याओं के स्थान में मेल-मिलाप और प्रेम-सचाई की स्थापना होगी । सब समाजों सब लोगों और सब देशों में स्नेह और एकता का उदय होगा । सहकारिता और सहयोग स्थापित होगा और युद्धों का सर्वथा अन्त हो जायेगा । सबल और दुर्बल, धनी और निर्धन, विरोधी दल और बैर रखने वाली जातियाँ जो आज भेड़ और भेड़ियों की तरह बनी हुई हैं, परस्पर पूर्ण प्रेम, मैत्री, न्याय और धर्मयुक्त व्यवहार करेंगी ।"

नये युग का यह चित्र किस सत्य प्रेमी और ईश्वर से निष्ठा रखने वाले मानव हृदय को प्रफुल्लित नहीं करेगा ! चाहे कभी मानव जाति को इसे प्राप्त करने के लिए एक अन्तिम कसौटी पर कसा जाय–उसे रक्त-सागर को तैरकर पार करना पड़े, पर पवित्रात्मा बहा द्वारा प्रदर्शित यह 'स्वर्ण-युग' अब हमारे निकट आ पहुँचा है, इस पर हमको पूर्ण विश्वास है । हमारा यह कर्तव्य है कि इस युग निर्माण के दैवी-काल में हमसे जितना भी बन पड़े संसार को दोष और कुरीतियों से छुड़ाने और समयानुकूल कल्याणकारी रीति-नीतियों का प्रचलन करने में पूरा-पूरा सहयोग दें ।

समाज सुधार तथा परोपकार के अग्रदूत

राजा राममोहन राय

उन्नीसवीं सदी का समय भारतवर्ष के इतिहास में महान् परिवर्तनों का था। मुसलमानों का भारतव्यापी शासन टूट-फूटकर लगभग निर्जीव हो चुका था और उसका स्थान दूरवर्ती इंग्लैण्ड ग्रहण कर रहा था। अँग्रेज शासक अपनी सेना और तोप-बन्दूकों के साथ अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म को भी लाये थे और इस बात के प्रयत्न मे थे कि यहाँ के निवासियों में इनका प्रचार करके अपनी जड़ मजबूत की जाय। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित करने की चेष्टा की थी, पर उनके साधन मुख्यतः तलवार और तरह-तरह के उत्पीड़न थे। इसके विपरीत अँग्रेजों ने अपने धर्म को शस्त्र बल से थोपने की नीति से काम नहीं लिया वरन् युक्ति, तर्क और प्रमाणों से ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता और हिन्दू-धर्म की हीनता सिद्ध करने का प्रयत्न किया और उनको अपने इस प्रयत्न में सफलता भी मिली।

इसका कारण यह नहीं था कि ईसाई-धर्म के सिद्धान्त अथवा उसका तत्वज्ञान हिन्दू-धर्म की अपेक्षा उच्च कोटि का था। जो धर्म हजारों वर्ष पहले 'वेदान्त' सिद्धान्त के रूप में सृष्टि रचना के एकमात्र कारण 'परब्रह्म' की विवेचना कर चुका था और इस अखिल विश्व के अनादि और अनन्त होने की घोषणा कर चुका था, उसकी तुलना ईसाई धर्म से कैसे की जा सकती थी? जो एक शरीरधारी ईश्वर द्वारा पाँच हजार वर्ष पहले सात दिन के भीतर इस दुनियाँ का निर्माण किये जाने पर विश्वास रखता था। भारतीय मनीषियों ने संसार को वेद और उपनिषदों का जो गम्भीर ज्ञान दिया, उसकी समता 'बाईबिल' की कथाओं से, जिनमें ईसा के थोड़े से चमत्कार और राजाओं के किस्से ही पाये जाते हैं, कैसे की जा सकती थी? पर वास्तविक बात यह थी कि इस समय हिन्दू-जाति अपने पूर्वजों की उस अपूर्व देन को भुला बैठी थी और उसके स्थान में थोड़े-से भ्रमपूर्ण पूजा-उपासना, कर्मकाण्डों को ही धर्म का सार समझ बैठी थी। यद्यपि वे अपने को राम, कृष्ण के वंशधर और अनुयायी कहते थे, पर स्वयं राम, कृष्ण अपने जीवन काल में जिस 'परम तत्व' का ध्यान और जप करते थे उसको वे भूल गये थे और राम-कृष्ण की मूर्तियों को ही साक्षात परमेश्वर मान लिया था।

ऐसे समय में ईसाई धर्मोपदेशकों ने यहाँ के धर्म की जराजीर्ण अवस्था को देखा और अधिकांश [illegible] को अर्द्ध-सभ्य लोगों की तरह सैकड़ों प्रकार के [illegible] देवी-देवताओं की पूजा करते, देवी-देवताओं का विवाह करते, उनके सामने बकरे, भैंसे तथा अन्य जीव-जन्तुओं का बलिदान करते पाया। यह भी देखा कि ये लोग हजारों हिस्सों में बँटे हुए है, एक-दूसरों को ऊँच-नीच समझते हैं और इसलिये इनमें बहुत अधिक फूट फैली हुई है। यह दशा देखकर उन्होंने इस देश में अपने धर्म-प्रचार की आशा से जोर-शोर से काम करना आरम्भ किया और वे आशा करने लगे कि वह दिन दूर नहीं है जब समस्त हिन्दू-जाति ईसा के झण्डे तले एकत्रित हो जायेगी। इस स्थिति का वर्णन करते हुए श्री गंगा प्रसाद जी उपाध्याय ने अपनी पुस्तक "राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानन्द' में लिखा है--

"जब से मुसलमानों और ईसाइयों का देश पर अधिकार हुआ नैतिक परिवर्तनों के साथ-साथ धार्मिक विचारों में भी उथल-पुथल हुई। बाहर से आने वालों ने हिन्दू-धर्म के इस जर्जरित वृक्ष को देखा और परामर्श दिया कि इस प्राचीन, सूखे, फल रहित, अनावश्यक, भार रूप झाँकर को रखने से क्या लाभ? इसको उखाड़ क्यों नहीं फेंकते और इसके स्थान में एक ताजा, होनहार, चिकने-चिकने पात वाला बिरवा क्यों नहीं लगा लेते?

"इस परामर्श का भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वागत किया। कुछ कहते थे-- ठीक तो है, शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ? बाप का कुआँ है इसलिये इसका ही पानी पियेंगे, चाहे खारी ही क्यों न हो, यह तो बुद्धिहीनता है। इस खारी कुँए को छोड़ो और मीठे कुँए का पानी पियो।" ऐसे लोग ईसाई होने लग गये। परन्तु बहुत-सो को यह सूखा वृक्ष ही प्यारा था। वे कहते थे-

यही आस अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
अइहैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल॥

"ईसा की उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दू-धर्म की यही अवस्था थी। अँग्रेजी राज्य भारत के कुछ भागों में स्थापित हो चुका था और कुछ में हो रहा था। इनमें से बंगाल ही सबसे [illegible] अँग्रेजी संस्कृति से प्रभावित हुआ, बंगालियों [illegible] ने अंग्रेजी सीखी, बंगाल में ही [illegible] धर्म [illegible]।"

और बाल्यावस्था में 'भागवत्' का पाठ करके ही भोजन करते थे। पर जब उन्होंने हिन्दू धर्म की इस गिरती हुई दशा को देखा और ईसाई-धर्म को दिन पर दिन उन्नति करते पाया तो उनका मनोभाव बदलने लगा। उन्होंने समझ लिया कि यदि हिन्दू-धर्म थोड़ी-सी प्रचलित रीति-रिवाजों का ही नाम है और बिना सोचे-समझे केवल मूर्तियों को सिर झुका देना, उन पर कुछ फूल-पत्ता चढ़ा देना, बताशों और लड्डुओं का भोग लगा देना ही इस धर्म का मुख्य लक्षण है, तो इसका अन्त हो जाना ही अच्छा है। पर उनका हृदय हिन्दू धर्म के ऐसे बिगड़े हुए रूप को सच्चा धर्म मानने को तैयार न था। उन्होंने वेदों और उपनिषदों का अध्ययन किया था और वे उनके उच्च तत्वज्ञान से परिचित थे। इसलिये वे उन्हीं उच्च सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने का विचार करने लगे।

उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी और जातिप्रेम भी कम न था। इसलिये उनको यह सहन न हो सका कि एक विदेशी धर्म, जिसमें बाह्य गुणों के सिवा गम्भीर दार्शनिक तत्वों का बहुत अभाव है, हिन्दू धर्म को पददलित करे। साथ ही प्रचलित धर्म में भी उनको यह शक्ति दिखाई नहीं पड़ती थी जो इन प्रबल आक्रमणों को सहन कर सके।

राममोहन राय इन तथ्यों पर विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक हिन्दू-धर्म का नव-संस्कार-- सुधार नहीं किया जायगा तब तक न तो वह अन्य धर्मों के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकेगा और न अपने देश और संसार की उन्नति में कुछ सहयोग दे सकेगा। यह निश्चय करके उन्होंने उस समय प्रचलित मूर्ति-पूजा के दोष दिखलाना आरम्भ किया और "हिन्दुओं की पौत्तलिक धर्म-प्रणाली" नाम की पुस्तक लिखी। उनके ऐसे विचार देखकर उनके धर्मभीरु पिता श्री रामकान्त राय उनके विरुद्ध हो गये और आपस में वैमनस्य होने लगा। जब राममोहन राय अपने विचारों को छोड़ने को तैयार न हुए और मूर्ति-पूजा के विरुद्ध उनके विचारों की सर्वसाधारण में बुराई होने लगी तो रामकान्त ने उनको 'अधर्मी' कहकर घर से निकाल दिया। उस समय उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी।

मूर्ति पूजा के विरोध पर गृह त्याग

घर से निकलकर राममोहन भारतवर्ष के विभिन्न भागों में भ्रमण करने और भारतीय धर्म के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने लगे। पंजाब में उन्होंने गुरुमुखी भाषा सीखकर सिक्खों के धर्म ग्रन्थ पढ़े, फिर हिन्दी का अभ्यास करके दादू और कबीर के धर्म-सिद्धान्तों का अध्ययन किया। अन्त में उनकी इच्छा बौद्ध-धर्म का रहस्य जानने की हुई और वे हिमालय को पार करके तिब्बत जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने बौद्ध-धर्म ग्रन्थों का अध्ययन तो किया पर अपनी प्रकृति के अनुसार वहाँ की जनता में प्रचलित अन्धविश्वासों का विरोध भी करते रहे। वहाँ के अनेक धर्मान्ध पुरुष इस पर इनको मारने को तैयार हुए पर कुछ स्त्रियों ने उनकी थोड़ी उम्र पर तरस खाकर रक्षा की। इस घटना के फलस्वरूप नारी जाति की सहृदयता का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे आगे चलकर अपने लेखों तथा भाषणों में सदैव स्त्री-जाति के गुण गाते रहे।

तिब्बत से लौटने पर इनके पिता ने इनको फिर रख लिया। पर इनका प्रचार कार्य बढ़ता ही गया। कुछ समय पश्चात् पिता का देहान्त हो गया तो ये इस कार्य को और भी जोर से करने लगे। इससे उनके सभी पास-पड़ौसी और अन्य अन्धविश्वासी मनुष्य उनके विरोधी बन गये। ये मूर्ति-पूजा का खंडन करके ब्रह्म-ज्ञान का प्रचार करते थे, इससे चिढ़कर रामजय नामक व्यक्ति ने, जो पास ही के एक गाँव में रहता था और चार-पाँच हजार मनुष्यों का मुखिया था, इनको तंग करना आरम्भ किया। वह रात में इनके घर के सामने ढेरों कूड़ा-कचरा, मैला फिंकवा देता था, बर्तनों में भरकर मल-मूत्र, गाय की हड्डियाँ आदि घर के भीतर फेंक दी जाती थीं। राममोहन तो ऐसी बातों की कुछ भी परवाह नहीं करते थे और इन मूर्खताओं पर हँसते रहते थे, पर उनके घर वाले बहुत तंग होते थे। ये घटनायें राममोहन के धर्म विरोधी विचारों के कारण होती हैं इसलिये वे इनसे असन्तुष्ट भी होते थे। जब मामला बहुत बढ़ गया तो इनकी माता श्रीमती फूलठकुरानी ने, जो घर की समस्त जमींदारी का प्रबन्ध करती थीं, इनको घर से निकाल दिया। पर वे इससे भी नहीं घबड़ाये और गाँव से बाहर श्मशान के पास अपने लिये एक पृथक् मकान बनवाकर उसमें रहने लगे। उस पर उन्होंने अपने सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये वेदान्त-शास्त्र का "ओउम् तत्सत् एकमेवाद्वितीयम्" वाक्य मोटे अक्षरों में लिखवा दिया था। इतना सामाजिक अत्याचार सहकर भी वे अन्धविश्वासियों द्वारा पूजी जाने वाली अनगिनती मूर्तियों को 'परमात्मा' मानने को तैयार न हुए और "एक सर्वव्यापी ब्रह्म" का ही प्रचार करना उन्होंने अपने जीवन का व्रत बना लिया।

धर्म के सच्चे स्वरूप पर विवाद

कुछ समय बाद वे अपने सिद्धान्तों का अच्छी तरह से प्रचार करने के लिये कलकत्ता चले आये और एक छोटा-सा

मकान लेकर लेखों और पत्रिकाओं द्वारा अपने मन्तव्य का सर्वत्र प्रचार करने लगे । अब तो समस्त वङ्गाल में शोर मच गया और लोग प्रचलित धर्म के विरुद्ध बातों को सुनकर राममोहन पर *'नास्तिक'*, *'पापी'*, *'अधर्मी'*, *'जातिबहिष्कृत'* आदि अपशब्दों की बौछार करने लगे । पर ये आक्षेप करने वाले कैसे 'धर्मात्मा' थे और उनका धर्म किन बातों में समाया था ? उसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है–

'उस समय सारा देश ही अज्ञान में डूब रहा था । मूर्ति-पूजा का बाह्य रूप ही उसकी नस-नस में घुस रहा था । 'लोग वेद का नाम तो लेते थे, पर उसमें क्या है ? यह किसी को मालूम न था । उपनिषदों से भी लोग अनजान थे । केवल दुर्गा देवी की पूजा में भैंसों-बकरों का बलिदान, श्रीकृष्ण और राधा बनाकर लड़कों को नचाना, सावन-भादो में झूले डालकर उत्सव करना, धूमधाम के साथ ठाकुरजी का रथ निकालना– ये ही हिन्दुत्व के मुख्य चिह्न थे और इन्हीं को लोग शास्त्रों का बतलाया 'धर्म' समझने लगे थे । गङ्गा-स्नान करने से, साधु-ब्राह्मणों को दान देने से, तीर्थों में भ्रमण करने से, अन्न-जल छोड़कर व्रत करने से, पाप दूर हो जायेंगे यह लोगों का विश्वास था । इन्हीं बातों में पवित्रता और पुण्य माना जाता था । सबको इन्हीं बातों पर विश्वास था और इनके विरुद्ध कोई एक शब्द भी अपनी जबान से नहीं निकाल सकता था ।

"छुआछूत का विचार धर्म का सबसे ऊँचा अङ्ग माना जाता था । यह भाव उस समय यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि अँग्रेज सरकार के दफ्तरों में नौकरी करने वाले व्यक्ति दफ्तर से लौटने पर पहले 'म्लेच्छों' से छुए कपड़े घर के बाहर उतार देते थे, फिर स्नान-पूजा करके जलपान कर सकते थे । अगर कभी कोई स्नान-पूजा न कर पाता तो वह पुरोहित को दण्डस्वरूप कुछ भेंट करता था, जिससे उसका पाप धुल जाय । उस समय के पुरोहित, ब्राह्मण जीते-जागते अखबार थे । स्नान करके तिलक छापा लगाये ये लोग संसार भर की बातें घर-घर जाकर सुनाया करते थे। इन समाचारों में देश भर के दानदाताओं की नामावली होती थी, किसने कितना धन लगाकर दुर्गा पूजा की अथवा श्राद्ध किया ? इसका पूरा वर्णन रहता था । बहुत बार दानियो की प्रशंसा में श्लोक बनाकर भी सुनाये जाते थे । इसलिये बुराई के डर से और यश की इच्छा से लोग इन लम्बी चोटी वाले पण्डितों को खूब दान देते थे । ये लोग छोटी जाति वालों के गुरु बनकर, उनको अपना 'चरणामृत' पिलाकर भी खूब धन पैदा करते थे । ये लोग रात-दिन धर्म का शोर मचाते रहते थे, किन्तु वेदशास्त्र का एक अक्षर

को अच्छे-बुरे, सुगन्ध का ज्ञान नहीं रहता, यह अज्ञान की बातें हैं । (५) पुराणों और तन्त्रों में जो साकार उपासना का उपदेश दिया गया है वह बाल-बुद्धि वाले लोगों के लिये है, ज्ञानियों के लिये एक मात्र ब्रह्म की उपासना ही सत्य है।'

स्वार्थी पण्डितगण समझते थे कि इस प्रकार की बातों के फैलने से उनकी रोजी पर आघात लगेगा और फिर लोग बात-बात पर उनको दान-दक्षिणा नहीं देंगे । इसलिये लोगों को इन बातों के विरुद्ध तरह-तरह से भड़काते रहते थे और उनको उल्टे-सीधे सिद्धान्त समझाकर राममोहन राय का विरोधी बनाने की चेष्टा करते थे । ऐसे लोग जब उनके पास आकर पण्डितों की कही हुई बातों को सुनाते थे तो वे सहज और सरल ढंग से उनका समाधान कर देते थे ।

राममोहन राय द्वारा शंका समाधान

सबसे पहली शंका लोग यही करते थे कि यदि हम परमात्मा को बिना शक्ल-सूरत वाला मानलें तो हम उसका ध्यान कैसे कर सकते हैं ? इसके उत्तर में राममोहन राय ने उनको समझाया कि अगर कोई बच्चा पैदा होते ही दुश्मनों के हाथ में पड़ जाय और उसे अपने पिता की शक्ल देखने का मौका नहीं मिला हो, तो वह अपने पिता का ध्यान कैसे करेगा ? वह प्रार्थना करता हुआ यही कहेगा कि जिसने मुझे जन्म दिया है मैं उनकी वन्दना करता हूँ । इसी प्रकार मनुष्य निराकार परमात्मा की प्रार्थना कर सकता है । जो यह कहते हैं कि निराकार की उपासना हो ही नहीं सकती वे संसार पर निगाह डाल कर देखें । ईसाई और मुसलमान, जो संख्या में हमसे बहुत अधिक हैं निराकार की ही उपासना करते हैं ।

उनके सामने दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता था कि "हमारे सब भाई-बन्धु एक ही तरह की उपासना करते हैं, यदि हम दूसरी तरह की करेंगे तो उनसे अलग हो जायेंगे, फिर जो रीति बाप-दादों से चली आई है उसका पालन करना ही चाहिये ।" इसके उत्तर मे राममोहन राय कहते थे कि एक-एक कुल न मालूम कितनी बार विष्णु का उपासक-कितनी बार शिव का उपासक, कितनी बार शक्ति (देवी) का उपासक बना है । वाममार्गी हिन्दुओं को बुद्धदेव ने बौद्ध बना लिया था, फिर शंकराचार्य ने उनको ब्रह्म का उपासक बना डाला, फिर ये ही तरह-तरह के अन्य देवताओं के और अवतारों के उपासक बन गये । वास्तव में लोग जब अपनी भूल जान जाते है, तब पहले की बातें छोड़कर नई और उपयोगी बातें सदा से ग्रहण करते चले आये हैं । कुछ समय पहले लोग फारसी और अँग्रेजी भाषाओं को 'म्लेच्छ-भाषा' कहकर सीखना पाप समझते थे, पर बाद में उन्हें उपयोगी समझकर सीखने लगे । तब परलोक और इस लोक को सुधारने वाला रास्ता अपनाने में ही रीति-रिवाज का अड़ंगा क्यों लगाया जाय ?

पण्डित लोग फिर लोगों को बहकाते कि "जो ब्रह्मज्ञानी' होता है उसे सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं रहता, आगपानी में भेद नहीं दीखता, अपने पराये की पहचान नहीं रहती ।" राममोहन राय समझाते "भाई, वे लोग किस आधार पर ऐसा कहते हैं ? पण्डित लोग यह भी कहते हैं कि नारद, जनक, शुकदेव, वशिष्ठ, व्यास, कपिल जैमनी आदि ब्रह्मज्ञानी थे । पर ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी वे आग को आग और पानी को पानी ही मानते थे । वे लोग गृहस्थ भी थे, राज्य भी करते थे और शिष्यों को योग्यतानुसार उपदेश भी करते थे । फिर कैसे मान लिया जाय कि एक ब्रह्म के उपासक को अच्छे बुरे का ज्ञान ही नहीं होता ?"

पर पण्डित लोगों का तो काम ही लोगों को बहकाकर पेट भरना था । वे कहते कि "जब पुराणों और तंत्रों में सूरत, शकल (आकार वाले) परमेश्वर की उपासना लिखी हैं, तब हम बिना सूरत-शकल वाले ब्रह्म की उपासना में हाथ ही क्यों डालें ?" राममोहन राय कहते कि "जिन पुराणों और तंत्रों में परमात्मा की पृथक्-पृथक् शकलें मानकर उनकी पूजा करने की बातें लिखी हैं, उन्हीं पुराण व तन्त्रों मे जहाँ ज्ञान का विषय आया है वहाँ साफ लिखा है कि उस परमात्मा का न कोई रूप है न रंग । वह बिना रूप-रंग और सूरत-शकल वाला अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक है। पुराणों में जहाँ कहीं किसी सूरत-शकल वाले ईश्वर का ध्यान करना लिखा है तो केवल इसलिये कि कमजोर दिल वाले मनुष्यों का चित्त इधर-उधर डाँवाडोल होने से बचकर वे स्थिर रहना सीखें । फिर भी जो मूर्तियों की पूजा और ध्यान करते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि वे उन्हें साक्षात् ईश्वर समझते हैं या ईश्वर की शकल ? मूर्तियों की उपासना करने वाले भी उनको साक्षात् ईश्वर के कहने में संकोच करेंगे, क्योंकि वे आदमियों के हाथ की बनाई हुई होती है और एक दिन नाश भी हो जायेंगी । ऐसी चीज ईश्वर कैसे हो सकती है ? इसलिये मनुष्य को मूर्तियों की पूजा करने को ही धर्म अथवा ईश्वरोपासना का अन्तिम लक्ष्य नहीं समझ लेना चाहिए, वरन् उपनिषदों और वेदान्त-शास्त्र का अध्ययन करके सर्वव्यापक परमात्मा के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये ।

इस तरह राममोहन राय उस समय अन्धकार में पड़ी जनता का समाधान करके उसे समयोपयोगी मार्ग दर्शन कराते थे, जिससे वे धर्म की दृष्टि से मनस्वी और बलिष्ठ

मकान लेकर लेखों और पत्रिकाओं द्वारा अपने मन्तव्य का सर्वत्र प्रचार करने लगे । अब तो समस्त बङ्गाल में शोर मच गया और लोग प्रचलित धर्म के विरुद्ध बातों को सुनकर राममोहन पर 'नास्तिक', 'पापी', 'अधर्मी', 'जातिबहिष्कृत' आदि अपशब्दों की बौछार करने लगे । पर ये आक्षेप करने वाले कैसे 'धर्मात्मा' थे और उनका धर्म किन बातों में समाया था ? उसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है–

'उस समय सारा देश ही अज्ञान में डूब रहा था । मूर्ति-पूजा का बाह्य रूप ही उसकी नस-नस में घुस रहा था । 'लोग वेद का नाम तो लेते थे, पर उसमें क्या है ? यह किसी को मालूम न था । उपनिषदों से भी लोग अनजान थे । केवल दुर्गा देवी की पूजा में भैंसों-बकरों का बलिदान, श्रीकृष्ण और राधा बनाकर लड़कों को नचाना, सावन-भादों में झूले डालकर उत्सव करना, धूमधाम के साथ ठाकुरजी का रथ निकालना– ये ही हिन्दुत्व के मुख्य चिह्न थे और इन्हीं को लोग शास्त्रों का बतलाया 'धर्म' समझने लगे थे । गङ्गा-स्नान करने से, साधु-ब्राह्मणों को दान देने से, तीर्थों में भ्रमण करने से, अन्न-जल छोड़कर व्रत करने से, पाप दूर हो जायेंगे यह लोगों का विश्वास था । इन्हीं बातों में पवित्रता और पुण्य माना जाता था । सबको इन्हीं बातों पर विश्वास था और इनके विरुद्ध कोई एक शब्द भी अपनी जबान से नहीं निकाल सकता था ।

''छुआछूत का विचार धर्म का सबसे ऊँचा अङ्ग माना जाता था । यह भाव उस समय यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि अँग्रेज सरकार के दफ्तरों में नौकरी करने वाले व्यक्ति दफ्तर से लौटने पर पहले 'म्लेच्छों' से छुए कपड़े घर के बाहर उतार देते थे, फिर स्नान-पूजा करके जलपान कर सकते थे । अगर कभी कोई स्नान-पूजा न कर पाता तो वह पुरोहित को दण्डस्वरूप कुछ भेंट करता था, जिससे उसका पाप धुल जाय । उस समय के पुरोहित, ब्राह्मण जीते-जागते अखबार थे । स्नान करके तिलक छापा लगाये ये लोग संसार भर की बातें घर-घर जाकर सुनाया करते थे। इन समाचारों में देश भर के दानदाताओं की नामावली होती थी, किसने कितना धन लगाकर दुर्गा पूजा की अथवा श्राद्ध किया ? इसका पूरा वर्णन रहता था । बहुत बार दानियों की प्रशंसा में श्लोक बनाकर भी सुनाये जाते थे । इसलिये बुराई के डर से और यश की इच्छा से लोग इन लम्बी चोटी वाले पण्डितों को खूब दान देते थे । ये लोग छोटी जाति वालों के गुरु बनकर, उनको अपना 'चरणामृत' पिलाकर भी खूब धन पैदा करते थे । ये लोग रात-दिन धर्म का शोर मचाते रहते थे, किन्तु

एक बड़ा तहलका--कोलाहल मच गया । ब्राह्मण जिन वेदों की भनक भी शूद्रों के कानों में नहीं पड़ने देते थे उनकी पुस्तकें छपाकर राममोहन राय ने हिन्दू-मुसलमान, ईसाई सबके हाथों में दे दी । जिस ॐ का उच्चारण करने पर शूद्रों की जीभ काट डालने का आदेश था उसे प्रत्येक व्यक्ति को सिखा दिया यह देखकर 'मन्दिरमार्गी' हिन्दू काँप उठे। धर्म व्यवसायी लोगों के हाथ में खिलौना बने हुए लोग पुकार उठे-- घोर 'कलजुग' आ गया ! पण्डित, पुजारी, शास्त्रियों की आँखें क्रोध से लाल हो गईं । ये विवाह-समारोह, श्राद्धों के जमघट, ब्रह्मभोजों के अवसर पर हुलास सूँघते अथवा सुर्ती फाँकते हुए राममोहन राय को गालियाँ देने लगे ।

शास्त्रार्थों का महाभारत

जब विरोधियों ने देखा कि केवल गालियाँ देने से काम नहीं चल सकता और राममोहन राय की शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त बातें पढ़कर कितने ही लोग उनके अनुयायी बनते चले जाते हैं तो कुछ धनीमानी हिन्दू और उनके सहारे पलने वाले पण्डित पुस्तकें लिखकर उनको नीचे गिराने को तैयार हुए। कलकत्ते के एक भट्टाचार्य जी पण्डित ने 'वेदान्त चन्द्रिका' नाम की पुस्तक छपाई जिसमें परमात्मा को 'शरीर वाला' सिद्ध करने की चेष्टा की थी । उनकी पुस्तक में प्रमाण तो बहुत कम थे, पर गालियाँ खूब दी गई थीं । राममोहन राय ने उसका उत्तर देते हुए लिखा--"भट्टाचार्य ने मुझ पर ताने कसे, बुरा-भला कहा और गालियाँ लिखीं-- उनका मैं कोई उत्तर नहीं दे सकता । परमार्थ और परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करते समय गन्दी भाषा लिखना मैं अच्छा नहीं समझता । इसके अतिरिक्त गालियाँ देकर लोगों में अपनी जीत दिखाना मेरे उद्देश्य के विरुद्ध है । इसलिये भट्टाचार्य जी यह समझ लें कि उनकी गालियों का उत्तर दे सकने में तो अवश्य कमजोर हूँ । रह गई परमात्मा को शरीर वाला बतलाना सो मेरी समझ में ऐसी बात कहना वेद-शास्त्रों की हँसी उड़ाना है । कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, ईशोपनिषद् के वाक्यों तथा अनेक वेद मन्त्रों से ईश्वर का निराकार होना स्पष्ट रूप से प्रकट होता है ।"

फिर चैतन्य-सम्प्रदाय के एक गोस्वामी ने उनके विरुद्ध एक पुस्तक छाप डाली । उसमें कहा गया कि "जब ब्रह्म की कोई उपाधि" और बाह्य लक्षण नहीं है तो वेद उसके संबन्ध में कोई निर्णय कैसे कर सकते हैं ?" राममोहन राय ने उत्तर दिया- "वास्तव में जितने पदार्थ इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं ब्रह्म उनसे भिन्न हैं, पर 'वृहदारण्यक' के अनुसार संसार की उत्पत्ति, स्थिति और नाश को देखकर तथा जड़ शरीर की चैतन्य सत्तायुक्त प्रवृत्तियों के आधार पर 'परब्रह्म' के होने का पता लगता है ।"

किसी 'कविताकार' ने भी एक पुस्तक छपा डाली और शास्त्रीय प्रमाणों के बजाय दूसरे ही ढंग से आक्रमण किया । उसने लिखा कि "पिछले दो-तीन वर्षों से जो पानी की बाढ़ आ रही है और कितने ही गाँव उससे नष्ट हो गये हैं, उसका कारण राममोहन राय का पाप ही है । न राममोहन शास्त्र-विरुद्ध प्रचार करते और न ये सब प्राकृतिक उत्पात होते ।" राममोहन राय ने उत्तर दिया-- "किसी का मंगल या अमंगल केवल अपने ही पाप-पुण्य से होता है । ईश्वर के विषय में तर्क करने या मूर्ति पूजा पर पुस्तकें लिखने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । कविताकार ने यह भी लिखा कि "राममोहन राय अपने को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं, पर ब्रह्मज्ञानी तो एकान्त में मौन रहा करते हैं ।" इसके उत्तर में उन्होंने कहा--"जो हृदय से धर्म को प्यार करता है वह बाहरी ढकोसला नहीं बढ़ाया करता, वरन् अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन, मनन करके दूसरों में भी उसका प्रचार करता है।' एक आक्षेप यह भी किया गया था कि "राममोहन राय पुस्तक छपाकर जो घर-घर बिकवाते हैं यह पाप है ।" राममोहन ने कहा कि मेरा यह कार्य शास्त्रों के अनुकूल ही है--

वेदार्थ यज्ञशास्त्राणि धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
मूल्येन लेखयित्वायो दद्यादेति स वै दिवं ।।

अर्थात्-- "जो व्यक्ति वेदार्थ, यज्ञशास्त्र और धर्मशास्त्र मूल्य देकर लिखवाये और लोगों को देवे तो वह स्वर्ग को जाता है ।"

सुब्रह्मण्य शास्त्री नामक व्यक्ति ने भी प्रश्न किया कि "ब्रह्मज्ञान के लिये वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता है या नहीं?" राममोहन राय ने उत्तर दिया कि "यदि किसी ने वेद का अध्ययन न किया हो और वर्णाश्रम के आचारों का पालन न करता हो तब भी वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी है और उसे परमपद प्राप्त हो सकता है ।"

पण्डित काशीनाथ तर्कपंचानन ने 'धर्म संस्थापनाकाँक्षी' के नाम से कितने ही प्रश्न किये । उन्होंने पूछा "सदाचारहीन ब्रह्मज्ञान के अभिमानियों का जनेऊ पहिनना क्या उचित है ?" राममोहन राय ने उत्तर दिया-- "इसमें सदाचार शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है । यदि उन्होंने इसका यह अर्थ माना हो कि अपने-अपने धर्मों के आचार-पालन का नाम सदाचार है तो हम उन्हीं से पूछते हैं कि वे अपने सदाचार का कितना पालन करते है ? और यदि वे अपने शास्त्रोक्त आचार का पैसा भर भी पालन नहीं करते तो पहले अपना जनेऊ उतार कर दूसरों का जनेऊ पहिनना अनुचित बतावें ।"

बनकर विधर्मियो और विपक्षियों के बौद्धिक आक्रमण का मुकाबला कर सकें। उस समय लोग सब बातों में 'शास्त्र' की दुहाई देते थे और पण्डित-पुजारी भी उनको 'शास्त्र' के नाम पर ही बहकाते थे। इसलिये वे भी अपनी बातों को शास्त्र द्वारा सिद्ध करने की ही कोशिश करते थे। उन्होंने धर्म का पेशा करने वाले पण्डितों की अपेक्षा शास्त्रों को बहुत ज्यादा पढ़ा था और उनके गूढ़ आशय को भी समझा था, इसलिये अन्त में पण्डितों को ही निरुत्तर होना पड़ता था।

पण्डितों के सिखाये हुए लोग उनके पास आकर यह शंका करते थे कि वेद का अनुवाद बंगाली भाषा में न होना चाहिये क्योंकि इससे शूद्र भी उसे सुनने और समझने लगेंगे और पाप के भागी बनेंगे। राममोहन राय ने कहा– "पण्डित लोग अपने शिष्यों को वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि पढ़ाते समय उनका अर्थ बंगाली भाषा में क्यो समझाते हैं? यदि बंगाली भाषा मे समझाना बुरा नहीं तो उसी बात को बंगाली भाषा में लिखना कैसे बुरा माना जा सकता है?

धर्म-सुधार के लिये प्रबल प्रयत्न

इस प्रकार राममोहन राय के धर्म सुधार-कार्य में उन्हीं के भाई-बन्धु पण्डितगण जहाँ तक बना, बाधायें डालते गये और उन्हें हर तरह से हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते रहे। पर जो महापुरुष आत्मा की आवाज सुनकर लोक-कल्याण का व्रत ग्रहण कर लेते हैं वे ऐसे विघ्नों से घबड़ाते नहीं और उन्हें को अपनी सचाई की परीक्षा मानते हैं। स्वयम् राममोहन राय ने 'वेदान्त सूत्र-भाष्य' के अँग्रेजी भाषान्तर की भूमिका में लिखा है–

"ब्राह्मणवंश में जन्म लेकर मैंने इस देश को सुधारने के लिये जो सत्य और ज्ञान का रास्ता पकड़ा है, उससे मेरे वे भाई-बन्धु दुश्मन बन गये हैं जिनका पेट मूर्खतापूर्ण रीति रिवाजों के कारण ही पलता था। पर कुछ भी हो, मैं ऐसे ही धीरज और विश्वास के साथ सब कुछ सहूँगा– और एक दिन ऐसा जरूर आवेगा, जब मेरी साधारण चेष्टा को लोग न्याय की दृष्टि से देखेंगे और कृतज्ञतापूर्वक उसे स्वीकार करेंगे। वे लोग मेरे लिये कुछ भी कहें पर मुझे इस बात का सुख है कि मेरे हृदय की बात अनेक विचारशील लोगो तक पहुँची है और वे धीरे-धीरे इस विकास की ओर बढ़ रहे हैं। कम से कम इस सुख से तो मेरे विरोधी मुझे वंचित नहीं कर सकते।"

उनका यह वेदान्त-भाष्य बहुत बड़ा ग्रन्थ था जिसे पढ़ने और समझने में अधिक समय और अधिक परिश्रम की आवश्यकता थी। इसलिये उसमें बतलाये गये सिद्धान्तों का अधिक लोगों को परिचय देने के विचार से उन्होंने उसका संक्षेप करके 'वेदान्त-सार' नामक पुस्तक छपाई। उसी समय उसका अंग्रेजी अनुवाद करके भी छपवा दिया। इस पुस्तक का इंगलैण्ड में भी काफी प्रचार हुआ और एक भारतवासी की ऐसी उच्चकोटि की योग्यता देखकर अँग्रेज लोग भी चमत्कृत हो गये। इस पुस्तक में परमात्मा के निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए राममोहन राय ने लिखा था–

"परमात्मा बिना आकार और बिना वर्ण वाला है। वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। ऐसी दशा मे उसकी मूर्ति आदि बनाकर यह कहना कि परमात्मा ऐसी शक्ल वाला है। एक प्रकार से उसकी हँसी उड़ाना है। 'मुण्डक उपनिषद्' मे कहते हैं- "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।" अर्थात्– "आँखो से या आँखों के अतिरिक्त वाणी आदि अन्य इन्द्रियों से, अथवा तप, शुभ-कर्म आदि से उस ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता।" इसी प्रकार 'वृहदारण्यक' में बतलाया गया है– "अदृष्टो दृष्टा अश्रुत, श्रोता अस्थूलमनणुः' अर्थात्– "वह परमात्मा किसी को दिखाई नहीं पड़ता पर वह सबको देखता है, उसे कोई नहीं सुन सकता, पर वह सब कुछ सुनता है। वह स्थूल अथवा सूक्ष्म भी नहीं है।"

राममोहन राय जनता के सम्मुख यह कहते थे कि निराकार ब्रह्म की उपासना करना मेरा बनाया हुआ कोई नया मत नहीं है, वरन् यही वेद और स्मृतियों का बतलाया प्राचीन मत है। समय के प्रभाव से लोग बाद में उसे भूलकर तरह-तरह के 'पंथ' बनाकर उन पर चलने लग पड़े। पुराणों की कथायें सर्वथा सत्य नहीं मानी जा सकतीं क्योंकि उनमें अनेक बातें असम्भव हैं। पुराण तो मनोरंजन के साथ लोगों को सामान्य धर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से बनाये गये हैं। इस प्रकार जिस समय 'पण्डित' नामधारियों ने वेद और शास्त्रों को एक अगम्य रहस्य बनाकर जनता को उनके ज्ञान रूपी प्रकाश से वंचित कर रखा था तब राममोहन राय ने उनको सर्वसाधारण के सामने प्रकट करके, उनसे लाभ उठाने को प्रेरणा की। उस समय के अधिकाँश पण्डित स्वयम् ही वेदों से अपरिचित थे और लोगों में उन्होंने ऐसी ही भावना फैला रखी थी कि वेदों में भी 'दुर्गा', काली, शंकर, कृष्ण, राधा आदि की बातें हैं।

[illegible] स्मृतियों [illegible]

सहित प्रकट करना आरम्भ किया और यह सिद्ध करने [illegible] कि वर्तमान समय में 'ब्राह्मण पण्डित' जो धर्म क्रियायें कराते हैं ये वास्तव में वेद-विरुद्ध हैं तो उस समय 'धर्म-जगत' में

एक बड़ा तहलका–कोलाहल मच गया । ब्राह्मण जिन वेदों की भनक भी शूद्रों के कानों में नहीं पड़ने देते थे उनकी पुस्तकें छपाकर राममोहन राय ने हिन्दू-मुसलमान, ईसाई सबके हाथों में दे दी । जिस ॐ का उच्चारण करने पर शूद्रों की जीभ काट डालने का आदेश था उसे प्रत्येक व्यक्ति को सिखा दिया यह देखकर 'मन्दिरमार्गी' हिन्दू काँप उठे। धर्म व्यवसायी लोगों के हाथ मे खिलौना बने हुए लोग पुकार उठे– घोर 'कलजुग' आ गया ! पण्डित, पुजारी, शास्त्रियों की आँखें क्रोध से लाल हो गईं । वे विवाह-समारोह, श्राद्धों के जमघट, ब्रह्मभोजों के अवसर पर हुलास सूँघते अथवा सुर्ती फाँकते हुए राममोहन राय को गालियाँ देने लगे ।

शास्त्रार्थों का महाभारत

जब विरोधियों ने देखा कि केवल गालियाँ देने से काम नहीं चल सकता और राममोहन राय की शास्त्रीय प्रमाणो से युक्त बातें पढ़कर कितने ही लोग उनके अनुयायी बनते चले जाते हैं तो कुछ धनीमानी हिन्दू और उनके सहारे पलने वाले पण्डित पुस्तकें लिखकर उनको नीचे गिराने को तैयार हुए। कलकत्ते के एक भट्टाचार्य जी पण्डित ने 'वेदान्त चन्द्रिका' नाम की पुस्तक छपाई जिसमें परमात्मा को 'शरीर वाला' सिद्ध करने की चेष्टा की थी । उनकी पुस्तक में प्रमाण तो बहुत कम थे, पर गालियाँ खूब दी गई थीं । राममोहन राय ने उसका उत्तर देते हुए लिखा–"भट्टाचार्य ने मुझ पर ताने कसे, बुरा-भला कहा और गालियाँ लिखीं– उनका मैं कोई उत्तर नहीं दे सकता । परमार्थ और परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करते समय गन्दी भाषा लिखना मैं अच्छा नहीं समझता । इसके अतिरिक्त गालियाँ देकर लोगों में अपनी जीत दिखाना मेरे उद्देश्य के विरुद्ध है । इसलिये भट्टाचार्य जी यह समझ लें कि उनकी गालियों का उत्तर दे सकने में तो अवश्य कमजोर हूँ । रह गई परमात्मा को शरीर वाला बतलाना सो मेरी समझ में ऐसी बात कहना वेद-शास्त्रों की हँसी उड़ाना है । कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, ईशोपनिषद् के वाक्यों तथा अनेक वेद मन्त्रों से ईश्वर का निराकार होना स्पष्ट रूप से प्रकट होता है ।"

फिर चैतन्य-सम्प्रदाय के एक गोस्वामी ने उनके विरुद्ध एक पुस्तक छाप डाली । उसमें कहा गया कि "जब ब्रह्म की कोई उपाधि" और बाह्य लक्षण नहीं है तो वेद उसके संबन्ध में कोई निर्णय कैसे कर सकते हैं ?" राममोहन राय ने उत्तर दिया- "वास्तव में जितने पदार्थ इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं ब्रह्म उनसे भिन्न हैं, पर 'वृहदारण्यक' के अनुसार संसार की उत्पत्ति, स्थिति और नाश को देखकर तथा जड़ शरीर की चैतन्य सत्तायुक्त प्रवृत्तियों के आधार पर 'परब्रह्म' के होने का पता लगता है ।"

किसी 'कविताकार' ने भी एक पुस्तक छपा डाली और शास्त्रीय प्रमाणों के बजाय दूसरे ही ढंग से आक्रमण किया । उसने लिखा कि "पिछले दो-तीन वर्षों से जो पानी की बाढ़ आ रही है और कितने ही गाँव उससे नष्ट हो गये हैं, उसका कारण राममोहन राय का पाप ही है । न राममोहन शास्त्र-विरुद्ध प्रचार करते और न ये सब प्राकृतिक उत्पात होते ।" राममोहन राय ने उत्तर दिया– 'किसी का मंगल या अमंगल केवल अपने ही पाप-पुण्य से होता है । ईश्वर के विषय में तर्क करने या मूर्ति पूजा पर पुस्तकें लिखने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । कविताकार ने यह भी लिखा कि "राममोहन राय अपने को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं, पर ब्रह्मज्ञानी तो एकान्त में मौन रहा करते हैं ।" इसके उत्तर में उन्होंने कहा– "जो हृदय से धर्म को प्यार करता है वह बाहरी ढकोसला नहीं बढ़ाया करता, वरन् अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन, मनन करके दूसरों में भी उसका प्रचार करता है।' एक आक्षेप यह भी किया गया था कि "राममोहन राय पुस्तक छपाकर जो घर-घर बिकवाते हैं यह पाप है ।" राममोहन ने कहा कि मेरा यह कार्य शास्त्रों के अनुकूल ही है–

वेदार्थं यज्ञशास्त्राणि धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
मूल्येन लेखयित्वायो दद्यादेति स वै दिवं ।।

अर्थात्– "जो व्यक्ति वेदार्थ, यज्ञशास्त्र और धर्मशास्त्र मूल्य देकर लिखवाये और लोगों को देवे तो वह स्वर्ग को जाता है ।"

सुब्रह्मण्य शास्त्री नामक व्यक्ति ने भी प्रश्न किया कि "ब्रह्मज्ञान के लिये वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता है या नहीं?" राममोहन राय ने उत्तर दिया कि "यदि किसी ने वेद का अध्ययन न किया हो और वर्णाश्रम के आचारों का पालन न करता हो तब भी वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी है और उसे परमपद प्राप्त हो सकता है ।"

पण्डित काशीनाथ तर्कपंचानन ने 'धर्म संस्थापनाकाँक्षी' के नाम से कितने ही प्रश्न किये । उन्होंने पूछा "सदाचारहीन ब्रह्मज्ञान के अभिमानियों का जनेऊ पहिनना क्या उचित है ?" राममोहन राय ने उत्तर दिया– "इसमें सदाचार शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है । यदि उन्होंने इसका यह अर्थ माना हो कि अपने-अपने धर्मों के आचार-पालन का नाम सदाचार है तो हम उन्हीं से पूछते हैं कि वे अपने सदाचार का कितना पालन करते हैं ? और यदि वे अपने शास्त्रोक्त आचार का पैसा भर भी पालन नहीं करते तो पहले अपना जनेऊ उतार कर दूसरों का जनेऊ पहिनना अनुचित बतावें ।"

"धर्म-संस्थापनाकांक्षी" ने यह भी कहा कि 'महाजनो ये न गतः स पन्था' के अनुसार महाजनों ने जो किया है उसी का नाम सदाचार है । पर 'महाजन' कौन है इसका निर्णय कौन करे ? यहाँ तो सब अपने-अपने आचार्यों को बड़ा और दूसरों को छोटा मानते हैं । वैष्णव लोग जिसको 'महाजन' कहते हैं शैव और शाक्त उसकी निन्दा करते है । यही हाल सभी सम्प्रदाय वालों का है ।

फिर काशीनाथ तर्कपञ्चानन ने एक धनी सनातनधर्मी के कहने से 'पाखण्ड-पीडनं' नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित कराया, जिसमें राममोहन राय को 'पाखण्डी' 'नगरवासी बगुला' आदि अनेक अपशब्द लिखे गये थे । राममोहन राय ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक उसका सविस्तार उत्तर दिया, जिसका नाम था 'पथ्य-प्रदान' । इसमें तर्क पंचानन के प्रश्नों का उत्तर देते हुए और भी बहुत-सी महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया गया । उदाहरणार्थ उन्होंने प्रश्न किया कि "महाभारत एक धार्मिक उपन्यास (कथा ग्रन्थ) है या नहीं ? चैतन्यदेव विष्णु के अवतार हैं, इसका शास्त्रीय प्रमाण क्या है ? सदाचार क्या है और उसका निर्णय कैसे हो सकता है ?

अन्य उपयोगी रचनायें

उपर्युक्त शास्त्रार्थ मूलक पुस्तकों के सिवा राममोहन राय ने और भी बहुत-सी उपयोगी पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कीं । 'ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ के लक्षण' नामक पुस्तक में उन्होंने समझाया कि सच्चे ब्रह्मनिष्ठ को संसार में रहकर कैसा व्यवहार करना चाहिये । 'गायत्री-उपासना का विधान' में उन्होंने लिखा कि "बिना वेद पढ़े हुए गायत्री के ही द्वारा ब्रह्म की उपासना हो सकती है । जो ब्राह्मण गायत्री का नियमित जप करता है वह अज्ञात रूप से ब्रह्म की ही उपासना करता है ।" 'अनुष्ठान' नामक पुस्तक मे उन्होने उपासना का रहस्य समझाया और उपदेश दिया कि जो मनुष्य तुमसे भिन्न प्रकार से उपासना करता हो उससे कभी द्वेष मत करो । तुम परमेश्वर की उपासना करते हो और दूसरे धर्म वाले भी उसी की उपासना करते है, तब तुममें और उनमें खास भेद क्या है ? उपासना की विधि, उपासना में आहार-विहार के नियम, उपासना की दृष्टि से देश, दिशा और काल के कोई नियम हो सकते हैं या नहीं ? उपासना का उपदेशक कौन बन सकता है ?-- आदि बातों पर उन्होंने प्रमाण सहित अच्छा विवेचन किया है । इसके पश्चात् उन्होंने 'ब्रह्मोपासना' नामक पुस्तक में ब्रह्मसमाज में उपासना के नियमों और विधान का विशेष रूप से वर्णन किया ।

'प्रार्थनापत्र' नामक पुस्तक में राममोहन राय ने सब मतो के प्रति उदार भ्रातृ-भाव रखने का उपदेश दिया है । उन्होंने सब मतों का स्वयं गहरा अध्ययन किया था । वे अरबी के विद्वान् थे और कुरान को सामने रखकर ही मुसलमानों को एकब्रह्म की उपासना का रहस्य समझाते थे । 'बाइबिल' को उन्होंने केवल अँग्रेजी में ही नहीं ग्रीक और हिब्रू भाषा में भी ध्यानपूर्वक पढ़ा था और इस कारण वे ईसाई धर्म के तत्व को पादरियो की अपेक्षा भी अच्छी तरह प्रकट कर सकते थे । इस प्रकार के विस्तृत अध्ययन से उनके विचार बहुत उदार हो गये थे । इसलिये इस पुस्तक में उन्होंने यही शिक्षा दी है कि सच्चे धार्मिक व्यक्ति को कभी संकुचित विचार मन में नहीं लाना चाहिये, क्षुद्रता को त्यागना चाहिये, संसार के सब मतों और उनके अनुयायियों को अपना भाई समझना चाहिये ।

'ब्रह्म-संगीत' में अपने और कुछ मित्रों के बनाये गायनो का संग्रह किया है । एक बार जब कलकत्ता गजट में किसी लेखक ने उन पर यह आक्षेप किया कि ये अपनी आत्मीय सभा में मूर्तिपूजकों के समान ही नाच-गाना कराते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि "हमारी उपासना में नाच कभी नहीं हुआ, पर संगीत जरूर होता है । महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपासना के समय संगीत की आज्ञा दी है । संगीत से मनुष्य के मन में एक दृढ़ भावना पैदा होती है ।" उनके संग्रहीत इन संगीतों का उनके सामने ही काफी प्रचार हो गया और यह पुस्तक तीन-चार बार छापी गई । इसके बाद तो यह ब्रह्म-समाज की मुख्य पाठ-पुस्तक बन गई और पचासों बार छपकर प्रचारित की गई । इसके गायन ऐसी आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण थे कि ब्रह्मसमाजी ही नहीं मूर्तिपूजक भी इसका बड़ा आदर करते थे ।

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान की चर्चा उठाकर राममोहन राय द्वारा हिन्दू-समाज की जागृति का एक बड़ा कदम उठाया गया । उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों की तरह बंगाल मे भी बहुत समय से वेद और उपनिषदों की चर्चा बन्द हो गई थी । संस्कृत-पाठशालाओं में पडितगण पुराण स्मृति, न्याय आदि की शिक्षा ही शिष्यों को देते थे । हिन्दू-मात्र स्वीकार करते थे कि धर्म का मूल वेद ही है, पर वेद के सम्बन्ध में उनकी जानकारी नाममात्र को थी । जब लोगों ने राममोहन राय के मुख से 'वेद-ब्राह्मण' 'गृह्य-सूत्र' 'वेदान्त भाष्य' आदि का नाम सुना और उनके मन्त्रों के आधार पर ही उनको एकेश्वरवाद (एक ही परमात्मा) का प्रतिपादन करते देखा तो पुराने ढर्रे के पण्डित हक्के-बक्के रह गये । इसके फल से लोगो में फिर से अपने इस प्राचीन साहित्य की चर्चा आरम्भ हुई । मैक्समूलर साहब ने समग्र वेदों के प्रकाशन की योजना

की और स्वामी दयानन्द आदि ने हिन्दी प्रांतों में 'वेदों का झण्डा' उठाकर प्राचीन भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का कार्य आरम्भ किया । इस प्रकार आधुनिक समय में सर्वसाधारण में वैदिक ज्ञान और उपनिषदो की अध्यात्म-विद्या के प्रचार का सर्वप्रथम श्रेय राममोहन राय को ही है ।

राममोहन राय ने ब्रह्मज्ञान और विविध कर्मों के समन्वय पर संस्कृत, बंगाली, हिन्दी, अँग्रेजी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं में जितने ग्रन्थ लिखे उनको देखकर लोग उनके परिश्रम पर आश्चर्य करने लगते हैं । उनके छोटे और बड़े सभी ग्रन्थों का निरीक्षण करने से विदित होता है कि उन्होंने प्रत्येक को बहुसंख्यक ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करके ही लिखा है । असाधारण बुद्धि और स्मरण शक्ति के साथ ही उनका परिश्रम भी असीम था । ये रात के दो-दो, तीन-तीन बजे तक जाग कर पढ़ते और लिखते थे । इस प्रकार उन्होंने हिन्दू-समाज के सुधार के लिये कितना परिश्रम किया और बदले में हजारों व्यक्तियों द्वारा अपशब्द और गालियाँ सहन कीं, इस पर विचार करने से उनको 'हिन्दू-धर्म-रक्षक' की पदवी देना यथार्थ ही जान पड़ता है ।

ईसाई पादरियों से वाद-विवाद

उस समय ईसाई पादरी भी इस देश में अपना जाल फैला रहे थे । मुसलमानों की एक्य-भावना के कारण उन पर तो ईसाइयों का प्रभाव बहुत कम हो पाता था, पर हिन्दुओं की फूट को देखकर उन पर इन्होंने छापा मारना शुरू किया । अँग्रेजी शासन के आरम्भिक दिनों में तो सरकार की नीति यह थी कि हिन्दू धर्म के विरुद्ध कोई काम न किया जाय । अगर कोई पादरी भारतीय धर्म के खिलाफ कुछ कहता तो सरकार को बुरा लगता था और वह उनको यहाँ से निकालकर वापस इंग्लैण्ड भेज देती थी । कारण यही था कि ऐसा होने से कदाचित यहाँ के निवासी नाराज हो जाते और अँग्रेजी राज्य को नापसन्द करने लगते । पर जब उनका शासन जम गया और सर्वसाधारण की तरफ से किसी तरह की आशंका नहीं रही तब उन्होंने पादरियों को अपना प्रचार-कार्य करने की छूट दे दी । वे छोटे-छोटे ट्रैक्ट लिखकर हिन्दू-देवताओं की निन्दा करते थे, शहर और कस्बों के बाजारों में खड़े होकर अपने धर्म की श्रेष्ठता और इस देश के धर्मों की हीनता बताते रहते थे । कुछ लोगों को धन आदि के लोभ में फँसा कर भी ईसाई बना लेते थे ।

इन पादरियों का एक बड़ा अड्डा कलकत्ता के पास श्रीरामपुर में था, जहाँ से अपने धर्म का प्रचार करने के लिये 'समाचार चन्द्रिका' नाम का अखबार प्रकाशित करते थे । सन् १८२१ के किसी अंक में उन्होंने एक लेख छापा जिसमें वेद, न्याय, पातञ्जल, मीमांसा, पुराण, पुनर्जन्म आदि का खण्डन किया । उस समय राममोहन राय हिन्दू-पण्डितों के आक्षेपों का उत्तर देने में व्यस्त रहते थे, तो भी अपने धर्म पर ईसाइयों का आक्रमण होते देखकर उनका स्वाभिमान जाग्रत हो गया । उन्होंने लेख का उत्तर लिखकर "समाचार चन्द्रिका" में ही छपने को भेजा । पर जब उसके सम्पादक ने उसे छापने से इन्कार कर दिया तो राममोहन राय ने फौरन 'ब्राह्मण संवधि' नाम का अखबार आरम्भ कर दिया और ईसाइयों के आक्षेपों का जोरदार उत्तर दिया । उस समय बंगाल में प्रसिद्ध पण्डितों और धनी जमींदारों की कमी न थी, पर किसी को यह नहीं सूझा कि जो हमारे सम्पूर्ण धर्म पर ही हमला कर रहा है और उसे निगल जाने के मंसूबे बाँध रहा है, पहले उसका मुकाबला किया जाय । इसके बजाय वे हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिये चिन्ता करने वाले राममोहन राय ही पर अपना जोर दिखा रहे थे ।

यह थी उस अवसर पर धर्म के ठेकेदार बनने वालों की मनोवृत्ति, जो आज भी बदली नहीं है । ये 'पण्डित' तथा 'जातीय नेता' नामधारी जीव अपने उन भाइयों पर तो जो समाज में समयानुरूप सुधार करके उसे सशक्त और कार्यक्षम बनाना चाहते हैं, आक्रमण करने में बड़े चतुर और साहसी होते है; पर वैर-भाव रखने वाले प्रत्यक्ष बाहरी शत्रुओं का सामना करने की कभी चर्चा भी नहीं करते । ऐसे घर के 'जयचन्द्रों' का अस्तित्व किसी भी जाति, धर्म के लिए वास्तव में बड़े अभाग्य का विषय है । ऐसे व्यक्ति अपने पेट-पालन के धन्धे और नेतागीरी को कायम रखने के लिये समाज को भेड़चाल पर ही कायम रखने का उद्योग करते रहते हैं, चाहे उसके सामने किसी कुए मे गिरकर नष्ट हो जाने का खतरा ही क्यों न हो । जो लोग अपने भाइयों को इस खतरे की सूचना देकर सुरक्षित मार्ग पर चलने की सलाह देते हैं वे ही उनको दुश्मन जान पड़ते हैं, क्योंकि उनको भय लगता है कि कहीं दे हमारी 'नेतागीरी' और 'पेट के धन्धे' को छीन न लें । इस प्रकार ये स्वार्थ-प्रधान और अदूरदर्शी लोग 'रेवड़ी' के लिये मसजिद ढहाने' की कहावत को चरितार्थ करते हैं । राममोहन राय सचमुच हम सबकी श्रद्धा के पात्र हैं, जिन्होंने ईसाई-आक्रमणकारियों का अकेले होने पर भी सामना किया और उनके इरादों को बहुत कुछ असफल कर दिया ।

पर राममोहन राय उस दशा में भी सच्चे ब्राह्मणों के विरुद्ध नहीं थे । पादरियों ने अपने लेख में ब्राह्मणों की भी निन्दा की थी और हँसी उड़ाई थी । उसका उत्तर देते हुए राममोहन राय ने लिखा था-- ब्राह्मण की पर्णकुटी, शाक का भोजन और भिक्षावृत्ति को देखकर उन्हें तुच्छ मत समझो,

''धर्म-संस्थापनाकांक्षी'' ने यह भी कहा कि 'महाजनो ये न गतः स पन्था' के अनुसार महाजनों ने जो किया है उसी का नाम सदाचार है । पर 'महाजन' कौन है इसका निर्णय कौन करे ? यहाँ तो सब अपने-अपने आचार्यों को बड़ा और दूसरों को छोटा मानते हैं । वैष्णव लोग जिसको 'महाजन' कहते हैं शैव और शाक्त उसकी निन्दा करते है । यही हाल सभी सम्प्रदाय वालों का है ।

फिर काशीनाथ तर्कपञ्चानन ने एक धनी सनातनधर्मी के कहने से 'पाखण्ड-पीडनं' नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित कराया, जिसमें राममोहन राय को 'पाखण्डी' 'नगरवासी बगुला' आदि अनेक अपशब्द लिखे गये थे । राममोहन राय ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक उसका सविस्तार उत्तर दिया, जिसका नाम था 'पथ्य-प्रदान' । इसमें तर्क पंचानन के प्रश्नों का उत्तर देते हुए और भी बहुत-सी महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया गया । उदाहरणार्थ उन्होंने प्रश्न किया कि ''महाभारत एक धार्मिक उपन्यास (कथा ग्रन्थ) है या नहीं ? चैतन्यदेव विष्णु के अवतार है, इसका शास्त्रीय प्रमाण क्या है ? सदाचार क्या है और उसका निर्णय कैसे हो सकता है ?

अन्य उपयोगी रचनायें

उपर्युक्त शास्त्रार्थ मूलक पुस्तकों के सिवा राममोहन राय ने और भी बहुत-सी उपयोगी पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कीं । 'ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ के लक्षण' नामक पुस्तक में उन्होंने समझाया कि सच्चे ब्रह्मनिष्ठ को संसार में रहकर कैसा व्यवहार करना चाहिये । 'गायत्री-उपासना का विधान' में उन्होंने लिखा कि "बिना वेद पढ़े हुए गायत्री के ही द्वारा ब्रह्म की उपासना हो सकती है । जो ब्राह्मण गायत्री का नियमित जप करता है वह अज्ञात रूप से ब्रह्म की ही उपासना करता है ।'' 'अनुष्ठान' नामक पुस्तक में उन्होंने उपासना का रहस्य समझाया और उपदेश दिया कि जो मनुष्य तुमसे भिन्न प्रकार से उपासना करता हो उससे कभी द्वेष मत करो । तुम परमेश्वर की उपासना करते हो और दूसरे धर्म वाले भी उसी की उपासना करते हैं, तब तुममें और उनमे खास भेद क्या है ? उपासना की विधि, उपासना में आहार-विहार के नियम, उपासना की दृष्टि से देश, दिशा और काल के कोई नियम हो सकते हैं या नहीं ? उपासना का उपदेशक कौन बन सकता है ?-- आदि बातों पर उन्होंने प्रमाण सहित अच्छा विवेचन किया है । इसके पश्चात् उन्होंने 'ब्रह्मोपासना' नामक पुस्तक में ब्रह्मसमाज में उपासना के नियमों और विधान का विशेष रूप से वर्णन किया ।

'प्रार्थनापत्र' नामक पुस्तक में राममोहन राय ने सब मतों के प्रति उदार भ्रातृ-भाव रखने का उपदेश दिया है । उन्होंने सब मतों का स्वयं गहरा अध्ययन किया था । वे अरबी के विद्वान् थे और कुरान को सामने रखकर ही मुसलमानों को एकब्रह्म की उपासना का रहस्य समझाते थे । 'बाइबिल' को उन्होंने केवल अँग्रेजी में ही नहीं ग्रीक और हिब्रू भाषा में भी ध्यानपूर्वक पढ़ा था और इस कारण वे ईसाई धर्म के तत्व को पादरियों की अपेक्षा भी अच्छी तरह प्रकट कर सकते थे । इस प्रकार के विस्तृत अध्ययन से उनके विचार बहुत उदार हो गये थे । इसलिये इस पुस्तक में उन्होंने यही शिक्षा दी है कि सच्चे धार्मिक व्यक्ति को कभी संकुचित विचार मन में नहीं लाना चाहिये, क्षुद्रता को त्यागना चाहिये, संसार के सब मतों और उनके अनुयायियों को अपना भाई समझना चाहिये ।

'ब्रह्म-संगीत' में अपने और कुछ मित्रों के बनाये गायनो का संग्रह किया है । एक बार जब कलकत्ता गजट मे किसी लेखक ने उन पर यह आक्षेप किया कि ये अपनी आत्मीय सभा में मूर्तिपूजकों के समान ही नाच-गाना कराते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि ''हमारी उपासना में नाच कभी नहीं हुआ, पर संगीत जरूर होता है । महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपासना के समय संगीत की आज्ञा दी है । संगीत से मनुष्य के मन में एक दृढ़ भावना पैदा होती है ।'' उनके संग्रहीत इन संगीतों का उनके सामने ही काफी प्रचार हो गया और यह पुस्तक तीन-चार बार छापी गई । इसके बाद तो यह ब्रह्म-समाज की मुख्य पाठ-पुस्तक बन गई और पचासों बार छपकर प्रचारित की गई । इसके गायन ऐसी आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण थे कि ब्रह्मसमाजी ही नहीं मूर्तिपूजक भी इसका बड़ा आदर करते थे ।

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान की चर्चा उठाकर राममोहन राय द्वारा हिन्दू-समाज की जागृति का एक बड़ा कदम उठाया गया । उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों की तरह बंगाल में भी बहुत समय से वेद और उपनिषदों की चर्चा बन्द हो गई थी । संस्कृत-पाठशालाओं में पंडितगण पुराण स्मृति, न्याय आदि की शिक्षा ही शिष्यों को देते थे । हिन्दू-मात्र स्वीकार करते थे कि धर्म का मूल वेद ही है, पर वेद के सम्बन्ध में उनकी जानकारी नाममात्र को थी । जब लोगों ने राममोहन राय के मुख से 'वेद-ब्राह्मण' 'गृह्य-सूत्र' 'वेदान्त भाष्य' आदि का नाम सुना और उनके मन्त्रों के आधार पर ही उनको एकेश्वरवाद (एक ही परमात्मा) का प्रतिपादन करते देखा तो पुराने ढर्रे के पण्डित हक्के-बक्के रह गये । इसके फल से लोगों में फिर से अपने इस प्राचीन साहित्य की चर्चा आरम्भ हुई । मैक्समूलर साहब ने समग्र वेदों के प्रकाशन की योजना

की और स्वामी दयानन्द आदि ने हिन्दी प्रांतों में 'वेदों का झण्डा' उठाकर प्राचीन भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का कार्य आरम्भ किया । इस प्रकार आधुनिक समय में सर्वसाधारण में वैदिक ज्ञान और उपनिषदों की अध्यात्म-विद्या के प्रचार का सर्वप्रथम श्रेय राममोहन राय को ही है ।

राममोहन राय ने ब्रह्मज्ञान और विविध कर्मों के समन्वय पर संस्कृत, बंगाली, हिन्दी, अँग्रेजी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं में जितने ग्रन्थ लिखे उनको देखकर लोग उनके परिश्रम पर आश्चर्य करने लगते हैं । उनके छोटे और बड़े सभी ग्रन्थों का निरीक्षण करने से विदित होता है कि उन्होंने प्रत्येक को बहुसंख्यक ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करके ही लिखा है । असाधारण बुद्धि और स्मरण शक्ति के साथ ही उनका परिश्रम भी असीम था । वे रात के दो-दो, तीन-तीन बजे तक जाग कर पढ़ते और लिखते थे । इस प्रकार उन्होंने हिन्दू-समाज के सुधार के लिये कितना परिश्रम किया और बदले में हजारों व्यक्तियों द्वारा अपशब्द और गालियाँ सहन कीं, इस पर विचार करने से उनको 'हिन्दू-धर्म-रक्षक' की पदवी देना यथार्थ ही जान पड़ता है ।

ईसाई पादरियों से वाद-विवाद

उस समय ईसाई पादरी भी इस देश में अपना जाल फैला रहे थे । मुसलमानों की एक्य-भावना के कारण उन पर तो ईसाइयों का प्रभाव बहुत कम हो पाता था, पर हिन्दुओं की फूट को देखकर उन पर इन्होंने छापा मारना शुरू किया । अँग्रेजी शासन के आरम्भिक दिनों में तो सरकार की नीति यह थी कि हिन्दू धर्म के विरुद्ध कोई काम न किया जाय । अगर कोई पादरी भारतीय धर्म के खिलाफ कुछ कहता तो सरकार को बुरा लगता था और वह उनको यहाँ से निकालकर वापस इंग्लैण्ड भेज देती थी । कारण यही था कि ऐसा होने से कदाचित यहाँ के निवासी नाराज हो जाते और अँग्रेजी राज्य को नापसन्द करने लगते । पर जब उनका शासन जम गया और सर्वसाधारण की तरफ से किसी तरह की आशंका नहीं रही तब उन्होंने पादरियों को अपना प्रचार-कार्य करने की छूट दे दी । वे छोटे-छोटे ट्रैक्ट लिखकर हिन्दू-देवताओं की निन्दा करते थे, शहर और कस्बों के बाजारों में खड़े होकर अपने धर्म की श्रेष्ठता और इस देश के धर्मों की हीनता बताते रहते थे । कुछ लोगों को धन आदि के लोभ में फँसा कर भी ईसाई बना लेते थे ।

इन पादरियों का एक बड़ा अड्डा कलकत्ता के पास श्रीरामपुर में था, जहाँ से अपने धर्म का प्रचार करने के लिये 'समाचार चन्द्रिका' नाम का अखबार प्रकाशित करते थे । सन् १८२१ के किसी अंक में उन्होंने एक लेख छापा जिसमें वेद, न्याय, पातञ्जल, मीमांसा, पुराण, पुनर्जन्म आदि का खण्डन किया । उस समय राममोहन राय हिन्दू-पण्डितों के आक्षेपों का उत्तर देने में व्यस्त रहते थे, तो भी अपने धर्म पर ईसाइयों का आक्रमण होते देखकर उनका स्वाभिमान जाग्रत हो गया । उन्होंने लेख का उत्तर लिखकर "समाचार चन्द्रिका" में ही छपने को भेजा । पर जब उसके सम्पादक ने उसे छापने से इन्कार कर दिया तो राममोहन राय ने फौरन 'ब्राह्मण संवधि' नाम का अखबार आरम्भ कर दिया और ईसाइयों के आक्षेपों का जोरदार उत्तर दिया । उस समय बंगाल में प्रसिद्ध पण्डितों और धनी जमींदारों की कमी न थी, पर किसी को यह नहीं सूझा कि जो हमारे सम्पूर्ण धर्म पर ही हमला कर रहा है और उसे निगल जाने के मंसूबे बाँध रहा है, पहले उसका मुकाबला किया जाय । इसके बजाय वे हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिये चिन्ता करने वाले राममोहन राय ही पर अपना जोर दिखा रहे थे ।

यह थी उस अवसर पर धर्म के ठेकेदार बनने वालों की मनोवृत्ति, जो आज भी बदली नहीं है । ये 'पण्डित' तथा 'जातीय नेता' नामधारी जीव अपने उन भाइयों पर तो जो समाज में समयानुरूप सुधार करके उसे सशक्त और कार्यक्षम बनाना चाहते हैं, आक्रमण करने में बड़े चतुर और साहसी होते हैं, पर वैर-भाव रखने वाले प्रत्यक्ष बाहरी शत्रुओं का सामना करने की कभी चर्चा भी नहीं करते । ऐसे घर के 'जयचन्दों' का अस्तित्व किसी भी जाति, धर्म के लिए वास्तव में बड़े अभाग्य का विषय है । ऐसे व्यक्ति अपने पेट-पालन के धन्धे और नेतागीरी को कायम रखने के लिये समाज को भेड़चाल पर ही कायम रखने का उद्योग करते रहते हैं, चाहे उसके सामने किसी कुए में गिरकर नष्ट हो जाने का खतरा ही क्यों न हो । जो लोग अपने भाइयों को इस खतरे की सूचना देकर सुरक्षित मार्ग पर चलने की सलाह देते हैं वे ही उनको दुश्मन जान पड़ते हैं, क्योंकि उनको भय लगता है कि कहीं ये हमारी 'नेतागीरी' और 'पेट के धन्धे' को छीन न लें । इस प्रकार ये स्वार्थ-प्रधान और अदूरदर्शी लोग 'रेवड़ी' के लिये मसजिद ढहाने' की कहावत को चरितार्थ करते हैं । राममोहन राय सचमुच हम सबकी श्रद्धा के पात्र हैं, जिन्होंने ईसाई-आक्रमणकारियों का अकेले होने पर भी सामना किया और उनके इरादों को बहुत कुछ असफल कर दिया ।

पर राममोहन राय उस दशा में भी सच्चे ब्राह्मणों के विरुद्ध नहीं थे । पादरियों ने अपने लेख में ब्राह्मणों की भी निन्दा की थी और हँसी उड़ाई थी । उसका उत्तर देते हुए राममोहन राय ने लिखा था-- ब्राह्मण की पर्णकुटी, शाक का भोजन और भिक्षावृत्ति को देखकर उन्हें तुच्छ मत समझो,

क्योंकि धर्म ऐश्वर्य के शिखर पर नहीं बैठता, ऊँची पदवियों के पीछे मारा-मारा नहीं फिरता और बड़ी-बड़ी हवेलियों में निवास नहीं करता ।" पादरियों ने न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि हिन्दू-दर्शनों पर जो आक्षेप किये थे उनका उत्तर राममोहन राय ने बड़ी योग्यतापूर्वक दिया । पुराण और तन्त्रों के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया था कि क्या उनमें असम्भव गपोड़े और साकार उपासना नहीं है ? राममोहन राय ने इसके उत्तर में 'बाइबिल' के ही बीसियो प्रमाण देकर बतलाया कि ऐसी बातों की ईसाइयों में कमी नहीं है, फिर ये हिन्दुओं के पुराणों पर किस मुँह से आक्षेप करते हैं ?

ईसाइयों ने प्रश्न किया कि "हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार जीवों को अपने कर्मों के अनुसार स्थावर और जंगम योनियों में आना पड़ता है । पर हिन्दुओं का ही एक सम्प्रदाय मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं मानता । इनमें से कौन-सी बात ठीक मानी जाय ?" राममोहन राय ने उत्तर दिया– "किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं लिखा कि मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं होता । यह केवल नास्तिकों का मत है । शास्त्र तो कहता है कि इसी संसार में पुण्य-पाप का फल मिलता है । या ईश्वर पाप और पुण्य के अनुसार मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग और नरक देता है । यही बात ईसाई धर्म में भी मानी गई है कि खुल्लमखुल्ला दान करने से इसी जन्म में फल मिलेगा । बाइबिल मे यह भी बतलाया है कि इस शरीर के नाश होने पर ईश्वर कयामत के दिन जीव को फिर शरीर देगा और इस शरीर-युक्त जीव से पुण्य और पाप का फल भुगतावेगा। यदि ईसाई लोग ऐसी सृष्टि नियम के विरुद्ध बात को मान सकते हैं तो सृष्टि नियम के अनुकूल इसी जगत में दुबारा शरीर मिलने (पुनर्जन्म) पर वे क्यों आश्चर्य करते हैं ?"

इस प्रकार ईसाइयों के साथ राममोहन राय ने बहुत समय तक लेख और पुस्तकें लिखकर शास्त्रार्थ किया और उनको निरुत्तर कर दिया । राममोहन राय ने मूल हिब्रू बाइबिल के प्रमाण देकर । ईसाई धर्म में प्रचलित कितने ही विश्वासों का खण्डन कर दिया । पादरी उनका कुछ उत्तर न दे सके तो वे भी राममोहन राय को अपशब्द कहने लगे जो उनकी हार की निशानी थी क्योंकि शास्त्रार्थ में गाली वही बकता है जिसके पास उत्तर देने के लिये तर्क और प्रमाण नहीं होते । राममोहन राय तो सदैव शान्त और गम्भीर रहते थे क्योंकि अपने अध्ययन और परिश्रम के बल पर वे प्रमाणों के ढेर लगा देते थे । उन्होंने ईसाइयों के इस प्रकार गाली बकने पर लिखा– "सभ्यता ने मुझे ऐसी बातों का उत्तर देने से रोका है, पर मेरे विपक्षियों को स्मरण रखना चाहिये कि वे शुद्ध धर्म पर वाद-विवाद कर रहे हैं, दुर्वाक्य लिखने से उनका कोई लाभ नहीं हो सकता ।"

वास्तव में राममोहन राय ईसाई धर्म के भी विरोधी नहीं थे । ईसाई पादरियों से वाद-विवाद करने के लिये उन्होंने जो उनके धार्मिक ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया उससे उनको उस धर्म के विषय में बहुत अधिक ज्ञान हो गया और कुछ समय पश्चात् उन्होंने "प्रीसेपुटस आफ जेसस टू पीस एण्ड हैपीनेस" (ईसामसीह के सुख और शान्तिदायक उपदेश) नामक पुस्तक लिखी । भारत में रहने वाले पादरियों ने तो वाद-विवाद की मनोवृत्ति के कारण इसका भी विरोध किया, पर इंग्लैण्ड और अमेरिका में इसका बड़ा आदर किया गया और इंग्लैण्ड में इसे कई बार छापकर प्रचारित किया गया । योरोप की अन्य अनेक भाषाओं में भी इसका अनुवाद किया गया । एक भारतवासी की ऐसी अगाध विद्या, बुद्धि और योग्यता देखकर योरोप वाले आश्चर्य करने लगे । इसका यह परिणाम हुआ कि जब सन् १८३० में राममोहन राय विलायत गये तो वहाँ की जनता और बड़े-बड़े धार्मिक नेताओं ने उनका बहुत स्वागत किया और अपने गिरजाघरों में बुलाकर बड़े आदर के साथ उनकी अभ्यर्थना की ।

इंग्लैण्ड की धार्मिक जनता पर उनका कितना अधिक प्रभाव पड़ा था इसका वर्णन करते हुए उनके जीवन-चरित्र की विदुषी लेखिका मिस मेरी कारपेन्टर ने लिखा था– 'राजा राममोहन राय के इंग्लैण्ड पहुँचने के पहले ही उनका यश वहाँ के घर-घर मे पहुँच चुका था । राममोहन राय के पहुँचने के पहले ही वहाँ के कितने ही ईसाइयों ने उनकी विद्या-बुद्धि के विषय में कई ट्रेक्ट छपाकर बाँटे थे । इंग्लैण्ड वाले समझने लगे थे कि अब पूर्व से एक महात्मा का उदय होने वाला है । सारा इग्लैण्ड भारत माता के सपूत का स्वागत करने को तैयार था ।" 'भारत और मिश्र का भ्रमण' पुस्तक के लेखक-लेफ्टिनेन्ट कर्नल फीट् सक्लारेन्स ने लिखा था– वे (राममोहन राय) संस्कृत के ही पण्डित नहीं बल्कि अँग्रेजी के भी बड़े विद्वान् हैं । अँग्रेजी हमारी मातृभाषा है, पर वे ऐसी ही धारा प्रवाह अँग्रेजी बोलते थे जैसी एक अँग्रेज वक्ता बोलता है । उन्होंने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है कि हिन्दूधर्म शुद्ध एकेश्वरवादी है ।"

उन्होंने धार्मिक विषयों पर जो कुछ लिखा था वह इतना विद्वतापूर्ण था कि फ्रांस के लोगों ने उनको बुलाकर उनका स्वागत समारोह किया । फ्रांस के सम्राट् लुई फिलिप ने उनको बुलाकर सम्मान किया और उनके साथ एक टेबिल पर बैठकर भोजन किया । पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी ने उनको अपना 'सम्मानित सदस्य' (आनरेरी मेम्बर) बनाया । महाकवि टामस मूर ने एक प्रसिद्ध होटल में उनको दावत दी । उन्होंने अपनी डायरी में राजा राममोहन

राय की बड़ी प्रशंसा लिखी है । यह है उनकी विद्वता और महानता का प्रमाण कि फ्रांस जैसे दूरवर्ती देश में, जहाँ की भाषा भी वे नहीं जानते थे और जहाँ केवल दो-चार मास के लिये भ्रमण करने को गये थे, उनका इतना आदर किया गया और उनके कारण भारतवर्ष और भारतीय धर्म का भी महत्त्व स्वीकार किया गया । पर यहाँ अपने देश में 'शास्त्री' जी, और भट्टाचार्य जी की दृष्टि में वे 'नास्तिक, पतित और जातिबहिष्कृत' ही बने रहे ! अब पाठक स्वयम् ही विचार करें कि इन दोनों में से किसको हिन्दू-धर्म का भक्त, सेवक और रक्षक माना जाय ?

विलायत और फ्रांस में इस प्रकार ईसाइयों द्वारा 'सम्मानित किये जाने और गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करने का आशय यह नहीं था कि उन्होंने अपनी जाति और धर्म को त्याग दिया था । विलायत में रहकर भी वे अपनी 'ब्रह्म उपासना' उसी प्रकार करते थे और वहीं पर देहान्त हो जाने पर जब उनके शव से वस्त्र उतारे गए तो शरीर पर यज्ञोपवीत मौजूद था । मरने से पहले वे यह भी कह गये थे कि उनको ईसाइयों के कब्रिस्तान में न दफनाया जाय वरन् हिन्दुओं की विधि से अलग स्थान में समाधि दी जाय।

सती प्रथा का उन्मूलन

राममोहन राय सती किये जाने की क्रूरता से बाल्यावस्था से ही परिचित थे, जब उनके बड़े भाई की विधवा को उनकी आँखों के सामने बलपूर्वक सती किया गया था । अँग्रेज शासक इस प्रथा को बहुत बुरा मानते थे, पर उनको यह डर लगता था कि इसमें हस्तक्षेप करने से शायद इस देश में अशान्ति फैल जायगी और हमारे नव स्थापित राज्य के लिए एक बड़ा खतरा पैदा हो जायगा । इसलिये उन्होंने पण्डितों से सम्मति लेकर आरम्भ में यह आज्ञा प्रचारित की कि "सती होने वाली स्त्री से यह मालूम कर लिया जाय कि वह अपनी राजी-खुशी से और होशहवास में सती होती है या किसी प्रकार की जबर्दस्ती के कारण ?" क्योंकि पण्डितों के मतानुसार शास्त्रों में किसी स्त्री को बलपूर्वक सती करने का विधान न था और उसे निन्दनीय बतलाया गया था । पर उस समय, कम से कम बंगाल में तो १०० में से ६० सतियाँ बहका कर ही की जाती थीं और एक बार चिता पर बैठा दिये जाने के बाद उसे भाले और तलवारों से वहीं पर बैठे रहने को विवश किया जाता था ।

इसीलिये जब राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया तो एक तरफ तो सरकार एक प्रभावशाली विद्वान् को अपना सहायक और समर्थक पाकर प्रसन्न हुई और दूसरी ओर हिन्दू-जाति का अन्धविश्वासी समुदाय उन पर टूट पड़ा, उनको धर्मद्रोही और जाति-द्रोही कहा जाने लगा । बड़ी-बड़ी सभायें करके प्रस्ताव पास किये जाने लगे कि राममोहन राय के कहने से सरकार सती-प्रथा को बन्द न करे । पर परोपकार के लिये जीवन अर्पण करने का संकल्प करने वाले इन बाधाओं के कारण कब पीछे पैर हटा सकते थे ? उन्होंने अंग्रेजी लेखों द्वारा अँग्रेज-समाज पर इतना प्रभाव डाला कि अन्त में वे उन्हीं के पक्ष में हो गये ।

सती-प्रथा को अनुचित सिद्ध करने के लिये राममोहन राय ने मुख्यतः तीन दलीलें पेश कीं (१) शास्त्रों में सती होना आवश्यक नहीं माना गया है । कहीं भी यह नहीं लिखा है कि यदि कोई सती न हो तो उसे पाप लगेगा । (२) काम्य-कर्म को शास्त्रों में हीन कहा गया है और सती होना एक काम्य-कर्म ही है । फिर शास्त्रों में ही सती होने की अपेक्षा विधवा का ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करना अधिक श्रेष्ठ बतलाया है । (३) शास्त्रों में सती के सब काम उसकी इच्छानुसार होने चाहिए । वह अपने आप संकल्प करे, अपने आप चिता पर बैठे और शान्ति से जलकर मर जाय । पर ऐसा कहीं नहीं होता । सती के नाम पर सर्वत्र नारी-हत्या की जाती है, इसलिये यह प्रथा बन्द की जानी चाहिए ।

राममोहन राय ने सती प्रथा पर बंगाली और अँग्रेजी में तीन पुस्तकें लिखकर मुफ्त बँटवाई । अँग्रेजी पुस्तकों को उन्होंने उस समय के वायसराय लार्ड हेस्टिंगस की पत्नी श्रीमती मार्क्विस ऑफ हेस्टिंगस को समर्पित किया था । इसका अंग्रेजी अधिकारियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा । सन् १८१६ के 'इण्डिया गजट' में लिखा गया था– "इस देश के एक अति प्रधान विश्व हितैषी ने सतीदाह की कठोर प्रथा का आन्दोलन उठाकर शासकों की विशेष सहायता की है । बड़े उत्साह से उसने अपनी सम्मति वायसराय के सामने रखी है । थोड़े दिन पहले वायसराय उनसे मिले थे और बड़े आदर के साथ उनकी बातें सुनी थीं । हमें मालूम हुआ है कि गवर्नर जनरल इस प्रथा को बन्द कर देंगे क्योंकि ब्रिटिश शासन के लिए इससे बढ़कर और कोई कलंक नहीं हो सकता ।" फिर भी इस समस्या पर सब पहलुओं से विचार करने और विरोधियों की बातों का निराकरण करने में कुछ वर्ष लग ही गये । बीच में लार्ड आमहर्स्ट गवर्नर जनरल बनकर आ गये, जो इस खतरे को उठाना नहीं चाहते थे और इसलिये मौन ही बने रहे । सन् १८२८ में लार्ड विलियम बैण्टिक आये जो बड़े सुधार प्रिय थे । उन्होंने राजा राममोहन राय को बुलाकर उनसे सलाह की और सन् १८२९ की ४ दिसम्बर को कानून बना कर सदा के लिये सती प्रथा को बन्द कर दिया । दो-तीन दिन के भीतर ही

इस कानून का हुक्म मजिस्ट्रेटों के पास भेज दिया गया और अनगिनती विधवाओं की तकदीर फिर गई ।

इधर अन्ध-विश्वासियों की 'धर्म-सभा' भूखी बिल्ली की तरह उछल-कूद मचाने लगी । राममोहन राय के ऊपर चारों तरफ से अपशब्दों और श्रापों की वर्षा होने लगी । एक बड़ी सभा करके उन्हें पूरी तरह जाति-बाहर किया गया । कलकत्ते के कितने ही प्रभावशाली व्यक्ति कहने लगे कि 'उन्हें जान से मार दो ।' उनके पास इस प्रकार की धमकी के कई पत्र आये भी । सचमुच वह समय राममोहन राय और उनके साथियों के लिये बड़े संकट का था । उनके सब मित्र और हितैषी उनको समझाते थे कि अकेले बाहर मत निकला करो, एक विश्वासी आदमी जरूर साथ रखो । पर उनको अपने आत्मबल और शरीर बल पर भरोसा था, इससे निडर होकर सर्वत्र आते जाते थे । हाँ, उन दिनों आत्म-रक्षा के भाव से अपने जेब में एक कटार अवश्य रख लेते थे ।

लार्ड वैण्टिक ने सती-प्रथा बन्द की थी, इसलिये उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये राममोहन राय ने एक अभिनन्दन पत्र दिया । इसके लिये कलकत्ता के टाउन हाल में १६ जनवरी १८३० को एक सभा की गई जिसमें तीन-सौ के लगभग गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे । धर्म-सभा भी चुप नहीं बैठी थी । उसने सतीदाह के कानून को रद्द करने के लिये इंग्लैण्ड की सरकार के पास अर्जी भेजी, पर वहाँ सब लोग वास्तविक स्थिति को समझ चुके थे, इससे कोई परिणाम न निकला ।

सती-प्रथा को बन्द कराके उन्होंने अपना ध्यान बहु-विवाह की तरफ दिया । यह भी एक ऐसी निन्दनीय प्रथा थी जिसके कारण बंगाल में लाखों स्त्रियों का भाग्य जान-बूझकर पत्थर से फोड़ दिया जाता था । उस समय बंगाल में ऐसा कुलीन ब्राह्मण कदाचित ही कोई मिल सकता था जिसने एक ही स्त्री से विवाह किया हो । बल्कि सुनने में तो यहाँ तक आता था कि ऐसे भी व्यक्ति मौजूद हैं जो १०८ स्त्रियों से विवाह कर चुके हैं । दस-दस और पाँच-पाँच विवाह करना तो मामूली बात थी । कारण यही था कि जो लोग गरीबी के कारण अपनी लड़की का अच्छा विवाह नहीं कर सकते थे अथवा जिनको "कुलीन' वर की ही सनक होती थी वे पुण्य की निगाह से अपनी पुत्रियों का विवाह ऐसे लोगों से कर देते थे जिसका पेशा ही विवाह करना होता था । उस समय बंगाल में ऐसी लाखों स्त्रियाँ थीं जिनका केवल विवाह संस्कार ही पति के साथ हुआ था पर जिन्होंने कभी पतिगृह के दर्शन भी नहीं किये थे । वे बाप के घर में रहकर ही बूढ़ी हो जाती थीं ।

इस प्रकार के अनेक बहु-पत्नी वाले तो कोई धन्धा-रोजगार भी नहीं करते थे । वे महीने-महीने, पन्द्रह-पन्द्रह दिन एक-एक स्त्री के घर रहकर अपनी उमर बिता देते थे । राममोहन राय ने इस सम्बन्ध में बहुत से लेख और पुस्तिकायें लिखकर खूब प्रचार किया जिससे इसकी बुराइयाँ लोगों की समझ में आने लगीं और धीरे-धीरे इस प्रथा में बहुत कमी हो गई । उन्होंने जाति भेद की निःसारिता तथा उसकी हानियों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा और संस्कृत के 'वज्र-सूची' नामक ग्रंथ का बंगला अनुवाद करके प्रकाशित किया जिससे वर्तमान जाति-भेद का खण्डन होता था ।

ब्रह्म-समाज की स्थापना

अपने इस समाज-सुधार सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार करने के उद्देश्य से राममोहन राय ने कलकत्ता में अपने कुछ मित्रों और सहयोगियों को लेकर सन् १८१५ में ही 'आत्मीय-सभा' के नाम से एक संस्था स्थापित की थी । इसमें प्रति सप्ताह वेद-पाठ होता था और ब्रह्म-संगीत गाये जाते थे । कुछ लोग ऐसे ही परीक्षा लेने के विचार से इसमें आते थे पर अपने संकीर्ण विचारों के कारण फिर छोड़ देते थे । एक जय कृष्णसिंह नामक व्यक्ति ने इसको छोड़कर यह अफवाह फैलाई कि 'आत्मीय-सभा' में सब मिलकर बैल को काटते हैं ? इस प्रकार के विरोध के कारण अनेक लोग इनको छोड़कर चले गये । तो भी यह अपने विचारों पर दो-चार मित्रों के साथ प्रतिदिन 'परमात्मा की प्रार्थना' कर ही लेते थे । विरोधियों ने राममोहन राय पर कुछ लोगों को भड़काकर झूठे-सच्चे मुकदमे भी चलवा दिये, पर तब भी वे निराश नहीं हुए । सन १८१६ में सभा का एक बड़ा अधिवेशन हुआ । उसमें पुराण पंथियों के नेता राजा राधाकांत देव अनेक शास्त्रियों को लेकर आये और राममोहन राय के सिद्धान्तों को गलत साबित करने की बहुत चेष्टा की । पर विजय राममोहन राय की ही हुई ।

इस प्रकार आठ-दस वर्ष चलने के पश्चात् ऐसा समय आया जब राममोहन राय और उनके सहयोगी श्री द्वारकानाथ ठाकुर, काशीनाथ मुन्शी प्रसन्नकुमार ठाकुर आदि ने निश्चय किया कि इस संस्था को स्थायी रूप प्रदान किया जाय । तब उन्होंने १८२८ में एक मकान किराये पर लेकर इसको "ब्रह्म समाज" के नाम से स्थापित किया और उसके उद्देश्य इस प्रकार निश्चित किये–

(१) वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए ।

(२) इनमें एक ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है ।

(३) मूर्तिपूजा वेदानुकूल नहीं है इसलिये इसे त्याज्य समझा जाय ।

(४) बहु-विवाह, बाल-विवाह, सती प्रथा सब वेद विरुद्ध और त्याज्य है ।

(५) ईसाई-धर्म में भी बहुत से अच्छे लोग हैं, परन्तु ईसाई-धर्म किसी तरह हिन्दू-धर्म से श्रेष्ठ नहीं हो सकता । यह आवश्यक नहीं कि शासकों के धार्मिक विचार भी उच्च और सत्य हों । यह उनकी बड़ी भूल है कि वे पराजित जाति पर अपने धर्म को आरोपित करें ।

इस समाज का प्रचार बढ़ने लगा और सन् १८१९ में ही इसके निजी भवन की नींव रख दी गई और उसी वर्ष सभा का कार्य उसमें होने लग गया । राममोहन राय ने इसकी नियमावली और उपासना-पद्धति ऐसी बनाने की चेष्टा की थी जिससे उसके सदस्यों में मतभेद का अवसर न आवे । उन्होंने कहा कि किसी सम्प्रदाय में तीन बातों पर ही मतभेद हुआ करते हैं– (१) उपास्य देवता के विषय में, (२) उपासक कौन हो सकता है ? (३) उपासना-प्रणाली ।

(१) पहली बात के सम्बन्ध में राममोहन राय का मत था कि ब्रह्माण्ड का उत्पन्नकर्ता, रक्षणकर्ता और संहारकर्ता अनादि, अगम्य अपरिवर्तनशील, सर्वव्यापी परमात्मा ही उपासना के योग्य है । किसी प्रकार के साम्प्रदायिक नाम से उसकी उपासना करनी ठीक नहीं ।

(२) उपासक कौन हो सकता है ? जो हार्दिक श्रद्धा से प्रेरित होकर परमात्मा की उपासना करने आवे, उसके लिये ब्रह्म-समाज का दरवाजा सदा खुला है । वह किसी जाति, किसी सम्प्रदाय, किसी धर्म किसी समाज और किसी देश का हो– इसका कुछ विचार न किया जायेगा । समाज-भवन में उपासना करने का सबको पूर्ण अधिकार है ।

(३) उपासना प्रणाली क्या होगी ? कोई चित्र, मूर्ति या आकार वाली मूर्ति कदापि काम में न लाई जायेगी । भोग, प्रसाद, बलिदान, मानता आदि कोई साम्प्रदायिक बात न होगी । किसी प्रकार का खान-पान, भण्डारा आदि न होगा । किसी मनुष्य या समाज की यहाँ हँसी, निन्दा, चित्त दुखाने वाली बात न होगी । जिससे सृष्टिकर्ता परमात्मा का ध्यान, धारण बढ़े और प्रेम, नीति, दया, भक्ति, साधुता की उन्नति हो ऐसे ही उपदेश और संगीत यहाँ पर होंगे और किसी प्रकार के नहीं ।

राममोहन राय ने कोई नया धर्म नहीं चलाया

इस प्रकार राममोहन राय ने कोई नया धर्म नहीं चलाया, वरन् प्राचीन भारतीय मान्यता को ही फिर से आजकल की भाषा और शैली में प्रकाशित किया । निराकार ईश्वर की उपासना क्या नई बात है ? हजारों ऋषि महर्षि निराकार की उपासना ही करते रहते थे । सब उपनिषदों में निराकार परमात्मा की ही उपासना भरी हुई है । सब जाति, वर्ग और सम्प्रदाय वाले एक ही प्रकार से निराकार ईश्वर की उपासना करें यह प्रचलित प्रथा के विरुद्ध जान पड़ता था, पर इसमें भी नया कुछ नहीं था । क्योंकि आरम्भ में जाति, वर्ण, सम्प्रदाय थे ही नहीं, तब उपासना के विषय में किसी को कैसे पृथक् किया जा सकता था ? इसी के आधार पर राममोहन राय ने कहा– "ब्राह्मण और चाण्डाल, हिन्दू और मुसलमान सब आओ और भाई-भाई बनकर एक निराकार ईश्वर की उपासना करो । सब भेदभाव भूलकर, सार्वभौमिक भाव से एकमात्र निराकार, अगम्य, अनादि परब्रह्म की पूजा करो ।" पर द्वेष बुद्धि वालों को इसमें भी अधर्म और पाप ही जान पड़ा और वे उनको क्रिस्तान, म्लेच्छ आदि बतलाने लगे । यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने यही बात कुछ भिन्न शब्दों में कही है–

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

(अध्याय ५-१८)

अर्थात्– "पण्डित लोग विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डाल में, हाथी, गौ और कुत्ते में समभाव रखने वाले होते हैं ।"

पर एक आजकल के पण्डित हैं जिन्होंने 'टका-धर्म' को अपना रखा है और समभाव और विश्वबन्धुत्व की बातों को अर्थवाद (प्रशंसात्मक) कहकर टाल देते हैं । ऐसे ही 'पण्डितगण' राममोहन राय से लेकर गाँधी जी तक को 'नास्तिक और पापी' बतलाते आए हैं और अन्धविश्वास के गर्त में पड़ी हुई अशिक्षित जनता को बहकाते रहते हैं । राममोहन राय के प्रयत्नों को नष्ट करने के लिये उन्होंने भी 'धर्म-सभा' कायम कर दी थी । इस सभा का यही काम था कि हर तरह से ब्रह्म-समाज की बुराई करे । राममोहन राय ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिये 'सम्वाद कौमुदी' नामक पत्र निकाला तो 'धर्म सभा' वालों ने भी 'चन्द्रिका' नाम का समाचार-पत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया । शहर के बड़े-बड़े जमींदार और धनी लोग उत्साहपूर्वक उसमें भाग लेने लगे और एक लाख का फण्ड उसके संचालन के लिये इकट्ठा किया गया । चितपुर रोड के एक बड़े मकान में सभा का अधिवेशन होता था । कहते हैं कि उस समय तमाम रास्ता इन लोगों की गाड़ियों से रुक जाता था ।

एक तरफ ऐसे 'धर्म-मूरत' धनी, जमींदार और पूजा-पाठ से पेट भरने वाले पण्डित लोग थे और दूसरी

तरफ एक निराकार ब्रह्म की उपासना को ही सत्य समझने वाले राममोहन राय और उनके थोड़े से उत्साही सदस्य थे। एक लेखक के कथनानुसार "जो राममोहन राय की संस्था में सम्मिलित हुए थे, वे भी सर्वसाधारण में बड़ी निन्दा की दृष्टि से देखे जाते थे और उन पर उँगलियाँ उठती थीं । रास्ते में निकलते हुए लोग उन्हें सुना-सुनाकर 'नास्तिक, पाखण्डी, धूर्त' आदि उपाधियों से विभूषित करते रहते थे । एकमात्र परमात्मा पर विश्वास रखकर और अपने नेता के प्रोत्साहन से वे सब अत्याचार शान्ति से सह लेते थे । न उन लोगो के पास जन-बल था, न धन-बल और न कोई ऊपरी आडम्बर पर धर्म-सभा का आडम्बर बड़ा भारी था । उसकी सजावट और तड़क-भड़क से साधारण बुद्धि वाले यही समझते थे कि 'ब्रह्म-समाज' अब छूमन्तर की तरह उड़ जायगी । किसे आशा थी कि यह छोटा-सा वट का बीज एक दिन विशाल वृक्ष बन जायगा ?

धर्म-सभा वालों ने अपना यही कर्त्तव्य बना लिया था कि जहाँ बैठना 'ब्रह्म-समाज' की निन्दा अवश्य करना । वे लोगों को ब्रह्म-समाज में जाने से रोकते थे और जो रोकने पर भी चले जाते थे उन्हें जाति-बाहर होने का दण्ड दिया जाता था । इसका परिणाम यह हुआ कि घर-घर में कलह होने लगा तथा बाप-बेटे में और भाई-भाई मे वैमनस्य उत्पन्न हो गया । जो ब्राह्मण किसी ब्रह्म समाजी के घर से दान ले आता था उसे धर्म-सभा में नहीं बुलाया जाता और यह भी प्रचार किया जाता कि इसे कोई दान न दे ।"

महामानव का महान् आत्म त्याग

फिर भी राममोहन राय ने इन विघ्नो की परवाह नहीं की । विरोध जितना अधिक बढ़ा उतने ही जोर से वे भी अपना प्रचार कार्य करने लगे । यद्यपि ब्रह्म-समाज का भवन बनकर उसमें संस्था का कार्य नियमित रूप से आरम्भ होने के साल भर पीछे ही उनको इग्लैण्ड जाना पड़ा और वहीं पर तीन वर्ष के भीतर उनका देहान्त हो गया, तो भी उन्होंने जो पौधा इतने त्याग और तपस्या से लगाया था वह दिन पर दिन वृद्धि को ही प्राप्त होता गया । आगे चलकर यद्यपि उसमें भी वृक्ष की अनेक शाखाओं के समान 'आदि ब्रह्म समाज' और 'नूतन ब्रह्म-समाज' आदि के नाम से विभाजन हो गया तो भी उन्होंने समाज-सुधार का जो कार्यक्रम उठाया था वह देश के एक बड़े भाग मे फैल गया और उससे लाखो लोगों को समय के विपरीत प्राचीन रूढ़ियों को त्यागने और समय के अनुकूल नियमों को अपनाने का साहस मिला । राममोहन राय की प्रेरणा से आगे चलकर अन्य प्रान्तों में ऐसी ही विभिन्न समाज-सुधारक सस्थाओं का जन्म हुआ । बम्बई प्रान्त में तो 'ब्रह्म-समाज' का ही सम्पूर्ण कार्यक्रम 'प्रार्थना-समाज' के नाम से अपना लिया गया ।

राममोहन राय ने लोगों को यही शिक्षा दी थी कि रीति-रिवाज और सामाजिक प्रथाएँ समाज के संचालन और सुव्यवस्था के लिये बनाई जाती हैं । उनको समाज से ऊपर समझ लेना, अपरिवर्तनीय धर्म की तरह मान लेना भूल है । जब समय और परिस्थितियाँ बदल जायें तो पुराने रीति-रिवाजों की जगह समय के अनुकूल नये नियम बना लेने चाहिए । यह सिद्धान्त बिल्कुल सरल और बुद्धिगम्य है, पर अन्धविश्वासी व्यक्ति इसको भूल जाते हैं और जो कोई इस तथ्य को समझना चाहता है उसे वे 'धर्म-विरोधी' नास्तिक पापी आदि कहने लगते है ।

राजा राममोहन राय सचमुच एक महामानव थे । अगर वे चाहते तो खूब धन, सम्पत्ति, सम्मान पाकर बड़े लोगों की तरह सुख का जीवन बिता सकते थे । पर उन्होंने अपनी शक्तियों को निजी सुख प्राप्त करने के बजाय हिन्दू-समाज को अज्ञानान्धकार और पतन के मार्ग से हटाकर कल्याणकारी मार्ग दिखलाने में लगा दिया । फल यह हुआ कि वे स्वयं तो धन-दौलत और सांसारिक वैभव से वंचित रह गये, पर उनके प्रयत्नों से लाखों- व्यक्तियों के सामाजिक और मानसिक बन्धन कट गये और वे नारकीय परिस्थितियो से बाहर निकलकर सुखी जीवन बिता सके । लाखों निर्दोष नारियो की प्राण-रक्षा भी उनके प्रयत्नों से हो सकी ।

विलायत-यात्रा और अन्तिम समय

राममोहन राय सदैव कर्म में लगे रहने वाले पुरुष थे । उनकी आकांक्षा थी कि जो सुधार उन्होंने किये है, उनका परिचय इंग्लैण्ड जाकर वहाँ के निवासियों को भी दिया जाय । भारत-शासन की बागडोर इंग्लैण्ड के नेताओं और शासकों के ही हाथ में थी, इसलिये उनको अपना मन्तव्य समझाकर इन नये सुधारों को सुदृढ़ बना देना भी उनके मन मे था । पर वे इसलिये रुके हुए थे कि जो काम वे यहाँ शुरू कर चुके हैं, वह कहीं अधूरा ही न रह जाय । जब उन्हे भरोसा हो गया कि जो काम मैंने आरम्भ किया है वह मेरे पीछे भी चलता रहेगा तब उन्होंने यात्रा का विचार पक्का कर लिया ।

जब उनके विलायत जाने का समाचार सब जगह फैला तो फिर एक हलचल मच गई । एक ऊँचे कुल में पैदा हुआ ब्राह्मण 'गोमाँस भक्षियो' के देश में जा रहा है, इस बात से पुराने ढर्रे के लोगों को बड़ी चिन्ता होने लगी । जो लोग अभी तक धार्मिक विषयो में केवल इनका विरोध ही करते रहते थे और उनको 'पापी' कहते-कहते नहीं अघाते

थे, वे भी ऐसा 'नीच काम' न करने की सलाह देने लगे । वे फिर जाति का डर दिखाने लगे और लड़कों, बच्चों को भी पैतृक सम्पत्ति का हिस्सा न मिलने की बात कहने लगे । पर जो राममोहन राय अब तक इन अन्धविश्वासों के सैकड़ों अत्याचारों को वीरतापूर्वक सहन कर चुके थे वे ऐसे झूँठे भय से कब डरने वाले थे ।

पर असली प्रश्न धन का था । विलायत-यात्रा के लिये काफी धन की आवश्यकता थी, जिसका उनके पास अभाव था । संयोग से उसी समय दिल्ली के 'पेंशनयाफ्ता बादशाह' को अपने एक मुकदमे की पैरवी इंग्लैण्ड में करानी थी और उसने राममोहन राय की विद्या-बुद्धि और प्रभाव की बात सुनकर उनको इस काम के लिये चुना । उसने उनको अपने दरबार में नियुक्त करके तथा 'राजा' की पदवी देकर उपयुक्त सत्ता के साथ विलायत भेजने की व्यवस्था की ।

इंग्लैण्ड पहुँचने पर अपने सार्वजनिक कार्यों और धर्म सम्बन्धी उदार विचारों के कारण वहाँ उनका अभूतपूर्व स्वागत और सम्मान हुआ । वहाँ उन्होंने लगभग तीन वर्ष तक रहकर अनेक भारत हितकारी कार्यों को सम्पन्न किया और इंग्लैण्ड की सरकार से इस देश में शिक्षा-प्रचार की उचित व्यवस्था करने का कानून बनवाया, जिससे इसकी शीघ्रतापूर्वक प्रगति हो सके । वहाँ भी उन्होंने इस कार्य में इतना परिश्रम किया कि अन्त में उनकी जीवनी शक्ति समाप्त हो गई । ११ सितम्बर, १८३३ को इंग्लैण्ड के अनेक विद्वानों के सम्मुख भारत को धर्मनीति, राजनीति और भविष्य के सम्बन्ध में तीन घण्टे तक खड़े रहकर वार्तालाप किया। दूसरे ही दिन उनमें थकावट के चिह्न दिखाई पड़ने लगे और वे ज्वरग्रस्त होकर शैयागत हो गये । वहाँ के डाक्टरों ने उनकी पूरी चिकित्सा की और कुमारी कारपेंटर तथा कुमारी हेअर आदि ने बड़ी लगन के साथ दिन-रात उनकी सेवा-सुश्रूषा की । पर उनका ज्वर दूर न हो सका और निर्बलता बढ़ती गई जिससे २७ सितम्बर, १८३३ को वे परलोक को प्रयाण कर गये ।

सुधार तथा परोपकार के देवदूत
पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

गरीबी को प्रायः लोग अभिशाप मानते हैं और ऐसा सोचते हैं कि जो गरीब होता है वह संसार मे कोई उन्नति नहीं कर सकता और न कोई उल्लेखनीय काम ही, किन्तु पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने जीवन द्वारा इस मान्यता को उन लोगों की निराशात्मक भावना सिद्ध कर दिया जो परिश्रम तथा पुरुषार्थ का महत्व नहीं समझते अथवा गरीबी का बहाना लेकर अपनी अकर्मण्यता तथा अयोग्यता छिपाना चाहते हैं अन्यथा गरीबी एक ऐसा अवसर है जो उन्नति एवं प्रगति की सम्भावनायें उपस्थिति करता है।

यह कथन केवल सूक्तिमात्र नहीं है । इसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ स्थित है । वह यह कि धन की सुविधा में कोई विरले ही ऐसे होते हैं, जिन्हें जीवन में कोई उल्लेखनीय प्रगति करने की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा अधिकांश वे लोग उसके उपभोग में लगकर मानव-जीवन की सार्थकता भुला बैठते हैं जबकि निर्धनता की स्थिति एक तो स्वयम् ही निरर्थक भोगों की सुविधा उपस्थित नहीं होने देती, जिससे मनुष्य की बहुत-सी शक्ति तथा समय सुरक्षित रहता है । दूसरे यह किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति के लिये एक चुनौती होती है जिसकी कठिनाइयाँ कर्मठता की ओर अग्रसर करती हैं । किन्तु निर्धनता के बीच इस सौभाग्य का अधिकारी होता वही है जो उस स्थिति को आत्मा से नहीं करता और उसे बदल डालने में प्रयत्न एवं परिश्रम की किसी भी सीमा तक बढ़ जाने में कृपणता नहीं करता ।

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने गरीबी को एक चुनौती माना और अपने अखण्ड अध्यवसाय के बल पर उसे जीतकर यह प्रमाणित कर दिया कि संसार में किसी भी कर्तव्यशील व्यक्ति के लिये निर्धनता की स्थिति जीवन-विकास मे अवरोध नहीं बन सकती । पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने न केवल आर्थिक प्रगति ही करके दिखला दी वरन् उन गुणों को भी आत्मसात् करके दिखला दिया जो, मनुष्यता की शोभा, जीवन की महत्ता और समाज के संराधक होते हैं और जिनका आग्रह अनायास ही आत्मा की ओर खुलने वाले उन झरोखों का उद्‌घाटन कर देता है, जिसके द्वारा ईश्वरीय आलोक का समागमन होता है ।

कलकत्ता से बीस मील दूर पश्चिम में स्थित बीरसिंह गाँव के जिस परिवार में २६ सितम्बर १८२० को पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जन्म हुआ था, वह कितना गरीब था इसका अनुमान इससे ही लगाया जा सकता है कि उनके पिता ठाकुर दास न जाने कितने दिन जीविका की चिन्ता से, भूखे-प्यासे कलकत्ता की सड़कों पर फिरे है और उन्हें दो रुपये माहवार की एक नौकरी मिली तो घर में उत्सव जैसी खुशी छा गयी । ऐसे निर्धन परिवार में एक अध्यवसायी तथा गुणी बालक ने जन्म लेकर अपने साथ अपने उस कुल और कुटुम्ब को भी स्मरणीय बना दिया, जिसको सामान्य जीवन की आवश्यकतायें भी दुर्लभ थीं ।

किसी प्रकार धैर्य तथा सन्तोष के सहारे जीकर ईश्वरचन्द्र ने गाँव की पाठशाला में प्रवेश पाया और परिश्रमपूर्वक पढ़कर उसकी सारी कक्षायें यथा समय पास

कर लीं । अब इसके आगे पढ़ाई के कोई साधन न थे और उनके पिता ने उन्हें बिठा लिया । आगे की शिक्षा कलकत्ता में संभव थी । यह परिवार के वश की बात न थी । तब भी उनके पिता के मस्तिष्क से यह बात न निकली कि वे सन्तान को सुयोग्य बनाने के लिये अपने कर्तव्य को पूरा नहीं कर पा रहे हैं ।

श्री ठाकुरदास की यह कसक उन्हें कलकत्ता में ईश्वरचन्द्र की शिक्षा के लिये अवसर खोजते रहने की प्रेरणा देती रही । वे जिन महानुभाव के यहाँ कार्य करते थे वे बड़े सज्जन व्यक्ति थे और ठाकुरदास ने अपनी ईमानदारी तथा परिश्रम से उनकी प्रसन्नता भी प्राप्त कर ली थी । एक दिन अवसर पाकर उन्होंने अपने मालिक श्री जगदुर्लभसिंह से अपनी इच्छा का प्रकाशन किया और बताया कि ईश्वरचन्द्र का मन पढ़ने में बहुत लगता है । उसने वीरसिंह की पाठशाला की सारी कक्षायें प्रथम श्रेणी में पास कर ली हैं । गाँव के शिक्षक श्री कालीकान्त का कहना है कि ईश्वर बड़ा चपल बुद्धि का लड़का है यदि उसे पढ़ने का अवसर मिलता रहा तो एक योग्य व्यक्ति बन सकता है, नहीं तो उसकी बुद्धि सदुपयोग के बिना गलत मार्ग पर जा सकती है और ऐसी अवस्था में वह उपद्रवी होकर समाज के लिए कष्टदायक बन सकता है, मेरा अपना जो कुछ बनना था वह तो बन चुका किन्तु यह अवश्य चाहता हूँ कि ईश्वरचन्द्र कुछ पढ़-लिखकर किसी योग्य बन जाता नहीं तो लोग यह लांछन लगायेंगे कि जब योग्य बना सकने की क्षमता नहीं थी तो बच्चों को जन्म देने का क्या अधिकार था । मेरा निवेदन है कि आप इस संबन्ध में मेरी कुछ सहायता करें, जिसके उपलक्ष्य में मुझसे कोई अतिरिक्त काम भी ले सकते है । श्री जगदुर्लभसिंह ने ठाकुरदास में पुत्र की प्रगति के लिये एक सच्चे पिता की पीड़ा देखी और एक अच्छे मनुष्य के नाते सहायता करने का वचन दे दिया ।

श्री ठाकुरदास जी तुरन्त गाँव आये और ईश्वरचन्द्र को साथ लेकर कलकत्ता चल दिये । बीस मील की दूरी थी और सवारी का कोई साधन नहीं था । अस्तु, पिता-पुत्र उस लम्बी यात्रा पर पैदल ही चल पड़े । इस समय ईश्वरचन्द्र की आयु लगभग आठ वर्ष की थी । ठाकुरदास जानते थे कि बीस मील की पैदल यात्रा उसके लिये कठिन थी और गोद में लेकर भी चला नहीं जा सकता था । निदान उन्होंने उसे बहलाये रखने के लिये शिक्षा की उपयोगिता तथा उसकी प्रगति के उपायों पर बातें करना प्रारम्भ कर दिया । साथ ही वे उत्साहित करने के लिये मील के पत्थरों पर लिखे अंक दिखलाकर यह भी कहते चले कि अब हम लोगों ने इतना मार्ग पूरा कर लिया कि कलकत्ता केवल इतने मील रह गया है । ईश्वरचन्द्र बड़े ध्यान से पिता की बातें सुनता रहा और मील के पत्थरों पर लिखे अँग्रेजी अंक देखता और हृदयंगम करता चला गया । मानव-मस्तिष्क का सहज-स्वभाव होता है कि वह जिस दिशा और वातावरण में सक्रिय रखा जाता है उसी ओर प्रगति करता और उसी के अनुसार गुण-दोषों को ग्रहण करता रहता है । पिता के उस वार्तालाप से ईश्वरचन्द्र के मस्तिष्क में शिक्षा का महत्व और उसे प्राप्त करने के लिये एकाग्र परिश्रम की आवश्यकता का विश्वास गहराई के साथ बैठ गया । उसके हृदय में शिक्षा के प्रति जगी उत्सुकता ने उसे क्लांति का अनुभव नहीं होने दिया । वह निरन्तर उत्साह के साथ चलता रहा ।

जिस प्रकार धैर्य का सहारा लेने से आपत्ति और आख्यान के सहारे रात कट जाती है, वार्तालाप के सहारे उन दोनों का रास्ता भी सरलतापूर्वक कट गया और वे कलकत्ता में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये । श्री जगदुर्लभ सिंह ने बच्चे की योग्यता परखने के लिये उससे पूछा कि, बेटे क्या पढ़-लिख सकते हो ? ईश्वरचन्द्र ने तुरन्त उत्तर दिया कि मैं बंगला लिख-पढ़ सकने के साथ अँग्रेजी के अंक भी लिख-पढ़ और जोड़ सकता हूँ । श्री जगदुर्लभसिंह ने उसे अँग्रेजी अंकों का एक छोटा-सा बिल जोड़ने को दिया । ईश्वरचन्द्र ने बिना किसी शिक्षक के बिल ले लिया और विश्वासपूर्वक उसे जोड़कर दिखला दिया। ठाकुरदास को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ उन्होंने पूछा कि क्या गाँव की पाठशाला में तुम्हें अँग्रेजी की गिनती पढ़ाई गई है ? ईश्वरचन्द्र ने बतलाया कि अँग्रेजी के अंक उसे पाठशाला में सिखाये नहीं गये है बल्कि, उसने उन्हें रास्ते में मील के पत्थरों से सीख लिया है । ठाकुरदास को जहाँ बच्चे की ग्रहणशीलता पर हर्ष हुआ वहाँ यह विश्वास भी हो गया कि प्रेमपूर्वक बच्चो पर किया हुआ कोई भी प्रयास व्यर्थ नहीं जाता ।

शिक्षा के अनुसार ही बच्चों का जीवन ढलता है- इसलिये, इस विचार से कि ईश्वरचन्द्र भी कहीं तत्कालीन विद्यार्थियों की तरह बाबूगिरी की ओर प्रवृत्त होकर भारतीयता से विमुख न हो जाये और समाज के लिये अनुपयोगी सिद्ध हो, ठाकुरदास ने उन्हें कलकत्ता के संस्कृत कालिज में प्रवेश दिलाना ही उचित समझा ।

ईश्वरचन्द्र के लिये संस्कृत सर्वथा एक नई भाषा थी । किन्तु उन्होने साहस तथा परिश्रमपूर्वक उसे पढ़ना शुरू किया । उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे कालिज के सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी बनकर रहेंगे । इसके लिये कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े, करेंगे । उन्होने ऐसा किया भी. । कालिज में पूरी तन्मयता के साथ पढ़ने के बाद वे घर पर भी बहुत

समय तक पढ़ा करते थे। सवेरे एक पहर रात रहे वे उठ जाते थे और अपना पाठ याद करने लगते थे। उसके बाद वे अपने साथ दो-तीन आदमियों का भोजन बनाते थे, वर्तन साफ करते थे। घर की सफाई और बाजार से सारा सामान लाना भी उन्हीं का काम था। लकड़ी चीरने और पानी भरने के साथ इन्हें अपने पिता और छोटे भाई के कपड़े भी हाथ से साफ करने होते थे। इतना सब परिश्रम करने के बाद भी वे कभी थकान की शिकायत नहीं करते थे। इसी प्रकार वे शाम को भी सारा काम करते और आधी रात तक खुद पढ़ने के साथ अपने छोटे भाई को भी पढ़ाते थे।

रात में पढ़ते-पढ़ते जब कभी इनके दीपक का तेल समाप्त हो जाता था तो यह जाकर सड़क पर लगी लालटेन के नीचे बैठकर पढ़ते थे और जब तक दिन का पाठ याद करने के बाद दूसरे दिन के पाठ की तैयारी नहीं कर लेते थे कभी सोते न थे। ये अपना पाठ नित्य नियम से पिता को सुनाकर उसकी पुष्टि कर लिया करते थे।

विद्यासागर के इस महामानवीय परिश्रम का फल यह हुआ कि उन्होंने कालिज की परीक्षायें ६-६ माह में ही उत्तम श्रेणी में पास कर लीं और १६ वर्ष की आयु पहुँचते-पहुँचते कालिज के सर्वोत्तम विद्यार्थी होने का अपना निश्चय ही पूरा नहीं कर लिया बल्कि व्याकरण, साहित्य, अलङ्कार, स्मृति, तर्क वेदान्त आदि विषयों में पारंगति प्राप्त कर ली। माघ, किरात, मेघदूत, शकुन्तला, उत्तर रामचरित्र, मुद्राराक्षस, कादम्बरी, विक्रमोर्वशीय, दशकुमारचरित, कौमुदी, निरुक्त, मिताक्षरा, बाणभट्ट, मनु-संहिता आदि ग्रन्थ तो उन्हें कण्ठस्थ से ही हो गये थे। विद्याध्ययन में निरन्तर परिश्रम करने से इनके स्मृति कोष यहाँ तक खुल गये थे कि वे जिस श्लोक, पद अथवा प्रकरण को दो-एक बार पढ़ लेते थे वे उन्हें स्मरण हो जाते थे। उस समय के संस्कृत के विद्वानों में श्री ईश्वरचन्द्र का सर्वश्रेष्ठ स्थान था। संस्कृत की लिखी इनकी गद्य तथा पद्य की रचनायें इतनी शुद्ध तथा श्रेष्ठ होती थीं कि उस संबन्ध में इन्होंने अनेकों बार तत्सम्बन्धी पुरस्कार तथा प्रमाण-पत्र प्राप्त किये। कालिज की योग्यता संबन्धी कोई भी छात्रवृत्ति ऐसी न थी जो ईश्वरचन्द्र ने प्राप्त न कर ली हो।

अन्य विद्यार्थी उनकी इस सफलता को देखकर कहा करते थे कि ईश्वरचन्द्र तुम बड़े भाग्यवान हो। हर साल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते हो और हर कक्षा की छात्रवृत्ति पा जाते हो। ईश्वरचन्द्र उनका समाधान करते हुए कहा करते थे कि इसमें भाग्य की कोई बात ही नहीं है। यह सब उस परिश्रम का सुफल है जिसे मैंने प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन में स्वभाव सिद्ध किया है। परिश्रम मानव-जीवन का देवता है जो अपनी साधना से प्रसन्न होकर संसार का हर अभीष्ट प्रदान कर देता है। आप लोग भी उसी श्रम देवता की उपासना कीजिये। आप भी प्रथम आने और छात्रवृत्तियाँ पाने लगेंगे।

यद्यपि श्री ईश्वरचन्द्र जी इतने गरीब थे कि आधा पेट भोजन तो मामूली बात थी, सप्ताह में दो एक बार निराहार भी रहना पड़ जाता था। तथापि वे हृदय से इतने उदार तथा दयालु थे कि अपनी छात्रवृत्तियों का अधिकांश भाग निर्धन विद्यार्थियों की सहायता में खर्च कर देते थे। जब वे किसी विद्यार्थी को फटे पुराने कपड़े पहने देखते थे उनको ऐसा लगता था मानो उनका भाई ही कपड़ों के अभाव में चिथड़े लपेटे है। उनका हृदय सहानुभूति से भर जाता और वे तुरन्त उसके लिये कपड़े बनवा देते। गरीब विद्यार्थियों को शिक्षा-शुल्क और पुस्तकें खरीद कर देने में उन्हें बड़ा आत्म-सुख मिलता था। इस प्रकार श्री ईश्वरचन्द्र ने अपनी जानकारी में किसी भी विद्यार्थी को निर्धनता के कारण शिक्षा से वंचित नहीं होने दिया। यथासम्भव सबकी सहायता करते रहते थे। इस आर्थिक सहायता के साथ-साथ वे अपने सहपाठियों को अध्ययन में भी सहायता करते रहते थे। अपने पाठ पूरे कर लेने के बाद जो समय शेष बचता था उसमें कमजोर विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। उनकी सदैव ही यह इच्छा रहती थी कि सारे विद्यार्थी पढ़ने में तेज बनें और अच्छी श्रेणियों में पास हों।

सार्वदेशिक, वेदान्त तथा दर्शन-शास्त्र की योग्यता प्रतियोगिता में, जिस समय सर्वप्रथम आकर ईश्वरचन्द्र ने सैकड़ों रुपये के नकद पारितोषक प्राप्त किये और गद्य तथा पद्य रचना में सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित की उस समय ये भारत के महान विद्वान स्वीकार कर लिये गये और उस स्वीकृति के प्रकाशनार्थ उस समय के श्रेष्ठतम विद्वानों ने एक सभा करके ईश्वरचन्द्र का अभिनन्दन किया और सर्वसम्मति से इन्हें विद्यासागर की उपाधि दी और तब से ये ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस समय इनकी आयु उन्नीस बीस साल से अधिक न थी।

संस्कृत कालिज की समग्र शिक्षा आत्मसात् कर लेने के बाद विद्यासागर ने विद्या प्रसार करने का निश्चय किया। उनका विश्वास था कि जब तक देश में शिक्षा का समुचित प्रसार न होगा, जनता के हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं जलेगी, तब तक समाज का समुचित सुधार न होगा और वह विविध रूढ़ियों में ग्रस्त जीवन जीता रहेगा। अपने इस सदुद्देश्य का सूत्रपात करने के लिये अपने गाँव वीरसिंह में गये तब तक इधर उसी फोर्ट विलियम कालिज में प्रधान पण्डित का पद रिक्त हो गया। कालिज के प्रिंसिपल श्री

मार्शल साहब बड़े योग्य और मनुष्यों के पारखी व्यक्ति थे । वे जिस समय संस्कृत कालिज में प्रिंसिपल थे उसी समय से ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के गुणों को जानते थे और समझते थे कि विद्यासागर शिक्षा क्षेत्र के लिये बहुत ही उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध होंगे । निदान उन्होंने स्थान रिक्त होते ही उनको गाँव से बुलवा भेजा और प्रधान पण्डित का पद ग्रहण कर लेने के लिये विशेष तौर पर अनुरोध किया ।

विद्यासागर ने अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि मै नौकरी करके उपार्जित विद्या का उपयोग सीमित नहीं करना चाहता हूँ । मैं स्वतंत्र रहकर समाज में शिक्षा प्रसार की सेवा करना चाहता हूँ । देश में अविद्या का अन्धकार बुरी तरह फैला हुआ है । उसको दूर करने में यथा सम्भव प्रयत्न करना मेरा राष्ट्रीय कर्तव्य है । केवल अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये अपनी योग्यता का उपयोग करना बहुत बड़ा स्वार्थ है । इसी स्वार्थ के वशीभूत होकर देश के शिक्षित लोग समाज का विचार छोड़कर सरकारी सेवाओं में जाकर स्थगित हो जाते हैं । जबकि आवश्यकता इस बात की है कि जब तक समाज में शिक्षा का प्रकाश नहीं फैल जाता तब तक वे अपना समय शिक्षा प्रसार के पुण्य कार्य में लगायें । शिक्षित व्यक्ति ही तो समाज में शिक्षा का प्रसार कर सकते हैं मै अपनी सेवायें समाज को देकर एक उदाहरण उपस्थित करूँगा, जिससे कि दूसरे लोगों को प्रेरणा मिले और वे समाज से अविद्या का अन्धकार दूर करने में जनता की सहायता करें ।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सुन्दर विचार सुनकर श्री मार्शल साहब बहुत प्रभावित हुए और उनकी दृष्टि मे विद्यासागर का आदर और बढ़ गया । उन्होने उनके विचारों की सराहना करते हुए कहा-- 'जहाँ तक समाज में विद्या प्रसार का प्रश्न है, स्कूलों तथा कालिजों के माध्यम से वही तो होता है । यदि शिक्षा के इन माध्यमों में कोई कमी या संशोधन की आवश्यकता दिखलाई देती हो तो उसमें रहकर उनका सुधार किया जा सकता है । बाहर रहकर स्वतंत्र रूप से शिक्षा का प्रसार करना आप जितना आवश्यक समझते हैं उतना ही आवश्यक है शिक्षा-संस्थाओं को अच्छे तथा सुयोग्य शिक्षक मिलना । जिस समाज की संस्थायें सुयोग्य शिक्षकों से वंचित रहती है वहाँ शिक्षा का कार्य होते दिखलाई देने पर भी वास्तविक शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाता । बाहर रहकर तो आप अकेले ही शिक्षा का प्रसार करेंगे किन्तु कालिज में अपनी योग्यता के आधार पर ऐसे बहुत से व्यक्ति निर्माण कर सकते हैं जो समाज में आपके सदुद्देश्य को-आगे बढ़ा सकें । इसलिये मेरा सच्चा परामर्श है कि आप कालिज के प्रधान पंडित का पद ग्रहण कर ले और उसी माध्यम से अपने उद्देश्य के लिये प्रयत्न करें । मेरा विचार है कि इस प्रकार आप सरकार से भी बहुत कुछ सहयोग तथा सहायता प्राप्त कर सकते हैं जो कि आपके प्रयत्नों में बड़ी सीमा तक उपयोगी सिद्ध होगी ।

श्री विद्यासागर को प्रिंसिपल मार्शल के परामर्श में सार तथा सच्चाई मालूम हुई और उन्होंने कालिज में प्रधान पण्डित का पद स्वीकार कर लिया । सबसे पहला सुधार जो विद्यासागर ने कालिज में किया वह यह है कि उसमें सभी जातियों के लड़कों को शिक्षा की सुविधा मिल गयी । पहले कालिज में किन्हीं विशिष्ट जातियों के लड़कों को ही प्रवेश देने का नियम था । इससे कुछ उच्च जातियों के लड़के ही शिक्षा का लाभ उठा पाते थे । बाकी अन्य जातियों के लड़के अशिक्षित ही रह जाया करते थे । विद्यासागर ने देखा कि इस हानिकारक प्रतिबन्ध से पूरे समाज में शिक्षा का प्रसार नहीं हो पा रहा है । केवल कुछ विशिष्ट वर्ग के लड़के ही थोड़ी बहुत शिक्षा पा जाते है । इस प्रकार के प्रतिबन्ध से तो न जाने अन्य जातियों के कितने ही प्रतिभाशाली बच्चे अशिक्षित ही रह जाते हैं । उनकी प्रतिभा का न तो विकास हो पाता है और न उसका उपयोग ही समाज के हित में है । विद्यासागर ने अनुभव किया कि इस कालिज प्रवेश में इस जातीय तथा वर्गीय प्रतिबन्ध का उन्मूलन होना बहुत आवश्यक है । यह एक बड़ी क्षति है और इसके कारण देश की स्वतंत्रता प्रगति मे बाधा पड़ती है । जब सभी वर्गों और सभी जातियों के बच्चों को समान रूप से पढ़ने का अवसर मिलेगा तभी देश में शिक्षा प्रसार का उद्देश्य सिद्ध हो सकेगा । केवल किन्हीं एक-दो वर्ग के पढ़ें और अन्य सारे वर्गों के निरक्षर रहने से किसी समाज को शिक्षित नहीं माना जा सकता । देश और समाज का समुचित विकास तभी हो सकता है जब उसके सभी वर्गों और सभी जातियों के लोगों में शिक्षा का समुचित प्रसार हो ।

विद्यासागर जी ने कालिज से उक्त प्रतिबन्ध हटवाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने सबसे पहले कालिज के शिक्षकों तथा प्रधानों को अपने अभिमत से सहमत किया और उनका बल लेकर सरकार से लिखा-पढ़ी शुरू की । सरकार के सहमत हो जाने पर भी जनमत का एक बहुत बड़ा प्रश्न सामने आ गया । श्री विद्यासागर के इस सुधार का उच्च वर्गीय जनता में बड़ा विकट विरोध होना प्रारम्भ हो गया । किन्तु दृढ़ निश्चयी विद्यासागर इससे विचलित न हुए । वे जानते थे कि सदियों से रूढ़िग्रस्त समाज का यह विरोध स्वाभाविक ही है । साथ ही उन्हें यह भी विश्वास था कि जब कोई प्रयत्न सच्चे मन से किया जाता है तो वह

एक न एक दिन सफल अवश्य होता है । जन-समूह का पूर्वाग्रह उसे विरोध करने के लिये प्रेरित करता है, पर जब सतत प्रयत्नों द्वारा उन्हें सत्य का प्रकाश मिलने लगता है तब वह धीरे-धीरे सहमत होने लगता है । उनके सामने राजा राममोहन राय जैसे पूर्व सुधारकों के उदाहरण मौजूद थे । इसलिए उन्होंने विरोध की कोई चिन्ता न की और अपने पुण्य प्रयत्न में उत्साहपूर्वक लगे रहे । इस कार्य के लिये विद्यासागर ने समाज के प्रबुद्ध वर्ग पर सबसे पहले अपने प्रयत्न प्रारम्भ किये और जल्दी ही उसे प्रभावित कर सहमत कर लिया । प्रबुद्ध वर्ग के सहमत होते ही जन समुदाय उसका अनुकरण करता हुआ स्वयं सहमत होने लगा और जल्दी ही शिक्षा संस्थाओं से उक्त प्रतिबन्ध हटा दिया गया ।

इस सुधार की सफलता के श्रेय स्वरूप समाज में श्री विद्यासागर का न केवल आदर ही बढ़ गया बल्कि वे महान समाज सुधारकों की श्रेणी में गिने जाने लगे । सरकार में उनका प्रभाव बढ़ गया और शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में उनके परामर्शों को मान्यता एवम् महत्व दिया जाने लगा । इतना ही नहीं, इस सेवा कार्य के मूल्याङ्कन रूप विद्यासागर का मासिक वेतन डेढ़ सौ रुपये से बढ़ाकर तीन सौ रुपये कर दिया गया ।

इन्हीं दिनों इंग्लैण्ड से जो अँग्रेज भारत में सिविल सर्विस के लिये भेजे जाते थे उन्हें हिन्दी पढ़नी और उसकी परीक्षा पास करनी पड़ती थी और तभी वे उस पद पर नियुक्ति के योग्य समझे जाते थे । जो अंग्रेज इस परीक्षा में अनुतीर्ण हो जाते थे उन्हें वापस इंग्लैण्ड जाना पड़ता था । इन परीक्षाओं के परीक्षक श्री विद्यासागर ही हुआ करते थे । वे हर अँग्रेज की परीक्षा सचाई के साथ लिया करते थे ।

एक बार उनके कालिज में प्रिंसिपल श्री मार्शल साहब ने अँग्रेज परीक्षार्थियों के साथ रियायत बर्तने की सिफारिश की । उनका विचार था कि मेरे अधीन काम करने के कारण विद्यासागर उनकी यह सिफारिश अवश्य मान लेंगे और अँग्रेज परीक्षार्थियों के साथ रियायत कर उन्हें पास कर दिया करेंगे किन्तु सिद्धान्त-निष्ठ, विद्यासागर ने उसके लिये स्पष्ट इनकार करते हुए कहा-- जब अयोग्य परीक्षार्थियों को उत्तीर्ण ही किया जाना है तब इस प्रकार परीक्षा का प्रतिबन्ध लगाना ही बेकार है । सरकार को इन्हें सीधे-सीधे नियुक्त कर देना चाहिये । मेरे रियायत बर्तने से अयोग्य लोग प्रशासन में भर जायेंगे, जिससे न केवल राज्य व्यवस्था में ही गड़बड़ी फैलेगी प्रत्युत जनता को भी उसका कष्ट भोगना पड़ेगा । मैं इस प्रकार का अन्याय नहीं कर सकता । कर्तव्य की चोरी करने वाले को मैं बहुत बड़ा पापी समझता हूँ । यह तभी हो सकता है जब आप मेरे स्थान पर किसी सिद्धान्तहीन व्यक्ति को नियुक्त करा दें । जब तक मैं इस उत्तरदायित्व में हूँ तब तक अन्याय सम्भव नहीं । मार्शल साहब विद्यासागर का खरा और स्पष्ट उत्तर सुनकर चुप हो गये और फिर कभी भी उनके सामने इस प्रकार का कोई प्रस्ताव नहीं रखा । निर्भीक उत्तरदायी व्यक्ति किसी भी स्थिति की शंका से अपने कर्तव्य की विडम्बना नहीं करते । ऐसे ही आदरणीय एवम् दृढ़मनः व्यक्तियों से समाज की उन्नति तथा मनुष्यता का मूल्यवर्धन होता है ।

संस्कृत का अखण्ड ज्ञान होते हुए, श्री विद्यासागर को अँग्रेजी के काम में कुछ अड़चन हुआ करती थी । इसके लिये उन्हें जब तब दूसरों का सहारा लेना पड़ता था । विद्यासागर को यह परावलम्बन अच्छा न लगा और उन्होंने अंग्रेजी पढ़ने का निश्चय कर लिया । अँग्रेजी पढ़ने के लिये उन्होंने श्री राजनारायण गुप्त नामक एक अँग्रेजी के जानकार को अध्यापक नियुक्त किया और कुछ ही समय में अँग्रेजी पर अधिकार कर लिया । इसके साथ ही वे बहुत से लोगों को निःशुल्क संस्कृत की शिक्षा दिया करते थे । उनके संस्कृत शिष्यों में से एक श्री राजकृष्ण बाबू भी थे । वे एक वृद्ध व्यक्ति थे । उनको संस्कृत के प्राचीन व्याकरणों को पढ़ने में कठिनाई होती थी । विद्यासागर ने सोचा कि जिस प्रकार संस्कृत के प्राचीन व्याकरण इनको कठिन पड़ते हैं उसी प्रकार किसी को भी कठिन पड़ सकते हैं और सम्भव है कि व्याकरण की जटिलता के कारण लोग संस्कृत पढ़ने की ओर अधिक उन्मुख नहीं होते हैं । अस्तु उन्होंने संस्कृत के एक सरल तथा नवीन शैली के व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की और उसे तैयार करने में लग गये । इसके लिये उन्होंने संस्कृत के सारे उपलब्ध व्याकरणों का अध्ययन मनन किया । पाश्चात्यों द्वारा अँग्रेजी में लिखे संस्कृत व्याकरणों को भी पढ़ा । इस प्रकार एक वर्ष के घोर परिश्रम के बाद उन्होंने 'उपक्रमणिका' नाम से संस्कृत का एक सरल सुबोध तथा नवीन शैली का एक व्याकरण लिख डाला । विद्यासागर द्वारा लिखा व्याकरण इतना लोकप्रिय हुआ कि वह संस्कृत के पाठ्यक्रम में स्वीकृत किया गया । उनके इन कामों से न जाने कितने लोगों को संस्कृत पढ़ने के लिये प्रवृत्त कर दिया । आज भी बंगाल में विद्यासागर निर्मित 'उपक्रमणिका' लोगों को सरलतापूर्वक संस्कृत सीखने में सहायक बनी हुई है ।

जिन दिनों श्री विद्यासागर की ये योग्यतापूर्ण सेवायें चल रही थीं उन्हीं दिनों नये गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिङ्ग कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालिज का निरीक्षण करने आये । सबके साथ विद्यासागर का भी परिचय उनसे

कराया गया । थोड़ी देर की बातचीत से ही लार्ड हार्डिङ्ग पर उनकी योग्यता प्रकट हो गई और उन्होंने समझ लिया कि वे बंगाल के एक विशेष व्यक्तित्व तथा समाज सेवा के सक्रिय कार्यकर्ता के गुण रखने वाले प्रमुख विद्वान् हैं । जहाँ अन्य सारे लोग गवर्नर जनरल की जी हुजूरी में लगे हाँ में हाँ मिला रहे थे वहाँ विद्यासागर ने अपनी निर्भीकता का परिचय देते हुए सरकार की इस नीति की कड़ी आलोचना की कि संस्कृत कालिज के पढ़े विद्यार्थियों को सरकार की ओर से कोई महत्व नहीं दिया जाता । इसलिये भारतीय लोग अपनी प्राचीन तथा महान् भाषा की ओर से उदासीन होते जा रहे हैं जिससे कि उनकी सभ्यता तथा संस्कृति पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है । सरकार को संस्कृत पढ़े व्यक्तियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और उन्हें वही मान्यता प्रदान की जानी चाहिये जो मान्यता अन्य कालिजों में शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को प्रदान की जाती है ।

लार्ड हार्डिंग विद्यासागर की यह निर्भीक तथा निश्छल देशभक्ति देखकर बहुत प्रभावित हुए और उन्हें कोई ऐसी योजना देने के लिये कहा जिससे संस्कृत कालिज के शिक्षा प्राप्त तरुणों का मूल्यांकन किया जा सके । विद्यासागर तुरन्त इस सत्कार्य में संलग्न हो गये और पाँच छः महीने के घोर परिश्रम के बाद एक सौ एक बंगला स्कूल खोले जाने की सांगोपांग योजना लार्ड हार्डिङ्ग को दी जिसमें यह नियम रखा कि इन नवारम्भ स्कूलों में संस्कृत कालिज के पढ़े व्यक्ति ही शिक्षक के स्थानो पर नियुक्त किये जायें । योजना की पूर्णता तथा व्यावहारिकता देखकर लार्ड हार्डिङ्ग इतने प्रभावित तथा प्रसन्न हुए कि उन्होंने बिना किसी संशोधन के उनकी उस योजना को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया और उसको कार्यान्वित करने का भार विद्यासागर को ही सौंप दिया ।

श्री विद्यासागर ने यह महान् तथा महत्वपूर्ण सेवा का भार खुशी-खुशी अपने कन्धों पर लिया और उसे पूरा करने में तत्परतापूर्वक लग गये अनेक लोगों ने लार्ड हार्डिङ्ग की ओर से उतना बड़ा कार्यभार अपने कन्धों पर ले लेने पर भय दिखाते हुए कहा- विद्यासागर जी आप कालिज में पढ़ाते हुए भी इतना बड़ा काम किस प्रकार पूरा कर सकते हैं ? आपको यह काम अपने हाथों में नहीं लेना चाहिए था। यदि आप इसे सफलतापूर्वक पूरा न कर सके अथवा कहीं भूल अथवा त्रुटि हो गई तो लाट साहब का कोप भाजन तो बनना ही पड़ेगा, साथ ही लोकापवाद का भी भागी बनना पड़ेगा । आपको, यहाँ उत्तरदायित्व लेने से पूर्व इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए था । अच्छा होता कि आप सब झंझट में पड़ने के बजाय लाट साहब की प्रसन्नता का लाभ कोई ऊँचा पद पाने में उठाते । जीवन में तरक्की करने का एक बहुत बड़ा अवसर आपने अपने हाथ से खो दिया ।"

श्री विद्यासागर ने उनकी बातें बड़ी सहिष्णुता से सुनी और कहा- "इस प्रकार के असहाय तथा भय से अभिभूत लोग समाज की कोई बड़ी सेवा तो दूर एक छोटी-सी सेवा नहीं कर सकते । संसार में एक से एक महान कार्य हुए हैं और हो रहे हैं- उन सबको मनुष्य ही तो करते हैं । जब कोई अन्य व्यक्ति किसी महान उत्तरदायित्व को पूरा कर सकता है तब मैं क्यों नहीं कर सकता ? यह बात मेरी समझ में किसी प्रकार भी नहीं आती । कोई महान् कार्यभार वहन करने के लिये जिस परिश्रम, संलग्नता तथा आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है उसकी कमी को मैं अपने में अनुभव नहीं करता । मनुष्य में निहित अव्यय शक्तियों के प्रति मेरी पूरी निष्ठा तथा विश्वास है और अपने में इस बात का पूरा साहस पा रहा हूँ कि मैं अपनी दी हुई एक सौ एक स्कूल की योजना को सफलतापूर्वक पूरा कर सकूँगा ? परिणाम तथा सत्य से पराङ्मुख रहने वाले व्यक्ति ही किसी उत्तरदायित्व से भयभीत होते हैं मुझे उससे भयभीत होने की किंचिमात्र भी आवश्यकता नहीं है । सचाई तथा निःस्वार्थ भाव से 'जब मैं अपना कर्त्तव्य पालन करूँगा तब कोई कारण नहीं कि मैं उसमें सफल न होऊँ । मैं अपने इस जन सेवा के कार्य में अवश्य सफल होऊँगा इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

लाट साहब की प्रसन्नता का लाभ किसी ऊँचे पद के रूप में उठाने की बात कहने से पूर्व आपको उस अदना से अँग्रेज सरटामसरो को याद कर लेना चाहिये था । जिसने भारत सम्राट् जहाँगीर की प्रसन्नता का लाभ अपने स्वार्थ के लिये न उठाकर उसका उपयोग अपने देश तथा राष्ट्र के हित में किया था । जब जहाँगीर ने उससे मन चाहा पुरस्कार माँगने को कहा था, तब वह करोड़ों का धन, बड़ी-सी जागीर, दरबार की मुशाहबी अथवा सेना में पञ्चहजारी आदि का कोई भी बड़े से बड़ा पद माँग सकता था । किन्तु उस स्वनाम धन्य सरटामसरो ने देशहित के सम्मुख अपने स्वार्थ को तिनके के समान तुच्छ समझा और अपनी जाति के लिये भारत में व्यापार की सुविधा तथा चुङ्गी की माफ़ी माँगी । उस निर्लोभ राष्ट्र भक्त का वह त्याग ही आज भारत में अँग्रेजी राज्य के रूप में फ़लीभूत हुआ है । ऐसे निःस्वार्थ तथा निर्लोभ समाज हितैषी जिस देश में होते रहेंगे वह देश, वह राष्ट्र, वह समाज इसी प्रकार उन्नति के शिखर पर आसीन रहेगा ।

सरटामसरो अपने लिये अतुल वैभव माँगकर भी एक दिन साधारण जनों की भाँति सब कुछ छोड़कर मिट्टी में मिल जाता और त्याग पर केवल वह अपने जिस यश को छोड़कर अमर हुआ है वह न हो पाता । मनुष्य की महानता इसी में है कि वह अपने स्वार्थ की तुलना में सामाजिक हित को आगे रखे और अपनी योग्यता, प्रभाव तथा अवसरों को उसी की उन्नति तथा विकास में यापन करे । मैं उस लाट साहब की प्रसन्नता को किसी उच्च पद के रूप में मुद्रित कर सकता था, किन्तु आज समाज के हित में उसका उपयोग कर जो प्रसन्नता तथा सुख मुझे प्राप्त हो रहा है वह स्वार्थपूर्ण किसी भी पद में प्राप्त न होता । लोगों ने विद्यासागर के विचार सुने और उनकी महानता को समझा साथ ही सबसे प्रार्थना की कि उक्त कार्य में उनकी जो सेवायें काम आ सकें उन्हें लेने में जरा भी संकोच न करें ।

स्कूलों की स्थापना के लिए विद्यासागर ने सारे बंगाल का दौरा किया और ऐसे स्थानो की खोज की जहाँ उनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी । ऐसे उपयुक्त स्थान उन्होंने देहातों, कस्बों तथा शहरों के उन भागों मे निश्चित किये जहाँ निरक्षरता का एकछत्र राज्य था और जहाँ पिछड़े वर्ग के लोग रहते थे । सारी व्यवस्था बनाकर विद्यासागर ने एक सौ स्कूलों की स्थापना का काम पूरा कर दिया और उनमे ऐसे नियम भी लागू कराये जिससे गरीब तथा पिछड़े हुए वर्ग के विद्यार्थियों को अधिक से अधिक सुविधा मिल सके । शिक्षा शुल्क में रियायत तथा छात्र-वृत्तियों की भी व्यवस्था उन्होंने उन स्कूल में करवाई । श्री विद्यासागर के इस प्रयास से बंगाल में स्थान-स्थान पर ज्ञान के दीपक जल उठे । इन स्कूलो की स्थापना का एक उद्देश्य यह था कि संस्कृत कालिज के पढ़े हुए विद्यार्थियों को पढ़ाने का अवसर मिले और लोगों का ध्यान संस्कृत पढ़ने की ओर जाये ।

इन नव स्थापित स्कूलों मे संस्कृत कालिज की परीक्षायें पास किये हुए व्यक्तियों को प्राथमिकता दिये जाने का नियम अनिवार्य करके उसके निर्वाचन तथा नियुक्ति का अधिकार भी विद्यासागर को ही दे दिया गया । यह एक महान् अधिकार था किन्तु विद्यासागर ने उसका उपयोग कर्तव्य समझकर किया । उन्होंने फिर कभी कोई ऐसा अवसर न आने दिया जिससे उन पर अन्याय अथवा अनीति का लांछन आता । वे शिक्षक पद के लिये आये प्रत्याशियो का कठोर परिश्रम लेने के साथ उनके आचरण तथा अनुशासन का भी पता लगा लेते थे । योग्यता के साथ जिनमें उक्त दोनों गुणों का भी समावेश होता था विद्यासागर उन्हीं प्रत्याशियों की नियुक्ति किया करते थे । इस प्रकार योग्य तथा चरित्रवान् शिक्षकों के प्रभाव में सारे स्कूल दिन-दिन उन्नति तथा शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित होने लगे ।

शिक्षा प्रसार के इस एक ही महान् कार्य ने पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को न केवल बंगाल में बल्कि सम्पूर्ण भारत में विख्यात कर दिया । उन नव-स्थापित एक-सौ एक स्कूलों की देखभाल में विद्यासागर का अधिकाँश समय लगने लगा और उन्होंने अनुभव किया कि कालिज के काम में उतना समय नहीं दे पाते जितना कि देना चाहिये । वे कदापि भी पूरे समय में पूरा काम किये बिना वेतन न लेना चाहते थे और यह भी देख रहे थे कि कालिज के बन्धन के कारण शिक्षा प्रसार के उन माध्यमों की सेवा में पर्याप्त समय न दे पाते हैं । इस प्रकार दो नावों की स्थिति से वे असुविधा अनुभव करने लगे और कोई एक कार्य सुचारु रूप से करने के लिये किसी एक कार्य को छोड़ देना आवश्यक समझने लगे । एक ओर स्वलाभ रहित समाज में शिक्षा प्रसार का व्यापक कार्य था और दूसरी ओर आजीविका सहित कालिज का सीमित अध्यापन । इनमें से एक क्षेत्र को चुनना था । तपे हुये वे त्यागी पुरुष विद्यासागर स्वार्थ तथा परमार्थ के महान् अन्तर को जानते थे, इसलिये उन्हें निर्णय लेते जरा भी देर न लगी और उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक विद्या प्रसार का कार्य करने के लिये कालिज की सेवा से त्याग-पत्र दे दिया ।

स्वसीमित लोगों ने विद्यासागर के इस त्याग को बुद्धिमता की परिधि में नहीं अंकित किया और उनके पास जाकर समझाया कि आप इतनी अच्छी नौकरी से त्यागपत्र न दें और अपना हित देखते हुए जो भी जन-सेवा बन सके करें । इस प्रकार नौकरी छोड़ देने से जीविका की समस्या खड़ी हो जायेगी और तब उन्हें बड़ी कठिनाई होगी । किन्तु दृढ़व्रती ईश्वरचन्द्र किसी के परामर्श से सहमत न हो सके उन्होंने कहा- "मैं समझता हूँ कि कालिज से नौकरी छोड़ देने पर उन्हें आर्थिक कठिनाई होगी तब भी समाज सेवा का यह आया हुआ अवसर मैं नहीं छोड़ सकता । जीवन चलाने के लिये मैं कोई भी छोटा-मोटा काम कर लूँगा । मेरी आवश्यकतायें सीमित तथा सन्तोष से नियन्त्रित है थोड़ी आय में भी मैं अपना काम चलाऊँगा । कालिज से मुक्त होकर विद्यासागर एक निष्ठ शिक्षा प्रसार के काम में संलग्न हो गये ।

विद्यासागर गाँव-गाँव घूमकर लोगों को नव-स्थापित स्कूलों की स्थापना में भेजने के लिये प्रेरित करने लगे । साथ ही जहाँ-जहाँ स्कूलों की स्थापना अभी तक नहीं हो पाई थी वहाँ लोगों को उसकी आवश्यकता समझाकर स्कूल स्थापित करने के लिये कहते थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक बच्चों की छोटी-छोटी पाठशालायें खोलीं जिनमें वे

स्वयम् भी पढ़ाया करते थे और अपने अनेक मित्रों को पढ़ाने के लिये बुलाते थे । ऐसी बाल-पाठशालायें उन्होंने स्वयम् अपने खर्च पर चलाईं किसी लड़के से एक पैसा भी फीस का नहीं लिया ।

जिस प्रकार अपने छात्र जीवन में विद्यासागर मिली हुई छात्रवृत्तियों तथा पुरस्कारों के धन से गरीबों तथा गरीब विद्यार्थियों की सहायता करते रहते थे उसी प्रकार कालिज के सेवा काल में भी अपना अधिकांश वेतन दूसरों की सहायता करने में ही खर्च करते थे । लोग इन दानशील महामानव के पास अब भी उसी तरह सहायता के लिये नि:संकोच आते रहते थे । उनके पास जब तक थोड़ा बहुत भविष्य के लिये बचाया हुआ धन रहा वह लोगों की सहायता करते रहे । किन्तु जब इनके पास कुछ भी शेष न बचा तो वह इस सोच में पड़ गये कि अब आगे आवश्यकता ग्रस्त लोगों की सहायता किस प्रकार से कर सकूँगा । फिर भी इन्होंने परोपकार के लिये कुछ दिन ऋण का सहारा लिया किन्तु जब पानी सिर से ऊँचा होने लगा था तो इन्होंने कुछ करने की सोची थी ।

उसी समय संयोगवश संस्कृत कालिज में एक शिक्षक का स्थान रिक्त हुआ और कालिज के अधिकारियों ने उनसे उक्त पद सम्हाल लेने का अनुरोध किया । विद्यासागर ने संस्कृत कालिज मे काम कर लेने का विचार बनाया तभी उनके एक मित्र तारानाथ तर्क वाचस्पति उनके पास आये और बोले– "भाई विद्यासागर जी, यदि आप थोड़ी-सी कोशिश कर दें तो मुझे संस्कृत कालिज में वह स्थान सरलता से मिल सकता है जो अभी रिक्त हुआ है । इस प्रकार मेरी बेकारी दूर हो जायेगी और गुजरबसर चलने लगेगी ।" विद्यासागर को समझते देर न लगी कि उनके मित्र उसी पद के विषय में कह रहे हैं जिस पर काम करने के लिये उन्होंने स्वयम् निश्चय किया है । एक बार पुनः स्वार्थ एवम् परमार्थ का साम्मुख्य हो गया किन्तु, परमार्थ पक्ष का सैनिक स्[illegible] से पराभूत किस प्रकार हो सकता था हाथ की तड़ी [illegible] सिर पर कर्ज का बोझ लिये हुए भी परोपकार-प्र[illegible] ईश्वरचन्द्र ने अपनी मुट्ठी की जीविका श्री तारानाथ त[illegible] वाचस्पति को सौंप दी । कालिज के [illegible] उनकी इस उदार वृत्ति की पहले तो आलोच[illegible] बाद में उनका विचार सुनकर उनके प्रशंस[illegible] विद्यासागर ने कहा कि यह मेरा सह[illegible] किसी को अभाव अथवा आवश्यकता [illegible] हूँ साथ ही परमार्थ के सम्मुख स्वार्थ [illegible] पाता। ऐसे समय पर मुझे अपनी निजी [illegible] विस्मरण हो जाती हैं और दूसरे की [illegible] अपनी आवश्यकतायें अनुभव होने लगती हैं । अभाव अथवा आवश्यकता में रह लेना मेरा जन्म-जात अभ्यास है। इसमें मुझे जरा भी कष्ट नहीं होता । किन्तु यह सोच सकना मेरे लिये सरल नहीं है कि कोई दूसरा भी मेरी तरह ही कष्ट सहिष्णु हो सकता है । किसी अच्छे काम के लिये कष्ट सहने में एक आध्यात्मिक आनन्द है किन्तु यह अनुभव तभी होता है जब मनुष्य की आत्मा में सच्ची सम्वेदना तथा निःस्वार्थ त्याग भावना हो । वह पद ले लेने से भाई तारानाथ को जितना सुख होगा उससे कम सुख मुझे भी नहीं होगा। अपने स्वार्थ को तिलांजलि देकर किसी का सुख-साधन किया जा सके इससे अधिक मानव-जीवन की सार्थकता और क्या हो सकती है ?

परोपकारी तथा पुण्य-प्रवण पुरुष के लिये एक के बाद दूसरा द्वार खुलता ही रहता है । कुछ समय बाद उस संस्कृत कालिज में मन्त्री का एक पद-निर्माण किया गया जिसको विद्यासागर को साग्रह सौंप दिया गया । इस पर श्री ईश्वरचन्द्र की नियुक्ति एक-सौ पचास रुपये से की गई किन्तु शीघ्र ही परिश्रम तथा दक्षतापूर्वक कार्य करने से इनका वेतन तीन-सौ कर दिया गया और इसके बाद इन्हें विद्यालय निरीक्षक का उत्तरदायित्व देकर वेतन की दर पाँच सौ रुपये माहवार कर दी गई । आर्थिक सुविधा होते ही श्री विद्यासागर का परोपकार पुनः तीव्रगति से चलने लगा । उनके अपने निजी खर्च उतने ही रहे जितने कि बेकारी की दशा में थे । न तो उन्होंने अपने लिये कोई सुविधा की और न कोई आवश्यकता बढ़ाई । वही मोटे गाढ़े का अँगरखा, मारकीन की मजबूत धोती और पैर मे एक साधारण-सी चप्पल ।

सही बात तो यही थी कि उन्हे अपनी यह प्राचीन भारतीय पोशाक ब[illegible] तथा सुविधापूर्ण लगती थी और वे उसे पहने [illegible] का अनुभव करते थे । [illegible] तक कि जब त[illegible] विषयो [illegible] दोनों लाटों से शिक्षा [illegible] तब भी [illegible] करने के लिए जाना [illegible] में [illegible] परम्परा के [illegible] पतलून [illegible] साहबी नियम [illegible] लिये विवश [illegible] अब आपसे [illegible] सकना

विद्यालय निरीक्षक के पद का भी उन्होंने उपयोग शिक्षा प्रसार में ही किया । बालकों को शिक्षा के लिये तो उस समय तक बहुत से स्कूल खुल चुके थे किन्तु बालिकाओं की शिक्षा का सर्वथा अभाव था । अस्तु, इस बार उन्होंने बालिकाओं की शिक्षा के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया । विद्यासागर ने देश में स्त्री शिक्षा की कमी को दूर करने के लिये सरकार से लिखा-पढ़ी की और लार्ड हार्डिंले को प्रभाव में लाकर पचास बालिका विद्यालय खोले जाने की स्वीकृति मँगवाली और तुरन्त ही उपयुक्त स्थानों पर उनका सूत्रपात कर दिया और उनके विकास में तन-मन से जुट गये । शिक्षा विभाग के डायरेक्टर येग साहब को विद्यासागर का यह प्रभाव तथा देश-सेवा की तत्परता सहन न हुई । उनने बालिका विद्यालयों की योजना स्थगित करने का आदेश निकाल दिया । किन्तु विद्यासागर ने उनके इस सृजन विरोधी आदेश का घोर विरोध किया । फिर भी डाइरेक्टर येग विद्यालय तो न बन्द करा सका हाँ सरकारी सहायता अवश्य रुकवा दी । किन्तु संकल्पशील विद्यासागर ने इसकी जरा भी परवाह न की और सारे विद्यालयों को अपने खर्चे पर चलाने के साथ धनीमानी व्यक्तियों को उनकी सहायता करने के लिये सहमत करने लगे । इस प्रकार बालिका विद्यालयों का काम अच्छी तरह से चल निकला । येग को उनकी इस सफलता से और भी ईर्ष्या होने लगी और वह विद्यासागर के सन्मार्ग में तरह-तरह से बाधक बनने लगा यहाँ तक कि उसने उनके हर काम का विरोध करना शुरू कर दिया ।

श्री विद्यासागर ने तनाव की उस स्थिति को ठीक न समझा और पद से त्याग-पत्र दे दिया । अपने त्याग-पत्र मे अपने जीवन उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा- "मेरे जीवन के अन्तिम दिन अपने देश के स्त्री-पुरुषों के ज्ञान की उन्नति करने और साधारण शिक्षा-प्रसार में लगेंगे और इस व्रत का अन्त चिता की भस्म से होगा ।" व्रतवन्त विद्यासागर ने अपने इस वचन को शिक्षा प्रसार में अपना सारा जीवन लगाकर पूरा किया ।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अब जनता को अपने साथ में लेकर के बालिका विद्यालयों का काम चलाने लगे । उन्होंने अपने गाँव वीरसिंह में अपनी माताजी के नाम पर एक बालिका विद्यालय प्रारम्भ किया और उसको अपने पास से सारा खर्चा देकर चलाने का निश्चय किया । किन्तु उसके चलने में फिर भी कठिनाई आ खड़ी हुई । लोग उस समय बंगाल में शिक्षा को अनुचित काम समझते थे इसलिये विद्यालय में अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिये नहीं भेजते थे । विद्यासागर ने सबसे पहले अपने घर की बालिकाओं को विद्यालय में पढ़ने को बिठाया और लोगों को स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता समझाई इस प्रकार निरन्तर प्रचार करते रहने के बाद में गाँव का बालिका विद्यालय भी चलाने में सफल हो गये । धीरे-धीरे वह विद्यालय मिडिल स्कूल होकर हाईस्कूल बन गया । विद्यालय के साथ ही विद्यासागर ने गाँव में एक चिकित्सालय की भी स्थापना की और उसे भी अपने खर्चे पर ही चलाते रहे ।

अनन्तर उन्होंने गवर्नर की सभा के एक सदस्य श्री बेथून साहब को अपने पक्ष मे लेकर स्त्री-शिक्षा का अभियान तीव्रगति से चलाना प्रारम्भ किया । विद्यासागर ने बेथून साहब के सहयोग से कलकत्ता तथा कलकत्ते के बाहर गाँवों में अनेक बालिका विद्यालय खोले और लेडी कैनिंग को प्रभावित कर उनकी सहायता कराई और बाद में जब वे शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र से हटकर समाज-सुधार के अन्य क्षेत्रों में उतरे तो स्थापित किये हुए कन्या विद्यालयों की अभिभाविका लार्ड केनिंग की पत्नी लेडी केनिंग को बनाकर उनकी प्रगति तथा अस्तित्व सुरक्षित कर दिया । इस प्रकार महान् कठिनाइयों के बीच बंगाल में शिक्षा तथा विशेषतया स्त्री-शिक्षा का प्रसार करने के लिये बंगाल ही नहीं सारा देश पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का सदा कृतज्ञ बना रहेगा ।

उन दिनों बंगाल में दो अभिशाप भयानक रूप से फैले हुए थे । एक वृद्ध-विवाह और दूसरा बहु-विवाह प्रथा । इन दोनों कुप्रथाओं के कारण स्त्रियों का जीवन साक्षात् नरक के समान बना हुआ था । लोग कुलीनता के बल पर सत्तर-सत्तर, अस्सी-अस्सी वर्ष की आयु में भी कम आयु की लड़कियों से विवाह कर लेते थे और एक दो साल के बाद उनको आजीवन वैधव्य का दुःख भोगने के लिये छोड़कर काल के गाल मे चले जाते थे । बहु विवाह करने वाले एक व्यक्ति की मृत्यु से दस-दस बीस-बीस नौजवान नारियाँ एक साथ विधवा हो जाती थीं । इन कुप्रथाओं के फलस्वरूप बंगाल प्रौढ़, तरुण तथा बाल-विधवाओं से भरा पड़ा था । इसके साथ ही हठात् विधवा बनाई गई निरपराध बालिकाओं के साथ जो अत्याचार किया जाता था, उन्हें जिस प्रकार उत्पीड़ित, तिरस्कृत एवम् बहिष्कृत किया जाता था उसका यदि रोमांचकारी वर्णन किया जाये तो अलग से एक बड़ा ग्रन्थ बन जाये । उसका सर मुड़ाकर दो गाढ़े की मोटी धोतियाँ देकर चाण्डाल की भाँति घर के हर-प्रसंग से अलग कर दिया जाता था । त्यौहारों, विवाहों तथा पूजा अनुष्ठानों में उनकी छाया से भी बचाव किया जाता था । सुहागिनें उनका मुख देखना और उनके पास बैठना पाप समझती थीं । किसी पर्व त्यौहार के अवसर पर शुभारम्भ करते समय विधवा का दर्शन अशुभ माना जाता था । उनसे घर की सारी नीच टहल तथा सेवा कराई जाती थी और घर

की बची-खुची जूठन खाने को दे दी जाती थी । बहुत बार तो लोग विधवाओं को किसी तीर्थ स्थान पर ले जाकर छोड़ देते थे जहाँ उनको अपना पेट पालकर जीने के लिये भीख माँगने के सिवाय कोई चारा न रह जाता था । बहुत सी बाल तथा तरुण विधवायें गुण्डों, बदमाशों तथा वेश्याओं के हाथों पड़कर उनकी आय का साधन बनती थीं । बहुत से क्रूर सम्बन्धी उन अबोध तथा निर्दोष अबलाओं को तीर्थ स्नान के बहाने गंगा अथवा यमुना में ढकेलकर डुबा देते थे । उस समय पूरा बंगाल इस प्रकार की उन बाल विधवाओं के मौन हाहाकार से गूँज रहा था किन्तु रूढ़ि-ग्रस्त समाज इस ओर जरा भी ध्यान देने को तैयार न होता था । जो कुछ जैसा चला आ रहा था वह कुछ और विकृत होकर चलता चला जा रहा था ।

दयालु हृदय विद्यासागर ने समाज के इस अभिशाप को वेदना के साथ देखा और उसकी हानियों का अनुभव किया । शिक्षा प्रसार के साथ उन्होंने विधवाओं की दशा सुधारने का निश्चय किया । किन्तु इस सम्बन्ध की एक बड़ी ही मार्मिक घटना ने जल्दी ही विद्यासागर को विधवाओं के लिये कुछ करने के लिये प्रेरित कर दिया ।

एक वृद्ध विद्वान् शम्भुचन्द्र वाचस्पति ने ईश्वरचन्द्र को वेदान्त की शिक्षा दी थी । ईश्वरचन्द्र उनका बड़ा आदर तथा सम्मान किया करते थे । वाचस्पतिजी भी उन्हें अपने पुत्र के समान मानते थे और उन पर बड़ा प्रेम रखते थे । विद्यासागर के यह वेदान्त गुरु शम्भुचन्द्र संसार में अकेले थे । उनकी पत्नी को मरे एक जमाना हो चुका था साथ ही अब उनकी भी आयु पूरी हो आई थी । वृद्धता तथा एकाकीपन के कारण शम्भुचन्द्र को बड़ा कष्ट होता था । अब उनके हाथ पैर काम करने लायक न रह गये थे । ऐसे लोगों ने, जिन्हें समाज का शत्रु ही कहना चाहिए उन्हें विवाह कर लेने की राय दी । इस अनुचित राय से बूढ़े के पेट का पाप उभर आया और वह विवाह करने की सोचने लगा। शम्भुचन्द्र के इस दुर्विचार ने स्पष्ट कर दिया कि वह विद्वान जरूर थे किन्तु चरित्रबल का उनमें सर्वथा अभाव था । बुढ़ापे के कष्ट से बचने के लिये उस घोर स्वार्थी वृद्ध ने एक बालिका का जीवन नष्ट कर देने की दुरभिसन्धि की और सोचना शुरू कर दिया । उसे इस पाप मे परमात्मा का डर तो अवश्य न लगा पर विद्यासागर की अनुमति के बिना वैसा करने का साहस नहीं हुआ । एक दिन विद्यासागर के आने पर वृद्ध वाचस्पति ने अपना कुविचार उनके सामने रखते हुए कहा । बेटा ईश्वरचन्द्र, तुम मेरी दशा तो देख ही रहे हो । हाथ-पाँव काम नहीं देते । हर बात का कष्ट रहता है, यदि तुम्हारी राय हो तो मैं विवाह कर लूँ । बुढ़ापे में आराम हो जायगा । उस कब्र में पैर लटकाये बैठे हुए बूढ़े के मुख से पुनः विवाह करने की बात सुनकर श्री विद्यासागर अवाक् रह गये । उनकी समझ में ही न आया कि आखिर इस वयोवृद्धता में वाचस्पति को ऐसा कुविचार किस प्रकार आया ।

उन्होंने बड़े खेद के साथ कहा-- "मैं आपको पिता तुल्य मानता हूँ और आप पर अपार श्रद्धा रखता हूँ तथापि इस पाप-कर्म के लिये आपको कदापि राय नहीं दे सकता । मेरा परामर्श ही नहीं विनम्र प्रार्थना है कि आप अपने मस्तिष्क से किसी अबोध बालिका का जीवन नष्ट करने का विचार निकाल दीजिये । ऐसा असंगत विचार आप जैसे विद्वान् को शोभा नहीं देता ।" किन्तु बूढ़े वाचस्पति पर उस सत्परामर्श का कोई प्रभाव न पड़ा और वह अपने कष्टों का रोना रोता हुआ विद्यासागर को अपनी दुरभिसन्धि से सहमत हो जाने के लिये विवश करता रहा । विद्यासागर ने जब भली प्रकार यह समझ लिया कि बुड्ढे पर तो बेहयाई सवार हो ही गयी और अब यह एक बालिका की भेंट लिये बिना मानेगा नहीं तो उन्होंने उन्हें अन्तिम प्रणाम किया और यह कहकर उसके घर से चल दिये कि अब मैं आपके घर पर आज के उपरान्त फिर कभी नहीं आऊँगा ।

उस पापिष्ट विचार ने शम्भुचन्द्र की सारी सद्बुद्धि नष्ट कर दी थी । निदान कुलीनता के बल पर एक गरीब ब्राह्मण की सुन्दर कन्या से विवाह कर लिया । बूढ़ा वाचस्पति एक दिन शपथ देकर विद्यासागर को अपने घर पत्नी के दर्शन कराने ले गया । विद्यासागर हृदय पर पत्थर रखकर गये और मौत के साथ बँधी बेबस जिन्दगी की तरह उस बाल-वधु को देख कर आहत हो गये । गुरु पत्नी के नाते उन्होंने उस बालिका के चरणों में दो रुपये रखे और उसके भविष्य की कल्पना से आँसू बहाकर रोने लगे । वाचस्पति ने उन्हें जलपान कराने का प्रयत्न किया । विद्यासागर यह कहकर रोते हुए घर से चले गए कि अब इस घर का पानी पीना भी मेरे लिये पाप है । कुछ ही दिनों मे वृद्ध वाचस्पति उस कली जैसी बालिका को बेमतलब वैधव्य का दोष लगाकर संसार सागर में अकेला छोड़कर नरकगामी हुआ । विद्यासागर अपनी उस गुरु वधू के साथ जो कुछ उपकार कर सकते थे वह किया और विधवोद्धार के अपने संकल्प में लग गये ।

विधवाओं की दशा का सुधार करने के लिये उन्हें उस समय एक ही उपाय समझ मे आया । वह था 'विधवा विवाह' का प्रचलन ! विद्यासागर इस बात से अचेत नहीं थे कि 'विधवा-विवाह' का नाम लेते ही समाज में विरोध का एक ज्वार उठ खड़ा होगा । उस आन्दोलन को अधार्मिक

बनाकर धर्म के ठेकेदार उन्हें धर्मद्रोही ठहराने का प्रयत्न करेंगे । चूँकि हिन्दुओं में विवाह एक धर्मकृत्य माना जाता है इसलिये विधवा विवाह धर्म-सम्मत सिद्ध करना नितान्त आवश्यक था । इसकी तैयारी के लिये उन्होंने सम्पूर्ण धर्म-शास्त्रों का गहन मन्थन तथा मनन किया और पाया कि विधवा-विवाह सर्वथा धर्म सम्मत है । शास्त्रों में इसका कहीं विरोध तो नहीं है बल्कि स्पष्ट आदेश दिया गया है । श्री विद्यासागर ने शास्त्रों के विधवा-विवाह समर्थक सार को एकत्र कर उस पर अपनी मौलिक विचारधारा की छाप देकर विधवा-विवाह के नाम पर एक बड़ा-सा ग्रन्थ लिखा ।

रूढ़िवादी समाज की प्रतिक्रिया का अनुमान लगाने के लिये सबसे प्रथम उन्होंने वह ग्रन्थ अपने पुरातनपन्थी पिता को दिखलाया । ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़कर ठाकुरदास का अज्ञान दूर हो गया और वे विद्यासागर के आन्दोलन से सहमत हो गये । विद्यासागर को विश्वास हो गया कि उनका यह ग्रन्थ पुरातनपन्थियों का अज्ञान दूर करने में सफल होगा । निदान उन्होंने उसे प्रकाशित कराकर समाज में प्रचारित कर दिया । साथ ही उसकी व्याख्या करने तथा अन्य प्रकार का आवश्यक प्रचार करने के लिय "वामा बोधनी" नाम की पत्रिका भी निकाली थी ।

ग्रन्थ की जो प्रारम्भिक प्रतिक्रिया होनी चाहिए थी वह पुरातनपन्थियों पर हुई । चारों ओर से विद्यासागर पर आलोचना तथा अपशब्दों की बौछार होने लगी । धर्म के ठेकेदार बने बैठे अधर्म वाले लोग आकर उनको शास्त्रार्थ के लिये घेरने और ललकारने लगे । बहुत से कट्टरपन्थियों ने तो उन्हें मार डालने तक की धमकी दी । किन्तु सुधार संग्राम के आर्यवीर विद्यासागर जरा भी विचलित नहीं हुए । उन्होंने बोधनी के सारे प्रश्नों का उत्तर दिया लोगों के तर्क तथा निर्देशों का समाधान किया और झगड़े पर उतारू लोगों को अपने साहस तथा चरित्रबल से निरस्त कर दिया ।

इस प्रकार एक लम्बे समय तक उस सद्सुधार का विरोध तथा निन्दा होती रही किन्तु, फिर भी धीरे-धीरे आवेग तथा आवेश उतर जाने पर लोगों ने शान्त चित्त, ठण्डे मस्तिष्क तथा निष्पक्ष बुद्धि से विचार करने पर पाया कि विधवा-विवाह न केवल शास्त्र सम्मत ही है बल्कि समाज की उन्नति तथा विकास के लिये वह एक अनिवार्य आवश्यकता है । विचारों में मोड़ आते ही, जिस प्रकार पहले विरोध की बाढ़ आई थी अब उसके समर्थन का प्रवाह बह चला । सत्य की विजय हुई और लोग विधवा-विवाह से सहमत ही नहीं होने लगे बल्कि विधवा-विवाह करने भी लगे । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने सुधार का व्यावहारिक दृष्टान्त समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए स्वयं अपने लड़के का विवाह एक विधवा से किया । साथ ही एक दो नहीं सैकड़ों विधवा-विवाह अपने हाथों से कराये ।

अनन्तर उन्होंने इसे वैधानिक रूप दिलाने के लिये सरकार पर दबाव डालना शुरू किया । इसके लिये उन्होंने राज्य सभा में बिल पेश कराये, आन्दोलन चलाये और जनमत का समर्थन सरकार के पास भिजवाया । इस प्रकार के प्रयत्नों द्वारा विद्यासागर ने सरकार को सहमत कर लिया अन्त में जुलाई सन् १८५६ में विधवा-विवाह को वैध माने जाने का कानून पास हो गया जिससे न केवल विधवाओं के सुधार की सम्भावना ही स्थायी हो गई बल्कि उनका उत्तराधिकारी भी सुरक्षित हो गया ।

विधवा-विवाह का आन्दोलन किनारे तक पहुँचाकर विद्यासागर ने समाज की दूसरी बुराई बहु-विवाह की ओर ध्यान दिया और उसे मिटाने के लिये तन-मन-धन से पूरी तरह लग गये । उन दिनों अपने को कुलीन कहने वाले लोग एक पत्नी के रहते हुए दूसरी पत्नी कर लेना तो दूर लेकिन चार-चार, छः-छः विवाह कर लेते थे । उन दिनों बंगाल में जिसके जितने अधिक विवाह हो जाते वह उतना ही अधिक कुलीन तथा बड़ा आदमी माना जाता था । कुलीनता की दम्भ दूषित बुद्धि वाले लोग ढलती आयु में भी चार-छः, यहाँ तक दस-दस बीस-बीस वधुयें लाकर घर में बिठाल देते थे । एक ओर बूढ़ा बाप अनेक नवोढ़ा पत्नियाँ लाकर रख लेता था और घृणित जीवनयापन किया करता था । उसी घर में दूसरी और उनकी तरुण विधवा लड़की एक भिक्षुणी की भाँति यातना सहन करती हुई जीवन काटती रहती थी । समाज की यह दुर्बुद्धि देखकर विद्यासागर मन ही मन दुःखी होते और इस कलंकिनी बहु-विवाह प्रथा को नष्ट करने के लिये उपाय सोचा करते थे ।

सबसे पहले सरकार का ध्यान उन्होंने इस अन्याय की ओर आकर्षित करने के लिये बहु विवाहों का विवरण इकट्ठा करने के लिये बंगाल का दौरा किया और बहु-विवाह करने वालों के नाम आयु तथा उनकी विवाहिताओं की संख्या इकट्ठी करनी शुरू की, उनके विवरण के आधार पर एक विद्वान ने अपनी पुस्तक में आँकड़े देते हुए लिखा है--

"यद्यपि बहु-विवाह प्रथा सारी हिन्दू-जाति में फैली हुई है पर इसका पूर्ण रूप आपको बंगाल में ही देखने को मिलेगा । हुगली जिले में एक-एक कुलीन ब्राह्मण के हिस्से में ग्यारह से अधिक स्त्रियों का औसत पड़ता है । इनमें सबसे अधिक विवाह करके अपनी कुलीनता की जिन्होंने रक्षा की थी वे जब ५५ वर्ष के थे तब वे १० विवाह कर चुके थे । शायद अपने शेष जीवन मे अस्सी विवाह तक किये हों तो कुछ आश्चर्य नहीं । एक महाशय जिनकी उम्र

१८ वर्ष की थी ११ स्त्रियों के मस्तक में सौभाग्य सिन्दूर भर चुके थे ऐसे ही एक व्यक्ति २० वर्ष की अवस्था में १६ स्त्रियो को अपना चुके थे । बैरी साल जिले में कलसकारी एक गाँव है । वहाँ पर एक ईश्वरचन्द्र मुखोपाध्याय नाम के एक व्यक्ति निवास करते हैं । जिस समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बहु-विवाह की सूचियाँ बनाई थीं उस समय उनकी अवस्था ५५ वर्ष की थी और तब तक वे १०७ विवाह कर चुके थे । पश्चात् मृत्यु के समय तो उन्होंने कितनी ही स्त्रियों को सौभाग्यवती बनाया होगा । यह तो दैव ही जानें ।"

यह उस बहु-विवाह के विशाल विवरण में से दिये हुए कुछ आँकड़े हैं, जो ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने पूरे बंगाल में घूम-घूम करके तैयार किया था । इस बहु-विवाह प्रथा से उत्पन्न होने वाली हानियों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करने के साथ ही उन्होंने कानूनी बल पाने के लिये सरकार में इसे अवैध घोषित किये जाने के लिये प्रार्थना-पत्र दिया, किन्तु सती प्रथा तथा विधवा-विवाह सम्बन्धी कानून बन चुकने के कारण सरकार ने इतनी जल्दी तीसरा बहु-विवाह सम्बन्धी कानून बनाना उचित न समझा । उसे अपनी लौकिक अप्रियता का भय दीखने लगा । निदान विद्यासागर का तत्सम्बन्धी प्रार्थना-पत्र अस्वीकृत कर दिया गया । श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को प्रार्थना-पत्र के अस्वीकृत हो जाने का दुःख तो जरूर हुआ किन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी थी और जमानत का बल लेकर स्वयम् जाकर इंग्लैण्ड में महारानी विक्टोरिया से मिलने पर बहु-विवाह की बुराइयाँ बतलाने का निश्चय किया किन्तु, उनकी यह इच्छा उनके मन की मन में रह गई क्योंकि २६ जुलाई १८६१ में अकस्मात् उनकी मृत्यु हो गई ।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जीवन भर समाज के हित के लिये जो सेवायें तथा प्रयत्न किये और जो कष्ट उठाये उसने उन्हें भारत के ही नहीं संसार के महापुरुषों की सूची में उल्लखित कर दिया । विद्यासागर जी न केवल विद्या के सागर थे बल्कि महान् गुणों के भी आगार थे । एक विख्यात पुरुष होकर भी वे किस सीमा तक सरल तथा सभ्य पुरुष थे । यह एक इसी घटना से विदित हो जाता है–

एक बार एक युवक पण्डित विद्यासागर से मिलने के लिए आने वाला था । वे उसे लेने के लिए स्टेशन पर पहुँचे । युवक अपनी छोटी-सी अटैची लेकर गाँव के स्टेशन पर उतरा और कुली-कुली चिल्लाने लगा । उस छोटे से स्टेशन पर कुली कहाँ । पण्डित विद्यासागर उसकी आवाज सुनकर उसकी ओर बढ़ गये । युवक ने उन्हें कुली समझ कर अटैची देते हुए कहा– मुझे पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के घर पहुँचा दो । विद्यासागर ने साधारण भाव से अटैची ले ली और उसको साथ लेकर चल दिये । घर जाकर उन्होंने अटैची रख दी और कहा यही उन व्यक्ति का घर है जिससे आप मिलने के लिए आए हैं । युवक कुछ पैसे निकाल कर उन्हें देने लगा । इस पर विद्यासागर ने हँसते हुए कहा कि आप हमारे मेहमान हैं आप से पैसे लेना हमारा धर्म नहीं है । मेरी मजदूरी यही है कि अपना काम आप करने का अभ्यास डालो । युवक को जब पता चला कि यही विद्यासागर हैं तो वह उनके पैरों में पड़कर क्षमा माँगने लगा ।

विद्यासागर ने न केवल तन ही बल्कि अपना सब धन भी जन-सेवा में लगा दिया । उन्होंने विलायत में कष्ट उठाते हुए बंगाल के महाकवि श्रीमधुसूदन दत्त को लगभग पाँच छः हजार रुपया भेजकर दो बार सहायता की । इसी प्रकार एक गरीब ब्राह्मण का मकान नीलाम होने से बचाने के लिये स्वयम् जाकर उसके नाम से चौबीस-सौ रुपये अदालत में जमा कर दिये, किन्तु इतना बड़ा उपकार करने पर भी उन्होंने अपना नाम उस ब्राह्मण पर प्रकट नहीं किया इतना ही नहीं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने न जाने कितने निर्धन विद्यार्थियों को अपने पास से सहायता देकर उच्च शिक्षा दिलाई और अनाथ विधवाओं तथा बालकों की सहायता की । उन्होंने जीवन में जो कुछ कमाया उसका बहुत कम भाग अपने खर्च में लगाकर शेष सारा धन परोपकार में ही लगा दिया । विद्यासागर ने न केवल रोगियों की सहायता के लिए औषधालय ही खोला था बल्कि स्वयं गरीबो का उपचार अपने हाथ से किया करते थे । पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कितने दयालु तथा गरीबो की सेवा करने वाले थे इसके प्रमाण उनके जीवन में पग-पग पर पाये जाते हैं । जब भी वे कभी किसी बुढ़िया को बोझ ले जाते देखते तो रुककर उसका भार अपने सिर पर रख लेते थे और गन्तव्य स्थान तक पहुँचा दिया करते थे । जिस समय विद्यासागर जी जिला विद्यालय निरीक्षक थे और गवर्नर जनरल के पास उठने-बैठने की उन्हें स्वतन्त्रता थी उस समय की एक घटना हैं– कि एक दिन मेहतर सवेरे-सवेरे उनके पास दौड़ता हुआ आया और बोला– पण्डितजी मेरी पत्नी बहुत बीमार है । कृपया चलकर उसे देख लीजिये । पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन्हीं कपड़ों से तुरन्त उसे मोटर पर लेकर चल दिये । पत्नी को देखकर उन्होंने दवा दी और जब तक वह भली चंगी न हो गई शाम तक उसकी सेवा में बैठे रहे । ऐसे समाज-सेवी तथा दीन हितैषी व्यक्ति ही तो संसार से जाने के बाद भी अमरता का लाभ करते हैं ।

12463
204/2/2011

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर केवल एक समाज सुधारक ही नहीं थे बल्कि यह एक विद्वान् साहित्यकार तथा पत्रकार भी थे । उन्होंने वैताल पन्चविंशति', बंगाल का इतिहास, 'जीवन चरित, 'शिशु ऋजुपाठ', उपक्रमणिका' तथा व्याकरण कौमुदी नामक अनेक साहित्यिक तथा शास्त्रीय ग्रन्थ लिखने के साथ संस्कृत नाटकों के आधार पर शकुन्तला तथा सीता वनवास नामक नाटकों का प्रणयन किया । इतना साहित्य लिखने के अतिरिक्त उन्होंने 'सोमप्रकाश' हिन्दू पैट्रेएट और बोधिनी नामक अनेक बंगला और अँग्रेजी के पत्र-पत्रिकायें भी निकाली थीं और उनका सम्पादन भी किया ।

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जी ने जो भी साहित्य लिखा वह सब जनता के लाभ और हित की भावना से लिखा । जिस प्रकार अपने पद का लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया, उसी प्रकार साहित्य को भी लाभ का साधन नहीं बनाया । वे साहित्य के सम्बन्ध मे भी हमेशा निर्लोभ तथा निःस्पृह ही रहे ।

जिस समय बंगला साहित्य के उत्थान और बंगला की शिक्षा देने योग्य ग्रन्थ लिखवाने और पुस्तकों के पाठ्यक्रम के चुनने के लिये "सेन्ट्रल टेक्स्ट बुक" कमेटी नाम से एक समिति गठित की गई थी । उस समय शिक्षा विभाग के एक डाइरेक्टर श्री एटकिन्स साहब ने पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को भी सदस्यता के लिये आमन्त्रित किया । किन्तु उन्होंने उस समिति में शामिल होने से इनकार कर दिया । कारण पूछने पर उन्होंने एटकिन्स साहब को पत्र में लिखा–

मुझे खेद है कि मैं आपकी उस पुस्तकें चुनने वाली कमेटी में शामिल नहीं हो सकता । इसके दो तीन बहुत महत्वपूर्ण कारण हैं । सबसे पहला कारण तो यह है कि मैं स्वयम् ही पुस्तकों का लेखक हूँ । हो सकता है कि कमेटी में रहकर मुझे अपनी पुस्तकें स्वीकृत कराने का लोभ हो आये । इसे मैं अपने आचरण के लिए एक बड़ा कलंक समझता हूँ । यद्यपि, जहाँ तक मुझे अपने पर विश्वास है मैं किसी भी स्थिति में व्यक्तिगत स्वार्थ से बचा रह सकता हूँ तथापि अपने को अकारण ही किसी परीक्षा में डालना मैं किसी प्रकार भी ठीक नहीं समझता । मानवीय प्रवृत्तियों पर अधिक विश्वास करने से कभी धोखा भी हो सकता है । यह बड़ी कमजोर और चिकने पैरों वाली होती है । किस समय यह दृढ़ रह सकती है और किस समय कहाँ पर फिसल सकती है इसके विषय में विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । इनकी ओर से मनुष्य को सदा सावधान ही रहना चाहिये । उन सब अनेक सावधानियों में से एक सावधानी यह भी है कि अपने पर विश्वास होने पर भी अकारण अपने को किसी परीक्षा में न डालना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि पुस्तकों के गुण-दोषों पर कमेटी जिस सरकारी दृष्टिकोण से विचार करेगी, उससे एक ग्रन्थकार की स्थिति में, मेरा आदर्श से टकराव हो सकता है । ग्रन्थ कार अपने विचार से ग्रन्थ लिखता है किन्तु, सरकारी समिति उसे अपने विचारों पर तोलेगी । ऐसी स्थिति में अन्य सदस्यों से मेरा मतभेद भी हो सकता है, जिससे समिति के कार्य में गतिरोध उत्पन्न हो सकता है ।

तीसरी समिति में रहने से मेरे लिखे ग्रंथों पर समिति अपनी स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष राय नहीं दे सकती और चौथी बात यह है कि यदि समिति ने मेरा कोई ग्रन्थ पाठ्यक्रम के लिये चुन भी लिया तो जनता में कदाचित् ही कोई यह विश्वास करे कि मैंने चुने जाने के लिये अपने ग्रन्थ की सिफारिश नहीं की अथवा किसी अन्य प्रकार से अपना प्रभाव प्रयोग नहीं किया । इस प्रकार का भय मैं अपने पर लेने को किसी प्रकार भी तैयार नहीं हूँ । इसलिये यही मेरे और समिति दोनों के हित में है कि मैं आपकी उस कमेटी में शामिल न होऊँ । आशा है कि आप मुझे मेरे स्पष्टीकरण के प्रकाश में, अनुरोध न मान सकने के लिये क्षमा करेंगे ।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने सम्पूर्ण जीवन में सर्वथा निष्पक्ष, निरपेक्ष और निष्कलंक रहने का प्रयत्न करते थे और इस चारित्रिक महानता के लिये कोई भी त्याग करने तो तत्पर रहा करते थे ।

न केवल सामाजिक अपितु पारिवारिक जीवन में भी पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उसी प्रकार से उदार तथा दयालु रहा करते थे । वे कई भाई थे । लेकिन उनको छोड़कर किसी भाई की स्थिति अच्छी न थी । सबके परिवार हो जाने पर पैतृक घर में गुजारा कठिन हो गया । आवश्यकता इस बात की थी कि सबके लिये अलग-अलग निवास की व्यवस्था हो किन्तु न तो भाइयों की स्थिति ऐसी थी और न पिता की ही आर्थिक दशा अच्छी थी, जिससे कि इस आवश्यकता की पूर्ति हो सकती, निदान सभी लोग चिन्तित और परेशान रहने लगे ।

किन्तु उदारमना विद्यासागर ने सबकी चिन्ता दूर कर दी । उन्होंने सबको सान्त्वना देते हुए कहा– कि आप लोगों मे से कोई भी चिन्ता न करे । आप सबका कष्ट हमारा कष्ट है । हमारे पास जो कुछ है वह सब आप लोगों का ही है । भाई-भाई में कोई अन्तर नहीं होता । मैं उन व्यक्तियों मे से नहीं हूँ जो अपने भाइयों की उन्नति देखकर

जलते है और उनका कष्ट देखकर प्रसन्न होते है । ऐसे निकृष्ट मन वाले लोगों को मैं पशु से भी गिरा हुआ व्यक्ति समझता हूँ और नाही मैं उन मिथ्या व्यक्तियों में से हूँ जो अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिये समाज में तो बड़े परोपकार के काम करते हैं किन्तु परिवार और परिजनों के बीच बड़े संकीर्ण बने रहते हैं ।

निदान अपने इस कथन का पालन करते हुए विद्यासागर जी ने अपने सभी भाइयों के लिये अलग-अलग मकान बनवा दिये किन्तु, आप स्वयम् पिता के उस पुराने मकान में ही रहते रहे । इतना कमाने और दूसरों पर खर्च करने वाले ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने लिये एक अच्छा मकान न बनवा सके । यह उदारता और यह त्याग सच्चे लोक सेवक का एक महान् लक्षण है ।

विद्यासागर की दान और उदारशीलता को देखकर बहुतों ने उन्हें धनवान समझा और ऐसा प्रसिद्ध भी कर दिया । चोर डाकू तो ऐसी खबरों की तलाश में ही रहते हैं । निदान एक रात को धन के लोभ में डाकुओं के एक जत्थे ने उनके घर पर हमला कर दिया । सारा परिवार भयभीत होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया किसी की समझ मे न आया कि क्या किया जाय । किन्तु विद्यासागर ने अपना साहस नहीं खोया । उन्होंने परिवार के लोगों को एक गुप्त द्वार से दूसरी ओर निकाल दिया और आप भाला लेकर डाकुओं के दल का सामने करने पर तुल गये ।

पण्डित विद्यासागर और डाकूदल में बड़ी देर तक जिद्दोजहद होती रही । तब तक उनके परिवार वालों ने बाहर जाकर गाँव वालों को खबर कर दी तमाम लोग आ गये और डाकुओं को भागना पड़ा । इस संघर्ष में पण्डित ईश्वरचन्द्र को चोट भी लगी किन्तु उन्होंने दुष्टों को अपने मौलिक मन्तव्य में सफल न होने दिया ।

ऐसे तो परोपकारी, साहसी और दयावान, विद्यासागर थे जिन्हें पाकर न कि बंगाल अथवा भारत ही बल्कि सारी मानवता धन्य हो गई । पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर मानवता की एक पूरी तस्वीर और आदर्श की जीती-जागती मूर्ति थे । जब तक जिस देश समाज मे ऐसे परोपकारी आदर्श पुरुष उत्पन्न होते रहेंगे, वह समाज एव देश चिरकाल तक समुन्नत एवं गौरवशाली बना रहेगा ।

सहृदय समाज सेवी

मास्टर प्रभुदयाल

समाज को समुन्नत और सुसस्कृत बनाने के लिये जो सत्पुरुष अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का त्याग कर सेवा कार्यों में जुट जाते हैं, समाज प्रायः उनसे परिचित ही रहता है । उनका नाम भी समाज-सेवियों की समाहृत सूची में प्रकाशित होता रहता है । समाज की सेवा करने वाले केवल उतने ही व्यक्ति नहीं होते, जितने कि प्रकाश में आते हैं या लोग जिनको जानते हैं । इनके अतिरिक्त कुछ समाज-सेवी ऐसे भी होते हैं जो प्रकाशन से परे चुपचाप अपना पुनीत कर्तव्य करके चले जाते हैं और लोग कदाचित् ही उनको जान पाते हैं । जान भी पाते हैं तो तब, जब वे दूर, बहुत दूर भूतकाल में जाकर विलीन हो जाते हैं ऐसे मौन सेवक ही निस्पृह कर्मयोगियों की कोटि में आते है और परमार्थ पुण्य के सच्चे अधिकारी बनते हैं ।

ऐसे ही निस्पृह कर्मयोगियों में एक नाम मास्टर प्रभुदयाल का भी है । मास्टर प्रभुदयाल के विषय में इससे अधिक कदाचित् ही कोई व्यक्ति जानते हों कि उनका जन्म मध्य-प्रदेश के पन्ना राज्य में एक सामान्य कायस्थ परिवार में हुआ था और अभी तीन-चार वर्ष पूर्व उनका स्वर्गवास हो गया किन्तु अब धीरे-धीरे खोजी व्यक्ति उनकी सेवाओं के प्रकाश मे उनके विस्तृत जीवन-वृत्त का पता लगाने में तत्पर होने लगे है ।

इतना पता चल चुका है कि उन्होंने समाज-सेवा में हरिजन-सुधार का कार्यक्रम अपनाया था और भारत की जरायम पेशा जाति सांसी लोगों की अभूतपूर्व सेवा की थी । उनके प्रकाश केन्द्र महात्मा-गाँधी, प्रेरणा-स्रोत ठक्कर बापा और सहायक सहयोगी श्री वियोगी हरि रहे हैं । सेवा, संगति और निस्पृहता के आधार पर सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि मास्टर प्रभुदयाल जी अवश्य ही एक महान और चरित्रवान व्यक्ति रहे हैं ।

मास्टर प्रभुदयाल मध्यप्रदेश के जिस पन्ना राज्य में उत्पन्न हुए, खेले, खाए और बड़े हुए वहीं रहकर उन्होंने समाज-सेवा का अपना मानवीय कर्तव्य प्रारम्भ किया । वे जन्म-स्थान से बाहर अपना कार्यक्षेत्र खोजने नहीं गये । जाते भी क्यों ? "इज्जत उसे मिली जो वतन से निकल गया।"— सिद्धान्त वाले व्यक्ति वे नहीं थे । न उन्हे धन का लोभ था और न मान-सम्मान की स्पृहा । सेवा-भाव के धनी सत्पुरुष होने के नाते वे तो केवल जन-सेवा ही करना चाहते थे, जो कहीं भी, जहाँ उसकी आवश्यकता हो, की जा सकती थी । उसके लिये देश-विदेश का कोई अन्तर नहीं पड़ता । आज भारतीय समाज की जो दशा है, उसके देखते कदम-कदम पर जन-सेवाओं की आवश्यकता और उपयोगिता है । सामाजिक जीवन का ऐसा कौन-सा क्षेत्र और कौन-सी दिशा है, जिसके विषय मे यह कहा जा सके कि यहाँ पर सब कुछ ठीक चल रहा है, यहाँ पर किन्हीं सुधार-सेवाओं की आवश्यकता नहीं है । समाज का

सांगोपांग कायाकल्प वांछित है और उसकी आवश्यकता आज जन-जन की सेवाओं के लिये एक आवाहन है। जिसका समुचित एवं सानुकूल उत्तर सक्रिय रूप में दिया ही जाना चाहिये। मास्टर प्रभूदयाल जी इस सत्य को खुली-आँखों देख रहे थे और उनकी निष्ठा भी उसमे आंशिक नहीं पूर्ण और सम्पूर्ण थी।

मास्टर प्रभुदयाल जी ने जब हरिजन वर्ग की सेवा और सुधार को अपना जीवन लक्ष्य बनाया तो उन्हें समाज के प्रतिक्रियावादियों और प्रतिगामियों के प्रश्नों का भी लक्ष्य बनना पड़ा। उनसे प्रश्न हुआ कि आखिर समाज के अन्य अनेक क्षेत्र छोड़कर आपने इन अछूत लोगों की सेवा का कार्यक्रम क्यों अपनाया ? इससे क्या समाज और जाति में आपको निन्दा और भर्त्सना का पात्र नहीं बनना पड़ेगा ? मास्टर प्रभुदयाल का उत्तर था--

ऐसा तो मैं नहीं समझता कि इस नेक काम के लिये समाज में मेरी निन्दा की जायेगी। यदि निन्दा हुई भी तो मेरा अपना विश्वास कहता है कि निन्दक जन कुछ उन्हीं लोगों से मिलते-जुलते लोग होंगे जो या तो सामाजिक जीवन की अच्छाई-बुराई से अनभिज्ञ होते हैं, जिनका मस्तिष्क पूर्वाग्रही होता है, जिनके संस्कार नूतन प्रकाश के विरोधी होते हैं, अथवा समाज की पतित दशा से जिन्हें कुछ व्यक्तिगत लाभ होता है। ऐसे प्रतिवादी लोग स्तरीय मनुष्य नहीं होते। अस्तु उनकी निन्दा उपेक्षणीय ही मानी जायेगी।"

"दूसरी बात यह कि निन्दा हमारे आज जैसे समाजों की सहज वृत्ति बन गई हैं। कोई बात निन्दनीय है या नहीं-- इस पर विचार करना तो दूर, वह यह भी नहीं सोच पाता कि वह निन्दा क्यों कर रहा है और उसके निन्दा करने का कोई सार्थक उद्देश्य भी है या नहीं ? वह तो वृत्ति का सन्तोष करने के लिये निन्दा-निन्दा के लिए ही करता है। इस प्रकार की निरर्थक बात को, किसी शुभ कार्य के बीच महत्त्व देना मेरे विचार में, आवश्यक नहीं।"

"जिस दिन समाज-सेवा का मेरा विचार निश्चय के रूप में परिपक्व हुआ--निन्दा, प्रशंसा, आत्म-श्लाघा, :मान-सम्मान, कष्ट और आराम से सम्बन्धित अपनी अहंकारिका दुर्बलता को निकालकर रख दिया था। मेरा एक संकल्प है, एक व्रत है, जिसका पालन मुझे करना ही है। अब उसके उपलक्ष्य में मुझे जो भी निन्दा, तिरस्कार, पीड़ा अथवा यातना मिलेगी उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा।"

आपके प्रश्न का यह अंश निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है कि आखिर मैंने हरिजन वर्ग को ही अपनी सेवायें क्यो समर्पित की हैं ? उसके उत्तर में मैं केवल इतना ही निवेदन कर सकता हूँ, कि हरिजन वर्ग हमारे समाज का एक बड़ा भाग है। उसकी दशा समाज के अन्य किसी भी वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक पतित और दयनीय है। यह आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, चारित्रिक, नैतिक और पारिवारिक रूप से बहुत पिछड़ा हुआ है। धार्मिक रूप में तो, अन्ध-विश्वासों, भ्रांत धारणाओं और अविश्वास के कारण वह पूरे समाज पर एक अभिशाप ही बना हुआ है। अपने समाज के इस विशाल वर्ग को देखकर ही अन्य लोग हमारे सामाजिक तथा धार्मिक स्वरूप का अनुमान करते और तद्नुसार ही मूल्यांकन करते हैं। इसी किनारे से कतिपय अवांछनीय तत्व अपने समाज को काटने, घटाने, गिराने और मिटाने का प्रयत्न करते हैं। हरिजनों की वर्तमान दुर्दशा हमारे सम्पूर्ण समाज की एक गहरी निर्बलता है जिसका सुधार संचारित करना परोक्ष नहीं, सम्पूर्ण समाज की एक प्रत्यक्ष सेवा है। हमारा हरिजन वर्ग यदि समान रूप से शिक्षित, शुद्ध, प्रबुद्ध और दृढ़ होकर खड़ा हो जाये तो हमारे पूरे समाज की शक्ति में कम से कम दो से तो गुणा हो ही जाये- क्या ऐसा विश्वास कर सकना असंगत अथवा अस्वाभाविक होगा ?"

प्रश्नों के इन उत्तरों में मास्टर प्रभुदयाल के सारे विचार, विश्वास, भावनायें, मान्यतायें और दृढ़ताएँ प्रतिबिम्बित हो उठती थीं। विरोधी और आलोचक उस समय तो निरुत्तर होकर उनका मार्ग छोड़ देते थे और वे हरि-सेवा के समान हरिजन सेवा के लिये निष्ठापूर्वक अपनी राह लग लेते थे।

प्रारम्भ में तो वे लगभग दिन भर ही हरिजन बस्तियों में किसी न किसी मिस से बने रहते थे। इस पूरे दिन में से वे केवल उतना ही समय अलग करते थे जो जीविका, नित्य-क्रियाओं और अध्ययन के लिये आवश्यक होता था अथवा जो समय असमय की सीमा में आता था। बाकी का सारा समय वे हरिजनों की गतिविधि और उनके सुधार की आवश्यकताओं का अध्ययन करने में समर्पित कर देते थे। यह समयदान उनके कार्य के प्रति जिज्ञासा तथा संलग्नता का द्योतक था।

उपर्युक्त समय तक अध्ययन, वार्ता और संसर्गता के पश्चात् वे हरिजनों की पतितावस्था के जिन कारणों पर पहुँचे उनमें से अशिक्षा को उन्होंने मुख्य कारण माना। हरिजनों की दयनीय दशा का आधारभूत कारण अशिक्षा को उन्होंने सहसा ही किसी आग्रह, मोह अथवा भावुकता से प्रेरित होकर ही नहीं माना बल्कि वे खूब सोच-विचार कर इस निर्णय पर पहुँचे थे। अनेक बार उन्होंने वार्तालाप के क्रम में लोगों को बताया कि बहुत दिन तो मैं हरिजनों के सुधार का आधार अर्थ को मानता रहा--सोचता था कि यदि इनके लिये अधिक आय के साधन और अच्छे-अच्छे

शिल्पों की व्यवस्था हो सके तो इनका सुधार आप से आप होने लगे किन्तु मेरे दूसरे विचार ने इस विचार की निस्सारता को जल्दी ही प्रकट कर दिया । मैंने सोचा--

अर्थोन्नति हो जाने से भले ही इनका ऊपरी रहन-सहन कुछ सुधर जाये लेकिन उससे नैतिक अथवा चारित्रिक सुधार किस प्रकार संभव हो सकता है । उसके लिये तो मन, मस्तिष्क और आत्मा के परिष्कार की आवश्यकता है । मनुष्य को मानवीय तथा सामाजिक चेतना की उपलब्धि तो विचार मार्ग से ही हो सकती है और विचारों का विकास एक मात्र शिक्षा एवम् दीक्षा पर निर्भर है । इसके अभाव में बहुधा धन की सुविधा और भी घातक बन जाती है । धन चरित्र को उठाने वाला तो हो ही नहीं सकता, गिराने वाला भले ही हो जाये । किन्तु शिक्षा जहाँ चरित्र को उठाती है वहाँ अर्थोन्नति की सम्भावनायें भी सहज बना देती है । एक शिक्षा से ही दोनों आवश्यक कार्य सध जाते हैं । अस्तु मैंने हरिजनों के बीच अर्थ विकास से पूर्व ज्ञान विकास को ही प्राथमिकता देना उचित समझा । अज्ञानावस्था में इनके लिये आर्थिक आयोजन का प्रयत्न करना उनकी जीवन-विधि में अधिक फिसलन पैदा करने जैसी अबुद्धिमत्ता होती । फिर एक सबसे बड़ी बात यह थी कि मेरी जो कुछ थोड़ी बहुत सामर्थ्य थी उसके द्वारा शिक्षा प्रसार ही मेरे लिये सरल था, अर्थायोजन नहीं । अपनी शक्ति के अनुसार ही किसी कार्य का बीड़ा न उठाने वाले साधनों की खोज में ही सारा समय निकाल देते हैं, यथार्थ मे कुछ कर सकने के सन्तोष से वंचित रह जाते हैं । मुझे तो अंश दो अंश समाज सेवा करनी ही थी इसलिये मैंने वह ही शुरू किया जिसकी हरिजनो को आवश्यकता भी थी और जिसे मैं कर भी सकता था ।

अपने सम्पर्क क्रम मे उन्होंने कुछ प्रगतिशील हरिजन भाइयों को खोज भी निकाला था और कुछ अधकचरो को बना भी लिया था, कुछ में नये संस्कारों के बीज भी डाल दिये थे । एक दिन अवसर पाकर उन्होंने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए बच्चों की एक पाठशाला की बात चला दी । बात तो विरोध योग्य नहीं थी । अस्तु, विरोध तो नहीं हुआ, तथापि प्रतिक्रिया हुए बिना नहीं रही । बुद्धि सम्मत होने पर भी, कुसंस्कारी और दुराग्रही मन तो, किसी अच्छी बात और वह भी नई-सी, का विरोध करना अपना अधिकार पूर्ण धर्म समझता है । तभी तो बुद्धिमान लोग ऐसे समय में इसकी इतनी कठोर उपेक्षा कर देते हैं जैसे गम्भीर गति से अपनी राह जाता हुआ गजराज भूँसते हुए बाजारू कुत्तों की उपेक्षा कर देता है अथवा मनीषी महात्मा किसी अज्ञानी का कथन इस कान सुनकर उस कान निकाल देता है ।

अनेक उपस्थित हरिजनों की प्रतिक्रिया निराशापूर्ण रूप में मुखर हुई-- "हमारे अथवा हमारे बच्चों के लिये शिक्षा की जरूरत ? मास्टर साहब ! आप भी अजीब बात करते हैं । पढ़-लिखकर हमको या हमारे बच्चों को क्या मिल जायेगा ? जो आज करते हैं वही तब भी करेंगे । हाँ इतना तो जरूर होगा कि पढ़-लिखकर बच्चे बिगड़ जायेंगे, बाबू बन जायेंगे, निकम्मे और काम चोर हो जायेंगे । आप ऐसी सीख हम लोगों को न दें, यही अच्छा है ।"

मास्टर प्रभुदयाल की आत्मीयता दुःख और सहानुभूति से द्रवित होकर आँखों में झलक उठी । वे मन ही मन व्यथित होकर कह उठे-- "आह ! हमारे यह भाई अज्ञान में किस गहराई तक गिरे हुए हैं ? इन्हें शिक्षा और दीक्षा की कितनी आवश्यकता है ? क्या इसको समाज का उन्नत वर्ग अनुभव करके किसी कर्त्तव्य की प्रेरणा पा सकेगा ? यह अशिक्षा का ही तो कारण है जो ये लोग शिक्षा के सम्बन्ध में इस प्रकार से हीन और निराशापूर्ण विश्वास रखते हैं ।"

मास्टर प्रभुदयाल इन प्रश्नोक्तियों के लिये पहले से ही तैयार थे और अध्ययन के आधार पर जहाँ उन्होंने सृजन कार्यक्रमों की रूपरेखा-समझ-बूझ ली थी वहाँ ऐसी शंकाओं के समाधान भी तैयार कर लिये थे । अध्ययन का उद्देश्य भी तो यही होता है, आत्म-ज्ञान के साथ उस ज्ञान की भी उपलब्धि जो दूसरो को अज्ञान के गर्त से निकालने में सहायक हो । उन्होंने उस अवसर पर शिक्षा और ज्ञान के महत्व पर प्रकाश डालना जरूरी समझा-- बड़ी आत्मीयता के साथ बोले-

"इसमे तो किसी प्रकार की असहमति हो ही नहीं सकती कि आज अपने हरिजन भाइयों की दशा अच्छी नहीं है । वे समाज मे बहुत पिछड़े माने जाते है समाज के अन्य वर्ग उन्हें समाधानता का अधिकार देने में कृपणता करते हैं । उनमें शराब, जुआ, बुरा न मानियेगा-- मांस-खोरी, लड़ाई-झगड़ा, अन्ध-विश्वास, पशु-बलि, गन्दगी आदि न जाने कितनी विकृतियाँ पाँव जमाये पड़ी है । हम सब बराबर देखते आ रहे है कि हरिजन भाई न तो अपने जन्म सिद्ध अधिकारों के प्रति जाग्रत हैं और न अपने सामाजिक अथवा नागरिक कर्त्तव्यो के प्रति प्रबुद्ध ! एक लम्बे युग से वे जिस दशा में पड़े हैं उसी दशा में पीढ़ी दर पीढ़ी से चलते चले आ रहे है । प्रगति अथवा उन्नति के कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते । इस दशा में आगे के लिये भी कोई आशा नहीं की जा सकती । यही सब बातें तो उनका पिछड़ापन है, जिससे वे समाज में हेय दृष्टि से देखे जाते हैं । जानते हैं इसका कारण क्या है ? इस सब का एकमात्र

कारण है अशिक्षा एवम् अविद्या । इसके दूर होते ही जीवन में दिव्य प्रकाश का आविर्भाव हो जाता है और प्रगति के पथ आप से आप आलोकित होते जाते हैं । इसीलिये तो अपने वेद-शास्त्रों में ज्ञान की बड़ी महिमा बतलाई गई है ।"

आज हम सब जो विकृतियों, विकारों, वासनाओं, व्यसनों, गन्दी और गौरव-हीनता के गर्हित जीवन में नरक जैसा अनुभव करते हैं वह सब अज्ञान के कारण ही तो है । स्वर्ग और नरक और कुछ नहीं, मनुष्य के ज्ञान और अज्ञान का परिणाम है । ज्ञानी मनुष्य के लिये यह संसार ही स्वर्ग है । वह जहाँ भी रहता है स्वर्गीय वातावरण का सृजन कर लेता है और अज्ञानी को पग-पग पर अपने दुष्कृत्यों और दुर्विचारों के कारण नरक जैसी पीड़ाओं का सामना करना पड़ता है । तभी तो वेद भगवान ने निर्देश किया है– "आरोह तमसो ज्योतिः"– अज्ञान के अन्धकार से निकल कर ज्ञान के प्रकाश की ओर बढ़ो ।

"ज्ञान मनुष्य के चरित्र और व्यावहारिक जीवन को उत्कृष्ट बनाता है । ज्ञानी अपने बाह्य और आन्तरिक दोनों जीवनों को पवित्र बनाकर सच्ची मनुष्यता की प्राप्ति कर लेता है । इसके विपरीत अज्ञान जीवन के लिये एक अभिशापपूर्ण अभाव है । जीवन की समस्त विकृतियों, दुःख-सुखों, उलझनों, अभावों और समस्याओं का एकमात्र कारण मनुष्य का अपना अज्ञान ही है । यही मानव-जीवन की अवांछनीय कुरूपता और अपरूपता का भी कारण है । कुरूपता का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक बनावट से उतना नहीं है, जितना अज्ञान और अविद्या से उत्पन्न होने वाली बुराइयों से । अज्ञान मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है । इससे छुटकारा पाते ही जीवन में चारों ओर सुधार एवम् सुन्दरता का समावेश होने लगता है ।"

"इस उन्नत ज्ञान की पहली सीढ़ी है शिक्षा । शिक्षा के बिना ज्ञान की ओर एक पग भी नहीं बढ़ा जा सकता । शिक्षा न होगी तो कैसे तो अध्ययन किया जा सकता है और कैसे सत्सङ्ग का लाभ उठाया जा सकता है ? शिक्षा न केवल ऊँचे ज्ञान के लिये ही आवश्यक है वह सामान्य जीवन के लिये भी तो उपयोगी होती है । शिक्षा से ही मनुष्य के मन और मस्तिष्क का विकास होता है । उसी से मनुष्य की योग्यताएँ जाग्रत होती हैं । शिक्षित व्यक्ति एक छोटा-सा काम भी इतनी निपुणता से कर दिखाता है कि उसका मूल्य अशिक्षित द्वारा किये गये बड़े काम से अधिक आँका जाता है । शिक्षा के अभाव में मनुष्य के भीतर रहने वाली शक्तियाँ वैसे ही बेकार चली जाती हैं जैसे बिना तैयार किये हुए खेत में पड़े बीज बेकार चले जाते हैं । शिक्षा के बिना हित-अहित, कर्तव्य, अधिकार का बोध नहीं हो पाता और न मनुष्य सामाजिक, राजनीतिक अथवा प्रशासनिक क्षेत्रों में अपना स्थान ही बना पाता है । मान, सम्मान अथवा समानता की जो भी सुखदायक स्थितियाँ हैं वे सब शिक्षा के आधार पर ही प्राप्त होती हैं । शिक्षा मानव-जीवन के लिये अमृत के तुल्य ऐसा तत्व है जो मानव पशु को देवता की कोटि में पहुँचा देता है । इसलिये मेरा निवेदन है कि आप लोग शिक्षा के सम्बन्ध में अपने नीचे विचारों को ऊँचा उठायें । खुद पढ़ें और बच्चों को पढ़ने का अवसर दें । अपने मस्तिष्क से यह विचार निकाल दें कि शिक्षा पाकर बच्चे बाबू बनकर निष्क्रिय हो जायेंगे । शिक्षा किसी को निष्क्रिय नहीं बनाती, वह तो सक्रियता की एक जीवित प्रेरणा है । मनुष्य को निष्क्रिय बनाते हैं उसके व्यसन, विकार और आलस्य, प्रमाद आदि के दोष । वह जिसमे भी होंगे वह निकम्मा बन ही जायेगा । फिर चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित आलस्य आदि पापों का परिणाम निष्क्रियता को शिक्षा जैसे पुण्य पर आरोपित करना अन्याय है जो हम या आप किसी को भी नहीं करना चाहिए और बच्चे पढ़-लिखकर क्या करेंगे उनकी स्थिति में क्या सुधार होगा ? यह तो भविष्य की बात है उसे भविष्य पर ही छोड़कर अपने वर्तमान कर्तव्य में लग जाना चाहिये । उपस्थित उदाहरण और इतिहास के प्रमाण, इस सन्देह को समूल नष्ट कर देने के लिये सर्वथा पर्याप्त हैं कि जब, शिक्षा की प्रगति और विद्या के विकास से संसार के बड़े-बड़े पिछड़े राष्ट्रों ने बात की बात में अग्रस्थान प्राप्त कर लिया है तब हरिजनो का एक वर्ग अपना उत्थान अथवा विकास क्यों नहीं कर सकता ? कर सकता है अवश्य कर सकता है– इस विश्वास के साथ हमारा सहयोग करिये और शिक्षा के शुभारम्भ का श्रीगणेश होने दीजिए ।"

उन अशिक्षितों तथा रूढ़िवादी हरिजनों ने मास्टर प्रभुदयाल का यह वक्तव्य समझा हो अथवा पूरी तरह न समझ पाये हों, परन्तु उन पर उसका एक गहरा प्रभाव जरूर पड़ा । उन्हें अच्छी प्रकार यह विश्वास हो गया कि मास्टर साहब एक विद्वान् व्यक्ति है, और हरिजनों के एक सच्चे हितैषी । ज्ञानपूर्ण, उन शब्दों में, जो सद्भावना के साथ हृदय से निकलते हैं, एक ऐसा सूक्ष्म प्रभाव होता है जो अनभिज्ञ श्रोता की आत्मा में उन्नत अनुभूति का जागरण कर देता है, जिसे वह बुद्धि गम्य भले ही न बना सके, तथापि अपने राज्य में कुछ अभूतपूर्व ध्वनि की प्रेरणा अवश्य अनुभव करने लगता है जिससे उसके संस्कारों में सदाशयता से सामंजस्य उत्पन्न होने लगता है । ज्ञान में निश्चय ही बड़ी परिवर्तनकारी शक्ति होती है ।

प्रभावित हरिजनों ने आदरपूर्वक सहमत होकर मास्टर प्रभुदयाल के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उन समाज सेवी के प्रयल वांछित दिशा में चल पड़े । शुभ काम में देर का क्या काम ? मास्टर साहब ने उसी समय कुछ बच्चे पढ़ाई के लिए छाँट लिये और दूसरे दिन पाँच बजे शाम को तैयार रहने का निर्देश देकर चले गये ।

मास्टर प्रभुदयाल का बड़ी उत्सुकता से दूसरा दिन कटा और शाम आई । लोगों ने देखा कि मास्टर साहब आज एक टाट का बड़ा-सा पुलिन्दा और लालटेन लिये बड़ी जल्दी-जल्दी कहीं जा रहे हैं । किन्हीं-किन्हीं ने पूछा भी--"मास्टर साहब आज यह बोरिया-बिस्तर किधर लाद दिया ?" पर मास्टर को न तो उस समय कुछ सुन सकने की फुरसत थी और न उत्तर देने की । उनके कान भी इस समय ध्यान का साथ दे रहे थे । लोगों ने उत्तर की ज्यादा परवाह भी नहीं की । वह इसलिये कि प्रायः लोग उन्हें सनकी समझते थे ।

मास्टर साहब हरिजन बस्ती में पहुँचे और यह देखकर प्रसन्नता से पुलकित हो उठे कि बच्चे आज अपेक्षाकृत कुछ साफ कपड़े पहने उनका इन्तजार कर रहे हैं । शायद आज दिन में उनकी म ताओं ने कपड़े फींच दिये थे । प्रारम्भ देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि वे अपने उद्देश्य में सफल अवश्य होंगे । उनका रास्ते भर का यह सोचना किसी जरूरत का सिद्ध नहीं हुआ कि यदि बच्चे तैयार न मिले तो वे न तो बुरा मानेंगे और न किसी से कोई शिकवा शिकायत करेंगे । चुपचाप उपयुक्त स्थान पर फट्टा बिछाकर घरों पर जा-जा बच्चों को प्यार से बुला लायेंगे और उन्हें कोई ऐसी कहानी सुनायेंगे जिससे अगले दिनों के लिये उनमें उत्सुकता जग जाये ।

लेकिन वहाँ तो सब पहले से ही तैयार प्रतीक्षा कर रहे थे । मास्टर साहब को देखकर पहले तो बच्चे कुछ शरमाये जरूर लेकिन फिर किसी ने जयराम की, किसी ने जय रामजी की, किसी ने पालागन किया तो किसी ने दण्डवत और नमस्ते कही । यह पाठ भी शायद उनको उनकी माताओं ने ही सिखाया होगा । क्योंकि पिता तो सवेरा होते ही काम पर चले गये होंगे उन्हें अवकाश भी न मिला होगा, और फिर इस समय मातायें द्वारों में खड़ी बच्चों को देख रही थीं और खुश हो रही थीं । माताओं को सृजन कार्यों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ रुचि अधिक होती भी है ।

मास्टर प्रभुदयाल ने फट्टे का पिण्डा खोला और उनके प्यारे छात्र उसे बिछाने में जुट गये । मास्टर साहब की शाबाशी के साथ बिछावन बिछ गया और वे पंक्ति में बच्चों को बिठाकर खुद भी उसी पर बैठ गये । सबसे पहले उन्होंने एक-एक करके सबके नाम पूछे साथ में पिता का नाम भी । बच्चों ने लजाते-शरमाते और एक दूसरे की ओर देखते हुए बताये और मास्टर साहब ने शाबाशी देकर सुधार किया कि बच्चो ! अपने माता-पिता का नाम बतलाते समय 'श्रीमती' 'श्रीमान्' अथवा श्री लगाना चाहिए, लेकिन अपना नाम बतलाते समय नहीं । इसी प्रकार जब किसी दूसरे का नाम लेना हो तो उसके पहले श्री जरूर लगाना चाहिये । उन्होंने इसका एक बार और अभ्यास कराया और तब पाठशाला की कार्यवाही का उद्घाटन शुरू कर दिया ।

यह उद्घाटन परमात्मा की एक छोटी-सी प्रार्थना से किया जिसे मास्टर साहब कहते गये और बच्चे दोहराते गये । प्रार्थना का सब मिला कर मोटा-सा आशय यह था कि- "हे परम पिता परमात्मा ! तू हमें सद्बुद्धि दे जिससे हम विद्या प्राप्त कर सकें और उसका उपयोग संसार की सेवा में कर सके ।" तू हमे संसार की हर बुराई से बचा, क्योंकि हम सब तेरी ही अबोध सन्तानें हैं और तेरी ही शरण आये हैं । हम पर ऐसी कृपा कर कि हम सद्गुणी, सदाचारी और पुरुषार्थी बनकर जीवन में दिन-दिन उन्नति करते जायें । अन्त में हम तुझे मानव शरीर देने के लिये धन्यवाद देते हैं और फिर प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐसी शक्ति दे जिससे कि हम इस उपहार को सार्थक तथा सफल बना सकें ।"

प्रार्थना के बाद मास्टर साहब ने बच्चों से पता किया कि क्या किसी के पास स्लेट, तख्ती अथवा किताब आदि हैं ? लेकिन सबों से नकारात्मक उत्तर मिला । मास्टर साहब ने मन ही मन कहा-- कोई चिन्ता नहीं मैं सब कर लूँगा । अनन्तर उन्होंने बच्चों को शिष्टाचार की कुछ और भी मोटी-मोटी बातें बताईं । जिनमें माता-पिता से व्यवहार करने और गाली न बकने की शिक्षा प्रमुख थी । इसी प्रकार उन्होंने लगभग एक घण्टे तक बच्चों का मनोरंजन और शिक्षण करने के बाद छुट्टी कर दी और फट्टा तथा लालटेन पास के ही एक घर मे रख दिया ।

बच्चे चले गये । लेकिन मास्टर साहब ने उनके माता-पिता से मिलकर यह पता लगाया कि कौन बच्चे की पढ़ाई के लिये-- पट्टी, बोदिका और किताब के लिये खर्च कर सकता है और कौन नहीं ? जो-जो अभिभावक खर्च कर सकते थे उनसे पैसे ले लिये, दे देने का वचन ले लिया और दूसरे दिन के लिये बच्चों को तैयार रखने को कहकर चले गये ।

उस दिन रात से ही मास्टर प्रभुदयाल ने अपने मित्रों तथा समाजभावी लोगों से मिलना और हरिजन बालकों को शिक्षा सम्बन्धी सामग्री की सहायता करने के लिये कहना

शुरू कर दिया । उन्हें जो कुछ भी मिला- पट्टी, बोदिका, पुस्तक आदि-- सब लेते गये । जिसने नकद पैसा दिया उसे उन्होंने एक हाथ लिखी रसीद भी दी । इसके साथ ही हरिजन-समाज कल्याण और अन्य जन-संस्थाओं को प्रार्थना-पत्र देकर अपने पास से भी कुछ धनराशि शामिल की ।

इस प्रकार जो कुछ संचय हो पाया उससे दूसरे दिन ही किताबें आदि लेकर वे ठीक समय पर पाठशाला जा पहुँचे । बच्चों ने पुनः अपने-अपने प्रकार के अभिवादन किये । किन्तु आज उन्होंने सर्व सम्मिति से एक-हाथ जोड़कर नमस्ते का अभिवादन निश्चित कर दिया और बता दिया कि आने पर और जाने पर दो बार नमस्ते किया करें। आज की शिक्षा पुस्तक के अक्षरों तथा चित्रों द्वारा शुरू हुई और उसी पर बात-चीत के साथ समाप्त भी और तब अगले दिनों से धीरे-धीरे विधिवत अक्षर ज्ञान का क्रम प्रारम्भ हो गया जो चलता और विकास करता ही गया । समय आया और गिनती, पहाड़ों के साथ मास्टर साहब की वह 'हरिजन-बाल-पाठशाला पूरी तरह से चलने लगी और जनता में जानी जाने लगी ।

पाठशाला तो चल पड़ी, लेकिन अभी उसमें ब्लैकबोर्ड, लट्टू खरिया, पट्टियाँ आदि बहुत सी चीजों की कमी थी । फिर पाठशाला के छात्रों की संख्या यहीं पर तो रुक नहीं जानी थी । उसे बढ़ना ही है और तदनुसार उसके लिये सामान और अधिक व्यय की भी व्यवस्था करनी होगी । अस्तु उन्होंने विभागों और संस्थाओं के साथ व्यक्तियों के द्वार की खाक छान डाली जहाँ-जहाँ से सहायता की आशा थी । वे भागते-दौड़ते और कुछ न कुछ कोष तथा भंडार की वृद्धि करते ही रहे । अब उनके मस्तिष्क में उनकी वह छोटी-सी पाठशाला एक व्यवस्थित विद्यालय का रूप लेने लगी थी ।

सत्कर्मों में विज्ञापन की एक अपनी शक्ति होती है । मास्टर प्रभुदयाल की पाठशाला को प्रसिद्ध होते देर नहीं लगी । अब तो लोग आते और दूर से खड़े-खड़े देखने लगे । जहाँ बहुत से लोग हरिजन बस्ती की उस पाठशाला को देख कर सिहाते थे वहाँ कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्हें वह सत्कार्य देखे नहीं सुहाता था । समाज हितैषी लोगों में चर्चा होती कि मास्टर साहब ने यह बड़ा अच्छा काम शुरू किया है । इसकी बड़ी आवश्यकता थी । हम लोगो को भी मदद करनी चाहिये, जिससे पाठशाला के लिये कुछ छाया और आड़ हो जाये । इधर समाज विरोधी जलते और आपस में कहते-- "यह तो प्रभुदयाल ने बड़ा बुरा काम शुरू कर दिया । इससे तो यह अछूत आगे चलकर सिर पर चढ़ेंगे । बराबरी का दावा करेंगे । दबाव नहीं मानेंगे । समाज की सारी व्यवस्था बिगड़ जायेगी । हम लोगों को कोशिश करके इस पाठशाला को बन्द करा देना चाहिये ।

समाज का यह द्वन्द्व भाव और कुछ नहीं– शिव और अशिव, सत् और असत्, प्रगति और प्रतिगमन की टक्कर थी । इसका परिणाम और कुछ नहीं निश्चय ही असुरत्व पर देवत्व की विजय ही होती है । युग-युग से यही क्रम चला आया है और शायद तब तक चलता रहेगा जब तक सतत्व की सर्वसत्ता में युग परिवर्तन नहीं हो जायेगा । समाज का यह द्वन्द्व विषमता, विशेषता इस बात की परख-पट्टिका की होती है कि शिव-शिविर में अब कितनी जन-शक्ति संचय हो गई है और पुण्य पुरुषार्थ में कितने और किस कोटि के प्राण प्रतिष्ठित हो रहे हैं ?

मास्टर प्रभुदयाल को स्थिति का पता था । वे विरोध से अभिज्ञ नहीं थे और यह भी जानते थे कि वह उनके लिये किस सीमा तक कष्टदायक और हानिकारक हो सकता है । किन्तु अपने कर्तव्य की चिन्ता छोड़ कर उन्हें लोकापवाद अथवा आरोप की देख-रेख करने की फुरसत नहीं थी । इसकी चिन्ता तो वे तब करते जब उस सेवा कार्य में उनका कोई चोर मन्तव्य निहित होता । जब खरे, त्याग और निःस्वार्थ भावना पर ही उनकी सेवा की नींव रखी हुई थी और उस सेवा की समाज के लिये विशेष सार्थकता थी तब चिन्ता का क्या अर्थ था और यदि ऐसी स्पष्ट और पवित्र स्थिति में भी कोई लोकारोप अथवा व्यर्थ-विरोधियों से भयभीत होता है तो उसे कायर के सिवाय और कुछ नहीं माना जा सकता । ऐसे कायर व्यक्ति संसार में कुछ नहीं कर सकते और यदि कुछ करने के लिये कदम उठाते भी हैं तो पहले कटक में ही पीछे हटा लिया करते हैं । किन्तु मास्टर प्रभुदयाल तो उन परमार्थियों में थे जो समाज का विष पीकर भी उसे अमृत देते रहने में ही महानता और मानव-जीवन की सार्थकता समझते थे ।

समाज की दोनों प्रवृत्तियाँ सक्रिय हो चलीं । एक ओर तो छप्पर छानी और दीवारों के लिये बाँस, बल्ली, फूस, रस्सी और मिट्टी, ईंट आने लगीं और दूसरी ओर मास्टर प्रभुदयाल के पतित, पापी, धर्म-भ्रष्ट और मेहतर हो जाने का नारा आन्दोलन का रूप लेने लगा । उनके पास शिष्ट-मण्डल आने और स्कूल बन्द करने का दबाव डालने लगे । मास्टर प्रभुदयाल ने उन शिष्ट-मण्डलों को अनिष्ट-मण्डल से ज्यादा कुछ नहीं समझा और हाँ-हूँ करके उनकी उपेक्षा कर दी ।

व्यर्थ विरोधियों के पास समय की कमी तो होती नहीं । कोई नेक काम न रहने से समय की कमी हो भी

कैसे सकती है । उन्हें तो निन्दा करने का ही एक काम रहता है, जिसमें कुछ लगता तो है नहीं और न नैतिक उत्तरदायित्व का कोई शासन-अनुशासन होता है । जहाँ हुए वहीं अपनी अनर्गल जुबान चलती कर दी । झूँठी और निराधार घटनायें गढ़ने और असम्भाव्य आशंकाओं की कल्पना करते भी उन्हें कोई श्रम नहीं होता-- श्रम तथा योग्यता की आवश्यकता होती है सत्य, शिव और सुन्दर कल्पनाओं, सृजन तथा हितकारी योजनाओं का मूर्तिमान देने मे । पाखण्डियों ने जल्दी ही अपने दल बना लिये और प्रतिक्रियायें भी तेज कर दीं किन्तु सहायक सीमा और सामर्थ्य के अन्तर्गत अपना काम धीरे-धीरे कर रहे थे । ध्वंस के समान रचना का कार्य जल्दी होता भी कहाँ है ?

जब तक हरिजन-बाल-विद्यालय के लिये फूस की छाया और मिट्टी की कच्ची ईंटें आइ बनीं तब तक समाज विरोधियों ने मास्टर प्रभूदयाल के परिवार सम्बन्धियों और जाति-विरादरी के लोगों के कान पका दिये और यह विश्वास जमा दिया कि प्रभुदयाल बिल्कुल बेधरम हो गये हैं । वे तो अब खान-पान, बरताव-व्यवहार में मेहतरों के साथ हो गये हैं । विचित्र बात तो यह है कि विवेकहीन व्यक्तियों में सुन्दर विश्वासों की अपेक्षा ऐसे विश्वास जल्दी जम भी जाते हैं । घर वालों और जाति-विरादरी वालों ने उनका विरोध ही नहीं किया बहिष्कृत कर जाति से बाहर कर दिया ।

मास्टर प्रभुदयाल ने उस अन्याय और अवहेलना को पुरस्कार की तरह सिर-माथे लिया । किसी से न कुछ कहा और न अपवाद आरोप का प्रतिवाद किया । चुपचाप अपना बिस्तर लेकर पाठशाला मे चले गये और वहीं हरिजन बस्ती में रहने लगे । उन्होंने इसे सुविधा ही समझी और वे उसका उपयोग कर हरिजनों की एक रात्रि गोठी भी करने लगे । उन्हें कथा-वार्ता सुनाते, व्यसनों, बुराइयों और विकृतियो से विरत करते । स्वच्छता और सफाई से रहना सिखाते और सप्ताह-सप्ताह कीर्तन-भजन कराते । इसका परिणाम यह हुआ कि तेजी से हरिजनों का सुधार होने लगा । वे मनुष्य रूप में आने और मनुष्यता को पहचानने लगे ।

हरिजन आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्ता श्री वियोगी हरि उन दिनों पन्ना राज्य में ही शिक्षा विभाग का उत्तरदायित्व सम्भाले हुए थे । उन्होंने मास्टर प्रमुदयाल के काम देखे, भावना पहचानी और कष्टों का अनुभव किया । वे उनसे मिले और अपने घर ले जाने का आग्रह करने लगे । किन्तु मास्टर प्रमुदयाल इसके लिये राजी न हुए । उन्होंने उस स्थिति मे अधिक सेवा कर सकने की सुविधा का अवसर अपने आराम के लिये नहीं छोड़ा । रूढ़िवादी प्रबन्धकों के स्कूल ने उन्हें अपने यहाँ से अलग तो कर ही दिया था तथापि उन्होंने श्री वियोगी हरि की सहायता से मिल सकने वाली नौकरी करना भी स्वीकार नहीं किया । हरिजन भाइयों ने उनके लिये कुछ करना चाहा, तो उन्होंने कह दिया कि जो कुछ कर सको स्कूल के लिये करो, मुझे कुछ नहीं चाहिये । मैंने जीविका के लिये दस-दस रुपये की दो ट्यूशनें करली हैं जो मेरे लिये पर्याप्त हैं ।

त्याग और तपस्या की गति आज तक कौन रोक पाया । मास्टर प्रभुदयाल अखबारों, कार्यकर्ताओं, सम्वाददातों, जनवार्ताओं और श्री वियोगी हरि के पत्रों के माध्यम से नाम और काम रूप में महात्मा गाँधी और टक्कर बापा के समीप दिल्ली जा पहुँचे । उनकी तड़ातड़ चिट्ठियाँ और सन्देश आने लगे कि मास्टर प्रभुदयाल दिल्ली चले आयें यहाँ पर बहुत काम है । किन्तु मास्टर प्रभुदयाल सन्तान की तरह प्रिय उस शिशु स्थापना को अनाथ छोड़कर दिल्ली जाने को तैयार न हुए । उन्होंने निवेदन भेज दिया कि जब तक यहाँ का हरिजन-बाल-विद्यालय प्रौढ़ नहीं हो जाता और मैं उसका भार उत्तरदायी व्यक्तियों के हाथ में नहीं सौंप देता तब तक सेवा में दिल्ली नहीं आ सकता । यदि मै इस स्थिति और अपरिपक्वावस्था में यहाँ से चला जाता हूँ तो इसका श्रेय विरोध को चला जायेगा जो समाज सेवी लोगो के लिये कुप्रभावकारी होगा ।

उस भयानक विरोध, बहिष्कार और अभाव के बीच भी मास्टर प्रभुदयाल किसी भी दृढ़ व्रती की तरह अपने कर्तव्य में तन, मन, धन, श्रम और समय के साथ लगे रहे । कई वर्षों तक लगे रहे । असत्य और असत् के पैर ही कितने होते हैं और कितनी होती है उसकी आयु ? जल्दी ही तपस्या का तेज अपने अस्तित्व में आया और अकल्याणकामियों का उत्तेजित रक्त चाप नीचे गिर गया । किन्तु होश आते ही उनका पाप सिर पर चढ़ दौड़ा और वे शरण के लिये इधर-उधर झाँकने लगे । ग्लानि और पश्चात्ताप ने उनकी सहायता की जिससे सहयोग और सहायता के रूप में वे स्वयम् ही अपने किये का प्रतिकार करके प्रायश्चित करने में लग गये ।

विरोध का वातावरण ध्वस्त हो गया । लोगों ने मास्टर प्रभुदयाल की भावनाओं और सेवाओं का मूल्य आँका, उनकी गरिमा समझी और गुरुता को गौरव के साथ स्वीकार किया । पहले की तरह शिष्ट मण्डल फिर आने लगे, किन्तु अब उनमें पाठशाला बन्द करने का प्रस्ताव नहीं होता था बल्कि उसके विकास की योजना और परामर्श होता था, घर चलकर रहने का अनुरोध रहता था । मनस्वी मास्टर साहब ने शिष्ट मण्डलो के प्रस्तावों का पूर्व भाग तो सौभाग्य समझकर

शिरोधार्य किया किन्तु उत्तर भाग के विषय में क्षमा माँग ली । उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि अब उन्होंने अपना-सम्पूर्ण अस्तित्व जन-सेवा में समर्पित कर दिया है । अब उनका घर एक सीमित परिधि नहीं है और न कतिपय स्त्री-पुरुष उनका परिवार है । अब तो समाज का पतित और उपेक्षित वर्ग उनका परिवार है और हर व्यक्ति उनका परिजन है जिसे उनकी सेवा की जरूरत है । मेरे जीवन की सारी संकीर्णतायें और सीमायें असीम मानवता में टूटकर मिल गई हैं । आप सबकी कृपा से मुझे सत्य और सौन्दर्य के दर्शन हो गये हैं, जिसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ ।

सहनशीलता जब अपना पूर्ण प्रमाण दे देती है तब स्वभावतः जन-सहयोग की अधिकारिणी बन जाती है । मास्टर प्रभुदयाल को अब सहयोग और सहायता की कमी नहीं रही । जल्दी-जल्दी उनकी पाठशाला ऊँची उठती और मजबूत होती गई । उसमें सभी प्रकार के साधन और उपकार पूरे हो गये । अच्छी खासी कक्षाये लगने लगीं । अवैतनिक पढ़ाने वाले भी मिल गये । उसकी एक समिति भी बन गई और भविष्य की सम्भावनाएँ भी स्पष्ट होने लगीं । मास्टर प्रभुदयाल दो हाथ से सैकड़ों हाथ वाले हो गये । निदान उन्होंने उत्तरदायी वर्तमान और भविष्य सौंपकर अपने को मुक्त किया और दिल्ली में बापू और बापा की महान छत्रछाया में जाकर विशाल जन सेवा के समुद्र में डूब जाने की योजना का विचार किया ।

दिल्ली में एक से एक बढ़कर देखने वाली चीजें थीं किन्तु मास्टर प्रभुदयाल कोई भी चीज तो नहीं देख पाये । देख भी कैसे पाते ? वे दिल्ली की शोभा और शान देखने तो गये नहीं थे और न घूमने अथवा मनोरंजन करने । दिल्ली पहुँचकर वे बिना किसी विलम्ब के बापू और बापा से मिले और सीधे उन बस्तियों की ओर चले गये जहाँ समाज के पिछड़े और उपेक्षित वर्ग के लोग नारकीय जीवन काटते हुए समाज के लिये लज्जा का कारण बने हुए थे ।

उन दिनों सांसी नाम की एक जाति रैगड़पुरा और करौलबाग में रह रही थी । इस जाति के लोग प्रमाणित जरायम पेशा और अपराधी माने जाते थे । सरकारी रजिस्टरों और पुलिस के लेखाओं में भी ये लोग जरायम पेशा दर्ज थे । इनको नित्य थाने में हाजिरी लिखानी होती थी । कहीं जाते थे तो थाने में रिपोर्ट देकर जाना पड़ता था, जहाँ जाते थे वहाँ के थाने में अपने आने की सूचना देनी पड़ती थी । इसके अतिरिक्त रोज रात को घरों पर इनकी पुकार होती थी । क्षेत्र में कोई भी जुर्म होने पर सबसे पहले इन्हीं लोगों को पकड़ा जाता था । यह सांसी जाति पुलिस के कोप और अत्याचार की लक्ष्य बनी हुई थी ।

ऐसा होना कुछ अस्वाभाविक नहीं था । सांसी लोगों का आचरण उन दिनों बहुत गिरा हुआ था । इनके प्रधान कार्य थे चोरी करना, डाका डालना, भीख माँगना, राहजनी करना, जुआ खेलना, शराब बनाना, पीना और बेचना । कहीं-कहीं यह लोग वेश्यावृत्ति को भी प्रोत्साहन दिये हुए थे । बच्चों को चुराने और बेच देने की घटनायें भी इनमें पाई जाती थीं । ब्याह के नाम पर लड़कियों को बेचने और दुष्ट स्त्रियों का व्यवसाय कर लेने में भी ये लोग संकोच नहीं करते थे । अँधेरे-उजेले में मिल जाने वाली अनाज की गाड़ियों को लूट लेना इनके लिये साधारण बात थी । जेल को अपना घर मानने वाले यह लोग उस नवयुवक को बहुत महत्त्व देते थे जो अधिक से अधिक जेल काटे हुए होता था । इन सब कुकृत्यों और विकृत संस्कारों के कारण इस जाति को घोषित जरायम पेशा अथवा अपराधी जाति माना जाता था । समाज इनकी ओर घृणा से तो देखता था किन्तु इनके सुधार की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था । जो कुछ जिस प्रकार चला आ रहा था, उसी प्रकार चला जा रहा था ।

मास्टर प्रभुदयाल ने इन लोगों की ओर दया और सहानुभूति से देखा और अपनी सेवाओं का सच्चा अधिकारी माना । उन्होंने उन कुसंस्कारी लोगों के सुधार में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देने का संकल्प करके बापू से उनकी सेवा का अधिकार माँग लिया । मास्टर प्रभुदयाल के पास इस समय जीविका का कोई साधन नहीं था । उन्होंने किन्हीं बच्चों की दो ट्यूशन कर लेने का विचार यहाँ भी बनाया । किन्तु केवल दो घण्टे की ट्यूशन से दिल्ली जैसे मँहगे नगर में काम चलना सम्भव न था । इससे अधिक समय मास्टर प्रभुदयाल दे सकने में असमर्थ थे । उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य पेट पालन नहीं, बल्कि सांसी लोगों की सुधार-सेवा था । हरिजन-सेवक-समाज ने उनकी इस आवश्यकता और कठिनाई को समझा । हल के रूप में मास्टर साहब के अनुरोधपूर्वक गुजारे लायक वृत्ति की व्यवस्था कर दी ।

सांसियो के अवस्था सुधार के उपायों मे मास्टर प्रभुदयाल को तीन उपाय समझ में आये । एक शिक्षा, दूसरा निर्व्यसनता और तीसरा रोजगार । सारे सुधारों का मूल आधार शिक्षा तो है ही । व्यसन-त्याग और रोजगार भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण उपाय नहीं हैं । शराब आदि नशे जहाँ स्वास्थ्य और धन का नाश करते हैं वहाँ बुद्धि भी भ्रष्ट कर देते हैं । जुआ तो दरिद्रता का बहुत बड़ा हेतु है । एक ओर बुद्धि भ्रष्ट होने और दूसरी ओर निर्धनता आने से

सांसी लोग अपराध के मार्ग पर चल कर चोरी, डकैती और अन्य प्रकार के अनैतिक काम करने लगते थे । एक ओर तो इनके व्यसन छूट और दूसरी ओर शिक्षा और रोजगार बढ़े तो जल्दी ही उनका सुधार होने लगे । मास्टर प्रभुदयाल ने विचार किया और अपने कार्य में लग गये ।

सांसी लोग प्रायः नित्य ही शराब पीते और बकते थे । उन्होंने उनके शराब पीने के समय-संध्या को उनकी बस्ती में जाना और समझाना शुरू किया । कुछ दिन तो सांसी लोग उनकी बात सुनते और अपना काम करते रहे । किन्तु जब उन्हें रोज-रोज आते और शराब की बुराई करते और छोड़ देने की शिक्षा देते देखा, तो उन्होंने उनको अपनी मौज बाधक समझना शुरू कर दिया । पहले तो उन्होंने अपने उन हितैषी को भला-बुरा कहा-- किन्तु जब वे तब भी जाते और समझाते रहे तो कई बार अनेक उद्दंड सांसियों ने उन्हें नशे में बुरी तरह मारा-पीटा भी । किन्तु तब भी उन्होंने जाना और समझाना नहीं छोड़ा ।

कई बार ज्यादा चोटें लग जाने पर मास्टर प्रभुदयाल के मित्रों ने उनसे कहा कि जब कोई बुरे आदमी अच्छी बात से इतने चिढ़ते हैं तो आपको क्या गरज पड़ी है जो उन्हें जाकर समझाते और मार खाते हैं । जो अपना सुधार खुद नहीं चाहता उसका सुधार आप कर भी कैसे सकते हैं ? मास्टर प्रभुदयाल ने उत्तर दिया-- "यदि उनमें भला-बुरा समझने की बुद्धि हो तो ऐसा क्यों करें ? यह बुद्धि तो उन्हें बार-बार समझाने से ही आयेगी । कोई अपना सुधार खुद करना कहाँ चाहता है, सुधार के लिये तो उसे प्रेरणा दी जाती है । वही मैं कर रहा हूँ । शराब पीकर नशे में होने के समय जाने के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि उस वक्त जाने पर वे हम पर नाराज जरूर होते है लेकिन मैं उस समय जाता इसलिये हूँ कि नशा उतरने के बाद वे मेरे साथ किये अपने व्यवहार को देखकर यह समझ सकें कि शराब कितनी बुरी चीज होती है ।

मास्टर प्रभुदयाल इसी आशा पर आते और उन्हें शराब छोड़ देने के लिये समझाते रहे । आखिर एक दिन सांसियों ने तंग आकर उनसे निजात पाने के लिये उन्हें पीट कर एक अन्धे कुँए में डाल दिया । मास्टर प्रभुदयाल बेचारे पूरी रात और दूसरे दिन दोपहर तक उस कुँए में पड़े रहे। अन्त में जब दूसरे दिन सांसियों का नशा उतरा और उन्हें अपने किये की धुँधली-सी याद आई तो दौड़े-दौड़े कुए पर गये और देखा कि मास्टर प्रभुदयाल उसमें चुपचाप पड़े हुए कुछ सोच रहे है । सासियों ने उन्हें बाहर निकाला और बड़ी माफी माँगी । मास्टर प्रभुदयाल ने उनसे बड़े प्यार के साथ कहा कि भइया इसमें तुम्हारी गलती ही क्या है ? यह तो शराब की खता थी जिसके प्रभाव से आप लोगों ने मुझे कुँए में डाल दिया । इसीलिये तो आप सबके हित के लिये कहता हूँ कि शराब बहुत बुरी चीज है उसे छोड़ दो । आप लोग उसी के प्रभाव से अपराध कर बैठते हैं और पुलिस द्वारा तरह-तरह से अपमानित और तंग-तराश किए जाते हैं । मैं आपको यों ही जीवन भर समझाता रहूँगा । फिर चाहे आप लोग मुझे मार ही क्यों न डालें ।

मास्टर प्रभुदयाल की सहिष्णुता, सद्भावना और भलमनसाहत जादू की तरह काम कर गई । सांसियो को अपने किये पर घोर ग्लानि हुई । उन्होंने अपने को धिक्कारा और मास्टर साहब को वचन दिया कि भविष्य में वे सब शराब छोड़ देने का प्रयत्न करेंगे । सभी ने अपनी पंचायत की और शराब छोड़ने की सामूहिक प्रतिज्ञा की, जिसको उन्होंने सन्तोषजनक सीमा तक निबाहा । सांसियों का एक व्यसन छूट गया ।

शराब पीने में रुचि न रहने से शराब बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता । इतना ही क्यों उनके बहुत से आपसी झगड़े भी बन्द हो गये और सांसियों ने जीवन में पहली बार एक अच्छाई की शीतलता अनुभव की । उनके जीवन में मोड़ आने लगा ।

शराब तो छूटी, लेकिन जुआ अभी चल रहा था । मास्टर प्रभुदयाल अब उसे छुड़ाने के प्रयत्न में लग गये । वे निःसंकोच जुआरियों के बीच चले जाते और हाथ जोड़कर बड़ी करुणा के साथ कहते-- "भाइयो ! आप लोग अपने साथ, अपनी बीबी और अपने बच्चों के साथ यह क्या अनर्थ कर रहे हैं ? जुआ सारी दुर्दशाओं की जड़ है । यह बुराई तो बड़े धनवानो को मिट्टी में मिलाकर भीख मँगा देती है । इसकी हार और जीत दोनों विनाशकारी होती हैं ।"

"राजा नल को इसी जुए के कारण अपना राज खोकर दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं । भूखे-प्यासे और नंगे-उघारे रहकर जंगलों-पहाड़ों में भटकना पड़ा । अपनी प्राण प्यारी रानी दमयन्ती को जंगल मे सोते छोड़कर भागना पड़ा । चक्रवर्ती राजा होकर दूसरे के घोड़े पालने की नौकरी करके सईस बनना पड़ा । उनकी महारानी को वन-वन अकेला भटकना और तरह-तरह के त्रास सहने पड़े । बिना बुलाये पिता के घर जाकर दुःख के दिन काटने पड़े ।"

इसी दुष्ट बुराई के कारण धर्मराज कहे जाने वाले महाराज युधिष्ठिर को अपने चरित्र पर कलंक लेना पड़ा । इस जुए के कारण ऐसा कौन-सा अपमान और कष्ट था जो उन्हें नहीं उठाना पड़ा । राज्य गँवाया, अपने साथ अपने चारों भाइयों को दास बनाया । अपनी पटरानी द्रौपदी को हार कर उसका भरी सभा में अपमान कराया । तेरह वर्ष का वनवास

काटना और भीख माँगकर गुजारा करना पड़ा । महाराज विराट के यहाँ द्रौपदी के पाँचों पति पाण्डवों को नौकरी करके नीच टहल करनी पड़ी । ऐसी कौन-सी यातना थी जो जुए के कारण अपने परिवार के साथ महाराज युधिष्ठिर को नहीं उठानी पड़ी । इतना ही क्यों उनके इस व्यसन के कारण पूरे देश का ही ध्वंस हो गया । महाभारत के युद्ध के कारणों में यह जुआ ही मूल कारण था । जिसके कारण देश के सारे योद्धा मारे गये, कला-कौशल और वैज्ञानिक उन्नति का विनाश हो गया । देश पतन के गर्त में ऐसा गिरा कि पाँच हजार साल बाद आज भी अच्छी तरह नहीं खड़ा हो सका । जुआ सारे अनर्थों की जड़ है । भाइयो ! मेरी प्रार्थना है कि इस बुराई को भी छोड़ दो ।"

इन बातों के साथ-साथ मास्टर प्रभुदयाल उन्हें उनके बीवी-बच्चों को दिखलाते और कहते-- "देखो आपकी ये स्त्रियाँ और प्यारे बच्चे अधनगे और चीथड़े पहने फिरते हैं । इन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता । क्या इन्हें भूख नहीं लगती या इन गरीबों को कपड़ों की जरूरत नहीं होती ? होती है लेकिन आप दे नहीं पाते । जानते हैं क्यों ? इसी जुए के कारण । आप लोग अपनी कमाई तो इस बुराई में स्वाहा कर देते हैं । तब भला इनके लिये रोटी, कपड़ा कहाँ से जुटा पायें । अपने इन बच्चों और अपनी इन स्त्रियों पर दया खाकर भगवान के लिये जुआ छोड़ दो । उससे बचा पैसा इनकी उन्नति, सुधार और शिक्षा पर लगाइये जिससे यह सब भी समाज में इन्सानों की तरह से रह सकें ।"

मास्टर प्रभुदयाल के सच्चे हृदय से निकले हुए ये ये उद्गार सांसी लोगों पर प्रभाव डाले बिना न रहते थे । उन्होंने धीरे-धीरे जुए की आदत छोड़ना शुरू कर दी । किन्तु तब भी कभी-कभी उनकी महफिल जम ही जाती थी और जब-तब फड़ कौड़ियों और पैसों से आबाद हो ही जाती थी । मास्टर प्रभुदयाल ने इसका कारण और उपाय दोनों सोच निकाले । उन्होंने समझ लिया कि अभ्यास वश समय होने पर इनको और कोई काम न होने से जुए की तलब सताने लगती है और यह चार-छः इकट्ठे होकर उसमें जुट जाते हैं । यदि इन्हें उस अवसर पर किसी काम में लगाया जा सके तो अवश्य ही ये इस कुकृत्य से बच जायें । अस्तु उन्होंने सायंकाल सबको इकट्ठा करके कथा-वार्ता और भजन-कीर्तन का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया । धीरे-धीरे सबको उसमें रस आने लगा और जुए की आदत दूर जाने लगी । सांसी लोगों में यह एक दूसरा सुन्दर सुधार था ।

चोरी, डकैती, राहजनी और वेश्यावृत्ति का सुधार तो जीविका के भले साधनों के आधार पर सम्भव था । यह एक कठिन समस्या थी । एक तो बेरोजगारी का बोलबाला था दूसरे सांसी लोग चोरी आदि के लिये बदनाम थे, कोई उन पर विश्वास करने को तैयार नहीं था । फिर भी मास्टर प्रभुदयाल ने न आशा छोड़ी, न हिम्मत हारी और न प्रयत्नों से विरत हुए । उन्होंने दिल्ली नगर के कोने, मोहल्ले और गलियों की खाक छानकर मजदूरी खोजनी और उस पर उन्हें लगाना शुरू कर दिया । पहले तो उन्होंने सांसियों को श्रम की महत्ता और ईमान की कमाई का गौरव समझाया और फिर किसी को ले जाकर ईंट गारे के काम पर लगाया, किसी को ले जाकर पल्लेदारी और कुली के काम पर कर दिया, बहुतों को रेलवे के बारहमासी और मौसमी काम पर नियुक्त कराया । बहुतों को रिक्शा, ताँगों का काम दिलाया । सारांश यह कि वे दिन भर सारे शहर में घूमते और सांसी लोगों के लिये मेहनत-मजदूरी का काम खोजते रहते थे । जहाँ भी उन्हें जो काम मिलता था उन्हें ले जाकर लगा दिया करते थे । इसके लिये उन्हें जहाँ विश्वास दिलाना पड़ता था दिलाते थे, जहाँ जमानत देनी पड़ती थी देते थे । इसके साथ ही वे मिलों, कारखानों और फर्मों के मालिक मैनेजरों से भी मिले और उनसे निवेदन किया कि वे समाज, राष्ट्र और मानवता के नाते सांसी लोगों को अपने प्रतिष्ठानों में काम देते रहें और इस प्रकार सुधार कार्य में उनका हाथ बटाते रहें । इधर सांसी लोगों से कहते थे कि भाइयो ! मैं अपने विश्वास और जमानत पर आप लोगों को काम दिलाता हूँ अब मेरी लाज आप के ही हाथ में है । सांसी लोग यथासम्भव अपने हितैषी के विश्वास की रक्षा करते थे और यदि संस्कारवश किसी से कोई भूल हो जाती थी तो मास्टर साहब उसे तिरस्कृत नहीं करते थे । उसे समझाते थे और फिर विश्वास दिला कर काम पर लगाते थे । उनके इन प्रयत्नों और सद्भावनाओं का गहरा असर पड़ा और सांसी लोग अनैतिक आजीविका से विरत हो होकर मेहनत-मजदूरी की ओर जाने लगे ।

इन कामों के अतिरिक्त उन्होंने बहुत से सांसी पुरुषों और खास तौर से स्त्रियों को फूलों, फलों, कन्दों, जड़ी-बूटियों, घासों, लकड़ियों, सीपी, मूँगे और कौड़ियों की खोज-बीन के साथ-साथ चटाइयों, चिकों, झावों, टोकरियों और साधारण खिलौनों का काम भी सिखाया । दौड़-धूप कर धनवानों और संस्थाओं से धन की सहायता भी कराई, बाजार में उनके माल के लिये खुद बैठ-बैठ कर खपत की व्यवस्था बनाई । इस प्रकार सांसी लोगों की अपराधवृत्ति छूटने और उनकी आर्थिक उन्नति होने लगी ।

सांसी लोग अब अपराधी नहीं रहे थे । मजदूर और शिल्पी बनने लगे थे । तब थाने में हाजिरी, रात में पुकार

और पुलिस की बहियों में जरायम पेशा लिखे रहने की क्या जरूरत थी ? मास्टर प्रभुदयाल भला अब इस अन्याय को कैसे सहन कर सकते थे । उनके प्रयत्न इस दिशा में भी चल पड़े । वे स्थानीय पुलिस और पुलिस अधिकारियों से मिले । उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराया और जरायम पेशा की सूची से उनका नाम काट देने के लिये प्रार्थनायें कीं । महीनों और वर्षों वे इस प्रयत्न मे लगे रहे । किन्तु राज-काज तो राजकाज ही होते हैं । कुछ सुनवाई हुई, कुछ नहीं हुई । मास्टर प्रभुदयाल ने इस सुधार के लिये आन्दोलन चलाये, सत्याग्रह किये, अनशन और शपथनामे का आधार लिया । वे अधिकारियों से दौरे के समय मिले और उनकी प्रगति से अवगत कराया । समाजसेवियों, सम्भ्रान्त नागरिको और जन नेताओं का सहारा लिया । जमानते दीं और सांसियों की नेक चलनी के वायदे किये और तब वे अपने उद्देश्य में सफल होकर अधिकारियों को सुधार की ओर मोड़ सके ।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने तन, मन और प्राणो की बाजी लगाकर सांसियों पर होने वाले पुलिस के अन्याय और अत्याचार से टक्कर ली । चालान शुदा सांसियों की अपनी देख-रेख में जाँच कराई और जो निरपराध निकले पुलिस से उनकी रक्षा की । सांसियों पर चलने वाले मुकदमे में स्वयम् गये और नीर-क्षीर विवेचन में निष्पक्ष होकर अदालतों और अधिकारियों की सहायता की । यद्यपि अपने इस काम के लिये मास्टर प्रभुदयाल को पुलिस का कोप भाजन बनना पड़ा, यातनायें भी सहनी पड़ीं । किन्तु वे सबसे निरपेक्ष रहकर अपने प्रयत्न में लगे रहे और तब ही माने जब उनकी आम गिरफ्तारी का रवैया बन्द करा दिया ।

इतना काम कर चुकने के बाद मास्टर प्रभुदयाल सांसी लोगों के ऊँचे और स्थायी सुधार की ओर झुके । अब उन्होंने उन्हें सफाई का महत्त्व और गन्दगी की हानियाँ समझानी शुरू कीं । उन्होंने बतलाया– "गन्दा रहना मनुष्य के लिये बड़े शर्म की बात है । यह दुर्गुण तो जानवरो की विशेषता है मनुष्य की नहीं । गन्दे रहने वाले लोगों से भगवान नाराज हो जाते है । क्यों कि गन्दगी एक पाप है । मनुष्य को इस पाप से बचकर रहना चाहिये । इतना ही नहीं गन्दगी से हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि बड़ी-बड़ी बीमारियाँ और महामारियाँ फैलती हैं । गन्दे रहने वाले लोगों के शरीर और कपड़ों से बदबू निकलती है । लोग उन्हें अपने पास बिठालने में घृणा करते हैं । गन्दे लोगों के शरीर में जूँए, लीख आदि कीटाणु पैदा हो जाते हैं । वे खुजली, दाद आदि बड़ी कष्टदायक और न जाने वाली बीमारियों से घिरे रहते हैं । बीमारी पैदा करने वाले जितने भी कारण होते हैं गन्दगी उनमें प्रमुख है । जहाँ गन्दगी रहती है वहाँ मक्खी, मच्छर, पिस्सू, खटमल आदि कष्ट देने और आरोग्य नष्ट करने वाले कीड़े पैदा हो जाते हैं । गन्दे आदमी से सभी लोग घृणा करते हैं । समाज में वह नीची नजर से देखा जाता है । इसलिये मनुष्य को गन्दा नहीं रहना चाहिये ।"

इसके विपरीत सफाई एक दैवी गुण माना गया है । जो मनुष्य स्वच्छ रहता है देवता उससे प्रसन्न रहते हैं । स्वच्छता मनुष्यता का प्रमुख लक्षण है । इसी में मनुष्यता का गौरव भी है । जहाँ सफाई रहती है वहाँ देवता विहार करते हैं– ऐसा शास्त्रों में बतलाया गया है । स्वच्छता और सफाई के लिये जितना श्रम करना पड़े, कष्ट उठाना पड़े उसे परम कर्तव्य मान कर उठाना चाहिये । मनुष्य के गुणो मे स्वच्छता सबसे महान् और महत्त्वपूर्ण गुण है । सफाई से स्वास्थ्य ठीक रहता है । रुचि का परिमार्जन होता है और समाज में सम्मान बढ़ता है । इसलिये सभी लोगो को शरीर, कपड़ों, घरों और बस्तियों को साफ रहने का प्रयत्न करना चाहिए ।"

इन शिक्षाओं के साथ मास्टर प्रभुदयाल घर-घर जाकर सांसी लोगों को सफाई की प्रेरणा देते और खुद भी उनका हाथ बँटाते थे । उन्होंने स्त्री और पुरुषों के सफाई-दलों का गठन कराया और सप्ताह बाद घरो और बस्ती की सफाई के कार्यक्रम चलाए । वे लोगों को जल विहार के नाम पर नदी, तालाबों पर ले जाते थे और सबको अपने साथ लेकर नहाते और कपड़े धोते थे । उन्होंने खुद लगकर उनको कुओं और नलों पर सफाई रखने का ढंग सिखलाया । जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग अपेक्षाकृत स्वच्छ रहकर भद्रता की ओर बढ़ने लगे ।

अन्ध-विश्वास और पशु-बलि की प्रथा सांसी लोगों के सुधार में एक बड़ी समस्या थी । इन दोनों विकृतियों के साथ धर्म का नाम जुड़ा होने से परिवर्तन बड़ा कठिन दीखता था । किन्तु मास्टर प्रभुदयाल ने इस दिशा में भी सुधार कर दिखाये । उन्होंने न जाने कितनी बार पशु-बलि के समय स्थलो पर जाकर यह बतलाया कि देवता तो कल्याणकारी वर्ग माना गया है । उसके नाम पर जो कोई प्राणियों की हत्या करता है वे उससे अप्रसन्न हो जाते हैं । देवता तो करुणा, दया और ममता के प्रतिरूप होते हैं । वे इस प्रकार निरीह प्राणियों का वध सहन नहीं कर सकते । जो लोग यह मानते हैं कि रक्त, माँस आदि का भोग लगाने से देवता प्रसन्न होते हैं वह भारी भ्रम है । देवता तो सद्-

विचारों, सत्कर्मों और जीव मात्र पर दया करने वालों से प्रसन्न होते हैं ।

इसके अतिरिक्त उन्होंने जीव वध के स्थल पर उपस्थित विभीषिका की ओर ध्यान आकर्षित कर लोगों में उस रक्तपात के प्रति घृणा उत्पन्न की । इतना ही नहीं जहाँ-जहाँ उस जघन्यता को रोकने के लिए सत्याग्रह करना पड़ा, उन्होंने किया । अनशन, व्रत और उपवास के कार्यक्रम चलाये । यातना, तिरस्कार और अवहेलना सही पर सांसी लोगों का विश्वास पशु-बलि की ओर से शिथिल ही कर दिया ।

अन्ध-विश्वास और भूत-प्रेतों का भय दूर करने के लिये उन्होंने सांसी लोगों को धर्म का स्वरूप समझाया । नीति, धर्म और पुराणों की कथाएँ भी सुनाईं । उनसे होने वाली हानियों से अवगत कराया और न जाने कितनी घटनाएँ सुनाकर उनका इस दिशा में भी सुधार किया ।

इतना सब कुछ कर लेने पर भी मास्टर प्रभुदयाल ने सन्तोष नहीं किया । ये इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि सांसी लोगों में जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होगा तब तक उनका यथार्थ सुधार नहीं हो सकता और जिन सुधारों का श्री गणेश उनमें हुआ भी है वह अविद्या के प्रकोप से जल्दी ही समाप्त हो जायेगा । अस्तु उन्होंने सांसियों के बीच शिक्षा प्रसार की नींव रखी । समय परिस्थितियों और साधनों के अभाव में उन्होंने प्रौढ़-शिक्षा की योजना तो स्थगित रखी किन्तु बच्चों की एक पाठशाला प्रारम्भ कर दी। यद्यपि इस बार उन्हें पन्ना की अछूत पाठशाला के समान विरोध और कठिनाइयों का सामना तो नहीं करना पड़ा । तथापि परिश्रम ने उनकी एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया । उन्होंने अपने पूर्व अनुभवों से पूरा लाभ उठाया । सांसी बाल पाठशाला में उन्होंने पहले से ही नगर के समाज सेवी व्यक्तियों और संस्थाओं को शामिल कर लिया था । यद्यपि इन स्रोतों ने सहायता और सहयोग में कृपणता नहीं की तथापि वे कुछ सक्रियता में भागीदार न हो सके । मास्टर प्रभुदयाल ने इसकी जरा भी परवाह न की और अन्य सारे काम करते हुए बच्चों को पढ़ाना शुरू कर दिया । उनके इन सब कामों को बापू और बापा की प्रशंसा तो मिलती ही रहती थी । इसलिये मास्टव साहब की सेवाओं का महत्त्व बढ़ते देर न लगी । कुछ ही समय में उन्हें सहायक सेवकों और अवैतनिक अध्यापकों की सुविधा हो गई । बच्चों की पाठशाला तेजी के साथ सुचारु रूप से चलने लगी ।

अब मास्टर साहब ने देखा कि सांसी लोग रैगड़पुर, करौलबाग आदि क्षेत्रों में रहते हैं वे उपयुक्त नहीं हैं । उन्हें उन लोगों को ऐसे स्थानों पर बसाने की चिंता हुई जहाँ पर उस वर्ग को अधिक सुविधा हो सके और दिल्ली के नागरिकों से उनका सम्पर्क हो सके । इसके बिना सांसियों में, जो कि युग-युग से पिछड़े चले आ रहे थे, सामाजिक एवम् नागरिक चेतना का जागरण सम्भव नहीं था ।

निदान मास्टर प्रभुदयाल ने सांसी लोगों के उपयुक्त निवास स्थान की खोज में पुनः दिल्ली की धूल छानना शुरू कर दिया । बड़ी खोज-बीन और देखभाल के बाद उन्होंने अन्धा मुगल सब्जी मण्डी और रेलवे स्टेशन के पास उनके रहने का स्थान चुना । किन्तु उन्हें उनके पुराने स्थान से विस्थापित कर नये स्थानों पर बसाना कोई हँसी खेल नहीं था । केवल किसी प्लाट का प्रबन्ध हो जाने भर से ही तो बस्ती नहीं बस जाती । उसके लिये तो घर और कोटर भी तो चाहिये । लेकिन मास्टर प्रभुदयाल को तो यह सब करना ही था । उन्होंने फिर कमर कसी और शासन, प्रशासन तथा अधिकारियों के पास दौड़ लगानी शुरू कर दी । न जाने कितनी दौड़-धूप और परिश्रम प्रयत्न के बाद वे सांसी बस्ती के लिये चुने हुए स्थान मंजूर करा पाये । किन्तु यह तो समस्या का आधा समाधान ही था घर और कोटरों की आधी समस्या तो अभी शेष ही थी । इसके समाधान के लिये वे नगर के धनवानों और उदार व्यक्तियों से मिले । उन्हें परोपकार के लिए प्रेरित किया । पैसा, वस्तु, लकड़ी, ईंट, घास, फूँस, बाँस-बल्ली आदि जो कुछ भी जिससे मिल सका मास्टर साहब ढो-ढोकर स्थलों पर जमा करते गये । जब देखा कि अब काम प्रारम्भ करने भर की सामग्री हो गई है तब उन्होंने सांसी लोगों में से नौजवानों को छाँट-छाँट कर एक श्रमिक दल तैयार किया और बस्तियों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया । दीवारें उठने लगीं । सांसियों के परिवार आ-आकर उनमें बसने लगे । मास्टर प्रभुदयाल अपनी पाठशाला भी उठा लाये उसे तीन शाखाओं में विभक्त कर तीनों बस्तियों में स्थापित कर दीं । देखते ही देखते 'प्रताप नगर' नाम से सांसियो की नई बस्ती बस गई और सब काम व्यवस्थित रूप से चलने लगा ।

सांसियों की तरह देश में कंज्जड़, कोल, किरात, भील आदि अनेक जातियाँ ऐसी हैं जो अनेक दुर्व्यसनों में ग्रस्त है । अपने दुष्कर्मों का फल अकेले ही नहीं भोगना पड़ता। सारा समाज उनकी उपजायी यंत्रणाओं की लपेट में आ जाता है । सामाजिक जीवन में पाप और प्रतिशोध का पूर्णमय इसी तरह होता है ।

शराबी, जुआरी काम-धन्धा कर नहीं सकते, पेट पालने और कर्ज चुकाने के लिये धन तो चाहिये । इसीलिये चोरी करते हैं । चोरी में धन किसी और का जाता है और फिर उसे ही मुकदमा लड़ना पड़ता है । चार और झूँठी साँची

ढूँढ़नी पड़ती हैं उनका फिर गिरोह बनता और सामूहिक झगड़े बढ़ते हैं इस तरह सारा समाज बुराइयो में डूबता चला जाता है । आज भारतीय समाज की दशा कुछ ऐसी ही निर्श्रृंखलित हो रही है ।

समाज विग्रह के कारण उन्नति की परिस्थितियाँ होते हुए भी लोगों के शारीरिक, बौद्धिक एवम् आत्मिक क्षेत्र गन्दे-गलीज, दुर्भावनायुक्त, अशिक्षित, अन्ध-विश्वास ग्रस्त पड़े हैं । यह बात एक जाति, गाँव, प्रदेश तक ही सीमित नहीं, बुराइयों और अनैतिकता का जोर आज चहुँ ओर बरसाती बादलों की तरह सघन हो उठा है ।

उसको मिटाने और भारतीय समाज तथा जन-जीवन को स्वच्छ-जीवन जीने का प्रकाश देने के लिये आज किन्हीं बड़े प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता उतनी नहीं है जितनी मास्टर प्रभुदयाल जैसे छोटे-छोटे भावनाशील कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है । जो घृणित समाज के बीच बैठकर उसी तरह उनका स्वच्छ मार्ग-दर्शन करें, जिस तरह माँ अपने उद्दण्ड और अपराधी बालक को भी प्यार करती और सेवा कर्तव्य निबाहती रहती है । भाषण और प्रवचन देने से जो काम नहीं बनता वह हृदय की मिठास और अपनत्व देकर किया जा सकता है । इसके लिये हर कार्यकर्त्ता को छोटा बनना पड़ता है । सेवा का श्रेय तभी तो मिल सकता है ।

· ढूँढ़ी जाये तो हर व्यक्ति में कुछ न कुछ ऐसी योग्यता होती है जिसकी समाज के अन्य लोगों को आवश्यकता होती है । हर व्यक्ति का छोटा-सा प्रभाव क्षेत्र भी होता है । उतने क्षेत्र को विकसित करने, शिक्षित करने, संस्कारवान बनाने, स्वस्थ बनाने, निर्धनों को औद्योगिक दिशा प्रदान करने की विचार सेवा हर थोड़ा-सा भी शिक्षित किन्तु भावनाशील व्यक्ति कर सकता है । मास्टर प्रभुदयाल का नाम शायद देश की ५ प्रतिशत जनता भी न जानती होगी पर उन्होंने जो कार्य सम्पन्न किया वह सैकड़ों, हजारों को प्रेरणा और मार्ग-दर्शन देने वाला है ।

एक बार मास्टर साहब के एक मित्र ने पूछा आपने सांसियों के उत्थान के लिये इतना परिश्रम किया । अपमान और अभाव भी सहे । आजकल तो नेता लोग सेवा से पूर्व साधन ढूँढ़ते हैं और अपनी स्थिति मजबूत बनाने का प्रयत्न करते हैं । तुम्हें इन सेवाओं के बदले क्या मिला ? तो उन्होंने हँसकर के उत्तर दिया । भाई सेवा का प्रतिफल आत्मिक शान्ति है सच्चे हृदय से की गई समाज-सेवा से मिलने वाली आत्म-शान्ति की तुलना धन, वैभव से नहीं की जा सकती । सांसियों के बच्चे पढ़-लिखकर जब योग्य नागरिक निकलेंगे तो उनकी प्रसन्नताओं का आशीर्वाद क्या कोई पैसों से खरीद सकेगा ? उनकी स्त्रियों को हर्ष-उल्लास के साथ घर का काम करते देखकर जो आनन्द मिलेगा क्या उसे किसी कारखाने में पाया जा सकेगा ? यह सब हमारे अपने भाई, अपने परिजन और देशवासी है उनकी सेवा करना मेरा कर्तव्य था । कर्तव्य के लिये उपहार की क्या आवश्यकता ? मुझे जो सुख और शान्ति मिल रही है वह किसी भी लौकिक उपलब्धि से बढ़कर है ।

उन्हें कई बार हलका-हलका उदर शूल हो जाता था । किन्तु इन दिनों जब वे सांसियो के लिये कुछ काम कर रहे थे तब यह शूल कई बार इतना बढ़ जाता था कि उनकी आँखों में आँसू भर आते । कहने वाले कहते यदि सेवा का यही फल है तो फिर संसार में यह व्रत कौन करेगा ? पर प्रभुदयाल हँसकर कहते—

जीव किये गये कर्मों के फल से वंचित नहीं हो सकता ? प्रारब्ध भोग तो भोगने ही पड़ते हैं चाहे कोई सेवा क्या ईश्वर उपासना में ही क्यों न संलग्न रहता हो ? प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगते हुए भी जो लोग सेवा, सहिष्णुता, कर्तव्य-पालन, उपासना आदि का नियम निबाहते हैं । उनका भावी-जीवन समुन्नत, सुखी, शान्त एवम् संस्कारवान् ही बनता है इस तरह सेवा-कर्त्तव्य के माध्यम से मनुष्य सामाजिक सम्मान ही नहीं पाता अपने मनुष्य शरीर में आने का लक्ष्य भी पूरा करता है । मैं यह अनुभव करता हूँ कि मुझे इस संसार में एक नियामक शक्ति को अनुभूति करने का अवसर मिला है पर उसके लिये मैंने यदि कोई साधना की तो यह दीन-दुखियों की सेवा और उनके प्रति प्रेम और आत्मीयता का भाव ही रहा है ।

किन्तु खेद ! बस्ती के निर्माता और सांसियों के उद्धार कर्ता मास्टर प्रभुदयाल का स्वास्थ्य अब बिल्कुल जवाब दे गया था । वे बीमार और बहुत बीमार पड़ गये । लोगों ने उन्हें दिल्ली के विलिंग्डन अस्पताल में भरती करा दिया । परीक्षण के बाद डाक्टरों ने बतलाया कि उनके पेट में एक भयानक फोड़ा बन गया है जिसका कारण उनका अगाध परिश्रम और भोजन आदि के विषय में लापरवाही ही रही है । अब जब मास्टर प्रभुदयाल के कर्तव्यों की इतिश्री हो गई तब उन्होंने एक दिन बतलाया कि यह फोड़ा उन्हें कई वर्षों से तकलीफ दे रहा था । पर उन्होंने इसकी चर्चा इसलिये नहीं की थी कि लोग उन्हें काम करने से रोकते थे जो कि उनके लिये मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक होता । लोगों ने देखा कि मास्टर साहब के तलवों की सारी खाल उड़ गई थी और उनके स्थान पर बड़े-बड़े गड्ढे पड़ गये

थे । बड़ी कठिनाई से कारण का पता चला कि उन्होंने दिल्ली आकर जब सांसी लोगों की दशा और उन पर पुलिस का अत्याचार देखा तो इन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक जरायम पेशा कानून (टी० सी० एक्ट) रद्द नहीं करा देंगे और सांसी वर्ग को जीवन की विभीषिका से निकाल कर सभ्यता की दिशा में नहीं चला देंगे तब तक जूता, चप्पल आदि कुछ भी नहीं पहनूँगा । अपनी इसी प्रतिज्ञा पालन में वे पूरे समय नंगे पाँव ही दौड़ते रहे जिससे उनकी यह दशा हो गई थी । मास्टर प्रभुदयाल के पाँवों की दशा कुछ भी हो गई हो किन्तु किये गये सत्कर्मों के लिये वे पाँव महात्माओं की तरह से पूज्य अवश्य हो गये ।

अन्त में जब उन्होंने इस संसार से विदा लेकर सदा के लिये अपनी आँखें बन्द कीं तब वे अपने प्यारे सांसियों के लिये अठहत्तर मकान और न जाने कितनी झुग्गियाँ देख चुके थे । उनके बाद तो आदिवासियों के सुधार का आन्दोलन ही चल पड़ा जो इस समय प्रायः पूरे भारत में चल रहा है और शायद तब तक चलता भी रहेगा जब तक उनका उद्धार न हो जायेगा । किन्तु इसका श्रेय मास्टर प्रभुदयाल को ही है, जिन्होंने इस पुण्य के लिये परिवार छोड़ा, जाति छोड़ी, जन्म स्थान छोड़ा, सुख और आराम छोड़ा और अन्त में अपना जीवन ही देकर सदा-सर्वदा के लिये मानवीय इतिहास में अमर हो गये ।

सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी केशवचन्द्र सेन

वर्तमान समय में हिन्दू-समाज की निर्बलता के अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण उसकी रूढ़िग्रस्तता भी है । यहाँ का शूद्र और ग्रामीण-वर्ग ही नहीं, नगरों के रहने वाले अधिकांश पढ़े-लिखे हिन्दू भी रूढ़ियों को धर्म का एक अंग मानने लगे हैं यद्यपि उनको यह बात समझायी जाती है कि सभी रूढ़ियाँ समय-समय पर किसी सामयिक आवश्यकतावश आरम्भ की जाती हैं, उनमें समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं और कभी न कभी उनका अन्त भी हो जाता है, तो भी यदि उनसे किसी समय के प्रतिकूल रूढ़ि को त्यागने को कहा जाय तो वे कभी उसके लिये तैयार नहीं होते । वे तुरन्त प्रथा और परम्परा की दुहाई देते हैं । । उनकी समझ में यह बात आती ही नहीं कि प्रथायें और परम्परायें व्यक्तियों और समाज की सुविधा के लिये हैं न कि उनको बन्धनों में डालने के लिये । जब परिस्थितियों के बदल जाने से कोई प्रथा हानिकारक सिद्ध होने लगती है तो उसको त्याग या बदल देना ही समझदारों का कर्त्तव्य है ।

यद्यपि रूढ़ियों की मान्यता न्यूनाधिक परिमाण में सर्वत्र पाई जाती है, पर खेद से कहना पड़ता है कि भारतवर्ष में और विशेषतः हिन्दू-समाज में उनका जैसा कुप्रभाव देखने में आता है वैसा अन्यत्र नहीं है । इन लोगों ने सती प्रथा जैसी क्रूरता और निर्दयतापूर्ण रूढ़ि को भी राजी-खुशी से नहीं छोड़ा और उसके लिये उनके ऊपर जब राज्य का अत्यधिक दबाव पड़ा और उसके लिये दण्ड दिये जाने का कानून बना दिया गया तब कहीं जाकर वे उससे विरत हुए। पर जहाँ राज्य ने ढीलेपन से काम लिया वहाँ कानून भी निष्क्रिय हो गया । उदाहरण के लिये हमारे सामने बाल-विवाह निरोधक कानून (शारदा एक्ट) है । इसको पास हुए लगभग चालीस वर्ष हो चले, पर अभी तक उसका नाम मात्र को ही पालन किया जाता है । जो लोग अपनी लड़कियों का बड़ी आयु में विवाह करते हैं वे अपनी परिस्थितियों से विवश होकर अथवा सिद्धान्तों की रक्षा के लिये करते हैं, कानून का किसी को ख्याल ही नहीं है ।

यही कारण है कि यद्यपि पिछले सौ वर्षों से कुछ समाज-सुधारक कितनी हानिकारक रूढ़ियों को मिटाने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, पर उनको नाम मात्र की ही सफलता मिली है । 'विधवा-विवाह' का कानून सौ वर्ष पहले ही पास किया जा चुका है और यहाँ की बहुसंख्यक विधवायें भयङ्कर कष्ट सहन करती भी रहती हैं, पर अभी तक किसी उच्च जाति में इसका खुलकर प्रचार नहीं हुआ । व्यक्तिगत साहस से जो दस-बीस विवाह हो भी जाते है उनको भी समाज की- मान्यता नहीं मिलती और ऐसे लोगों को प्रायः बहिष्कृत जैसा जीवन ही बिताना पड़ता है ।

ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि ऐसे विद्वान् और कर्मवीर व्यक्ति सुधार-क्षेत्र में आवें जो जनता को समझा सकने के साथ ही स्वयम् उन सुधारों पर अमल करके उदाहरण उपस्थित कर सकें । यह एक निर्विवाद सिद्धान्त है कि सामान्य जनता पर उपदेशों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि कार्य रूप में उदाहरण उपस्थित करने का । जो लोग केवल दूसरों को ही उपदेश देते रहते हैं और स्वयं तदनुकूल आचरण नहीं करते उनके लिये आलोचक गण फौरन 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की कहावत प्रयुक्त करने लग जाते हैं ।

श्री केशवचन्द्र सेन (जन्म १६ नवम्बर १८३८) में यह विशेषता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती थी कि वे जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते थे, उनके अनुसार स्वयं आचरण भी

करते हैं यद्यपि इसके परिणामस्वरूप उनको सदैव अपने घर वालों से संघर्ष करना पड़ा, अनेक साथी, सहकारियों से भी नाता तोड़ लेना पड़ा और जनता में तरह-तरह के अपवाद भी सहन करने पड़े पर उन्होंने जिन सुधारों को उचित और आवश्यक समझा उनके अनुसार स्वयं कार्य करने से कभी पैर पीछे नहीं हटाया ।

वंश और आरम्भिक जीवन

श्री केशवचन्द्र सेन का वंश अँग्रेजी शासन के आरम्भ में बिल्कुल साधारण स्थिति का था । उनके परबाबा को इतना कम वेतन मिलता था कि उससे वे अपने कुटुम्ब का ठीक तरह पालन भी नहीं कर सकते थे, उनके बाबा श्री रामकमल सेन को १० वर्ष की आयु में ही ८ रु० मासिक की कम्पोजीटरी करनी पड़ी । पर वे बड़े उद्योगी थे और क्रमशः उन्नति करते हुए बंगाल बैंक के सेक्रेटरी के पद पर पहुँचकर दो हजार रु० प्रतिमास वेतन पाने लगे । इससे उनके वंश की प्रतिष्ठा और सम्मान बढ़ गया और अपने गाँव में तो वे राजा की तरह माने जाने लगे । पर रामकमल की मृत्यु के बाद फिर धन घटने लग गया और जिस समय केशवचन्द्र ने होश सँभाला उनके घर की अवस्था एक साधारण श्रेणी के धनवान् जैसी रह गई थी ।

पर श्री केशवचन्द्र ने आगे चलकर जो नाम कमाया उसका कारण उनका किसी बड़े वंश में उत्पन्न होना नहीं था, वरन् परिश्रम करके उच्च शिक्षा प्राप्त की और फिर उसका प्रयोग परोपकारार्थ किया, यही उनकी विशेषता है, जिसके लिये उनको अब भी याद किया जाता है । जिस जमाने में उन्होंने अँग्रेजी भाषा में विशेष योग्यता प्राप्त की थी यह आधुनिक शिक्षा का आरम्भिक समय ही था । उस समय साधारण अँग्रेजी जानने वाले व्यक्ति भी शीघ्र ही उच्च सरकारी पदों पर पहुँच जाते थे । श्री केशवचन्द्र के लिये भी यह मार्ग खुला था । एक बार उनके घर वालों ने उन्हें क्लर्क की नौकरी दिलवा भी दी और एक वर्ष में ही उनकी कार्यक्षमता के आधार पर उनका वेतन दुगुना हो गया । आगे और भी पदोन्नति की आशा थी, क्योंकि इसी बैंक में उनके पितामह श्रीरामकमल दीवान के पद पर दो हजार रुपया प्रतिमास वेतन पर काम कर चुके थे । पर उनका ध्यान नौकरी की अपेक्षा आध्यात्मिकता और धर्म-प्रचार की तरफ अधिक लगा रहता था । इसलिये उन्होंने थोड़े ही समय बाद इस नौकरी से स्तीफा दे दिया ।

उनके इस कार्य से घरवाले बड़े नाराज हुए ने भी अनेक प्रकार से समझाया कि "संसार में कैसे देने और धार्मिक पुस्तिकाएँ लिखने से काम नहीं चल सकता । जीवन-निर्वाह और घर-गृहस्थी के पालन के लिये धन की आवश्यकता पड़ती ही है । जिसके पास धन नहीं होता उसका सम्मान बाहर वाले तो क्या घर वाले भी करना छोड़ देते हैं । उसको सांसारिक व्यवहारों में पग-पग पर कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं ।" इसमें संदेह नहीं कि परिस्थितियों को देखते हुए ये बातें ठीक ही थीं, पर श्रीकेशवचन्द्र ने इस तरफ ध्यान नहीं दिया, उन्होंने यही निश्चय किया कि चाहे मुझे आगे चलकर आर्थिक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ें, पर महान् कार्यों के लिये तो तप और त्याग की आवश्यकता पड़ती ही है । इस समय देश में विदेशी शासन के प्रभाव से जो विधर्मीपन की लहर फैल रही है इससे अपने भाइयों को बचाने के लिये किसी विशेष प्रयत्न का किया जाना अत्यावश्यक है । अगर मैं इस कार्य को सिद्ध कर सका तो यह देश और जाति की एक बहुत बड़ी सेवा होगी, जिसके सम्मुख मेरा कुछ आर्थिक असुविधा सहन करना कोई महत्व नहीं रखता ।

तपस्वी-जीवन

वास्तव में श्रीकेशवचन्द्र में यह भावना आरम्भ से ही घर कर रही थी यद्यपि उस समय तक उनका परिवार काफी सम्पन्न और बड़ा समझा जाता था, पर वे सदैव सदाचार और सादगी का जीवन व्यतीत करते थे । उनके बाल्य मित्र और बंगाल के प्रसिद्ध नेता श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार ने उनका चरित्र-चित्रण करते हुए लिखा है कि "उन दिनों बंगाली लड़कों का जीवन प्रायः दुराचार से परिपूर्ण था । पर केशव बाबू इससे बिल्कुल बचे हुए थे । इसलिये लोग उनको 'साधु' और 'देवता' कहते थे । मैं भी यह कह सकता हूँ कि, उनमें गुणों की संख्या बहुत अधिक और दोषों की बहुत कम थी । वे बड़े उदार हृदय भी थे और पाप-कर्मों से पृथक् रहने का सदा ध्यान रखते थे । बुरे लड़कों की संगत को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे । हमें अच्छी तरह याद है कि, बुरे लड़के भी जब कभी उनके पास आते थे तो इस तरह की बातें करते थे कि, मानों उनका आचरण बड़ा पवित्र हो ।"

निकलती है वे प्रायः कुछ दिनों के लिये मछली छोड़ देते हैं । पर उन्होंने जो मछली खाना छोड़ा तो हमेशा के लिये ही वे शाकाहारी बन गये । पहले वे सारंगी या बेला बजाया करते थे, उसको उन्होंने तोड़कर फेंक दिया । ताश खेलने की जो आदत थी, उसे बिल्कुल बन्द कर दिया । खेल-तमाशों में जाना भी त्याग दिया गया । विवाह के पश्चात् अधिकांश लोग कुछ समय तक तो भोग-विलास का जीवन बिताते ही हैं, पर केशव बाबू उल्टे तपस्वी बन गये। बहुत वर्षों बाद उन्होंने इसकी चर्चा चलने पर कहा था कि "मेरे विवाह के बाद की रातें परमेश्वर के मन्दिर में कठिन तप में व्यतीत हुईं ।"

केशव बाबू के इस प्रकार के आचरण के कई कारण थे । यद्यपि उनका विवाह घर के बड़े-बूढ़ों ने परम्परा के अनुसार काफी छोटी लड़की से किया था और उस समय के जातीय-नियमों के अनुसार विवाह के पूर्व केशव बाबू लड़की को देख भी नहीं सकते थे, पर विवाह हो जाने पर उनको इस प्रकार के सम्बन्ध पर बड़ा क्षोभ हुआ । अब उन्होंने यही निश्चय किया कि जब तक उनकी पत्नी समर्थ नहीं हो जाती तब तक वे उसके साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध नहीं रखेंगे । यदि इसके प्रायश्चित स्वरूप उन्होंने वैसा कठोर तपस्वी जीवन अपनाया तो यह उनका मानवीय कर्तव्य ही था ।

दूसरा कारण सम्भवतः यह भी था कि वे ब्रह्मचर्य के पुराने आदर्श पर विश्वास रखते थे । वे चाहते थे कि शास्त्रीय आदेशानुसार चौबीस वर्ष की आयु तक वीर्य-रक्षा की जाय तो उससे जीवन के विकास और विद्या-बुद्धि की उन्नति में अवश्य ही एक महत्वपूर्ण लाभ मिलेगा । कुछ भी हो विवाह के पश्चात् कई वर्ष तक वे अपनी स्त्री से बिल्कुल पृथक् रहे । उस समय का वर्णन करते हुए श्री मजूमदार ने लिखा है–

"विवाह के बाद वस्तुतः कई साल तक केशव बाबू का जीवन एक तपस्वी की तरह बीता । इन वर्षों में उन्होंने अपनी स्त्री का सहवास कभी नहीं किया । हँसी मजाक की बातें करना तो दूर वे उसके समीप भी शायद ही जाते थे । इस कारण उनके घर वालों को और दूसरों को भी यह विश्वास होने लगा कि केशव का विवाह व्यर्थ ही किया गया । इन दिनों वे बड़े गम्भीर रहते थे और कभी हँसते नहीं थे । उन्होने कुछ धार्मिक प्रार्थनाएँ बना ली थीं, जिन्हें वे प्रातः और सायंकाल पढ़ा करते थे । वे छोटे-छोटे शिक्षापूर्ण वाक्य कागजों पर लिखा करते थे और उन्हें मार्ग में, निकलने वालों के पढ़ने के लिये चिपका दिया करते थे । इन दिनों वे अपनी और दूसरों की त्रुटियों पर बहुत ख्याल किया करते थे । यही समय उनके जीवन में महान् परिवर्तन का था । उसके सम्बन्ध में एक बार उन्होंने स्वयं कहा था–

"जिस घर में मैं रहता था, जिस कमरे में सोता था, वह मेरे लिये एक जंगल या कब्रिस्तान के समान था । जहाँ कहीं मुझे कोई पाप-कर्म होता दीखता तो उस स्थान को मैं मृत्यु के राक्षस की क्रीड़ा-भूमि मानता था । घर में सब प्रकार के ऐशो-आराम के साधन होते हुए भी, मैं मोटे कपड़े पहिनता था । यद्यपि मैं बहुत रोता नहीं था, पर हँसता तो बिल्कुल ही नहीं था । जब मैं सवेरे सोकर उठता या रात को सोने लगता तो मेरे मन की यही दशा होती थी ।"

वे यद्यपि बड़े पढ़ने वाले थे पर प्रेम के उपन्यासों और कविताओं से बड़ी घृणा रखते थे । उन दिनों वे प्रायः एकान्त में रहते थे और किसी के साथ ज्यादा बात-चीत नहीं करते थे । जो थोड़े से रुपये अपने जेब खर्च को लेते थे उन्हें बड़ी किफ़ायतदारी से और सोच-समझकर व्यय करते थे ।"

"उस समय वे बहुत पढ़ते थे, पर वे सब पुस्तकें नीतिशास्त्र, ईश-प्रार्थना या अन्य बुद्धि सम्बन्धी विषयों की होती थीं । कविता की केवल दो पुस्तकों को वे पसन्द करते थे– एक यंग साहब की बनाई 'नाइट थॉट्स' और दूसरी शेक्सपीयर का 'हैमलेट' नाटक । ये दोनों ही उनके गम्भीर स्वभाव के अनुकूल थीं । इस प्रकार मेरे मित्र ने अपने जीवन की नींव की स्थापना पवित्र आचरण की पक्की चट्टान पर की ।"

इस तपस्या और सदाचारपूर्ण जीवन का फल भी उनको प्राप्त हुआ । बीस वर्ष की आयु में वे दुबले-पतले, रूखे साधु-संन्यासी की तरह जान पड़ते थे । उनकी स्त्री भी उनके इस व्यवहार को देखकर और वास्तविक कारण को न समझकर अत्यन्त दुखी हो गई थी और प्रायः अपनी मौत मनाया करती थी । पर चालीस वर्ष की अवस्था में वे ही केशव बाबू कैसे हो गये इसका वर्णन भी उपर्युक्त लेखक के मुख से सुनिये–

"इस समय वे ४० वर्ष के हैं । अब वे हृष्ट-पुष्ट, मोटे-ताजे और चिकने हैं । इस समय उनके कितने ही लड़के-लड़कियाँ हैं । उनके मित्र और अनुयायियों की संख्या भी बहुत अधिक है । उनका चेहरा इतना प्रसन्नतापूर्ण है कि मुस्कराहट और तेज उनके चारों ओर छाया रहता है । उन्होंने अपने जीवन को इतना सफलतापूर्ण बनाया है कि प्रत्येक आदमी उनकी आज्ञा को मानता हुआ दीख पड़ता

है । वे अपने मित्रों से अत्यन्त प्रेम करते हैं और घण्टों उनके साथ बात-चीत किया करते और हँसा करते हैं । सम्मान और ख्याति ने तो मानो उनसे मित्रता ही कर ली है । परमात्मा से उनकी दैनिक प्रार्थना इतनी आनन्दप्रद, दीर्घकालीन, प्रसन्नतापूर्ण और शान्तिमय होती है कि उसे देखकर किसी को इस बात की कल्पना भी नहीं हो सकती कि इनका जीवन कभी दुःखपूर्ण रहा होगा । उनकी बाह्य शान्ति, सुन्दर स्वास्थ्य और कलह के अभाव को देखकर यही प्रतीत होता है कि ये बातें उन्हे परमात्मा से प्राप्त हुई हैं । अब चालीस वर्ष की आयु में उनका जीवन आनन्दपूर्ण, धार्मिकता, सन्तोषयुक्त, सफल मनोरथ भक्ति और सेवा की साक्षात् मूर्ति दीख पड़ता है ।"

संसार के मनुष्य किसी सफल मनोरथ और सौभाग्यशाली व्यक्ति के बाहरी रूप को देखकर यह अभिलाषा तो करते हैं कि हम भी ऐसे ही बन जायँ, पर इस बात पर बहुत कम ध्यान देते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये पहले उन्होंने त्याग, तपस्या, कष्ट सहन, एकान्तवास आदि का जीवन व्यतीत करके अपने आचरण को सुदृढ़ बनाया है ? लोग वृक्ष के पके मधुर फलों को देखते हैं, पर इस पर विचार नहीं करते कि इसको लगाने और वर्षों तक खाद-पानी देकर रक्षा करने में कितना परिश्रम करना पड़ा है । इसी तथ्य को समझाने के लिये लेखक ने अन्त में कहा है— "देश के युवा और वृद्ध पुरुषों से मैं यही कहूँगा कि यदि आप भी केशवचन्द्र सेन की भाँति सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको उनकी तरह सदाचारी भी बनना पड़ेगा । विनय और प्रसन्नता सदाचारियों को ही प्राप्त होती है । जो आदमी सर्वदा अपने अन्तःकरण की रक्षा करता है, परमात्मा उसी की सहायता करता है ।"

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

श्री केशवचन्द्र को छोटी आयु से ही सभा आदि करने का शौक था । अपने स्कूल जीवन में ही वे तरह-तरह की संस्थाओं और सोसाइटियों का निर्माण किया करते थे, जिनमें वे स्वयं तथा उनके साथी लड़के भाषण और विचार-विमर्श किया करते थे । इससे इन लोगों के आचरण और भावनाओं की उन्नति होती थी । केशव बाबू को इनका संचालन करते-करते आगे चलकर बड़ी संस्थाओं की व्यवस्था करने का अभ्यास हो गया ।

अपनी विद्यार्थी अवस्था में ही उन्होंने 'कोलूटोला ईवनिंग स्कूल' की स्थापना की जिसमें वे और उनके कई मित्र आस-पास के लड़कों को निःशुल्क शिक्षा दिया करते थे । केशव बाबू स्वयं अँग्रेजी साहित्य पढ़ाते थे । इसमें लड़कों की नैतिक शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया जाता था । इसके लिये केशव बाबू उनके सामने धार्मिक विषयों पर भाषण भी किया करते थे । उस समय बंगाल के नवयुवकों को शेक्सपियर के नाटकों को प्रभावशाली ढंग से पढ़ सकने की एक धुन लग गई थी । केशव बाबू इस प्रकार पढ़ सकने के साथ उनका अभिनय भी कर सकते थे । एक बार उन्होंने स्वयं ही सब व्यवस्था करके 'हैमलेट' नाटक खेला था, जिसमें हैमलेट का पार्ट केशव बाबू ने ही किया था ।

कुछ समय पश्चात् उन्होंने 'सद्भाव भ्रातृ समाज' की स्थापना की जो नवयुवकों में आध्यात्मिकता और धार्मिकता का प्रचार करती थी । यह वही समय था जिस समय १९-२० वर्ष की आयु में केशव बाबू अध्यात्म में लीन होकर तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे थे । उनके भाषणों से नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था और वे भी कुछ करने को तैयार हो जाते थे । इस समाज की स्थापना करने के अवसर पर कुछ मित्रों ने एक कमरे में एकत्रित होकर बारी-बारी से ईश्वर प्रार्थना की । केशव बाबू की प्रार्थना ऐसी भावपूर्ण थी कि सबकी आँखों में आँसू आ गये ।

ब्रह्म-समाज से सम्पर्क

अब धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में श्री केशवचन्द्र की जानकारी काफी बढ़ गई थी । पर कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उनको धर्म के सच्चे स्वरूप और मूल तत्वों के सम्बन्ध में ठीक ज्ञान करा सकता । एक दिन उनको अपने एक परिचित व्यक्ति के यहाँ से 'ब्रह्म-धर्म' क्या है ? शीर्षक लेख पढ़ने को मिला । उसके सिद्धान्त उनको अपने विचारों के अनुकूल जान पड़े और वे ब्रह्म-समाज के सदस्य बन गये । यह समाज राजा राममोहन ने नवशिक्षित युवकों की धर्म के प्रति अरुचि होते देखकर स्थापित किया था और इसका उद्देश्य हिन्दू-धर्म को परमार्जित और समयानुकूल रूप में शिक्षित जनता के समक्ष उपस्थित करना था । इस समय इसके अध्यक्ष महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे, जो अध्यात्म-ज्ञान के एक उत्कृष्ट ज्ञाता और अभ्यासी थे । श्री केशवचन्द्र को किन विचारों और भावनाओं ने इस समाज की तरफ प्रेरित किया इसका कारण उन्होंने इंग्लैण्ड में दिये गये एक भाषण में यह बतलाया था—

"अँग्रेजी तालीम ने मेरे दिमाग को विचलित कर दिया था और उसे खोखला बनाकर छोड़ दिया था । मैंने मूर्ति-पूजा का परित्याग कर दिया था लेकिन उसके स्थान पर किसी अन्य उपासना पद्धति को ग्रहण नहीं किया था । परन्तु बिना किसी निश्चित धर्म को माने हुए कोई मनुष्य इस संसार

में जीवित किस तरह रह सकता है ? अन्त में परमेश्वर ने कृपा करके अपनी ज्योति दिखलाई । मेरा कोई भी मित्र ऐसा नहीं था, जो मुझे धर्म, परमात्मा और आत्मा के अमरत्व के विषय में कुछ समझा सकता । मैं मूर्ति-पूजा को छोड़कर व्यर्थ के सामाजिक झमेलों में फँसता जाता था । देवी-कृपा से मेरे हृदय में किसी उच्चतर ज्ञान के लिये आकांक्षा उत्पन्न हुई । मुझे इस बात का पता लगा कि पाप क्या होता है और मैंने अपने हृदय के भीतर पाप की कालिमा देखी । क्या अब इस पाप रूपी रोग का कोई इलाज नहीं था ? क्या मैं अपने जीवन को एक भार समझता हुआ व्यतीत कर सकता ? परमात्मा ने कहा-- "नहीं तेरे लिये इस रोग से मुक्त होने की आशा है ।" मैंने ऊपर देखा और मुझे स्पष्टतया परमात्मा की ज्योति दीख पड़ी । मुझे प्रतीत हुआ कि मैं उस अनाथ बच्चे की तरह नहीं हूँ, जिसे उसके माँ-बाप सुनसान जंगल में छोड़ गये हों और जो अन्धकार में टटोलता फिरता हो । मुझे अनुभव हुआ कि मुझे सहायता देने के लिये परमात्मा सदैव मेरे निकट रहता है । परमात्मा ने ही अत्यन्त स्पष्ट रूप में मुझे आध्यात्मिक जीवन की कुञ्जी बतलाई ।

'यह कुञ्जी थी प्रार्थना की । और प्रार्थना के ही कारण मेरे मानसिक भावों में परिवर्तन हुआ । मैंने प्रातःकाल और सायंकाल के लिये अनेक प्रार्थनाएँ रचीं और नित्यप्रति उनका प्रयोग करने लगा । यद्यपि मैं उन दिनों पृथ्वी के किसी भी धर्म का अनुयायी नहीं था और परमात्मा के गुणों को अच्छी तरह नहीं समझता था, तथापि मैंने स्वयं अपने अनुभव से इस बात को खूब अच्छी तरह जाना कि प्रार्थना में बहुत बड़ी शक्ति है । मुझमें बुद्धि, पवित्रता और प्रेम की उन्नति होने लगी । लेकिन इसके बाद मुझे इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि कुछ ऐसे मित्रों का साथ होना चाहिये, जोकि मुझे आपत्ति और सन्देह के समय आध्यात्मिक सहायता और शान्ति दे सकें । इसलिये मैंने अपने निवास स्थान में ही एक छोटा-सा 'भ्रातृ-समाज' स्थापित किया । उसमें मै अपने मित्रों को दो ही बातों का उपदेश दिया करता था-- एक यह कि परमात्मा हमारा पिता है और दूसरी यह कि सब मनुष्य हमारे भाई हैं । कुछ समय बाद मुझे एक पुस्तक द्वारा विदित हुआ कि 'ब्राह्म-धर्म' मेरे हृदय के आन्तरिक विश्वास के अनुकूल है । मेरा सदा से यह विश्वास रहा था कि हमको किसी भी धर्म ग्रन्थ से जो शिक्षा मिलती है उससे कहीं ऊँची वह शिक्षा है, जो स्वयम् परमात्मा हमारे अन्तःकरण में देता है । बस, इस विचार के आते ही मैं ब्रह्म-समाज में सम्मिलित हो गया ।"

ब्राह्म विद्यालय की स्थापना

ब्रह्म-समाज में श्रीकेशवचन्द्र के सम्मिलित होने से नव-जीवन का संचार हो गया । उसके प्रधान आचार्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर आध्यात्मिक साधना के लिये कभी-कभी हिमालय पर जाकर तपस्या करते थे जिससे उनको नवीन आध्यात्मिक अनुभव होते रहते थे । वहाँ से लौटकर उन अनुभवों को सुनाकर वे समाज के सदस्यों को आगे बढ़ने के लिये प्रेरित किया करते थे जिससे निस्सन्देह सबका साहस और उत्साह बहुत अधिक बढ़ता था । इधर श्री केशवचन्द्र की प्रतिभा और कर्मठता प्रचार और सेवा के नये-नये कार्यक्रम प्रस्तुत करती रहती थी । इन दोनों के मेल से 'ब्राह्म-समाज' के सदस्यों के हृदय उद्दीप्त हो उठे और एक नई शक्ति और नया उत्साह दीख पड़ने लगा । सन् १८५९ में इसके फल से 'ब्राह्म-विद्यालय' की योजना की गई । इस नये स्कूल में महर्षि देवेन्द्रनाथ बंगला में और श्री केशवचन्द्र अँग्रेजी में उपदेश देने लगे । कुछ ही समय में विश्वविद्यालय के अनेक सुयोग्य छात्रों का ध्यान भी इन उपदेशों की तरफ आकर्षित हुआ और फलस्वरूप वे ब्राह्म-समाज के अधिवेशनों में उपस्थित होने लगे । श्री केशवचन्द्र 'एकेश्वरवाद की फिलासफी' और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर 'ब्राह्म-समाज के सिद्धान्त' और अध्यात्म पर भाषण किया करते थे । इस स्कूल की वार्षिक परीक्षा हुआ करती थी और उसमें उत्तीर्ण होने वाले छात्रों को प्रमाण-पत्र दिये जाते थे ।

इस स्कूल में फिलासफी (दर्शन) के शिक्षक का कार्य केशव बाबू करते थे । उनकी विद्वत्ता का कुछ अनुमान इस बात से लगता है कि एक बार इस स्कूल की परीक्षा में दिये गये 'दर्शन के प्रश्न-पत्र' को देखकर कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज के एक प्रोफेसर ने कहा था- "जो लड़का इन प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक रीति से दे सकता है वह हमारी समझ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम० ए० क्लास में भर्ती होने लायक है ।"

विधवा विवाह प्रचार

जिस समय केशव बाबू 'ब्राह्म-समाज' में सम्मिलित हुए थे उस समय देशपूज्य ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उस समाज के मन्त्री पद पर कार्य कर रहे थे । कुछ समय पश्चात् वे कार्यभार के कारण 'समाज' की सक्रिय सदस्यता से पृथक हो गये । उस समय उन्होंने श्री केशवचन्द्र से कहा- "केशव, मैं तो बुढ़ापे के कारण समाज के संचालन भार से अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ, पर एक कार्य का उत्तरदायित्व तुमको सौंपना चाहता हूँ । विधवाओं की दुर्दशा मुझे अब भी

व्यथित करती रहती है । तुम उनकी हालत सुधारने का, उनका फिर से विवाह किये जाने का उद्योग करते रहना । नहीं तो उनकी हाय इस भारतभूमि को पनपने न देगी ।" केशव बाबू ने विद्यासागर जी के आदेश को विनीत भाव से शिरोधार्य किया और भाषणों तथा नाटकों द्वारा इतना प्रचार किया कि अनेक प्रभावशाली व्यक्ति भी उसके पक्षपाती हो गये ।

वास्तव में उस समय विधवाओं की समस्या ने बड़ा दयनीय रूप धारण कर रखा था । समाज के सभी वर्गों में आठ-दस वर्ष की कन्याओं के विवाह आमतौर से किये जाते थे । अनेक अज्ञानी तो दो-दो, तीन-तीन वर्ष की बच्चियों के भी विवाह कर डालते थे । ऐसी लड़कियों में से अनेक दस-बारह वर्ष की आयु में ही 'विधवा' हो जाती थीं और फिर उनको जीवन भर घोर दुर्दशा में रहना पड़ता था । घर और बाहर के लोग उनको अभागिनी बतलाकर तपस्या और अभावग्रस्त कठोर जीवन अपनाने को बाध्य करते थे और जो कोई उसे सहन न कर सकने के कारण किसी प्रकार मार्ग-च्युत हो जाती थी उसे 'कलंकिनी घोषित करके भयंकर रूप से लांछित और प्रताड़ित किया जाता था । इस दुर्बुद्धि और मूढ़ता की जितनी निन्दा की जाय कम है । निस्सन्देह विद्यासागर महोदय का यह कथन सोलह आने सत्य था कि जो समाज निर्दोष कन्याओं की अकारण ही ऐसी दुर्दशा करता है उसका पतन अवश्यम्भावी है । केशवबाबू ने इस तथ्य को हृदय की गहराई तक अनुभव किया और इस 'पाप कर्म' के उन्मूलन के लिये धुँआधार प्रचार आरम्भ कर दिया।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उस समय एक 'विधवा-विवाह नाटक' की रचना की गई और उसे खेलने का भार केशवबाबू को दिया गया । वे बाल्यावस्था में 'हैमलेट' नाटक खेल चुके थे और अब भी उनकी उपयोगिता में बड़ा विश्वास रखते थे । उनका कहना था कि "मेरी सम्पत्ति में नाटक सर्वसाधारण के मनोरंजन की सर्वोत्तम सामग्री ही नहीं है, बल्कि सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये वे एक अत्यन्त प्रभावशाली साधन भी है । जिन साधनो से किसी व्यक्ति या समाज की उन्नति हो सकती है, उनमें से एक साधन यह भी है कि समय-समय पर अच्छी बातों से उसका मनोरंजन होता रहे, जिससे उसके मन पर से चिन्ताओं का दबाव किसी हद तक दूर हो जाये और कुछ शिक्षण भी प्राप्त हो ।"

उस समय जो 'विधवा विवाह नाटक' केशवबाबू के तत्वावधान में खेला गया था उसका सारांश यह था कि 'एक हिन्दू-कन्या विधवा हो गई और उसको बलात् अन्तःपुर में बन्द करके रखा गया । इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में पड़ोस के एक युवक ने उससे सम्पर्क स्थापित कर लिया, जिससे वह समाज से बहिष्कृत और तिरस्कृत हो गई । इस नाटक के अन्त में उस विधवा के कष्टों का चित्रण किया गया था और उसी के मुँह से अपने 'पाप' को स्वीकार करते हुए देशभक्तों और समाज-सेवियों से यह प्रार्थना कराई गई थी कि वे इस कलंकपूर्ण प्रथा को जहाँ तक हो शीघ्र मिटाने के लिये उद्यत हो जायें । इस प्रकार हिन्दू-जाति के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा कायम रखे हुए इस 'पाप' की घोषणा करते हुए उसने आत्म-हत्या करके अपने जीवन का अन्त कर लिया ।

जिस समय सन् १८५९ में यह नाटक खेला गया तो कलकत्ता में बड़ी हलचल उत्पन्न हो गई । सभी वर्गों और श्रेणियों के उच्च हिन्दू नेता इसे देखने को आये । विधवा-विवाह आन्दोलन के मुख्य संचालक श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी कई बार आये और नाटक को देखने पर उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली । नाटक का अन्त ऐसे करुणापूर्ण ढंग से किया गया था कि दर्शकों में से शायद ही कोई ऐसा बचा हो जिसकी आँखें गीली न हो गई हों । इस नाटक का प्रभाव जनता पर बहुत अच्छा पड़ा और जगह-जगह विधवाओं की दुर्दशा के सम्बन्ध में चर्चा होने लग गई ।

लङ्का-यात्रा और धर्म-प्रचार

कुछ महीने बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ने लङ्का-यात्रा का विचार किया और केशवबाबू से भी साथ चलने को कहा । इन्होंने स्वीकृति दे दी, पर इस बात को ये अच्छी तरह समझते थे कि उनके पुराणपंथी घर वाले अपनी राजी से कभी इसकी अनुमति नहीं देंगे । यद्यपि इस समय विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में लोगों के विचार बदल गये हैं, पर अब से सौ वर्ष पहले इस सम्बन्ध में समाज के क्या विचार थे ? उनको जानकर बड़ा आश्चर्य होता है । उस समय देशभक्त कवियों के मुख से 'त्याग विलायत गमन कूपमण्डूप बनायो" जैसे उद्‌गार सुनने में आते थे, पर साधारण जनता और विशेषकर पण्डित-वर्ग उसे एक बड़ा 'पाप-कर्म' समझते थे । जो लोग विदेश-यात्रा करते थे उनका बड़ी कड़ाई से सामाजिक बहिष्कार किया जाता था । इसलिये केशवबाबू ने यही निश्चय किया कि घर वालों को बिना खबर दिये ही लङ्का-यात्रा की जाय । वे उन दिनों खास घर में रहने के बजाय अधिकांश पास ही के एक बगीचा मे रहा करते थे । जिस दिन उनको यात्रा

करनी थी उस दिन घर वालों के नाम उन्होंने एक पत्र इस आशय का लिखा कि "मैं लंका जा रहा हूँ ।" उसको घर में रखकर वे चुपचाप जहाज पर जा बैठे और रवाना हो गये । उसके पश्चात् जब वह पत्र घर वालों को मिला तो वे बहुत बिगड़े और बुरा-भला कहने लगे,पर उस समय जहाज रवाना हो चुका था, इसलिये कुछ कर सकने में असमर्थ रहे ।

लङ्का से लौटकर उन्होंने छोटे-छोटे ट्रैक्ट लिखकर नवयुवको में धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ किया । इन बारह-तेरह ट्रैक्टों का पाठको पर वांछनीय प्रभाव पड़ा । कितने ही युवकों ने शराब, सिगरेट आदि का त्याग कर दिया, अन्य प्रकार के अनैतिक कार्यों से मुँह मोड़ लिया और धार्मिक नियमों का पालन करने लगे । इन ट्रैक्टों में 'यंग बंगाल, दिस इज फार यू' (युवा बंगाल ! यह तुम्हारे लिये है) विशेष प्रभावोत्पादक था । इसमें उन्होंने सरकारी स्कूलों में विद्यार्थियों को दी जाने वाली धर्म-विहीन शिक्षा के कुपरिणाम दिखलाते हुए कहा--

"इस शिक्षा का कुप्रभाव केवल कुछ व्यक्तियो पर ही नहीं पड़ा है, बल्कि हमारी सामाजिक उन्नति के मार्ग में भी इसने बड़ी बाधा डाल दी है और हमारे देश के लाखो निवासियों की मानसिक, गृह-सम्बन्धी और नैतिक दशा को भयंकर बना दिया है । मेरे मित्रो ! इस बात पर विश्वास रखो कि यदि हमारे देश में नवयुवकों की मानसिक उन्नति के साथ उनके हृदय में धार्मिकता का भी विकास होता और यदि हमारे शिक्षित देशवासी अपने को धार्मिक शिक्षा भी देते तो आज देशभक्ति केवल लेक्चरबाजी और लेखों तक ही सीमित न रह जाती। तब हम सब लोग सचमुच ही नित्यप्रति के व्यवहारों में देशभक्ति का प्रयोग करते पाये जाते ।"

'ब्राह्म विद्यालय' में केशवबाबू के जो भाषण होते थे । उनके कारण वे समस्त बंगाल में एक प्रसिद्ध वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे । अब बाहर के लोग भी उनसे अपने यहाँ आकर भाषण करने का अनुरोध करने लगे थे । एक बार उन्होंने अपनी व्याख्यान-माला कृष्णनगर में आरम्भ कर दी । वैसे तो यह एक कस्बा ही था, पर बहुत से बंगाली और संस्कृत भाषा के विद्वान् वहाँ रहने लगे थे और इससे उसका नाम विद्या की दृष्टि से प्रसिद्ध था । ईसाइयों ने भी वहाँ पर अपना एक बड़ा अड्डा बना रखा था । श्रीकेशवचन्द्र के जोरदार भाषणों से वहाँ के शिक्षित नवयुवकों की भावनायें बदलने लगीं और ईसाई मजहब की बातो के स्थान में वे अपने धर्म को अधिक महत्व देने लगे तो ईसाइयों को चिन्ता हुई । उनके मिस्टर डाइसन नाम के पादरी ने भी सार्वजनिक व्याख्यानों का सिलसिला लगाया। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्विता का भाव पैदा होने से केशवबाबू पूरी शक्ति से प्रचार-कार्य और ईसाइयों का खण्डन करने लगे । अन्त में विजय उन्हीं की मानी गई और कृष्णनगर के विद्वानों ने उनको बड़े सम्मान के साथ विदा किया ।

श्री रामकृष्ण परमहंस और केशवबाबू

श्री केशवचन्द्र के हृदय में धर्म-तत्व को जानने की अभिलाषा वास्तविक रूप में थी और जब कभी वे इसका अवसर पाते थे तो उससे लाभ उठाने की चेष्टा अवश्य करते थे । जिस समय वे ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए उसी समय दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण परमहंस का उदय हो रहा था । उनके ज्ञान और भक्ति की कीर्ति कलकत्ता में ही नहीं समस्त बंगाल में फैल रही थी और दूर-दूर के व्यक्ति उनके सत्संग के लिये दक्षिणेश्वर पहुँचते थे । परमहंस जी ने समस्त धर्मों के तत्व की भली प्रकार जाँच-पड़ताल की थी और स्वयं काली के भक्त होते हुए भी वे प्रत्येक महापुरुष को आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते थे ।

श्री केशवचन्द्र के विचार भी इससे मिलते-जुलते थे, इसलिये उन्होंने अपने दो-तीन अनुयायियों को दक्षिणेश्वर भेजा कि वे वहाँ एकाध दिन ठहरकर परमहंस जी के विषय में ठीक-ठीक पता लगावें । उन लोगों ने दो-तीन दिन ठहर कर अपनी बुद्धि के अनुसार परमहंस जी के विषय में कुछ विचार बना लिये उनकी परीक्षा लेने के उद्देश्य से उनसे कहा- "महाराज ! हमको यह अनुभव हुआ है कि आप एक भक्त हैं । पर कभी तो आप 'हरी-हर' का नाम लेते हैं और कभी 'काली-काली' कहकर नृत्य करने लगते हैं । ऐसी अंध भावना में रहना कभी लाभदायक नहीं हो सकता । आप कलकत्ता सुप्रसिद्ध आचार्य-प्रवर श्री केशवचन्द्र की शरण में जाइये । इससे आपका उद्धार हो जायेगा--आपको मुक्ति-लाभ होगा । पर परमहंस देव को तो किसी फल की आकांक्षा थी नहीं, इससे उन्होंने उन व्यक्तियो की बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया । इससे वे रोष का भाव प्रकट करते हुए चले गये ।

जब उन शिष्यों ने दक्षिणेश्वर से लौटकर केशवबाबू को सब समाचार सुनाये तो वे अपने शिष्यों सहित परमहंस देव के पास जा पहुँचे । उनको देखते ही परमहंस देव ने उनके मन की स्थिति जानली और आरम्भ में ही ब्रह्मशक्ति का वर्णन करना आरम्भ किया । केशवबाबू में एक विशेष गुण यह था कि वे कुतर्की अथवा अविश्वासी नहीं थे ।

इसलिये सिद्धान्त में भेद होते हुए भी वे परमहंस जी के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनते रहे। केशवबाबू केवल निराकार ईश्वर को मानते थे और परमहंस देव ने उनको समझाया कि "शक्ति को माने बिना ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जो लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं उनको भी शक्ति को इस कारण मानना पड़ता है कि उसके बिना ईश्वर के गुण (अर्थात् सृष्टि) प्रकट नहीं हो सकती।" उन्होंने यह भी उपदेश दिया कि ईश्वर की मातृ-भाव से उपासना करने से अध्यात्म-मार्ग में विशेष सफलता प्राप्त होती है।

केशवबाबू पर परमहंस देव के सत्संग का अच्छा प्रभाव पड़ा। एक विद्वान् के मतानुसार उन्होंने ईश्वर-तत्त्व के जानने के लिये वास्तव में अपनी जाति, कुल, मर्यादा और सामाजिक उन्नति का त्याग कर दिया था। उन्होंने ईश्वर-प्रेम-रस की प्राप्ति के लिये अपने को समर्पित कर दिया था। वे हार्दिक लगन से, मन के आवेश से तत्वज्ञान की खोज में इधर-उधर फिरते रहते थे। इसका कारण यह था कि निराकार ईश्वर का ध्यान करने से उनका हृदय मरुभूमि की तरह शुष्क बन रहा था। पर तो भी उनके स्वभाव में सरलता और निष्पक्षता का गुण था। चाहे कैसा भी वाद-विवाद क्यों न हो वे प्रतिपक्षी के विचार को पूरी तरह सुनकर उस पर विचार करके ही जो कुछ सत्य जान पड़ता उसे ग्रहण करते थे अधिकांश व्यक्ति इस दृष्टि से दुराग्रही होते हैं। वे अपने आचार्य या सम्प्रदाय के सामने कैसे भी श्रेष्ठ विद्वान् की बात सुनना ही नहीं चाहते। केशवबाबू में यह दोष बिल्कुल न था। ब्रह्म-समाज के आचार्य होने पर भी वे परमहंस देव के प्रति पूर्ण निष्ठा और भक्ति-भाव रखते थे और इस कारण परमहंस देव भी उनसे प्रेम रखते थे।

केशवबाबू के सेवा-कार्य

सन् १८६० में उत्तरी भारत में बहुत बड़ा अकाल पड़ा और लाखों व्यक्ति अन्नाभाव से मरने लगे। अकाल-पीड़ितों की दुःखगाथा सुनकर सबकी सहानुभूति उनके प्रति जाग्रत हो गई और कलकत्ते के बड़े-बड़े नेता और योरोपियन भी उनकी सहायतार्थ चन्दा इकट्ठा करने लगे। ईसाइयों ने अपने गिरजे में चन्दा किया। समाचार-पत्रों ने जनता से अपील करके बहुत-सा रुपया जमा करके अकाल-सहायक-कमेटी के पास भेजा। ब्रह्म-समाज अभी तक इस प्रकार के सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं लेता था। उसने अपनी कार्यवाही अभी तक ईश्वरोपासना तथा अध्यात्म के प्रचार तक ही सीमित रखी थी। पर केशवबाबू ने विचार किया कि यदि ऐसे अवसर पर हम दीन-दुखियो की कुछ सहायता नहीं कर सकते तो हमारा अध्यात्म किस काम का? उन्होंने अपनी भावना महर्षि देवेन्द्रनाथ के सम्मुख प्रकट की और उनका समर्थन प्राप्त करके जोर-शोर से चन्दा एकत्रित करने के काम में लग गये। इस सेवा-कार्य से 'ब्रह्म-समाज' की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

कुछ समय पश्चात् बंगाल में मलेरिया ज्वर का बड़ा प्रकोप रहा। लाखों व्यक्ति ज्वर से पीड़ित होकर मरने लगे। सरकार ने इस विपत्ति को मिटाने का प्रयत्न किया, पर ज्वर का प्रकोप इतना अधिक था कि उससे बहुत थोड़ा काम हो सका। केशवबाबू ने इस अवसर पर भी आगे बढ़कर सहायता कार्यक्रम जारी किया और हजारों निर्धन व्यक्तियों की औषधि और पथ्य द्वारा सहायता की। इससे हजारों व्यक्तियों की प्राण रक्षा हो सकी।

विद्यार्थियों को स्कूली शिक्षा के साथ नैतिक और धार्मिक शिक्षा दिये जाने के भी केशवबाबू बड़े समर्थक थे और सदैव इस दिशा में कुछ न कुछ प्रयत्न करते ही रहते थे। अब प्रभाव बढ़ जाने पर उन्होंने साधनहीन विद्यार्थियों की सहायतार्थ एक कालेज खोलने का विचार किया। पर कालेज खोलने के लिये जितने साधनों तथा रुपये की आवश्यकता थी उतने उपलब्ध न थे तो भी उन्होंने अपने परिश्रम और ईश्वर विश्वास के भरोसे कार्य आरम्भ कर दिया और एक बहुत पुराने मकान को किराये पर लेकर कलकत्ता कालेज की स्थापना कर दी। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इस कार्य में पर्याप्त आर्थिक सहायता दी फिर भी केशवबाबू को कर्ज लेकर इसका काम चलाना पड़ता था। वे और उनके कई साथी उसमें अवैतनिक शिक्षक का काम करते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ के दो पुत्र और केशवबाबू के छोटे भाई भी उसमें पढ़ते थे। अपनी अन्य शिक्षा संस्थाओं की तरह इस कालेज में भी वे साधारण पढ़ाई के साथ विद्यार्थियों को नैतिक शिक्षा देने तथा चरित्र को उन्नत बनाने पर विशेष ध्यान देते थे। यद्यपि इसमें अध्यात्म की शिक्षा नहीं दी जाती थी, पर उनका विश्वास था कि आध्यात्मिक प्रकृति वाले शिक्षक विद्यार्थियो के चरित्र-गठन में विशेष रूप से सहायक होते हैं। यह कालेज पाँच-छः वर्ष तक चलता रहा, फिर आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा। पर इससे केशवबाबू के उत्साह में कोई अन्तर नहीं पड़ा और वे युवकों की शिक्षा के सम्बन्ध में आजीवन किसी न किसी रूप में प्रयत्न करते ही रहे।

अपने शिक्षा और धर्म-सम्बन्धी विचारो का जनता में प्रचार करने के लिये केशव बाबू ने 'इण्डियन मिरर' (भारत-दर्पण) नाम का एक अँग्रेजी पाक्षिक-पत्र भी प्रकाशित

किया । इस कार्य में बैरिस्टर मनमोहन घोष उनके विशेष रूप से सहायक थे और कप्तान पामर नामक अँग्रेज को जो सामयिक पत्रों में लिखने का बड़ा अभ्यासी था, उन्होंने सहायक सम्पादक के रूप में नौकर रख लिया था । इस पत्र का देश में अच्छा प्रचार हुआ और उसने उस युग में जब यहाँ भारतीय समाचार-पत्रों का बहुत अभाव था, जनता में सामाजिक चेतना फैलाने में अच्छा काम किया ।

घर वालों द्वारा बहिष्कार

जैसा ऊपर बताया जा चुका है श्री केशवचन्द्र के प्रायः सभी घर वाले पुराने विचारों के थे और इनका ब्राह्म-समाज में शामिल होकर प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध कार्य करना उनको सदैव नापसन्द था । इसके परिणामस्वरूप परिवार में सदैव थोड़ा-बहुत पारस्परिक विरोध उत्पन्न होता रहता था । कुछ समय बाद केशवबाबू ने जब 'ब्राह्म-बन्धु-सभा' नाम की एक नई संस्था स्थापित करके बंगाल की विवाहिता स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार करने का कार्यक्रम बनाया तो यह विरोध विशेष रूप से प्रकट हो गया । वे अपनी स्त्री को एक धार्मिक उत्सव में, जो महर्षि देवेन्द्रनाथ के मकान पर होने वाला था साथ ले जाना चाहते थे, पर घर वाले इसके विरुद्ध थे । वे इसके दो कारण बतलाते थे, एक तो यह कि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के यहाँ हमारी स्त्रियों के आने-जाने का व्यवहार नहीं है और दूसरी बात यह है कि देवेन्द्रनाथ बस नाम का ही ब्राह्मण है । उनके किसी पूर्वज को मुसलमानी शासन-काल में बादशाह के भोजन की गन्ध विवश होकर सूँघनी पड़ी थी । तब से उनका परिवार लोगों की दृष्टि में जाति-च्युत ही बना हुआ है ।

केशव बाबू ऐसे दकियानूसी विचारों के कायल न थे । जिस दिन यह उत्सव होने वाला था उस दिन प्रातः होने से पहले ही से उनके बड़े भाई, चचेरे भाई, चाचा सब जग कर तैयार हो गये और घर से बाहर जाने के सब दरवाजों को बन्द करके उन पर पहरेदार बैठा दिये ताकि ये केशवबाबू को स्त्री के साथ बाहर न निकलने दें । पर ये इस प्रकार किसी के रौब में आने वाले या भयभीत होने वाले कब थे, बस किसी के नाराज होने की परवाह न करके सीधे बड़े फाटक पर पहुँचे और पहरे वालों को डाँटकर फाटक खोल देने को कहा । वे सब इनके निर्भय स्वभाव को जानते थे, इसलिये उन्होंने डरकर तुरन्त फाटक खोल दिया । बाहर आकर उन्होंने एक पालकी किराये पर की और उसमें अपनी स्त्री को बैठाकर देवेन्द्रनाथ ठाकुर के घर चले गये । उसी दिन शाम को उन्हें एक पत्र मिला जिसमें उनके बड़े भाई चाचा आदि के हस्ताक्षर थे और जिसमे लिखा था--

"अब हमारे घर में तुम्हारे लिये जगह नहीं है । तुमने घर वालों की आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिये अब जहाँ तुम्हारी राजी हो, जाओ । घर लौटकर न आना ।"

पर केशवबाबू इससे भी न घबराये और देवेन्द्रनाथ के घर में ही रहने लगे । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक सहयोगी को पत्र लिखते हुए जो विचार प्रकट किये थे उनसे विदित होता है कि केशवबाबू पक्के समाज-सुधारक थे और इसके लिये बड़ी-से बड़ी हानि उठाने को भी प्रस्तुत रहते थे । उन्होंने लिखा है कि "अपने घर वापिस जाने का मुझे कोई उपाय दीखता नहीं और यदि कोई उपाय हो भी तो मैं वहाँ जाऊँगा नहीं । जब तक स्वाधीन भाव से मैं अपने घर पर नहीं रह सकता तब तक मैं बाहर ही रहूँगा ।"

ब्राह्म-समाज में आगे चलकर स्त्रियों की शिक्षा और स्वतंत्रता का विशेष रूप से प्रचार हो गया । जिसके कारण संकीर्ण मनोबुद्धि वाले उनको 'अँग्रेजी भावापन्न' कहने लगे । पर इस परिवर्तन की नींव में केशवबाबू का महान स्वार्थ त्याग छिपा था । वे घर से निकाल दिये गये, उनके बड़े भाई और स्नेहमयी माता ने भी उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, समस्त जाति में उनकी बड़ी 'बदनामी' होने लगी, उनको पैतृक सम्पत्ति से भी वंचित हो जाने की आशङ्का जान पड़ने लगी । इतनी कठिनाइयों और हानियों को सहन करके वे स्त्रियों को स्वाधीनता के कुछ अधिकार दिला सके थे । उनके अन्य जातीय भाई प्रायः यही 'पुरस्कार' दिया करते हैं, यद्यपि बाद में वे सब इन्हीं सुधारों से सुख-सुविधा प्राप्त करते हैं ।

महर्षि देवेन्द्रनाथ के घर में कई महीने रहने के पश्चात् केशवबाबू फिर अपने घर के पास एक बगीचे में किराये का एक छोटा कमरा लेकर रहने लगे । इसका एक कारण तो यह था कि उन्होंने अपने चाचा से गृह-सम्पत्ति में से अपने हिस्से की माँग की थी और दूसरा यह कि उनको चिन्ता के कारण गण्डमाला की भयंकर व्याधि हो गई थी । उनकी माता चाहती थीं कि वह कहीं पास रहे तो वह भी उनकी कुछ देख-भाल कर सकें । इस बीमारी में बारह बार उनके फोड़ों की चीर-फाड़ हुई और एक बार तो बीमारी इतनी बढ़ी कि हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गये । उनके इस कष्ट-सहन और अपूर्व सहनशीलता से अन्त में घर वालों के भी विचार नर्म हो गये और उन्होंने इनको फिर घर में बुला लिया ।

पुत्र का जन्म-संस्कार

कुछ समय पश्चात् श्री केशवचन्द्र के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ और उन्होंने विचार किया कि इसका

'जाति-कर्म-संस्कार' ब्राह्म-धर्म के अनुसार किया जाय । पर जब उन्होंने इसका जिक्र अन्य घर वालों से किया तो उन्होंने यही कहा कि 'हम लोग कट्टर वैष्णव हैं । यदि तुम हमारे सामने इस बच्चे का संस्कार ब्राह्म-धर्म के अनुसार करोगे तो हमको बहुत दुःख होगा ।" पर अब केशवबाबू में पहले से अधिक दृढ़ता आ गई थी । उन्होंने कहा कि "जब घर के सब लोग यहाँ अपने विश्वास के अनुसार सामाजिक और धार्मिक रस्में करते रहते हैं तो मैं वैसा क्यों नहीं कर सकता ? आखिर इस घर में मेरा भी समान भाग है ।" उन्होंने अपना विचार देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सामने रखा और उन्होंने खूब धूमधाम से तैयारी करने की अनुमति दे दी । इस अवसर पर सब 'ब्राह्म' सदस्यों को निमंत्रण दिया गया । घर को फूल-पत्तों से खूब सजाकर आँगन में एक बहुत बड़ा शामियाना ताना गया और नौबत, नगाड़े, शहनाई की तुमुल ध्वनि होने लगी । इससे घर के पुराण-पन्थियों के कान फटने लगे और वे सब जब तक उत्सव हो तब तक के लिये घर से बाहर चले गये । केवल केशवबाबू की स्त्री और माता रह गई । 'जाति-कर्म-संस्कार' बड़ी सफलता से सम्पन्न हुआ और इस घटना से अन्य सभी लोगों को रूढ़ियों को तोड़ने की बहुत अधिक प्रेरणा मिली।

स्वयम् केशवबाबू के सम्बन्धियों पर इसका काफी प्रभाव पड़ा और वे एक-एक करके इनके साथ सहानुभूति प्रकट करने लगे । कुछ समय पश्चात् तो उनमें से अधिकांश एक-एक करके ब्राह्म-समाज मे सम्मिलित हो गये । अब केशवबाबू की स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई और वे बड़े उत्साह से 'ब्राह्म-समाज' का कार्य संचालन करने लगे ।

पुराने 'ब्रह्म-समाजियों' से मतभेद

यह लिखा जा चुका है कि श्री केशवचन्द्र पूरे समाज-सुधारक थे और जाति-पाँति के हानिकारक बन्धन, छूआछूत, स्त्रियों का घर में बन्द रहना आदि के विरुद्ध थे । वे और भी अनेक तरह के सुधारो के पक्षपाती थे और भारतीय समाज को ऐसे बुद्धिवादी आधार पर संगठित किये जाने का प्रतिपादन करते थे जिससे वह विदेशियो के सामने सिर ऊँचा करके खड़ा हो सके । उनका कहना था कि हिन्दू समाज में ये त्रुटियाँ मध्यकाल में ही पैदा हुई है, प्राचीन भारत की संस्कृति इससे बहुत ऊँची थी । उन्होंने अपनी विलायत-यात्रा के समय अँग्रेज-महिलाओं की एक सभा में भाषण करते हुए कहा था--

"प्राचीन काल में हिन्दू-समाज जैसा था, वैसा आज नहीं रहा है । उस समय स्त्री-पुरुष एक-साथ मिलते थे, स्त्रियाँ सुशिक्षित होती थीं, वे गणित-शास्त्र में भी निपुण थीं और अपने पतियों से धार्मिक विषयों पर चर्चा करती थीं । उन दिनों कन्याएँ अपने आप ही वर चुनती थीं । पर अब वे दिन नहीं रहे । पुरुष श्रेष्ठ हैं या स्त्रियाँ, इस बहस में दोनों ओर से बहुत कुछ कहा जाता है । पर मेरा कहना है कि यह विरोध निरर्थक है, क्योंकि किसी विषय में पुरुष श्रेष्ठ है और किसी विषय में स्त्रियाँ । पुरुष और स्त्रियों के मिलकर काम करने से ही समाज की भलाई हो सकती है ।"

पर इस प्रकार के विचार ब्राह्म-समाज के अनेक परम्परावादी सदस्यों को नापसन्द थे । वे इस समाज मे आध्यात्मिक आदर्श को लेकर ही सम्मिलित हुए थे । सामाजिक बन्धनों को तोड़ने के वे पक्षपाती न थे । महर्षि देवेन्द्रनाथ यद्यपि व्यक्तिगत रूप से केशवबाबू से अत्यन्त प्रेम रखते थे, पर समाज-सुधार के विषय मे उनका भी मतभेद था । वे प्राचीन शास्त्रों को ही महत्व देकर चलना चाहते थे । धीरे-धीरे यह मतभेद बढ़ता गया और अन्त में 'ब्राह्म-समाज' दो दलों में विभक्त हो गया-- एक 'आदि ब्रह्म-समाज' और दूसरा 'भारतवर्षीय ब्राह्म-समाज' । पुराने विचारों के सदस्य कहा करते थे-- "जो विप्लवकारी सामाजिक कार्य केशवचन्द्र ने बिना सोचे-विचारे शुरू किये हैं, उनका नतीजा यह होगा कि उनके समाज पर लोगों की सारी श्रद्धा-भक्ति जाती रहेगी, वे उसे जाति-भ्रष्ट समझने लगेंगे और हिन्दू-समाज उनका परित्याग कर देगा ।' इसके उत्तर मे केशवबाबू कहते थे-- "आदि ब्राह्म-समाज' को लोग पुराने जमाने की एक निरर्थक, बची-बचाई चीज समझने लगेगे । बिना आत्मा के जैसे शरीर होता है वैसा ही 'आदि-समाज' हो जायेगा ।"

पर केशवबाबू वास्तव मे उन व्यक्तियो में से नहीं थे जिनको 'नई रोशनी से चकाचौंध' कहा जाता है । वरन् उन्होंने विदेशी संस्कृति के गुण-दोषो को इतनी अच्छी तरह समझ लिया था कि समझदार योरोपियन भी उनके भाषण सुनकर दंग रह जाते थे । उन्होने एक बार कहा था-- "ईसाइयों के विचार ईसामसीह के विचारों से भिन्न हैं । ईसाई मत में कितने ही साम्प्रदायिक फिरके बन गये हैं, जोकि भिन्न-भिन्न ऊपरी बातों को ही मुक्ति-प्राप्ति का साधन समझते है ।' वस वक्तृता की आलोचना करते हुए इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध पत्र स्पेक्टेटर ने लिखा था--

"जिस नरमी और सहानुभूति के साथ मिस्टर सेन ने अँग्रेजो के ईसाई मत के दोष दिखलाये और जैसी उत्साहपूर्ण धारा-प्रवाह भाषा में उन्होंने एक सच्चे आध्यात्मिक धर्म का चित्र खींचा उसका श्रोतागणों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा ।"

जिस समय केशवबाबू ने अपना पृथक 'समाज' बना लिया उस समय यद्यपि पुराने विचारों के सदस्यों ने यह कहकर सन्तोष की साँस ली थी कि "हमने इन आधे योरोपियन बने नवयुवकों को अपने यहाँ से पृथक् कर ही दिया है। अब हम 'ब्राह्म-समाज' को प्राचीन आर्यों के आदर्शों पर संगठित करेंगे और उसे एक आदर्श हिन्दू समाज बना देंगे।" पर इसी समय केशवबाबू अपने मन में कह रहे थे कि- "मैं अपने प्रारम्भ किये हुए सुधारों को तो जारी रखूँगा, पर अपने समाज को विघटनकारी सामाजिक प्रयोगों में नहीं बहने दूँगा।" वास्तव में केशवबाबू हृदय से भारतीय समाज के हितैषी और उद्धारक थे। वे उसको 'कूप-मण्डूक' बनकर नहीं रहने देना चाहते थे, वरन् उनकी अभिलाषा थी कि वह ऐसा सशक्त और समयानुकूल बन जाय कि संसार की सभी सभ्य जातियों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सके। २४ जनवरी, १८६८ को जब उन्होंने अपने भारतीय ब्राह्म-समाज के नये भवन का शिलारोपण-संस्कार किया उस समय उनके उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए कहा-

"ईश्वर न केवल हिन्दुओं का है, न मुसलमानों का और न ईसाइयों का। वह सबका है और सब उसके है। अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच सब उसके हैं और इसलिये बराबर हैं। जो कोई उसे पाना चाहेगा, वह पायेगा, पर दूसरों को गिराकर नहीं वरन् अपने को ऊँचा उठाकर। इस मन्दिर के द्वार सबके लिये खुले रहेंगे चाहे वह कोई भी हो।" कहने की आवश्यकता नहीं कि ये बहुत ऊँचे विचार हैं और आज भी हिन्दू-जाति को इन पर मनन करने और तदनुसार आचरण करने की आवश्यकता है। अगर हम छोटे-छोटे जातीय और साम्प्रदायिक भेदभावों को तुच्छ समझकर इस प्रकार के ऐक्य-भाव का परिचय दे सकें तो हिन्दू-समाज की त्रुटियाँ बहुत शीघ्र दूर हो सकती हैं। और वह निकट भविष्य में ही संसार में अपना उच्च पद ग्रहण कर सकती हैं।

इंग्लैण्ड में भारतीय आदर्शों का प्रचार

'ब्रह्म-समाज' की स्थापना बंगाल में बंगालियों द्वारा हुई थी और श्री केशवचन्द्र के सम्मिलित होने से पहले तक उन्होंने उसे एक प्रान्तीय समाज ही बना रखा था। पर केशवबाबू का दृष्टिकोण विशाल था। वे ईश्वरीयज्ञान को सार्वदेशिक मानते थे और उसका सन्देश दूर-दूर तक और अधिक से अधिक व्यक्तियों तक पहुँचाना अपना धार्मिक कर्तव्य मानते थे। वे प्रत्येक वर्ष किसी नवीन स्थान की यात्रा करके वहाँ ब्राह्म-धर्म का प्रचार करते और अपनी समाज की शाखा स्थापित करते थे। इससे सर्वत्र यह समाचार फैलता जाता था कि केशवबाबू 'ब्राह्म-समाज' के प्रमुख प्रचारक और नेता हैं। सामयिक पत्रों द्वारा ये समाचार योरोप और अमरीका तक भी पहुँच गये थे और इंग्लैण्ड के एकेश्वरवादी कई वर्षों से उनके साथ पत्र-व्यवहार किया करते थे। उन लोगों ने कई बार इनसे इंग्लैण्ड आकर प्रचार करने का आग्रह किया था। अन्त में सन् १८७० में उन्होंने इंग्लैण्ड यात्रा का निश्चय कर लिया।

इंग्लैण्ड में श्री केशवचंद्र का राजसी स्वागत किया गया और भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड लारेंस तथा सुप्रसिद्ध दार्शनिक जान स्टुअर्ट मिल, प्रो० मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति उनसे मिलने आये। वे २१ मार्च से १७ सितम्बर तक- लगभग ६ मास विलायत में रहे। इस बीच में उन्होंने ७० सार्वजनिक सभाओं में भाषण किये। यद्यपि वे ईसाई मत के प्रशंसक थे, पर उसकी आलोचना करने में भी नहीं चूकते थे। अपने स्वागत के लिये की गई एक बड़ी सभा के सम्मुख, जिसमें ईसाई मत के भिन्न-भिन्न दस सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे उन्होंने कहा-

"मैं अपने सामने इस बड़े प्लेटफार्म पर ईसाई-धर्म के दस सम्प्रदायों के आचार्यों को देखता हूँ। ये लोग भारतवर्ष का सम्मान करने और भारतवर्ष को आत्म सुधार की ओर उत्साहित करने को एकत्रित हुए है। मेरे मित्र! मैं इस देश में ईसाई-धर्म के सिद्धान्तो को सीखने नहीं आया हूँ, बल्कि यह जानने के लिये आया हूँ कि इंग्लैण्ड के लोग यथार्थ में ईसाई-जीवन किस तरह पालन करते हैं ? मैं ईसाइयों के परोपकार, आत्मसमर्पण, आत्मत्याग के भावों का मनन करने के लिये ही आया हूँ। क्योंकि मेरा विश्वास है कि आज इंग्लैण्ड ने संसार में जो महत्ता प्राप्त की है उसका कारण केवल उद्योग-धन्धे और व्यापार ही नहीं हैं, बल्कि एक जीवनदायक धर्म के आत्मत्याग के प्रभाव से ही यह कितना बड़ा बन सका है।"

जब केशवबाबू इंग्लैण्ड की 'मादक-द्रव्य निवारिणी सभा' के सामने व्याख्यान देने गये तो उन्होंने शराब के व्यापार से भारत को होने वाली हानि का बड़े स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया। वहाँ के श्रोतागण उनके भाषण से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने खड़े होकर तीन बार करतल ध्वनि की। सैकड़ों स्त्री-पुरुष केशवबाबू से हाथ मिलाने को आगे बढ़ आये जिससे हाथ मिलाते-मिलाते वे थक गये। जब वे वहाँ से गाड़ी मे बैठकर चलने लगे तो कई लोगों ने उसके भीतर मुँह डालकर कहा- "गॉड ब्लैस यू' (भगवान् तुम्हारा कल्याण करे।)

केशवबाबू के प्रचार कार्य और उनके आध्यात्मिक उपदेशों का इंग्लैण्ड मे इतना प्रभाव पड़ा कि वहाँ के

समाचार-पत्रों में, जो सदैव भारत को एक कुसंस्काराछन्न देश ही बतलाया करते थे, उनकी प्रशंसा में कालम के कालम भर दिये । कई पत्रों में उनकी जीवनी प्रकाशित की गई । एक मासिक-पत्र में उनका परिचय देते हुए लिखा गया कि "उपदेश देते समय प्रशान्त भाव, उत्कृष्ट स्वर, भक्ति का आवेग, ये बात श्री केशवचन्द्र के गुणों को और भी बढ़ा देती हैं । उनकी अँग्रेजी भाषा निर्दोष है, उनके उच्चारण या बोलने के ढंग से यह प्रकट नहीं होता कि यह कोई भारतीय बोल रहा है, वरन् ऐसा मालूम होता है कि कोई अँग्रेज ही बोल रहा है । केशवचन्द्र बहुत से ग्रन्थ पढ़कर शास्त्रवेत्ता नहीं बने, वरन् उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार करके आलोक प्राप्त किया है । जिन लोगों का उनसे परिचय हुआ है उनमें से कितने ही यह कहते हैं कि 'जब से हमने केशवचन्द्र सेन को देखा है तभी से हम समझ सके हैं कि ईसामसीह के कथनानुसार 'शिशु बालक की तरह ईश्वर पर निर्भर रहना' किसे कहते हैं ।"

विलायत में केशवबाबू ने महारानी विक्टोरिया से भी भेंट की । उस समय अधिकांश शिक्षित भारतीय अँग्रेजी राज्य को भारत के लिये हितकारी मानते थे और महारानी विक्टोरिया स्वयं एक बहुत धर्मशीला तथा परोपकारी स्वभाव की स्त्री थीं । इसलिये केशवबाबू उत्सुकतापूर्वक उनसे मिलने को गये । केशवबाबू ने भारतीय प्रथा के अनुसार मस्तक नवाकर महारानी को नमस्कार किया । जिसके उत्तर में महारानी ने भी बड़ी सुन्दरता से नमस्कार किया । महारानी ने यह जानकर सन्तोष प्रकट किया कि भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा की वृद्धि हो रही है और अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारतीय जनता अनेक क्षेत्रों मे उन्नति कर रही है ।

श्री केशवचन्द्र पर ईसाइयत का आरोप

केशवबाबू भाषण के प्रवाह में एक बार ऐसी बातें कह गये कि जिनसे अनेक व्यक्तियों को उन पर ईसाइयों के पक्षपात का आरोप करने का मौका मिल गया । यह भाषण सन् १८६८ में कलकत्ता के 'मेडिकल कालेज थियेटर' मे दिया गया था । इसका विषय था 'जीसस क्राइस्ट, योरोप एण्ड एशिया' (ईसामसीह, योरोप और एशिया) इसमें ईसा के उपदेशों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा– "ईसामसीह का प्रभाव आरम्भ में एक छोटा-सा नाला था, जो आगे चलकर अधिक चौड़ा और गहरा होता गया और अपने तीव्र बहाव के साथ असत्य और मिथ्या विचारों के दुर्जेय किलों तथा शताब्दियों से इकट्ठे हुए कूड़े-करकट को बहा ले गया । ईश्वर ने उसको मनुष्य जाति के सुधार और पुनर्जीवन के लिये भेजा था और इसलिये ईश्वर ने उसको शक्ति और बुद्धि भी प्रदान की थी । उसकी कोमलता, नम्रता, मेमने के समान दीनता, सहानुभूति, दया, क्षमा और साथ ही सचाई के प्रति दृढ़ और अटल निष्ठा प्रशंसनीय थी ।"

अन्त में उन्होंने कहा– "क्या ईसामसीह एशिया का नहीं था ? मुझे हर्ष है, नहीं-नहीं अभिमान है कि मैं भी एशिया का हूँ । वस्तुतः ईसाई-धर्म को एशिया वालों ने एशिया में स्थापित और उन्नत किया जब मैं यह विचार करता हूँ तो ईसा के लिये मेरा प्रेम सौ गुना हो जाता है।"

इस व्याख्यान के कारण केशवबाबू की चर्चा चारों ओर होने लग गई । उनके ईसाई दोस्त तो समझने लगे कि बस अब किला फतह होने वाला है । उधर 'आदि ब्रह्म-समाज' वालों ने अपनी बुद्धि को सराहा कि "हमने समय रहते जो केशवबाबू का बहिष्कार कर दिया यह बड़ा अच्छा हुआ, अन्यथा न जाने वह 'ब्रह्म-समाज' को किस रसातल तक ले जाता ।"

इस विषय में केशवबाबू जल्दबाजी में कुछ भूल कर गये । बात यह थी कि उनमें भावुकता बहुत अधिक थी और बुद्धि की तेजी भी इतनी अधिक थी कि अनेक बार उसको नियंत्रण में रखना कठिन हो जाता था । यह व्याख्यान उसी का नमूना था । वे बिना परिणाम का विचार किये हुए ईसा की प्रशंसा में इतना अधिक कह गये कि जनता के मन में सन्देह उत्पन्न होने लगा । वे वास्तव में न तो स्वयं ईसाई होना चाहते थे और न अपने अनुयायियों को उसकी ओर प्रेरित करना चाहते थे । इसलिये उन्होंने इस गलतफहमी को दूर करने के लिये कलकत्ता टाउन हाल में एक और व्याख्यान "ग्रेट मैन" (महापुरुष) के विषय में दिया । उसमें उन्होंने यह विवेचन करते हुए कि ईश्वर अपना प्रकाश मनुष्य जाति के प्रति तीन प्रकार से प्रकट करता है, कहा–

"महापुरुषों का पद साधारण मनुष्यों से कहीं ऊँचा होता है । यह बात सच है कि वे भी मनुष्य ही होते हैं । लेकिन इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि वे साधारण मनुष्यों से अनेक प्रकार से भिन्न भी होते हैं । सब महापुरुषों मे यह विशेषता अवश्य होती है । उनमें मानुषी और दैवी, लौकिक और स्वर्गीय प्रकृति का अद्भुत सम्मिलन होता है । किसी महापुरुष को पहिचान लेना सरल होता है, पर उसके गुणों को ठीक-ठीक समझना बहुत कठिन है ।"

पर इस भाषण से भी उस गलती का पूरा निराकरण न हो सका । ईसाई लोग कहने लगे कि "केशवबाबू हिन्दुओं से डर गये । इसलिये पहले भाषण में इन्होंने जो पद अकेले ईसामसीह को दिया था, वह इस दूसरे भाषण में अन्य

महापुरुषों को भी दे दिया ।" पर फिर इस विषय पर केशवबाबू ने कुछ नहीं कहा । इस घटना से यह प्रकट होता है कि सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट व्यक्ति को सिद्धान्त सम्बन्धी प्रत्येक बात सोच-समझकर ही मुँह से निकालनी चाहिये । क्योंकि विरोधी पक्ष वाले जरा-सा भी मौका पाकर बात का बतंगड़ बना देते हैं और जिनका कोई स्वार्थ पूरा होता है वे भी उसको अपने पक्ष में खींचने की कोशिश करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि ईसा एक ऐसे महापुरुष थे जिनके जीवन से करोड़ों व्यक्तियों को सदा प्रेरणा मिलती रही है, वे वास्तव में क्षमा और परोपकार की मूर्ति थे, पर उस समय भारतवर्ष में ईसाई धर्मोपदेशक अपने स्वार्थ की दृष्टि से जिस प्रकार प्रचार कर रहे थे और मौका पाकर तरह-तरह की चालाकियों से हिन्दुओं को ईसाई बनाने का प्रयत्न करते रहते थे, उससे जनता का मनोभाव ईसा के प्रति भी दूषित हो गया था । केशवबाबू ने चाहे सरल भाव से ही ईसा की प्रशंसा की हो, परन्तु लोगों ने उसका अर्थ कुछ और ही निकाला जिससे एक हानिकारक परिस्थिति उत्पन्न हो गई ।

पर इस घटना का एक लाभजनक परिणाम भी निकला । ईसामसीह विषयक भाषण से भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड लारेंस का ध्यान भी केशवबाबू की तरफ आकर्षित हुआ और उन्होंने स्वयं उनको बुलाकर भेंट की । इसके फल से केशव बाबू का प्रभाव सरकारी क्षेत्र में बढ़ गया और उसका उपयोग करके वे 'ब्राह्म-विवाह बिल' को पास करा सके । इसके पास हो जाने से दो भिन्न जातीय युवक-युवती अपने को ब्राह्म कहकर विवाह कर सकते थे । पहले इस प्रकार का विवाह देश में प्रचलित 'हिन्दू-ला' की दृष्टि से गैरकानूनी (अवैध) माना जाता था, पर 'ब्राह्म विवाह कानून' के बन जाने पर यह कठिनाई दूर हो गई और बहुसंख्यक लोगों ने इसके अनुसार विवाह किया ।

गुरुडम का विरोध

धर्म प्रचार के कार्य में अनेक विघ्न-बाधाओं को सहन करने के कारण केशवबाबू के हृदय में भक्ति-भाव का उदय हुआ । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने 'जीवन-वेद' ग्रन्थ में लिखा है कि "इस जीवन में पहले भक्ति नहीं थी, प्रेम के भाव भी अधिक नहीं थे और अनुराग भी थोड़ा था । लेकिन विश्वास था, विवेक था और वैराग्य था । ये तीनों ही गुण अत्यन्त लाभदायक और अत्युत्तम है, लेकिन ये तीनों ही 'शुष्क' हैं । तो फिर इस प्रकार का 'शुष्क-जीवन' भक्ति के जल से किस प्रकार प्लावित हुआ ? ईश्वर की कृपा से ही अन्त में मेरे हृदय में भक्ति का संचार हुआ । जब भक्ति बढ़ने लगी तो उसे स्थायी करने के लिये मुझे योग की आवश्यकता प्रतीत हुई । इस प्रकार भक्ति और योग दोनों की ही ओर मेरा हृदय आकर्षित हुआ ।"

भक्ति-भाव का उदय होने से केशवबाबू का ध्यान संकीर्तन की तरफ गया । पहले इसका प्रचार वैष्णवों में विशेष रूप से था, पर फिर यह प्रथा कम पड़ गई और कुछ छोटी जातियों के व्यक्तियों में ही इसका प्रचलन रह गया । केशवबाबू ने सबसे पहले इसे पुनर्जीवित किया । अपने 'ब्राह्म-समाज' के शिलान्यास के अवसर पर उन्होंने बड़ी धूमधाम से कीर्तन का आयोजन किया । बाद में सभी समाजों ने, यहाँ तक देशी ईसाइयों ने भी इसका अनुकरण किया । इस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य बहुत जल्दी भटक जाता है । भक्तगण भावना प्रधान होते हैं और उसके आवेश में वे तुरन्त अपने आराध्य में अलौकिकता का आरोप करने लग जाते हैं । यही बात 'ब्राह्म-समाज' में भी हुई । भक्ति के प्रभाव से पहले तो सैकड़ों नर-नारी इससे प्रभावित होकर अपने जीवन को शुद्ध और प्रेममय बनाने लगे, पर फिर श्री केशवचन्द्र को 'भगवान', 'स्वामी' 'त्राता' कहकर पूजने लगे । वे इस प्रकार की मनोवृत्ति के विरुद्ध थे । उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने अनुयायियों से स्पष्ट कह दिया--

"स्वतंत्रता को ही मैंने अपने सम्प्रदाय का नेता बनाया है । इसी कारण जो व्यक्ति मेरे साथी हैं, उन्हें मैं मित्र के नाम से पुकारता हूँ । मैं कभी अपने को गुरु या मास्टर नहीं कहता । स्वतंत्रता की ही जय होगी, सत्य की ही विजय होगी । जब स्वतन्त्रता आने के लिये आदेश देती है तो जो आना चाहें वे आयें । गुरुडम तो बिल्कुल ही न होना चाहिये ।"

केशव बाबू की समाज-सेवा

राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सैन के समय में हिन्दू-जाति अन्ध परम्पराओं में कितनी अधिक जकड़ी हुई थी और इसके कारण लाखों हिन्दू किस प्रकार पहले मुसलमानों और फिर ईसाइयों में सम्मिलित होकर अपनी जाति की जड़ काटने लगे थे, इसकी एक बड़ी लम्बी और दुःखद कहानी है । इतने पर भी यदि कोई माई का लाल स्वार्थ त्यागकर जन-साधारण को समयानुकूल मार्ग दिखाने को तत्पर होता तो लोग उसे सहायता देने के बजाय उसका सिर फोड़ने को तैयार होते थे । ऐसी विपरीत स्थिति में केशव बाबू ने कठिनाइयों और कष्टों की परवाह न करके समाज-सेवा के जिस मार्ग को अपनाया उसके लिये वे चिरकाल तक भारतीय-जनता के श्रद्धा के पात्र बने रहेंगे ।

देते थे । उनकी ऐसी सुपात्रता और सच्चरित्रता देखकर माता-पिता ने अपने को कितना सौभाग्यवान माना होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं । सन् १८७३ में वे इन्जीनियरिंग की अन्तिम परीक्षा पास करके वे लाहौर में सहकारी इन्जीनियर के रूप में काम करने लग गये ।

सरकारी नौकरी करते हुये भी श्री गंगाराम ने अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के पालन का पूरा ध्यान रखा । उन्होंने जितनी इमारतें बनवाईं और अन्य निर्माण-कार्य किये उन सबमें सुन्दरता और मजबूती के साथ कम खर्च का भी ध्यान रखा । यही कारण है कि उन्होंने निर्माण-कार्य के सम्बन्ध में जब जो नया तरीका सोचकर निकाला, वह लोकप्रिय हो गया और अन्य लोगों ने भी उसका अनुकरण किया ।

वे बहुत समय तक लाहौर के म्युनिस्पल कमिश्नर रहे और शहर की गन्दी सड़कों और गलियों की सफाई की तरफ ध्यान देकर शहर की बहुत उन्नति की । 'वाटर-वर्क्स' का निर्माण कराके पानी के निकास के लिये नालियों की उचित व्यवस्था की । लाहौर के निवासी इन कार्यों के लिये सदा उनकी प्रशंसा करते रहे ।

यद्यपि उन्होंने नौकरी करते हुये अपना काम बड़ी ईमानदारी और परिश्रम से किया पर फिर भी उन्होंने देखा कि अँग्रेज इन्जीनियर उनसे द्वेष ही रखते हैं और उनकी उन्नति तथा सम्मान को देखकर जलते हैं । उन लोगों ने जब कभी अवसर मिला इनकी उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध किया । जब ऐसे लोगों की चालें उनको बुरी जान पड़ीं तो कोशिश करके नौकरी से पेंशन ले ली ।

वे चाहते थे कि पेंशन लेकर शान्तिपूर्वक घर पर रहेंगे और इन्जीनियर का कार्य निजी तौर पर करते रहेंगे । पर जैसे ही इनकी पेंशन मंजूर हुई कि तुरन्त ही इनके पास पटियाला रियासत से बुलावा आ गया । वहाँ पहुँचकर भी उन्होंने नगर को स्वच्छ और सुन्दर बनाने के लिये कई योजनायें कार्यान्वित कीं । जन-कल्याण के और भी अनेक कार्य किये जिससे हजारों व्यक्तियों को सुख से जीवन निर्वाह करने का मार्ग मिल गया । इन कार्यों को देखकर पटियाला की प्रजा उनकी हृदय से भक्त बन गई । स्वयं वहाँ के महाराज भूपेन्द्रसिंह उनको 'चाचा' कहकर पुकारते थे ।

विधवाओं के सहायक

इस तरह श्री गंगाराम ने देश के औद्योगिक और कृषि क्षेत्र में बड़े-बड़े काम किये जिससे जनता का बहुत कुछ कल्याण हुआ, पर हम जिस बात के लिये श्री गंगाराम का नाम याद करते हैं, और उनका उदाहरण दिखलाकर अन्य वैभवशाली लोगों को प्रेरणा देना चाहते हैं, वह है निराश्रय स्त्रियों तथा बेकार युवकों के लिये उनका सेवा-कार्य । संसार में मालदार होना कोई बड़ी बात नहीं, भारतवर्ष में ही इस समय ऐसे हजारों करोड़पति पड़े हैं जिनका नाम कोई जानता भी नहीं । उनके पास कितना धन है और वे प्रतिवर्ष कितनी आमदनी करते हैं, इससे हमको क्या मतलब ? हम तो उसी की तारीफ कर सकते हैं जिसके धन से दूसरे लोगों का-गरीब और निराश्रित व्यक्तियों का भी लाभ होता हो । श्री गंगाराम ऐसे ही धनी व्यक्तियों में से थे ।

श्री गंगाराम के मित्र बतलाते हैं कि यद्यपि वे ऊपर से बड़े क्रोधी, और रौबदाब वाले व्यक्ति प्रतीत होते थे, पर वास्तव में उनका हृदय बड़ा कोमल था । दीन-दुखियों की पुकार सुनने के लिये उनके कान हमेशा तैयार रहते थे । उन्होंने जब मौलाना हाली की 'मनाजात-ए-बेवगान' नामक कविता-पुस्तक पढ़ी तो उनका हृदय द्रवीभूत हो गया । वे उस कविता को बार-बार पढ़ते थे और अनेक बार तो भावावेश से उनकी आँखों से आँसू बहने लग जाते थे ।

इसी भावना से प्रभावित होकर उन्होंने एक छोटी-सी 'विधवा विवाह सहायक सभा' सन् १६१४ में स्थापित कर दी थी । सन् १६१६ में अम्बाला में वैश्य कान्फरेंस हुई जिसमें लाला लाजपतराय और राय द्वारिकाप्रसाद जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति शामिल थे । श्री गङ्गाराम ने इस सभा में विधवा विवाह के प्रस्ताव को पास कराने की पूरी कोशिश की । पर पुरानी रूढ़ियों के पक्षपाती व्यक्तियों ने इसका विरोध किया और प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया । इस पर गङ्गाराम जी ने सुधारवादी सदस्यों को लेकर हिन्दू-हाल में एक पृथक् सभा की और 'विधवा विवाह परिषद्' की स्थापना की । उन्होंने उसी समय दो हजार रु० दान देकर सभा का कार्य आरम्भ करने की व्यवस्था कर दी ।

वे विधवाओं की करुण समस्या को हिन्दू-समाज के सर पर कलंक मानते थे और जब तक जिये बराबर इन 'अभागिनी नारियों' का उन्हें ध्यान रहा । वे स्वयं ही यह काम नहीं करते थे, वरन् छोटे-बड़े सबको इसकी प्रेरणा देते रहते थे । एक बार इस सम्बन्ध में उन्होंने मालवीय जी को लिखा–

"आप मुझसे अपने 'बाल-विवाह-बिल' की प्रतिलिपि भेजने का वायदा करते ही चले आ रहे हैं । मुझे अब तक यह प्रतिलिपि नहीं मिली है । आपके जीवन के कुछ ही वर्ष शेष हैं । मेरी राय तो यह है कि आप बचे-खुचे दिन हिन्दू-समाज की उन्नति में लगा दें ।"

जब मालवीय जी ने श्री गंगाराम की मृत्यु का समाचार सुना तो उनको इस बात का बड़ा पश्चाताप हुआ कि उनके

जीवन-काल में वे उस 'बाल-विवाह-बिल' को व्यवस्थापक सभा में पेश न करा सके । इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा–

"विधवाओं की शोचनीय दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठता था । वैसे उनका स्वभाव कड़ा था किन्तु बाल-विवाह की शिकार होने वाली अल्पायु विधवाओं का जिक्र आते ही उनकी आँखें भर आती थीं । बहुत समय से वे मुझ पर जोर डाल रहे थे कि कम से कम बारह वर्ष आयु वाली बालिकाओं के विवाह पर प्रतिबन्ध लगवा दूँ । इस विषय का प्रस्ताव मैं तैयार कर चुका हूँ और आशा है कि देहली-असेम्बली अगले अधिवेशन में वह रखा जायगा । पर अपने आदरणीय प्रिय बन्धु के जीते-जी मैं यह न करा सका ।"

बाल-विधवाओं की भीषण समस्या

सन् १९२६ में श्री गंगाराम जी ने, जब उनकी आयु ७५ वर्ष की हो चुकी थी और स्वास्थ्य भी निर्बल पड़ चुका था एक पुस्तिका छपाई थी, जिसके मुख-पृष्ठ (कवर) पर छपा था–

"हिन्दू-समाज में बाल-विवाह तथा बलात्-वैधव्य से पीड़ित अबलाओं की विशाल संख्या को देखकर किसका हृदय न पिघल उठेगा ?" इतना बड़ा नाम उन्होंने इसीलिये रखा था कि लोग हाथ में लेते ही उसका आशय जान सकें । फिर इसी नाम के नीचे एक वाक्य और लिखा था– "होम-रूल की इच्छा करने से पहले अपने घरों को पवित्र कर लीजिये ।" इससे प्रकट होता था कि वे राजनीतिक सुधारों से भी अधिक महत्त्व सामाजिक सुधारों को देते थे । उनकी सम्मति में जब तक हमारा समाज निर्बल और रूढ़िग्रस्त बना रहेगा, वह राजनीतिक क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता और यदि किसी तरह वह राजनीतिक अधिकार प्राप्त करले तो भी वह उनसे पूरा लाभ उठा नहीं सकता । आज देश और समाज की दशा का अवलोकन करके उनकी बात में बहुत कुछ सचाई जान पड़ती है ।

ऊपर जिस पुस्तिका का जिक्र किया गया है उसमें एक लेख न था, केवल देश में पाई जाने वाली विभिन्न आयु की विधवाओं की संख्या दी गई थी । ये आँकड़े सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी रिपोर्ट के थे । उसके अनुसार ४-५ वर्ष की आयु की विधवाओं की संख्या १५१३६ थी, इनमें १२००० हिन्दू थीं । ५ से १० वर्ष के बीच की विधवायें १,०२,२६३ थीं और १० से १५ वर्ष के बीच की आयु वाली विधवाओं की संख्या २० लाख से अधिक थीं । इन अभागिनी बालिकाओं की उस समय कितनी अधिक दुर्दशा थी इसका वर्णन करते हुये उन्हीं दिनों मद्रास की 'लेजिस्लिटिव एसेम्बली' की भूतपूर्व उपसभापति डाक्टर श्रीमती मुत्थू लक्ष्मी रेड्डी ने कहा था–

"यदि अल्प आयु की किसी बालिका का (जिसने अपने भावी पति को न तो ठीक तरह देखा ही है, न उससे बातें की हैं और न वह बेचारी दाम्पत्य जीवन का अर्थ समझती है) पति मर जाय तो क्या यह उसका दोष है ? ध्यान रहे कि हिन्दू-समाज में बहुत छोटी आयु में ही विवाह की रस्में पूरी करके बालिका को मायके में ही रखा जाता है और कई वर्ष बाद वह पत्नी बनती है । तब क्यों उस बेचारी को सांसारिक सुखों से वंचित रखा जाता है ? क्या यह यन्त्रणादायक दण्ड उचित है ? क्या हमारा समाज, जिसे अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता पर गर्व है, विधवाओं के प्रति ऐसे घृणित व्यवहार को न्यायसंगत समझता है ?

"पति की (जिसे बालिका के माता-पिता ने उसके सिर पर मढ़ दिया है) मृत्यु होते ही बालिका बहिष्कृत कर दी जाती है । जिस घर में उसका लालन-पालन बड़े प्यार से किया गया था उसी घर में विधवा होने के बाद उसे दुर्भाग्य का अवतार समझा जाता है । उसे सदा ही अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता है । उसके लिये सांसारिक सुख निरर्थक हैं । यदि उसकी सधवा दादी, माँ, सास तथा अन्य निकट के सम्बन्धी भड़कीले वस्त्रादि पहिनकर घूमते हैं, तो अभागी बालिकाओं को केवल सीधी-सादी सफेद धोती पहिनने की ही अनुमति दी जाती है । न तो वह आभूषण पहिन सकती है और न किसी उत्सव में भाग ले सकती है । घर के उत्सवों में तो उसे मुँह छिपाकर मकान के किसी निर्जन कोने में पड़ा रहना पड़ता है, जिससे उसकी अमंगलजनक छाया किसी अन्य पर न पड़ जाय ।

"इस प्रकार लौकिक वातावरण में रहकर भी उसे संन्यासिनी का जीवन बिताने के लिये विवश किया जाता है । क्या बड़े से बड़े पापी को भी इससे बुरा दण्ड हम दे सकते हैं ? किसी अन्य देश में अबलाओं के ऊपर ऐसे कठोर सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं हैं । दो करोड़ नारियों को वैधव्य और यन्त्रणा की शृंखलाओं में आबद्ध रखकर हम स्वतंत्र कैसे हो सकते हैं ?"

श्री गंगाराम स्वयं भी इस समस्या पर विचार करके ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुँचे थे । उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा था– "सर्वप्रथम सन् १९११ की जनसंख्या रिपोर्ट देखकर मेरा ध्यान विधवाओं की शोचनीय अवस्था की ओर आकर्षित हुआ । इस रिपोर्ट के अनुसार समस्त भारत में दो करोड़ साठ लाख विधवायें थीं, जिनमें से दो करोड़ एक लाख हिन्दू तथा शेष अन्य थीं । किसी भी अन्य देश में लोग बाल-विधवा शब्द से परिचित नहीं हैं किन्तु भारत में

हल होने वाला नहीं है, इसलिये मैंने अपना प्रस्ताव सरकार के सामने रखा । प्रसन्नता का विषय है कि गवर्नर साहब और शिक्षा विभाग के अध्यक्ष ने उसे स्वीकार कर लिया है।"

गवर्नर साहब ने इस नवीन संस्था का परिचय देते हुए कहा–

"मैं और मेरा परिवार श्री गंगाराम से कई वर्षों से परिचित है । जीवन-मंच के नाटक में न जाने किस-किस रूप में वे भाग ले चुके हैं । हम जानते हैं कि बहुत वर्षों तक वे इन्जीनियर रहे, कभी वे दरबार का प्रबन्ध करने में जुटे रहे, तो कभी उन्होंने बड़ी-बड़ी जल-योजनाएँ बनाईं । कभी हम उन्हें कपास की मिलों के मालिक के रूप में देखते हैं, तो कभी 'कोल्ड स्टोरेज' का काम करते पाते हैं । वे इतने बड़े जमींदार हैं कि उनके सम्बन्ध में लेजिस्लेटिव एसेम्बली में प्रश्न पूछे जा रहे है । कई आदर्श फार्म और ग्रामों का उपक्रम आपने किया है । आर्थिक विषयों पर आपने कई सुन्दर लेख लिखे हैं । विधवाओं की समस्या का भी आपने बड़ी सावधानी से अध्ययन किया है । आज हम उनको एक महान उपकारक के रूप में यहाँ देख रहे हैं। कुछ ही दिन पूर्व लाहौर में आपने एक चिकित्सालय का उद्घाटन किया था और आज इस उदार संस्था का श्रीगणेश कर रहे हैं । हमें आशा है कि इस संस्था से प्रांत की नारियों का कल्याण होगा ।"

'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की एक संस्थापिका तथा प्रसिद्ध समाज-सुधारक श्रीमती मार्गरेट कजिन्स ने इस संस्था को देखकर लिखा था– "श्री गंगाराम द्वारा स्थापित महिला-आश्रम से मैं अत्यन्त प्रभावित हुई । वहाँ का कार्यक्रम बड़े आदर्श ढंग से चलाया जा रहा है । काश, यदि ऐसे ही उदार-स्वभाव 'गंगाराम' मेरे प्रांत (मद्रास) में भी होते तो वहाँ की स्त्रियों का कल्याण हो जाता । ऐसी ही एक संस्था की मद्रास मे बड़ी आवश्यकता है । किन्तु क्या कभी गंगाराम या भंडारकर जैसे दानी महानुभाव मद्रास में भी आयेंगे ?"

महिलाओं के लिये इण्डस्ट्रियल स्कूल

पर श्री गंगाराम जैसे कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों की समस्याओं का कभी अन्त नहीं होता । उनको एक कार्य में सहायता करते देखकर दूसरी तरह के जरूरतमन्द लोग भी उन्हीं की तरफ देखने लगते हैं । जब पढ़ सकने योग्य विधवाओं के लिये "महिला-आश्रम" कार्य करने लगा, तो एक दिन संस्था के एक कर्मचारी ने श्री गंगाराम से कहा कि "एक साधारण वेतन पाने वाले युवक की मृत्यु हो गई है और उसके पीछे उसके पत्नी तथा माता के निर्वाह की समस्या बड़ी कठिन हो गई है ।" उसने सुझाव दिया कि इस 'परिवार' की कुछ सहायता की जाय ।

श्री गंगाराम– "किस प्रकार की सहायता ?"

कर्मचारी– "उसके परिवार को ४०-५० रु० दे दीजिये ।"

श्री गङ्गाराम- "ये रुपये कितने दिन चलेंगे ?"

कर्मचारी इस प्रश्न का उत्तर न दे सका । वास्तव में उन दो निराश्रित विधवाओं की समस्या कठिन थी ।

कुछ देर तक सोचकर श्री गंगाराम जी ने कहा– "अच्छा, तुम कल मालूम करके यह बताना कि वे स्त्रियाँ सिलाई की मशीन चला सकती हैं या नहीं ? जब यह मालूम हो गया कि वे सिलाई जानती हैं तो उन्होंने सिलाई की एक मशीन मँगवा कर उनके पास भिजवा दी । कुछ दिन बाद यह जानकर कि उस मशीन की सहायता से वे दोनों स्त्रियाँ ५०-६० रुपया मासिक कमा लेती हैं, और उनका जीवन-निर्वाह भली प्रकार होने लगा है, गंगाराम जी को बड़ी प्रसन्नता हुई ।

इस उदाहरण से प्रोत्साहित होकर उन्होंने "लेडी मेनयार्ड इण्डस्ट्रियल स्कूल फार हिन्दू एण्ड सिख वीमन" की स्थापना की और उसके लिये अपनी एक इमारत, जिसकी कीमत एक लाख रुपया थी दान में दे दी । उसकी व्यवस्था और व्यय का भार पंजाब के 'डाइरेक्टर आफ इण्डस्ट्रीज' ने अपने ऊपर ले लिया । इस संस्था में स्त्रियों को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, तिल्ले और गोटे का काम तथा कई अन्य हस्तकलाओं की शिक्षा दी जाती थी । उसमें संगीत शिक्षा का भी अच्छा प्रबन्ध था । एक या दो वर्ष की शिक्षा समाप्त हो जाने पर डाइरेक्टर द्वारा 'प्रमाण-पत्र' दिये जाते थे । स्कूल में शिक्षा मुफ्त दी जाती थी, और सब सामग्री भी बिना किसी मूल्य के मिलती थी । इस संस्था में शिक्षा प्राप्त की हुई अनेक महिलायें आगे चलकर अच्छी नौकरी प्राप्त करने में सफल हो सकीं ।

यह भी प्रश्न उठाया गया कि काम सीखने वाली बालिकाओं और महिलाओं से अच्छा सामान बनवा कर उसे बेचा जाय और उसी की आमदनी से वे अपना निर्वाह कर सकें । इस उद्देश्य से श्री गंगाराम ने दो हजार रुपये अलग से दिये । इससे सामान खरीद कर काम करने वाली स्त्रियों को दिया जाता था और उनकी बनाई चीजों को एक दुकान में बेचकर नफा उनके हिसाब में जमा कर दिया जाता था ।

इस प्रकार की कितनी ही छोटी-बड़ी योजनाओं से उन्होंने हजारों अभागिनी स्त्रियों के जीवन की कायापलट कर दी और उनके निकम्मे जन्म को सार्थक बना दिया। हम सब भी अकेले नहीं तो संगठित होकर इस प्रकार के कार्य अपने सीमित क्षेत्र में स्थापित कर सकते हैं। चाहे दूर से देखने वालों अथवा शुष्क तर्क करने वालों को इनका कुछ महत्व प्रतीत न हो पर जिन दस-बीस या सौ-पचास निराश्रित व्यक्तियों को उससे सहायता मिल जायगी और वे अपने जीवन-निर्वाह का कोई मार्ग पा जायेंगे, उनकी निगाह में उस काम का महत्व कितना होगा, यह विचारणीय है। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का एक किस्सा प्रसिद्ध है कि उन्होंने एक दिन किसी लड़के को पैसा माँगने पर एक रुपया दे दिया, और कुछ काम करने की प्रेरणा दी। वह लड़का सच्चा था और उसने उसी एक रुपये से फल खरीदने-बेचने का कार्य करके कुछ दिनों में एक छोटी-सी दुकान कर ली। श्री गंगाराम ने बेकार और निराश्रित लोगों को किसी जीवन-निर्वाह योग्य रोजगार में लगाने की इतनी योजनायें प्रचलित कीं कि अनेक लोग भगवान से यही प्रार्थना करने लगे कि वह उनको दीर्घ जीवन दे, जिससे वह संकटग्रस्त नर-नारियों की सहायता करते रहें।

गौरक्षा का वास्तविक मार्ग

हमारे यहाँ 'गौरक्षा' का शोर अक्सर सुनने में आया करता है। अभी दो वर्ष पहले तो कुछ 'गौभक्तों' ने उसके नाम पर 'सत्याग्रह' आरम्भ करके देश भर में और विशेषतः दिल्ली में प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा कर दिया था। उस समय मालूम होता था कि ये सज्जन गौरक्षा का अवश्य कोई ठोस कार्य कर दिखायेंगे। पर जैसे ही १९६७ का चुनाव समाप्त हुआ वह 'खेल' भी खत्म हो गया।

निस्सन्देह यह बड़े खेद की बात है कि गौरक्षा जैसे जनता के कल्याण के विषय को कुछ लोग अपने स्वार्थ की दृष्टि से कभी चलाते हैं और फिर बन्द कर देते हैं। जैसा हम जानते हैं दूध और घी ही अधिकांश हिन्दुओं के लिये हृष्ट-पुष्ट और शक्तिसम्पन्न बनाने के मुख्य साधन हैं। पर केवल गौरक्षा पर भाषण देने अथवा गऊ को माता कहकर उसकी पूजा कर देने मात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता। उसकी पूजा तो यही है कि उसकी नस्ल का सुधार करके और खूब अच्छा खाना देकर उसे पुष्ट और दुधारू बनाया जाय। अगर वह भैंस की तरह दस-बारह सेर दूध के आधार पर सात-आठ सौ रुपये में बिकने लगे तो कोई ऐसा मूर्ख न होगा जो उसे सौ-पचास रु० के माँस, खाल आदि के लिये काटे।

श्री गंगाराम इस तथ्य को खूब अच्छी तरह समझते थे, साथ ही वे एक धार्मिक हिन्दू और गौभक्त भी थे। वे समय-समय पर ऐसी योजनायें सोचा करते थे जिनसे देश के गोधन की वास्तविक अर्थों में वृद्धि हो और उसकी उपयोगिता अधिक से अधिक बढ़ सके। एक बार इस सम्बन्ध में आपने महात्मा गाँधी को लिखा था—

"आपने बी० बी० सी० आई० रेलवे से बम्बई-देहली यात्रा करते समय बीच का व्यर्थ पड़ा हुआ ५०० मील लम्बा और २० मील चौड़ा क्षेत्र तो देखा ही होगा। बरसात में तो यहाँ एक विशाल जलराशि बन जाती है। क्या आपने कभी यह सोचा है कि इतना अधिक पानी बाढ़ के रूप में व्यर्थ समुद्र में पहुँच जाता है। हम प्रकृति के इस तोहफे का उचित लाभ न उठाकर उसे बर्बाद होने देते हैं। यदि इस भूमि को हलों या ट्रेक्टरों से केवल काट दिया जाता, तो उसके ऊपर खूब घना व हरा-भरा घास व झाड़ियों का जंगल बन जाता। मवेशियों के चरागाह के लिये यह एक सुन्दर स्थान बन सकता है। मैं इस विषय में आपकी राय चाहता हूँ। और भी कई अन्य विषयों में मैं आपकी राय चाहता हूँ, जिससे हमारे जनपद की धन-सम्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। मेरी धृष्टता के लिये आप मुझे क्षमा करें, किन्तु मेरी समझ में तो हमारे भविष्य का राजनीतिक स्वराज्य इन्हीं चीजों पर निर्भर है।"

गाँधी जी और श्री गंगाराम में कितने ही दिन तक यह पत्र-व्यवहार होता रहा। वे एक-दूसरे को अपने दृष्टिकोण से प्रभावित करने को सदा सचेष्ट रहते थे। गंगाराम जी ठीक ही सोचते थे कि यदि महात्मा गाँधी उनके विचारों में ढल जायें, तो वे अवश्य ही भारत का पुनर्निर्माण करने में सफल हो सकते हैं। इसलिये मवेशियों के चरागाह की चर्चा करते हुये आपने गौपालन के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये—

"मिल्क डेरी की आजकल हर जगह चर्चा है, पर हर प्रान्त में हिन्दू-मुसलमानों के लिये यह लाभदायक धन्धा नहीं हो सकता। वास्तव में मवेशियों की समस्या हमारे देश के कल्याण की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। क्या आपने गौहत्या के प्रश्न पर कभी इस दृष्टिकोण से विचार किया है कि 'भेड़-बकरियों' की अपेक्षा गायें अधिक क्यों काटी जाती हैं? मेरा उत्तर यह है कि गाय के माँस को सस्ते दामों पर बेचने पर भी कसाई को अधिक लाभ होता है, क्योंकि केवल खाल, सींग और खुरों से ही उसको काफी आमदनी हो जाती है। चूँकि कसाइयों को गायें सस्ती मिल जाती हैं, इसी कारण गायें मारने में इनको लाभ हो जाता है।"

"अपने बच्चों के लिये या अपने लिये ताजा दूध पाने की इच्छा से लोग गायें खरीदते हैं और जब गायें दूध देना बन्द कर देती हैं तो शहरों में उनका भरण-पोषण करना कठिन हो जाता है । साधारणतया एक गाय एक रुपये का दाना तो प्रतिदिन खा ही जाती है । इसलिये गौरक्षा का केवल एक उपाय है कि सरकार सूखी गायों को पालने के लिये कुछ अच्छी भूमि दे, जिसका प्रबन्ध किसी छोटी संस्था के हाथों में हो । गाय के मालिक को उसके भरण-पोषण के लिये केवल दस रुपये के लगभग खर्चा बैठेगा । (यह ७५ वर्ष पहले की बात है जब खाद्य वस्तुओं के भाव अबसे बहुत सस्ते थे) । तब कोई भी हिन्दू या मुसलमान दुधारू गाय को नहीं बेचेगा । तब गौ-माँस खाने वालों को इसका इतना दाम देना पड़ेगा कि वे उसे खरीदना बन्द कर देंगे ।"

आगे चलकर गंगाराम जी ने बतलाया कि धर्म अथवा भावुकता के आधार पर सरकार से गौरक्षा के लिये सहायता माँगने का कोई परिणाम न होगा । यह तो एक शुद्ध आर्थिक प्रश्न है, अगर आप इसकी जन-जीवन के लिये पूर्ण उपयोगिता सिद्ध कर सकें तो सरकार को स्वयं झुकना पड़ेगा । उन्होंने स्वयं अपना अनुभव बतलाते हुए कहा--

"उन दिनों मैं लाहौर में था । मेरी भेंट रैली ब्रादर्स के प्रतिनिधि से हुई और मालूम हुआ कि वह खाल और चमड़े खरीदने में व्यस्त था । उसने मुझे बताया कि खालों का दाम ३३ रुपये से बढ़कर ७२ रुपये हो गया है और सींगों तथा खुरों का भाव भी बहुत तेज है ।

मैंने सावधानी से गाय-बैलों के प्रत्येक अंग के वजन और मूल्यों का हिसाब लगाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि ६० रु० प्रति गाय या बैल का मूल्य देकर भी कसाई को काफी फायदा रहता है । मैं तत्काल ही अपने मित्र सर टामस हालैण्ड के पास गया, जो 'म्युनिसिपल बोर्ड' के अध्यक्ष थे। मैंने कहा कि यदि इसी प्रकार से गाय-बैल कटते रहे तो खेती के लिये देश में बैल मिलेंगे भी नहीं । मेरे हिसाब को देखकर वे मुझसे सहमत हो गये और उन्होंने अपने विभाग को गाय-बैलों की खालों के मूल्य को पुनः ७२ रु० से ३६ रु० पर लाने की आज्ञा दे दी ।

"तत्काल बाजार मन्दा पड़ गया । रैली का आदमी तत्काल मेरे पास आकर कहने लगा-- "श्रीमान् ! यह आपने क्या कर दिया ? अब तो हमें खरीदा हुआ माल बेचना भी कठिन हो गया है । बाजार में खाल-चमड़ों की माँग समाप्त हो चुकी है ।" इस घटना से आप देख सकते हैं कि किस प्रत्यक्ष ढंग से गायों को बचाया जा सकता है ।"

श्री गंगाराम सभी विषयों में देश के प्रत्यक्ष लाभ और तर्क संगतता की दृष्टि से विचार करते थे । इसलिये गाँधी जी से पत्र-व्यवहार करते हुए जब चरखे का जिक्र आया तो वे उनसे जरा भी सहमत न हो सके । उनका मशीनों की उपयोगिता पर अटल विश्वास था । उनका कहना था कि "देश के राजनैतिक उद्धार का समस्त प्रश्न देशवासियों के पेट से संयुक्त है, जो इस समय भूखा है । इसलिये सम्पूर्ण समस्या का एक ही उपाय है, वह है देश का औद्योगीकरण ।"

यद्यपि श्री गंगाराम का कथन प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आधारित था और आज ७० वर्ष बाद भारत की राष्ट्रीय सरकार उसी औद्योगीकरण की नीति पर चल रही है, पर उस समय तो राजनीतिक कारणों से चर्खे की धूम थी । गंगाराम जी ने इसको न मानकर महात्मा जी को लिखा--

"मेरी समझ में तो चरखे से कोई लाभ नहीं हो सकता, हाँ, बुनाई अवश्य लाभप्रद हो सकती है । दिन भर चरखा चलाकर डेढ़ आना से अधिक की आमदनी नहीं हो सकती । इतनी छोटी कमाई के लिये कौन दिन भर परिश्रम करने को तैयार होगा ? मैंने लाहौर में स्त्रियों और बालिकाओं के लिये एक औद्योगिक पाठशाला खोल रखी है, जहाँ एक वर्ष सीख कर कोई भी स्त्री एक रुपया प्रतिदिन कमा सकती है । यह बात मैं दावे के साथ कह सकता हूँ । हमारी पाठशाला में एक लड़की तो एक साल कढ़ाई का काम सीख कर तीन-चार रुपया रोज कमाने योग्य हो गई है । उसे तीन-चार रुपया कमाने के लिये दिन भर में केवल ५-६ घण्टा काम करना पड़ेगा । अब आप बताइये कि दिन भर चरखा चलाना कौन पसन्द करेगा ? हाथ की कताई मशीन की स्पर्द्धा नहीं कर सकती । चरखे जैसी अन्य कई मशीनें हैं जो लोगों को फालतू समय में अधिक लाभ दे सकती हैं ।

"पण्डित मदनमोहन मालवीय आजकल यहीं हैं और मेरे विचार से सहमत हैं । मैं उन्हें विश्वास दिला चुका हूँ कि मशीन के आगे चरखे की सुस्त चाल कुछ भी नहीं है । मशीन द्वारा मामूली कारीगर भी आठ आना से एक रुपया तक प्रतिदिन अवश्य कमा सकता है । आप कह सकते हैं कि बरसात में ८५ प्रतिशत से भी अधिक किसान खाली रहते हैं, जो चरखा चला सकते हैं, पर ये ही किसान खाली समय में यदि भेड़ पालने का काम करें तो बहुत अधिक लाभ उठा सकते हैं ।"

गाँधी जी के साथ श्री गंगाराम का यह विवाद इस बात का परिचायक है कि उनको अपने निर्धन और आजीविका विहीन देशवासियों की कितनी चिन्ता रहती थी । उन दिनों महात्मा गाँधी देश भर में ईश्वर की तरह पूजे जाते थे और

उनके प्रभाव का मुकाबला कर सकने की सामर्थ्य किसी में न थी । तो भी इस बात से हतोत्साह न होकर वे गाँधी जी को बराबर वह मार्ग सुझाते रहे जो उनकी निगाह में ठीक और देश के लिये कल्याणकारी था । उन्होंने किसी बात की चिन्ता न करके गाँधी जी को स्पष्ट शब्दों में लिखा-- "मेरी समझ में आप अवश्य कल्पना-लोक में विचरते हैं । आपकी बातों को सुनकर मेरी प्रबल इच्छा थी कि आपसे मिलकर आपके मन से पुराने विचार दूर करने का प्रयत्न करूँ और जन-कल्याण के लिये धन कमाने का उचित और आधुनिक ढंग समझाऊँ । कताई की पुरानी प्रणाली के पक्ष में मैं नहीं हूँ ।"

गाँधी जी ने भी श्री गंगाराम की जन-कल्याण की भावना की सराहना की और लिखा-- "मुझे मालूम है कि आप भी मेरी ही भाँति एक पवित्र ध्येय से प्रोत्साहित हैं, भले ही आपकी भाषा कुछ और है । यद्यपि आप शिखर से उतर कर जड़ पर पहुँचने का असम्भव काम कर रहे हैं, तो भी आपके और मेरे उद्देश्यों में अन्तर नहीं, और वह उद्देश्य है 'जन-सेवा' ।"

सन् १६२७ में इंग्लैण्ड जाते समय वे महात्मा गाँधी से मिले और साबरमती के सन्त के विचारों को बदलने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे यद्यपि वे और गाँधी जी कताई के सम्बन्ध में एकमत न हो सके, पर जब इंग्लैण्ड से उनकी आकस्मिक मृत्यु का समाचार आया तो महात्मा जी ने अपने 'यंग इण्डिया' पत्र में लिखा-

"मुझे ला० गंगाराम से मिलने का सौभाग्य हाल ही में मिला था । यद्यपि कई विषयों में उनके हमारे विचार भिन्न थे, तो भी मैं उन्हें एक सच्चा सुधारक और महान कार्यकर्ता समझता था यद्यपि कई बार मैंने उनके दृष्टिकोण का खण्डन किया, पर वे मुझे एक छोटा बालक ही समझते थे । उनका मुझ पर स्नेह था, मेरे विरुद्ध खड़े होकर उन्होंने भारतीय दरिद्रता पर अपूर्व प्रकाश डाला । भारत छोड़ने के पहले मैंने उन्हें लिखकर आश्वासन दिया था कि मैं उन्हें चरखे का अनुयायी बनाकर छोड़ूँगा, जिसे वे चूल्हे में जलाने की लकड़ी के रूप में ही देखते थे । इसलिये पाठक मेरे दुःख का अनुमान लगा सकते हैं । किन्तु ऐसी मृत्यु भाग्य से मिलती है । वे किसी शौक के लिये इंग्लैण्ड नहीं गये, पर वे अपने सुनिश्चित कर्तव्य की पुकार को टाल न सके । इस भाँति उनकी मृत्यु कर्तव्य-क्षेत्र में हुई है । भारतमाता को भी गंगाराम जैसे सपूतों पर गर्व है ।"

कर्मवीर और परोपकारी व्यक्तियों का सम्मान सभी करते हैं । फिर जो मतभेद सत्य के आधार पर होता है उसका परिणाम कभी कटुतापूर्ण नहीं होता, वह मंगलजनक ही सिद्ध होता है ।

'परहित सरिस धर्म नहीं भाई'

इसमें सन्देह नहीं कि श्री गंगाराम एक कुशल व्यापारी और जमींदार थे और उन्होंने अपने उद्योग और परिश्रम से पर्याप्त सम्पत्ति उपार्जित की । पर उन्होंने इस सम्पत्ति का एक बड़ा भाग (लगभग तीस लाख रुपया) अपने जीवन-काल में ही दान देकर अनेक परोपकारी संस्थाओं की स्थापना की । उनकी विधवा और असमर्थ स्त्रियों से सम्बन्धित संस्थाओं का जिक्र तो ऊपर किया जा चुका है, पर श्री गंगाराम की परोपकारिता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था । वे देश की सभी त्रुटियों को देखते रहते थे और जब जिस काम को करने का अवसर मिल जाता उसी में सहयोग देकर देशोन्नति के लिये प्रयत्न करते थे ।

इसका एक कारण यह भी था कि स्वयं उनका जीवन गरीबी और कठिनाइयों से संघर्ष करते हुये आरम्भ हुआ था । इसलिये वे प्रत्येक ऐसे बेकार युवक के कष्टों और विपत्तियों को तुरन्त समझ लेते थे जो किसी जीवन निर्वाह के साधन की खोज में इधर-उधर ठोकर खा रहा हो । वह चाहे किसान हो, चाहे अछूत हो और चाहे स्कूल या कालेज से निकलकर नौकरी की खोज करने वाला । ऐसा जो कोई व्यक्ति जब कभी उनके सम्पर्क में आता तो उनको स्वयं अपने पुराने जीवन की याद आ जाती और वे हर तरह से उसकी सहायता करने को तैयार हो जाते ।

इस प्रकार के अवसर उनके बहुधन्धी और व्यस्त जीवन में प्रतिदिन ही आते रहते थे और उन्होंने इस प्रकार एक-एक करके भी जितने लोगों को रोजगार धन्धे से लगा दिया उनकी संख्या गिन सकना कठिन है । जिन व्यक्तियों के लिये अधिक आयु अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण अपना निर्वाह स्वयं कर सकना सम्भव न था उनके लिये वे आर्थिक सहायता भी देते रहते थे । यही कारण था कि जिस समय देहावसान होने के पश्चात् उनकी चिता-भस्म हरिद्वार में जुलूस के रूप में ले जाई जा रही थी, तो हजारों स्त्रियाँ और विधवाएँ रोती-बिलखती भस्म की पालकी पर फूल बरसा रही थीं और सहस्रों कण्ठों से 'गरीबों के वली की जय', 'विधवाओं के सहारे की जय', 'पंजाबी हातिमताई की जय' आदि के नारों से समस्त वातावरण गूँज रहा था ।

आपने एक बार अपने मित्र और पुराने सहयोगी-- राजा ज्वालाप्रसाद को, जो उस समय उत्तर प्रदेश के सर्वोच्च इन्जीनियर थे, लिखा-- "साथ में एक अभागे का पत्र भेज रहा हूँ । जरा देखिये कि कैसा विचित्र समय आ गया

है । वह युवक गणित में एम० ए० पास कर चुका है, फिर भी बेचारे को रोटी के एक टुकड़े के लिये दर-दर की ठोकरें खानी पड़ रही हैं । मानवता के नाते, यदि आप इसके लिये कुछ कर सकते हों तो अवश्य करें ।" इस तरह के सहायता के अधिकारी हमेशा ही आपके पास पहुँचते रहते थे और आप भी उनके साथ कोरी संवेदना प्रकट न करके उनके लिये कोई न कोई काम ढूँढ़ा करते थे । उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुये एक उदाहरण बतलाया– "मैंने एक बार एक पढ़े-लिखे नवयुवक को हिन्दू नानबाई (डबल रोटी, बिस्कुट बनाने वाला) की दुकान खोलने की सलाह दी । बहुत से हिन्दू डबल रोटी, बिस्कुट आदि को पसन्द करते हुए भी उन्हें मुसलमान या योरोपियनों की दुकान से नहीं खरीद सकते । उस नवयुवक ने मेरी बात मान ली और आज उसका व्यापार जोर-शोर से चल रहा है।"

जब इस प्रकार के युवकों की संख्या बहुत हो गई तो उन्होंने ऐसी बहुत-सी पुस्तकें इकट्ठी कीं, जिनमें बतलाया गया था कि सीमित पूँजी वाले लोग किस प्रकार जीविका उपार्जन कर सकते हैं । वे युवकों से कहते थे कि उनकी लाइब्रेरी में आकर उन पुस्तकों का अध्ययन करें और उनमें से अपनी रुचि और परिस्थिति के अनुकूल कोई मार्ग खोजें । उन्होंने अपने एक कर्मचारी को इसलिये नियुक्त कर रखा था कि वह हर रोज तमाम अखबारों से नौकरियों के विज्ञापन काटकर एक बोर्ड पर चिपका दिया करे । इस सरल ढंग से हजारों लोग अपने लायक काम की सूचना पाकर रोजगार से लग चुके हैं । आगे चलकर उन्होंने इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे दिया जिसका नाम था– "सर गंगाराम बिजनैस ब्यूरो एण्ड लाइब्रेरी ।" यह संस्था नवयुवकों को हर तरह के जीविकोपार्जन के कार्यों के लिये प्रोत्साहन करती रहती थी और आधुनिक औद्योगिक, व्यापारिक तथा व्यावसायिक विकास और सम्भावनाओं की सूचना देती रहती थी । ब्यूरो की तरफ से प्रति सप्ताह एक सभा का आयोजन भी किया जाता था जिसमें रोजगार ढूँढ़ने वाले नवयुवकों से विचार-विमर्श करके उनकी कठिनाइयों को हल करने का उपाय सुझाया जाता था ।

पर श्री गङ्गाराम यहीं पर नहीं रुके । उनका स्वभाव था कि जिस काम को हाथ में लेना उसकी जड़ तक पहुँच जाना । इसलिये जिस प्रकार आश्रयहीन स्त्रियों की समस्या में हाथ डालने पर उन्होंने एक के बाद एक कई संस्थाएँ स्थापित कीं और उनके द्वारा प्रत्येक स्तर की अभावग्रस्त महिला की सहायता का साधन प्रस्तुत किया, उसी प्रकार बेकार शिक्षित युवकों की सहायता करते-करते वे नई-नई संस्थाओं की योजना बनाते चले गये । जब उनके 'बिजनैस ब्यूरो' द्वारा इस प्रकार के युवकों से विचार-विमर्श किया जाता था तो उनकी स्थिति का अध्ययन करते-करते उनके मन में यह भी विचार आया कि आजकल की शिक्षा-संस्थाओं का पाठ्यक्रम ऐसा त्रुटिपूर्ण है, जिससे परीक्षा पास कर लेने पर भी विद्यार्थी में वास्तविक कार्य करने की योग्यता नहीं आती । इस त्रुटि का सुधार करने के लिये उन्होंने एक 'व्यापारिक विद्यालय' स्थापित करने का विचार किया और पंजाब के तत्कालीन गवर्नर सर मैल्कम हैली के पास जाकर अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा । कुछ समय बाद यह 'व्यापार-विद्यालय' सर मैल्कम हेली के नाम पर ही खोला गया और प्रतिवर्ष सैकड़ों छात्र उसमें शिक्षा प्राप्त करके सफलतापूर्वक जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने लगे । श्री गंगाराम जी की इन्हीं प्रवृत्तियों को देखकर एक बार मालवीय जी ने कहा था– "शिक्षितों बेकारों से जितनी संवेदना लाला गंगाराम की है, उतनी शायद ही किसी *अन्य व्यक्ति* को होगी ।"

सन् १९२४ में श्री गंगाराम ने 'हिन्दू व्यवसाय-समाज' की स्थापना की । इसकी तरफ से व्यावसायिक संस्थाओं में पढ़ने वाले निर्धन किन्तु सुयोग्य हिन्दू छात्रों के लिये छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती थीं । ये छात्रवृत्तियाँ देश की विभिन्न २५ व्यावसायिक संस्थाओं में बाँटी जाती थीं । आप उन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति नहीं देना चाहते थे जो कोई 'आदरणीय' रोजगार ढूँढ़ते फिरते थे, चाहे उसमें वेतन कम ही मिले । आप यह भी चाहते थे कि ऐसे युवक रोजगार में लगकर उन पर व्यय किये गये धन को लौटा दें, जिससे उसको अन्य उम्मीदवारों की सहायतार्थ लगाया जा सके । इस प्रकार वे थोड़े धन से बहुसंख्यक छात्रों की सहायता करना चाहते थे ।

उनके सेवा-भाव का एक पहलू दीन-दुःखियों का कष्ट निवारण भी था । इसके लिये उन्होंने 'सर गंगाराम चैरिटी डिस्पेन्सरी' की स्थापना की, और कुछ ही समय में इसे पंजाब में सबसे बड़ा धर्मार्थ अस्पताल बना दिया । इसमें आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के सभी यन्त्र मौजूद थे और लोग कहते थे कि लाहौर में 'मेयो-अस्पताल' के बाद दूसरा नम्बर इसी का है । इसमें किसी जाति या मजहब का व्यक्ति अपना इलाज मुफ्त करा सकता था । आगे चलकर इसके साथ एक पृथक् स्त्री-चिकित्सालय भी खोल दिया गया ।

जिस समय श्री गंगाराम लाहौर में कालेज की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तब एक छोटा-सा कमरा किराये पर लेकर

गुजर करते थे । एक दिन जब उनका ध्यान गणित के एक पेचीदा सवाल को हल करने में लगा था, वे मकान के भीतर बने कुएँ में गिर गये । मकान मालिक के नौकर कालू ने उनको तुरन्त ही बाहर निकाला । वर्षों बाद जब गंगाराम जी एक प्रसिद्ध व्यक्ति होकर हजारों दीन-दुःखियों का उपकार कर रहे थे वह कालू नौकर भी उनके पास आया । अब वह बहुत बुड्ढा और जीर्ण-शीर्ण हो गया था । गंगाराम जी अपने पुराने उपकारी को नहीं भूले थे और उन्होंने तुरन्त ही उसके भरण-पोषण की उचित व्यवस्था कर दी । साथ ही उनको ख्याल आया कि न मालूम ऐसे कितने 'कालू' जराजीर्ण अवस्था के कारण अपना अन्तिम समय भूखे-प्यासे रहकर आहें भरते हुए पूरा कर रहे होंगे । यह विचार आते ही उन्होंने कुछ ही समय बाद 'हिन्दू-अपाहिजखाना' की स्थापना की जिससे अनेक आश्रयहीन वृद्धों को अपना अन्तिम जीवन काटने की सुविधा प्राप्त हो गई ।

भारतीय कृषि में आधुनिक विधियों का प्रयोग

अपने देशवासियों की अनेक प्रकार से सेवा करते हुए भी श्री गंगाराम का मुख्य कार्य कुछ और ही था । जैसा वे गाँधी जी, मोतीलाल जी आदि अनेक जन-नायकों से कह चुके थे, उनकी सम्मति में भारत की सबसे बड़ी समस्या भूखे लोगों का पेट भरने की थी । जो लोग केवल व्याख्यान देकर राजनीतिक आन्दोलन से देशोद्धार का स्वप्न देख रहे थे, उनसे वे सदा व्यंगपूर्वक यही प्रश्न करते थे कि– "क्या उनके आन्दोलन से भूखी जनता का पेट भर सकेगा ?" यद्यपि इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहकर उनकी आलोचना करते थे कि वे 'सरकारी पिट्ठू' हैं, पर इस बात में सचाई बहुत कम थी । निस्सन्देह अपने प्रभाव और पुरानी कारगुजारियों के आधार पर वे बड़े-बड़े सरकारी अफसरों से घनिष्ठ परिचय रखते थे और उनसे सदा मिलते-जुलते थे, पर इसका कारण यह भी था कि वे जनता के हित के लिये कृषि, शिक्षा, उद्योग-धन्धे से सम्बन्धित जिन ठोस योजनाओं को क्रियान्वित करना चाहते थे उनमें बिना सरकारी सहयोग के पा सकना किसी प्रकार सम्भव न था ।

उदाहरण के लिये उनका सबसे बड़ा काम भारतीय कृषि में आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके देश की उपज को अधिक से अधिक बढ़ाना था । पर यह काम ऐसा था जिसमें कदम-कदम पर सरकारी सहयोग और सहायता की आवश्यकता पड़ती थी । इसकी चर्चा करते हुये 'पुरुषार्थ के पुतले' नामक पुस्तक में कहा गया है–

"श्री गंगाराम के जीवन का वह भाग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, जहाँ वे ऊसर जमीन को उपजाऊ बनाते हुए दिखाई देते हैं । यहीं उनका वह पुरुषार्थ दिखाई देता है, जिसकी आज हम सब प्रशंसा करते हैं और जिसके कारण स्वयं गंगाराम जी भी संसार में धन्य बन सके । जिस समय सन् १६०३ में गंगाराम जी ने सरकारी नौकरी छोड़ी, सरकार ने पुरस्कार स्वरूप चिनाव की नहर पर २० एकड़ भूमि प्रदान की । वह भूमि बहुत दिनों से बंजर के रूप में पड़ी थी । वे उसी को उपजाऊ बनाने में लग गये । उन्होंने वैज्ञानिक रीतियों का अवलम्बन करके उस भूमि को इतना अधिक उपजाऊ बना दिया कि देखने वाले आश्चर्यचकित रह गये । उनकी जमीन के पास ही कुछ और वैसी ही बंजर जमीन पड़ी थी । गंगाराम जी ने उस भूमि के लिये सरकार से निवेदन किया तो फिर ५० वर्ग एकड़ भूमि उनको दे दी गई । वह भूमि पानी के धरातल से बहुत ऊँची थी इसलिये उसमें कोई लाभदायक खेती न हो पाती थी । गंगाराम जी ने बहुत बड़ी मशीन लगाकर जल को ऊपर उठाया और इंजिनों की सहायता से समस्त जमीन को जल से तर कर दिया । फिर तो उस बंजर में भी हरे-हरे पौधे लहलहा उठे । सरकार भी इस करिश्मे को देखकर चकित रह गई और बहुत-सी जमीन परीक्षण के लिये और भी दी । इस प्रकार गंगाराम जी के पुरुषार्थ से एक बड़े भूखण्ड में, जहाँ पहले धूल ही उड़ती दिखाई पड़ती थी, अन्न की वर्षा होने लग गई ।"

इसमें सन्देह नहीं कि कृषि-उद्योग को नया रूप देकर श्री गंगाराम ने बहुत सम्पत्ति उपार्जन की, और इसीलिये कुछ लोग उन पर आक्षेप करने लग गये । पर एक निष्पक्ष व्यक्ति को उनके कार्य में कोई दोष इस कारण प्रतीत नहीं होता था कि एक तो उन्होंने इस प्रकार जो धन कमाया उसका एक बड़ा भाग सार्वजनिक सेवा के कार्यों में लगा दिया, और दूसरे उन्होंने इस प्रगति कार्य को अपने तक ही सीमित न रखा, वरन् अन्य लोगों को सदा यह प्रेरणा देते रहे कि वे उनका अनुकरण करके लाभ उठायें और साथ ही देश की उपज बढ़ाने में सहायक हों । यद्यपि उस समय लोगों ने उनके कार्य के महत्व को नहीं समझा, पर उसके तीस-चालीस वर्ष बाद आबादी बढ़ने से अनाज की जो कमी हुई और भारतवासियों को विदेश से अनाज मँगाकर प्राण-रक्षा करनी पड़ी, उससे यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि समय रहते कृषि-उद्योग की ओर पर्याप्त ध्यान न देकर हमने बहुत बड़ी भूल की थी । श्री गंगाराम का यह कथन कि "सबसे बड़ी राजनीति भूखी जनता का पेट भरना ही" इस समय पूरी तरह से सच होता जान पड़ रहा है ।

भूमि-सुधार द्वारा राष्ट्रीय-समस्या का समाधान

श्री गंगाराम ने हजारों एकड़ ऊसर जमीन को सिंचाई की व्यवस्था द्वारा उपजाऊ बनाकर बड़े-बड़े फार्म स्थापित किये थे । इन जमीनों में से अधिकांश आस-पास बहने वाली नहरों की सतह से कई-कई फुट ऊँची थी, इसलिये उनमें कोई फसल अच्छी तरह न होती थी । सरकारी कर्मचारियों ने स्वयं भी इन जमीनों की सिंचाई के लिये योजनायें बनाईं, पर बड़े अधिकारियों ने खर्च की अधिकता देखकर उनको नामंजूर कर दिया ।

पर समस्या इतने से ही नहीं सुलझ सकती थी । यह प्रथम महायुद्ध का जमाना था और सरकार ने पंजाब में हजारों सिपाही कृषि योग्य जमीन दिये जाने का प्रलोभन देकर भर्ती किये थे । पर जब इसी सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल की गई तो मालूम हुआ कि इस प्रकार की फालतू भूमि बहुत ही कम है और जब तक ऊसर भूमि को उपजाऊ न बनाया जायगा तब तक काम न चलेगा । तब एक सरकारी अफसर ने श्री गंगाराम का सहयोग प्राप्त करने का सुझाव दिया कि वे इस कार्य को किफायत के साथ करके सैनिकों के लिये आवश्यक भूमि की समस्या हल कर सकते हैं । जब इस बात की सूचना श्री गंगाराम को दी गई तो उन्होंने अन्नोत्पादन की वृद्धि को राष्ट्र के लिये हितकारी समझ कर इसे स्वीकार कर लिया ।

सरकारी शर्तें काफी कड़ी थीं । श्री गंगाराम को जमीन बहुत थोड़े समय के लिये दी गई थी और यह निश्चित किया गया था कि वे तीन वर्ष बाद उसको उपजाऊ बनाकर मय मशीनों के सिपाहियों को बसाने के लिये सरकार को लौटा देंगे । जनसाधारण की दृष्टि से गंगाराम जी का यह कार्य दिवालिया बन जाने की तैयारी के समान था । पर उनको अपनी सूझ-बूझ और व्यवस्था सम्बन्धी योग्यता पर विश्वास था । इससे उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी वे उस पर डटे रहे । इस सम्बन्ध में उनके जीवनचरित्र के लेखक का कथन है-

"यह एक साहसपूर्ण कार्य था । सरकार को तो विश्वास ही न होता था । कहा जाता है कि इस विषय में पंजाब के फायनेस कमिश्नर सर जान मेयनार्ड लैफ्टिनेंट गर्वनर से कई बार मिले ।कुछ दिनों तक तो वे इस समस्त योजना को ऊटपटाँग समझते रहे, जिससे वे अपने मित्र गंगाराम को बचाना चाहते थे । कदाचित सरकार उनकी पहली एक योजना की तरह इसे भी अस्वीकार कर देती, पर इस अवसर पर वह स्वयं एक कठिन परिस्थिति में पड़ी हुई थी । आवश्यकता के आगे भला कानून का क्या जोर ? और अन्त में गंगाराम जी की योजना स्वीकार कर ली गई ।

कार्य का निश्चय होते ही उन्होंने बड़ी तत्परता से योजना पूरी करने में परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने हर तरह से मितव्ययिता से काम लिया जिससे एक पाई भी व्यर्थ में खर्च न हो । उनको अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा, पर उन्होंने सब पर अपने बुद्धिबल से विजय प्राप्त कर ली । साथ ही लड़ाई के कारण अनाज का भाव बहुत मँहगा हो गया, जिससे उनको कृषि की उपज पर काफी लाभ मिला । इसका अधिकांश भाग उन्होंने परोपकार के कामों में खर्च किया ।

इस कार्य में सफलता प्राप्त करके दिखला देने पर सरकार का विश्वास उन पर जम गया और फिर उनको ४० हजार एकड़ भूमि ठीक करने को दी गई । इसकी शर्तें पहले की अपेक्षा कड़ी थीं और सरकार बिना एक पैसा भी लगाये सात वर्ष बाद समस्त जमीन पर अधिकार कर लेने वाली थी । यद्यपि यह कार्य अधिकांश लोगों को असम्भव जान पड़ा । पर श्री गंगाराम इस कार्य को केवल एक व्यापार की दृष्टि से ही नहीं देखते थे, वरन् कृषि योग्य भूमि की वृद्धि करने का कार्य उनको समस्त देशवासियों के लिये परम कल्याणकारी जान पड़ता था । इसलिये उन्होंने उस वृद्धावस्था में भी परिश्रम और व्यय की परवाह न करके इस कार्य को ऐसी कुशलता से पूरा कर दिखाया कि सब लोगों के मुँह से 'धन्यवाद' और 'वाह-वाह' के शब्द ही सुनाई पड़ने लगे । स्वयम् पंजाब के गवर्नर ने एक विशाल जनसमूह के सम्मुख कहा-

"श्री गंगाराम ने अपने प्रांत के लिये जो महान काम किया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है । उन्हें हार्दिक बधाई देने में हमें तनिक भी ईर्ष्या नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वे एक वीर की भाँति जीतना ही नहीं जानते बल्कि साधु की भाँति दे डालना भी जानते हैं । मुझे यह सोचकर विस्मय होता है कि इन जैसा नम्र हृदय सज्जन पुरुष व्यापार में इतना चतुर कैसे हो गया ? बहुत ही लम्बे समय तक लोग उनके उदार और कृतज्ञ स्वभाव को नहीं भूलेंगे । हमेशा ही उनका नाम बड़े स्नेह के साथ लिया जायगा ।"

यह श्री गंगाराम की अतुलनीय योग्यता और हार्दिक लगन का ही परिणाम था कि वे ऐसी कठिन योजनाओं को फलीभूत बनाने में कृतकार्य हुये अन्यथा अन्य देशों के उदाहरण को देखते हुये भारत की अंग्रेज सरकार ने इस राष्ट्रीय सुरक्षा की योजना के प्रति जो व्यवहार किया उसे उपेक्षणीय ही कहा जा सकता है ।

जिस समय सन् १६१७-१८ में श्री गंगाराम पंजाब में अपने समस्त साधनों को लगाकर एक राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति में संलग्न थे, उसी समय अमरीका में कैम्पबेल ने भी ऐसी ही भूमि-सुधार की योजना को कार्यरूप में परिणित करने का बीड़ा उठाया था । उन दिनों अमरीका के लाखों व्यक्ति सेना में सिपाही का काम करने और गोला बारूद के कारखानों में मजदूरी करने को चले गये थे, इसलिये वहाँ भी अन्न की कमी पड़ने लग गई थी । इसलिये कैम्पबेल ने खाली पड़ी हुई दो लाख एकड़ भूमि में मशीनों से खेती करने की योजना बनाकर सरकार के सामने पेश की । अमरीका के राष्ट्रपति ने उस पर विश्वास करके तुरन्त मंजूरी दे दी और बैंकों ने भी उनकी योग्यता को समझ कर बीस लाख डालर (पैंसठ लाख रुपया) कर्ज देना स्वीकार कर लिया ।

कैम्पवेल ने अपनी योजना के सम्बन्ध में कहा है कि "इंजीनियरिंग ज्ञान की यदि संसार में कहीं भी सबसे अधिक जरूरत है तो वह 'कृषि-फार्म' ही है । मनुष्य की या घोड़े की (योरोप, अमरीका मे पहले घोड़े ही हल जोतते थे) शक्ति बहुत क्षीण है । हमें शीघ्रता और विशाल शक्ति चाहिये-- जिसका अर्थ है-- मशीनें ।" कैम्पबेल ने अपने विश्वास के अनुसार खेती का पूरा काम मशीनो से लिया और कुछ ही समय में एक लाख दस हजार एकड़ बंजर जमीन में लहलहाती हुई फसल पैदा करके दिखा दी, जिससे करोड़ों व्यक्तियों को रोटी मिल सकने की व्यवस्था हो गई ।

जो काम कैम्पबेल ने अमरीका में किया वही श्री गंगाराम ने भारत में कर दिखाया । उनके पास अमरीका जैसे साधन न थे और न यहाँ की विदेशी सरकार राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर पूरा सहयोग दे रही थी, तो भी उन्होंने अपने साहस, परिश्रम तथा योग्यता से असम्भव काम को सम्भव कर दिखाया और साथ ही अपने अनेक देशवासियों के लिये उसी मार्ग पर चलकर प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर दिया ।

अमरीका के सबसे प्रसिद्ध मोटर-निर्माता तथा उद्योगपति 'हेनरी फोर्ड का भी यही कथन है कि आजकल का किसान सब कामों को हाथ से करके बहुत ही कम लाभ उठा पाता है । उनका मत यह है कि 'औसत दर्जे का किसान लाभदायक काम में अपनी शक्ति का केवल पाँच प्रतिशत भाग लगाता है इसलिये खेती की पैदावार सस्ती होने पर भी मँहगी पड़ती है । यह सब श्रम व शक्ति का दुरुपयोग है । हम कृषि-फार्म के कार्य को भी एक कारखाने के रूप में चलाते है, जिससे उसमें सदैव अन्य किसानों की अपेक्षा बहुत अधिक लाभ रहता है ।"

यद्यपि हम व्यक्तिगत रूप से मशीनों के अत्यधिक प्रयोग के पक्षपाती नहीं हैं, पर इस समय संसार में उसी की हवा बह रही है । इसलिये यदि भारत को अन्य देशों की प्रतियोगिता में टिकना है तो उसे भी मशीनों द्वारा खेती के कार्य की पद्धति को अपनाना पड़ेगा । श्री गंगाराम ने पचास वर्ष पहले इसी तथ्य को समझाया था ।

अन्तिम समय तक आदर्श पर दृढ़

एक महापुरुष के समान श्री गंगाराम जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने आदर्श पर दृढ़ रहे और जैसा महात्मा गाँधी ने लिखा है 'उन्होंने कर्तव्य-पालन करते हुये कर्म-क्षेत्र में ही अपने प्राण दिये । सन् १६२७ में उनको भारतवर्ष में कृषि-विकास के लिये नियुक्त 'रायल एग्रीकल्चरल कमीशन' का सदस्य बनाया गया । उनको यह सम्मान इसीलिये मिला था कि भारतीय कृषि के सम्बन्ध में जितना व्यावहारिक ज्ञान उनको था वह कहीं अन्यत्र नहीं पाया जा सकता था । उस समय उनकी आयु ७६ वर्ष की हो चुकी थी और शरीर में काफी शिथिलता आ गई थी । वे अपनी इस स्थिति को जानते थे, पर भारतीय किसानों की कल्याण-कामना से उन्होंने इसे स्वीकार करके लन्दन तक की यात्रा का भार उठाया था । रेल में उन्होंने अपने कुछ मित्रों से कहा-- "आपका युवक वर्ग कुछ भी नहीं कर रहा है-- आपको वही करना चाहिये जो ईश्वर मुझसे करवा रहा है । मुझे अपनी आयु पर अब भरोसा नहीं रहा, किन्तु फिर भी मैं विदेश यात्रा कर रहा हूँ ।"

अपने मित्र सर मैल्कम हेली से विदा लेते हुये भी उन्होंने यही कहा-- "अब मैं भारत वापस नहीं लौटूँगा ।" इस सम्बन्ध में सर हेली ने लिखा है-- "वास्तव में उनके वापस लौटने की सम्भावना बहुत कम थी, किन्तु उन्हें अपने निश्चय से डिगाया नहीं जा सकता था । वे जानते थे कि जिस कार्य को करने का उन्होंने बीड़ा उठाया है, उससे देश का लाभ होगा । स्वयं मुझमें भी उनके रोकने की क्षमता नहीं थी । मेरी तरह उनको भी मालूम हो गया था कि उनकी आयु बहुत कम रह गई है, पर वे अपने अन्तिम क्षण को भी मानवता की सेवा में लगाना चाहते थे ।"

वे अपने निश्चय के अनुसार लन्दन पहुँचे और वहाँ रहकर रायल कमीशन के सदस्यों को जो कुछ परामर्श दे सकते थे, वह देते रहे । पर उनका स्वास्थ्य निरन्तर निर्बल होता गया और १० जनवरी १६२७ को लन्दन में ही उनका देहावसान हो गया ।

एक दिन वह था जब मैट्रिक पास कर लेने पर वे अकस्मात् प्रधान इन्जीनियर की कुर्सी पर जा बैठे थे । उस

भूमि-सुधार द्वारा राष्ट्रीय-समस्या समाधान

श्री गंगाराम ने हजारों एकड़ ऊसर जमीन को ि की व्यवस्था द्वारा उपजाऊ बनाकर बड़े-बड़े फार्म र किये थे । इन जमीनों में से अधिकांश आस-पास वाली नहरों की सतह से कई-कई फुट ऊँची थी, इ उनमें कोई फसल अच्छी तरह न होती थी । र कर्मचारियों ने स्वयं भी इन जमीनों की सिंचाई ि योजनायें बनाईं, पर बड़े अधिकारियों ने खर्च की अ देखकर उनको नामंजूर कर दिया ।

पर समस्या इतने से ही नहीं सुलझ सकती थी प्रथम महायुद्ध का जमाना था और सरकार ने पं हजारों सिपाही कृषि योग्य जमीन दिये जाने का देकर भर्ती किये थे । पर जब इसी सम्बन्ध में जाँच- की गई तो मालूम हुआ कि इस प्रकार की फालतू भू ही कम है और जब तक ऊसर भूमि को उपजाऊ न जायगा तब तक काम न चलेगा । तब एक सरकारी ने श्री गंगाराम का सहयोग प्राप्त करने का सुझाव ि वे इस कार्य को किफायत के साथ करके सैनिकों आवश्यक भूमि की समस्या हल कर सकते हैं । बात की सूचना श्री गंगाराम को दी गई तो उन्होंने अ की वृद्धि को राष्ट्र के लिये हितकारी समझ कर इसे कर लिया ।

सरकारी शर्तें काफी कड़ी थीं । श्री गंगाराम ब बहुत थोड़े समय के लिये दी गई थी और यह निश्चि गया था कि वे तीन वर्ष बाद उसको उपजाऊ बन मशीनों के सिपाहियों को बसाने के लिये सरकार देंगे । जनसाधारण की दृष्टि से गंगाराम जी का दिवालिया बन जाने की तैयारी के समान था । अपनी सूझ-बूझ और व्यवस्था सम्बन्धी योग्यता प था । इससे उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी वे उर रहे । इस सम्बन्ध में उनके जीवनचरित्र के र कथन है-

"यह एक साहसपूर्ण कार्य था । सरका विश्वास ही न होता था । कहा जाता है कि इर पंजाब के फायनेंस कमिश्नर सर जान मेयनार्ड गर्वनर से कई बार मिले ।कुछ दिनों तक तो वे योजना को ऊटपटाँग समझते रहे, जिससे वे गंगाराम को बचाना चाहते थे । कदाचित सर पहली एक योजना की तरह इसे भी अस्वीकार पर इस अवसर पर वह स्वय एक कठिन परिस्थि

वहाँ वे लगभग २३ वर्ष तक गणित पढ़ाते रहे और १६१४ में स्वयं अपनी इच्छा से त्यागपत्र देकर निवृत्त हुए।

समाज-सेवा और समाज-सुधार अण्णा साहब के शुरू से ही बड़े प्रिय विषय रहे थे। बिल्कुल बचपन में पाठशाला में पढ़ते समय उन्होंने एक वाचनालय चलाया था, जहाँ वे लोगों को अखबार पढ़कर सुनाया करते थे। उनके गुरुजी द्वारा चलाये गये एक सहकारी भण्डार में भी उन्होंने काम किया था। बम्बई में भी वे अपने वेतन में से फी रुपया एक आना धर्मादा के तौर पर अलग निकालकर रखते थे और उस पैसे का उपयोग निर्धन विद्यार्थियों की पढ़ाई के लिए करते थे।

सन् १८६१ में अण्णा साहब की पत्नी का स्वर्गवास होने पर उन्होंने १८६३ में गोदावरी नामक एक विधवा के साथ पुनर्विवाह किया। उसका नाम उन्होंने आनन्दी रखा। आनन्दी बाई ने आगे चलकर अण्णा साहब के समाज-सुधार के कार्य में बड़ा योग दिया। इस विधवा विवाह के कारण अण्णा साहब को भारी आपत्तियों का सामना करना पड़ा क्योंकि तब तक ब्राह्मण समाज में विधवा-विवाह निंदनीय अपराध माना जाता था। जब विवाह के बाद वे अपनी पत्नी के साथ अपने गाँव गए तो वहाँ के ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया। बहिष्कार में तीन बातें कही गई थीं (१) अण्णा साहब के साथ कोई एक बैठक पर न बैठे। (२) वे जिस सभा समाज में हों वहाँ कोई उपस्थित न रहे। (३) इसके बाद वे फिर अपने घर आयें तो घर वालों का भी बहिष्कार किया जाए।

परन्तु इस बहिष्कार से अण्णासाहब अपने निश्चय से बिल्कुल विचलित नहीं हुए। अपने साथ किये जाने वाले अन्याय को वे धीरज के साथ सहते रहे। फलस्वरूप वह समय भी आया, जब उन पर निंदा के पत्थर बरसाने वालों ने उन पर प्रशंसा के फूल बरसाए।

विधवा-विवाह की आवश्यकता को लोगों को समझाने के उद्देश्य से अण्णा साहब ने उसी वर्ष "विधवा-प्रतिबन्ध निवारण-मण्डल" नामक एक संस्था की स्थापना की। इस सुधार का महत्व लोगों को समझाने के लिए अण्णासाहब गर्मी की छुट्टियों में दीवाली या बड़े दिन की छुट्टियों में जब भी मौका मिले, गाँव-गाँव जाते थे व्याख्यान देते थे और लोगों को समझाते थे। उनकी शंकाओं का निवारण करते थे। हर काम के लिए वे अपनी गाँठ से ही पैसा खर्च करते थे।

परन्तु विधवाओं की समस्या केवल पुनर्विवाह के प्रचार से हल होने वाली नहीं थी। उसके लिए आवश्यक था कि विधवाओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाए। इसी दृष्टि से सन् १८६३ में उन्होंने 'अनाथ विधवाश्रम' नामक संस्था की स्थापना की। इसके अध्यक्ष डॉ० सर रामकृष्णगोपाल भांडारकर थे और कर्वे जी सचिव। इस संस्था को अण्णा साहब ने अपनी ओर से एक हजार रुपये दिए और ५ हजार रुपयों की अपने बीमे की पालसी भी दान कर दी। तीन साल के बाद इस संस्था का नाम बदलकर 'अनाथ बालिकाश्रम किया।' इस सज्जन ने पूना से तीन मील की दूरी पर हिंगने गाँव के पास जिसका नाम अब कर्वेनगर हो गया है– इस आश्रम के लिए ६ एकड़ जमीन दान में दी, इसलिए सन् १६०० में यहाँ एक छोटी सी कुटिया बनाकर उसमें आश्रम का काम चलाया जाने लगा। इन दिनों अण्णा साहब फर्ग्यूसन कालेज में अध्यापक थे। अतः दिन भर कालेज का काम करके शाम को वे आश्रम में पहुँच जाते थे। वहाँ रात को और सुबह लड़कियों को पढ़ाते और दूसरे दिन पैदल ही पूना लौट आते। बरसात और जाड़ों के दिनों में शहर से दूर अँधेरे में कच्ची सड़क पर पैदल चलकर जाना-आना सचमुच बड़ी तपस्या थी।

परन्तु केवल शारीरिक कष्टों से काम नहीं चल सकता था। संस्था के लिए धन भी चाहिए था। जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे पैसे की तंगी बढ़ती गई। इस आर्थिक संकट को दूर करने के लिए अण्णा साहब दूर-दूर के नगरों में जाकर चन्दा इकट्ठा करते थे। कुछ लोग स्वेच्छा से रुपया भेज देते थे। उनमें बड़े पूँजीपतियों से लेकर साधारण क्लर्क तक सभी श्रेणियों के लोग होते थे। महात्मा गाँधी भी वार्षिक दस रुपया देकर इस संस्था के सदस्य बन गए थे और उन्होंने अपनी पत्रिका 'यंग इण्डिया' में इस संस्था की प्रशंसा में एक लेख भी लिखा था।

विधवाओं का सवाल अवश्य बड़ा जटिल था पर उससे भी विकट समस्या स्त्रियों की शिक्षा की थी। उसे हल करने के लिए महर्षि अण्णा साहब कर्वे ने सन् १६०७ में 'महिला विद्यालय' नामक संस्था स्थापित की। उसके लिए अण्णा साहब ने स्वयं तीन हजार रुपये दिए। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त उन्होंने समाज सेवा करने वालों की परम्परा निर्माण करने के लिए एक और संस्था की स्थापना की, जिसका नाम था, 'निष्काम कर्म मठ'। आगे चलकर अनाथ बालिकाश्रम, 'महिला विद्यालय' और 'निष्काम कर्म मठ' इन तीनों संस्थाओं का एकीकरण हुआ और उस नई संस्था का नाम 'महिला श्रम' रखा गया।

अण्णा साहब समाज-सेवा के क्षेत्र से धीरे-धीरे शिक्षा के क्षेत्र की ओर अग्रसर होते गए। अब उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि स्त्रियों के लिए उपयुक्त

पर से उठा दिये जाने के कारण उन्होंने उससे भी बड़ा इन्जीनियर बनने की प्रतिज्ञा की और कुछ समय में उसे पूरा करके दिखा दिया । पर वे केवल मकानों, सड़कों और पुलों के बनाने वाले इन्जीनियर ही बनकर नहीं रह गये, वरन् उन्होंने इससे बहुत आगे बढ़कर लाखों लोगों के टूटे-फूटे शरीरों और मन की रक्षा करने और उन्हें उपयोगी मार्ग पर लाने का 'दिव्य-कर्म' भी पूरा किया । उनसे बड़े धनवान तो देश में हजारों पड़े हैं, पर जिनका धन उनकी तरह जरूरतमन्दों के काम आया और अनगिनती लोगों का सहारा बना, वैसे महापुरुष थोड़े ही मिल सकेंगे ।

नारी जागरण के सन्देश वाहक महर्षि कर्वे

महर्षि धोंडो केशव उर्फ अण्णा साहब कर्वे का जन्म आज से १३६ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र के कोंकण प्रान्त में मुरुड़ गाँव में सन् १८५८ के १८ अप्रैल को हुआ था । वैसे उनकी बुद्धि बहुत कुशाग्र नहीं थी, पर शिक्षा की लगन उनमें बिल्कुल शुरू से ही थी । घर की गरीबी के कारण भी शायद वे पढ़ाई की ओर आवश्यक ध्यान न दे सके हों। फलस्वरूप चौथी कक्षा में ही वे फेल हो गये । फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी । पढाई को जिद के साथ जारी रखा । उन दिनों छठी कक्षा की सरकारी परीक्षा होती थी । और जिस विद्यार्थी की उम्र अट्ठारह वर्ष की हो, वही उसमें बैठ सकता था । जब अण्णा साहब सत्रह वर्ष पूरे कर चुके तो उन्होंने छठी की परीक्षा में बैठने का निश्चय किया । मगर इस छठी की परीक्षा से उन्हें छठी का दूध याद आया । परीक्षा सितम्बर में थी । बरसात के दिन और कोंकण की मूसलाधार वर्षा । मुरुड़ से रत्नागिरि नगर नजदीक था—केवल ३० कोस का फासला था पर धुआँधार वर्षा के कारण रत्नागिरि जाना असम्भव था । इसलिए उन्होंने सतारा जाने का निश्चय किया, जो मुरुड़ से १०८ मील दूर था । सवारी का कोई प्रबन्ध तो था नहीं। इसलिए अपने चार साथियों के साथ अण्णासाहब पैदल ही दौड़ते-भागते किसी तरह परीक्षा के दिन सतारा पहुँच गये।

परन्तु जब अण्णा साहब परीक्षक के सामने जा खड़े हुए तो उनके अट्ठारह वर्ष के होने पर परीक्षक को विश्वास ही नहीं हुआ । अण्णा साहब शुरू से ही बहुत दुबले-पतले थे । उनका कद भी बिल्कुल नाटा था । इसलिए परीक्षक को उनकी आयु के बारे में शक होना स्वाभाविक था । अण्णा साहब ने अपने विद्यालय के प्रमाण-पत्र पेश किए, पर उन्हें भी परीक्षक ने मानने से इंकार किया । बेचारे अण्णा साहब को हाथ मलकर रह जाना पड़ा । अगले साल वह कोल्हापुर चले गए और वहाँ से छठी की परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद वे बम्बई पहुँचे । वहाँ उन्हें एक छात्र वृत्ति मिली कुछ ट्यूशन भी वे करने लगे । इस प्रकार बड़े परिश्रम के साथ कठिनाई में विद्याभ्यास कर वे सन् १८८१ अर्थात् आयु के २३ वर्ष पूर्ण कर चुकने के बाद मैट्रिक पास हुए । इसके बाद सन् १८८४ मे वे बी० ए० हो गए ।

बी० ए० करने के बाद उन्होंने अध्यापक का पेशा ग्रहण करने का निश्चय किया परन्तु उसमें भी उनका प्रभावहीन व्यक्तित्व उनके मार्ग में रोड़े अटकाता रहा । उनका नाटा— कद और दुबला-पतला शरीर देखकर बम्बई एल्फिन्स्टन हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक को ऐसा लगा कि वे छात्रों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेंगे । इसलिए उन्होंने अण्णा साहब को नौकरी देने से इन्कार कर दिया । परन्तु सौभाग्य से एल्फिन्स्टन कालेज के गोरे प्रिन्सीपल अण्णा साहब को भली-भाँति जानते थे । इसलिए उनकी सिफारिश से किसी तरह अण्णा साहब को एल्फिन्स्टन हाईस्कूल में नौकरी मिल गई । उनकी कक्षा के कई छात्र उनसे मोटे-ताजे और हट्टे-कट्टे थे । उन्होंने इस नये शिक्षक को बुद्धू बनाने की कोशिश की मगर कर्वे जी अपना गणित विषय इतनी अच्छी तरह से पढ़ाते थे कि अन्त में वे छात्र हारकर उनके विनीत शिष्य बन गए । थोड़े ही दिनों में अण्णा साहब एक सफल शिक्षक समझे जाने लगे । पढ़ाने के काम में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी, इसलिए पढ़ाते समय वे बड़े तल्लीन हो जाते थे और अपने छात्रों को भी उनका विषय बड़ी अच्छी तरह समझाते थे । सन् १८८७ में उन्होंने एम० ए० की परीक्षा दी पर असफल रहे । इसके बाद उन्होंने फिर कभी परीक्षा का नाम नहीं लिया ।

एल्फिन्स्टन कालेज में अण्णा साहब के सहपाठी महान भारत सेवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले भी थे । वे पूना के फर्ग्यूसन कालेज मे गणित के प्राध्यापक थे । जब १८८१ में कालेज में बी० ए० की परीक्षा खुली तो गणित के प्राध्यापक का एक स्थान रिक्त हो गया । उस स्थान के लिए गोखलेजी ने अण्णा साहब को निमंत्रित किया । उन दिनों पूना का वातावरण पूर्णतया शिक्षामय था । तिलक, आगरकर, गोखले जैसे दिग्गज शिक्षा-शास्त्रियों और त्यागी देशभक्तों द्वारा चलाए गए फर्ग्यूसन कालेज में काम करने का अवसर मानो स्वर्ण-अवसर समझा जाता था । बड़ी-बड़ी तनख्वाहों वाली सरकारी सेवाओं की ओर पीठ फेरकर मेधावी युवक इस संस्था में काम करने को उत्सुक रहते थे । इसलिए अण्णा साहब ने गोखलेजी जी के आमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर फर्ग्यूसन कालेज मे प्रवेश किया ।

वहाँ वे लगभग २३ वर्ष तक गणित पढ़ाते रहे और १६१४ में स्वयं अपनी इच्छा से त्यागपत्र देकर निवृत्त हुए।

समाज-सेवा और समाज-सुधार अण्णा साहब के शुरू से ही बड़े प्रिय विषय रहे थे। बिल्कुल बचपन में पाठशाला में पढ़ते समय उन्होंने एक वाचनालय चलाया था, जहाँ वे लोगों को अखबार पढ़कर सुनाया करते थे। उनके गुरुजी द्वारा चलाये गये एक सहकारी भण्डार में भी उन्होंने काम किया था। बम्बई में भी वे अपने वेतन में से फी रुपया एक आना धर्मादा के तौर पर अलग निकालकर रखते थे और उस पैसे का उपयोग निर्धन विद्यार्थियों की पढ़ाई के लिए करते थे।

सन् १८६१ में अण्णा साहब की पत्नी का स्वर्गवास होने पर उन्होंने १८६३ में गोदावरी नामक एक विधवा के साथ पुनर्विवाह किया। उसका नाम उन्होंने आनन्दी रखा। आनन्दी बाई ने आगे चलकर अण्णा साहब के समाज-सुधार के कार्य मे बड़ा योग दिया। इस विधवा विवाह के कारण अण्णा साहब को भारी आपत्तियों का सामना करना पड़ा क्योंकि तब तक ब्राह्मण समाज में विधवा-विवाह निंदनीय अपराध माना जाता था। जब विवाह के बाद वे अपनी पत्नी के साथ अपने गाँव गए तो वहाँ के ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया। बहिष्कार में तीन बातें कही गई थीं (१) अण्णा साहब के साथ कोई एक बैठक पर न बैठे। (२) वे जिस सभा समाज मे हो वहाँ कोई उपस्थित न रहे। (३) इसके बाद वे फिर अपने घर आयें तो घर वालों का भी बहिष्कार किया जाए।

परन्तु इस बहिष्कार से अण्णासाहब अपने निश्चय से बिल्कुल विचलित नहीं हुए। अपने साथ किये जाने वाले अन्याय को वे धीरज के साथ सहते रहे। फलस्वरूप वह समय भी आया, जब उन पर निंदा के पत्थर बरसाने वालो ने उन पर प्रशंसा के फूल बरसाए।

विधवा-विवाह की आवश्यकता को लोगों को समझाने के उद्देश्य से अण्णा साहब ने उसी वर्ष "विधवा-प्रतिबन्ध निवारण-मण्डल" नामक एक संस्था की स्थापना की। इस सुधार का महत्व लोगों को समझाने के लिए अण्णासाहब गर्मी की छुट्टियों में दीवाली या बड़े दिन की छुट्टियों में जब भी मौका मिले, गाँव-गाँव जाते थे व्याख्यान देते थे और लोगों को समझाते थे। उनकी शंकाओं का निवारण करते थे। हर काम के लिए वे अपनी गाँठ से ही पैसा खर्च करते थे।

परन्तु विधवाओं की समस्या केवल पुनर्विवाह के प्रचार से हल होने वाली नहीं थी। उसके लिए आवश्यक था कि विधवाओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाए। इसी दृष्टि से सन् १८६३ में उन्होंने 'अनाथ विधवाश्रम' नामक संस्था की स्थापना की। इसके अध्यक्ष डॉ० सर रामकृष्णगोपाल भांडारकर थे और कर्वे जी सचिव। इस संस्था को अण्णा साहब ने अपनी ओर से एक हजार रुपये दिए और ५ हजार रुपयों की अपने बीमे की पालसी भी दान कर दी। तीन साल के बाद इस संस्था का नाम बदलकर 'अनाथ बालिकाश्रम किया।' इस सज्जन ने पूना से तीन मील की दूरी पर हिंगने गाँव के पास जिसका नाम अब कर्वेनगर हो गया है-- इस आश्रम के लिए ६ एकड़ जमीन दान में दी, इसलिए सन् १६०० में वहाँ एक छोटी सी कुटिया बनाकर उसमें आश्रम का काम चलाया जाने लगा। इन दिनों अण्णा साहब फार्ग्यूसन कालेज में अध्यापक थे। अतः दिन भर कालेज का काम करके शाम को वे आश्रम में पहुँच जाते थे। वहाँ रात को और सुबह लड़कियों को पढ़ाते और दूसरे दिन पैदल ही पूना लौट जाते। बरसात और जाड़ों के दिनों में शहर से दूर अँधेरे में कच्ची सड़क पर पैदल चलकर जाना-आना सचमुच बड़ी तपस्या थी।

परन्तु केवल शारीरिक कष्टों से काम नहीं चल सकता था। संस्था के लिए धन भी चाहिए था। जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे पैसे की तंगी बढ़ती गई। इस आर्थिक संकट को दूर करने के लिए अण्णा साहब दूर-दूर के नगरों में जाकर चन्दा इकट्ठा करते थे। कुछ लोग स्वेच्छा से रुपया भेज देते थे। उनमें बड़े पूँजीपतियों से लेकर साधारण क्लर्क तक सभी श्रेणियों के लोग होते थे। महात्मा गाँधी भी वार्षिक दस रुपया देकर इस संस्था के सदस्य बन गए थे और उन्होंने अपनी पत्रिका 'यंग इण्डिया' में इस संस्था की प्रशंसा में एक लेख भी लिखा था।

विधवाओं का सवाल अवश्य बड़ा जटिल था पर उससे भी विकट समस्या स्त्रियों की शिक्षा की थी। उसे हल करने के लिए महर्षि अण्णा साहब कर्वे ने सन् १६०७ में 'महिला विद्यालय' नामक संस्था स्थापित की। उसके लिए अण्णा साहब ने स्वयं तीन हजार रुपये दिए। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त उन्होंने समाज सेवा करने वालों की परम्परा निर्माण करने के लिए एक और संस्था की स्थापना की, जिसका नाम था, 'निष्काम कर्म मठ'। आगे चलकर अनाथ बालिकाश्रम, 'महिला विद्यालय' और 'निष्काम कर्म मठ' इन तीनों संस्थाओं का एकीकरण हुआ और उस नई संस्था का नाम 'महिला श्रम' रखा गया।

अण्णा साहब समाज-सेवा के क्षेत्र से धीरे-धीरे शिक्षा के क्षेत्र की ओर अग्रसर होते गए। अब उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि स्त्रियों के लिए उपयुक्त

पर से उठा दिये जाने के कारण उन्होंने उससे भी बड़ा इन्जीनियर बनने की प्रतिज्ञा की और कुछ समय में उसे पूरा करके दिखा दिया । पर वे केवल मकानों, सड़कों और पुलों के बनाने वाले इन्जीनियर ही बनकर नहीं रह गये, वरन् उन्होंने इससे बहुत आगे बढ़कर लाखों लोगों के टूटे-फूटे शरीरों और मन की रक्षा करने और उन्हें उपयोगी मार्ग पर लाने का 'दिव्य-कर्म' भी पूरा किया । उनसे बड़े धनवान तो देश में हजारों पड़े हैं, पर जिनका धन उनकी तरह जरूरतमन्दों के काम आया और अनगिनती लोगों का सहारा बना, वैसे महापुरुष थोड़े ही मिल सकेंगे ।

नारी जागरण के सन्देश वाहक महर्षि कर्वे

महर्षि धोंडो केशव उर्फ अण्णा साहब कर्वे का जन्म आज से १३६ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र के कोंकण प्रान्त में मुरुड़ गाँव में सन् १८५८ के १८ अप्रैल को हुआ था । वैसे उनकी बुद्धि बहुत कुशाग्र नहीं थी, पर शिक्षा की लगन उनमें बिल्कुल शुरू से ही थी । घर की गरीबी के कारण भी शायद वे पढ़ाई की ओर आवश्यक ध्यान न दे सके हों। फलस्वरूप चौथी कक्षा में ही वे फेल हो गये । फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी । पढाई को जिद के साथ जारी रखा । उन दिनों छठी कक्षा की सरकारी परीक्षा होती थी । और जिस विद्यार्थी की उम्र अट्ठारह वर्ष की हो, वही उसमें बैठ सकता था । जब अण्णा साहब सत्रह वर्ष पूरे कर चुके तो उन्होंने छठी की परीक्षा में बैठने का निश्चय किया । मगर इस छठी की परीक्षा से उन्हें छठी का दूध याद आया । परीक्षा सितम्बर में थी । बरसात के दिन और कोंकण की मूसलाधार वर्षा । मुरुड से रत्नागिरि नगर नजदीक था--केवल ३० कोस का फासला था पर धुआँधार वर्षा के कारण रत्नागिरि जाना असम्भव था । इसलिए उन्होंने सतारा जाने का निश्चय किया, जो मुरुड़ से १०८ मील दूर था । सवारी का कोई प्रबन्ध तो था नहीं। इसलिए अपने चार साथियों के साथ अण्णासाहब पैदल ही दौड़ते-भागते किसी तरह परीक्षा के दिन सतारा पहुँच गये।

परन्तु जब अण्णा साहब परीक्षक के सामने जा खड़े हुए तो उनके अट्ठारह वर्ष के होने पर परीक्षक को विश्वास ही नहीं हुआ । अण्णा साहब शुरू से ही बहुत दुबले-पतले थे । उनका कद भी बिल्कुल नाटा था । इसलिए परीक्षक को उनकी आयु के बारे मे शक होना स्वाभाविक था । अण्णा साहब ने अपने विद्यालय के प्रमाण-पत्र पेश किए, पर उन्हें भी परीक्षक ने मानने से इंकार किया । बेचारे अण्णा साहब को हाथ मलकर रह जाना पड़ा । अगले साल वह कोल्हापुर चले गए और वहाँ से छठी की परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद वे बम्बई पहुँचे । वहाँ उन्हें एक छात्र वृत्ति मिली कुछ ट्यूशन भी वे करने लगे । इस प्रकार बड़े परिश्रम के साथ कठिनाई में विद्याभ्यास कर वे सन् १८८१ अर्थात् आयु के २३ वर्ष पूर्ण कर चुकने के बाद मैट्रिक पास हुए । इसके बाद सन् १८८४ में वे बी० ए० हो गए ।

बी० ए० करने के बाद उन्होंने अध्यापक का पेशा ग्रहण करने का निश्चय किया परन्तु उसमें भी उनका प्रभावहीन व्यक्तित्व उनके मार्ग में रोड़े अटकाता रहा । उनका नाटा-- कद और दुबला-पतला शरीर देखकर बम्बई एल्फिन्स्टन हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक को ऐसा लगा कि ये छात्रों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेंगे । इसलिए उन्होंने अण्णा साहब को नौकरी देने से इन्कार कर दिया । परन्तु सौभाग्य से एल्फिन्स्टन कालेज के गोरे प्रिन्सीपल अण्णा साहब को भली-भाँति जानते थे । इसलिए उनकी सिफारिश से किसी तरह अण्णा साहब को एल्फिन्स्टन हाईस्कूल में नौकरी मिल गई । उनकी कक्षा के कई छात्र उनसे मोटे-ताजे और हट्टे-कट्टे थे । उन्होंने इस नये शिक्षक को बुद्धू बनाने की कोशिश की मगर कर्वे जी अपना गणित विषय इतनी अच्छी तरह से पढ़ाते थे कि अन्त में वे छात्र हारकर उनके विनीत शिष्य बन गए । थोड़े ही दिनों में अण्णा साहब एक सफल शिक्षक समझे जाने लगे । पढ़ाने के काम में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी, इसलिए पढ़ाते समय वे बड़े तल्लीन हो जाते थे और अपने छात्रों को भी उनका विषय बड़ी अच्छी तरह समझाते थे । सन् १८८७ में उन्होंने एम० ए० की परीक्षा दी पर असफल रहे । इसके बाद उन्होंने फिर कभी परीक्षा का नाम नहीं लिया ।

एल्फिन्स्टन कालेज में अण्णा साहब के सहपाठी महान भारत सेवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले भी थे । वे पूना के फर्ग्यूसन कालेज में गणित के प्राध्यापक थे । जब १८८१ में कालेज में बी० ए० की परीक्षा खुली तो गणित के प्राध्यापक का एक स्थान रिक्त हो गया । उस स्थान के लिए गोखलेजी ने अण्णा साहब को निमंत्रित किया । उन दिनों पूना का वातावरण पूर्णतया शिक्षामय था । तिलक, आगरकर, गोखले जैसे दिग्गज शिक्षा-शास्त्रियों और त्यागी देशभक्तों द्वारा चलाए गए फर्ग्यूसन कालेज में काम करने का अवसर मानो स्वर्ण-अवसर समझा जाता था । बड़ी-बड़ी तनख्वाहों वाली सरकारी सेवाओं की ओर पीठ फेरकर मेधावी युवक इस संस्था में काम करने को उत्सुक रहते थे । इसलिए अण्णा साहब ने गोखलेजी जी के आमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर फर्ग्यूसन कालेज में प्रवेश किया ।

में वे लगभग २३ वर्ष तक गणित पढ़ाते रहे और १६१४ स्वयं अपनी इच्छा से त्यागपत्र देकर निवृत्त हुए।

समाज-सेवा और समाज-सुधार अण्णा साहब के से ही बड़े प्रिय विषय रहे थे। बिल्कुल बचपन में शाला में पढ़ते समय उन्होंने एक वाचनालय चलाया था, वाँ वे लोगों को अखबार पढ़कर सुनाया करते थे। उनके जी द्वारा चलाये गये एक सहकारी भण्डार में भी उन्होंने न किया था। बम्बई में भी वे अपने वेतन में से फी या एक आना धर्मादा के तौर पर अलग निकालकर रखते और उस पैसे का उपयोग निर्धन विद्यार्थियों की पढ़ाई लिए करते थे।

सन् १८६१ में अण्णा साहब की पत्नी का स्वर्गवास पर उन्होंने १८६३ में गोदावरी नामक एक विधवा के य पुनर्विवाह किया। उसका नाम उन्होंने आनन्दी । आनन्दी बाई ने आगे चलकर अण्णा साहब के ाज-सुधार के कार्य में बड़ा योग दिया। इस विधवा वाह के कारण अण्णा साहब को भारी आपत्तियों का मना करना पड़ा क्योंकि तब तक ब्राह्मण समाज में धवा-विवाह निंदनीय अपराध माना जाता था। जब वाह के बाद वे अपनी पत्नी के साथ अपने गाँव गए तो वाँ के ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया। बहिष्कार में न बातें कही गई थीं (१) अण्णा साहब के साथ कोई क बैठक पर न बैठे। (२) वे जिस सभा समाज में हों वाँ कोई उपस्थित न रहे। (३) इसके बाद वे फिर अपने आयें तो घर वालों का भी बहिष्कार किया जाए।

परन्तु इस बहिष्कार से अण्णासाहब अपने निश्चय से ल्कुल विचलित नहीं हुए। अपने साथ किये जाने वाले न्याय को वे धीरज के साथ सहते रहे। फलस्वरूप वह मय भी आया, जब उन पर निंदा के पत्थर बरसाने वालों उन पर प्रशंसा के फूल बरसाए।

विधवा-विवाह की आवश्यकता को लोगों को समझाने उद्देश्य से अण्णा साहब ने उसी वर्ष "विधवा-प्रतिबन्ध वारण-मण्डल" नामक एक संस्था की स्थापना की। इस चार का महत्व लोगों को समझाने के लिए अण्णासाहब र्मी की छुट्टियों में दीवाली या बड़े दिन की छुट्टियों में ब भी मौका मिले, गाँव-गाँव जाते थे व्याख्यान देते थे र लोगों को समझाते थे। उनकी शंकाओं का निवारण रते थे। हर काम के लिए वे अपनी गाँठ से ही पैसा र्च करते थे।

परन्तु विधवाओं की समस्या केवल पुनर्विवाह के प्रचार हल होने वाली नहीं थी। उसके लिए आवश्यक था कि धवाओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाए। इसी दृष्टि से सन् १८६३ में उन्होंने 'अनाथ विधवाश्रम' नामक संस्था की स्थापना की। इसके अध्यक्ष डॉ० सर रामकृष्णगोपाल भांडारकर थे और कर्वे जी सचिव। इस संस्था को अण्णा साहब ने अपनी ओर से एक हजार रुपये दिए और ५ हजार रुपयों की अपने बीमे की पालसी भी दान कर दी। तीन साल के बाद इस संस्था का नाम बदलकर 'अनाथ बालिकाश्रम किया।' इस सज्जन ने पूना से तीन मील की दूरी पर हिंगने गाँव के पास जिसका नाम अब कर्वेनगर हो गया है— इस आश्रम के लिए ६ एकड़ जमीन दान में दी, इसलिए सन् १६०० में वहाँ एक छोटी सी कुटिया बनाकर उसमें आश्रम का काम चलाया जाने लगा। इन दिनों अण्णा साहब फर्ग्यूसन कालेज में अध्यापक थे। अतः दिन भर कालेज का काम करके शाम को वे आश्रम में पहुँच जाते थे। वहाँ रात को और सुबह लड़कियों को पढ़ाते और दूसरे दिन पैदल ही पूना लौट आते। बरसात और जाड़ों के दिनों में शहर से दूर अँधेरे में कच्ची सड़क पर पैदल चलकर जाना-आना सचमुच बड़ी तपस्या थी।

परन्तु केवल शारीरिक कष्टों से काम नहीं चल सकता था। संस्था के लिए धन भी चाहिए था। जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे पैसे की तंगी बढ़ती गई। इस आर्थिक संकट को दूर करने के लिए अण्णा साहब दूर-दूर के नगरों में जाकर चन्दा इकट्ठा करते थे। कुछ लोग स्वेच्छा से रुपया भेज देते थे। उनमें बड़े पूँजीपतियों से लेकर साधारण क्लर्क तक सभी श्रेणियों के लोग होते थे। महात्मा गाँधी भी वार्षिक दस रुपया देकर इस संस्था के सदस्य बन गए थे और उन्होंने अपनी पत्रिका 'यंग इण्डिया' में इस संस्था की प्रशंसा में एक लेख भी लिखा था।

विधवाओं का सवाल अवश्य बड़ा जटिल था पर उससे भी विकट समस्या स्त्रियों की शिक्षा की थी। उसे हल करने के लिए महर्षि अण्णा साहब कर्वे ने सन् १६०७ में 'महिला विद्यालय' नामक संस्था स्थापित की। उसके लिए अण्णा साहब ने स्वयं तीन हजार रुपये दिए। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त उन्होंने समाज सेवा करने वालों की परम्परा निर्माण करने के लिए एक और संस्था की स्थापना की, जिसका नाम था, 'निष्काम कर्म मठ'। आगे चलकर अनाथ बालिकाश्रम, 'महिला विद्यालय' और 'निष्काम कर्म मठ' इन तीनों संस्थाओं का एकीकरण हुआ और उस नई संस्था का नाम 'महिला श्रम' रखा गया।

अण्णा साहब समाज-सेवा के क्षेत्र से धीरे-धीरे शिक्षा के क्षेत्र की ओर अग्रसर होते गए। अब उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि स्त्रियों के लिए उपयुक्त

शिक्षा का प्रबन्ध करने वाला एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय होना चाहिए । उन दिनों इस प्रकार का विद्यालय भारत में कहीं भी नहीं था । इसलिए सन् १९१६ में उन्होंने पूना और हिंगने के बीच एरण्ड बना स्थान पर 'भारतीय महिला विद्यापीठ' की स्थापना की । मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर गृह-विज्ञान स्वास्थ्य-विज्ञान, पाकशास्त्र, चित्रकला, संगीत आदि की शिक्षा देने का प्रबन्ध उसमे किया गया । इस विश्वविद्यालय के लिए बम्बई के पूँजीपति सर विट्ठलदास ठाकरसी ने १५ लाख रुपये दिए इसलिए आगे चलकर इस संस्था का नाम श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी विद्यापीठ हो गया । भारत के किसी भी विश्वविद्यालय के स्तर से टक्कर लेने वाला यह महिला विश्वविद्यालय है ।

अपनी इन संस्थाओं के लिए धन एकत्रित करने अण्णा साहब ने देश-विदेशों की यात्राएँ कीं । इतना ही नहीं, बल्कि बूढ़े हो जाने पर पूना में घर-घर पैदल घूमकर भी वे चन्दा जमा करते रहे । उन्होंने ग्रामीण जनता की शिक्षा के लिए 'ग्राम प्राथमिक शिक्षण मण्डल' नामक संस्था की स्थापना कर अनेक गाँवों में प्राथमिक शालाएँ चलाईं । समाज में समता के प्रचार के लिए ८६ वर्ष की आयु मे अण्णा साहब ने 'समता-संघ' नामक एक सस्था की भी स्थापना की थी।

आपके इस महान कार्य की आगे चलकर खूब प्रतिष्ठा हुई । उनकी सेवाओं के लिए अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्माननीय 'डॉक्टर' की उपाधि से विभूषित किया और भारत सरकार ने भी सन् १९५८ में अपनी सर्वोच्च उपाधि 'भारत-रत्न' से उन्हें सम्मानित किया । भारत सरकार ने उनके सम्मान में डाक-टिकट भी प्रचारित की थी । इस प्रकार का कृतार्थ एवं कर्ममय जीवन बिताकर महर्षि अण्णा साहब कर्वे १०५ वर्ष की आयु में ९ नवम्बर १९६२ को इस संसार से विदा हो गये ।

भारत-रत्न महर्षि कर्वे ने महाराष्ट्रीय महिलाओं के उत्थान के लिए कठिन तपस्या की । घर की चार-दीवारों से घिरी हजारों महिलाओं को समाज कार्य के लिए प्रेरित कर उनमें स्वाभिमान जाग्रत किया । बाल और वृद्ध विवाह निषिद्ध ठहराए । देश में अगणित विधवाओं को विवाह करने की सुविधा और स्वतन्त्रता प्रदान की । नारियों का सम्मान बढ़ाया । महाराष्ट्र में नारी जागरण का अधिकांश श्रेय महर्षि अण्णा साहब कर्वे को है । बीसवीं सदी को महिला जागरण का युग कहा जा सकता है । क्योंकि इन दिनों उनके संगठित-आन्दोलन नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए हो रहे हैं । महिला कर्मचारियों की आर्थिक सुरक्षा के लिये विविध प्रकार के कानून बनाये जा रहे हैं । आज नारी पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने मे अपने को सक्षम अनुभव कर रही है । आज राजनीति समाज-सेवा और नौकरी सभी क्षेत्रों में महिलाओं को देखा जा सकता है ।

महिलाओं को प्रगति पथ पर अग्रसर होते देख हमें उन दिनों का स्मरण अनायास ही आता है जब आज से सौ वर्ष पूर्व पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी को उसकी चिता के साथ सती होने के लिये विवश किया जाता था । पति की सम्पत्ति में किसी प्रकार का अधिकार नहीं था । उसका कार्य क्षेत्र घर तक सीमित था । उसे पर्दे में रहना पड़ता था । पति की मर्जी के विरुद्ध वह कोई कार्य नहीं कर सकती थी । पढ़ाई-लिखाई से उनका दूर का भी सम्बन्ध न था । वह भोग दासी मात्र थी ।

जिन समाज सुधारकों के निरन्तर प्रयासों के परिणाम-स्वरूप महिलाओं में मानसिक परिवर्तन आया और उनके अस्तित्व को इस पुरुष प्रधान समाज में स्वीकारा गया उनमें महर्षि अण्णा साहब कर्वे का नाम अग्रगण्य है ।

महर्षि कर्वे ने भारतीय नारी की दशा देखी और पाया कि वह अन्ध-विश्वास मूढ़ता और आत्म-हीनता से बुरी तरह जकड़ी हुई है । उनकी आत्मा कह उठी कि जब जिस पर भावी पीढ़ी का निर्माण निर्भर है, घर की सुख-शान्ति और व्यवस्था की जो सम्पादिका है और समाज का आधा भाग है, वह नारी ही इतनी मूढ़ और फूहड़ है तो समाज के समुचित विकास की आशा किस प्रकार की जा सकती है ? नारी की उत्थान हुए बिना समाज का उत्थान हो सकता नहीं । महर्षि कर्वे कारणों पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय नारी की यह दयनीय दशा अशिक्षा के कारण ही है । यदि नारियों के लिये उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था की जा सके तो समस्याओं का समाधान शीघ्र होने लगे । विचार के दृढ़ होते ही महर्षि कर्वे उस दिशा में तन-मन-धन से सक्रिय हो उठे । और एक बार सक्रिय होकर आजीवन उसी दिशा में लगे रहे । आज भी पूना तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में उनकी स्थापित की हुई समाज कल्याणकारी संस्थायें और उनकी शाखा प्रशाखायें–'अनाथ बालिकाश्रम,' 'महिला-विद्यालय में,' 'निष्काम-कर्ममठ,' 'महिला-विद्यापीठ,' 'शुभा-प्राथमिक-शिक्षा-मण्डली' तथा 'समता-संघ' के नाम से उस अमर कर्मयोगी की यशोगाथा संसार को सुनाती हुई भारतवासियों को समाज सेवा की प्रेरणा दे रही है । उनके जीवन की प्रमुख घटनायें इस प्रकार हैं–

भारत का यह भावी महर्षि कर्वे आज १७ वर्ष की आयु में अपने गाँव मुरुड से ११० मील की यात्रा सामान के साथ पूरी करके सतारा मे छठवीं कक्षा की परीक्षा देने जा रहा है । उसका परिवार इतना निर्धन है कि अपने इस लगनशील बच्चे के लिए किसी सवारी का प्रबन्ध भी न कर सका । इतना गरीब कि पूरे पेट रोटी नहीं, कपड़ों का ठिकाना नहीं, जीवन की अन्य सुविधा सामग्री तो स्वप्न की बातें भी न थीं । इतनी गरीबी कि महाराज बड़ौदा के दान का समाचार सुनकर बालक अण्णा दौड़ा-दौड़ा माँ के पास गया और बोला—माता ! मैं बड़ौदा जाकर महाराज के सदाव्रत से अन्न वस्त्र और दस रुपये ले आऊँ ? कुछ दिन भोजन का प्रबन्ध हो जायेगा ।

बेटे की बात सुनकर माँ की भौहें चढ़ गईं, बोली—"अण्णा, क्या तू पागल हो गया है । क्या दान की भिक्षा लेने की सोच रहा है ? मालूम होता है तू जीवन निर्वाह के लिए भिक्षा माँगकर ही गुजर करेगा । क्या तू गरीबी को बदनाम और कुल को कलंक लगाने वाला बनेगा ? गरीबी तो धैर्य और पुरुषार्थ की परीक्षा होती है बेटा ! संसार के एक नहीं अधिकांश महापुरुष गरीब घरों में ही पैदा हुए हैं । उन्होंने अपने परिश्रम, पुरुषार्थ, त्याग, तप तथा अध्यवसाय के बल पर समाज में देवोपम स्थान पाया । यदि वे तेरी तरह निर्बल हृदय के होते तो दान की भिक्षा लेने की सोचते और कीट पतंगों की मौत मरकर चले जाते । गरीबी को एक चुनौती समझ और अभावग्रस्त स्थिति से आगे बढ़कर दिखला ।"

माता के इन प्रेरक वचनों ने बालक अण्णा का आमूल मनोकल्प कर दिया और उसने निश्चय किया कि वह हर संकट तथा कष्ट उठाकर विद्यार्जन करेगा, उसका उपयोग देश की सेवा में करके महनीय मानव-जीवन को सत्कर्मों द्वारा सफल बनाकर माता का आशीर्वाद चरितार्थ करेगा और उसकी एक सौ दस मील की पदाति यात्रा उसी संकल्प की दिशा में हुआ एक कदम है । कहना न होगा कि अण्णा ने इस प्रकार कदम-कदम बढ़ाकर जिस पद एवं पदवी को प्राप्त किया है वह मनुष्यों की इस भ्रान्त धारणा को एक-एक करके फेंक देती है कि निर्धनता उन्नति के मार्ग में एक अवरोध है ।

अण्णा ने अपने गाँव की प्रारम्भिक पाठशाला में साधक के भाव में एक लकड़ी के तख्ते पर मिट्टी फैलाकर उँगली से अक्षर बनाना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे इसी स्थिति से बढ़कर उस पाठशाला की अन्तिम चौथी कक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली । आगे पढ़ने को कुछ रह ही न गया । जहाँ विद्यार्थी परीक्षाफल की अनुकूल घोषणा सुनकर हँसते-कूदते घर जाते हैं वहाँ अच्छा उत्तरण की घोषणा सुनकर रोता हुआ घर गया और बोला—'माँ ! मैं पास हो गया ।' माँ को बड़ा आश्चर्य हुआ बोली पागल तू रोता क्यों है ? सारे लड़के परीक्षा पास होने की खुशी में हँसते-खेलते घर आते हैं और तू रोता हुआ आया, बतला न क्या बात हुई ? अण्णा ने बड़ी भोली वाणी में कहा—आज मैं पाठशाला की अन्तिम परीक्षा पास हो गया । अब आगे क्या पढ़ूँगा ऐसा कहकर अण्णा और भी रोने लगा !

माता का महान् हृदय आज पहली बार अपनी निर्धनता का अनुभव करके आर्द्र हो उठा । उसने अण्णा को छाती से लगाकर उसके आँसू पोंछे और कहा—"रो मत बेटा ! मै तुझे आगे पढ़ाऊँगी । तेरी शिक्षा यहीं समाप्त नही होने दूँगी। मैं अपने बेटे की ज्ञान-पिपासा को न तो निरुत्साहित करूँगी और न किसी को करने दूँगी । तू अब धीरज रख कल ही पता लगाऊँगी कि आगे की पढ़ाई कहाँ हो सकती है । माता का आश्वासन पाकर अण्णा को ढाढ़स बँधा और आँसुओं से आर्द्र उसकी आँखों में हर्ष तथा उत्साह की मुस्कान दौड़ गई । उसने आँसू पोंछ लिए और खुशी-खुशी खेलने चला गया । क्यों नहीं अण्णा जिसको तुम्हारी जैसी महान् प्रेरक और तपस्विनी माता मिली हो और जिसके आशीर्वाद में तुम्हारी जैसी कर्मठ निष्ठा का निवास हो वह बालक आगे चलकर तुम्हारी तरह ही भारत-रत्न महर्षि अण्णा साहब कर्वे के नाम से क्यों न ख्यात होता और क्यों न मातृ रूप भारतीय नारियों की सेवा में अपना प्रत्येक क्षण उत्सर्ग कर कृतार्थ हो जाता ।

माता ने पिता को प्रेरित कर पता लगाया कि गाँव से तीन मील दूर दूसरे गाँव में एक सरकारी पाठशाला श्री सोमण गुरु के तत्त्वाधान में चलती है अण्णा उसमें पाँचवीं और छठी कक्षाओं तक शिक्षा पा सकता है । निदान माता ने अपने होनहार बेटे को उक्त पाठशाला में प्रवेश करा दिया ।

सोमण गुरु की पाठशाला में अण्णा ने पाँचवीं कक्षा पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही कर ली और सोलह वर्ष की अवस्था में छठी कक्षा पास की तैयारी कर ली । किन्तु उस साल परीक्षा नहीं दे सकते थे—क्योंकि छठी कक्षा की परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए सत्रह वर्ष की आयु होना अनिवार्य था । अस्तु अण्णा को एक साल रुकना पड़ा । किन्तु उस विद्या व्यसनी विद्यार्थी ने न तो घर जाकर अवकाश मानना स्वीकार किया और वह वर्ष यों ही मटरगश्ती मे बरबाद किया । वह अनुरोधपूर्वक गुरु से स्वीकृति लेकर पाठशाला में रहा और स्वयं पढ़ने के साथ, अन्य विद्यार्थियों को गणित पढ़ाता रहा । इस प्रकार न केवल उसने अपनी योग्यता ही

प्रखर कर ली अपितु एक प्रकार से गुरु ऋण को भी उऋण कर दिया और अब वह पुरुषार्थ का धनी सत्रह साल का नवयुवक होकर परीक्षा देने के लिए, सतारा एक सौ दस मील की पैदल यात्रा पर जा रहा है ।

निरन्तर एक गति से सोलह मील की यात्रा कर लेने पर संध्या सघन होने लगी और अण्णा के लिये कहीं ठहर कर रात व्यतीत करना आवश्यक हो गया । निदान वह गाँव के मुखिया की चौपाल में ठहर गया ।

मुखिया ने अण्णा से परिचय तथा गन्तव्य के विषय में प्रश्न किया और यह जानकर न केवल गद्गद हो उठा, बल्कि स्नेह एवम् सहानुभूति से ओतप्रोत हो उठा कि यह नवयुवक विद्यार्थी विद्या के लिये अपार कष्ट सहकर पैदल सतारा जा रहा है । मुखिया ने अण्णा की पीठ पर प्रेम से हाथ फेरकर कहा–"बेटा, तू अपने जीवन में अवश्य सफल होगा । जो अपने सदुद्देश्य के लिए इतना कष्ट उठा सकता है, जिसकी निष्ठा एवं लगन इतनी अडिग एवं प्राणपूर्ण है उस पुरुषार्थी पर परमात्मा की कृपा सहचरी बनकर साथ रहती है और हर प्रतिकूल परिस्थिति में, हर संकट एवं विपत्ति में, हर असम्भव एवं अभाव में साहस, धैर्य, आस्था तथा सन्तोष बनकर सहायता किया करती है । ऐसी ही अध्यवसायी आत्माओं से समाज की उन्नति तथा मानवता का नाम उज्वल होता है । बेटा ! तूने मानव-जीवन का ठीक-ठीक अर्थ समझा और उसी के अनुसार अपना मार्ग निर्धारित किया है । मेरा तो आशीर्वाद है कि तू अपने लक्ष्य तक पहुँचे ।" मुखिया के उस अनुभव से मेरा सहसा यह निश्चय कर लेना कि–'अब संसार में किसी व्यक्ति पर विश्वास नहीं करूँगा ।' किसी प्रकार भी उचित अथवा न्याय संगत नहीं था, वह मात्र प्रतिक्रिया का उद्वेग था, विवेकपूर्ण निर्णय नहीं । इसलिये मैं उसे बदलता हूँ क्योंकि किसी प्रकार के आवेग प्रेरित साहसात्मक निर्णय मनुष्य को अन्धकार की ओर अग्रसर कर देते हैं ।

चलते समय अण्णा ने मुखिया को धन्यवाद दिया और उसके तैयार किए हुए घोड़े को साथ ले जाने से विनम्रतापूर्वक यह कहकर निषेध कर दिया कि इतनी लम्बी यात्रा में मैं इस अनबोल प्राणी के लिए न तो चारे का प्रबन्ध कर पाऊँगा और परीक्षाओं में व्यस्त रहने के कारण न इसकी देखभाल कर पाऊँगा । अस्तु मेरी विवशता समझकर इस अवज्ञा को क्षमा कर दें यही और आशीर्वाद के साथ ही विदा दें मेरे लिए एक बहुत ही बड़ा सम्बल सिद्ध होगा ।

विषम तथा पथरीली कुम्भर्ली घाटी को पार करते समय अण्णा ने आकाश की ओर देखा और माथे का पसीना पोंछा । अन्तरिक्ष के यात्री सप्त ऋषियों की स्थिति ने इस धरती के किशोर यात्री को समय का अनुमान दिया । सुबह के लगभग चार बजे थे । उस दुर्गम घाटी में उस असमय में अण्णा को भय नहीं प्रसन्नता ही हुई । वह काफी जल्दी चल पड़ा है । दोपहर तक न जाने कितना मार्ग पार कर डालेगा । प्रसन्नता की प्रेरणा पाते ही उसका उत्साह अनेक गुना हो गया और उसकी गति में तीव्रता आ गई । थकान को विचलित करता हुआ अण्णा बढ़ता ही गया और लगभग ग्यारह बजे पारण पहुँचकर पसीना पोंछा । भोजन के साथ ही विश्राम पूरा करके अण्णा ने सामान उठाया और तीन बजे के लगभग यात्रा प्रारम्भ कर दी, आज का शेष दिन, पूरी रात और दूसरे दिन दस बजे तक का समय अण्णा के पास था उसी में सारी यात्रा पूरी करके सतारा पहुँचना था । उसने एक व्यक्ति से सतारा की दूरी पूछी पता चला छत्तीस मील अभी और चलना है । 'कोई चिंता नहीं' अण्णा उत्साहपूर्वक बढ़ा और चलने लगा । तभी उस राहगीर ने बतलाया कि यदि सीधा रास्ता छोड़कर पहाड़ी रास्ते पर जाने का साहस कर सको तो उसके बारह मील बच जायेंगे अण्णा ने कहा जरूर-जरूर तब तो मैं दस बजे से बहुत ही पहले सतारा पहुँच जाऊँगा और कुछ देर आराम कर तथा नहा धोकर ताजे होकर परीक्षा में बैठने का अवसर पा सकूँगा। राहगीर ने पहाड़ी पगडंडी की ओर संकेत कर दिया और उस पर चल पड़ा । किन्तु वाहरे जीवन संग्राम ! दो-तीन मील चलने के बाद अण्णा राह भटक गया और जब संध्यारम्भ तक भी वह घाटी पार न पा सका तब कुछ चिंतित हो उठा । एक ओर भयानक दर्रा और दूसरी ओर पहाड़ की अपरम्पार चोटी । दोनों के बीच पगडंडी पर खड़ा अण्णा परिस्थिति पर विचार करने लगा । अँधेरा हो चला और हाड़ हिला देने वाली हवा चलने लगी । किन्तु उस भयानक तथा अनिश्चित में भी अण्णा ने साहस तथा आशा का साथ नहीं छोड़ा और वह जीवन संग्राम का अजेय सैनिक उस ओर को चल पड़ा जिधर कुछ प्रकाश दिखाई दे रहा था ।

वह एक पहाड़ी किसान की झोंपड़ी थी । अण्णा ने वहाँ पहुँचकर आश्रय नहीं उस मार्ग का संकेत माँगा जो उसके लक्ष्य सतारा की ओर जाता हो । किसान ने उस साहसी नवयुवक को देखा, उसके यात्रा से सूजे हुए पैरों पर दृष्टि डाली और आँखों में झाँका । एक लम्बी पदाति यात्रा के चिह्नों के सिवाय उसे कहीं भी तो विश्रान्ति अथवा क्लान्ति के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुए । उसने आश्चर्य के साथ उससे उस तपस्या का मन्तव्य पूछा । परीक्षा का समय और मन्तव्य की दूरी का विषम अनुपात समझ कर उसने उस आत्मविश्वासी तथा एकनिष्ठ यात्री से रुकने के लिए

फिर ज्यादा नहीं कहा और कुछ दूर चलकर सही रास्ते पर डाल दिया ।

जीवन-संग्राम का सूरमा अण्णा सतारा पहुँचा किन्तु हन्त ! दस बजे सवेरे परीक्षा के समय नहीं, शाम के पाँच बजे । कहना न होगा कि यह किसी भी उद्योगी का हृदय तोड़ देने वाली असफलता थी । किन्तु कर्मवीर अण्णा इस असफलता से निराश न हुआ । उसे संतोष था कि उसने मानवीय क्षमता भर जो प्रयत्न किया जा सकता था किया। यह सीधा इन्हीं पैरों निरीक्षक के पास जायेगा और सारी परिस्थिति बतला देगा । आशा है परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल जायेगी । और यदि तब भी अनुमति न मिली तो इसे हरि इच्छा मानकर अगले वर्ष की प्रतीक्षा करेगा ।

अण्णा सीधा विद्यालय पहुँचा । पता चला कि अनेक कारणोंवश परीक्षा आज शुरू नहीं हो सकी कल से प्रारम्भ होगी । अण्णा के हर्ष का पारावार न रहा । किन्तु शीघ्र ही उसका यह हर्षातिरेक उतर गया और उसे निराशपूर्ण असफलता के प्रभाव से टक्कर लेनी पड़ी । प्रमाण-मात्र प्रस्तुत करने पर भी जब प्रधान परीक्षक ने उसको सत्रह वर्ष का न मानकर परीक्षा में नहीं बैठने दिया तब उसने इसको परमात्मा की इच्छा माना और यह सोचता हुआ घर लौट पड़ा कि अवश्य ही इस असफलता के पीछे कोई हितकर रहस्य छिपा हुआ है । एक वर्ष तक और भी अधिक तैयारी करने के बाद अण्णा ने वह परीक्षा अगले साल कोल्हापुर जाकर दी और प्रथमतम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ । धन्य है इस उद्योग, साहस तथा धैर्य को । अण्णा के यही तो वे दो गुण थे जिन्होंने उसे आगे चलकर संसार का एक विख्यात पुरुष और समाज का महान सेवक बन सकने का पुण्य प्रदान किया ।

गाँव पाठशाला की सारी परीक्षायें अण्णा ने पास कर लीं किन्तु आगे पढ़ने की इसकी इच्छा बनी रही । ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अधिक ज्ञान प्राप्त करने की उसकी जिज्ञासा बलवती होती जाती थी । ज्ञान में एक ऐसा ही अनिर्वचनीय आनन्द एवं आकर्षण होता है। इसका अनुभव वे भाग्यवान् पुरुष ही कर सकते हैं जो ज्ञान प्राप्त कर सकने के लिए तन-मन-धन की कोई भी बाधा न मानकर अग्रसर होते हैं ।

पिता के पास पैसा नहीं और अगली कक्षाओं की सुविधा रत्नागिरि में न थी । किन्तु अण्णा ने पिता से केवल अनुमति माँगी और विश्वास दिलाया कि वह वहाँ जाकर कालिज से बचे हुए समय में कोई अतिरिक्त काम करके शिक्षा के व्यय की व्यवस्था कर लेगा । उसके लिये उन्हें कष्ट न देगा । पिता भला ऐसे विद्या-पिपासु तथा परिश्रमी पुत्र को हतोत्साह करने का पाप किस प्रकार कर सकता था ? वह जानता था कि यदि घर के गुजर-बशर के लिए वह अण्णा को घर रहकर और कुछ काम करने के लिए विवश करता है तो एक सामाजिक अपराध करेगा । समाज की सेवा के लिए उद्यत होने वाले लड़कों को स्वार्थ के लिए बाँध रखना अन्याय है अनुचित बात है जो किसी भी अभिभावक को नहीं करनी चाहिए । पिता ने भी खुशी-खुशी अण्णा को आगे पढ़ने की अनुमति दे दी और उसने रत्नागिरि जाकर के हाईस्कूल में प्रवेश ले लिया ।

अण्णा ने अंग्रेजी की अच्छी तैयारी पहले से ही कर रखी थी । निदान प्रवेश परीक्षा में इतने अंक लाया कि उसके लिए दो रुपया मासिक छात्र-वृत्ति स्वीकार की गई। अण्णा उन दो रुपयों में से आठ आना फीस के देकर शेष डेढ़ रुपये में अपना सारा खर्च चलाने लगा । उस मितव्ययी महान् ने जीवन की आवश्यकताओं को जीवन तक ही संयमित रखकर इस कुशलता से खर्च किया कि न तो अभाव अनुभव होने दिया और न एक पैसे के लिये पिता को ही कष्ट दिया । अण्णा जैसा सन्तोषी तथा संयमी व्यक्ति संसार में क्या करके नहीं दिखा सकता ।

रत्नागिरि की जलवायु अण्णा के अनुकूल नहीं पड़ी । वह वहाँ बीमार रहने लगा । घर वापस चले आने की विवशता पूरी करके भी अण्णा ने कोई समय बेकार नहीं गँवाया । ठीक होते ही गाँव की पाठशाला में यह सोचकर पाँच रुपये मासिक पर नौकरी कर ली कि वह अपना वेतन बचाकर कुछ रुपये जमा कर लेगा और फिर बम्बई जाकर अँग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करेगा । अण्णा उस पाँच रुपये के वेतन में सात घण्टे स्कूल में पढ़ाया करता था और शेष समय अंग्रेजी की योग्यता बढ़ाया करता था । स्कूल के उस परिश्रम की उसने कभी भी शिकायत नहीं की, क्योंकि वह उसको अपने हित में समझता था । विद्या का दान जितनी अधिक मात्रा में किया जाता है उतनी ही अधिक वह बढ़ती है इस रहस्य से वह अज्ञान न था । पढ़ने की अपेक्षा, पढ़ाने से अभ्यास अधिक पुष्ट एवं प्रामाणिक होता है इसलिये वह विद्यालय में अधिक से अधिक पढ़ाने का साग्रह प्रयत्न किया करता था ।

आवश्यक धन संचय कर लेने के बाद अण्णा ने बम्बई में जाकर वहाँ के मनी-स्कूल में प्रवेश ले लिया और एक मित्र के साथ एक छोटे से कमरे में रहने लगे । बम्बई में विद्यार्जन के लिए अण्णा ने जिस विरल पुरुषार्थ का परिचय दिया उसे देख सुनकर मनुष्य की कार्यक्षमता पर आश्चर्य होता है और विश्वास दृढ़ हो जाता है कि मनुष्य में अनन्त

शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है । यदि उसका समुचित उपयोग किया जाये तो किसी भी क्षेत्र और किसी दिशा में उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा जा सकता है । किन्तु खेद है कि अधिकांश मनुष्य, आलस्य, प्रमाद, अथवा निराकांक्षा से प्रवंचित होकर अपनी इन शक्तियों को निष्क्रिय पड़ा रहने देते हैं, जिससे वे अनुपयोगिता के दोष से कुंठित होकर नष्ट हो जाती हैं ।

अण्णा ने साल के प्रारम्भ में ही एक नकद पुरस्कार की प्रतियोगिता की पात्रता सिद्ध करके उसमें भाग लिया और अँग्रेजी का एक सर्वश्रेष्ठ लेख प्रस्तुत किया । मैदान अण्णा के हाथ में जाते देखकर अन्य छात्रों में ईर्ष्या जाग उठी और उन्होंने अण्णा पर नकल करने का दोष लगाया । स्वयं सिद्ध है कि ईर्ष्या एक ऐसी सर्पिणी है जो पालने वाले को ही डसती रहती है । जिससे ईर्ष्यालु व्यक्ति न केवल भीतर ही भीतर दहकता रहता है, प्रत्येक दूसरों के दोष निकालने और हानि पहुँचाने की दुरभि सन्धियों में अपने मन मस्तिष्क की उन शक्तियों का विनाश करता रहता है जिनका उपयोग अपने अभीष्ट मार्ग में करके बहुत दूर तक पहुँचा जा सकता है । किन्तु खेद है कि लोग इस हानि को नहीं देखते और दूसरों की गति में अवरोध बनते-बनते स्वयं ही पथ प्रस्तर की भाँति जड़ होकर अगति के अधिकारी बनते है ।

परीक्षक के सामने अण्णा की उपस्थिति हुई और आरोप का स्पष्टीकरण माँगा गया । अण्णा ने साहसपूर्वक केवल इतना ही कहा--"मेरे पास मेरे हृदय में निहित सत्य के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है और जहाँ तक सत्यासत्य के निर्णय का प्रश्न है किसी भी विषय पर लेखन की पुनः परीक्षा ले ली जाय । होना तो यह चाहिये था कि सभी प्रतियोगियो को पुनः परीक्षण में बिठाया जाता किन्तु परीक्षकों ने परेशानी, समय तथा व्यय की बचत की दृष्टि से केवल अण्णा को ही कसौटी पर रख दिया । यद्यपि अन्याय था किन्तु अण्णा ने आत्म-विश्वास के बल पर चुनौती स्वीकार की और अब की बार पहले से भी अच्छा लेख प्रस्तुत कर झूठों का मुँह काला कर दिया । पुरस्कार की धनराशि अण्णा के हाथ आई । जिसका कुशलतापूर्वक उपयोग कर उसने शिक्षा सम्बन्धी अनेक अड़चनों को दूर कर लिया ।

बम्बई जैसे शहर मे अपना तथा अपनी शिक्षा का व्यय पूरा करने के लिए वह आदरणीय अध्यवसायी एक-एक रुपये की ट्यूशन करता था और आठ आने महीने पर हर सप्ताह एक सज्जन को समाचार-पत्र पढ़कर सुनाने जाता था । इस प्रकार अण्णा आवश्यकता के लिए, मिल सकने वाले किसी भी काम का अवसर हाथ से न जाने देता था । उसने कभी भी पैसे की तराजू पर किसी काम में लगने वाले अपने परिश्रम को नहीं तोला । पैसे कितने ही कम क्यों न मिलते रहें किन्तु अण्णा काम करने में, श्रमयापन करने में पराकाष्ठा तक ईमानदार रहता था । उसने पैसे के अनुपात में परिश्रम की कमी करके अपने में कामचोर की दुर्बलता विकसित न होने दी । परिश्रम की विशेषता जानने वाला अण्णा पारिश्रमिक से अधिक परिश्रम करने में विश्वास करने वाला व्यक्ति था । पैसों की कमी से कुढ़कर परिश्रम की चोरी करने वाले व्यक्ति अपनी ही हानि करते हैं । इस दाँव-पेंच से पैसे तो अधिक मिलते ही नहीं उलटे मनुष्य को निष्क्रियता तथा अक्षमता का दोष दबा लिया करता है, जिससे वह आगे चलकर अधिक परिश्रम के अवसर पर भी निकम्मा साबित होता है । बुद्धिमान् अण्णा इस मँहगी तथा दोहरी हानि को उठाने के लिये कभी भी तैयार न था ।

इस प्रकार मितव्ययता, संतोष, छात्र वृत्तियों, ट्यूशनों तथा अन्य अनेक काम करके अण्णा ने क्रम से मैट्रिक, इण्टर और बी . ए. की परीक्षायें उल्लेखनीय श्रेणियों मे उत्तीर्ण करके स्वावलम्बन के आधार पर आत्म-निर्माण का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया और इस सिद्धान्त वाक्य को चरितार्थ कर दिखाया कि 'मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।'

ग्रेजुएशन करके अण्णा कार्यक्षेत्र में उतरे और मराठा-हाईस्कूल में दो घण्टे पढ़ाने का काम कर लिया । इसके अतिरिक्त वे अनेक विद्यार्थियों तथा सैनिक अधिकारियों को तीन घण्टे गणित पढ़ाने जाते थे । उपार्जन के इस प्रारम्भिक काल में अण्णा ने जिस घोर परिश्रम का परिचय दिया, उस पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान् ने लिखा है--"बम्बई के दीर्घ विद्यार्थी एवम् अध्यापक जीवन में उन्होने न कभी नाटक देखा, न सर्कस काफी दूर तक पैदल घूमना ही उनका एक मात्र मनोरंजन का साधन था । विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए दूर-दूर जाना पड़ता था, इसलिये काम के साथ मनोरंजन भी प्राप्त कर लेते थे । बम्बई के 'कैथेड्रल गर्ल्स हाईस्कूल' में वे गणित पढ़ाते थे और लड़कियों को पढ़ाने का प्रथम पाठ उन्होंने वहीं सीखा । अण्णा साहब सुबह साढ़े चार बजे उठते थे । भात और दही का हल्का-सा नाश्ता करके घर से निकल पड़ते थे । गिरगाँव से माँझ गाँव तक पैदल आकर साढ़े सात बजे वहाँ पढ़ाते थे । वहीं एक विद्यार्थी को पढ़ाकर होटल का आश्रय लेते थे । रोटी और चाय को पेट का रास्ता दिखलाकर वे एक अँग्रेजी हाईस्कूल मे एक घण्टा गणित पढ़ाते थे । एक घण्टा और एक फारसी हाईस्कूल में पढ़ाकर वे दोपहर मे लगभग दो बजे घर पहुँचते थे । तीन बजे पर फिर मराठा हाईस्कूल

में जाने की जल्दी रहती थी । इसलिए दिन भर शरीर पर धारण किये हुए कपड़ों को बिना उतारे ही वे भोजन समाप्त कर लेते थे । इसके बाद किसी होटल में चाय पीकर वे फोर्ट के हाईस्कूल में एक घण्टा पढ़ाने जाते थे । दिन भर के इस अथक परिश्रम के बाद वे नौ बजे घर पहुँचते, तब स्नान, भोजनादि से निवृत्त होकर बाद में पत्नी और बच्चों को पढ़ाते थे । इसके बाद कहीं जाकर सोने का समय मिलता था । थकावट और आलस्य शब्द उनके जीवन-कोश से गायब हो गये थे ।"

अण्णा साहब के परिश्रम की यह वीर-गाथा जिसको उन्होंने आत्मनिष्ठा के बल पर निर्माण किया था यहीं तक सीमित नहीं रही, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती हुई उनके जीवन में दिन-दिन प्रसार पाती गई और अनेक लोक-हितकारी संस्थाओं में अमरत्व के साथ मूर्तिमान हुई । निर्धनता और पुरुषार्थ के इस घोर संघर्ष के बीच भी अण्णा साहब में उदारता, दानशीलता और परोपकार की कितनी उदात्त वृत्ति सक्रिय रहती थी उसके प्रमाण में यह कतिपय उदाहरण कुछ कम न होंगे ।

शिक्षा-काल में जिस समय अण्णा केवल दो रुपये मासिक छात्रवृत्ति, एक रुपये मासिक की ट्यूशन और आठ आना मासिक समाचार-पत्र सुनाने का पाते थे उसी समय उन्होंने दान तथा परोपकार के लिये एक पैसे रुपये की बचत प्रारम्भ कर दी थी और जब यह राशि दो चार रुपये की हो जाती थी तब उसे किसी शिक्षा अथवा जन हितकारी संस्था को दान कर देते थे । इसी एक रुपया पैसा के दान फण्ड से उन्होंने समय-समय पर न जाने कितने निर्धन विद्यार्थियों व गरीबों, रोगियों तथा आवश्यकताग्रस्त लोगों की सहायता की थी । अपनी इस अनुकरणीय उदारता पर टिप्पणी करते हुए अण्णा साहब ने स्वयं एक स्थान पर कहा है--"दूसरों की सहायता करने में मिलने वाला आनन्द ब्रह्मानन्द से कम नहीं होता यह मैंने अपनी इस सेवा में अनुभव कर लिया है और आजीवन इस बात का प्रयत्न करता रहूँगा कि मैं अपने इस आनन्द को यथावत् बनाये रहूँ ।"

आगे चलकर जब अण्णा साहब ने मराठा हाईस्कूल में नौकरी की और सेवा के अधिकारियों को गणित पढ़ाने का काम लिया और उसी के अनुसार उनकी आय में वृद्धि हुई तो यही एक पैसा रुपये का परोपकार फण्ड उन्होंने बढ़ा करके पाँच रुपये प्रतिशत कर दिया जिससे वे 'दि मराठा फाइव-पर्सेंट फण्ड' कहा करते थे ।

इसी फण्ड के अन्तर्गत उन्होंने मुरुड गाँव की पाठशाला को पाँच सौ रुपये की सहायता देकर स्थापना कराई और लगभग आठ-दस विद्यार्थियों को अपने घर रखकर शिक्षा दिलाने के साथ-साथ भोजन-वस्त्र की भी सहायता की । लोक-सेवा काल में अण्णा साहब जहाँ एक ओर अपनी संस्थाओं के लिए सार्वजनिक दान की याचना करते थे वहाँ दूसरी ओर अन्य संस्थाओं को यथासहाय अपनी व्यक्तिगत आय से सहायता करते थे । अपनी संस्थाओं को तो उन्होंने अपना तन-मन-धन सभी कुछ दे दिया था । पूना के फर्ग्यूसन कालेज में केवल पचहत्तर रुपये के अल्प वेतन पर बीस साल काम करने के बाद जब उन्हें पेंशन मिली, तब परिवार की आर्थिक स्थिति पर विचार किये बिना ही उस सर्वाङ्ग समाज-सेवक ने अपनी वह पेंशन अपना एक मात्र विद्वता तथा जीविका का सहारा अनेक बच्चों को शिक्षित बनाने के मन्तव्य से यह सोचकर दान कर देने का निश्चय किया कि परिवार की जीविका के लिए मैं पुनः विद्यार्थी जीवन जैसी गतिविधि अपना लूँगा । किन्तु पत्नी के बार-बार प्रार्थना करने और परिवार पर आ जाने वाले आर्थिक संकट से अवगत कराकर किसी तरह उनका यह विचार बदलवाया । तब भी उन्होंने एक साल की पेंशन उक्त स्कूल को दान कर ही दी ।

विधवा आश्रम को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उन्होंने परिवार की एक मात्र सम्पत्ति और अपने जीवन की निधि पाँच हजार का अपना जीवन बीमा आश्रम को दान कर दिया । पत्नी के विरोध उत्पन्न करने पर उन्होंने प्रेम से समझाते हुए कहा--"रुपये तो जीवन में कभी भी जमा किये जा सकते हैं किन्तु एक बार यदि इस नारी कल्याण की संस्था की नींव हिल गई तो इसके भविष्य की रक्षा नहीं की जा सकती और इस प्रकार यह विशाल वृक्ष, जिसकी छाया में समाज से संतप्त न जाने कितनी विधवायें आश्वासन की साँस ले सकेंगी, उखड़ जायेगा । अब तुम्हीं सोचो कि अपने परिवार की आर्थिक सुविधा अधिक महत्वपूर्ण है या अपना यह विधवाश्रम ! विधवाश्रम के स्थापना काल में लोगों में दान देने की प्रवृत्ति का स्फुरण करने के लिए अण्णा साहब से पहले एक हजार रुपये का दान देकर व्यक्तिगत उदाहरण उपस्थित किया । इन रुपयों का प्रबन्ध उन्होंने पत्नी के हाथ कान और गले के साधारण जेवर बेचकर किया था । अण्णा साहब के इस व्यक्तिगत उदाहरण का इतना अनुकूल प्रभाव पड़ा कि लोगों ने उनके विधवा आश्रम को मुक्त मन और मुक्त हाथ से दान दिया । महिला विद्यालय की स्थापना के बाद जब उसमें पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या अधिक हो गयी तो उसके लिये एक भवन बनवाने की आवश्यकता हुई । इसके लिए भी लोगों से धन देने का आवेदन करने से पूर्व अण्णा साहब ने तीन हजार रुपयों की निधि अपने पास से जमा की । यह रुपया भी उनकी पत्नी ने अपने

परिश्रम तथा धन के खर्च में से मितव्ययता द्वारा लड़कों की पढ़ाई और भविष्य की आवश्यकताओं के लिये बड़े यत्न से बचाकर रख पाये थे । बाद में तो उसके लिए हजारों रुपये की धन-राशि बात की बात में ही जमा हो गयी थी ।"

उदाहरण के साथ-साथ अण्णा साहब में त्याग वृति का भी वह स्वरूप देखने को मिलता है जो किसी भी शिक्षित तथा समाज हितैषी व्यक्ति के लिये अनुकरणीय आदर्श है । वह समय अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए स्वर्ण-काल था । पाँचवी छटवीं कक्षा तक अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को सौ-पचास की नौकरी बड़े आराम से मिल जाती थी । कठिन स्थिति में जीवन व्यतीत करने पर भी अण्णा साहब ने थोड़ी शिक्षा पर संतोष कर अपने लिये सुख-सुविधा संचय करने का प्रयत्न नहीं किया । उच्चतम शिक्षा उनकी आकांक्षा थी और उसके बाद समाज-सेवा उनका ध्येय था । उन्होंने अपार कष्ट उठाकर और अथक परिश्रम करके बी. ए. पास किया । यदि वे चाहते तो उनको ऊँचे से ऊँचा सरकारी पद बिना किसी प्रयत्न अथवा सिफारिश से मिल सकता था और जीवन की सारी भूतकाल की कठिनाइयों एवं कष्टों का मूल्य मयब्याज के मिल जाता । किन्तु त्याग मूर्ति अण्णा साहब ने सुख-सुविधा की तलाश न कर सेवा की तलाश की । अपनी योग्यता का लाभ अनेक स्कूलों तथा व्यक्तियों को देने के लिए वे घण्टे-घण्टे, दो-दो घण्टे अनेक स्थानों एवं विद्यार्थियों को पढ़ाते रहे । और जिस समय वे दो-तीन सौ रुपया मासिक कमा सकते थे श्री गोखले तथा तिलक की अपील पर उनके स्थापित किये हुए राष्ट्रीय कालिज 'श्री फर्ग्यूशन कालिज' में केवल पचहत्तर रुपये मासिक पर जीवन भर के लिए चले गये । अपनी योग्यता को व्यक्तिगत सार्थकता में लगाने की अपेक्षा उसे राष्ट्र निर्माण की सेवा में लगाना उन्होंने अधिक महान्, उपयोगी और उचित समझा। श्री अण्णा साहब के इस तप त्याग एवं उदारतामय जीवन ने उन्हें अण्णा साहब से महर्षि कर्वे बनाकर सार्वजनिक सम्मान एवं नमन का अधिकारी बनाकर सदा के लिये अमर बना दिया ।

महर्षि कर्वे बम्बई में जिस समय भविष्य के कार्यों के लिए अपने जीवन का निर्माण करने में संलग्न थे तभी उनकी पत्नी श्रीमती राधाबाई का देहावसान हो गया । प्रिय पत्नी का यह वियोग उनके लिए इतना असह्य हो गया कि वे एक बार विचलित होकर जीवन के प्रति उदासीन से हो गये । विधवा होने पर महिलाओं के साथ क्या व्यवहार होता था वे यह अच्छी तरह जानते थे । उनको और सब यातनायें तो दी ही जाती थीं, केशवपन की एक विस्तृत एवं

अपरूपतापूर्ण यातना और दी जाती थी
की अनेक घटनायें तो अण्णा साहब य
साकार हो उठीं जो उन्होंने अपनी आँखों
एक मित्र की पत्नी को विधवा होने प
लिये विवश किया गया । इच्छा न होते
केश मुँडवाने ही पड़े, क्योंकि यदि वह
तैयार न होती तो वह यह जानती थी
बाँधकर और हण्टरों से मार-मारकर
विवश किया जाता और यदि तब भी
मार-मारकर बेहोश कर डाली जाती और
में उसके हाथ पैर तथा गर्दन बाँधकर के
केशवपन के लिए तैयार न होने वाली
ही अत्याचार किया जाता था जैसा कि
पर सती होने के लिए अत्याचार किया
बेचारी ने दुर्दशा से बचने के लिए चुपचा
रखकर केश मुँडवा लिये । उनके मित्र
स्त्री थी और कुछ अधिक आयु की भी न
जाने के बाद प्रेतनियों जैसी अपनी सूरत
लज्जा तथा ग्लानि हुई कि वह चुपचाप
होकर पड़ी रही और जीवन भर बाहर
भोजन भी त्याग दिया और इस प्रकार शी
अपने प्राण दे दिये । केशवपन के समय
देखने वाले फिर उस निरपराधिनी का श

महाराष्ट्र की विधवा स्त्रियों के लिए
यातना बड़ी ही भयंकर थी । यह केवल
बल्कि हर माह इसका प्रत्यावर्तन भी ह
अभागे रूढ़िवादियों का विश्वास था कि
के केश नहीं मुड़ा दिये जाते वह पवित्र
किसी धर्म-कर्म में भाग लेने का अधिकार
तो वह कथा कीर्तन में जा सकती थी और
को पढ़ सुन ही सकती थी और न केश र
अपना मुँह दिखा सकती थी । केश मुड़वा
पर भी वह किसी के सम्मुख निकल सकती
नहीं उस समय लोगों की यह धारणा थी
के बालों से पानी की जितनी बूँदें टपकती
उसके दिवंगत पति को कीड़े का जन्म
धन्य है इस अन्धविश्वास तथा अविवेकशी
आधार पर एक मानवी को प्रेतनी बनाक
किया जाता था और मनुष्य के पुनर्जन्म
अपने कर्मों कुकर्मों से न मानकर विधवा
हुई पानी की बूँदों से जोड़ा जाता था ।

ी स्मृति पटल पर
से देखी थीं, उनके
र केश मुँडवाने के
हुए भी उसे अपने
केश मुँडवाने को
के उसे रस्सियों से
सा करने के लिए
वीकृति न देती तो
उसी अचेतनावस्था
मुँडवा दिये जाते,
विधवाओं पर वैसा
किसी समय में उस
जाता था, निदान
प छाती पर पत्थर
ी पत्नी एक सुन्दर
हीं थी । केश मुड़
देखकर उसे इतनी
एक कमरे में बन्द
न निकली, उसने
घ्र ही घुल-घुलकर
उसको एक बार
न ही देख सके ।
केशवपन की यह
एक बार ही नहीं
ता रहता था ।
जब तक विधवा
नहीं होती, उसे
नहीं होता । न
धार्मिक पुस्तकों
ते हुए किसी को
र कुरूप हो जाने
थी । इतना ही
सकेश विधवा
, उतनी ही बार
ना पड़ता है ।
लता को जिसके
धर्म का संतोष
सम्बन्ध उसके
बालों से टपकी

महर्षि कर्वे ने विधवाओं की इस दुर्दशा का मुख्य कारण समझ लिया था। वह था उनका अशिक्षित, परावलम्बी, अन्धविश्वासिनी तथा आत्मविश्वास हीन होना। यदि विधवायें शिक्षित हों, उन्हें आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़े हो सकने की योग्यता हो वे अपने कर्तव्यो तथा अधिकारों को पहचान सकें और साहसपूर्वक उनकी रक्षा कर सकने में तो निश्चय ही उनका उद्धार हो जायेगा और वे समाज के अत्याचार का प्रतिबन्ध करके सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकेंगी।

कर्वे का पत्नी शोक का स्थान विधवाओं के लिए कुछ करने के संकल्प ने ले लिया। उन्होंने अपनी शक्तियों को सम्भाला क्षमताओं को पुनः प्रबुद्ध किया और समाज सुधार की दिशा में अग्रसर होने के लिए घर से प्रस्थान कर दिया।

विधवा उद्धार के उपायों में विधवा-विवाह के समर्थक एवं प्रचारक महर्षि कर्वे ने सबसे पहले आनन्दीबाई नाम की एक विधवा से विवाह करके सक्रिय उदाहरण उपस्थित किया। उन्होंने इस बात की तनिक भी परवाह न की कि समाज की एक प्राचीन रूढ़ि पर आघात करने से क्या प्रतिक्रिया होगी ? वे विवाह करके घर में ही घुसे नहीं बैठे रहे। वे अपनी पत्नी आनन्दीबाई को लेकर सभाओं तथा सार्वजनिक संस्थाओं में जाते और मूढ़ों तथा पुरातन पंथियों के व्यंग एवं संकेत सहते। उन्हें इस पुण्य कार्य के लिए न केवल आलोचना का ही लक्ष्य बनाया गया बल्कि माता-पिता ने छुटकारा दे बहिष्कृत भी कर दिया गया न जाने कितने अविवेकियों ने उनके घर आकर उन्हें मुँह पर ही धिक्कारा तथा तरह-तरह से तिरस्कृत किया। किन्तु वह साहसी धीर-वीर समाज-सुधारक चट्टान की तरह अडिग रहकर सब कुछ सहता रहा। न जाने कितने लोगों ने विच्छेद कर प्रायश्चित करने का अनुरोध किया। ऐसे लोगों के लिए उस सत्पुरुष का एक ही उत्तर रहता था कि यदि जिस धर्म-ग्रन्थ में सत्कार्यों के लिये भी प्रायश्चित करने का निर्देश हो सकता है मैं ऐसे ग्रन्थों को सबसे गई गुजरी पुस्तक समझता हूँ। मैंने कोई पाप नहीं किया फिर प्रायश्चित किस बात का। लोगों ने डराया कि तुम्हारा यह काम ठीक नहीं। इससे तुम समाज में आगे न बढ़ पाओगे, तुम्हारे लोग, तुम्हारे मित्र और तुम्हारे परिजन तुमसे छूट जायेंगे। महर्षि कर्वे ने स्पष्ट तथा दृढ़तापूर्वक कह दिया कि जिस कार्य को मैंने अच्छी तरह विवेक की कसौटी पर परखकर किया है जब उसके लिए एक परिवार तो क्या पूरा संसार और यहाँ तक कि प्राण ही छूट जायें तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं होगी। अपने सिद्धान्त विवेक तथा सत्कार्य में कर्वे की यह अखण्ड निष्ठा देखकर विरोधियो का जोश ठण्डा पड़ गया और समाज में उस वीर सेनानी के समर्थक पैदा होने लगे।

समाज की गति विचित्र है। जहाँ पहले लोग कर्वे के पास विधवा विवाह का विरोध करने और उन्हें धिक्कारने आते थे अब अनेक लोग उसका समर्थन तथा प्रशंसा करने को आने लगे। महर्षि कर्वे ने देखा कि अब लोग उनके विचारों का मूल्यांकन करने लगे है इसलिये कोई ऐसा संगठन बनाना चाहिये जो इस क्रान्ति अथवा नवीन विचारधारा को आगे बढ़ाने का काम करे। निदान उन्होंने 'विधवा विवाह उत्तेजक मण्डली' के नाम से ऐसे तरुणों का एक संगठन बनाया जो न केवल विधवा-विवाह का समर्थन एवं प्रचार ही करते थे बल्कि विधवाओं से विवाह भी करने को तैयार थे। उनकी इस 'विधवा विवाह उत्तेजक मण्डली' के कर्मठ कार्यकर्ताओं ने प्रदेशों में धुँआधार प्रचार किया और अपने तत्वावधान में अनेक विधवा विवाह कराये जिसके फलस्वरूप सदियों से चली आ रही एक अन्याय एवं हानिपूर्ण रूढ़ि की शृंखला खण्ड-खण्ड होकर गिर गई और बेचारी विधवाओं की ओर सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देखा जाने लगा। समाज में विधवा-विवाह की चाहे परम्परा भले ही न चल पड़ी। तथापि महर्षि कर्वे ने अपने तप त्याग तथा साहस के बल पर उसका द्वार-उद्घाटन कर दिया। मार्ग बन जाता है, द्वार खुल जाता है, तो देर सबेर लोग उस ओर चलने लगते हैं। यह उस तपस्वी के पुण्य का ही तो प्रभाव है जो आज विधवा-विवाह की उत्साहपूर्वक चर्चा होती सुनाई देती है। और पुनर्विवाहित दम्पत्ति तिरस्कार अथवा तीखी दृष्टि से उस प्रकार नहीं देखा जाता जिस प्रकार पहले देखा जाता था।

अपने उदाहरण तथा विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डली, जिसका कि उन्होंने आगे चलकर 'विधवा-विवाह प्रतिबन्ध-निवारक मण्डली' नाम रख दिया था, के प्रयत्नों के फलस्वरूप महर्षि कर्वे ने समाज की एक हानिकर रूढ़ि को छोड़कर समाज में एक हितकर एवं नूतन प्रथा की स्थापना की। अब उन्होंने इस पर विचार करना प्रारम्भ किया कि इस कल्याणकारी स्थापना को स्थायित्व किस प्रकार मिले। उन्होंने देखा कि रूढ़ि की सताई हुई विधवाओं की दशा बहुत शोचनीय है। न उनमें शिक्षा है और न अपने पैरों खड़े होने की क्षमता। उनकी हीन-दीन दशा इतनी आकर्षक है कि विधवा विवाह के समर्थक व्यक्ति भी उनकी हीनता के कारण उनसे विवाह करने में संकोच करते हैं। ऐसी दशा में विधवा विवाह प्रथा को समाज में स्वाभाविक गति मिल सकना कठिन है। कुछ ऐसा किया जाय कि विधवाओं में आत्म-विश्वास तथा चेतना का जागरण हो। उन्हें शिक्षित

तथा गुणवती बनाकर आकर्षक बनाया जाये । उन्हें ऐसे शिल्प तथा कलायें सिखाई जाये जिससे उनका परावलम्बन तथा हीनता का भाव दूर हो स्त्रीजनोचित का समावेश हो। जिससे लोग उनसे विवाह करने के लिए आकर्षित हों । जब तक विधवाओं को सुशिक्षित बनाकर उनमें आत्मविश्वास का सृजन नहीं किया जायेगा और जब तक वे अपने उपयोगी नारी स्वरूप को पहचान कर कर्तव्य एवं अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं होतीं तब तक प्रयोजन सिद्ध न होगा । निदान उन्होंने विधवाओं की शिक्षा-दीक्षा के लिये एक आश्रम स्थापित करने का विचार किया । जिसका नाम उन्होंने अनाथ बालिकाश्रम मनोनीत किया ।

विचार की उपयुक्तता एवं उपयोगिता निर्णीत होते ही महर्षि कर्वे उसको मूर्तरूप देने के लिये तत्काल सक्रिय हो उठे । उन्होंने गाँव-गाँव में पैदल घूम-घूमकर अपने विचारों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया और लोगों से इस शुभ कार्य में धन दान करने के लिए प्रेरित करने लगे । लोग उसमें दान देने के लिए उत्साहित हों और उनके विचारो की यथार्थता में विश्वास करें इसलिए सबसे पहले उन्होंने अनाथ बालिकाश्रम की निधि में परिवार की आगामी असुविधा को जानते हुए एक हजार रुपये का स्वयं दान किया । महर्षि कर्वे की इस उदारता का लोगों पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा और देखते ही देखते समाज के हितैषी व्यक्तियों ने लगभग छः हजार रुपये की धनराशि जमा करके उनको दे दी ।

आवश्यक धनराशि हाथ में आते ही महर्षि कर्वे ने काम शुरू कर दिया । उन्होंने पूना से करीब तीन मील की दूरी पर एक छोटे से कुटीर का निर्माण कराया और उसी में अनाथ बालिकाश्रम का काम शुरू कर दिया । धीरे-धीरे विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी । स्थान तथा पैसे की कमी होने लगी । श्री कर्वे ने पुनः द्वार-द्वार पर अलख जगानी और प्रचार के लिए सभाएँ प्रारम्भ कर दीं । उन दिनों वे पूना के फर्ग्यूशन कालिज में पढ़ाते तो थे ही । इसलिए प्रचार कार्य के लिए कम समय मिल पाता था साथ ही उन्हें नित्य ही कालेज के बाद पूना से हिंगणे आश्रम का काम देखने तथा पढ़ाने भी जाना होता था । किन्तु जिस काम को कर्वे साहब अपने कन्धों पर ले लिया करते थे उसे पूरा करने में न तो कभी आलस्य करते थे और न किसी कष्ट से घबराते थे । पूना से हिंगणे जाने का कोई ठीक रास्ता न था और न कोई सवारी ही जा सकती थी । इसलिये श्री कर्वे नित्य कालिज के काम से निवृत्त होकर शाम को सारा सामान पीठ पर लादकर आश्रम पहुँचते थे और उस दिन का काम रात में देर तक पूरा करके सवेरे फिर कालिज आ जाया करते थे । इस व्यस्तता के रहते हुए भी उन्होंने अवकाश के दिनों का उपयोग कर अनेक शहरों तथा गाँवों का दौरा करके लोगों को आश्रम की सहायता करने के लिए प्रेरित किया । पचीस-पचीस गाँवों का दौरा करने पर भी जब कर्वे साहब को केवल चार-पाँच सौ रुपया मिला तो उन्होंने सोचा कि जन-समाज में समुचित प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए अभी मेरे त्याग की और आवश्यकता है । निदान उन्होंने प्रचार के सम्बन्ध में आयोजन एवं जन-सभा में अपने जीवन बीमा की पाँच हजार की धनराशि दान कर देने की घोषणा कर दी । बस फिर क्या था । लोगों ने कर्वे साहब के विधवाश्रम को खुले हाथ दान देना शुरू कर दिया ।

पूना के एक इंजीनियर श्रीमान आगारोजी ने अपनी माता की स्मृति में एक हजार रुपये का दान दिया । राजकोट के श्री सीताराम नारायण पण्डित ने न केवल तीन सौ रुपये की नकद धनराशि दी बल्कि पचहत्तर रुपये प्रतिमाह भेजते रहने का वचन दिया जिसको उन्होंने पूरी तरह से निभाया भी और भवन की नई योजना सामने आने पर एक हजार रुपये का नकद और भी दान दिया । इसके अतिरिक्त लाला लाजपतराय, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी, नामदार हिल श्री इचलकरंजीकर, लेडीनार्थ कोर्ट, रमाबाई रानाडे तथा दामोदर पन्त फाटक जी जैसे महान् लोगों ने सैकड़ों हजारों रुपये का दान देकर महर्षि कर्वे के उस पुण्य कार्य का सम्मान किया । किन्तु पारवती बाई आठवले, काशीबाई देवधर प्रभृति महिलाओं तथा अनेक अवकाश ग्रहण करने वाले अध्यापकों ने अपना सारा जीवन ही आश्रम के भेंट कर दिया । महर्षि कर्वे की तपस्या तथा जन सहयोग के बल पर आश्रम का काम पूरी गति से चल पड़ा और शीघ्र ही उसके पास लाखों रुपये के अपने भवन और लाखों की नकद धनराशि हो गई । इस समय उस अनाथ बालिकाश्रम में सैकड़ों विधवायें शिक्षा तथा शिल्प का लाभ उठाकर स्वावलम्बिनी बन रही हैं ।

विधवा आश्रम जिसका कि पूरा नाम अनाथ बालिकाश्रम है, स्थायी सुचारु रूप से संचालित हो जाने के बाद महर्षि कर्वे ने दूसरी ओर ध्यान दिया । उन्होंने देखा कि प्रथम तो देश मे नारी शिक्षा के लिए कोई संस्थाये नहीं हैं और जो हैं भी उनकी दशा बहुत खराब है । भारतीय बालिकाओं को जिस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है वैसी शिक्षा उन संस्थाओं मे नहीं दी जाती है । इस अभाव को दूर करने के लिए महर्षि कर्वे का तपस्वी जीवन तथा समाज-सेवी हृदय उत्सुक हो उठा । उन्होने सोचा कि केवल विधवाओं की दशा में सुधार हो जाने से ही समाज का पूरा स्त्री वर्ग समुन्नत तथा स्वावलम्बी न हो सकेगा ।

बालिकाओं के लिए देश में ऐसी शिक्षा संस्थाओं की बड़ी आवश्यकता है जिनमें उनको शिक्षा के साथ पाकशास्त्र, सन्तान पालन, सिलाई, बुनाई आदि शिल्प तथा संगीत, चित्रकला आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। उनके लिए वह सब कुछ सिखाया जाये जो एक भारतीय गृहणी के लिए आवश्यक है। केवल पढ़ लिखकर नारियों का स्वावलम्बी हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। उन्हें एक सुगृहणी भी बनना है। गृहकला से अनभिज्ञ नारी, फिर चाहे वह कितनी ही सुशिक्षिता क्यों न हो समाज के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। समाज का निर्माण परिवारों से होता है और परिवार निर्माण का उत्तरदायित्व नारी पर है। यदि नारी सुशिक्षिता होने के साथ-साथ गृहकार्य तथा परिवार के पालन में दक्ष नहीं होगी तो वह अपनी ही सन्तानों का समुचित निर्माण नहीं कर सकती। उनकी सन्तानें आप से आप प्रकृति विधि से पल बढ़कर समाज की अयोग्य सदस्य सिद्ध होगी। गृह की सुख-शान्ति तथा व्यवस्था भी नारी पर ही निर्भर करती है। गृहकला में दक्ष नारी से ही यह आशा की जा सकती है कि घर की सारी व्यवस्था सारा प्रबन्ध इस ढंग से रख सकेगी जिससे कि परिवार में पूर्ण शान्ति बनी रहे और सारे परिजन सन्तोषपूर्वक अपनी उन्नति की ओर बढ़ते रहें। नारी शिक्षा की वर्तमान संस्थाएँ तथा प्रणाली उनमें एक दक्ष गृहणी बन सकने की क्षमता उत्पन्न कर सकने में अधिक सफल होती नहीं दीख रही है। जिस प्रकार आज की शिक्षा प्रणाली लड़कों को एक साधारण-सी नौकरी योग्य ही बनाकर छोड़ देती है। उसी प्रकार लड़कियों को भी गृह जीवन के अयोग्य ही बनाती जा रही है। समाज की उन्नति के लिए आवश्यक है कि लड़कियों के लिए ऐसी शिक्षा संस्था तथा प्रणाली की स्थापना की जाये जो उनके सर्वांगीण विकास में पूरी तरह से सहायक सिद्ध हो सके।

विचार की पुष्टि महर्षि कर्वे की क्रियाशीलता का श्रीगणेश ही होता था। उन्होंने पूरी तरह से महिलाओं के लिये एक आदर्श शिक्षा संस्था की आवश्यकता पर विचार कर लिया, बस फिर क्या था वे 'आदर्श-महिला-विद्यालय' का सजीव चित्र लेकर कर्मक्षेत्र में सक्रिय हो उठे। अच्छे काम में उनके पास विलम्ब का कोई प्रश्न ही नहीं था। १९०७ में रंगपंचमी के दिन उन्होंने इस शुभ स्थापना का सूत्रपात कर दिया। छः कन्याओं को लेकर 'आदर्श-महिला-विद्यालय' का मुहूर्त बनाया गया।

महर्षि कर्वे को समाजोद्धार के इस दूसरे स्तम्भ में व्यस्त देखकर जहाँ अनेक लोगों को अपार हर्ष हुआ और वे सहायता के लिए आगे आने लगे। वहाँ बहुत से लोगों को भ्रमवश उनका यह काम उचित न जान पड़ा। ऐसे लोगों में 'अनाथ-बालिकाश्रम' के कार्यकर्ताओं की बहुतायत थी। उन्होंने समझा कि कर्वे साहब इस पहली संस्था से उदासीन हो गये हैं और एक नई संस्था इस संस्था की प्रतिस्पर्धा में खड़ी करना चाहते हैं कितना आश्चर्य है कि लोग यह नहीं सोच पाये कि क्या कोई पिता अपने एक पुत्र की स्पर्धा में दूसरे पुत्र को खड़ा कर सकता है। महर्षि कर्वे के लिए उनकी स्थापना 'अनाथ-विधवाश्रम' किसी प्रकार पुत्र से कम नहीं था। उन्होंने इसका विचार धारण किया, उसको जन्म दिया और स्थायित्व प्रदान किया—तब भला वे उसकी प्रतिस्पर्धा में दूसरी संस्था को जन्म देकर उसका अमंगल किस प्रकार सोच सकते थे। वे तो समाज की दो भुजाओं के समान 'अनाथ बालिकाश्रम' तथा 'आदर्श महिला विद्यालय' को दो सगे भाइयों के समान पालपोष कर खड़ा करना चाहते थे। किन्तु जहाँ विचारशीलता नहीं, किसी बात को ध्यानपूर्वक देखने और समझने का धैर्य नहीं, जहाँ किसी निर्णय में क्षिप्रता बर्तने की दुर्बलता हो वहाँ भ्रम होना स्वाभाविक ही है। अनाथ बालिकाश्रम के कार्यकर्ताओं को भ्रम हुआ और उन्होंने अपने इस भाव को यह कहकर व्यक्त कर डाला कि अण्णा साहब यदि अविधवाओं के लिये कुछ करना चाहते हैं तो इस संस्था से पृथक् होकर करें।

निश्चय ही अण्णा साहब के लिये यह एक दुःखव्यापी अपमान की बात थी। किन्तु जिस महात्मा ने अपनी मनोवृत्तियाँ, समाज सेवा मे निमग्न कर इस सीमा तक गुणातीत बना ली हों कि उन पर किसी प्रतिक्रिया का कोई प्रभाव ही न पड़े, उसे भला उत्तेजना हो भी कैसे सकती थी। उनका सारा अहंभाव भारतीय नारी और अनाथ विधवाओं की कारुणिक दशा में डूबकर समाप्त हो चुका था। उन्होंने अपने उन सहयोगियों के उस प्रस्ताव का जरा भी बुरा न माना और हँसकर उत्तर दिया, मैं जो कुछ कर सकता हूँ, कर लेने दो, बाद में मैं स्वयं ही हर स्थान से हट जाऊँगा। मैं तो संसार में कल्याण कार्यों में नींव का पत्थर बनने आया हूँ वह मुझे बनाना ही है। मुझे इस आत्मोत्सर्ग से वंचित करना क्या आप लोगो को सुखकर होगा? असंतुष्ट कार्यकर्ताओं ने देखा कि अण्णा साहब में ऋषि की पवित्र आत्मा विकसित हो गई है। उन्हें तुरन्त अपनी भूल का भान हुआ और उन्होंने उनसे न केवल क्षमा ही माँगी बल्कि उनके दूसरे काम मे प्राणप्रण से सहयोग करने की प्रतिज्ञा कर ली। मनुष्य की, धैर्य से स्थिर क्षमापूर्ण सद्वृत्ति किसका हृदय परिवर्तन नहीं कर सकती? आदर्श-महिला-विद्यालय का काम तेजी से चल पड़ा।

समाजोद्धार के दूसरे मोर्चे से महर्षि का शंखनाद गूँजा और सेवा-सैनिक तन-मन-धन लेकर चल पड़े । सन् १६११ में हिंगणें के निकट ही विधालय भवन के लिए भूमि खरीदना निश्चय हुआ । किसी प्रकार १६५० रुपये का प्रबन्ध हुआ और जमीन खरीद ली गई । अब भवन निर्माण का बड़ा व्यय साध्य कार्य सामने आया । कर्वे साहब के सामने उनका परखा हुआ उपाय [redacted] । जो काम दूसरों से कराना चाहते हो पहले स्वयं करो उन्होंने दान का प्रतिवेदन करने के साथ अपने पास से तीन हजार रुपये देने की घोषणा की । यह तीन हजार रुपये की धनराशि अण्णा साहब की परिवार-सुरक्षा निधि थी । किन्तु इससे क्या अकेले अपने परिवार की सुरक्षा का क्या महत्व । सारा समाज सुरक्षित है, सारे परिवार सुरक्षित हैं । समाज से पृथक् परिवार का अस्तित्व है कहाँ ? और फिर समग्र समाज ही जिसका अपना परिवार बन चुका हो ऐसे विशाल भावी महर्षि को अकेले अपने परिवार की चिन्ता हो कैसे सकती थी ! ऐसी व्यष्टि प्रधान आत्माओं के प्राण ही उस प्रकार की संकीर्ण-विचार परिधि में घुटने लगते हैं । उन्हें आत्मघात जैसी पीड़ा होने लगती है ।

निःस्वार्थ तथा कल्याणभावी नेता की प्राथमिकता जनता के लिये प्राणपूर्ण प्रेरणा बनती है । चारों ओर से धन स्वीकृति की प्रार्थनायें आने लगीं । श्री गोपालकृष्ण गोखले ने भारत सेवक समाज की निधि में से तुरन्त पाँच हजार रुपये भेंट किये और वाड़ियानिधि के सेक्रेट्री ने आठ हजार रुपये का नकद दान किया । देखते ही देखते आदर्श महिला-विधालय का विशाल भवन बन करके खड़ा हो गया । उसे देखकर अण्णा साहब हर्ष-विभोर होकर कह उठे । 'अनाथ बालिकाश्रम' के विशाल वृक्ष पर ही यह नूतन पौधा स्थित हुआ है और उसकी छाया में इसका पोषण भी होगा । इस मनोहर तथा मनोज्ञ अभिव्यक्ति के दोनों संस्थाओं के एकत्व का सन्देश देते हुए लोगों के रहे-सहे भ्रम का भी निवारण कर दिया । सभी लोग उन दोनों संस्थाओं को दो सहोदरों की भाँति समान श्रद्धा एवं स्नेह से देखने लगे ।

दो कल्याणकारी संस्थाओं की स्थापना हो गई । ये दोनों बहुत ही उपयोगी स्थापना थीं । किन्तु संस्थाओं की स्थापना मात्र ही पर्याप्त नहीं होती । उनका संचालन सो भी सुचारु संचालन उससे भी अधिक महत्वपूर्ण होता है । संस्थाओं के समुचित संचालन के लिये उचित कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है और यह आवश्यकता तब पूरी होती है जब अच्छे लोगों की खोज की जाये और उस योग्य उनका निर्माण किया जाये । अण्णा साहब ने इस ओर ध्यान दिया और 'निष्काम कर्ममठ' के नाम से एक और संस्था स्थापित की । कमी प्रारम्भ की होती है, समाज सेवा रखने वालों की नहीं । भगवती भागीरथी का नैकट्य पाकर कौन ऐसा होगा जो उसके पवित्र प्रवाह में स्नान कर पुण्य लाभ न करना चाहे । 'निष्काम-कर्ममठ' में निष्काम-कर्म-योगियों की संख्या बढ़ने लगी । एक के प्रारम्भ किये हुए समाज सेवा के कार्य में अनेकों का सहयोगी होना ही सच्ची सामाजिक भावना है । किसी संस्था को स्थापित करना अथवा पूरे तन-मन से उसमें योगदान करना समान रूप से ही महत्वपूर्ण है । जो लोग ऐसा सोचते हैं कि संस्था तो अमुक ने स्थापित की है, यह उसकी है, उसका सारा श्रेय उसे ही मिलेगा, मैं इसमें सहयोग क्यों करूँ वे वास्तव में अहंकार रूपी पिशाच से ग्रसित होते हैं, उनमें अकर्मण्यता के साथ ईर्ष्या का दोष रहता है । ऐसी निकृष्ट तथा असामाजिक भावना से मनुष्य को सदा ही सावधान रहना चाहिए और जल्दी से जल्दी इस मोह जाल से मुक्त होकर किसी भी समाज सेवी संस्था में, मानव-जीवन को सार्थक तथा धन्य बनाने के लिए नियोजित हो जाना चाहिये ।

निष्काम-कर्ममठ में निष्काम कर्मयोगी आने लगे और इस संकल्प के साथ अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने लगे-समाज सेवा ही हमारी ईश्वर सेवा है, उसकी सेवा करने में ही पुण्य परमार्थ समझना हमारी श्रद्धा है । विश्व के सृजनहार परमात्मा को साक्षी कर इस पुण्य कार्य में मैं अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण करता हूँ । आज से अब इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं होगा । संस्था की आवश्यकता के अनुसार ही अब हमारा यह जीवन संचालित तथा नियन्त्रित होगा ।

निष्काम-कर्ममठ की स्थापना हो जाने पर अण्णा साहब ने अनाथ बालिकाश्रम, आदर्श-महिला-विधालय तथा निष्काम-कर्ममठ, तीनों संस्थाओं को मिलाकर 'महिलाश्रम' के नाम से एकीकरण कर दिया । इस प्रकार उन्होंने समाज सेवा की एक ऐसी त्रिपथगा का निर्माण कर दिया जो कर्तव्य स्वरूप में भिन्न होते हुए भी उद्देश्य एवं परिणाम में एक ही थी ।

महिलाओं के उत्थान कार्य के माध्यम से महर्षि कर्वे ने समाज सेवा का जो सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण कार्य किया वह है 'भारतीय-महिला-विधापीठ' की स्थापना । अनाथ-बालिकाश्रम, महिला विधालय एवं निष्काम कर्ममठ की स्थापना हो जाने पर भी महर्षि कर्वे की आत्मा आश्वस्त नहीं हुई । अभी कुछ और अधिक करना है-ऐसी एक पुकार निरन्तर उनके अन्तःकरण में प्रतिध्वनित होती रहती थी और वे निरन्तर उस पर विचार करते रहते थे । किन्तु

कोई सूत्र हाथ न आता था । जिज्ञासा बढ़ती ही गई साथ ही विचार मन्थन भी । तभी एक दिन डाक के साथ उन्हें जापानी महिला विद्यापीठ की एक विवरण पुस्तिका मिली । आवश्यक कामों से निपटकर उन्होंने उसे खोला और एक सरसरी नजर उस पर डाली । उन्हें ऐसा लगा कि उनके अंतःकरण की पुकार का उत्तर इस विवरण पत्रिका में निहित है । निदान यह जापानी महिला विद्यापीठ की विवरण पत्रिका उसके अध्ययन का विषय बन गई और उन्होंने और क्या करना है—इस आत्मिक प्रश्न का उत्तर खोज निकाला महिलाओं के लिए एक विशाल राष्ट्रव्यापी संस्था की स्थापना—यही वह उत्तर था—बस महर्षि कर्वे के विचार पटल पर 'भारतीय-महिला-विद्यापीठ' का चित्र प्रतिबिम्बित हो उठा और वह समाज सेवा का महान् महारथी तत्काल सक्रिय हो उठा ।

सन् १९१५ में बम्बई में होने वाली राष्ट्रीय सामाजिक परिषद के इस अधिवेशन में अण्णा साहब ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए भारतीय-महिला-विद्यापीठ की अपनी नवीन योजना जनता के सम्मुख रखते हुए उसके उद्देश्यों को बतलाया जो इस प्रकार थे ।

(१) विचारों में मौलिकता और व्यवहार में सरलता एवं सादगी का विकास ।

(२) जाति-धर्म निरपेक्ष उदार वृत्तियों का विकास करना ।

(३) लड़कियों को सद्गृहिणी की कर्तव्य-निष्ठा एवं उनकी महत्ता समझकर, उनमें सामाजिक चेतना का जागरण करना ।

(४) बालकों की तरह बालिकाओं की भी कौमार्य एवम् ब्रह्मचर्य की अवधि बढ़वाने का प्रयत्न करना । जो पहले आठ वर्षों से बारह वर्षों तक और फिर बीस वर्ष तक अग्रसर करना ।

(५) लड़कियों में आत्म-निर्भरता एवं आत्म-विश्वास की प्रवृत्ति का विकास करना ।

(६) बालिकायें यथार्थ रूप से सुपत्नी, सुगृहिणी तथा सुमाता बन सकें इसके लिये उन्हें गृहकला में कुशल बनाया जाना और पाक शिक्षा से इस योग्य बना देना चाहिए जिससे कि वे आठ-दस लोगों का भोजन सुविधापूर्वक ठीक ढंग से बना सकें ।

(७) उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उचित पाठ्यक्रम निश्चित करना और शिक्षा एवं प्रशिक्षण का व्यावहारिक अभ्यास भी कराया जाना चाहिये ।

भारतीय-महिला-विद्यापीठ के उद्देश्य स्पष्ट करने के साथ उन्होंने यह भी बतलाया कि विद्यापीठ की सबसे बड़ी विशेषता यह रहना है कि बालिकाओं को जो भी शिक्षा दी जायेगी वह उनकी मातृभाषा में होगी । शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी न रखी जायेगी और किसी भी प्रादेशिक भाषा में शिक्षा देने वाला स्कूल व कालिज विद्यापीठ से संलग्न हो सकेगा । जिन बालिकाओं को कालिज जा सकने का अवसर न होगा वे घर पर ही पाठ्यक्रम पूरा कर परीक्षा दे सकेंगी । इसी प्रकार बहुत दूर रहने वाली छात्राओं को यह सुविधा दी जायेगी कि वे अपने स्थान पर ही विद्यापीठ की परीक्षा दे सकें । इस प्रकार भारतीयता के आधार पर स्थित यह विद्यापीठ लड़कियों को प्रपंचशास्त्र, पाकशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, चित्रकला, संगीत कला आदि की शिक्षा देकर तीन वर्षों में मैट्रिक पास करने के बाद ही बी. ए. (गृहीतागमा) की उपाधि दी जायेगी ।

महर्षि कर्वे द्वारा प्रस्तुत 'भारतीय-महिला-विद्यापीठ' की इस विशाल राष्ट्रव्यापी योजना ने जनता को आमूल अभिभूत कर दिया । अपने-अपने बौद्धिक स्तर के अनुसार लोगों ने उसे सुना और समझा । ऐसा नहीं कि उन्हें इसके लिये केवल समर्थन ही प्राप्त हुआ हो । विरोध का भी सामना करना पड़ा । हल्के तथा सामान्य धरातल वाले कतिपय बुद्धिवादियों ने तो यहाँ तक कह डाला कि यह एक ऐसी कल्पना है जिसको व्यावहारिक रूप दे सकना असाध्य है । इस प्रकार की विद्यापीठ की स्थापना का स्वप्न देखना प्रथा में उस दूरदर्शी दृष्टिकोण की कमी को ध्वनित करता है जिसके कारण 'विद्यापीठ' जैसे शब्द से प्रतिबिम्बित होने वाले उच्च आदर्श को नहीं देखा जा सकता । किन्तु उस वीतराग समाज सेवी पर इस विरोध का प्रभाव ही क्या पड़ना था। वह सुयोग्य समर्थकों को लेकर योजना में तन-मन-धन से एक निष्ठ होकर नियोजित हो गया । कन्धे पर झोली डालकर धन तथा जन समर्थन के लिए नगर-नगर गाँव-गाँव में अलख जगाने के लिए निकल पड़ा । इस सदुद्देश्य के लिए उस वयोवृद्ध मिश्र ने गुजरात से मद्रास तक का अविराम दौरा किया । मदुरईत्रिचनापल्ली, बंगलौर, तंजौर, कुम्भकौणम, राजमहेन्द्री आदि न जाने कितने स्थानों की धूल छान डाली और अनेक समर्थक तथा सहायक खोज निकाले । उस दिशा से निबटकर वह परमार्थपर्यटक दूसरी दिशाओं में चला और पुनः पूना, बम्बई, गुजरात होता हुआ मध्यभारत, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल को मथता हुआ दक्षिण, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मैसूर और मद्रास की ओर घूम गया । इस प्रकार लगभग पूरे राष्ट्र का चक्कर लगाकर उस कर्मयोगी ने विद्यापीठ के स्थायित्व के लिए लगभग ६० स्थायी सदस्य बनाये और हर प्रान्त एवं प्रदेश को विद्यापीठ की राष्ट्रीय योजना में ग्रथित कर दिया ।

महर्षि की साधना पूरी हुई और सुफल साकार होने लगे । अण्णा साहब ने संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित डॉक्टर भण्डारकर को कुलपति तथा डॉक्टर रङ्गलर परांजवे को उपकुलपति का दायित्व सौंपकर साठ सदस्यों , (पचपन पुरुष और पाँच महिलाओं के साथ ३ जून १६१६ की पुण्य तिथि पर) महान् 'भारतीय महिला विद्यापीठ' का शिलान्यास कर दिया ।

सबसे पहले महात्मा गाँधी ने बधाई के साथ दस रुपये भेजकर उसकी महत्ता स्थापित की और उपरान्त श्री म० के० गाडगिल ने दस हजार रुपये विद्यापीठ को दान-देकर देश-देशान्तर के उदार व्यक्तियों को पुण्य परमार्थ का द्वारा दर्शा दिया । फिर तो अफ्रीका निवासी श्री लाँडेजी ने छब्बीस हजार और दानवीर श्रेणी सर विट्ठलदास ठाकरसी ने तो पन्द्रह लाख रुपये का दान देकर भारतीय महिला विद्यापीठ का भण्डार ही भर दिया । उसकी आर्थिक समस्या स्थायी रूप में हल हो गई । लाखों रुपये जगत् के उसके भवन बन गये । अनेक वैतनिक तथा अवैतनिक शिक्षक, शिक्षिकायें अपनी सेवायें देने लगे और सैकड़ों हजारों लड़कियाँ पढ़ने तथा प्रशिक्षित होने के लिए आने लगीं । इस प्रकार राष्ट्रीय उद्धार का वह आन्दोलन तीव्रता एवम् सरलतापूर्वक एक स्थायी कार्यक्रम के रूप में चल निकला । अण्णा साहब इस ओर से निवृत्त होकर दूसरे क्षेत्र में चल दिये ।

अण्णा साहब का यह दूसरा कार्यक्षेत्र और कुछ नहीं, विद्यापीठ का ही प्रचार कार्य था । विद्यापीठ की पद्धति के अनुसार जहाँ भी किसी कालिज अथवा स्कूल खुलने की आवश्यकता एवं सम्भावना होती वे तुरन्त वहाँ जाते और संस्था स्थापित करने में सहायता करते । इस प्रकार अण्णेगिरि, सतारा, वेलगाँव आदि न जाने कितने स्थानों पर उन्होंने अनेक कन्याशालायें तथा स्कूल कालिज खोले और खुलवाये ।

सम्पूर्ण देश में महिला शिक्षा की दिशा में जन-जागरण कर उन्होंने सत्तर वर्ष की परिपक्व आयु में विद्यापीठ का विश्वव्यापी प्रचार करने के लिये बीड़ा उठाया और १६२६ में इस पुनीत पृथ्वी प्रदक्षिणा पर निकल पड़े । अपनी इस यात्रा में उन्होंने स्विटजरलैंड, आयरलैंड-फ्रांस, अमेरिका, इंगलैंड, चीन, जापान, मलाया आदि न जाने कितने पूर्वीय तथा पाश्चात्य देशों की यात्रा की । इस यात्रा की अवधि में उन्होंने न केवल विद्यापीठ का दृष्टिकोण ही प्रचार किया अपितु उसके लिए धन सग्रह भी किया और लगभग सैतालीस हजार रुपया विद्यापीठ को दिये । जिनेवा, डेन्मार्क, अमेरिका, न्यूयार्क, जापान आदि में होने वाली शिक्षा परिषदों, सभाओं तथा अधिवेशनों में उन्होंने महिला शिक्षा सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण तथा विद्यापीठ के महान् उद्देश्यों को प्रकट कर देश-देशान्तरों के प्रतिनिधियों को इस सीमा तक प्रभावित किया कि विदेशों में देश की शाखा ऊँची हो गयी और लोग भारतीय महिला विद्यापीठ के न केवल समर्थक एवं सहायक ही बन गये बल्कि उससे कुछ सीखने के लिये भी उत्सुक हो गये । इस यात्रा के बाद महर्षि कर्वे अमेरिका गये और वहाँ पर भी अपने दृष्टिकोण का न केवल प्रचार ही किया बल्कि वहाँ की विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों से लगभग चौबीस हजार रुपये भी विद्यापीठ के लिये इकट्ठे किये ।

अपनी इस संसार यात्रा में अण्णा साहब ने जिस मितव्ययता का उदाहरण प्रस्तुत किया वह निःसंदेह किसी भी सार्वजनिक कार्यकर्ता के लिए अनुकरणीय है । आज जहाँ लोग राष्ट्र अथवा समाज के किसी छोटे से काम के लिए भी किसी देश की यात्रा करते हैं तो उनकी कतिपय दिनों की यात्रा मे ही लाखों रुपयों का बिल राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के मत्थे आ जाता, वहाँ महर्षि कर्वे की इस विशाल विश्व यात्रा में कुछ हजार ही खर्च हुए । इसमें भी उन्होंने मात्रा का अधिकाश व्यय अपने पास से ही किया। वे इस यात्रा में किसी हद तक मितव्ययी रहे इसका अनुमान एक इसी बात से लगाया जा सकता है कि जब उन्हें पता चला कि विदेशों में एक बार दाढ़ी बनवाने के लिए एक रुपया तक खर्च करना पड़ता है तो उन्होंने दाढ़ी ही रखा दी और कहा—"अपने हाथ से दाढ़ी बनाना तो मुझे आता ही नहीं है, और इसके अभ्यास के लिए मेरे पास समय नहीं है साथ ही एक बार की दाढ़ी बनवाने के लिए एक रुपये की राशि खर्च करना मेरी दृष्टि में घोर अपव्ययता है। अस्तु दाढ़ी रखा देने के सिवाय और कोई विकल्प मेरे पास नहीं है ।"

मितव्ययतापूर्ण अर्थ नियन्त्रण अण्णा साहब के चरित्र का एक अभिन्न अंग था । इस विषय में बाहर से लेकर घर तक उनका एक जैसा व्यवहार रहता था । उनकी इस अर्थ दृढ़ता के विषय में उनकी पत्नी आनन्दीबाई ने स्वयं एक स्थान पर कहा है—

"कर्वे जी का आर्थिक व्यवहार अत्यन्त स्पष्ट होता है । वे पाई-पाई का हिसाब रखते हैं । यह संख्या के व्यवहार में ठीक है, लेकिन घर में भी वे उसी कंजूसी का परिचय देते हैं ।"

पत्नी से इस बात का उलाहना पाने पर उनका उत्तर रहता था—"मेरा जीवन जितना पारिवारिक है उससे कहीं अधिक सार्वजनिक है । यदि परिवार के आर्थिक मामलों

में मैं अपना स्वभाव तथा हाथ बिगाड़ लूँगा तो निश्चय ही मेरा अभ्यास खराब हो जायेगा और सार्वजनिक विधि के संचालन में स्खलन का दोषी बनूँगा जो कि मेरे लिए मरण से भी अधिक दुःखदायी बात बनेगी । घर को मैं अपने सार्वजनिक जीवन की प्रयोगशाला मानता हूँ कि जो जिस अनुशासन एवं नियमों को अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन में सफलतापूर्वक नियोजित नहीं कर सकता वह सार्वजनिक जीवन में भी असफल रहेगा । मनुष्य के एक से अधिक स्वभाव अथवा अभ्यास नहीं हो सकते, जिससे कि यह व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सार्वजनिक जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार कर सकें । पारिवारिक जीवन में जिस व्यवहार की सिद्धि कर सकेंगे, वही व्यवहार हमारा समाज में भी रहेगा उससे भिन्न नहीं हो सकता । परिवार समाज का एक ही छोटा रूप है । सामाजिकता की सिद्धि पारिवारिक जीवन से ही प्रारम्भ होती है । हो सकता है कि मेरे इस अर्थ नियन्त्रण से आप लोगों को कुछ असुविधा होती हो, किन्तु मुझे खेद है कि मैं इस विषय में विवश हूँ, अपना अभ्यास विकृत नहीं कर सकता ।"

मेरा तो जीवन सार्वजनिक है और एक लोक सेवक के परिवार को हर प्रकार से सहनशील तथा सन्तोषी होना चाहिए–"ऐसी अपेक्षा करने का शायद मुझे अधिकार है । आवश्यकताओं की अपूर्ति में यथासम्भव कमी न होने दूँगा और अतिरिक्त सुख-सुविधा की साधना से न तो मैं अपना अभ्यास ही बिगाड़ूँगा और न आप लोगों का स्वभाव खराब करने का अनुत्तरदायित्व कर सकता हूँ । हम सब तो लोक सेवा के सैनिक हैं । कष्ट, असुविधा तथा यदा-कदा अभाव तो हम लोगों के अलंकरण और सन्तोष हमारी शोभा शक्ति तथा सम्मान है ।'

विश्व भ्रमण से निवृत्त होकर अण्णा साहब पुनः भारत आये और स्थान-स्थान पर शिशु विहार, बाल अध्ययन मन्दिर तथा शिशुशालायें स्थापित करने में लग गये । इसी अवधि में उन्होंने बम्बई, अहमदाबाद, पूना, सूरत, बड़ौदा, भावनगर आदि न जाने कितने स्थानों के महिला, विद्यालय, कालिज तथा कन्याशालायें विद्यापीठ से संलग्न कराईं और नई-नई शिक्षा संस्थाओं को जन्म एवं जीवन दिया ।

इस प्रकार लगभग सौ वर्ष की आयु तक महर्षि कर्वे नारी उत्थान के कार्यों द्वारा देश का कल्याण करते हुए पुण्य प्राप्त करते रहे यह उन्हीं के पुरुषार्थ तथा सच्ची सेवा भावना का ही फल है कि उनकी स्थापित की हुई संस्थाओं में लगभग तीन- चार हजार बालिकायें शिक्षायें पा रही हैं और सैकड़ों प्रतिवर्ष गृहीतागमा (जी. ए.) पी. ए. (प्रदेयागमा) जो कि बी. ए. और एम. ए. के समकक्ष माना जाता है–की उपाधि ले लेकर निकल और राष्ट्र की सेवा कर रही हैं । वे अनाथ विधवायें जो समाज के लिए अभिशाप और अपने लिये घोर भार बनी हुई थी आज अण्णा साहब के आश्रम में हँसती, खेलती, पढ़ती और शिल्प सीखती हुई स्वावलम्बिनी और लाठी, लेजम आदि की शस्त्र शिक्षा पा-पाकर सिंहनी बनती हुई अपने पैरों खड़ी होती जा रही हैं ।

कहना न होगा कि महर्षि कर्वे की तपस्या त्याग तथा परिश्रम के फलस्वरूप राष्ट्र के उद्धार में जो सहयोग एवं सहायता मिली है वह अमूल्य है । उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, जिसके लिये यह समाज-सेवा का दिव्यदूत युगों-युगों तक राष्ट्र-सेवी श्रद्धालुओं द्वारा हमेशा स्मरण किया जाता रहेगा ।

धार्मिक अन्धविश्वासों के संशोधक मार्टिन लूथर

हमारे देश में धर्म की बड़ी महिमा है । अधिकांश देशों के निवासी तो कहते हैं कि संसार में धन ही सब कुछ है, उसी के लिये मनुष्य को उद्योग करना चाहिये, पर यहाँ ऐसे लोगों की ही अधिकता है जो धर्म को जीवन का सार बतलाते हैं । हम लोग आरम्भ से ही 'धर्मो रक्षति रक्षितः' जैसे शास्त्र वाक्यों को सुना करते हैं और यह भी विश्वास करते हैं कि धर्म ही इहलोक और परलोक में मनुष्य का सच्चा सहायक है । यही कारण है कि 'धर्म-भावना' ने भारतीय समाज को ऐसा ओत-प्रोत किया है कि यह कहावत प्रसिद्ध हो गई है–"एक हिन्दू का जन्म से लेकर मृत्यु तक का समस्त जीवन धर्म पर ही आधारित होता है ।"

वास्तव में यदि हम अपने शास्त्रों में बतलाये–"षोडश धर्म संस्कारों" पर विचार करें तो निश्चय हो जाता है कि उपर्युक्त कहावत में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं हैं । हमारे जन्म लेने से ही पहले गर्भाधान, सीमन्त आदि संस्कार आरम्भ हो जाते हैं और फिर 'नामकरण, विद्याध्ययन, उपनयन,' आदि संस्कार होकर अन्त में 'मरणोत्तर संस्कार' भी बहुत अधिक विधि-विधान से पूरा किया जाता है । आज चाहे इन संस्कारों का ही रूप विकृत हो जाने से लोग उनको वास्तविक महत्व से अनजान हो गये हैं और केवल लकीर पीटने की तरह नाम मात्र को कुछ रस्म अदा कर देते हैं पर यदि इन धर्म संस्कारों के स्वरूप और क्रम पर विचार किया जाय तो स्पष्ट विदित होता है कि हमारा जीवन निश्चय ही धर्म द्वारा अनुशासित है और यदि हम सच्चे अर्थों में

उसका पालन करें तो हमारा मानव-जन्म सार्थक हो सकता है ।

पर समय का एक मुख्य लक्षण परिवर्तनशीलता भी माना गया है और इसके प्रभाव से हमारे सांसारिक व्यवहारों की तरफ धार्मिक विधि-विधानों में भी अन्तर पड़ता रहता है । समय आता है कि हम उसके लाभकारी और समयोपयोगी रूप को भूलकर कुछ निरर्थक रस्मों को ही पालन करने लग जाते हैं और अपने मन में समझते रहते हैं कि हम धर्माचरण करते तो हैं । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतवर्ष के सभी प्राचीन मनीषियों ने अपनी रचनाओं में सबसे पहले धर्म की व्याख्या कर दी है.और यह स्पष्ट कह दिया है धर्म का एक प्रत्यक्ष और सबकी समझ में आ सकने वाला लक्षण यह है कि उसके द्वारा मनुष्य का लोक और परलोक दोनों में सदा-सर्वदा कल्याण ही होता है । उदाहरणार्थ वैशेषिक दर्शन के आरम्भ में ही कहा गया है—

"यतोऽभ्युदयानिःश्रेयससिद्धिस्स धर्मः' ।"

अर्थात् "जिसके द्वारा संसार में सब प्रकार कल्याण और उन्नति हो और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है ।" इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि धर्म से ही लोक-कल्याण की सिद्धि होती है । जहाँ धर्म न होगा वहाँ पाप कर्मों के कारण श्रेष्ठ कामों की तरफ मन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और लोकाचार अर्थात् अतिथि सत्कार सदाचार अहिंसा आदि कर्मों द्वारा घर का वातावरण भी दूषित रहता है और वहाँ दुष्कर्मों का साम्राज्य होने से कभी कल्याण के दर्शन होते ही नहीं ।" "मनुस्मृति" (मानव-धर्म शास्त्र) और अन्य धर्म ग्रन्थों में भी धर्म का मुख्य लक्षण यही बताया गया है कि जिस मार्ग का अनुसरण करने से चिरस्थायी सुख और आन्तरिक शान्ति प्राप्त हो वही धर्म है।

धर्म में विकृति

पर ऋषियों और ज्ञानी पुरुषों के सिद्धान्त और उपदेश को सुनकर भी अनेक मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये अर्थ का अनर्थ करके धार्मिक विधि-विधानों में हानिकारक परिवर्तन करने में संकोच नहीं करते । पुराणों में एक कथा आती है कि अति प्राचीनकाल में लोग वन, जंगल खेतों आदि से जिन फल-फूल और खाने योग्य बीजों को इकट्ठा करते थे, उन्हीं का एक अंश यज्ञाहुति के रूप में देवताओं को भी भोग लगा देते थे । बाद में कुछ लोग माँसाहारी हो गये और माँस की ही आहुति देने लगे ।

इस कार्य को तमाम भावापन्न और आध्यात्मिकता के विपरीत समझकर ऋषियों ने इसका विरोध किया । इस पर सब लोग एक वृद्ध राजा के पास इसका निर्णय कराने गये । माँसाहारियों में राजा के अनेक अनुयायी भी थे, इसलिये उसने उनके पक्ष में निर्णय कर दिया और जनता में 'माँसाहुति' का इतना अधिक प्रचार हो गया कि अनेक यज्ञों में तो साक्षात् कसाईखाने का सा दृश्य दिखाई पड़ने लगा । इस दुर्दशा का सुधार करने के लिए महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने प्रयत्न किया । आरम्भ में उनको कुछ सफलता प्राप्त हुई, पर स्वार्थी व्यक्तियों ने देवी की पूजा के नाम पर बलिदान की प्रथा प्रचलित कर दी और आज अनेक मन्दिरों में नवरात्रि के अवसर पर खून की धारा बह जाती है ।

इसी प्रकार स्वार्थी और अन्धविश्वासों के प्रचारक धर्म में विकृति करते रहते हैं । वे उत्तम से उत्तम नियमों में धीरे-धीरे ऐसा परिवर्तन ला देते हैं कि वह लाभकारी होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध होने लग जाता है और जनता के नैतिक पतन का कारण बन जाता है । ऐसे ही लोगों ने धर्म की ऐसी छीछालेदर की कि दिवाली के उपलक्ष्य में जुआ खेलना, होली के अवसर पर अश्लील गालियाँ बकना, शिवरात्रि पर भाँग और गाँजा का सेवन करना भी 'धर्म का अंग' मान लिया गया । इन कुप्रथाओं ने आज तक कितने लोगों को पतनोन्मुख बनाकर पाप-मार्ग पर चलाया होगा, उनकी गिनती नहीं की जा सकती ।

ईसाई-धर्म में भ्रष्टाचार की पराकाष्ठा

जो दुर्दशा हमारे देश में धर्म की देखने में आती है, वही योरोप में किसी समय ईसाई-धर्म की हो गयी थी । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा ईसा के उपदेश दया उदारता भ्रातृभाव आदि पर आधारित अत्यन्त धर्मानुकूल और कल्याणकारी थे । उन्होंने सेवा और परोपकार को ही परम धर्म बतलाया और त्याग पर इतना अधिक जोर दिया कि धनवान व्यक्तियों को स्वर्ग में जा सकने के सर्वथा अयोग्य घोषित कर दिया था । उन्होंने उच्च स्वर में कहा-"सुई नाके (छेद) में होकर ऊँट का निकल जाना भले ही सम्भव हो जाय पर धनवान व्यक्ति स्वर्ग के द्वार में होकर भीतर नहीं घुस सकता ?" उनका आशय यही था कि अधिक धन प्रायः अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार के द्वारा ही कमाया जाता है और फिर उसके फलस्वरूप मनुष्य में अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ और दुर्व्यवहार उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये बुद्धिमान धर्मात्मा मनुष्य को उससे शुरू से ही सावधान रहना चाहिये ।

कुछ समय तक तो महात्मा ईसा के उपदेशों का प्रभाव लोगों पर बना रहा और अनेक धनवानों के पुत्रों ने सर्वस्व त्यागकर गरीबों की सेवा का व्रत ग्रहण कर लिया और वे ही सन्त (सेण्ट) कहलाये । पर क्रमशः उसमें स्वार्थियों का प्रवेश होने लगा और वे ईसाई साधुओं (पादरियों) का वेष धारण करके धर्म की दुकानदारी करने लग गये । जिस प्रकार हिन्दी धर्म में कितने ही पण्डित-पुजारियों ने ऋषियों के बतलाये अध्यात्म, ज्ञान, उपासना, निष्काम कर्म के उच्च सिद्धान्तों को अदल-बदलकर केवल ब्राह्य पूजा-पाठ और दक्षिणा देने को ही सबसे बड़ा धर्म बना दिया उसी प्रकार ये पादरी सर्वसाधारण को अपना पेट-पूजा के अनुकूल धर्म क्रियाओं का उपदेश देने लगे । उनका वर्णन करते हुए तत्कालीन इतिहासों में कहा गया है--

"उन दिनों ईसाई मत के नाम पर बहुत से दुराचार समाज में फैलाये गये थे । ईसाई पुजारी (पादरी) अपने को ही जगतपूज्य और बड़ा बतलाते थे । वे लेटिन (प्राचीन भाषा) में पूजा-पाठ और प्रार्थना करते थे, जिसका प्रचलित भाषा में उलथा करना पाप समझा जाता था । वे अपने में अद्भुत शक्ति बतलाते थे । वे ईश्वर से पाप भी क्षमा कराते थे । यदि कोई मनुष्य पाप करता और उसे पादरियों से कह देता तो वे उसे पाप मुक्त करा सकते थे । वे इस कार्य की फीस (दक्षिणा) लेते थे ।"

किसी ने कोई पाप किया और जाकर पादरी से कहा कि मुझसे अमुक पाप हो गया है तो पादरी हुक्म देते थे--'अच्छा माता मरियम की मूर्ति के सम्मुख २० दीपक जला दो और यह मंत्र ५० बार जपो ।' किसी से कहा जाता था कि 'जाओ, अमुक तीर्थ की यात्रा कर आओ ।' पापी से रुपया पाने पर वे उसके पाप को क्षमा करने की प्रार्थना ईश्वर से करते थे । धनाढ्य परमात्माओं से वे 'पाप-विमोचन' (प्रायश्चित) के लिये खूब रुपया लेते थे । सर्वसाधारण को उन्होंने विश्वास दिला रखा था कि वे रुपया लेकर पापियों को नरक की यातना से बचा सकते हैं, और नरक में गिरी हुई पापात्माओं का उद्धार करा सकते हैं । इस प्रकार उनको खूब आमदनी होती थी ।"

इस प्रकार ठगी करने वाले पादरियों का नेता रोम नगर का पोप था । वह अपने को प्रभु ईसा का खास प्रतिनिधि बतलाता था और जगतगुरु होने का दावा करता था । उसने अपने इन अनुयायियों की सहायता और तरह-तरह की चालों से अपना प्रभाव समस्त योरोप में इतना जमा लिया था कि बड़े-बड़े राजाओं को गद्दी पर बैठाना या उतार देना उसके लिए साधारण बात हो गई थी । यद्यपि पोप और उसके अनुयायी उन महन्तों के क्वारे (ब्रह्मचारी) रहने का नियम था, पर वे पर्दे की आड़ में हर तरह का दुराचार करते थे । आजकल हमारे देश के महन्तों और साधुओं की जो दशा दिखलाई पड़ रही है, उन पादरियों का रहन-सहन और आचरण उसी के अनुरूप था ।

इतना ही नहीं पोप का राजाओं और समस्त बड़े अधिकारियों पर धार्मिक आधिपत्य होने से वह अपने विरोधियों को कड़ी से कड़ी सजा दिया करता था । उस जमाने में धर्म के नाम पर जितने व्यक्ति जीवित जला दिये गये अथवा उससे भी अधिक यन्त्रणायें देकर मारे गये, उनकी गिनती कर सकना असम्भव है । स्पेन का नाम तो इस दृष्टि से बहुत ही बदनाम है । वहाँ पोप की बातों का विरोध करने वाले अथवा किसी भी प्रचलित धार्मिक मान्यता पर अविश्वास करने वाले व्यक्ति को नई-नई तरह की अमानुषिक यातनाएँ देकर मारने का ढंग निकाला गया था । इसका नाम 'इक्वीजिशन' था ।

जन्म और शिक्षा

ऐसे समय में जर्मनी के एक कस्बे--'स्लेवन' में मार्टिन लूथर (सन् १४८३ से १५४६) का जन्म हुआ । उसका पिता एक साधारण किसान था, पर उन दिनों गरीबी के कारण लकड़हारे का काम करने लग गया था । कहते हैं कि बचपन में उसका स्वभाव विशेष हठीला और क्रोधी था, उससे वह मारा पीटा अधिक जाता था । उसे बहुत छोटी अवस्था में ही पाठशाला भेज दिया गया । वहाँ पर गुरुजी भी छड़ी से काम लेने वाले थे । एक बार किसी साधारण बात पर लूथर को १५ बैंत की सजा दी गयी ।

कुछ दिन बाद लूथर के पिता ने लोहे का काम करना आरम्भ किया और इसमें उसकी आर्थिक दशा कुछ सुधर गई । १४ वर्ष की आयु में उसे नगर के एक हाईस्कूल में अध्ययन करने भेजा गया । पर उसका बाप उसे अब भी पूरा खर्च नहीं दे सकता था, क्योंकि उसके और भी कई बच्चे थे । इसलिये मार्टिन लूथर को अपना काम बड़ी कठिनाई से चलाना पड़ता था । उस जमाने में जर्मनी में यह प्रथा थी कि गरीब विद्यार्थी भिक्षा माँगकर अध्ययन कर सकते थे । यह अवस्था हमारे प्राचीन गुरुकुल-पद्धति से मिलती थी, जबकि अमीर-गरीब सभी विद्यार्थियों को भिक्षा माँगकर ही भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती थी । लूथर भी ऐसा ही करता था । वह धार्मिक भजन गाकर भिक्षा माँगता था उसका स्वर मधुर था और उसके मुँह से प्रभु ईसा की लीलाएँ बड़ी प्रभावोत्पादक लगती थीं । इसलिये उसे भिक्षा सुगमता से मिल जाती थी ।

कुछ समय बाद उसके पिता ने पुत्र की कठिनाइयों का हाल जानकर उसे एक अन्य नगर में भेज दिया, जहाँ उसका एक सम्बन्धी रहता था। पर उस सम्बन्धी ने भी लूथर की अधिक सहायता न की। इससे यहाँ भी विवश होकर उसे भिक्षा द्वारा ही गुजारा करना पड़ता था। एक दिन तीन घरों पर भिक्षा माँगने पर भी जब उसे खाली हाथ लौटना पड़ा तो वह बड़ा दुःखी हुआ और सोचने लगा कि ऐसी दशा में वह किस प्रकार पढ़ सकेगा ? जब वह इस प्रकार व्यथित हृदय से भगवान को याद कर रहा था तो मार्ग स्थित एक घर का दरवाजा खुला और एक महिला बाहर निकली। जैसे ही उसकी दृष्टि लूथर पर पड़ी, वह उसका करुणाजनक भाव देखकर बड़ी दुःखी हुई और उसे घर में ले जाकर भिक्षा दी। वह लूथर के धार्मिक भजनों और ईश प्रार्थना को सुनकर इतनी प्रसन्न हुई कि उसने अपने पति मिस्टर कोटा से कहकर लूथर के भोजन-वस्त्र का स्थायी प्रबन्ध अपने यहाँ ही कर दिया। लूथर ने उसे ईश्वर का बहुत बड़ा अनुग्रह माना और वह एकाग्र मन से विद्याध्ययन में संलग्न हो गया। चार वर्ष में उसने विद्यालय की पढ़ाई समाप्त करके सम्मान के साथ परीक्षा पास कर ली।

आस्तिकता का उदाहरण

इस वृत्तान्त से हमको स्वामी विवेकानन्द के जीवन की उस घटना की याद आती है जब संसार का यह महापुरुष एक दिन अमेरिका के शिकागो नगर में निराश्रय घूम रहा था और सोच रहा था कि आज की रात कैसे व्यतीत की जायगी ? यह एक अभूतपूर्व स्थिति थी। एक विद्या और ज्ञान का भण्डार, जिसने स्वेच्छा से सर्वस्व त्यागकर हिन्दू धर्म के उद्धार के लिए संन्यास ग्रहण कर लिया था और जो कुछ सप्ताह पश्चात उसी शिकागो के "विश्व-धर्म-सम्मेलन" में संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्म प्रचारक की पदवी पाने वाला था, आज यह चिन्ता कर रहा था कि बिना रुपया पैसा इस धनकुबेर देश की महानगरी में मुझे कौन ठहरने देगा ? फिर भी उनको ईश्वर पर पूर्ण विश्वास था। चलते-चलते थककर वे रास्ते में एक किनारे बैठ गये। सामने ही एक धनी विशाल भवन था। अकस्मात् उसका दरवाजा खुला और गृहस्वामिनी ने पास आकर स्वामी जी का परिचय पूछा। वह उनको घर ले गयी और उनके ठहरने व भोजन आदि की सुव्यवस्था कर दी।

लूथर और विवेकानन्द दोनों ही संसार के महापुरुष हैं। लूथर ने भिक्षा माँगकर ज्ञान संग्रह किया और उसके द्वारा ईसाई धर्म को भ्रष्टता और दुराचार से मुक्त करके उसे संसार में फैलने योग्य बना दिया। यही कारण है कि आज चार सौ वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी वह ईसाइयों के 'प्रोटेस्टेण्ट' सम्प्रदाय का आचार्य माना जाता है और करोड़ों मनुष्य उसको मस्तक नवाते हैं। विवेकानन्द ने भी विधर्मियों के आक्रमणों से जर्जरित और विदेशों में 'कुख्यात' हिन्दू-धर्म का झण्डा फिर से संसार भर में फहरा दिया। उनके महान त्याग और निःस्वार्थ सेवा-धर्म का ही यह परिणाम है कि आज उस भिक्षा माँगने वाले संन्यासी की शताब्दी अनेक देशों में मनाई जा रही है और भारतवर्ष के अन्तिम भूमिखण्ड–कन्याकुमारी में उनका स्मारक निर्माण किया जा रहा है।

इन दोनों ईश्वर के भरोसे रहने वाले महापुरुषों को विपत्तिकाल में ठीक एक तरह से आकस्मिक सहायता मिलने की घटना में यद्यपि कोई चमत्कार नहीं है, तो भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि जो ईश्वर पर आन्तरिक विश्वास रखते हैं उनको दैवी सहायता और रक्षा भी प्राप्त होती रहती है। आस्तिकता की शक्ति कम नहीं है, आवश्यक यही है कि हमारा मनोभाव सच्चा और सरल हो।

लूथर का महान त्याग

विद्यालय की परीक्षा पास करके लूथर कानून का अध्ययन करने अरफर्ट यूनीवर्सिटी में दाखिल हो गया। अब उसका पिता भी उसे कुछ सहायता देने लगा था, क्योंकि वह चाहता था कि मेरा पुत्र एक नामी वकील बनकर खूब रुपया पैदा करे, जिससे घर की हालत सुधरे। विश्वविद्यालय में भी लूथर की योग्यता, परिश्रम और सचाई को देखकर सब अध्यापक तथा सहपाठी प्रसन्न रहते थे। पर इस समय भी वह अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को नहीं भूला था। कानून के अध्ययन में भी काफी परिश्रम करते हुए वह कई घण्टे का समय ईश्वर प्रार्थना और भजन गाने में लगाता था। उसका कहना था कि ईश्वर की उपासना के द्वारा ही वास्तविक अध्ययन होता है।

विद्यालय के पुस्तकालय में एक दिन उसे 'बाइबिल' की पुस्तक मिल गई। उस समय छापने की कला का आविष्कार हुए थोड़े ही दिन हुये थे और छपी हुई बाइबिल इस प्रकार गली-गली मे नहीं मिलती थी, जैसी कि आज देखने में आती है। जिस प्रकार हमारे देश में आज से सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व हस्त-लिखित ग्रन्थों का प्रचार होने से उनका मिल सकना कठिन होता था और वेद, स्मृति आदि प्रमुख ग्रन्थों का तो दर्शन होना भी सौभाग्य की बात समझी जाती थी, वही हालत उस समय योरोप में भी थी। एक

तो उस समय इतनी बड़ी पुस्तक का छाप सकना ही अत्यन्त परिश्रम साध्य था और दूसरे वह केवल लैटिन भाषा में थी जिसके जानने वाले बहुत कम होते थे। जिस प्रकार हमारे यहाँ के धर्म-व्यवसायी पण्डितों ने वेद और शास्त्रों को देशी भाषाओं में अनुवाद करना पाप बतलाया था, और राजा राम मोहन राय जैसे सुधारकों ने जब वेद और उपनिषदों के कुछ अंशों का अनुवाद कराके छपाया तो उनको धर्म का अपराधी और जाति बहिष्कृत घोषित कर दिया था, वही हालत योरोप के पादरियों की थी। ये इस पुस्तक को जहाँ तक सम्भव था सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर रखते थे और उसके नाम पर स्वयं ही मनमाना उपदेश देकर लोगों को अपना अनुयायी बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते थे।

इसलिए पुस्तकालय में बाइबिल को देखकर लूथर बड़ा प्रसन्न हुआ और बार-बार ईश्वर को धन्यवाद देने लगा। वह बड़े मनोयोग से उसे पढ़ने और मनन करने लगा। इसके आगे उसे खाने-पीने की भी याद नहीं रहती थी। बाइबिल के द्वारा उस धर्मतत्त्व की वास्तविकता का ज्ञान होने लगा और उसने अपना जीवन उसी के अनुकूल बनाने का निश्चय कर लिया। लूथर के साथी अनेक विद्यार्थी उसे 'बाइबिल' पढ़ने में इतना तल्लीन देखकर उसकी हँसी करते थे और कहते थे कि इस पुस्तक ने गिरजाघरों में बड़े-बड़े अनर्थ किये हैं, इसे पढ़कर क्या करोगे ?

पर लूथर के बाइबिल पढ़ने और पादरियों के पढ़ने में बड़ा अन्तर था। वे केवल दिखावे के लिये ऐसा करते थे और उसकी बातों को धन कमाने का साधन बनाते थे, जबकि लूथर उसके द्वारा महापुरुष ईसा के जीवन-दाता दैवी उपदेशों और उसके दैवी आदर्श को ग्रहण करता था और विचार करता था वह भी किसी दिन अपने ज्ञान और शक्ति का उपयोग धर्म की सेवा के लिए ही करेगा।

धर्म के लिये जीवन अर्पण

लूथर ने अपने साथियों के हँसी-मजाक की तरफ कुछ ध्यान न दिया और वह नियमित रूप से धार्मिक अध्ययन भी करता रहा। जब अन्तिम परीक्षा का अवसर आया तो उसने पढ़ने में इतना अधिक परिश्रम किया कि वह बीमार पड़ गया। बीमारी इतनी भयंकर थी कि उसने अपने बचने की आशा छोड़ दी। एक दिन कोई वृद्ध पादरी उससे मिला और उसकी अवस्था देखकर बड़ा दुःखी हुआ। लूथर ने कहा कि अब तो मेरा इस दुनिया से चलने का समय आ पहुँचा है। इस पर वृद्ध ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा--"नहीं बेटा ? ऐसा विचार मत करो। ईश्वर को तुम्हारे हाथ से अभी संसार का बहुत उपकार कराना है।"

बीमारी से अच्छा होकर जब फिर पढ़ने का उद्योग करने लगा तो एक दूसरी विपत्ति में पड़ गया। उस जमाने में अधिकांश व्यक्ति तलवार साथ में लेकर चला करते थे। लूथर भी एक दिन तलवार लेकर अपने सम्बन्धियों से मिलने गया तो अकस्मात् तलवार म्यान से निकलकर पैर पर गिर पड़ी। इससे पैर घायल हो गया और उससे बहुत खून निकलने लगा। पीड़ा और भय से लूथर बेहोश हो गया। वह डॉक्टर से उसका इलाज कराने गया, तब कई दिन में यह चोट ठीक हुई।

इन आपत्तियों को सहन करते हुए भी लूथर ईश्वर पर विश्वास करके फिर अध्ययन में लग गया और सन् १५०५ में उसने एम. ए. की परीक्षा पास कर ली। उस जमाने में इतनी विद्या प्राप्त कर लेना बहुत बड़ी बात मानी जाती थी। इसलिए उपाधि-प्रदान के अवसर पर बड़ी खुशी मनाई और अनेक व्यक्ति जलती मशाल लेकर उसका सम्मान करने के लिये आये। उसका सार्वजनिक रूप से स्वागत किया गया। इसके पश्चात् लूथर कानून का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष अध्ययन करने लगा और उसमें भी उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

अब दो-एक घटनाएँ ऐसी हुईं जिनसे लूथर का धर्म सेवा और त्याग का भाव और भी दृढ़ हो गया। उसका एक घनिष्ठ मित्र 'अलेक्सिस' नामक था। वह बड़ा सज्जन और सहृदय युवक था। एक दिन किसी ने उसे मार दिया। लूथर को अपने मित्र की मृत्यु पर बड़ा शोक हुआ और साथ ही मन में यह विचार भी उत्पन्न हुआ कि किसी दिन सहसा मेरा भी अन्त हो सकता है। इस घटना से संसार की क्षणभंगुरता की भावना उसके हृदय पर अंकित हो गई।

दूसरी बार जब वह अपने घर से विद्यालय की तरफ जा रहा था तो रास्ते में बड़े जोर का तूफान आया। बड़े भयंकर शब्द से बादल गरजने और बिजली कड़कने लगी। अकस्मात् उसके सामने ही बिजली जमीन पर गिरी और उसे जान पड़ा मानों प्रलयकाल आ गया। उसने ईश्वर से प्रार्थना की यदि मेरे प्राण बच जायेंगे तो मैं अपने को तेरी सेवा में अर्पण कर दूँगा।

लूथर की मनौती अन्य लोगों के समान केवल मुँह से कहने की नहीं थी, वरन् शीघ्र ही उसने उसे कार्य रूप में परिणित कर दिखाया। कहाँ तो वह कानून की विशेष योग्यता प्राप्त करने में संलग्न था, जिससे उसके घर वालों तथा मित्रों को आशा थी कि वह शीघ्र ही राज्य मन्त्री के पद तक पहुँच जायगा और कहाँ सब कुछ त्यागकर वह पादरियों के आश्रम में प्रविष्ट होकर पूरा संसार त्यागी बन

गया । इस बात से उसका पिता बड़ा दुःखी हुआ क्योंकि उसने भविष्य के लिए बड़ी-बड़ी आशायें लगा रखी थीं । उसके मित्र ने भी उसे बहुत समझाया कि इस प्रकार वैरागी वन जाने से जीवन निकम्मा हो जायेगा, पर उसने परमेश्वर के सामने जो प्रतिज्ञा की थी उससे पीछे हटना हर्गिज स्वीकार न किया ।

पर पादरियों के आश्रम में भी लूथर को वह त्याग-भावना और हृदय की शुद्धता दिखाई न दी जिसकी खोज में वे घर-बार को त्याग कर यहाँ आये थे । पादरियों में से दो-चार ही ऐसे थे जिनका ध्यान ईश्वर की तरफ लगा था और जिनका आचरण पवित्र माना जा सकता था । अन्यथा सभी ईश्वर और आत्मा की चिन्ता करने के बजाय शरीर की चिन्ता अधिक करते थे । जब वे लूथर को ईश्वर चिन्तन और धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते देखते तो कहते--"केवल ईश्वर चिन्तन से काम न चलेगा, पहले अपनी दाल-रोटी की चिन्ता करो ।"

अन्य लोगों का ध्यान इसी प्रकार की तुच्छ बातों की तरफ लगा देखकर और प्रायः ऐसे ही विषयों पर वार्तालाप करते सुनकर लूथर को उनकी स्थिति पर शोक होता था । फिर भी उनकी आज्ञानुसार वे दरवाजा खोलना और बन्द करना, कमरों में झाडू में लगाना, गिर्जा को धोना आदि छोटे काम भी खुशी से करते थे । एक उच्च शिक्षित व्यक्ति का, जो अभी तक विश्वविद्यालय का शानदार जीवन व्यतीत कर रहा हो, स्वेच्छा से ऐसी दास-वृत्ति को स्वीकार कर लेना कोई साधारण त्याग न था ।

इन कार्यों के साथ लूथर को भिक्षा माँगकर भोजन-सामग्री भी लानी पड़ती थी । वे जितने अधिक अध्ययन प्रिय थे आश्रम निवासी अन्य पादरी उतने ही भोजन-प्रिय थे । वे सदा यही कहा करते थे--"अजी पढ़ने-लिखने में क्या रखा है ! बढ़िया खाने की चीजें और रुपया लाओ, जिससे आश्रम को लाभ पहुँचे ।" लूथर ऐसे विचारों को बहुत निकृष्ट समझते थे, तो भी उनके आदेश को मानकर झट भिक्षा की झोली कन्धे पर रखकर चल देते । फिर भी उनका अधिक समय ईश्वर-भजन और बाइविल पढ़ने में लगता था । साथ ही वे व्रत भी करते रहते थे । एक बार चार दिन तक लगातार व्रत रखा । उनका उद्‌देश्य अपने मन और शरीर को अधिकाधिक शुद्ध बनाना था जिससे उनकी धार्मिक भावना अविचल और एक सच्चे साधु के योग्य हो सके ।

इस प्रकार दो वर्ष तक धर्म-सेवा के कठिन मार्ग पर चलकर उनको पुजारी (पादरी) की पदवी प्राप्त हुई । उनने अपने मन में विचार किया कि इस अवसर पर पिता के असन्तोष को दूर करके उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा की जाय । इस निमन्त्रण को पाकर घर वाले उत्सव में आये और सब लोग प्रेम से मिले । जब लूथर के वैराग्य के सम्बन्ध में चर्चा हुई तो एक पादरी ने पिता से कहा--"आप बड़े सौभाग्यशाली हैं कि लूथर जैसा पुत्र हुआ । लोग सांसारिक धन-मान के पीछे दौड़ते रहते हैं, पर इसने उस सबको पाकर भी धर्म के कठिन मार्ग को अंगीकार किया । इस पर पिता ने नाराज होकर कहा--"महाराज ! इन बातों को रहने दीजिये ! क्या बाइबिल में यह नहीं लिखा है कि युवा पुत्र को अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिये ?" इस समय लूथर की आयु २४ वर्ष की हो चुकी थी । उन्होंने पिता की बात का प्रतिवाद तो नहीं किया पर वे अपने मार्ग पर ही चलते रहे और दो वर्ष बाद उनको पादरी की पदवी मिल गई ।

इसके पश्चात् उनको 'विटनबर्ग' के विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक नियत किया गया । लूथर इस उच्च पद पर काम करते हुए भी एक छोटी कोठरी में ही रहते थे और त्यागमय जीवन बिताते थे, क्योंकि उनको साधु-जीवन प्रिय जान पड़ता था । कुछ दिन बाद वे बाइबिल पढ़ने लगे । उनका धर्म-सम्बन्धी ज्ञान इतना गम्भीर और तथ्यपूर्ण था कि उसके विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी और उनका नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया । कितने ही प्राध्यापक उनका भाषण सुनने आते थे और उनसे नये विचार और धर्म के तथ्यों को ग्रहण करते थे ।

एक विद्वान उनके विचारों से बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी मित्र-मण्डली मे कहा--"यह युवक ईसाई धर्म की बड़ी उन्नति करेगा और उसमें बहुत कुछ परिवर्तन करने वाला भी सिद्ध होगा । यद्यपि धर्म सम्बन्धी जो बातें लूथर कहते थे उनको अन्य अनेक लोग भी जानते थे पर अन्तर यह था कि जो वे कहते थे उस पर हृदय से विश्वास भी करते थे । यह हृदय की शुद्धता और कथनी तथा करनी की एकता ही होती है जो किसी व्यक्ति के उपदेशों को प्रभावशाली बना देती है ।"

लोगो ने लूथर से प्रार्थना की कि आप गिरजाघर में जनता को उपदेश दिया करें । पहले तो लूथर ने अपने को इस उत्तरदायित्व के अयोग्य बतलाकर इन्कार कर दिया, पर जब अनेक लोग आग्रह करने लगे तो वे एक छोटे गिरजाघर में भाषण करने लगे । उनके उपदेशों को सुनकर इतनी भीड़ इकट्ठी होने लगी कि उस गिर्जा में बैठना असम्भव हो गया । तब उनके भाषणों की व्यवस्था एक बड़े स्थान में की गई ।

रोम यात्रा और शंका उत्पन्न होना

अभी तक लूयर प्राचीन धर्म के अनुयायी थे, और पोप में बड़ी श्रद्धा रखते थे उनको बड़ी इच्छा थी कि एक बार धर्मपुरी रोम की यात्रा करके पोप के दर्शन करें। उस समय धार्मिक जगत में फैले हुए ढोंग और भ्रष्टचार का उनको अधिक पता नहीं था और वे सबको अपनी ही तरह शुद्ध हृदय समझते थे।

सन् १६१० में उनको एक धर्म सम्बन्धी निर्णय के लिए रोम जाने को कहा गया। इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। रास्ते में जब वे एक पादरियों के मठ में ठहरे तो देखा कि यहाँ के निवासी तो बड़े ठाठ-बाट से रहते हैं और धार्मिक नियमों की कुछ परवाह नहीं करते। साधु आश्रमों के नियमानुसार शुक्रवार का निरामिष भोजन का ग्रहण करना आवश्यक माना जाता था। पर वे खुल्लम-खुल्ला उनका उल्लंघन करते थे। जब लूयर ने इस तरफ उनका ध्यान आकर्षित किया तो वे बड़ा नाराज हुये और दरवान द्वारा कहलाया—"आप चुपचाप यहाँ से चले जायें अन्यथा हानि उठानी पड़ेगी।" लूयर तो सच्चे धर्मान्वेषी थे, तुरन्त अपना डेरा-डण्डा उठाकर वहाँ से रवाना हो गये।

जब वे रोम के समीप पहुँचे तो उन्होंने बड़ी श्रद्धा से दण्डवत करके कहा—"पवित्र रोम! तुझको प्रणाम है।" उन्होंने बड़े ही भक्तिभाव से ईसाइयों की उस 'काशी-नगरी' में प्रवेश किया। एक पादरी ने उनसे कहा—"लूयर! देखो यह वही सोपान है, जिस पर चलकर प्रभु ईसामसीह स्वर्ग सिधारे थे इसका नाम 'पाडेलेट स्टेअर' है। इसका अभी तक यह प्रभाव है कि पोप जिसको इस पर चढ़ा देते हैं उसके समस्त पाप दूर हो जाते हैं और वह निश्चय ही स्वर्ग चला जाता है।" लूयर इस 'काशी-करवट' के समान मुक्ति प्राप्त कराने वाली गप्प को सुनकर भी रोम के पादरी के सामने नतमस्तक हो गये और स्वयं भी उस सोपान पर चढ़ने की इच्छा करके उसके पास गये। पर उसी समय उनको ऐसा जान पड़ा कि अन्तरिक्ष में से कोई कह रहा है—"लूयर? तुम किस भ्रमजाल में पड़े हो। यह सब यहाँ के पण्डे-पुजारियों की माया है।" बेचारे लूयर संकुचित होकर वापस चले आये।

इसी प्रकार की दो-चार घटनाओं के फलस्वरूप और साधु आश्रमों की लीलाओं को देखकर लूयर का अन्धविश्वास अधिकांश में चूर-चूर हो गया। वे जिस भक्तिभाव और श्रद्धा के साथ रोम में प्रविष्ट हुये थे और उसकी धूल को उन्होंने जिस प्रेम से मस्तक पर धारण किया था, रोम से चलते समय उसका चिह्न भी नहीं रह गया। वरन् उनके मुख से यह उद्गार निकले—"इस पापपूर्ण रोम में कौन-कौन घृणित पापाचरण नहीं होते! यह एक भयानक नारकीय भूमि है जहाँ पापों की ही सरिता प्रवाहित हो रही है।"

रोम से विटनबर्ग आकर वे अपने शिक्षण कार्य में फिर से लग गये। इस अवसर पर उनका जो भाषण हुआ वह इतना प्रभावशाली था कि सब लोग मुग्ध हो गये और 'इलेक्टर' (मुख्य व्यवस्थापक) तो इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इनको डी० डी० (धर्माचार्य) की सर्वोच्च उपाधि देने का प्रस्ताव किया। लूयर ने कहा—"श्रीमान्? इसके लिए आप किसी योग्य व्यक्ति को खोजिये। मैं इस योग्य कदापि नहीं हूँ।" पर लोगों ने माना और सर्वसम्मति से उनको डी० डी० की उपाधि प्रदान कर दी गई।

सन् १५१२ में लूयर को विटनबर्ग में 'धार्मिक वक्ता' का पद दिया गया। उनका कार्य यह था कि बाइबिल की जो बातें यथार्थ हैं उनका उपदेश करें और पाखण्डियों ने जो भ्रमजाल फैला रखा है उसका खण्डन करें। लूयर ने एक वर्ष में ही इस काम को इतनी सफलता से पूरा किया कि अनेक सन्त पुरुष उनके पास आने जाने लगे। जब इलेक्टर का एक मन्त्री बाहर गया तो लूयर को ही उसके स्थान पर काम करना पड़ा। इस समय वे संघों का निरीक्षण करते थे। पर अब उनका काम बहुत बढ़ गया था और उन्होंने लिखा कि वह दो सहायकों के बिना पूरा नहीं हो सकता।

जिस समय लूयर इस प्रकार सत्य धर्मानुयायियों की एक मण्डली बना रहे थे और धर्म का झण्डा ऊँचा करने में संलग्न थे, विटनबर्ग में महामारी फैल गई। मृत्यु संख्या इतनी बढ़ गई कि अधिकांश नागरिक उस स्थान को छोड़कर बाहर चले गये। पर लूयर वहाँ से नहीं हटे। उन्होंने उस समय अपने एक पत्र में लिखा—"तुमने मुझे विटनबर्ग से हट जाने की सलाह दी है पर मैं अन्य लोगों के चले जाने पर भी यहीं पर ठहरा रहूँगा। मेरा 'धर्म-भाव' मुझे अपने कर्तव्य से हटने की सम्मति नहीं देता (जब तक परमपिता परमेश्वर मुझको नहीं बुलाता तब तक मेरी कोई हानि नहीं हो सकती) मेरा आशय यह नहीं है कि मनुष्य केवल पूजा पाठ और धर्म चर्चा कर लेने से सच्चा धार्मिक नहीं बन सकता, वरन् समय आने पर सेवा-कार्य द्वारा भी उसे अपने ईश्वर भक्त होने का प्रमाण देना चाहिये।"

अन्धविश्वासों का निराकरण

अब वह समय आ पहुँचा कि लूयर धर्म के सत्य नियमों का प्रचार करके अन्धविश्वासों का खण्डन करें। उस समय

यह कार्य बड़े दुस्साहस का था क्योंकि धर्म में जरा नुक्ताचीनी करने वाला व्यक्ति बड़े पादरियों की आज्ञा से तुरन्त अग्नि-कुण्ड में भस्मीभूत कर दिया जाता था। पर एक तो लूथर इस समय देश-प्रसिद्ध विद्वान बन गए थे, स्वयं एक बहुत बड़े पादरी की पदवी को प्राप्त कर चुके थे, और उनके अनेक अनुयायी और सहयोगी भी तैयार हो चुके थे, इसलिये उन्होंने तत्कालीन ईसाई धर्म में फैली अनेक कुप्रथाओं, अन्धविश्वासों और शकुन आदि की अत्यधिकता आदि का खण्डन करना आरम्भ किया। उनके उपदेश का सारांश यह था कि-जब मनुष्य को स्वयं ही अपने भले और बुरे कर्मों का फल निश्चित रूप से भोगना पड़ता है, और कर्म भोग कराने का यह कार्य परमेश्वर के सिवा और कोई नहीं कर सकता तो फिर इतनी अन्ध परम्पराओं को मानने की क्या आवश्यकता है? उद्धार का मार्ग तो यही है कि हम पाप-कर्मों से बचें और जो पाप-कृत्य अब तक बन पड़े हैं।। उनके लिये परमेश्वर से क्षमा माँगते रहें।

इस विषय की विशेष व्याख्या करने के लिए उसने शास्त्रार्थ के निमित्त ६ विषय निर्धारित किये। इनमें धर्म सम्बन्धी अनेक भूलों का भी समावेश था। सबसे बड़ी बात यह कही गई थी कि मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा स्वयं मुक्ति प्राप्त कर सकता है। पाठक देखें कि सत्य की खोज करने पर लूथर भारतीय धर्म के मूल-तत्वों के समीप ही जा पहुँचे। अपने कर्मो का फल निश्चित रूप से पाता और अपनी मुक्ति का अधिकार अपने हाथ में होना हिन्दू धर्म का अटल सिद्धान्त है। यह बात दूसरी है कि लूथर के जमाने की तरह यहाँ भी पण्डा-पुजारी और नकली साधु लोगों को बहकाकर साधु-सन्तों की कृपा से ही धर्म और स्वर्ग प्राप्ति का सब्ज-बाग दिखलाया करते हैं। लूथर ने इस तरह के ढोंग का खण्डन किया और दो मुख्य सिद्धान्तों को सर्वसाधारण के मार्गदर्शन के लिए प्रचारित किया-

(१) मनुष्य केवल धर्म विश्वास रखने से धार्मिक नहीं बन जाता, जब वह धर्ममय होकर वैसे कर्म करता है तभी धार्मिक कहा जा सकता है।

(२) जबकि हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि जो प्रभु ईसा में पूर्ण विश्वास रखता है उसके लिए कोई काम कठिन नहीं है, तब यह एक मिथ्या विश्वास है कि हम 'सन्तो और महन्तों' की सहायता के इच्छुक रहें।

लूथर की इस प्रकार की शिक्षा से जहाँ सत्यानुरागी व्यक्ति उसके अनुयायी बनने लगे वहाँ ढोंगी और सत्य के नाम पर जनता को ठगने वालों में खलबली मच गयी। ऐसे ढोगी महन्तों के भक्त भी लूथर की निन्दा करने लगे। एक सभा में जब सेकसनी के ड्यूक के सम्मुख लूथर ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया तो उसे यह बातें बड़ी बुरी जान पड़ी। उसने अपने पास बैठी एक संभ्रान्त महिला से पूछा कि 'यह शिक्षा कैसी है?' महिला ने उत्तर दिया कि-"यदि मैं एक बार ऐसा व्याख्यानामृत पान कर सकूँ तो यह निश्चिव है संसार से शान्तिपूर्वक विदा हो सकूँगी।" यह उत्तर सुनकर ड्यूक हतप्रभ हो गया।

दैवयोग से वह महिला एक मास बाद ही बीमार हो गई और कुछ दिनों में दशा मरणासन्न हो गई। लूथर की शिक्षा के अनुसार उसने प्रभु ईसा से क्षमा प्रार्थना की और शान्तिपूर्वक परलोक के लिये प्रयाण किया।

'क्षमा-पत्रों' की बिक्री का विरोध

अभी तक लूथर के हृदय में पोप के प्रति कोई विरोध भाव नहीं था। वे धार्मिक के लिए पादरियों को व्यक्तिगत रूप से ही दोषी मानते थे। उस समय अपनी मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए स्वय लूथर ने एक स्थान पर लिखा है-"मैं एक कट्टर पोपानुयायी" था। यदि मेरे सम्मुख कोई पोप का अपमान करता तो कदाचित् मैं उसके प्राणों का ग्राहक बन जाता।"

पर जब उन्होंने पोप की तरफ से जनता में क्षमा-पत्र बिकते और उनके कारण लोगों में पाप की वृत्तियों को प्रोत्साहन मिलते देखा तो उनकी श्रद्धा को बड़ा धक्का लगा। एक दिन रास्ते मे उन्होंने देखा कि लोगों का एक समूह अपने पापों का वर्णन कर रहा है और साथ ही यह भी कह रहा है कि अब हमको पाप कर्मों से डरने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि श्रीमान् टेटजिल से हमको पोप 'इण्डलजेस' (क्षमा-पत्र) प्राप्त हो गया है। जब लूथर को यह सब रहस्य मालूम हुआ तो उसने लोगो को समझया कि "तुम घोर अन्धकार में पड़े हो। प्रभु ईसा ने स्पष्ट कहा है कि केवल हृदय से पश्चात्ताप करने से ही तुम्हारे पाप मिट सकते हैं, नहीं तो तुम नष्ट हो जाओगे। धन देकर पापों से बचने की बात घोर नास्तिकता का लक्षण है।"

'इण्डलजैंस' (क्षमा-पत्र) का इतिहास बड़ा विचित्र है। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में जब दशवाँ पोप, रोम के गिरजाघर की गद्दी पर बैठा तो उसने देखा कि गिरजाघर की इमारत बहुत जर्जर हो गई है, उसका जीर्णोद्धार करना आवश्यक है। पर इस कार्य के लिये जितने धन की आवश्यकता थी उतना जल्दी मिल सकना सम्भव न था। इसलिये उन्होंने यह 'इण्डलजैंस' बेचने का उपाय निकाला। धन के सहारे पापों का दूर होना जानकर इन्द्रियपरायण व्यक्तियों को बड़ी प्रसन्नता हुई और जनता में पाप-वृतियाँ पहले से कहीं अधिक बढ़ने लगीं। क्षमा-पत्रों

की बिक्री के लिए अनेक देशों में कार्यालय स्थापित हो गये, जिनसे धूर्त लोग जनता को मूढ़कर पोप को धन भेजने और स्वयं भी मजा उड़ाने लगे।

धन द्वारा समस्त पापों से उद्धार

जर्मनी में इस कार्य का मुखिया टेटजिल नामक व्यक्ति बनाया गया। यह एक धूर्त और पापी व्यक्ति था और दुष्कर्मों के कारण सम्राट ने उसको प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी थी। पर फिर कुछ लोगों के कहने-सुनने से वह छोड़ दिया गया। इसी समय जर्मनी के आर्कबिशप के पास पोप का क्षमा-पत्र बेचने का आदेश आया। उसने टेटजिल को इसके लिए उपयुक्त समझा। एक दिन देखा कि वही श्रीमान् टेटजिल एक सुन्दर गाड़ी में बैठकर एक भव्य जुलूस के साथ राजपथ में होकर जा रहे हैं। अनेक पादरी और साधुनियाँ मशालें लेकर उनके इर्द-गिर्द चल रहे हैं और सुन्दर बाजा भी बज रहा है। इस प्रकार बड़ी शान-शौकत के साथ टेटजिल गिरजाघर में पहुँचे और वहाँ वेदी पर एक 'क्रास' गाड़कर भाषण करने लगे-

"भाइयो, ईश्वर प्रदत्त वस्तुओं में यह 'क्षमा-पत्र' अमूल्य है। देखो यह रक्तवर्ण क्रास तुम्हारे सम्मुख गड़ा है इसकी उतनी ही शक्ति है जितनी कि मसीह के क्रास में थी। इसके गुण उससे कम नहीं हैं। मेरे निकट आओ। मैं तुमको पोप की मुहर लगे पत्र दूँगा, जिसके द्वारा तुम्हारे भूतकाल के पाप ही नहीं वरन् भविष्य के पाप भी तुमको नरक की अग्नि में दग्ध नहीं कर सकेंगे। तुम्हारे पापों का इन सब पत्रों से ही अंत हो जाएगा। संसार में ऐसा कोई पाप नहीं है जिसे ये क्षमा-पत्र दूर न कर सकते हों। इनके गुणों का वर्णन कर सकना, मानवीय शक्ति से बाहर है। ये अपना प्रभाव जीवित मनुष्यों पर ही नहीं किन्तु मरे हुए व्यक्तियों पर भी प्रदर्शित करते हैं। देखो! तुम्हारे पूर्वजों की आत्मायें नरक में पड़ी तड़प रही हैं। जरा उनके चिल्लाने की ओर ध्यान दो। हाय-हाय वे कह रही हैं कि थोड़े दान द्वारा हमारी रक्षा क्यों नहीं करते हो? हा! मुझसे अब इनका कष्ट सहन नहीं हो सकता। वह धन किस काम का जिससे हम पीड़ितों की रक्षा न कर सकें। लो अब मुझसे नहीं रहा जाता है।"

यह कहकर टेटजिल ने कुछ सिक्के सन्दूकची में छोड़े और उसके उपरान्त फिर कहना आरम्भ किया-"अरे मनुष्य के रूप में विवेकहीन पशुओ! क्या तुमको सूझता नहीं कि ऐसे अमूल्य रत्न को पाकर उसे मिट्टी समझकर त्याग कर रहे हो। मूर्खो! ईश्वर की इस कृपा का क्यों तिरस्कार कर रहे हो? क्यों नहीं अपने पूर्वजों की आत्माओं को शान्ति देते हो? क्या तुम सब इस धन को छाती पर रखकर ले जाओगे? तुम लोगों को चाहिये कि बढ़िया वस्त्रों की जगह सामान्य वस्त्र भले ही धारण करो पर इस समय धन का लोभ न करो। देखो, मैं थोड़े से धन का दान करने से ही तुम्हारे पूर्वजों को उबार सकता हूँ, अब इस क्षमा-पत्र को लेने में देर न करो।"

मूर्ख जनता इन बातों को सुनकर गद्‌गद हो गई कि दयालु पोप ने हमारे उद्धार के लिए कैसी सुगम विधि बताई है। बस वे धड़ाधड़ क्षमा-पत्र खरीदने लगे। पत्र देते हुए टेटजिल कहने लगा-"भाइयो! पीटर और पाल ने तुम्हारे धर्म के लिए क्या नहीं किया? जिन्होंने अपने प्राणों की भी परवाह न करके तुम्हारे पवित्र धर्म की रक्षा की। हाय आज उन्हीं के पुनीत शरीर कीचड़ और धूल में पड़कर तिरस्कृत हो रहे हैं। सैण्टपीटर तथा सेण्टपाल के गिर्जा भग्नावशेष हो गये हैं। उनका पुनर्निर्माण आवश्यक है। इसी कार्य के लिए यह धन एकत्रित किया जा रहा है। धार्मिक ईसाइयों पर इस कथन का बड़ा प्रभाव पड़ा। अन्त में "धन-लाओ-धन-लाओ-धन-लाओ" की आवाज लगाकर टेटजिल ने अपना उपदेश समाप्त कर दिया।"

धर्म के नाम पर ढोंग की पराकाष्ठा

अब लोग सन्दूक की तरफ झुके और उसमें धन डालकर 'क्षमा-पत्र' खरीदने लगे। खरीदते समय अपने पाप का भी वर्णन करना पड़ता था। भिन्न-भिन्न पापों के लिए भिन्न-भिन्न मूल्य नियत किया गया था। उदाहरणार्थ बहु-विवाह के लिये ३०, चोरी के लिये ४५, किसी को मार डालने के लिये ८०, देने पड़ते थे। दान देने के पश्चात् जो क्षमा-पत्र दिया जाता था उसका भावार्थ इस प्रकार था-

"प्रभु ईसा मसीह ही तेरे ऊपर कृपा करके तेरे पापों को अपनी परम पवित्र शक्ति से क्षमा करते हैं। और मैं धर्म-शक्ति के प्रभाव से, जो मुझको प्रदान की गई है तुझको तेरे दुष्कर्मों से जो तुझसे हुए हों मुक्ति देता हूँ। तेरे पाप चाहे जैसे नीचातिनीच और घोरातिघोर क्यों न हों उन सबसे मैं तुझे छुड़ाता हूँ। उन पाप कर्मों द्वारा तुझमें जो लज्जा और निर्बलता आ गई है, उसको भी मैं दूर करता हूँ इसके अतिरिक्त अन्धकारमय नरक में जो कष्ट तुझे भोगने होंगे उनको भी अभी से दूर किये देता हूँ। सम्प्रति मैं तुझे पुनः संस्कृत कर तेरे लिये सदा के निमित्त नरक के पट बन्द किये देता हूँ और स्वर्ग का द्वार खोल देता हूँ। यदि तेरा जीवन अभी बहुत समय के लिए शेष है तो भी यह कृपा तेरे मृत्युकाल तक नहीं बदलेगी। पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा के नाम पर-आमीन!"

इस प्रकार का ढोंग रचकर टेटजिल ने न मालूम कितने लोगों को ठगा । पाठक मन में कहते होंगे कि लोग इन झूँठी बातों में कैसे फँस गये ? पर उस समय तो योरोप में विधा, शिक्षा का प्रचार इतना कम हुआ था कि लोग धूर्तों की चमकीली पोशाक और चिकनी-चुपड़ी बातों पर जल्दी ही विश्वास कर लेते थे । पर हम पूछते हैं कि बीसवीं शताब्दी में जबकि विज्ञान का सूत्र चमक रहा है और जल-थल-नभ में सर्वत्र मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित हो गया है, क्या धर्म के नाम पर ऐसे ठगी के कारनामे कम होते हैं ?

वर्तमान समय मे 'आगाखाँ' का नाम मशहूर है । वैसे तो वे घुड़दौड़ का धन्धा करते हैं , पर परम्परागत रूप से वे 'आगाखानी' या 'इसमाईली' धर्म के गुरु भी हैं । उनके लाखों शिष्य हैं जिनमें सब मुसलमान ही नहीं वरन् लाखों हिन्दू भी हैं । लोग 'आगा खाँ' को भगवान का अवतार मानते हैं और उनका विश्वास है कि आगा खाँ की उपासना के फल से उनका स्वर्ग जाना तो निश्चित ही है । अब स्वर्ग में पहुँचने पर उनको वहाँ रहने-सहने की अच्छी सुविधायें मिलें, रहने का घर उनकी इच्छानुकूल हो, इसके लिए वे आगा खाँ से प्रार्थना करते हैं । इस पर आगा खाँ जैसा और जितना बड़ा मकान वे स्वर्ग में चाहते हो, उसकी कीमत लेकर स्वर्ग के व्यवस्थापक जिब्राईस नामक फरिश्ते को एक पत्र लिख देते है कि अमुक महाशय को इस प्रकार का मकान स्वर्ग में दिया जाये । वह पत्र मरने के पश्चात् उनकी लाश के साथ ही कब्र में गाढ़ दिया जाता है और उन लोगों को दृढ़ विश्वास होता है कि स्वर्ग में पहुँचकर वे निश्चय ही वैसा मकान पा जायेंगे !

पाठक इन बातों को हँसी-मजाक की चीज न समझें । बम्बई में रहने वाले 'आगाखानी' जिनमे अधिकांश बौहरा जाति के हैं, उसी उद्देश्य से लाखों रुपया प्रतिवर्ष आगाखाँ को देते रहते है । इसी आमदनी से उन्होंने योरोप के कई देशो जैसे इंगलैंड, फ्रांस, इटली, स्विटजरलैंड आदि मे अपने निवास के लिए एक-एक महल बना रखा है और वहीं की एक-एक स्त्री को पत्नी बनाकर उसमें रखा हुआ है । उनके अनुयायियों को स्वर्ग में मकान मिलेगा या नहीं, यह तो अनिश्चित है, पर उनसे दक्षिणा लेकर आगाखाँ के लिए महल अवश्य बन गये ।

पंडा-पुरोहितों की ठग-लीला

पर हम ईसाई और मुसलमानों को ही ऐसी ठगी और हास्यास्पद प्रथाओं के लिए दोषी क्यों समझे ? क्या हमारे हिन्दू समाज में लोगों के पितरों का नर्क अथवा प्रेतयोनि से उद्धार करने के लिए गया के पंडा सैकड़ों रुपये की दक्षिणा वसूल नहीं करते ? क्या हमारे भाई इस विश्वास के साथ किसी पंडा-पुरोहित को मरते समय गौदान नहीं करते कि वह गाय यमलोक में उनको वैतरणी नदी से पार करने के लिए पहुँच जायगी ? क्या हम अपने सम्बन्धियों के मरने के बाद महाब्राह्मण को खाना, कपड़ा, बर्तन, बिस्तर, चारपाई आदि समस्त जीवनोपयोगी वस्तुऐं इस विचार से दान नहीं करते कि यह तमाम सामग्री मृत व्यक्ति को परलोक में प्राप्त हो जायेगी और इसे पाकर वे सुविधापूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेंगे ?

इस सबका मुख्य कारण यही है कि सीधे-साधे लोगों को बहकाकर अपने उल्लू सीधा करने वाले 'धर्मजीवी' व्यक्ति प्रत्येक मजहब और समाज में पाये जाते हैं । ऋषियों और अन्य महापुरुषों ने विविध मजहबों की स्थापना इस उद्देश्य से की कि उनकी आगामी पीढ़ियाँ केवल भौतिकता (पेट भरने और सन्तानोत्पादन) में ही न फँसी रहें वरन् ईश्वर और आत्मा के प्रति भी अपना कर्तव्य पालन करें । पर बाद में धूर्तों ने उनके उपदेशों को तोड़-मरोड़कर लोगों को गुमराह करके रुपया वसूल करने का साधन निकाल लिया । इससे सर्वसाधारण का नैतिक पतन होने लगता है और वे भ्रष्टाचार को ही धर्म मानने लगते हैं । हमारे देश में वाम-मार्ग का प्रचार और योरोप में पोप के कारनामे इसके स्पष्ट उदाहरण हैं ।

जब यह धर्म-ग्लानि अथवा भ्रष्टाचार बहुत अधिक बढ़ जाता है और मानवता के लिए एक संकट रूप में सिद्ध होने लगता है तो दैवी प्रेरणा से कोई महापुरुष उसका सुधार करने को अग्रसर होता है । स्वार्थी लोगों के विरोध के कारण उसे अवश्य ही काँटों पर चलना पड़ता है, अपने प्राण संकट में डालने पड़ते है, पर अन्त मे सत्य के सम्मुख असत्य का--सदाचार की शक्ति के सामने दुराचार का पराभव होता ही है । हमारे देश में शंकराचार्य और योरोप में मार्टिन लूथर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं, जिन्होंने प्राणान्तक संकट सहन करके भी धर्म-सुधार का काम सम्पन्न किया ।

चाहे अपने जीवनकाल में विरोध और संघर्ष के कारण लोग ऐसे महामानवों का पूरा मूल्यांकन न कर सके, पर समय आता है जब वे उनके वास्तविक महत्व को अनुभव करते हैं और उनका एक आदर्श मनुष्य ही नहीं दैवी विभूति के रूप में पूजने लगते है । फिर काल प्रभाव ने उन महापुरुषों के सुधार कार्य से भी विकृति उत्पन्न होने लगती है, स्वार्थपरायण और चालाक व्यक्ति उनमें भी घुसकर अपना जाल फैलाने लगते हैं । तब फिर धर्म-मार्ग के संशोधन के लिए नवीन 'महान् आत्माओं' की आवश्यकता उपस्थित हो .

जाती है । यही 'धर्म-स्थापना' का सनातन क्रम है, जिसकी व्याख्या भगवान कृष्ण ने भी 'गीता' में की है ।

पोपानुयायियों से संघर्ष

जब इन घटनाओं का समाचार लूथर ने सुना तो इस प्रकार 'धर्म का उपहास' उसे असह्य जान पड़ने लगा । कितने ही लोग 'क्षमा-पत्रों' की आड़ में मनमाने कुकृत्य करने लगे थे और ढोंगियों के सामने सज्जन लोगों का मान घटता जाता था । उसने क्षमा-पत्रों की निस्सारिता का भण्डाफोड़ करना आरम्भ किया जिससे टेटजिल की आमदनी घटने लगी । लूथर के प्रभावशाली भाषणों से वह भयभीत होने लगा । उसने अन्य महन्तों से मिलकर सलाह की और अपने भाषणों में घोषणा करने लगा कि-"जो व्यक्ति नास्तिक है, जो व्यक्ति प्रभु ईसा के प्रतिनिधि पोप की आज्ञा का उल्लंघन करेंगे उनको जीवित ही जला दिया जायेगा ।" उसने सचमुच ही कई स्थानों पर भाषण के अवसर पर अग्नि प्रज्वलित कराई और सुधारवादियों को तरह-तरह से आतंकित करने लगा ।

पर लूथर तो सत्यानुयायी था वह पोपनुयायियों की धींगाधींगी को देखकर कैसे चुप रहता । वह टेटजिल के क्षमा-प्रदान, वाले कार्य के विरुद्ध जोरों से प्रचार करने लगा । उसका भाषण छपाकर जनता में बाँटा गया जिसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा । सन् १५१७ में उसने अपनी एक प्रचार सभा में ९५ वाक्य लिखकर टाँग दिये जिनका नाम थीसिस पड़ गया । लूथर ने कहा कि इनके सम्बन्ध में जिस किसी को शंका हो वह कल यहाँ आकर शंका समाधान कर सकता है । पर कोई भी उसके लिये प्रस्तुत न हुआ ।

इन वाक्यों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा और उनका प्रचार बढ़ने लगा । उनका योरोप की अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किया गया और कुछ ही सप्ताह में वे रोम तक फैल गये । कुछ सच्चे पादरी भी उनके पक्ष में थे । उनमें से एक ने कहा-"इतने दिन बाद मुझे वह व्यक्ति मिल गया जैसा मैं चाहता था ।" जर्मनी के सम्राट मैक्समिलियन ने उनको पढ़कर अपने एक अधिकारी को लिखा कि-"इस बात को ध्यान में रखो कि एक दिन हमको लूथर की आवश्यकता पड़ेगी ।" उनका आशय यही था कि पोप जिस प्रकार मनमानी कार्यवाहियाँ करता है, वे अधिक समय तक नहीं चल सकतीं । जब उससे हमारा विरोध होगा तो लूथर जैसा निष्पक्ष विद्वान ही उसे निरुत्तर कर सकेगा ।

पर एक तरफ जहाँ लूथर की प्रशंसा हो रही थी वहाँ दूसरी ओर उसके विरोधी उसे नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे थे । विश्वविद्यालय के एक अध्यापक ने उससे कहा-"मित्र, जाओ अपनी कुटी में छिपकर बैठो, ईश्वर इस समय तुम्हारे ऊपर दया करें ।" लूथर अपने प्रचार कार्य में लगा रहा पर कुछ समय बाद उसे अपने मित्र की चेतावनी सच होती जान पड़ी । उससे मौखिक सहानुभूति दिखाने वाले तो बहुत मिले, पर पोप के विरुद्ध कार्य रूप में सहयोग देने वाला एक भी न मिला । लूथर ने देखा कि पोप का विरोध करने वाला मैं अकेला ही हूँ और समस्त 'क्रिश्चियन चर्च' मेरे विरुद्ध है । इससे उसका उत्साह और साहस घटने लगा । वह सोचने लगा कि अकेला चना कैसे भाड़ को फोड़ सकता है ?

अब टेटजिल की चढ़ बनी और उसने घोषणा की कि वह लूथर के व्याख्यानों का खण्डन करेगा । जब लूथर के साथ उसका शास्त्रार्थ हुआ तो तीन सौ पादरियों का समुदाय उसके निरीक्षण को एकत्रित था । लूथर ने वाक्यों का पूरी तरह समर्थन किया पर पोप के भय और अपने स्वार्थ के कारण कोई पादरी उसका पक्ष ग्रहण न कर सका और टेटजिल को ही विजयी घोषित कर दिया गया । टेटजिल ने एक 'फाँसी' गाड़कर उस पर लूथर की पुस्तक को लटका दिया और उसे फिर जला दिया । उसने यह भी कहा कि-"वह नास्तिक भी इसी तरह जला दिया जाय तो ठीक रहेगा ।"

लूथर को मृत्यु-दण्ड की धमकी

टेटजिल ने भी लूथर के मुकाबले में 'अपनी वाक्य-पुस्तक' छपवाई और उसे प्रचारार्थ लूथर के निवास स्थान 'विटनबर्ग' को भेजा । पर यहाँ लूथर के युवक शिष्यों ने उसके प्रचारक को बहुत तंग किया और उस पुस्तक की वही गति की जो टेटजिल द्वारा लूथर की पुस्तक की हुई थी । इसके पश्चात् रोम नगरी के सेन्सर ने जिसका कार्य पुस्तकों का निरीक्षण करके यह सम्मति देना था कि कैथलिक सम्प्रदाय वालों के पढ़ने योग्य है अथवा नहीं, स्वयं एक पुस्तक प्रकाशित कराई जिसमें लूथर के सिद्धान्तों को बड़े जोर से खण्डित किया गया था । यह पुस्तक पोप को ही समर्पित की गई थी । लूथर ने उसका प्रतिवाद करते हुए ईसाई धर्म के एक महान् आचार्य सेण्ट आगस्टाइन का यह वाक्य उद्धृत किया ।

"मैं केवल ईश्वरीय धर्म पुस्तक (बाइबिल) पर विश्वास करता हूँ और मेरी मान्यता है कि वही भूल और भ्रम से रहित है । दूसरे लोगों की शिक्षाओं पर जो अपने मन की बात कहते हैं मेरा विश्वास नहीं है ।"

लूथर ने सेन्सर का खण्डन करते हुए यह भी लिखा-"क्या तुम रक्त के प्यासे हो ? यदि ऐसा है तो मुझे इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं । क्या हानि है धर्म के लिए मेरा जीवन नष्ट हो जाय । प्रभु ईसा सदा मेरी रक्षा करेंगे ।" कोलोन के एक धर्म अधिकारी ने जब इस प्रतिवाद को देखा तो वह बड़ा क्रोधित हुआ और कहा-"चर्च के विरुद्ध इस षड्यन्त्र की अब हद हो चुकी । ऐसे नास्तिक को अब घड़ी भर भी जीवित नहीं रहने देना चाहिए ।" एक बड़े विशप (ईसाई महन्त) ने भी उसका समर्थन करते हुए कहा-"मुझे जब तक चैन नहीं पड़ेगा तब तक लूथर भस्मभूत न कर दिया जायेगा ।"

इसके कुछ समय पश्चात् लूथर आगस्टाइन पादरियों के एक बड़े सम्मेलन में बुलाया गया । लूथर के मित्रों ने उसे वहाँ जाने से रोका तो उसने उत्तर दिया-"मैं धर्म पर दृढ़ हूँ अतः मुझे मृत्यु का भय नहीं ।" सम्मेलन में पाँच विद्वान सम्मिलित रूप से लूथर की पुस्तक की आलोचना करने लगे । पर उसने ऐसी शान्ति और गंभीरता से उनके तर्कों का उत्तर दिया कि समस्त सभा चकित रह गयी । सभाध्यक्ष तो इतना प्रसन्न हुआ कि उसने एक गाड़ी मँगाकर और उसमें बैठाकर लूथर को 'विटनवर्ग' भेजा । सम्मेलन में उपस्थित पैलिस्टाइन के काउण्ट ने विटनवर्ग के 'इलेक्टर' को लिखा-"शास्त्रार्थ में लूथर ने बुद्धिमता का परिचय दिया है, उससे विश्वविद्यालय का गौरव बहुत बढ़ गया ।"

लूथर पर मुकद्मा

अब लूथर ने "सौल्यूशन्स" नाम की एक पुस्तक लिखी। जिसमें अपनी 'वाक्य-पुस्तक' की व्याख्या की गई । उन्होंने पोप को एक पत्र भी लिखा जिसमें इस विषय में न्याय की प्रार्थना की गई । पर इसका परिणाम उल्टा ही हुआ । लूथर पर 'कैथलिक चर्च' के विरोध का अभियोग लगाया गया और निर्णय के लिए उसी सेन्सर को जज बनाया गया जिससे उनका विवाद चल रहा था । यह स्थिति देखकर के लूथर के मित्र बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि यदि लूथर रोम जाते हैं तो उनका जीवित लौट सकना सम्भव नहीं और यदि वे जाने से इन्कार करते हैं तो पोप की आज्ञा का उल्लंघन करने के अपराधी बनते हैं । इसलिये उन्होंने पोप की सेवा में एक प्रार्थना-पत्र भेजा । उसी समय जर्मनी के एक बड़े पादरी 'कैजीटन' ने पोप को जर्मनी से नास्तिकता के उच्छेद के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा । पोप ने इस कार्य के लिये उन्हीं को संचालक नियुक्त कर दिया । इस प्रकार लूथर का मुकद्मा भी उन्हीं के हाथ में आ गया ।

अब लूथर को इस मुकद्मे के लिए 'आगसवर्ग' बुलाया गया । पर वहाँ के 'काउण्ट' (जागीरदार) ने सूचित किया कि यहाँ के कुछ लोगों ने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की है कि वे लूथर को देखते ही खत्म कर देंगे । फिर भी लूथर भयभीत नहीं हुए और नियत समय पर 'आगसवर्ग' पहुँच गये । जब 'कार्डिनल' (धर्माध्यक्ष) से उनकी भेंट हुई तो उन्होंने साष्टांग प्रणाम करके कहा-"मेरे ऊपर जो अभियोग लगाया गया है, उसे सुनने को मैं प्रस्तुत हूँ ।"

कार्डिनल-"अच्छा हो कि तुम अपनी 'वाक्य-पुस्तक' को नष्ट कर दो और भविष्य में ऐसा कार्य न करने की प्रतिज्ञा करो । इतना करने पर तुम छोड़ दिये जाओगे ।"

जब लूथर ने 'पोप' के पत्र को दिखाने के लिए कहा तो कार्डिनल ने उत्तर दिया-"बेटा, तुम्हारी यह इच्छा पूरी नहीं की जा सकती । तुमको अपनी भूल स्वीकार करनी होगी और आगे ऐसा न करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी ।"

लूथर-"कृपा कर यह बतलाइये कि उसमें कहाँ-कहाँ भूलें हैं । मैं उनको समझ जाऊँगा तो अवश्य आपकी आज्ञा शिरोधार्य करूँगा ।"

कार्डिनल-"हम तुमसे विवाद करना नहीं चाहते । या तो दण्ड स्वीकार करो या पुस्तक को नष्ट करो ।"

कार्डिनल ने लूथर से यह भी कहा कि "यदि तुम रोम जाना चाहो तो हम तुमको वहाँ सुरक्षित भेज सकते हैं ।" पर लूथर विवाद बढ़ाना उचित न समझ कर उस समय वहाँ से चला आया । तब उसके एक मित्र ने सलाह दी कि कार्डिनल से मिलने के बजाय पत्र-व्यवहार द्वारा बातचीत करो । लूथर ने ऐसा ही किया । पत्र द्वारा भी कार्डिनल ने वही आदेश दिया जो उसने मौखिक रूप से दिया था । जब लूथर ने उसका विरोध किया तो कार्डिनल ने बिगड़ कर कहा- "यदि तुम नहीं मानोगे तो मैं तुमको रोम भेज देता हूँ, और जातिच्युत तो मैं तुमको अभी किये देता हूँ । अब लूथर ने अपने मित्रों की सलाह से आगसबर्ग में ठहरना हानिकारक समझा और चुपचाप विटनवर्ग वापस चला आया ।

अपने आदेश की इस प्रकार अवमानना होते देखकर *कार्डिन के क्रोध का पारा बहुत चढ़ गया । उसने विटनबर्ग* के 'इलेक्टर' (शासक) को पत्र लिखा कि या तो लूथर को रोम भेज दीजिये या उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दीजिये । 'इलेक्टर' ने उस पत्र की एक प्रति लूथर के पास भेज दी । इस पत्र का उसने जो उत्तर दिया वह इतना उच्च विचारों से परिपूर्ण था कि 'इलेक्टर पूर्ण संतुष्ट हो गये और उन्होंने कार्डिनल की दोनों बातों को अस्वीकार कर दिया ।

इसी समय पोप के प्रतिनिधि टेटजिल पर, जो लूथर का प्रतिद्वन्दी था, गबन का मुकद्दमा चलाया गया। उसमें साबित हुआ कि उसने 'क्षमा-पत्रों' को बेचकर जो रुपया प्राप्त किया है उसका एक बड़ा भाग वह स्वयं दबा बैठा है। इस मुकदमे का भय उस पर ऐसा सवार हुआ कि वह बीमार पड़ गया और शीघ्र ही उसका देहान्त हो गया। अन्तिम समय में लूथर ने उसके सब दोषों को भुला कर उसे एक अत्यन्त करुणायुक्त पत्र भेजा।

लूथर पर प्राण-संकट और उसकी रक्षा

पर धर्म के नाम पर ढोंग करने वाले व्यक्ति प्रत्यक्ष पाप करने वालों की अपेक्षा भी अधिक भयंकर होते हैं। वे स्वाभाविक धर्म की बातों से वैसे ही घबड़ाते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से उल्लू। लूथर की सच्ची धर्म-व्याख्या से धर्म का दम्भ करने वाले पदवीधारी उसी प्रकार भटकते रहे और तरह-तरह से उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करते रहे। एक दिन वे कहीं जा रहे थे तो एक युवा पुरुष ने उन पर पिस्तौल तानते हुए कहा-"तुम अकेले कैसे घूम रहे हो ?" लूथर बोले—"मनुष्य मेरा क्या कर सकता है, जब परमेश्वर रक्षक है।" एक अन्य 'पोपानुयायी' ने विटनबर्ग के शासक को इटली से पत्र भेजा कि-"आप लूथर की रक्षा करने से हाथ खींच लीजिये, जिससे हमको दस हजार क्राउन (जर्मनी का रुपया) प्राप्त करने का अवसर मिल सके। इस पत्र से यह भेद खुला कि पोप के अधिकारियों की तरफ से लूथर को मारने या पकड़कर लाने के लिए दस हजार क्राउन के पुरस्कार की घोषणा की गई थी।"

जब विटनबर्ग के शासक ने लूथर को इस प्रकार से संकटग्रस्त देखा और जर्मनी का नया शासक चार्ल्स भी उससे विरुद्ध आदेश प्रकाशित करने लगा तो इलेक्टर ने गुप्त रीति से पाँच व्यक्ति जेल भेजकर उनको गिरफ्तार करा लिया। लूथर के इस प्रकार गायब हो जाने से जनता में बड़ी सनसनी फैल गई। पर इलेक्टर ने उनको सुरक्षापूर्वक तब तक अपने दुर्ग में बन्द रखा जब तक उनके विरोधी लोगों का जोर-शोर ठण्डा न पड़ गया। जेलखाने में लूथर ने 'बाईबिल' का अनुवाद जर्मन भाषा में किया जिससे सर्वसाधारण उसे स्वयं पढ़ और समझ सकें। दो वर्ष बाद जेलखाने से बाहर आकर लूथर ने उसे छपाया और जनता में तेजी से उसका प्रचार होने लगा। यह देखकर पोप की तरफ से उन पुस्तकों को 'धर्म विरुद्ध' कहकर जलवाया जाने लगा। इसी बीच इंग्लैण्ड के राजा हेनरी आठवें ने भी लूथर के सिद्धान्तों के खण्डन में एक पुस्तक छपाई। जब लूथर ने उसका उत्तर दिया तो हेनरी बड़ा रुष्ट हुआ और उसने विटनबर्ग के शासक को लिखा कि वह लूथर को खूब सतावें।

धर्म के नाम पर राक्षसी कृत्य

लूथर पर तो इस आज्ञा का प्रभाव अधिक न पड़ा पर धर्माधिकारी और सरकारी कर्मचारी उसके अनुयायियों को खूब कष्ट देने लगे। इस प्रकार अन्त में धर्मोन्माद ने अपना नग्न रूप प्रकट किया। जहाँ धर्म का लक्षण पतितों को भी शुद्ध बना देना कहा गया है, वहाँ रोम के पोप की तरफ से जर्मनी में ईसा की आज्ञाओं का स्वतन्त्र रूप से पालन करने के अपराध में निर्दोष व्यक्तियों का वध किया गया। इस पर भी आश्चर्य था कि दोनों ही दल अपने को एक ही धर्म ग्रन्थ बाइबिल का अनुयायी और प्रभु ईसा के उपासक बतलाते थे। इस प्रकार के सारहीन और मूर्खतापूर्ण धार्मिक झगड़ों से भारतवर्ष का धर्म-इतिहास भी भरा पड़ा है, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि के हिंसापूर्ण संघर्ष सैकड़ों वर्ष तक चलते रहे हैं और उनमें अनगिनती निर्दोष व्यक्ति मारे गये हैं।

लूथर के जीवन वृतान्त से हम सबसे बड़ी शिक्षा यहीं ग्रहण कर सकते हैं कि जो लोग धर्म को झगड़े और उत्पीड़न का साधन बनाते हैं, वे ही उसके सब बड़े शत्रु हैं। चाहे वह त्रिपुण्ड लगायें हुए हों, तुलसी की माला धारण किये हों, भैरों जी की भस्म का टीका लगाये हो या देवी जी का रक्त चन्दन। पर जो सम्प्रदाय अपने अनुयायियों को यह उपदेश नहीं देता कि धर्म का सर्वप्रथम सिद्धान्त बिना धर्म और मजहब का विचार किये दुखियों की सेवा और भूले भटकों को प्रेमपूर्वक सही मार्ग दिखलाना है, वह 'धर्म' नाम का अधिकारी नहीं हो सकता। धर्म इसका भी नाम यही है कि जो व्यक्ति धार्मिक उपासना या क्रियाकाण्ड के सम्बन्ध में हमसे भिन्नता रखता हो उसे हम अपना शत्रु समझ लें और उसका नाश करने को तैयार हो जाये।

ऐसे ही मूर्खतापूर्ण या स्वार्थपरक कार्यों का यह परिणाम हुआ कि बहुसंख्यक व्यक्ति 'धर्म' शब्द के ही विरोधी बन बैठे और उसे 'जनता के लिए अफीम' की उपमा देने लगे। उनके कथन का आशय यही था कि चालाक और सत्ताधारी व्यक्ति सर्वसाधारण पर बनावटी धर्म का नशा चढ़ाकर उनके द्वारा हर तरह के अनर्थ करा सकते औरअपना मतलब निकाल सकते हैं। योरोप में पोप और अपने देश में बौद्ध शैवों के रक्तरंजित संघर्ष और वाममार्गी तथा कृष्णजी की नकल करने वाले गुँसाइयों के दुराचारों का वर्णन पढ़ने से विदित होता है कि यह मनुष्य रूपधारी 'शैतान' ज्ञान वेदान्त

और भक्ति के उच्च आदर्शों को जानता और दूसरों को उनका उपदेश करता हुआ भी कितना क्रूर और पतित हो सकता है । इससे कहीं अच्छा है कि हम धार्मिकता और नैतिकता के दस पाँच मुख्य और स्पष्ट नियमों को ही जाने और उनका सचाई के साथ पालन करें । भगवान किसी की विद्वता और शास्त्र ज्ञान की परीक्षा लेकर उसे सद्गति का उत्तराधिकारी नहीं बनाते, वरन् वे केवल उसके सत्कर्म और सच्चरित्रता को देखते हैं ।

ईसाई धर्म का सुधार

लूथर का समस्त जीवन (मृत्यु १५४६) इसी प्रकार धर्मध्वजियों और पाखण्डियों से संघर्ष करने में व्यतीत हुआ । धर्माधिकारी और सत्ताधिकारियों ने उसे दबाने और सत्य-धर्म सिद्धान्तों से हटाकर अपना अनुयायी बनाने की बहुत चेष्टा की और अन्तिम समय तक उसे तरह-तरह के कष्ट देने का प्रयत्न करते रहे, पर वह लक्ष्य पर सुदृढ़ बना रहा । अपने जीवन काल में ही उसने उस 'प्रोटेस्टेण्ट' सम्प्रदाय की नींव डाल दी जो शीघ्र ही योरोप के अनेक देशों में धार्मिक सुधारों का अग्रगामी दल सिद्ध हुआ । आज समस्त इंगलैंड और जर्मनी प्रोटेस्टेण्ट ही है और अमरीका आदि अन्य देशों में भी उसके अनुयायियों की काफी संख्या है ।

लूथर के प्रयत्नों का सर्वोत्तम फल यह हुआ कि समय आने पर रोम के 'पापो' ने भी वास्तविकता को स्वीकार किया और अपने दोषों को दूर करके मानव-सेवा को ही अपना ध्येय बना लिया । आज रोम मे पाप की गद्दी पर जो व्यक्ति आसीन होते हैं वे प्रायः सन्त प्रकृति के होते है और रोमन कैथलिक मिशन की तरह से संसार भर में सबसे अधिक अस्पताल, स्कूल तथा गरीबों की सहायता के अन्य कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं । यह सब महापुरुष लूथर के उद्योग तथा आत्म-त्याग का परिणाम है ।

हमारे देश में सुधारकों की कमी नहीं है और पिछले डेढ़ सौ वर्षों में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे आदि ऐसे कितने ही समाज सुधारक उत्पन्न हो चुके हैं जिनका प्रभाव भारतवासियों पर वर्षों तक रहेगा । महात्मा गाँधी राजनीतिक नेता होने के साथ ही बहुत बड़े समाज-सुधारक भी थे और प्राचीन सुधारको के कार्यक्रमों को अधिकांशतः उन्हीं ने कार्यरूप में परिणित कराया । पर वर्तमान समय में हमको अपने देश में इस प्रकार के किसी सच्चे और प्रभावशाली सुधारक का अभाव ही जान पड़ रहा है । छोटी-छोटी जातियों के भेद, दहेज-प्रथा की भयंकरता, विवाह तथा अन्य रस्मों में की जाने वाली फिजूलखर्ची अपात्रों के दिये जाने वाले दान में धन की बर्बादी आदि अनेक गंभीर समस्या हिन्दू जाति की जड़ पर कुठाराघात कर रही हैं, पर कोई ऐसा महामानव सामने नहीं आया जो जन-समुदाय को क्रियात्मक रूप से इनको मिटाने की प्रेरणा दे सके । लूथर अपने देश में फैली सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अकेला ही उठ खड़ा हुआ और उसने अपने स्वार्थ त्याग तथा निर्भयता के द्वारा अन्त में उनको जड़मूल में से उखाड़ दिया। इन्हीं गुणों को देखकर एक भारतीय लेखक ने कहा है–

"लूथर रिफार्मेशन (सुधार) का पिता था । उसने योरोप में एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया । उसकी उत्पन्न की हुई धार्मिक क्रान्ति आग की तरह ईसाई-जगत् में फैल गई । इस क्रान्ति से करोड़ों पददलित व्यक्तियों का उद्धार हुआ । वे लोग जो अपने को सदा पापग्रस्त तथा हीन-दीन मानते थे, उन्हें भी अपने मोक्ष का मार्ग दिखाई देने लगा ।"

सच्चे सुधारक का यही लक्षण है । अगर हमारे देश में सुधार के अभिलाषी सच्चे हृदय से संगठित होकर सामाजिक और धार्मिक कुप्रथाओं को मिटाने के लिये खड़े हो जायें तो हिन्दू जाति का उद्धार होने में देर न लगे ।

मानव समानाधिकार के बलिदानी

अब्राहम लिंकन

अब्राहम लिंकन का नाम सामने आते ही किसी का भी सिर श्रद्धा से झुके बिना नहीं रहता । अब्राहम लिंकन नाम का अर्थ–मानवता, सत्यता, समानता, परिश्रम पुरुषार्थ धीरता और वीरता । इन्हीं महान गुणों के पुंजीभूत व्यक्ति का ही नाम अब्राहम लिंकन मानो सार्थक रखा गया था ।

निर्धनता को कतिपय लोग जीवन प्रगति की बाधक जंजीर कहा करते हैं । किन्तु यही लोह श्रृंखला पुरुषार्थी तथा लगनशील व्यक्ति के लिए सफलता का स्वर्ण पथ बन जाती है । अमीरी स्वभावतः मनुष्य को आलसी, अकर्मण्य तथा दम्भी बना देती है । विरला ही ऐसा कोई माई का लाल होता है जो अमीर बाप का बेटा होकर कर्मवीर बनकर संसार के रंगमंच पर कुछ कर दिखलाए ।

निसंदेही गरीबी वह वरदान है जो मनुष्य के लिए एक चुनौती बनकर उसके कर्म-कोषों को खोल देती है । मनुष्य गरीबी दूर करने के लिए काम करता हुआ ऊँचे से ऊँचे स्थान पर जा पहुँचता है । गरीबी मे जन्म लेना वाला यदि परिश्रमी नहीं बनेगा, तो उसकी दुर्गति निश्चित है । उसका जीवन नष्ट हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि अभावों को बहुत

समय तक सह सकना सम्भव नहीं होता । इस प्रकार उसे विनाश से बचने के लिए परिश्रम करना ही होता है, उद्योग में निवृत्त होना ही होता है और तब ऐसा करने से उसे परिश्रम के मीठे फल चखने को मिलते हैं जिससे वह उसका अभ्यस्त हो जाता है । अतएव गरीबी को अभिशाप नहीं, एक प्रेरक वरदान समझना चाहिए ।

अमरीका आज संसार में धन और शक्ति की दृष्टि से सर्वोपरि माना जाता है । संसार के अधिकांश राष्ट्र उसके कर्जदार हैं और सबसे अधिक सैन्य सामग्री उसके ही पास है । पर इतनी समृद्धि और सामर्थ्य होने पर भी वहाँ सामाजिक शान्ति का बड़ा अभाव है । लूटमार, अपहरण, हत्या, आत्महत्या की जितनी घटनायें वहाँ होती हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य देश में होती होंगी । सब प्रकार के साधन होते हुए भी इस तरह का अशान्त, असन्तुष्ट जीवन व्यतीत करना इस बात का चिह्न है कि वहाँ के समाज में कोई ऐसी बड़ी त्रुटि है जिससे वे वास्तविक सुख से वंचित ही रह जाते हैं ।

न मालूम वह कौन-सी अशुभ घड़ी थी जब धन के लोभी कुछ नर पिशाचों ने अफ्रीका के निरीह हबशियों को जबरदस्ती पकड़कर गुलाम के रूप में अमरीका में बेचना शुरू किया । उस समय अमरीका की आबादी कम थी, जमीन जितनी चाहे पड़ी हुई थी, बस वहाँ के गोरों ने इन काले लोगों से पशुओं की तरह काम लेकर अपने वैभव की वृद्धि करनी आरम्भ की । ये लोग हबशियों को मनुष्य नहीं समझते थे और उसके साथ कैसा भी व्यवहार कर सकते थे । हबशी दास को मार डालने पर भी कोई कानूनी प्रतिबन्ध न था और वास्तव में प्रतिवर्ष सैकड़ों दास अधिक क्रूर प्रकृति के मालिकों द्वारा मार दिये जाते थे । हबशियों की सन्तान, स्त्री, बच्चा सब मालिक की अचल सम्पत्ति की तरह माने जाते थे और उनको पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही मालिक की दासता करनी पड़ती थी, जब तक वह स्वयं उसे किसी दूसरे के हाथ बेच न दें । अगर भीषण कष्टों को सहन न कर सकने के कारण कोई दास भाग जाता तो जानवरों की तरह उसका पीछा और खोज की जाती थी और उसे पकड़कर पहले से अधिक यंत्रणायें दी जाती थीं ।

इसी गुलामी की अन्यायपूर्ण प्रथा ने अमरीकन लोगों के स्वभाव में अनेक ऐसे दोष उत्पन्न कर दिये जिससे उनमें स्वार्थपरता अनुदारता आदि दुष्प्रवृत्तियों का बाहुल्य हो गया। यह एक अटल सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति अधिकांशतः जैसे वातावरण में रहता है जैसा व्यापार धन्धा रोजगार करता है उसका स्वभाव भी तदनुकूल बन जाता है । हमने देखा है कि पुलिस के जो कर्मचारी गिरफ्तार व्यक्तियों को मारते, पीटते, गाली देते रहते हैं, वे अपने घर में ही प्रायः वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं । एक कहावत है कि--"अभ्यास एक प्रकार की प्रकृति ही बन जाता है ।" वेश्याओं को दुराचारियों के पड़ौस में रहने वाला व्यक्ति यदि चरित्रहीन बन जाय और सट्टा, जुआ आदि के समीप रहने वाला जुआरी हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । इसलिए यह उपदेश दिया है कि आत्म कल्याण का अभिलाषी सदा सत्संग और आत्मोत्थान के उपयुक्त वातावरण में ही रहे ।

अब्राहम लिंकन (जन्म १२ फरवरी १८०६) वह व्यक्ति था जिसने अमरीका को इस कलंक से मुक्त करने के लिए अपने ही देशवासियों से युद्ध करने का खतरा उठाया और अन्त में इसी उद्देश्य की पूर्ति में अपना बलिदान कर दिया। उनके हृदय में आरम्भ ही से मानव मात्र की भावना और भ्रातृभाव की समता उत्पन्न हो गई थी और जब कभी वे किसी दास पर जुल्म होते देखते थे तो उनको दुःख होता था । उन्होंने एक हबशी लड़की को नीलाम होते देखा । खरीददार उसे चुटकी काटकर और घोड़े की तरह चला-फिरा कर देख रहे थे । इससे लिंकन का हृदय ग्लानि से भर गया । उन्होंने उपस्थित जनों से कहा--"मैं ईश्वर के नाम पर प्रतिज्ञा करता हूँ कि अगर कभी उपयुक्त अवसर मिला तो इस पापपूर्ण प्रथा को जड़मूल से उखाड़कर फेंक दूँगा।"

गरीबी का जीवन

लिंकन का जन्म एक बहुत गरीब घर में हुआ था । लिंकन के पिता इतने गरीब थे कि जब केन्टुकी की हार्डिन काउन्टी नामक बस्ती में भूखों ही मरने लगे तब अपने परिवार को लेकर उत्तर-पश्चिमी अमेरिका के जंगलों की ओर यह सोचकर चल दिये कि और कुछ न सही शिकार और जंगली वनस्पति के आधार पर जीवन रक्षा तो की ही जा सकती है । उस समय लिंकन की आयु केवल सात साल की थी और उनका नाम एब था ।

एब के पिता थामर्स लिंकन ने अपनी पत्नी नैंसी हैंक्स बेटे एब और नौ वर्षीय बेटी सारा की मदद से जंगल में पहुँचकर एक स्थान चुना और वहाँ के वृक्ष कुल्हाड़ी से काटकर एक छोटी-सी कुटिया बनाई । यह कुटिया पेड़ों के तनों, लट्ठों और पत्तों से बनाई गई थी । जमीन पर ही पत्तों का फर्श और बिछौना तैयार किया गया ।

सिर छिपाने के लिये आड़ की तो व्यवस्था हो गई । पर भोजन की समस्या हल न हो सकी । जंगल के उस भाग में मानवीय भोजन के लायक फल-फूलों और कन्दमूलों का अभाव था । अब केवल थामस की पुरानी बन्दूक और

जंगली जानवरों का सहारा रह गया था । थामस नित्य शिकार पर जाते और जिस दिन सफल हो जाते उस दिन तो परिवार की जठर अपनी आग में जलने से बच जाता और जिस दिन कोई जानवर हाथ न आता उस दिन उपवास के सिवाय और कोई चारा न रहता था । जब भोजन का यह हाल था तो बच्चों का कितना प्रबन्ध होगा इस बात से ही जाना जा सकता है । उसका पिता बढ़ई का काम करता था '। वह लकड़ी की छोटी कुटिया बनाकर उसी में परिवार सहित रहता था । उसे शिकार का भी बहुत शौक था और वह सोचता था कि उसका पुत्र अब्राहम भी बड़ा होकर बढ़ई और शिकारी बनेगा । गरीबी के कारण बचपन में लिंकन के पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी । उसे प्रायः पानी भरने, सफाई करने, चक्की पर आटा पिसाने आदि का काम करना पड़ता था । उसका शरीर लम्बा और मजबूत था और सात वर्ष की आयु में ही वह काफी बड़ा दिखलाई पड़ने लगा था । इस अवस्था में भी उसे पढ़ने का शौक था और जब कभी उसे अवसर मिलता किसी से दो चार अक्षर सीख लेता था । जिस चक्की पर आटा पिसाने जाता था, उसी की मालकिन से जब तक आटा पिसता कुछ लिखना और गिनना सीखता रहता था ।

लिंकन ने एक छोटा-सा कमजोर कुत्ता सड़क पर पड़ा पाया । उसे उस अनाथ प्राणी पर बड़ी दया आई और उसे घर ले आया । वह कुत्ता भी उसे बड़ा प्रेम करने लगा । वह चक्की तक उसके साथ जाता था । एक बार किसी लड़के ने अकारण कुत्ते को मार दिया तो लिंकन ने उस लड़के को उठाकर जमीन पर पटक दिया और उससे प्रतिज्ञा करा ली कि वह कभी इस प्रकार कुत्ते को न मारेगा ।

इसी अवसर पर लिंकन के पिता ने अपने निवास स्थान को त्यागकर 'इण्डियाना' स्टेट मे जाकर रहने का निश्चय किया । वह प्रदेश अधिक उपजाऊ और हरा-भरा था और वहाँ शिकार के लायक जानवरों की भी बहुतायत थी । वहाँ एक जगह पसन्द करके उन्होंने जंगल को साफ करके लकड़ियों के लट्ठों का एक अहाता बनाया जिसको तीन तरफ से बन्द करके चौथी तरफ खुला रखा गया था । इस तरफ सदा अग्नि जलती रहती थी जिससे घर गरम रहता था और जंगली जानवर पास न आने पाते थे । आरम्भ में तो इन लोगों को शिकार करके ही जीवन-निर्वाह करना पड़ा । फिर धीरे-धीरे जंगल काटकर १६० एकड़ जमीन का पट्टा अपने नाम करा लिया और उसकी कीमत का चौथाई भाग अस्सी डालर पहली किश्त के रूप में सरकारी खजाने में जमा करा दिया ।

दूसरे ही वर्ष उस नई बस्ती के निवासियों में एक प्रकार का रोग फैल गया, जिसका कारण किसी जहरीले पौधे के खा जाने से पशुओं के दूध का विषाक्त हो जाना था । इसके फल से अनेक लोग मारे गये जिनमें लिंकन की माँ भी थी । इससे लिंकन और उसकी छोटी बहिन बड़ी मुसीबत में पड़ गये । थोड़े दिन बाद उसका पिता एक विधवा स्त्री से विवाह कर लाया । इसके पहले पति से तीन बच्चे थे जो साथ में आये । यह नई स्त्री अधिक होशियार और गृह प्रबन्ध में चतुर थी । उसने थोड़े ही दिन में सुव्यवस्था द्वारा उस घर से गरीबी और गन्दगी को हटाकर कायापलट कर दी । वह पाँचों बच्चों को समान रूप से प्रेम करती थी और उसने शीघ्र ही सबके स्कूल जाने की व्यवस्था कर दी ।

धीरे-धीरे वहाँ अन्य लोग आकर बसते गये और कुछ समय में ही वहाँ एक बड़ा गाँव बस गया । अब अब्राहम काफी बड़ा खूब मजबूत हो गया था और लोग उसे पहलवान की तरह मानने लगे थे । वह धर्मोपदेशकों तथा राजनीतिज्ञों की ऐसी बढ़िया नकल कर लेता था कि सुनने वाले हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते थे । वह अपने समस्त कामों की तरफ से इतना लापरवाह रहता था कि लोग उसे आलसी समझने लग गये । पर वह हर तरह की पुस्तकों को पढ़ने का शौकीन था और किसी भी विषय पर बातचीत चलने पर उनके उदाहरण सुना दिया करता था ।

स्वावलम्बन द्वारा प्रगति

१७ साल की आयु में अब्राहम ने एक नाविक की नौकरी कर ली । उसे ३७ सेंट (लगभग एक रुपया) रोज मजदूरी मिलती थी जो उस जमाने में भी कम ही थी । पर उसे ओहियो नदी पर तरह-तरह की नावों और स्टीमरों का रंग-बिरंगे मनुष्यों और सामग्री सहित आना-जाना एक बढ़िया दृश्य मालूम पड़ता था । उन्नीस साल की आयु में उसने उस कम मजदूरी वाले काम को छोड़ दिया और एक बड़े स्टीमर पर नौकर होकर अपने गाँव से लगभग एक हजार मील दूर 'न्यू ओरलीन्स' के बड़े नगर तक जाने का निश्चय किया ।

'न्यू ओरलीन्स' मे उसने नया ही दृश्य देखा और वह स्थान उसे बड़ा हलचल पूर्ण जान पड़ा । वहाँ उसे इतनी सम्पत्ति दिखाई पड़ी जिसका कोई हिसाब नहीं । वहाँ लोग फ्रांसीसी, स्पेनिश, पोर्तुगीज और तरह-तरह की भाषाओं मे पुकार-पुकार कर काले गुलामों से रुई, तम्बाकू, चीनी आदि के बोरे जहाजों पर चढ़वाने और उतरवाने मे लगे हुए थे । जब वह वहाँ से घर वापिस आया तो अपनी कमाई के चौबीस डालर पिता को दिये ।

सन् १८३० में अब्राहम का पिता इण्डियाना को छोड़कर इलियानास रियासत में जाकर बस गया । कुछ समय बाद उसने स्वतंत्र होकर रहने की व्यवस्था की क्योंकि अब वह २१ वर्ष की आयु का पूर्ण वयस्क हो गया था । वह एक बार फिर बड़ी नाव पर नौकर होकर 'न्यू ओरलीन्स' गया और वहाँ से लौटकर इलियानोस में ही एक दुकान पर नौकरी करली । वहाँ पर उसे शासन सभा के चुनाव में क्लर्क का काम करना पड़ा, जिससे राजनीति के सम्बन्ध में उसे कुछ जानकारी हो गई । सन् १८३२ में वह स्वयं स्थानीय शासन-सभा के लिए उम्मीदवार हो गया और उसे बुरी तरह हारना पड़ा । तब उसने 'न्यू सालेम' नामक स्थान में पोस्ट मास्टर का काम कर लिया और दो साल बाद फिर शासन सभा के लिए उम्मीदवार बना और सबसे अधिक मत प्राप्त करके सदस्य बन गया । इसी समय उसका प्रेम 'रटलेज' नाम की युवती से हुआ, पर विवाह से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई और अब्राहम को सदैव उसका शोक बना रहा ।

अब्राहम अपने बचे हुए समय में कानून का अध्ययन करता रहता था और कुछ समय बाद उसने एक अन्य व्यक्ति के साझे में वकील का धन्धा शुरू किया । पर ये दोनों ही अपने धन्धे की अपेक्षा राजनीति में अधिक अनुराग रखते थे इसलिए थोड़े ही समय में असफल होकर कार्य बन्द कर देना पड़ा ।

विवाह और वकालत का धन्धा

सन् १८४२ में अब्राहम का विवाह एक बड़े घर की लड़की मेरीटाड के साथ हो गया । यद्यपि वे एक दूसरे से प्रेम करते थे पर कई प्रकार से उसकी पत्नी उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई । वह स्वभाव के कुछ दिखावटी, ईर्ष्यालु और फिजूलखर्च थी । पर वह अपने पति की योग्यता पर पूरा विश्वास रखती थी । अनेक बातों में वह अब्राहम से मतभेद भी रखती थी । उसके अत्यधिक सीधे-सादे रहन-सहन पर जो अनेक समय फूहड़पन तक पहुँच जाता था, उसे बहुत डाँटती-फटकारती रहती थी । उदाहरण के लिए लिंकन वस्त्र के टूटे बटनों की परवाह नहीं करते थे, खाते समय उनको छुरी-काँटे का ठीक प्रयोग नहीं करना आता था, वे मेहमानों का भली प्रकार अभिवादन भी नहीं कर पाते थे, दफ्तर में कभी सफाई नहीं होती थी आदि । उधर वह एक महत्वाकांक्षी स्त्री थी, जो आरम्भ से ही वाशिंगटन के प्रेसीडेण्ट भवन (व्हाइट हाउस) में रहने के स्वप्न देखती रहती थी । यदि सच पूछा जाय तो लिंकन को हमेशा धकेलकर और पीछे पड़कर प्रेसीडेण्ट के पद पर पहुँचाने में उसका भी हाथ कुछ कम नहीं था । अन्यथा लिंकन जैसे सरल स्वभाव, परोपकार के व्रतधारी और रहन-सहन में सर्वथा अल्हड़ व्यक्ति का राजनीति जैसे तिकड़म और चालबाजी के क्षेत्र में आगे बढ़ सकना कठिन ही था ।

लिंकन स्वभाव से ही न्याय के पक्षपाती थे । जिस समय वे अमरीका के केन्द्रीय शासन-सभा (कांग्रेस) के सदस्य चुने गये, उन दिनों अमरीका ने मैक्सिको के खिलाफ युद्ध छेड़ रखा था । उसका उद्देश्य यही था कि मैक्सिको का कुछ भाग जीतकर अमरीका में शामिल कर लिया जाय । यद्यपि मैक्सिको की सेना की संख्या ज्यादा थी, पर उसके सैनिक युद्ध-कला के अच्छे जानकार नहीं थे, जिससे अमरीका के जनरल टेलर और स्काट ने शीघ्र ही उन पर विजय प्राप्त कर ली और मैक्सिको का लगभग आधा भाग छीन लिया । लिंकन ने इस कार्य की 'हत्याकाण्ड और डाकेजनी' कहकर भर्त्सना की इससे इलियानास रियासत के अनेक व्यक्ति जहाँ से वे कांग्रेस के व्यक्ति चुने गये थे, उनके विरोधी हो गये ।

ईमानदारी और सचाई का व्यवहार

वकालत के धन्धे में भी लिंकन इसी प्रकार की सचाई से काम लेता था । यद्यपि अधिकांश लोगों का यही विश्वास है कि यह पैसा 'बेईमानी' का है, जो वकील जितना अधिक चालाकी और झूँठ से काम लेगा उतनी ही सफलता उसे मिलेगी । पर लिंकन इससे ठीक विपरीत चलता था । इस सम्बन्ध में उसके जीवन चरित्र लेखक लार्ड चार्नवुड ने लिखा है—

"लिंकन का तरीका सदा यही रहता था कि जिस मामले को उसकी आत्मा स्वीकार नहीं कर लेती उसकी पैरवी करने से वह इन्कार कर दिया करता था । अदालत में खड़े होने पर जब उसे यह मालूम होता कि इस मुकद्दमे में कुछ ऐसी ही बातें हैं जो उससे छुपा ली गई हैं और जिन्हें उसकी आत्मा स्वीकार नहीं करती तो वह उसके कागजात को उसी समय फेंक देता था ।"

"एक मुकद्दमे की सुनवाई थी । अदालत में आवाज पड़ी । लिंकन गैरहाजिर था । न्यायाधीश ने उसके होटल पर आदमी भेजा तो उसने उसे यह कहकर लौटा दिया कि 'जज से कह देना कि मैं अभी स्नान कर रहा हूँ ।' इसी [illegible]

[illegible]

इसलिये न तो मैं तुम्हारा मुकद्दमा लड़ूँगा और न तुमसे कुछ फीस लूँगा । पर मैं तुमको एक सलाह बिना फीस के ही देना चाहता हूँ । घर चले जाओ और यह सोचो कि क्या ऐसे ६०० डालर ईमानदारी से नहीं कमा सकते ?"

यह सच है कि इस प्रकार के व्यवहार से अधिक आमदनी नहीं की जा सकती थीं, पर इसके कारण कुछ ही समय में वह सब वकीलों में आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। बहस में पूरी ईमानदारी और सचाई रखने के कारण कई न्यायाधीशों की निगाह में वह पूर्ण विश्वासपात्र बन गया था। चाहे कैसा भी गम्भीर व जटिल मुकद्मा क्यों न होता, यदि वह उसे सच्चा मान लेता तो अपने तर्कों और विलक्षण बुद्धि से उसकी एक-एक बात खोलकर सामने रख देता था। एक नवयुवक ने जो वकील का धन्धा कर लेना चाहता था पर यह सोचकर हिचक रहा था कि काम में थोड़ी बहुत बेईमानी तो करनी ही पड़ती है, लिंकन से उसकी सम्मति माँगी। उसने कहा—"तुम्हारा वकालत के बारे में यह भ्रम गलत है। तो भी यदि तुम सोचते हो कि यह पैसा तुमको धूर्त और बदमाश बना देगा तो इसमें हर्गिज हाथ नहीं चलाना चाहिये।"

दास-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन—

दास प्रथा के दोषों और उसके उन्मूलन का विचार तो लिंकन के हृदय में किशोरावस्था से ही सम्पन्न हो गया था, पर वह किस प्रकार परिपक्व हुआ और अन्त में उसने किस प्रकार अपने आदर्श के लिए अपनी पूरी शक्ति लगी दी इसका वर्णन भी बड़ा प्रेरणापद है। बाहर से देखने वालो के लिए तो यह प्रथा स्पष्टतः अन्यायपूर्ण थी, इसलिये जहाँ तक सम्भव हो उतना उसका शीघ्र अन्त हो जाना उचित था। पर जिस राज्य संचालक के कन्धे पर इसका भार रखा जाता वह जान सकता था कि इसमें कितनी अधिक कठिनाइयाँ और भयंकर खतरा था। अमरीका के दक्षिणी भाग की जिन आठ-दस रियासतों मे दास प्रथा का प्रचलन था, वहाँ के अधिकांश व्यक्ति इसको कायम करने पर उतारू थे और उन्होंने धमकी दे रखी थी कि अगर वाशिंगटन के शासकों ने इसके लिये कोई प्रस्ताव पास किया तो वे गण-राज्य से पृथक् हो जायेंगे।

यह केवल धमकी ही न थी। वहाँ के निवासी बड़े कट्टर थे और जो कोई दास प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन उठाता था वह उसके प्राणों के ग्राहक बन जाते थे। गैरीसन ने दास प्रथा का विरोध करने को 'लिवरेटर' पत्र निकाला तो कई वार उसके ऊपर प्राणघातक हमला किया और उसके प्रेस को नष्ट करते रहे। जान-ब्राउन ने दास प्रथा के विरुद्ध झण्डा खड़ा किया तो उसे सपरिवार प्राण दे देने पड़े। इतना ही नहीं इस जमाने में भी जब प्रेसीडेण्ट कैनेडी ने हवशियों को समानाधिकार का कानून पास कराया तो दक्षिणी रियासतों के एक नगर में किसी प्रकार की हिचकिचाहट के बिना दबाई उनकी हत्या कर दी गई।

इसलिये यद्यपि उस समय दास-प्रथा की बुराइयों को सब जान चुके थे और सभी न्यायशील व्यक्ति उसको बन्द करना भी चाहते थे, पर जब कभी इस समस्या पर विचार करने का अवसर आता था तो वे लोग भी जो इसके विरुद्ध खड़े थे यथासम्भव इधर-उधर चले जाते या झुकने का बहाना ढूँढ़ने लगते थे, क्योंकि वे इस सवाल का कोई उत्तर नहीं दे पाते थे कि इससे गणराज्य जिस संकट में पड़ जायेगा उसका क्या उपाय किया जाय? गृहयुद्ध के भय से वे लोग शायद ही अन्त तक दास प्रथा के उन्मूलन का समर्थन कर पाते थे। यह लिंकन की सचाई और योग्यता ही थी कि वे इस गम्भीर प्रश्न पर बिना किसी प्रकार की दुविधा या हिचकिचाहट के कठिन मार्ग पर चलते रहें। इलियानास, जहाँ से लिंकन चुने गये थे यद्यपि एक परिश्रमी रियासत थी तो भी वहाँ दास-प्रथा के समर्थकों का बाहुल्य था, पर उन्होंने कभी इसकी भी चिन्ता नहीं की कि दास प्रथा के उन्मूलन के कारण उनके पड़ासी ही उनके विरोधी हो जायेंगे तो उनको कितनी अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी होंगी।

लिंकन ने इस विषय पर अच्छी तरह विचार करके अपना यह मत प्रकट किया था कि—"वह अमरीका से इसलिये प्रेम करता है कि वह उसका अपना देश है। इससे भी बढ़कर वह उससे इस कारण प्रेम करता है कि यह स्वतन्त्रता का रक्षक देश है।" इसका आशय यह था कि जिस देश ने मानवता का सही मूल्य निर्धारित किया, सच्चे लोकतंत्र की घोषणा की, उससे प्रेम करना, उसके लिये त्याग करना हमारा कर्तव्य होता है।

लिंकन कहते थे कि अमरीका को एक आत्म सम्मानित राष्ट्र बनाने के लिये इसके संस्थापकों ने जान-बूझकर एक ऐसा संविधान बनाया है जिसमे सामान्य मनुष्यों को अन्य देशों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। जनमत का सदा एक केन्द्रीय-सिद्धान्त होता है और उसी में सब अन्य छोटे-बड़े विचार प्रस्फुटित होते हैं। अमरीका में आरम्भ में जनमत का एक ऐसा केन्द्रीय-सिद्धान्त था—"मनुष्य की समानताएँ।" जहाँ तक गोरे लोगों का सवाल था, उस देश में स्थायी बसे हुए व्यक्तियो को यह समानता का स्तर प्राप्त हो गया था। लिंकन का कहना था कि—"काले लोगों को किस न्याय के अनुसार उस स्तर से वंचित रखा जाता है?"

उसके विरोधी आक्षेप करते थे कि "यदि तुम हवशी महिला को दासी के रूप में रखना नहीं चाहते तो क्या उसे पत्नी के रूप में रखोगे?" लिंकन उत्तर देता—"मैं इस बनावटी तर्क का कड़ा विरोध करता हूँ। मुझे हवशी महिला

की किसी रूप में जरूरत नहीं है । मैं उसे अकेले ही रहने दूँगा । कई तरह से निश्चय ही यह मेरे स्तर की नहीं है । परन्तु यह उसका स्वाभाविक अधिकार है कि अपनी कड़ी मेहनत के पसीने से उसने जो रोटी कमाई है, उसे वह खा सके । इस दृष्टिकोण से वह मेरे बराबर है और किसी भी मनुष्य के बराबर हो सकती है । अर्थात् जिस प्रकार दूसरे मनुष्यों को अपनी पसीने की कमाई—मेहनत का फल भोगने का अधिकार है वैसा ही अधिकार हवशियों को भी होना चाहिए, क्योंकि ये भी मनुष्य हैं और अमरीका के नागरिक हैं ।''

लिंकन का यह सिद्धान्त हम भारतवासियों के लिए विचारणीय है । हम भी अपने समाज के एक अंग को मानवता के अनेक अधिकारों से वंचित रखे हुए हैं । हमारे देश में भी अछूतों की कमी उससे अच्छी हालत नहीं थी जैसे हवशियों की अमरीका में थी । यहाँ के अनेक परोपकारी महापुरुषों ने इस अन्यायपूर्ण परिस्थिति के खिलाफ जब प्रयत्न किया और उसके लिए हर तरह की हानि उठाने कष्ट सहने और प्राण तक अर्पण करने को तैयार हो गये, तब कहीं जाकर उससे छुटकारा मिल सका । फिर भी अभी [illegible] यहाँ अब किसी हबसी को दास के रूप में बन्धनयुक्त दशा में नहीं रखा जा सकता और न उसे खरीदा बेचा जा सकता है, पर अब भी वहाँ ऐसे लोगों की कमी नहीं जो हवशियों को अपने बराबर में बैठने से इन्कार करते हैं । होटल, स्कूल, गिरजाघर, कालिज आदि में गोरों की तरह जा सकने का अधिकार यद्यपि कानूनी तौर पर उनको दिया जा चुका है, पर इसको व्यावहारिक रूप से अमल में लाने में प्रायः कठिनाई आती है और अनेक जगह झगड़े होते रहते हैं ।

हमारे यहाँ अछूत नामधारियों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है । जैसा कि लिंकन ने कहा था यह मनोवृत्ति राष्ट्र के उत्थान और विकास के लिये वांछनीय नहीं है उसी प्रकार जब तक हम दूसरों के साथ न्याय करने को उनके मानवीय अधिकार उनको देने के लिए तैयार होंगे तब तक स्वयं भी उनके अधिकारी नहीं बन सकते । यदि किसी प्रकार हमको वह अधिकार मिल भी जायें तो जब तक हम दूसरों के साथ अन्यायमुक्त व्यवहार करना बन्द नहीं करते तब तक वे सुरक्षित नहीं रह सकते । लिंकन इस तथ्य को भली प्रकार अनुभव करते थे और उन्होंने अमरीकी-शासन-सभा में स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि "अमरीका कभी भी एक राष्ट्र के रूप में नहीं टिक सकता अगर उसके आधे हिस्से में दास-प्रथा चलती रही ।"

अमरीका की इन दक्षिणी रियासतों में यह कलंकपूर्ण दास प्रथा इतनी जड़ जमा चुकी थी कि लिंकन भी समय-समय पर उसे मिटा सकने के सम्बन्ध में हताश हो जाता था । एक बार उसने कहा—"यदि सभी दासों को मुक्त करके मैं गणराज्य को बनाये रख सकता हूँ तो मैं ऐसा ही करूँगा और यदि मैं कुछ दासों को मुक्त कराके और दूसरों को मुक्ति नहीं दिला करके भी गणराज्य को बचा सकूँ तो मैं वह भी करने को तैयार हूँ ।" इससे प्रकट होता है कि लिंकन की अन्तरात्मा दास प्रथा के सर्वथा विरुद्ध थी और दासों पर होने वाले अन्यायों अत्याचारों से उसे बड़ी पीड़ा अनुभव होती थी, पर देश की एकता की रक्षा के लिए वह विवश होकर कुछ झुकने को तैयार था । उसका आशय यह भी था कि दास-प्रथा का अवैध होना सिद्धान्त रूप से मान लिया जाय, व्यवहार रूप में वे धीरे-धीरे समाप्त की जा सकती है ।

दास-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन करने में लिंकन को सबसे अधिक टक्कर स्टीफन डगलस से लेनी पड़ी जो कई वर्ष तक उसका प्रतिद्वन्दी बना रहा और उसके निर्वाचन क्षेत्र में हर जगह उसका विरोध करता रहा । डगलस का कहना था कि "दक्षिण रियासतों का अधिकार है कि वे दास-प्रथा को उचित समझती हैं तो उसे अपने यहाँ जारी रखेंगे ।" लिंकन ने इस आधार पर उसका विरोध किया कि "मानव मात्र को स्वस्थ रहने का अधिकार है और इसका हनन करना एक पाप कार्य है ।" डगलस के साथ लिंकन का मुकाबला तीन महीने तक चलता रहा, लिंकन सीधी और सच्ची बात कहता था जो श्रोता के हृदय को छू लेती थी । डगलस यद्यपि हल्के तर्क, सस्ती भावनाओं से काम लेता था पर उसकी भाषण कला ऐसी विनोद-प्रिय और लुभावनी थी कि वह उसके जोर से सिद्धान्तों की कमी को पूरा कर लेता था ।

इन दोनों के भाषण एक स्थान से दूसरे स्थान में लगातार जारी रहे । इस भाषण-संघर्ष का वर्णन करते हुए एक लेखक ने कहा है—"लिंकन इतना गरीब था कि उसे किसी बात की सुविधा प्राप्त नहीं थी । वह एक स्थान से दूसरे स्थान की कष्टप्रद यात्रा करता था और भीड़ भरी सरायों में ठहरता था । रेलों के अधिकारी उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते थे । इसके विपरीत डगलस एक ख्याति प्राप्त राजनीतिज्ञ था, उसे सभी तरह की सुविधायें प्राप्त थीं। वह जब भी रेल में यात्रा करता था, तो उसके लिये आरामदेह

डिब्बा रहता था और अधिकारी भी उसकी सुविधा की ओर विशेष ध्यान देते थे । वैसे यह चुनाव का बुखार काफी तीव्र और उत्तेजक होता ही है । परन्तु लिंकन ने जो इस चुनाव में साधनहीन होकर भी डटकर संघर्ष किया, वह अमरीकी राजनीति के इतिहास निराला ही है । इससे छुटकारा पाते ही इस अज्ञात व्यक्ति को अचानक महानता मिली, परन्तु वह ऐसा व्यक्ति था जिसने अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में अत्यन्त कठोर श्रम किया था ।" इसमें सन्देह नहीं कि दुनियाँ पहले ऊपरी तड़क-भड़क से प्रभावित हो जाती है और लच्छेदार बातों में बह भी जाती है, पर सत्य में भी बड़ी भारी शक्ति है । वह धीरे-धीरे प्रकट होती है, पर दिखावटी नहीं स्थायी होती है । इसलिये जो मनुष्य सार्वजनिक और निजी जीवन में सत्य का आश्रय लेता है वह अन्त में अवश्य सफल होता है ।

सादगी में महानता का उदाहरण

जैसा आरम्भ में ही बतलाया जा चुका है, लिंकन आरम्भ से ही गरीबी में पले थे और सकल-सूरत पहनावे आदि की निगाह से बहुत ही मामूली आदमी समझे जाते थे । इस पर भी वे अमरीका जैसे धनप्रधान देश में उन्नति करके सर्वोच्च पद–राष्ट्रपति के दर्जे तक पहुँच सके यह एक अद्‌भुत घटना ही मानी जायेगी । जिस समय वे डगलस के मुकाबले चुनाव का दौरा कर रहे थे उस समय का वर्णन करते हुए एक दर्शक ने लिखा है–"लिंकन इतना कुरूप और बेढंगी बनावट का था कि मैंने ऐसी आकृति आज तक कभी नहीं देखी । बोलते समय वह जिस तरह की हलचल करता था उससे उसकी आकृति और भी बेढंगी हो जाती थी । यद्यपि एक कुशल श्रोता को उसकी आवाज ठीक सुनायी देती थी, परन्तु जब वह अपना भाषण आरम्भ करता तो कर्कश ध्वनि और ऊँची अखरने वाली आवाज और भी आश्चर्यजनक लगती थी । परन्तु उसमें एक विलक्षणता थी, जो दर्शकों को आकर्षित कर लिया करती थी और एक बार जनता का ध्यान आकर्षित हो जाने पर वे उसकी आन्तरिक सरलता पर मोहित होकर चित्रवत् रह जाते थे ।"

"जैसे ही वह अपने विषय में लीन हो जाता, उसकी आवाज और चालढाल परिवर्तित हो जाती थी । उसके शब्दों में गहराई झलकने लगती थी, ऐसी गहराई जिसने उसके मित्रों को भी लुभा लिया था । पीड़ा से भरी आँखों में चमक उत्पन्न हो जाती थी और वह कुरूप आकृति एक महापुरुष के रूप में दिखाई पड़ने लगती थी । उन श्रोताओं में से कई ने खुले दिल से स्वीकार किया कि जब वह जन-भावना को प्रेरित करने के लिये हार्दिक अपील करता है तो उसका प्रभाव हृदय पर तत्काल जादू का-सा पड़ता है। यद्यपि उसके भाषण वाद-विवाद, सभाओं (डिबेटिंग क्लब) में दिये जाने वालों की तरह होते थे परन्तु उनके शब्दों के पीछे उसका व्यक्तित्व झलकता था ।"

ऐसा ही दूसरा विवरण सन् १८६० का है जब लिंकन को राष्ट्रपति पद के लिये चुना गया था । उसके पहले उसने न्यूयार्क के 'कूपर इन्स्टीट्यूट' में भाषण दिया था । इसमें उस महानगर के सभी चेतनाशील बुद्धिजीवी मौजूद थे और उनके सामने भाषण करना अत्यन्त साहस का काम था । वे लोग भी यही सुनकर इकट्ठे हुए थे कि इलियानास का एक अशिक्षित व्यक्ति बड़ा प्रभावशाली भाषण कर सकता है । इन लोगों की आशा पूर्ण तो हुई पर दूसरे ढंग से । उसके भाषण में किसी प्रकार की विद्वता और साहित्यिक छटा तो उनको नहीं मिली पर वह सत्य से भरा था और स्वयम् वक्ता इस सचाई का अनुभव कर रहा था । उस सभा का विवरण लिखते हुए शोपट नामक नवयुवक ने जो वहाँ उपस्थित था, लिंकन के व्यक्तित्व का जो वर्णन किया है वह बड़ा महत्वपूर्ण है । उसका कथन है–

"लिंकन सब तरह से ऐसा लगता था जैसे पश्चिमी रियासतों का रहने वाला कोई मामूली व्यक्ति हो । पहले पहल देखने पर उसमें प्रभावशाली या असर डालने वाली कोई बात दिखाई नहीं देती थी । उनके ढीले-ढाले वस्त्र उनके अजीब विशाल शरीर को घेरे के पीछे की ओर लटके रहते थे । उसके चेहरे पर गहरी झुर्रियाँ थीं । ये झुर्रियाँ और थकान के चिह्न सूचित करते थे कि वह जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों में से गुजरा है । उसकी गड्ढों में धँसी आँखों में उदासी और बेचैनी झलक रही थी । वह जिस आरामपूर्वक ढंग से और शान्ति से मन मारे सा बैठा था, उसे देखकर कभी यह कल्पना नहीं की जा सकती थी कि यह वही महान् व्यक्ति है जिसे उसके देशवासियों ने निम्न स्तर से ऊँचा उठाकर सर्वोच्च पद पर अभिषिक्त किया है । सभा के आरम्भ होने से पहले जब मेरी उससे बातें हुई तो वह परेशान-सा लग रहा था । पर जब वह बोलने लगा तो उसका रूप ही बदल गया । उसकी आँखें चमकने लगीं, उसकी आवाज गूँजने लगी और चेहरे पर चमक पैदा हो गई जिसने मानो सारी सभा को प्रकाशमान कर दिया हो। डेढ़ घण्टे तक उसने अपने श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध रखा उसकी भाषणशैली और बोलने का तरीका बहुत ही सीधा-सादा था।"

राजनीति में सचाई का व्यवहार

राजनीति क्षेत्र में दाव-पेचों की आवश्यकता होने पर भी लिंकन अपने भाषणों में सचाई की ओर बहुत अधिक ध्यान रखते थे और एक-एक शब्द के लिए अपने मित्रों से सलाह और विचार करते थे। १८५६ के भाषण में जब लिंकन ने यह कहा कि "संयुक्त-राष्ट्र अमरीका अर्ध-दासत्व और स्वतंत्रता के बीच जीवित नहीं रह सकता।" तो उसके मित्र ने बाद में कहा-"भगवान के लिए, यह हानिकारक प्रेरणा तुमको कैसे हुई कि ऐसी बात प्रकट रूप से कहो।" लिंकन ने उत्तर दिया-"मेरी आत्मा से मैं सोचता हूँ कि यह ठीक है।" मित्र ने कहा-"सत्य हो या नहीं, इस समय इसके प्रचार से लाभ के स्थान में हानि की ही सम्भावना अधिक है।" तब लिंकन ने मंजूर किया कि वर्तमान स्थिति में यह इसको अपने भाषणों में नहीं कहेगा।

१८५८ में अपना भाषण उसने अपने दस-बारह मित्रों को पढ़कर सुनाया। उसमें दक्षिणी राज्यों के गण-राज्य से अलग हो जाने की समस्या का जिक्र था। उसका यह तरीका था कि वह अपने इरादे के बारे में पहले मित्रों से बातचीत कर लिया करता था। कई बार अत्यन्त विनम्रता से उनकी सलाह मान लिया करता था और कई बार उसे पूर्णतया अस्वीकार कर देता था। इस अवसर पर एक मित्र ने कहा- "यह समय तो बहुत आगे है।" दूसरे ने कहा-"ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण होगा।" लिंकन सबकी बातें सुनने के पश्चात् बोले-"मित्रो! इस समस्या को हम बहुत समय तक टाल चुके हैं। अब समय आ गया है इसे व्यक्त कर देना चाहिये। यदि इसके फल से मेरी हार होती है तो मुझे इस सत्य के साथ हार जाने दो। मुझे सत्य और न्याय के समर्थन में मृत्यु तक स्वीकार है।"

राजनीतिक जीवन में सत्य का यह व्यवहार महात्मा गाँधी में भी पाया जाता था और इसी के कारण वे २५ वर्ष तक इस हलचल पूर्ण क्षेत्र में टिके रहे और अपने नाम को अमर कर गये। यद्यपि लोग राजनीति को वेश्या की उपमा देते हैं, उसमें धूर्तता, बहानेबाजी, असत्य वायदा कर देना, रंग बदल लेना आदि बातों को बुरा नहीं समझा जाता पर ये कार्य निम्नस्तर के और तत्काल लाभ उठा लेने वाले लोगों के ही माने जा सकते है। ऐसे व्यक्ति स्वार्थ साधन अवश्य कर लेते हैं पर कोई बड़ा और स्थायी काम उनके बूते नहीं होता। लिंकन राजनीति में भी अपनी आत्मा के आदेश का ध्यान रखकर सचाई के सिद्धान्त का पालन करते थे। इसके कारण यद्यपि उनको अनेक बार असफलता का मुँह देखना पड़ा, गरीबी का जीवन बिताना पड़ा पर इसी ने उनको महामानव बना दिया। अमरीका मे आज तक जितने राष्ट्रपति हुए हैं लिंकन सबकी अपेक्षा कम पढ़े और निर्धन थे, पर आज सौ वर्ष बीत जाने पर भी अमरीका में सबसे अधिक सम्मान उन्हीं का हो रहा है। जिस तरह भारत की राजधानी में आने वाला बड़े से बड़ा विदेशी महात्मा गाँधी की समाधि पर फूल चढ़ाने राजघाट जाता है, उसी प्रकार वाशिंगटन में सभी श्रेणी के लोग लिंकन की समाधि पर पहुँचते हैं। इन दोनों महामानवों में यह सत्य और आत्म-शक्ति का ही प्रभाव था और यही कारण है कि मरने के बाद इन्हीं दोनों का नाम सबसे ज्यादा टिका है।

लिंकन ने न्यूयार्क में जो भाषण दिया था उसे वहाँ के समाचार-पत्रों ने अनेक संस्करणों के साथ प्रकाशित किया। इस अवसर पर लिंकन ने अपनी जिस शक्ति का परिचय देकर बड़े-बड़े विद्वानों को प्रभावित किया उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई। लिंकन ने अपने भाषण में एक बहुत सीधा और स्पष्ट सिद्धान्त उपस्थित किया था कि 'दास-प्रथा गलत है और जो लोग उसे सही मानते है उनके साथ समान स्तर पर वार्ता करना निरर्थक है।' आज हमको यह सत्य सिद्धान्त तुरन्त समझ में आ जाता है, पर उस संकट काल में इसे लोगों को समझा सकना बड़ा कठिन काम था। इस बात के लिये न्यूयार्क वासियों का आभार माना गया है कि उन्होंने इस सीधे सत्य को जो सरल भाषा में प्रस्तुत किया था एक महान् भाषण माना।

जब राष्ट्रपति के चुनाव के लिए उसे किसी प्रकार राजी करके खड़ा किया उस समय कुछ उसके समर्थकों को छोड़कर किसी ने यह विश्वास नहीं किया था कि वह व्यक्ति अपने गुणों से उसको जीत लेगा। जब उसकी रियासत के निवासियों ने यह देखा कि यह व्यक्ति बनावट से दूर और सत्य का कट्टर समर्थक है तो वे कहने लगे कि यह सीधा-साधा भला आदमी हो सकता है, पर राष्ट्र संचालन का कार्य सफलतापूर्वक कर सके इसका कोई निश्चय नहीं। उस परीक्षाकाल में अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों की उसके सम्बन्ध में यही धारणा थी। पर जब उसने अपनी दृढ़ता और निष्पक्ष नीति के द्वारा दास प्रथा का अन्त कर दिया और उसके लिये प्राण भी दे दिये तब लोग उसकी महानता को समझने और उसकी सराहना करने लगे कि "हम तो तभी से उससे प्रेम और श्रद्धा रखते थे जबकि उसको देखा भी न था।" यही नियम अधिकांश महान आत्माओं के सम्बन्ध में देखा जाता है। महापुरुषों का पूरा महत्व प्रायः उनके देहावसान के पश्चात् ही प्रकट होता है।

यद्यपि लिंकन का झुकाव आरम्भ से ही राजनीति और सार्वजनिक जीवन की ही ओर हो गया था, पर उसने कभी राष्ट्रपति के पद पर पहुँचने की महत्वाकांक्षा नहीं की। इतना ही नहीं सन् १८५८ में जब किसी ने उसे पहली बार सुझाया कि वह राष्ट्रपति के पद के लिए नामजद किया जा सकता है तो उसने यही उत्तर दिया कि "मैं अपने आप को इस पद के योग्य नहीं समझता।" पीछे जब राजनीतिक परिस्थितियों और मित्रों के दबाव से उसकी राय बदल गई तो भी वह इस संघर्ष में पड़ना बहुत अच्छा नहीं समझता था। उसने एक अन्य मित्र को इस सम्बन्ध में पत्र लिखते हुए कहा था--"मैं धन के आधार पर इस संघर्ष में उतरना नहीं चाहता। क्योंकि पहली बात तो यह है कि यह प्रथा ही गलत है और दूसरी यह है कि न मेरे पास पैसा है और न मैं उसे प्राप्त ही कर सकता हूँ।" वास्तव में राजनीति में धन को स्थान मिल जाने से प्रजातन्त्र का महत्व ही जाता रहा है। हमारे देश में तो हम धन के कारण प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की जो दुर्दशा देख रहे हैं उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। जहाँ निर्लज्जतापूर्वक वोटों की बिक्री होती हो वहाँ चुनाव सम्बन्धी अन्य नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि हमारे यहाँ की जनता का प्रजातन्त्र पर से विश्वास निरन्तर घटता जा रहा है और इस युग में भी वे 'राज-तन्त्र' का गुणगान करने लगते है। हमारे देश के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को इस विषय में लिंकन के कथन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

दक्षिणी रियासतों से समझौते का प्रयत्न

अमरीकन राजनीति बहुत समय से दो दलों में बँटी है--एक डेमोक्रेट दूसरा रिपब्लिकन। रिपब्लिकनों में अमरीका का बुद्धिजीवी और प्रगतिशील वर्ग सम्मिलित है और डेमोक्रेट्स में अधिकांश परम्परावादी और किसान हैं। इसके सिवाय वहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्ता उत्तरी, पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी रियासतों के नाम पर भी अपनी विशेषता को प्रकट किया करते हैं। यद्यपि देश में प्रायः डेमोक्रेटों का बहुमत रहने से उनके हाथ में शासन-सत्ता अधिक रहती है, फिर भी जब किसी बड़े सिद्धान्त के ऊपर जनमत अनेक हिस्सों में बँट जाता है तो रिपब्लिकनो की ही प्रधानता हो जाती है। लिंकन के राष्ट्रपति बनने पर ऐसा ही हुआ था। दास-प्रथा और गणराज्य की एकता के प्रश्न पर उत्तर और दक्षिण के डेमोक्रेटों मे तीव्र मतभेद हो गया था जिससे उनकी तरफ से एक के बजाय दो उम्मीदवार खड़े कर दिये गये। इसी आधार पर रिपब्लिकनों की जीत हो गई। यदि यह सुयोग न मिलता तो लिंकन का राष्ट्रपति चुना जाना सम्भव न था।

पर इस अवसर पर राष्ट्रपति का पद ग्रहण करना लोहे के चने चबाना था, और लिंकन का देश के बुद्धिमान और अनुभवी लोगों ने इसी आधार पर समर्थन किया कि वह अपने सिद्धान्तों पर पूर्ण रूप से दृढ़ रहने वाला और कर्तव्य-परायण व्यक्ति है। दास प्रथा के उन्मूलन के प्रश्न ने इस समय बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त गम्भीर और संकटपूर्ण रूप ले लिया था और देश के सामने यह समस्या अन्तिम रूप में उपस्थित हो गई थी कि वह गण-राज्य की रक्षा और दास-प्रथा के उन्मूलन में से किसी एक को चुन ले। पर ये दोनों ही बातें ऐसी थीं जिनमें से किसी को स्वीकार कर लेना किसी भी व्यक्ति का सदैव के लिये पतन कराने वाला था। दास-प्रथा अमरीकन संविधान के समान अधिकार और मनुष्य मात्र के साथ पूरा न्याय वाले सिद्धान्त के विरुद्ध थी और अब वह ऐसा रूप धारण कर रही थी कि अन्य रियासतों में भी उसके फैल जाने की सम्भावना थी। दूसरी ओर गणराज्य का विघटन भी मामूली बात न थी। जिस लोकतन्त्र की स्थापना और रक्षा के लिए पूर्वजों ने प्राण दे दिये और जिसमें मानवीय अधिकारों की पवित्रता के नाम पर अनेकों होनहार व्यक्ति बलिदान हो गये, उसे खण्ड-खण्ड हो जाने देना निर्बल और निस्तेज बनने देना भी घोर कलंक का कारण बन जाता।

इसलिये अधिकांश लोग इस भार को कन्धे पर लेते हुए भय से काँपते थे। स्वयं लिंकन भी इस भारी जिम्मेदारी और उसके खतरे को पूरी तरह समझते थे। तभी उन्होंने ११ फरवरी १८६१ को, जब वे अपने घर से विदा ले रहे थे, रेलगाड़ी की गैलरी में खड़े होकर उपस्थित जनों को सम्बोधन करके कहा--

"मेरे मित्रों! मुझे आज तुम्हें छोड़ते हुए जो दुःख हो रहा है उसे मेरी जैसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्त नहीं कर सकता। इस जगह और यहाँ के लोगों की मेरे ऊपर जो कृपा हो रही है वही मुझे आज इस योग्य बना सकी है। यहाँ मैं पचीस वर्ष तक रहा, युवावस्था से वृद्धावस्था में पहुँचा। यहीं मेरे बच्चों ने जन्म लिया जिनमें से एक यहीं दफन भी किया गया है। मैं अब इस स्थान को छोड़ रहा हूँ। यह नहीं जानता कि कभी यहाँ लौटकर आ सकूँगा अथवा नहीं। मेरे सामने इतना बड़ा काम है जो राष्ट्रपति वाशिंगटन के काम से भी अधिक भारी है। उस महान पिता परमात्मा की--जिसने सदा वाशिंगटन का साथ दिया--कृपा के बिना मैं इसमें सफल नहीं हो सकता। यदि

इसकी सहायता मिल गई तो फिर असफल नहीं हो सकता । मेरा उसी नियन्ता पर विश्वास है जो इस संकटकाल में मेरे साथ है और आप लोगों के भी साथ है तथा सर्वत्र भले कार्यों में उपस्थित रहता है । इसी विश्वास के साथ हमको आशा करनी चाहिए कि सब कुछ अच्छा होगा । आज मैं तुमसे हृदय से विदा लेता हूँ ।"

वास्तव में लिंकन ने जिस काम का भार अपने ऊपर लिया था, वह वाशिंगटन की अपेक्षा कठिन था । वाशिंगटन को बाहर वालों से संघर्ष करना था जिसमें सब अमरीका निवासी एक थे और उसकी सहायता कर रहे थे । पर लिंकन को गृह-युद्ध की समस्या का सामना करना था जिसमे उसके ही देशवासियों का एक भाग शत्रु और प्राणों का भूखा था । वाशिंगटन ने अपने काम को पूरा करने की काफी तैयारी कर ली थी, पर लिंकन को वैसा अवसर कभी प्राप्त नहीं हुआ था । वह कुछ वर्षों से राजनैतिक वक्ता का कार्य अवश्य कर रहा था, पर उसे शासन करने का मौका नहीं मिला था । फिर भी उसने देश की आवश्यकता को देखकर इस महान जिम्मेदारी को अपने ऊपर उठा लिया । एमर्सन के कथनानुसार--"नव-राष्ट्रपति लिंकन उस तूफान को जन्म लेते देख रहा था, जिसमें उसे राष्ट्र की नौका का कर्णधार बनाया गया था ।"

यद्यपि लिंकन दास-प्रथा के बहुत विरुद्ध था और उसे पवित्र मानवीय अधिकारों के लिए कलंक स्वरूप समझता था, तो भी देश की अखण्डता और सरकारी कानूनों की रक्षा के लिये उसने आरम्भ में हर तरह से यही प्रयत्न किया कि किसी प्रकार दक्षिणी रियासतों से समझौता हो जाय । वह यहाँ तक तैयार था कि दक्षिण वाले दास-प्रथा में कुछ संशोधन कर दें और उसे स्वयं ही धीरे-धीरे खत्म करने की योजना बनाकर तदनुसार कार्य करें । पर दक्षिण वाले बिल्कुल उल्टी चाल चल रहे थे । उन्होंने जिस दिन से लिंकन के राष्ट्रपति होने की सम्भावना समझी उसी दिन से अपनी रियासतों को गणराज्य से पृथक् करने की तैयारी करने लग गये थे । एक रियासत 'कारोलिना' ने ऐसी घोषणा कर भी दी थी । वे लोग इसके लिए भी प्रस्तुत हो रहे थे कि यदि केन्द्रीय सरकार इसमें बाधा डाले तो उसके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया जाय । लिंकन के जीवन-चरित्र लेखक लार्ड चार्नवुड ने इस सम्बन्ध में लिखा है --

"हम यह प्रश्न करें कि दक्षिण से युद्ध क्यों लड़ा गया ? इसका उत्तर यह है कि दक्षिण के नेता और दक्षिणी लोगों के बहुमत के समक्ष एक सर्वोच्च सर्वव्यापी लक्ष्य था, 'दास-प्रथा को चिरस्थायी बनाना और आवश्यकता हो तो उसका विस्तार करना ।' इन लोगों ने ऐसे व्यक्तियों को भी अपने में सम्मिलित कर लिया था जो दास-प्रथा के तो विरोधी थे, पर इस सिद्धान्त को मानते थे कि प्रत्येक राज्य (प्रान्त) को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह चाहे गणराज्य में रहे और चाहे उससे बाहर हो जाय । इसलिए युद्ध का वास्तविक कारण यही था कि उत्तरी भाग की जनता के विशाल बहुमत ने दक्षिणी वालों का यह दावा अस्वीकार कर दिया कि दास-प्रथा में और वृद्धि की जाय-- उसका विस्तार किया जाय । साथ ही उन्होंने इस सिद्धान्त को मानने से इन्कार कर दिया कि दक्षिण वाले गणराज्य से पृथक् होकर उसे हानि पहुँचाने कि लिए स्वतन्त्र हो जायें।"

दुर्भाग्यवश आज हम अपने भारत देश में वही दृश्य देख रहे है जो उस समय अमरीका में दिखाई पड़ रहा था । हमारे यहाँ भी प्रान्तवाद तरह-तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न कर रहा है और लोग अपनी-अपनी भाषा के नाम पर पृथकता--फूट की भावनाओं को बढ़ावा दे रहे हैं । एकाध प्रान्त ऐसा भी है (और संयोगवश यहाँ भी वह दक्षिणी प्रान्त ही है) जहाँ कभी-कभी भारतीय संघ-शासन से पृथक् होने की आवाज ही सुनाई पड़ती है । पर अमरीका के अनुभव और उदाहरण से हम कह सकते है कि किसी भी देश-भक्त और भारतीय नामधारी के लिए यह अनुचित है कि वह भारतीय अखण्डता पर आघात करें अथवा उसे निर्बल बनावें । एक तो भारत के विरोधियों ने पहले ही दुरभिसन्धि करके उसे दो भागों में विभाजित कर दिया है, जिसका कुपरिणाम हम निरन्तर अशान्ति के रूप में भोग रहे हैं । पर वह तो ऐसी बात थी कि लगभग हमारी शक्ति से बाहर थी और उस समय एक दृष्टि से 'भारतीय राष्ट्र' का अस्तित्व ही न था । पर अब जिस राष्ट्र का निर्माण हमारे आत्म-बलिदानी नेताओं ने किया है इसके विपरीत आचरण करना उसे जान-बूझकर हानि पहुँचाने का कोई प्रयत्न करना एक असभ्य अपराध ही है, जिससे बचने का निश्चय हम सबको कर ही लेना चाहिए ।

लिंकन ने अंतिम क्षण तक यह कोशिश की कि दक्षिण वालों के साथ संघर्ष न किया जाय और दास-प्रथा के प्रश्न को भी जैसा का तैसा छोड़ दिया जाय । क्योंकि उस समय के अधिकांश अमरीकन राजनीतिज्ञ और शासन-संचालक दास-प्रथा के प्रश्न को इतना महत्व नहीं देते थे कि उसके लिए आपस में युद्ध करके सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रगति को खतरे में डाला जाय । लिंकन भी अपने साथियों की सम्मति के विरुद्ध कुछ करना उचित नहीं समझते थे और उनने उस समय एक मित्र को पत्र लिखते हुए यह बात स्पष्ट कर दी

थी कि "दक्षिण के भले आदमियों के सम्बन्ध में मुझे कोई शिकायत नहीं है । उनके सामने मैं सैकड़ों बार यह कह सकता हूँ कि हम दास प्रथा में (जहाँ तक उसका रूप एक घरेलू मामले की तरह है) हस्तक्षेप नहीं करेंगे । परन्तु मेरा पाला दक्षिण और उत्तर के भी ऐसे व्यक्तियों से पड़ा है, जो चाहते हैं कि कोई नई चीज पैदा करके उससे नया जाल फैला दें । ये ऐसे आदमी हैं जो मुझे धमकाना चाहते हैं या कम से कम मुझ पर यह लांछन लगाना चाहते हैं कि मैं कायर या डरपोक हूँ ।"

फिर भी लिंकन ने अपनी तरफ से समझौते में कभी बाधा डालने की कोशिश नहीं की और उसने शासन-सभा के अन्य सदस्यों को इस बात का पूरा मौका दिया कि वे समस्या का कोई ठीक हल निकालकर समझौते का मार्ग प्रशस्त करें । इसके लिए सीनेट के तेरह सदस्यों की एक कमेटी बना दी गई जो कई महीनों तक परिश्रम करती रही । पर जब दक्षिणी नेता उग्र रूप धारण करते रहे तो लिंकन ने यह सम्मति दी कि "यदि हम लोग इस मसले पर बहुत अधिक झुकेंगे तो दास-प्रथा का उसकी वृद्धि का आन्दोलन पूरे वेग से फट पड़ेगा और पड़ौसी राज्यों पर छा जायगा । इस दशा में अब तक हमने इस प्रथा को मिटाने के लिये जितने भी प्रयत्न किये है वे सब निरर्थक हो जायेंगे ।"

४ मार्च १८६१ को लिंकन ने राष्ट्रपति पद की शपथ ली । इसमें अन्य बातों के सिवाय गृहयुद्ध का भी जिक्र था और लिंकन ने अपनी नीति स्पष्ट कर दी थी । उसने कहा-"जो अधिकार मुझे सौंपें गये हैं उनका प्रयोग सरकारी सम्पत्ति व सरकारी स्थानों को प्राप्त करने, उन्हें बनाये रखने और कब्जे में रखने के लिये किया जायेगा । इसके साथ ही आयात कर की वसूली की जायगी । इससे आगे बढ़कर इस दिशा में सरकार आक्रमण नहीं करेगी । किसी भी स्थान पर कहीं भी जनता के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं किया जायेगा ।"

आगे चलकर उसने गणराज्य की अखण्डता पर जोर दिया और बतलाया कि चाहे गृह-युद्ध अधिक उग्र और लम्बा रूप धारण करले पर विभिन्न राज्यों की जनता में जो गहरे सम्बन्ध हैं वे टूट नहीं सकते । इसलिए अन्त में हमारा पारिवारिक सम्बन्ध फिर भी स्थापित होगा ही । उसने कहा-"मेरे असन्तुष्ट देशवासियो ! गृह-युद्ध का निर्णय मेरे हाथ में नहीं वरन् तुम्हारे हाथों में है । सरकार तुम पर आक्रमण नहीं करेगी । यदि तुम स्वयं पहले आक्रमण नहीं करोगे तो तुम पर संकट आने का सवाल ही नहीं है । हम लोग शत्रु नहीं वरन् मित्र हैं । भले ही हमारी भावनाओं में तनाव पैदा हो जाय, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे सम्बन्ध ही टूट जायेंगे ।"

सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए एकता को स्थिर रखना प्रत्येक देश-हितैषी का कर्तव्य है। ऐसा सुधार कैसे प्रशंसनीय कहा जा सकता है, जिसमें मूल वस्तु ही खत्म हो जाय । लिंकन ने देश की अखण्डता की विघटनकारी शक्तियों का विरोध अवश्य किया पर उसने अपने व्यवहार में कटुता या बदले की ऐसी भावना कभी नहीं आने दी, जिससे दोनों पक्षों का मनोमालिन्य चिरस्थायी हो जाय ।

युद्ध की आग बढ़ने लगी

अन्त में दक्षिणी राज्यों ने गण-राज्य के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करके युद्ध आरम्भ कर ही दिया । लिंकन ने जिस समय राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण की उसके दूसरे ही दिन दक्षिण के 'सम्टर' किले के सेनाध्यक्ष मेजर अण्डरसन ने सन्देश भेजा कि अगर उसे सामग्री और सैनिक शीघ्र ही प्राप्त नहीं हुए तो वह कुछ ही सप्ताह किले पर अधिकार कायम रख सकेगा । इधर केन्द्रीय सरकार के सैनिक सलाहकार जनरल स्काट ने यह मत प्रदर्शित किया कि 'सम्टर' किले की रक्षा के लिये बीस हजार सैनिकों की आवश्यकता पड़ेगी, जिनकी इस समय व्यवस्था की जा सकनी सम्भव नहीं । युद्ध की सभी समस्यायें ऐसी ही पेचीदा थीं, जिनसे लिंकन की परेशानी बढ़ने लग गई । यह कोई विदेशी शत्रु से लड़ने का मामला न था, पर घरेलू झगड़ा था जिसमें कहीं भी एक मत दिखाई नहीं देता था । कांग्रेस और सीनेट के सदस्यों, सरकारी कर्मचारियों तथा सैनिक अधिकारियों में सर्वत्र मतभेद दिखाई पड़ता था । कोई-कोई दक्षिण वालों के स्वतन्त्र होने को ठीक बतलाता था और कोई इसके लिए उनकी भर्त्सना करता था । विदेशों की सरकारें जो अमरीका से मनोमालिन्य का भाव रखती थीं इस झगड़े को भड़काना चाहती थीं । स्वयं अमरीका के सेनाध्यक्षों ने जिनको लिंकन ने दक्षिण के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई का आदेश दिया उसे मानने में टालमटोल की और एकाध ने उसी समय नौकरी भी छोड़ दी ।

इस तरह राष्ट्रपति का पद सम्भालते ही लिंकन के सामने एक बड़ी गम्भीर समस्या उपस्थित हो गई । सभी जानकार राजनीतिज्ञ इन कठिनाइयों को पहले से ही समझते थे, इसलिए देश के सर्वोच्च पद का प्रलोभन होते हुये भी कोई जल्दी से आगे नहीं बढ़ा था । लिंकन भी इस तथ्य को समझता था । पर वह बहुत पहले दासो की दुर्दशा से द्रवित

होकर उनके उद्धार की प्रतिज्ञा कर चुका था, और इस समय अपने देश की अखण्डता को बचाये रखने की भी उसको चिन्ता थी, इसलिये उसने कर्तव्यपालन की दृष्टि से इस 'काँटों के ताज' को पहिन लिया था ।

अमरीका में उस समय अधिक संख्या में तैयार सेना रखने का प्रचलन न था । इसलिये जब युद्ध छिड़ गया उस समय केन्द्रीय सरकार के पास कुल सोलह हजार सेना थी । पर दक्षिण ने उसी समय दो-तीन लाख सेना भर्ती कर ली थी । इसलिये लिंकन ने भी फौजी स्वयंसेवकों की माँग की और कुछ ही समय में तीन लाख के करीब व्यक्ति सेना में सम्मिलित हो गये । पर लिंकन के पास योग्य सेनापतियों का अभाव था । उस समय जनरल राबर्ट ली वाशिंगटन में था और वह सेना का कुशल संचालक था । पर जब उससे गणराज्य की सेनाओं का नेतृत्व करने को कहा गया तो उसने इन्कार कर दिया और वह अपने निवास स्थान 'वरजीनिया' जाकर वहाँ की सेना का संचालक बन गया । यही हाल जैक्सन नामक दूसरे सेनापति ने भी किया और वह भी जैकर 'ली' से मिल गया ।

ऐसी दशा में लिंकन का परेशान होना स्वाभाविक था। वह स्वयं भी सेना के मामले में अनजान न था, इसलिये इस कार्य में ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था । उसे कई सेनापति बदलने पड़े अन्त में उसने स्वयं ही ढूँढ़कर सेनापति ग्राण्ट को निकाला, जिसने सेना में उत्साह भरकर थोड़े ही समय में दक्षिण की सेना को अनेक स्थानों पर परास्त कर दिया । लोगों ने अनेक बार ग्राण्ट की शिकायतें लिंकन से कीं और उस पर दोषारोपण भी किये पर वह मनुष्यों को पहिचानता था । इसलिये उसने राह चलते लोगों की सम्मति पर कभी ध्यान नहीं दिया और वह ग्राण्ट को प्रोत्साहन और सहायता देता रहा । एक बार की घटना है कि गृहयुद्ध में विरोधी पक्ष के कितने ही लोग बन्दी बनाये जा चुके थे । सत्ता लिंकन के हाथ में थी ।

विरोधी पक्ष की एक युवती अपने बन्दी भाई से मिलने का प्रयत्न कर रही थी पर अधिकारी उसे इसके लिए इजाजत नहीं दे रहे थे । आखिर वह प्रेसीडेण्ट के पास ही जा पहुँची और अपना अभिप्राय बताया ।

लिंकन ने उससे पूछा—मेरा विश्वास है तुम देश भक्त हो । युवती ने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया—मैं अपने देश वरजीनिया के प्रति देशभक्त हूँ ।

वरजीनिया विरोधी पक्ष का था । विरोधियों को ऐसी सुविधा क्यों दी जाय जिसमें पीछे कोई संकट उत्पन्न होने की आशंका हो—यह एक प्रश्न था ।

लिंकन कुछ देर सोचते रहे और उन्होंने एक पर्चा लिखकर युवती के हाथ में थमा दिया और जेल में भाई से मिलने की स्वीकृति लिख दी ।

अफसरों ने प्रेसीडेण्ट से इस उदारता का कारण पूछा—तो उसने यही कहा—ईमानदार व्यक्ति यदि विरोधी भी हो तो भी उससे किसी अवांछनीय अनिष्ट की आशंका नहीं करनी चाहिए ।

इस बीच में २२ सितम्बर १८६२ को लिंकन ने एक ऐसा कदम उठाया जिससे घर और बाहर के सब लोग चौंक पड़े और उसकी सबसे बड़ी प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई उसने एक ऐसे घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसके मुख्य शब्द ये थे—

"सन् १८६३ की प्रथम जनवरी के दिन वे सभी दास जो किसी भी राज्य में, अथवा ऐसे किसी भी राज्य के भूमि मे जो उस समय संयुक्त राष्ट्र अमरीका के विद्रोही हों, इसी समय तथा इसके बाद सदा के लिए स्वतन्त्र रहेंगे ।"

लिंकन का यह कार्य ऐसा सूझ-बूझ का और समयोचित था कि इसने आगे चलकर युद्ध का नक्शा ही बदल दिया और गण-राज्य की सेनाओं को बहुत बड़ी सहायता मिल गई । साधारण समय में तो अमरीका के राष्ट्रपति को तो क्या वहाँ की केन्द्रीय शासन सभा (कांग्रेस) को भी यह सत्ता प्राप्त न थी कि वह एक भी दास को स्वतन्त्र कर सकें । पर अब युद्ध की परिस्थिति में लिंकन ने सेनाओं के सर्वोच्च अधिकारी की हैसियत से एक युद्ध कार्य के रूप में इस आदेश को जारी कर दिया । इसका कानूनी रूप यह था कि जिस तरह विद्रोहियों के घोड़े, गाड़ियाँ आदि छीन ली गई उसी तरह उनकी एक बड़ी सम्पत्ति और साधन सामग्री 'दास' भी छीन लिये गये । लिंकन का कहना था कि यह राजाज्ञा इसलिये कानून के अनुसार है क्योंकि इससे हमारी सेना को प्रत्यक्ष रूप से मदद मिलेगी और वास्तव में इसका परिणाम ऐसा ही हुआ । इसके फल से दक्षिणी राज्यों के आवश्यक उद्योग-धन्धों मे से एक बहुत बड़ी श्रमशक्ति निकल गई और युद्ध का अन्त होते-होते एक लाख अस्सी हजार हबशी सैनिकों ने गण-राज्य के पक्ष मे हथियार उठा लिये। उनका मुख्य उपयोग यह किया गया कि जिन जीते हुए स्थानों मे गोरी फौजे सुरक्षा के लिए तैनात नहीं की जा सकती थीं वहाँ इन हबशी सैनिकों को रख दिया गया । लिंकन के कथनानुसार यह एक ऐसा महत्वपूर्ण कार्य था जिसके बिना युद्ध कभी समाप्त नहीं हो सकता था ।

यद्यपि इस कदम को लिंकन ने युद्ध की आवश्यकतावश ही उठाया था, पर एक बार कानूनी रूप पा लेने के पश्चात्

इसका परिणाम यह निकला कि चाहे गणराज्य कैसी भी परिस्थिति में पड़ जाता और लिंकन की जगह कोई दूसरा भी राष्ट्रपति बन जाता तो भी जब कभी किसी अदालत को इस प्रश्न की जाँच करनी पड़ती तो वह यही फैसला करती कि जिन दासों ने इस घोषणा के अनुसार वास्तव में स्वतन्त्रता पा ली कानून की दृष्टि में स्वतन्त्र हैं ।

गरीबों से बन्धुभाव

राष्ट्रपति के पद पर पहुँच जाने पर लिंकन वैसा ही सीधा-सादा और अहंकारशून्य बना रहा । वह चाहे जब वाशिंगटन नगर की सड़कों पर निकलता रहता था । उस समय का वर्णन करते हुए अमरीका के प्रसिद्ध कवि 'वाल्ट ह्विटमैन' ने लिखा है-"लिंकन के सहायक इस बात पर जोर देते थे कि जब वह शहर में निकले तो उसके साथ वे घुड़सवार अंगरक्षक ठाठ से सजे-धजे रहने चाहिए । पर मैंने देखा कि इस जुलूस की वेषभूषा और प्रदर्शन अधिक दर्शनीय नहीं होता था । लिंक न अच्छे डीलडोल वाले सफेद घोड़े पर चढ़ता था, सादे कपड़े पहिनता था, जो कुछ मैले भी रहते थे । वह बिल्कुल सामान्य व्यक्ति जान पड़ता था । उसके अंगरक्षक भी बिल्कुल सज्जाहीन होते थे । उनको देखकर किसी तरह की शान की कल्पना नहीं होती थी । मुझे लिंकन का गहरा ताम्रवर्णी चेहरा बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ता था । उसमें पड़ी गहरी झुर्रियाँ गड्ढे में धँसी आँखों में गहन चिन्तन और विषाद का भाव मेरे सामने आ जाता था । मार्ग में मिलने पर हम एक दूसरे के प्रति मैत्री-भाव से नमस्कार कर लेते थे, कभी-कभी वह एक खुली बग्घी (गाड़ी) में आता जाता था । वह भी कुछ शान-शौकत की नहीं होती थी एक बार वह मेरे बहुत नजदीक से निकला। जब उसकी गाड़ी धीरे-धीरे जा रही थी तो मैंने उसके चेहरे को ध्यानपूर्वक देखा । उसकी दृष्टि मुझसे टकरा गई और उसने झुककर नमस्कार किया और मुस्कराया । परन्तु मैंने उसकी मुस्कराहट की गहराई में छिपा हुआ वह पीड़ा का भाव देखा जिसे मैं पहले बता चुका हूँ ।"

लिंकन के साथ उसका दस वर्षीय पुत्र टामस भी प्रायः रहता था । कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई । उससे बड़ा लड़का उस समय हार्वर्ड यूनीवर्सिटी में पढ़ता था । तीसरा बिली एक होनहार बच्चा था जो सन् १८६२ में बारह वर्ष की आयु में मर गया । एक बच्चा बचपन में इलियानास में ही मर गया था । लिंकन के यही चार सन्तानें हुई थीं जिनमें से तीन बाल्यावस्था में ही मर गईं । दो की मृत्यु तो राष्ट्रपति भवन में हुई । यद्यपि वह एक सहृदय और प्रेमी पिता था तो भी राजनीतिक कार्यों में वह इतना अधिक संलग्न रहता था कि उनकी देखभाल में बहुत कम ध्यान दे पाता था । इसी से उसकी स्त्री प्रायः उससे असन्तुष्ट रहती थी और कहा करती थी कि देश और समाज के कामों के आगे वह अपने गृहस्थी सम्बन्धी कर्तव्यों पर कुछ ध्यान नहीं देता । उसके अन्तिम समय में स्त्री से उसका यह मतभेद और तनाव बहुत अधिक बढ़ गया था ।

नियमित मेहमानों के अतिरिक्त आगन्तुक का भी एक ताँता उसके यहाँ लगा रहता था । राष्ट्रपति बनने तक के बाद तो हजारों व्यक्ति जिनसे पूर्व जीवन में उसका कम या ज्यादा परिचय हो चुका था नौकरी, पदवी या किसी प्रकार की सरकारी सहायता प्राप्त करने को भीड़ लगाये रहते थे । कुछ लोग उसके गुणों और सेवाओं से आकर्षित होकर केवल अपना भक्तिभाव प्रकट करने उसके पास जाते थे । उसके पास ऐसे किसान और दूर के देहाती लोग आते जिनसे वह बहुत अच्छी तरह बातें करता और उनके लिये उसे उचित से अधिक समय देना पड़ता । लिंकन से मिलकर अधिकांश लोग यही भावना लेकर जाते कि वह गरीबों की बहुत अधिक कृतज्ञता मानता है और सदा उनकी बातें ध्यान देकर सुनता है । इस गुण के कारण वह अपने देशवासियों पर सदैव बड़ा प्रभाव डालता रहा ।

लिंकन जितने दिन राष्ट्रपति रहा उन दिनों बराबर युद्ध की दशा बनी रही । इसलिये उसका एक नियमित काम ऐसा भी था कि अमरीकन सेना में विभिन्न अपराधों के लिए सजा पाने वाले लोगों के क्षमा-प्रार्थना-पत्रों पर विचार करे । अमरीकी सेना के अधिकांश सैनिक, स्वयं-सेवक अथवा अनिवार्य भर्ती के कानून के अनुसार फौज में शामिल होने वाले थे । वे फौजी अनुशासन अथवा नियम-बन्धन के अधिक आदी नहीं थे । सैनिक अदालतों द्वारा भगोड़ों, पहरे के समय सो जाने वालों या अन्य प्रकार की लापरवाही करने वालों को मौत की सजायें दी जाती थीं । इनमें से कितने ही राष्ट्रपति के पास क्षमा का प्रार्थना-पत्र भेजते, जिन पर वह सप्ताह में एक दिन विचार करता था । उसे लिंकन सबसे मनहूस दिन कहता था । अपराधी के माता-पिता या पुत्र लगातार लिंकन से अपील करते रहते । एक समय तो ऐसा था जब वह क्षमा के लिए बहुत अधिक तैयार रहता था । और वह कहता था-"तुम नहीं जानते कि एक मनुष्य को मर जाने देना कितना कठोर है, जबकि यह सम्भव हो कि तुम्हारी कलम की एक लिखावट से उसकी जान बच सकती है ।" उसका एक सेनापति बटलर उसे लिखा करता था कि इस प्रकार दया दिखाकर वह सेना की अनुशासनबद्धता को बिगाड़ रहा है ।

पर लिंकन ने अपने इस दयालु स्वभाव को नहीं छोड़ा । अनेक समय तो कांग्रेस का कोई सदस्य आधी रात को जबरदस्ती उसके सोने के कमरे में घुस जाता और उसे जगाकर किसी अपराधी के पक्ष में नये प्रमाण रखकर कहता कि इन पर तो विचार ही नहीं किया गया । लिंकन इससे असंतुष्ट नहीं होता और उसी समय निर्णय कर देता--"अच्छा ! मैं नहीं समझता कि उसे गोली मारने से कोई लाभ होगा ।"

इस सम्बन्ध में वरमौण्ट के एक किसान के एक लड़के की कहानी बहुत प्रसिद्ध है जिसे बाद के लेखकों ने बहुत कि कुछ तोड़-मरोड़ डाला है । वह युवक बहुत दूर से पैदल चलकर आया था और अपना पहरा देने के पश्चात् अपने एक बीमार साथी के बदले भी पहरा देने को तैयार हो गया पर अत्यन्त थकावट के कारण उसे नींद आ गई । जब वह पहरे के स्थान पर किसी अधिकारी द्वारा सोता हुआ पकड़ा गया तो उसे मौत की सजा दी गई । उसी दिन लिंकन उस छावनी में निरीक्षण करने आया था । उसके विषय में सुनकर वह उससे मिला । उसने उसके घर का सारा हाल सुनकर उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा--"मेरे बच्चे ! तुमको गोली नहीं मारी जायेगी । तुम्हारी यह बात कि तुम अत्यन्त थकावट के कारण जागते नहीं रह सके मान ली जायगी । मैं तुम पर भरोसा करके तुमको फिर सैनिकों में लड़ने के लिए भेज रहा हूँ । पर तुम्हारे कारण मुझे काफी तकलीफ हुई है । अब तुम मुझे यह बताओ कि मेरा यह कर्ज कैसे चुकाओगे ।" इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ दिन बाद ही वह गणराज्य की तरफ से बड़ी वीरता के साथ लड़ता हुआ मारा गया और अन्त तक लिंकन को स्मरण करता रहा ।

राष्ट्रपति के पद पर लिंकन का पुनर्निर्वाचन

उत्तरी और दक्षिणी रियासतों का युद्ध काफी लम्बा चला और लिंकन के राष्ट्रपति के पद पर रहने के पूरे चार वर्ष इसी में व्यतीत हो गये । इस बीच में लिंकन ने अपनी पूरी शक्ति एक महान संकल्प को सफल बनाने में लगा दी । इसके लिए उसने अपने स्वास्थ्य, सांसारिक वैभव, पारिवारिक सुख, कीर्ति आदि सब कुछ को बाजी पर लगा दिया । फिर भी सन् १८६४ के मध्य तक उत्तर की सेनायें दक्षिण के विद्रोहियों को दबाने में अधिक अग्रसर न हो सकीं। यद्यपि इतने लम्बे संघर्ष के पश्चात् उनकी अंतिम विजय का लोगों को विश्वास हो गया था, पर युद्ध के लगातार बढ़ते जाने और उसके लिए हर तरह बलिदान करते रहने से जनता थक चुकी थी और अब यह शान्ति के लिए बैचेन होने लग गई थी । इसलिये सन् १८६४ में जब राष्ट्रपति के निर्वाचन का समय समीप आया तो राजनीति में भाग लेने वाले प्रमुख व्यक्ति इस बात पर जोरों से चर्चा करने लगे कि आगामी बार किसको इस पद पर चुना जाय । जैसा कहा जा चुका है लिंकन 'रिपब्लिकन दल' की ओर से चुना गया था, पर अमरीका में अब भी 'डेमोक्रेटिक पार्टी' का प्राबल्य था । आगामी चुनाव के लिये उसने मैक्नील को उम्मीदवार बनाया । मैक्नील एक वीर संचालक था और राजनीति में भी चतुर था । इसलिये डेमोक्रेटों को उसकी सफलता की पर्याप्त आशा थी ।

उधर रिपब्लिकन दल में निराशा और मतभेद की भावना बढ़ रही थी । डेमोक्रेटों के मुकाबले में वे अपने को कमजोर तो मानते ही थे, अब युद्ध में प्रत्यक्ष सफलता प्राप्त न हो सकने के कारण और भी अनिश्चित अवस्था में थे । उनमें से थोड़े ही लिंकन को दुबारा राष्ट्रपति बनाने के पक्ष में थे, शेष लोग भीतर ही भीतर किसी अन्य उम्मीदवार को खड़ा करने की चाल चल रहे थे । उन्होंने विशेष रूप से जनरल ग्राण्ट को जो उत्तर की सेनाओं का प्रधान अधिकारी था और जिसने अभी तक दक्षिणी सेनाओं को अनेक युद्धों में हराकर आगे बढ़ने से रोका था, राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार बनाने का प्रस्ताव किया । पर जनरल ग्राण्ट सच्चा देशभक्त था और वह जानता था कि अभी उसका स्थान युद्ध-क्षेत्र में ही है, ताकि दक्षिण के विद्रोहियों के मनसूबों को पूरी तरह से खत्म किया जा सके । इसके अतिरिक्त वह यह भी जानता था कि इस महत्वपूर्ण पद पर लाने वाला निरन्तर उसका समर्थन करने वाला भी लिंकन ही था । इसलिये जब किसी परिचित ने उससे राष्ट्रपति के पद वाले प्रस्ताव पर विचार करने को कहा तो वह अकस्मात् कुर्सी के हत्थे पर बड़े जोर से घूँसा मारते हुए बोल उठा--"यह हर्गिज नहीं हो सकता, ये लोग मुझे इसके लिये कभी तैयार नहीं कर सकते ।"

लिंकन भी इन बातों को जानता था । पर उसे राष्ट्रपति पद के प्रति किसी प्रकार का स्वार्थ जनित मोह नहीं था, वरन् उसका एक मात्र उद्देश्य पाप रूप गुलामी की प्रथा का मूलोच्छेद करना और उसके साथ ही देश की गणराज्य शासन प्रणाली की रक्षा करना था । इसके लिए वह बड़े से बड़ा खतरा उठाने को भी तैयार था । जब १८६४ के मध्य में शासन सभा की युद्ध सम्बन्धी 'संयुक्त-समिति' ने जिसके प्रधान नेता लिंकन के विरोधी थे, यह प्रस्ताव पास करा लिया कि--"अमरीका की कोई भी रियासत अपनी ही

योजना के अनुसार अपना निर्माण कर सकती है" तो उसने केवल अपनी जिम्मेदारी पर उस पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया और कहा--"कुछ भी हो, मुझे जो बात सत्य जान पड़ती है मैं उससे अधिक दूर नहीं हट सकता । मैं अपने में कुछ मानदण्ड--कुछ सिद्धान्त तो बनाये रखूँगा ।"

अनेक लोगों ने युद्ध में होने वाले रक्तपात से घबड़ाकर बार-बार दक्षिण वालों से सन्धि कर लेने पर जोर दिया और एक पत्र-सम्पादक ने उस सम्बन्ध में लिंकन के विरुद्ध जोरों से प्रचार करते हुए उसे जिद्दी-रक्त-पिपासु' लिख मारा । लिंकन जैसे सहृदय तथा दयालु प्रकृति के व्यक्ति पर यह बहुत ही नीचतापूर्ण आक्षेप था, तो भी उसने उसे सहन कर लिया और सन्धि का प्रस्ताव करने वालों से कहा कि वे स्वयं अपनी तरफ से दक्षिणी रियासतों के नेता जेफरसन डेविस से सन्धि की बात करके उन्हे राजी करें । उन लोगों ने दो बार दूत दक्षिण वालों के पास भेजे, पर हर वार जेफरसन ने यही उत्तर दिया कि --"दक्षिण या तो स्वतंत्र (पृथक्) होकर रहेगा या नष्ट हो जायेगा ।" इस प्रकार लिंकन ने अपनी दूरदर्शिता से बिना किसी तरह का विवाद बढ़ाये उन लोगों का मुँह बन्द कर दिया जो यह प्रचार करते फिरते थे कि "दक्षिण वाले समझौते को तैयार हैं परन्तु लिंकन ही इसके लिए राजी नहीं होता ।"

इस प्रकार अपनी स्थिति को जनता तथा राजनीतिज्ञों के समक्ष स्पष्ट करके अब्राहम लिंकन ने ६ दिसम्बर १८६४ को शासन-सभा के सामने अपने राष्ट्रपति-कालीन अन्तिम सन्देश में कह दिया--"राजनीतिज्ञों ने अपने स्वाभाविक ज्ञान से यह प्रकट कर दिया है कि जनता में इस प्रश्न पर कोई मतभेद नहीं है कि 'गणराज्य' निश्चित रूप से स्थिर रहे । उपलब्ध प्रमाणों पर ध्यान से विचार करने पर मुझे यह जँचता है कि विद्रोहियो के नेता से सन्धि की बात की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं हो सकता क्योंकि वे गणराज्य को भंग करने के निश्चय पर अडिग बने हैं । पर हम लोग ऐसा कभी नहीं होने देंगे । यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका हल युद्ध में पूर्ण विजय प्राप्त करके ही निकल सकता है । हमारी सरकार युद्ध को एक ही अनिवार्य शक्ति पर रोक सकती है कि विद्रोही लोग राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध उठाये हथियारों को डाल दें ।"

लिंकन ने सन्धि चर्चा की बात से कभी इन्कार नहीं किया, क्योंकि वह आपसी रक्त-पात से बहुत दुःखी था पर साथ ही उसने अपने सेनापति ग्राण्ट को सख्त आदेश दे रखा था कि कहीं जरा-सी भी सुस्ती या ढील न करें, क्योंकि दास प्रथा का उन्मूलन तथा गणराज्य की रक्षा इसी पर निर्भर थी कि विद्रोहियों को पूरी तरह हरा दिया जाय । आगे चलकर लिंकन की धारणा पूर्णतया सही सिद्ध हुई और इसी के परिणामस्वरूप अन्त में जनमत बदलकर ऐसा वातावरण उत्पन्न हुआ जिससे लिंकन को बहुत बड़े बहुमत से राष्ट्रपति चुन लिया गया ।

बलिवेदी पर आत्म-त्याग

जब गृहयुद्ध में दास प्रथा के पक्षपाती दक्षिण राज्यों की लगभग पराजय हो चुकी थी तब लिंकन को दोबारा अमरीका का राष्ट्रपति चुन लिया गया । पर इन चारों वर्षों में युद्ध संचालन और गणराज्य की रक्षा में उसे इतनी अधिक शक्ति खर्च करनी पड़ी थी और इतनी चिन्ताओं में रहना पड़ा था कि वह बहुत निर्बल हो गया था और उसका वजन ४० पौंड घट गया था । पर इसकी तरफ ध्यान न देकर वह दास प्रथा को मिटाने के सम्बन्ध में दक्षिण वालों से अन्तिम और निर्णायक संघर्ष करता रहा । उसने ६ दिसम्बर १८६४ को अपने वार्षिक सन्देश में स्पष्ट कह दिया--"कोई भी व्यक्ति जो दास मुक्ति की घोषणा अथवा काँग्रेस के किसी भी कानून के अनुसार स्वतन्त्र हो चुका है उसे मेरे इस पद पर रहते हुए कदापि गुलाम नहीं बनाया जा सकेगा ।"

४ मार्च १८६५ को लिंकन ने दुबारा राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया । इसके एक महीने बाद दक्षिण की सेनाओं ने गणराज्य की सेनाओं के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया । इस विजय के उपलक्ष्य में वाशिंगटन में १४ अप्रैल को एक नाटक का प्रबन्ध किया गया । लिंकन अपनी पत्नी सहित उसे देखने गया । वहीं पर दक्षिणी राज्य 'वर्जीनिया' के एक षडयन्त्रकारी ने चोरी से लिंकन के पास पहुँचकर गोली मार दी । जिस कार्य को दक्षिण वाले खुले मैदान में नहीं कर सके उसे उन्होंने इस प्रकार कपट का आश्रय लेकर पूरा किया । इस दुष्कृत्य के लिए समस्त संसार ने उनको धिक्कारा और इसके फल से लिंकन का महत्व संसार भर में प्रकट हो गया । अब जब कि वह चल बसा लोगों ने उसकी महानता को पूरी तरह अनुभव किया । सब लोग इस पर आश्चर्य करते थे कि एक बिना पढ़ा आदमी किस प्रकार इतना प्रभावशाली वक्ता और प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बन सका । उसने अपने प्राण दे दिये पर अपनी मृत्यु के द्वारा भी वह दक्षिणी और उत्तरी राज्यो के संघर्ष से उत्पन्न कटुता को कम करके दासों की स्वाधीनता के घोषणा पत्र पर एक ऐसी मुहर लगा गया जिसे मिटा सकने में अभी तक कोई समर्थ नहीं हुआ ।

भारत की महान विभूतियाँ

स्वाधीनता के मन्त्र-दृष्टा दादाभाई नौरोजी

नौरोजी पालनजी दोर्दी ने जिस समय संसार से विदा ली, उस समय उनके एकमात्र पुत्र दादाभाई की आयु केवल चार वर्ष की थी। परिवार की आर्थिक स्थिति भी अच्छी न थी। दादाभाई के पिता बम्बई के खदक नामक स्थान में एक छोटे से गाँव में रहते थे और पुरोहिताई करते थे।

यद्यपि पारसियों में विधवा-विवाह की व्यवस्था है, तथापि दादाभाई की माता माणिकबाई ने पुनर्विवाह करना पसन्द न किया, उन्होंने आजीवन वैधव्य में रहकर और अपने परिश्रम के बल पर अपनी एकमात्र सन्तान दादाभाई को लिखा-पढ़ाकर योग्य बनाने में ही जीवन की सार्थकता समझी। सन्तानवती होने पर भी सांसारिक लिप्साओं के वशीभूत होकर जो विधवायें पुनर्विवाह के बन्धन में फँस जाती हैं, उन्हें और उनकी सन्तानों को किन-किन कठिनाइयों और बन्धनों में जीवन चलाना पड़ता है, उससे वे अनभिज्ञ न थीं। वे जानती थीं, कि पुनर्विवाह कर लेने पर उनके पुत्र दादाभाई का विकास रुक जायेगा, जो उन्हें किसी प्रकार सह्य न था। अपनी कतिपय दुर्बलताओं के पालन में अबोध सन्तान का जीवन बर्बाद कर देना उनकी दृष्टि में महापातक था। निदान आजीवन विधवा रहकर उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा-दीक्षा के साथ एक सुयोग्य नागरिक बनाने का निश्चय कर लिया।

दादाभाई की माता भारतीय माता का एक जीता-जागता उदाहरण थीं। यद्यपि उन्हें अक्षर-ज्ञान तक न था, तथापि सुनारी के संस्कारों के अधीन वे शिक्षा के महत्व को न केवल जानती ही थीं, अपितु उनमें पूर्ण विश्वास रखती थीं। दादाभाई की शिक्षा के लिये उन्होंने जिस तप, त्याग और परिश्रम का परिचय दिया, उसे जानकर भारतीय माताओं के पावन आदर्शों के प्रति मस्तक नत हुए बिना नहीं रहता। अपने जीवन में दादाभाई जो कुछ बन सके, उसकी भूमिका में उनकी माता की पावन प्रेरणा के बीज ही सक्रिय रहे हैं। उसका आभार प्रकट करते हुए दादाभाई ने स्वयं एक स्थान पर यह कहा है—

"मेरी माता मेरे हर क्षण की साथी थीं, यदि मैं उन्हें अपनी धाय, गुरु, मित्र और भाग्य-निर्मात्री कहूँ तो कोई अत्युक्ति न होगी। मुझे कदम-कदम पर उनसे प्रेरणा मिलती रही। अपने आचरण में आज मैं जिस प्रकाश के दर्शन कर रहा हूँ, वह मेरी ममतामयी माता का ही फैलाया हुआ है। पिता के दिवंगत हो जाने के बाद उन्होंने मेरे मामा की सहायता से अपने लिये काम खोजे और अथक परिश्रम के साथ जीवनयापन कर मेरी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया। उन्होंने मुझे स्कूल भेजा और उसके खर्च के लिए कड़ी से कड़ी मेहनत की।" दादाभाई ने माता का चरित्र चित्रण करते हुये आगे लिखा है—

"मेरी माता पचास साल तक मेरी सहायिका तथा प्रेरणा-केन्द्र बनी रहीं। मैं ही उनका एकमात्र सर्वस्व था। उनके जीवन की सारी अभिरुचि एकमात्र मेरे विकास तक ही सीमित थी और मुझे अधिक से अधिक योग्य बनाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। यद्यपि वे निरक्षर थीं तथापि एक बुद्धिमती माता थीं। ऐसी माता जो सन्तान के प्रति अपने कर्तव्य को भी भली-भाँति जानती थीं। उन्होंने मुझे न केवल प्रेम ही किया, बल्कि कड़ाई के साथ मुझ पर शासन रखते हुये अनुशासन की शिक्षा भी दी। वे मेरे सद्विचार भावों और कार्यों में सच्चे सहयोगी की तरह सहमत तथा सहायक रहीं। स्त्री शिक्षा के लिये मैं जो कुछ कर सका, उसमें उनका महान सहयोग सम्मिलित रहा है। समाज के अन्ध-विश्वासों और विकृतियों को दूर करने में वे सदा ही मेरी सहायिका बनी रहीं और आज मैं कर्त्तव्य अथवा व्यक्तित्व जिस रूप में जो कुछ भी हूँ वह सब मेरी माता का ही प्रसाद है।"

मनुष्य जीवन में माताओं की महिमा का अद्वितीय स्थान है। यह माता के ही दिये संस्कार तो थे, कि दादाभाई ने अपनी सारी शक्ति, सारी योग्यता और सारा जीवन समाज, देश और भाइयों की सेवा में लगाकर अपने इस संकल्प को अक्षरशः चरितार्थ कर दिखाया; कि मैं अपनी भारत माता को इस प्रकार प्यार करूँगा और उसकी सेवा में इस प्रकार दत्तचित्त रहूँगा कि मैं भारत माता का अद्वितीय पुत्र और सेवक सिद्ध हो सकूँ। मैं आजीवन देशवासियो पर होने वाले अत्याचार तथा अन्याय को रोकने के लिये तत्पर रहूँगा और शासकों को ठीक मार्ग पर लाने के लिये सावधान करता रहूँगा। मैं भारतीय समाज को उसके अधिकारों तथा कर्तव्यों का समुचित ज्ञान कराऊँगा और स्वतन्त्रता की प्रेरणा देकर उसे उस मार्ग पर चढ़ते हुये अपनी इन्हीं आँखों से देखकर प्रसन्न होऊँगा। यद्यपि मैं तब तक बूढ़ा हो चुका होऊँगा तथापि मेरे विचार और प्रेरणाये राष्ट्र में स्वाधीनता के लिये अक्षय तरुणाई का समावेश करती रहेंगी।"

उन्नीसवीं शताब्दी का वह प्रारम्भिक काल जिसमें ४ सितम्बर १८२५ को दादाभाई ने जन्म लिया था, भारत के इतिहास में अन्धकारपूर्ण समय कहा जा सकता है। एक ओर तो भारतीय समाज नर-बलि और सतीदाह जैसे अन्धविश्वासों में डूबा हुआ था और दूसरी ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कुशासन जनता को अन्याय एवं शोषण की चक्की में पीस रहा था। चोर, लुटेरों और अपराधियों की बहुलता से जन-जीवन बड़ा ही अरक्षित तथा आतंकित बना हुआ था। कम्पनी सरकार सारे भारत में अपने पैर पसार चुकी थी, लेकिन उसका शासन जनता की बहबूदी के लिये नहीं था। उसका लक्ष्य तो भारत की अशिक्षित तथा अबोध जनता को लूट-लूट कर अपनी जेबें भरना था। कम्पनी सरकार को जनता के हित से कोई सरोकार नहीं था।

ऐसे कुशासन तथा अविश्वस्त समय में जन्म लेकर जब दादाभाई कुछ करने और कहने योग्य हुये, तभी उन्होंने अपनी वाणी, कलम और कार्यों द्वारा भारत की सोई हुई जनता को जगाना प्रारम्भ कर दिया और उसे एक ऐसा नेतृत्व तथा मार्ग दिया, जिस पर चलकर भारतीय राष्ट्र में नई चेतना, नया बोध और नया विचार-कोण मिला। दादाभाई के सन्देशों में उसे ओज, तेज और साहस की प्राप्ति हुई, जो उसके आगामी स्वतन्त्रता संघर्ष में सम्बल के रूप में सिद्ध हुआ।

दादाभाई की शिक्षा का प्रारम्भ नेटिव-एजूकेशन सोसायटी द्वारा संचालित स्कूल से हुआ और शीघ्र ही अपनी योग्यता के कारण वे 'एल्फिंस्टन संस्थान' द्वारा स्थापित कालिज के लिये चुन लिये गये। दादाभाई ने जिस दिन से पढ़ना प्रारम्भ किया, अपनी कक्षाओं में प्रथम ही पास होते रहे। उन्होंने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अपने शिक्षाकाल में इतने पारितोषिक तथा छात्रवृत्तियाँ पायीं कि उनके गुरुजन उन्हें एक असाधारण छात्र मानने लगे। किन्तु जब उनकी योग्यता के साथ उनके राष्ट्रीय विचारों का समावेश हुआ और वे यदा-कदा अवसरों पर व्यक्त एवम् प्रकट होने लगे तब तो उनको अँग्रेज प्रोफेसर तक 'भारत की आशा' कहने और पुकारने लगे।

दादाभाई अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे। विज्ञान तथा गणित उनके विशेष विषय थे। वे गणित के प्रश्न हल करने में कितनी रुचि रखते थे, यह बात इससे ही प्रकट हो जाती है, कि स्कूल से जाते समय जानने वाले लोग दादाभाई को उनके अन्य साथियों के साथ रोक लेते थे और गणित के मौखिक प्रश्न हल करने को देते थे। उनके साथी भले ही उत्तर देने में असफल हो जाते हों, किन्तु दादाभाई कभी असफल नहीं होते थे। इन घटनाओं की चर्चा करते हुए उन्होंने एक स्थान पर स्वयं लिखा है-"पहाड़ा और मौखिक गणित में मुझे विशेष रुचि रही है। खास-खास अवसरों पर स्कूल के प्रायः सभी विद्यार्थी किसी सार्वजनिक स्थान पर खड़े कर दिये जाते थे और जनता किन्हीं भी विद्यार्थियों से मौखिक प्रश्न किया करती थी। ऐसे अवसरों पर हमारा अच्छा खासा मस्तिष्कीय व्यायाम हो जाता था। गणित के मौखिक उत्तर सुनकर लोग बड़े प्रसन्न होते थे और मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। इससे शिक्षा में मेरा उत्साह और भी बढ़ जाता था और मैं और भी मन लगाकर पाठ याद किया करता था।"

अपनी शिक्षा सम्बन्धी संस्मरण और उसका उद्देश्य प्रकट करते हुये दादाभाई बड़े सन्तोष से कहा करते थे, कि शिक्षा के विषय में मैं बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर श्री माउण्टन स्टुअर्ट एलफिंस्टन का आभारी हूँ और उस समय के दूरदर्शी नागरिकों को अपनी तथा अन्य बहुत से युवकों की ओर से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने भारत में शिक्षा प्रसार के मन्तव्य से बम्बई के गवर्नर पद से इस्तीफा दे देने वाले एलफिंस्टन महोदय को बम्बई में 'नेटिव एजूकेशन सोसायटी' की स्थापना में तन-मन-धन से यथा सम्भव सहायता की।

यदि इस संस्था के तत्वावधान में चलने वाले स्कूल और कालिज में फीस देनी पड़ती होती, तो बहुत सम्भव था कि मैं उच्च शिक्षा से वंचित रह गया होता, मेरी माँ की आर्थिक स्थिति इस योग्य न थी कि वे आज जैसी मँहगी शिक्षा मुझे दिला पातीं। नेटिव एजूकेशन सोसायटी के उस निःशुल्क शिक्षा सिद्धान्त के प्रति मेरी अखण्ड आस्था हो गई और मै निःशुल्क शिक्षा का समर्थक ही नहीं, उसका प्रचारक बन गया। मेरा विश्वास है कि हर बच्चा चाहे वह अमीर हो या गरीब, उस शिक्षा के पाने का समान रूप से अधिकारी है, जिसे ग्रहण करने की प्रतिभा उसमें है। मेरा दावा है कि यदि भारत जैसे गरीब देश में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर दी जाय तो एक से एक विलक्षण प्रतिभायें समाज की सेवा के लिये विकसित एवम् प्रकाशित हो सकती हैं, जो कि आज इस मँहगी शिक्षा प्रणाली में अवसर न पाकर दबी पड़ी रहती हैं। आगे मेरा पुनः विश्वास है कि यदि समाज के धनी-मानी तथा शिक्षित वर्ग मिल कर, चाहें तो भारतीय युवकों तथा बच्चों के लिये निःशुल्क शिक्षा की कुछ न कुछ व्यवस्था कर सकते हैं। यह समाज तथा देश के हित में एक बड़ा काम होगा।"

दादाभाई एक निर्धन परिवार के बालक थे। बड़े परिश्रम और कठिनाई से उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। एम० ए० तक की जो शिक्षा दादाभाई ने प्राप्त की थी, उस समय वह एक बड़ा अर्थ रखती थी। उनके लिये ऐसे हजारो

अवसर खुले पड़े थे, जिनमें यदि वे अपनी शिक्षा का उपयोग कर व्यक्तिगत लाभ उठाना चाहते तो अतुल धनराशि बड़ी सरलता से पैदा कर सकते थे । ऐसा करने के लिये लोगों ने उन्हें प्रेरणा भी दी और परामर्श भी । किन्तु व्यक्तिगत धनाढ्यता अथवा सुख-सुविधा के प्रति निस्पृह दादाभाई धनाढ्यता के लिये शिक्षा का उपयोग करने के लिये तैयार नहीं हुए । उनके लिए शिक्षा का सबसे सार्थक उपयोग क्या था, वह उनके ही शब्दों में इस प्रकार है-

"ज्यों-ज्यों मैं शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों मेरी विचारधारा विभिन्न दिशाओं में फैलती गई । मैंने अपने अन्तरमन की गहराई से यह अनुभव किया कि मैंने अपने गरीब देशवासियों के पैसे से यह शिक्षा प्राप्त की है और अभी पा रहा हूँ । वे वैसे ही गरीब हैं जैसा कि मैं स्वयं हूँ। अतः यह विचार मेरे हृदय में गहराई से जड़ पकड़ते गये कि शिक्षा से मुझे जो योग्यता, प्रसाद अथवा आर्थिक लाभ हो रहा है अथवा आगे जीवन में होना है, वह सब मेरे देशवासियों की ही देन होगी । मुझे जनता जनार्दन का यह ऋण चुकता ही कर देना है । उसे चुकता करने का यही सबसे उत्तम ढंग हो सकता है कि मुझमें जो कुछ है और जो आगे होने की सम्भावना है, उसको अधिक से अधिक उसी की सेवा में समर्पित कर दूँ ।"

शिक्षा के सम्बन्ध में दादाभाई के ये विचार निस्सन्देह न केवल आदर्श हैं, बल्कि अनुकरणीय हैं । दादाभाई ने जो कुछ कहा उसे एक सच्चे वचनबद्ध व्यक्ति की तरह कार्य रूप में परिणत कर चरितार्थ कर दिया । जन-सेवा की अडिग और मन, वचन, कर्म की ही एकता का तो यह सुफल था, कि वे भारतीय जनता के हृदय में राष्ट्र-पितामह के रूप में प्रतिष्ठित माने जाते है और जन-क्षेत्र में भारत के वयोवृद्ध महापुरुष सम्बोधित किये जाते हैं । स्वयं दादाभाई को इस आदरपूर्ण सम्बोधन पर कितना सन्तोष था यह उनके इस कथन से प्रकट हो जाता है- "यदि मैं ""भारत का वयोवृद्ध महापुरुष" के नाम से पुकारे जाने पर प्रसन्नता प्रकट करूँ, तो क्या मेरा अहंकार होगा ? नहीं ऐसा नहीं है। यह सम्बोधन, यह उपाधि तो पूरे जीवन का सबसे बड़ा पारितोषिक होगी और है, फिर चाहे मैं इसके योग्य हूँ या नहीं । यह मेरे प्यारे देशवासियों के स्नेहपूर्ण, उदार और प्रसन्न हृदयों के अनन्त उद्घोष की संसूचक है ।"

दादाभाई ने अपने जीवन में जो कुछ भी किया, वह सब जनता और देश की भलाई के लिये किया । उनके जीवन का एक छोटा-सा अंश भी उनका नहीं था, वे न उस पर अपना अधिकार ही समझते थे । उनका कहना था कि जिस राष्ट्र और समाज ने हमें जन्म और जीवन दिया है, उस पर हमारा अधिकार न होकर, समाज और देश का ही अधिकार है । मेरा तन, मन, धन जो कुछ भी मेरे पास दिखलाई देता है उस सबका उपयोग जनहित में करना ही मेरा कर्त्तव्य है और इतना भर ही मेरा अधिकार भी है; यद्यपि यह एक ज्वलन्त सत्य है कि दादाभाई से अपने लिये कभी न तो कुछ चाहा और न कभी कुछ किया, तथापि उनकी इस उन्नत एवं उदात्त परमार्थ भावना ने, उन्हें जिस प्रतिष्ठा पर पहुँचा दिया उसे जानकर विश्वास करना पड़ता है कि निष्काम कर्म, योग्य कर्त्तव्यों और निर्लोभ सेवाओं का परिपाक उच्चतम स्वर्गीय सफलताओं के रूप में ही होता है। उन्हें प्रथम भारतीय प्राध्यापक होने का गौरव प्राप्त हुआ । वे ही प्रथम भारतीय हैं, जिन्हें सर्वप्रथम भारतीय जनता के सामाजिक, बौद्धिक और राजनीतिक विकास के लिये अनेक संस्थाएँ स्थापित करने का श्रेय प्राप्त हुआ । वे ही सर्वप्रथम भारतीय हैं, जिन्हें ब्रिटिश संसद का सदस्य होने का सम्मान प्राप्त हुआ । वे उस शाही कमीशन के भारतीय सदस्य नियुक्त हुए जिसे भारत को आर्थिक न्याय दिलाने के मन्तव्य से गठित किया गया था और वे ही सबसे पहले भारतीय हैं, जो भारत के लिये स्वशासन की माँग कर भारतीय स्वाधीनता के पितामह कहकर प्रतिष्ठित किये गये ।

शिक्षा समाप्त कर कार्य क्षेत्र में उतरने का विचार बनाते ही बम्बई सचिवालय ने उन्हें अपने यहाँ एक अच्छे पद तथा वेतन पर आमन्त्रित किया । किन्तु दादाभाई का जीवन ध्येय पद अथवा पैसा न था । वे तो अपनी योग्यताओं का उपयोग किसी ऐसे कार्य में करना चाहते थे, जिससे राष्ट्र अथवा समाज का कुछ हित साधन हो सके । अस्तु, उन्होंने उस बन्धनपूर्ण सचिवालय के पद पर जाने से इनकार कर दिया और 'नेटिव एजूकेशन सोसायटी' के तत्वावधान में चलने वाले स्कूल में सहायक का पद स्वीकार कर लिया । उनके इस निर्णय का, उनके इष्ट मित्रों नें पहले तो स्वागत नहीं किया और उनकी एक भावुक भूल मानी । किन्तु जब दादाभाई ने अपने निर्णय का आधार प्रकट किया, तब सब न केवल सहमत ही हो गये, बल्कि भूरि-भूरि प्रशंसा भी करने लगे । दादाभाई ने बतलाया कि सचिवालय की सेवा में मुझे जो पद मिलता वह ऊपर से देखने में तो बड़ा महान तथा अधिकारपूर्ण होता और वेतन के रूप में जो धन राशि मिलती वह भी अपेक्षाकृत काफी अधिक होती, किन्तु यथार्थ में वह पद दासता के सिवाय और कुछ न होता । उसमें वैतनिक आधिक्य के बदले में सारी स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, चिन्तन और राष्ट्रीय सेवा की सारी भावनाएँ दहन हो जातीं और यह मेरे जीवन की बहुत बड़ी असफलता होती । अध्यापक के पद पर रहकर मैं अपने विचार और अपनी

भावनाएँ नवोदित छात्रों के अन्तःकरण में स्थापित कर, उन्हें वास्तविक राष्ट्रीयता में ढाल सकूँगा और जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह मेरी एक अच्छी राष्ट्रीय सेवा होगी ? पैसों की वेदी पर जीवन के महान् उद्देश्य और समाज व देश की आवश्यकताओं को बलिदान कर देना एक ऐसा अपकृत्य है, जिसका स्वागत कदाचित् उन्हीं द्वारा सम्भव है, जो राष्ट्र-द्रोह के सूक्ष्म स्वरूपों को नहीं समझते अथवा लोभ और लिप्सा के अतिरिक्त जिनके मानस में किसी उच्च अनुभूति की कोई तरंग ही नहीं उठती ।

जिसने अपने मन-मन्दिर सेवा और श्रम के देवी देवता को प्रतिष्ठित कर रखा हो उसे एक के बाद एक उन्नति के सोपान पार करते क्या देर लगती है ? दादाभाई कुछ ही दिन सहायक अध्यापक रहे, फिर गणित और प्राकृतिक दर्शन के अध्यापक पद पर उन्नत कर दिये गये । इस प्रकार दादाभाई ने अपनी योग्यता और अध्यवसाय के बल पर भारतीयों के लिये अध्यापकी का वह द्वार उद्घाटित कर दिया, जिसकी आशा करना उस समय एक दूर का स्वप्न था । दादाभाई की इस सफलता से न केवल भारतीय जनगण को ही हर्ष हुआ, बल्कि उन्हें स्वयं भी कुछ कम प्रसन्नता न हुई, क्योंकि वे इसे अपनी व्यक्तिगत सफलता न मानकर समग्र देशवासियों की जीत मानते थे । उन्होंने अपने उस हर्ष को न जाने कितनी बार इन शब्दों मे व्यक्त किया है । यहाँ तक कि जब वे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्य मनोनीत हुए, तब भी उन्होने अपने प्राध्यापक पद का गर्वपूर्वक स्मरण किया था– "मुझे, मेरे अब तक के जीवन मे बहुत से सम्मान प्राप्त हुए है, तथापि जितना गर्व मुझे प्राध्यापक पद पर नियुक्त होने के समय हुआ उतना और कोई पद, पदवी अथवा सम्मान पाकर नहीं हुआ यद्यपि आज मैं ब्रिटिश लोक सभा का सदस्य होकर एक बहुत बड़े सम्मान का अधिकारी हूँ, तथापि मुझे अपनी प्राध्यापक की वह उपाधि आज भी लग रही है । आज भी जब मेरे सहपाठी और सहयोगी मुझे प्राध्यापक दादाभाई कह कर पुकारते हैं तो मेरा मन आनन्द-विभोर हो जाता है ।" निस्सन्देह कोई भी वह कार्य जिससे लोक-कल्याण का सम्पादन होता है, मनुष्य को अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी बना देता है फिर चाहे वह कार्य छोटा-सा ही हो या बड़ा ।

दादाभाई अध्यापन काल मे केवल सम्बन्धित विद्यालय अथवा छात्रों तक ही सीमित नहीं रहे । वे विद्यालय का कर्त्तव्यपालन करने के बाद बचा हुआ बहुत-सा समय समाज में जाकर उसकी दशा देखने और उसकी आवश्यकताओं को खोजने में लगाते थे । इसी खोज-बीन मे उन्होने समझ लिया कि समाज की सर्वांगीण उन्नति एवम् विकास के लिये स्त्री-शिक्षा नितान्त आवश्यक है । जब तक भारतीय समाज में स्त्री-वर्ग इस प्रकार अशिक्षा के अन्धकार में पिछड़ा पड़ा रहेगा, समाज की प्रगति सम्भव नहीं ।

उन्होंने अनुभव किया कि शिक्षित माताओं, बहनों और पत्नियों के अभाव में समाज के विकास की बात तो दूर परिवारों तक में कोई प्रगति नहीं हो पाती । पारिवारिक विकास तो सुगृहणी पर निर्भर है और नारी सुगृहणी तभी हो पाती है, जब सुशिक्षिता हो । शिक्षित गृहणियों के बिना शिक्षित पुरुषों तक को, न तो घर में कोई आनन्द या प्रेरणा का वातावरण मिलता है और न सामाजिक दृष्टिकोण में कोई सहायता ।

आवश्यकता अनुभव करना था कि दादाभाई ने अनेक विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को लेकर स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी संस्था संगठित कर डाली । वे प्रायः दूसरे-तीसरे दिन इसकी बैठक बुलाने और उसमें अपने लेखों तथा भाषणों द्वारा कार्यकर्ताओं में प्रेरणा प्रोत्साह भरने लगे । वे यह सब तब तक बराबर करते रहे, जब तक कि संस्था के शत-प्रतिशत सदस्य उस आवश्यकता और उसकी पूर्ति के महत्व से सहमत न हो गये ।

किन्तु केवल इतने से ही तो उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता । यह तो उद्देश्य की दिशा में पहला कदम था । क्योंकि पहले विचार, फिर विश्वास और तब कार्य का क्रम आता है । विचार और विश्वास सम्पादित हो चुके थे और अब कार्य की बारी थी । बिना कार्य के विचार एक दिमागी फितूर और विश्वास भावुकता भर बन कर रह जाता है, और किसी कर्मयोगी के लिये ये दोनों दुर्बलताएँ अशोभनीय मानी गई है । जिन्हें अपने पर विश्वास होता है, उन्हें अपने विचारो पर भी पूरा विश्वास रहता है, जिनको वे कार्यों में मूर्तिमान कर प्रकाश रूप में प्रकट कर देते हैं । दादाभाई विचार-व्यसनी न थे और न संस्थावादी । वे विशुद्ध रूप से एक कर्मयोगी थे । कर्तृत्व को वे व्यक्तित्व का सच्चा स्वरूप मानते थे और उसी के द्वारा अपना और दूसरो का मूल्यांकन अथवा स्थानाकन् किया करते थे । निदान उन्होंने तुरन्त ही एक योजनापूर्ण कार्यक्रम बनाकर कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख रख दिया ।

स्त्री-शिक्षा प्रचार की योजना प्रारम्भ हुई और दादाभाई के साथ सारे कार्यकर्ता उसमें जुट गये । आगे चलकर कार्यक्रम की सफलता का जो श्रेय उन्होंने पाया, वह यों ही सफलतापूर्वक नहीं मिल गया । शताब्दियो से पिछड़े समाज मे स्त्री-शिक्षा का विचार सर्वथा नया विचार था । सामने आते ही लोगों को ऐसा लगा मानों उन्हें कोई गलत काम

करने की प्रेरणा दी जा रही है । इसकी प्रतिक्रिया लोगों पर हुई और उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति भी की ।

दादाभाई ने स्त्री-शिक्षा प्रचार के अपने संस्मरण बताते हुए स्वयं कहा है– "जब हम लोग यह सद्‌विचार लेकर लोगों के पास जाते थे, तब पता है क्या होता था ? लोग सहसा आपे से बाहर हो जाते थे और कह उठते थे, कि आप लोग हमें गलत सीख देने के लिये आये हैं । आप लोग हमारी बहू-बेटियों को पढ़ा-लिखा कर मेम बना देना चाहते हैं । यहाँ से तुरन्त चले जाओ, नहीं तो धक्के देकर दूर कर देंगे । बहुत बार तो कई लोग इतने क्रुद्ध हो गये कि हम लोगों को मकान की सीढ़ियों से धक्का तक दे दिया। इस प्रकार के न जाने कितने कटु अनुभव हम लोगों को हुए। बहुत से साथी तो कई बार निराश तक हुये और कहने लगे कि जब लोग हित की बात कहने पर ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं तो ऐसा हमारा क्या स्वार्थ अटका है जो द्वार-द्वार धक्के खाने जाएँ । निःसन्देह बड़ी विषम स्थिति आ गई थी ।"

"किन्तु मैंने लोगों को समझाया कि केवल इतनी-सी कठिनाई से निराश नहीं हो जाना चाहिये । यह अपमान, यह तिरस्कार और यह कठिनाई तो किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता का स्वाभाविक उपहार है और यही तो वे कसौटियाँ हैं जिन पर समाज-सेवियों की भावनाओं की परख होती है। जो ईमानदारी और सच्चे समाज-सेवी होते हैं । वे ठहरे रहते हैं और जिनमे ढोल-पोल होता है, वे मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हैं । धैर्य, प्रयत्न और सहनशीलता तो समाज हितैषियों तथा सुधारकों की पहली विशेषताएँ होनी चाहिये । आप लोग अपने सन्तुलन पर नियन्त्रण रखे हुये धैर्यपूर्वक प्रयत्न में लगे रहिये, लोग हमारे विचारों का महत्व और प्रयत्नों का मूल्य समझेंगे और तब, आज जो लोग निन्दा करते हैं, कल प्रशंसा करने लगेगें । यदि हम सब दो धारणाओं को अपने मस्तिष्क मे दृढ़तापूर्वक धारण किये रहें तो लोगों के व्यवहार की हम पर कोई भी अन्यथा प्रतिक्रिया न हो । एक तो यह कि रूढ़िग्रस्त समाज किसी दुराग्रही बच्चे की तरह होता जो एक-दो बार कहने से अपना दुराग्रह नहीं छोड़ता और न अपना हित-अहित समझ पाता है । उसे तो रास्ते पर लाने के लिये तो सावधानी के साथ सद्‌भावना रखते हुए और उनके दुराग्रह को बहलाते हुए सुधार का प्रयत्न करना पड़ता है । तब कहीं जाकर वह ठीक रास्ते पर आ पाता है । दूसरी यह कि हम सब जिस शुभ-सन्देश पर निकले है । वह हमारा है, उसकी सफलता मे हमारा अपना हित है । बात भी सही है । समाज हमारा है । उसका हित-अहित भी हमारा है । ऐसी धारणा रखने पर समाज द्वारा मिलने वाले अप्रिय व्यवहार और असहयोग को हम अपना जीवन संघर्ष अथवा मार्ग की कठिनाइयाँ समझ कर उठा लेंगे । जब तक हम समाज सेवा के कार्यों में परकीयता का भाव रखेंगे और अपने मन-मस्तिष्क को कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त नहीं कर लेंगे, तब तक प्रतिक्रियाओं के शिकार और आशा-निराशा के खिलौने बने रहेंगे । बार-बार हमारा उत्साह भंग होगा, प्रयत्न शिथिल होंगे और हम कोई कार्य ध्येय पूर्वक गम्भीरता के साथ न कर सकेंगे।"

दादाभाई ने आगे बताया कि सहयोगियों और सहकार्यकर्ताओं ने मेरी बात पर अमल किया और हमारा प्रयत्न पूरी तरह से चलता रहा । हम लोग द्वार-द्वार, घर-घर जाते रहे और माता-पिताओं से प्रार्थना करते रहे कि उनको अपनी लड़कियों को और कहीं पढ़ने के लिये भेजने की जरूरत नहीं, अपने बैठक, बरामदे अथवा द्वार पर पढ़ाने के उद्देश्य से आये हुओं को अनुमति दे दें और समय भी वे स्वयं ही निर्धारित कर दें । सच्ची सेवा भावना में बड़ी प्रेरणा होती है । बताते हुये बड़ी प्रसन्नता होती है कि धीरे-धीरे एक-दो करके लोगों ने हमारी प्रार्थना का स्वागत करना शुरू कर दिया और अनेक घरों में कन्याओं की कक्षाएँ लगने लगीं । यह हमारे सबके धैर्यपूर्वक प्रयत्नों की निरन्तरता की सफलता थी ।

"काम बढ़ा, कन्यायें बढ़ीं और लोगों में लड़कियों की शिक्षा का उत्साह बढ़ा । स्वाभाविक था कि अगला कदम उठाने पर विचार किया जाता । विचार किया गया । कन्याओं का एक स्कूल स्थापित करने के सिवाय अगला कदम और हो भी क्या हो सकता था । विचार गोष्ठी में कन्या पाठशाला प्रारम्भ करने का प्रस्ताव आया । किसी नये विचार को कार्यान्वित करने से पूर्व, उस पर खूब अच्छी तरह से विचार और हर पहलू पर तर्क-वितर्क कर लेना न केवल आवश्यक और उपयोगी होता है, बल्कि कल्याणकारी भी होता है । इस जनतान्त्रिक पद्धति के अधीन सभी लोग अपनी-अपनी बात, अपना-अपना सुझाव अधिकार पूर्वक रख लेते हैं, उनकी हानि-लाभ, व्यावहारिकता और अव्यावहारिकता समझ लेते हैं और बहुत से मस्तिष्क जब खूब अच्छी तरह विचार कर किसी एक प्रस्ताव पर सहमत हो जाते हैं, तब वह प्रस्ताव किसी एक का न रह कर सबका हो जाता है, और सभी का उसके प्रति एक आत्मीय भाव हो जाता है फिर उनके कार्यान्वित प्रयत्न में किसी को यह अनुभव नहीं होता कि वह किसी एक के विचार अथवा निर्देश का पालन कर रहा है । यह अपरकीय-भाव किसी भी सार्वजनिक सेवा कार्य में कार्यकर्ताओं के संगठन की

रक्षा करता है और जिसके वल पर समाज में बड़े से बड़ा परिवर्तन लाया जा सकता है ।

"हाँ, तो कन्या पाठशाला का विचार दृढ़ हुआ और कार्यान्वित भी । जहाँ संगठन, सेवा और सामाजिकता का सद्भाव हो वहाँ कठिनाई का क्या काम ? कोई कठिनाई नहीं हुई । न धन की और न जन की । बहुत से उत्साही विद्यार्थी स्वेच्छा से अध्यापन करने को तैयार ही नहीं हो गये, उन्होंने प्रतियोगिता पूर्वक अपने नाम लिखा दिए । इस प्रकार अध्यापकों की एक बड़ी सूची तैयार हो गई । सभी ने सेवा-भाव से नाम दिये थे । वेतन का प्रश्न ही नहीं था ।

"अध्यापकों की समस्या हल हो गई । अब समस्या थी स्थान की । ऐसे स्थान की जो कम से कम सात बजे से दस बजे तक के लिए तो मिल ही जाय । पर समस्या जटिल न होने पायी । अनेक सूत्र-सम्पन्न लोग इस कार्य के लिए जुट पड़े और उन्होंने एक नहीं अनेक स्थानों की व्यवस्था कर डाली । समाज-सेवियों में जहाँ अपनी परोपकार भावना होती है वहाँ वे समाज के अन्य परोपकार प्रवृत्ति के लोगों को भी पहचानने में भूल नहीं करते और उनसे सम्पर्क स्थापित करने में जरा भी संकोच नहीं करते ।

"प्रयत्नशीलों ने, जिनमें से एक मैं भी था, श्रीजगन्नाथ शंकर सेठ और कामा परिवार के उदार सदस्यों की तरफ दृष्टि डाली और उनके पास पहुँचे । ये दोनों आशा-केन्द्र बड़े लोगों में से थे, ऐसा माना जाता था, लेकिन उस दिन उन लोगों ने प्रमाण भी दे दिया कि वे लोग उन वास्तविक अर्थों में बड़े लोग थे, जिन अर्थों में विवेकशील लोग किसी को बड़ा आदमी मानते हैं । स्पष्ट है उन वास्तविक अर्थों की कसौटी सद्विचारों और सत्कर्मों के सिवाय और क्या हो सकती है और इन दोनों कसौटियों की भी कसौटी सार्वजनिक हेतु तथा हित ही होती है ।"

"निदान हम लोगों के पहुँचने का कारण जानते ही श्रीजगन्नाथ शंकर सेठ और कामा परिवार के सदस्य ऐसे प्रसन्न हो उठे, मानो हम सब लोग उनके निराकार विचारों को ही साकार करके उनके पास ले गये हों । आज मैं फिर उन लोगों को धन्यवाद देता हूँ कि उन महानुभावों में से श्री जगन्नाथ शंकर सेठ ने अपना एक कुटीर, बड़ा सुन्दर कुटीर और कामा परिवार के सदस्यों ने अपना एक मकान कन्या विद्यालय के लिये बिना किसी एवज के दे दिया । यह हम लोगों के प्रयत्नों की एक और सफलता ही नहीं, उर्वर सफलता थी । उर्वर इस माने में कि पूर्वोक्त महानुभावों के उदाहरण का अनुकरण करते हुए फिर और भी अनेक लोगों ने स्थान दिये और उसके लिये वायदे भी किये ।"

"इस प्रकार लगे हाथों दो-तीन बने बनाये विद्यालय भवनों की व्यवस्था हो गई । लेकिन उनके लिये इतनी लड़कियाँ तो नहीं थीं । अभी तक तो कुछ लड़कियाँ उनके घरों के बैठकों और बरामदों में ही पढ़ाई जाती थीं । लेकिन अब उनको और अनेक दूसरी लड़कियों को भी घरों से अलग स्कूलों में लाना था । किन्तु इतना सा परिवर्तन भी किसी पिछड़े समाज के लिये पहाड़ होता है । एक कदम उठाने के बाद उसी का पूरक अथवा अनुबद्ध कदम उठाते भी उसे ऐसी डगमगाहट आती है । जैसे चलना सीखने वाला कोई बच्चा एक पैर को आगे बढ़ाकर दूसरा पैर उसके पास लाने में काँपता और डरता है । फिर भी उसे चलाना और चलना तो पड़ता ही है ।"

"प्रयत्न फिर प्रारम्भ हुआ । यहाँ पर यह बता देना शायद मेरी आत्मश्लाघा नहीं होगी कि इस बार मुझे ही अधिक प्रयत्न करना पड़ा । दूसरे सहयोगी यह समझकर कुछ नरवस से हो गये थे कि लड़कियों को पढ़ने के लिये विद्यालय भेजने के लिये कहने पर कहीं इसको अंगुली पकड़ कर पौंचा पकड़ने का प्रयास न समझ बैठें, किन्तु मैंने तो हर स्थिति और परिस्थिति के लिये साहस एवं सहनशीलता संचय कर रखी थी । साथ ही यहाँ पर इतना और बता दूँ कि मैंने आत्मा की गहराई में उतर कर और जन-कल्याण की यथासम्भव ऊँचाई पर चढ़कर अपने को अप्रिय अनुभवों के लिये प्रभाव शून्य रहने का अभ्यस्त बना लिया था । यह प्रभाव शून्यता किसी भी समाज-सेवी के साहस, उत्साह और सक्रियता के लिये कवच का काम देती और आत्महीनता से उसके व्यक्तित्व की रक्षा करती है ।

"मैं लोगों के पास गया, किन्तु इस बार पहले से भी अधिक मार्मिक प्रार्थना, अधिक तत्परता और अधिक उपयोगी तर्क लेकर गया । उनके सामने लड़कियों को स्कूल भेजने की प्रगति का प्रस्ताव रखा । पहले से कहीं ज्यादा विरोधपूर्ण प्रतिक्रिया हुई । रूढ़िवादी हिन्दुओं और प्रतिगामी पारसियों ने इस अगले कदम में न जाने कितने दुष्परिणामों की आशंका की, किन्तु मैंने उन्हें आश्वस्त करने के प्रयास को कई बार तक जारी रखा । दिन-रात और सुबह-शाम कुछ भी नहीं गिना । भूख-प्यास और आराम-विश्राम की आवश्यकता स्थगित कर दी । जिससे, जिस समय और जितनी बार उत्तर देने और प्रार्थना सुनने के लिये जिस स्थान पर बुलाया, मैं एक आज्ञाकारी भृत्य के समान हाजिर हुआ और अन्त में अपने उद्देश्य में सफल हो गया । सब मिला कर छः पाठशालाओं के लिये चवालिस पारसी और चौबीस हिन्दू कन्याएँ मिल गईं । आरम्भ के लिये कन्याओं की यह

संख्या असन्तोषजनक नहीं थी । लेकिन इस सफलता के लिये मुझे कितनी दौड़-भाग करनी पड़ी, इसका अनुमान मैं यह कहकर ही दे सकता हूँ कि यदि इस पुण्य का प्रत्यावर्तन को मैंने नंगे पैरों किया होता तो कदाचित तलवों की त्वचा का स्थान कठोर पट्टों ने ले लिया होता । पारमार्थिक परिश्रम का फल मीठा ही नहीं महान् भी होता है ।"

"कन्या पाठशालायें लगने लगीं । जनता ने विना मांगे ही धन से सहायता कर इस नवीन क्रान्ति का स्वागत किया और बम्बई के तत्काली गवर्नर लार्ड फाकलैण्ड ने अपनी सरकार की ओर से मुझे और मेरे सहयोगियों को न केवल बधाई ही दी, बल्कि यह कहकर हमारे कार्यों का अभिनन्दन भी किया कि बम्बई प्रान्त की शिक्षा के इतिहास में इन स्थापनाओं को युग परिवर्तनकारी कहा जायेगा और वे दिनों दिन उन्नति तथा प्रगति के उच्च शिखर की ओर अग्रसर होती जायेंगी । अपने प्रयासों के इन मीठे और महान् फलों को पाकर हम सब कृतज्ञ हुए और जन-कल्याण की और भी दिशाओं में बढ़ने लगे । अब हमारी जनप्रिय एवं जन-हितकारी संस्था के पास न धन की कमी रही थी और न साधनों की । अपनी सेवाओं से जनता-जनार्दन को प्रसन्न कर सकने वाले पुरुषार्थियों के पास साधनों का अभाव हो जाना सहज स्वाभाविक ही होता है । जन-सुधार, सेवा और उसकी प्रियता के कारण, कार्य और परिणाम- तीनों उपग्रह एक ही व्रत में एक साथ इस प्रकार परिभ्रमण किया करते हैं, कि उनका यह सृजनशील क्रम कभी समाप्त ही नहीं होता । साधनों की प्रचुरता का पहला उपयोग तो यह किया गया कि अवैतनिक विद्यार्थियों को सधन्यवाद अध्यापन सेवा से अन्य विकासों के लिये मुक्त कर उनके स्थान पर सुयोग्य, अनुभवी और आचरणवान्, आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों को सवेतन अध्यापन कार्य में नियुक्त कर दिया गया । विद्यालय के उपकरणों में वृद्धि एवं विकास कर दिया गया और निर्धन छात्राओं की सहायता की व्यवस्था भी । तथापि पूर्व अवैतनिक अध्यापको ने मेरी तरह ही विद्यालयों के निरीक्षण तथा विकास के लिए प्रचार-कार्य का दायित्व संस्था से माँग ही लिया । जन-सेवा के स्वरूप और उसके आनन्द का अनुभव कर लेने वाले फिर उससे हटकर जा कहाँ पाते हैं ? इस प्रकार बम्बई में और बम्बई के माध्यम से भारत में एक युग से स्त्री-शिक्षा का वह दीप फिर जल उठा जो देश पर आये आँधी और तूफानों मे बुझ गया था । इसका श्रेय बहुत कुछ मुझे दिया जाता है, किन्तु मैं इसका श्रेय उस परमपिता परमात्मा को देता हूँ, जिसने मेरी आत्मा मे इस कल्याणकारी विचार का सृजन किया था ।"

ऐसा नहीं कि स्त्री-शिक्षा का प्रचार कर दादाभाई सन्तुष्ट होकर निष्क्रिय हो गये हों । वे तो समाज के सर्वांगीण सुधार में विश्वास रखते थे । उन्होंने देखा और गम्भीरता पूर्वक विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि यदि समाज में सुधारों की गति तीव्र करनी है तो एक ऐसे अशिक्षित वर्ग को भी शिक्षित करना होगा, समाज में न केवल जिसकी बहुतायत है, बल्कि जिस पर समाज की धुरी का एक बड़ा भाग निर्भर करता है और वह वर्ग है समाज का प्रौढ़ वर्ग । बालकों और स्त्रियों की अपेक्षा प्रौढ़ों के संस्कार बदलना कठिन होता है । रूढ़िवाद और प्रतिगमन का रोग प्रौढ़ों में ही अधिक गहराई से लगा रहता है । उसके निरोग हो जाने पर शेष समाज तो आसानी से स्वस्थ बनाया जा सकता है । किसी भी समाज में प्रौढ़ वर्ग ही अगुआ होता है, उसकी मान्यताओं पर शेष समाज की मान्यताएँ ठहरी होती हैं और वही वर्ग सबसे कट्टर और पूर्वाग्रही होता है । नई पीढ़ी के परिवर्तन में भी यही वर्ग अधिक आगे आता है । यदि एक बार इस वर्ग को मोड़ा जा सके, तो सारा समाज सहज ही मुड़ जाता है ।

उपायों में शिक्षा ही एक ऐसा अमोघ उपाय होता है जिसके प्रयोग से बड़े से बड़े परिवर्तन सम्भव हो जाते हैं । दादाभाई ने प्रौढ़-शिक्षा का उद्देश्य बनाया और जी-जान से उसमें जुट गये । इस बार उन्होंने बम्बई की 'ज्ञान-प्रसारक-मण्डली' का सहयोग वांछनीय समझा और उससे सम्पर्क स्थापित कर अपने उद्देश्य में सम्मिलित कर लिया । दादाभाई के प्रभाव तथा विचारों की प्रेरणा थी, यह तो थी ही, "ज्ञान-प्रसारक-मण्डली' के कार्यकर्ताओं ने अपना पूरा भाग अदा कर दिया । प्रौढ़-शिक्षा के विषय में उन्होंने दादाभाई के नेतृत्व में पूरा विश्वास किया और अपना अभिमान छोड़ दिया ।

प्रौढ़ों को शिक्षित करने के लिये तीन विधियाँ काम में लाई गईं । एक, घर जाकर प्रेरणा प्रसार, दूसरी-सभा और व्याख्यान, तीसरी-साक्षरता और शिक्षा ।

दादाभाई ने प्रतिदिन घर-घर जाकर लोगों को शिक्षा की उपयोगिता और आवश्यकता बतानी शुरू की । बहुत बार उन्हें लोगों के ऊष्म-वाक्य सुनने को मिले । कोई कहता था कि ऐसा लगता है आप लोगों के पास कोई काम नहीं है, इसलिए दूसरों का समय खराब करने के लिए आ जाते हो । कोई कहता, हम लोगों के पास घर के और बाहर के काम-धन्धों से ही फुर्सत नहीं, हम किस समय पढ़ने के लिए बैठ सकते हैं ? अनेकों का बहाना रहता कि अब हमारी पढ़ने की आयु तो है नहीं जो पट्टी-बस्ता लेकर बैठें । बहुतो ने तो शिक्षा को अपने लिए निरुपयोगी ही नहीं बल्कि

उपहासास्पद तक बतलाकर असहयोग दिखाया, किन्तु दादाभाई अपने साथियों के साथ घर-घर जाते और लोगों का समाधान करते रहे । आखिर वह दिन आया और चार छः लोग पढ़ने के लिये तैयार हुए । बस फिर क्या था, प्रौढ़-शिक्षा की सायं पाठशालाएँ लगने लगीं । पढ़ाने वाले लोगों में दादाभाई प्रमुख व्यक्ति थे ।

प्रौढ़ों में साक्षरता प्रसार के साथ-साथ उनमें सामान्य ज्ञान का विकास करने के लिये दादाभाई समय-समय पर और उपयुक्त स्थानों पर बड़ी-बड़ी सभाएँ करते थे । इन सभाओं में सम्मिलित होने के लिये दादाभाई स्वयं सेवकों की टोलियाँ लेकर जाते और बहुत से लोगों को निमन्त्रण दे आते थे । इन ज्ञान-भाषाओं में विविध विषयों पर व्याख्यान हुआ करते थे, तथापि सभा में आयोजित अधिकांश व्याख्यानों का विषय मुख्यतः समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय संगठन ही हुआ करता था । इस कार्यक्रम से दादाभाई को [illegible]

और रहन-सहन की रीतियाँ विकसित करनी शुरू कर दी । दादाभाई को समाज में समाहित होता यह परिवर्तन देखकर न केवल हर्ष ही होता था, बल्कि अधिकाधिक कार्य करने का उत्साह मिलता था ।

प्रौढ़ों में शिक्षा के प्रति प्रेरणा उत्पन्न हुई और उन्होंने उसमें रुचि दिखायी । कक्षायें लगाई जाने लगीं और बहुत से लोग पढ़ने आये । दादाभाई उन पढ़ने वालों का निरीक्षण करते रहते थे और ऐसे लोगों को छाँट लेते थे, जो दूसरों से अपेक्षाकृत अधिक तेजी से आगे बढ़ते थे । ऐसे लोगों को साक्षरता के बाद वे अग्रिम शिक्षा में बढ़ा देते थे । जब ऐसे लोग अच्छी तरह पढ़ने-लिखने लगते थे, तब उनको आगे शिक्षा बढ़ाये रहने के लिये कहकर अन्यों को पढ़ाने के काम में भी लगाते थे, जिससे पढ़ने और पढ़ाने वालों की कमी नहीं रही और इस प्रकार प्रौढ़-शिक्षा का आन्दोलन सफलता की ओर चल पड़ा ।

उस काल के भारत की गिरी दशा मे मात्र सामाजिक सुधार ही राष्ट्र की उन्नति के हेतु नहीं बन सकते थे । समाज का सम्बन्ध शासन से भी रहता है । एक अच्छा समाज जहाँ एक अच्छे शासन को जन्म दे सकता है, वहाँ एक अच्छा शासन समाज को भी अच्छा बना सकता है, किन्तु यह तभी अधिक सम्भव हो सकता है, जब शासन और समाज दोनों एक ही राष्ट्र से बनते हों अथवा दोनों किसी एक ही राष्ट्र के अंग हों, किन्तु दुर्भाग्य से भारत को उस समय यह सुविधा प्राप्त नहीं थी । देश पर अंग्रेज-कम्पनी का शासन चल रहा था ।

कम्पनी के अधिकारी भारत में अपने शासन द्वारा भारत का आर्थिक शोषण ही अपना लक्ष्य मानते थे । उन्हें समाज की अच्छाई-बुराई, उन्नति-अवनति से कोई सरोकार नहीं था और न वह सरोकार रखना ही चाहती थी । भारतीय समाज जितना अधिक पिछड़ा, अशिक्षित, अन्धविश्वासी, अज्ञानी, असंगठित और सोया रहता उतना ही कम्पनी राज्य के हित में था । अस्तु राज्य जिन सामाजिक सुधारों का अधिकार रखता है, कम्पनी उतनों पर भी ध्यान नहीं देना चाहती थी। उसकी सम्पूर्ण शासन व्यवस्था दूषित तथा स्वार्थपूर्ण थी दादाभाई से यह बात छिपी नहीं थी । उन्हें कम्पनी का कुशासन स्पष्ट समाज के अहित में दीख रहा था और वे उसमें सुधार की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे । किन्तु उस समय के कम्पनी राज्य के शासन सुधार के लिये कोई कार्यक्रम बनाना एक साहसपूर्ण बड़ा कदम था । दादाभाई में उस साहस की कमी नहीं थी और वे शासनिक सुधार की आवाज उठाने के लिये उपयुक्त अवसर की खोज मे तत्पर रहने लगे । जल्दी ही वह अवसर मिल गया । जिसका उन्होंने पूरा उपयोग करने का भरसक प्रयत्न किया।

ब्रिटिश-संसद की ओर से भारत में शासन करने के जो अधिकार कम्पनी को मिले थे, उनकी अवधि समाप्त हो गई थी । कम्पनी के अधिकारियो ने वह अवधि बीस साल के लिये और बढ़ाई जाने का प्रार्थना-पत्र दिया हुआ था । उस पर ब्रिटिश संसद में विचार होना था, कि भारत में कम्पनी शासन की अवधि बढ़ायी जाये या नहीं । कम्पनी शासन में सुधार कराने के लिये यही उपयुक्त अवसर था, यदि इस समय इंग्लैण्ड की सरकार को यह सुझाया जा सकता कि भारत में कम्पनी का शासन भारत के हित में नहीं, तो निश्चय ही उसकी शासन-अवधि नहीं बढ़ायी जा सकती । यदि इतना न भी हो तो भी कम से कम कम्पनी-शासन में सुधार की व्यवस्था तो की ही जा सकती थी ।

किन्तु इंग्लैण्ड की सरकार का ध्यान कम्पनी के कुशासन की ओर आकर्षित किस प्रकार किया जाये ? दादाभाई के सामने यह एक बड़ा प्रश्न था । इतना बड़ा काम अकेले तो किया नहीं जा सकता था । दादाभाई ने इसका भी उपाय निकाल लिया । उन्होंने बम्बई की जनता को एक ऐसा संगठन बनाने के लिये आह्वान किया जिसकी सम्मिलित आवाज ब्रिटिश-संसद तक पहुँच सके । बड़े-बड़े आन्दोलन जनता के सहयोग के बिना तो चलाये ही नहीं जा सकते । दादाभाई ने धुँआधार प्रचार कर भारत की सोयी हुई जनता में राजनीतिक जागरण उत्पन्न किया । बड़ी-बड़ी सभायें कीं

और जनता को संगठन बनाने के लिये प्रेरित किया । दादाभाई के इन कार्यों को देखकर उसके सम्बन्धियों तथा मित्रों ने समझाया कि आप सरकारी तत्वावधान में चलने वाले कालिज में प्रोफेसर हैं । राजनीति में पड़ने पर और सरकार का विरोध करने पर आपको अधिकारियों का कोप-भाजन बनना होगा, जिसका आपकी नौकरी पर कुप्रभाव पड़ेगा । अस्तु इन सब बातों और परिणामों पर विचार करते हुए, आपको राजनीति से दूर ही रहना चाहिये ।

दादाभाई को लोगों की यह सीख जरा भी समझ में नहीं आयी । उन्होंने कहा कि प्रोफेसर होने के कारण मैं राजनीति में भाग लेने का अधिकारी नहीं हूँ, ऐसा मैं जरा भी नहीं समझता । जहाँ तक सरकार का विरोध करने का प्रश्न है, मै सरकार का विरोध कर ही कब रहा हूँ ? मैं तो उसकी उस शासन नीति का विरोधी हूँ जो न तो भारतीय जनता के हित में है और न कम्पनी सरकार के । अन्याय और अनीति का विरोध करने का हर मानव को, नैसर्गिक अधिकार है, जिसका उसको प्रयोग करना ही चाहिये । स्वार्थ की दृष्टि से अपने कर्तव्य को देखते हुए, उसके पालन करने में संकोच करना मेरी दृष्टि में बहुत बड़ी निर्बलता है जिसका स्वागत कर सकना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। मुझे राजनीतिक सुधार का आन्दोलन जाग्रत करना है, जिसे मैं करूँगा ही ।

दादाभाई के प्रचार और प्रयत्न से जनता में राजनीतिक चेतना का सूत्रपात हुआ । उन्होंने सुअवसर देख कर 'बम्बई एसोशिएशन' नाम की एक ऐसी संस्था स्थापित की; जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता के हितों की रक्षा करना और उसके सुधारो की आवाज को आवश्यक स्थानों पर पहुँचाना था । 'बम्बई एसोशिएशन' के स्थापित हो जाने पर दादाभाई ने उसकी ओर से ब्रिटिश-संसद में प्रस्तुत करने के लिए एक मसविदा तैयार किया । जिसकी मुख्य दो धारायें थीं । एक तो यह कि भारत में अँग्रेजी-शासन पद्धति प्रबुद्ध ढंग की बनायी जाये । दूसरी यह कि सिविल सर्विस और विधान-परिषदों में भारतीयों को प्रवेश करने दिया जाय ।

भारत मे राजनीतिक सुधारों के लिये दादाभाई का यह क्रान्तिकारी कदम था ! उसकी प्रतिक्रिया इंग्लैण्ड की जनता मे हुई । वहाँ के अधिकांश समाचार-पत्रों ने इन माँगों को अनाधिकार चेष्टा कह कर, उपहास और कड़ी आलोचना की । देश मे एक निराशा-सी छा गयी । पर दादाभाई निराश होने वाले व्यक्ति न थे । उन्होंने पुनः जनता में धुँआधार प्रचार करना शुरू कर दिया और जनता को बताया कि इंग्लैण्ड के कुछ लोगों के विरोध करने से निराश हो जाना ठीक नहीं । अधिकारों के लिए, आशापूर्वक संघर्ष करते रहना ही सबका कर्तव्य है । मुझे आशा ही नहीं विश्वास भी है कि अधिक दिनों तक हमारी उचित माँगों को दबाया नहीं जा सकता । सत्कर्म और सत्प्रयत्न कभी निष्फल नहीं जाते । हमें परिणाम के लिये शीघ्रता न करके अपने तन, मन, धन से प्रयत्नों में लगा रहना चाहिए । हमारा पक्ष सत्य और न्याय पथ पर आधारित है । अन्ततः हमारी जीत होगी, यह निश्चित है ।

इसी क्रम में दादाभाई ने विरोधियों को उत्तर देने और जनता में जागरण बनाये रखने के लिये एक समाचार-पत्र की आवश्यकता अनुभव की । देश में जो समाचार-पत्र उस समय प्रकाशित हो रहे थे, उनकी नीति कम्पनी सरकार को खुश रखना था । अतएव वे दादाभाई के विचारों तथा उद्देश्यों में सहयोग करने में संकोच कर रहे थे । दादाभाई इतने अमीर आदमी न थे, कि अपने पास से समाचार-पत्र निकाल सकते । उन्होंने इस पुण्य कार्य में सहयोग करने के लिये देश के धनाढ्य व्यक्तियों का आह्वान किया । दादाभाई की अपील में इतनी मार्मिकता तथा राष्ट्र-वेदना थी कि उसका अनुकूल उत्तर मिलते देर न लगी । बम्बई के कामा भाइयों ने समाचार-पत्र के लिये धन लगाने का वचन दिया । दादाभाई ने उसका लाभ उठाया और 'रास्तगुफ्तार' (सत्य वक्ता) नाम का एक समाचार-पत्र प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने केवल उस पत्र की स्थापना ही नहीं की, बल्कि उसके अवैतनिक सम्पादक भी बने । अब वे दिन में दो कालिजों का काम करते थे और रात में समाचार पत्र का सम्पादन और उसके लिये लेख भी लिखते थे ।

दादाभाई ने अपने प्रभाव के बल पर खुरशेद जी नसरवान जी कामा को इस बात के लिये राजी कर लिया कि जनता में समाचार-पत्र की प्रतियाँ मुफ्त में बाँटी जाएँ खुरशेद जी नसरवान जी कामा एक समझदार आदमी थे । उन्होंने समाज के हित में पैसे का लोभ त्याग दिया । दादाभाई ने दिन और रात एक करके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक सुधार के क्षेत्र में एक उस पादरी का आदर्श स्थापित कर दिया, जो अपने उद्देश्य के प्रचार के लिए हर गाँव में जाता था और वहाँ पर कुछ दिनों बस कर समाचार-पत्र निकालता था और उसके द्वारा समस्त मानव-जाति की मुक्ति के लिये जनता में जागरण लाता था । दादाभाई ने भी उसका आदर्श ग्रहण किया और नगर-नगर, गाँव-गाँव समाचार-पत्रों से भर दिये । उनके इस अभूतपूर्वक प्रयत्नों का फल यह हुआ कि जनता में न केवल राजनीतिक चेतना का ही प्रसार हुआ, बल्कि समाज में व्याप्त अन्ध-विश्वास, अज्ञान, अन्याय एवं रूढ़िवाद की जड़े हिलने लगीं । युगों की सोई जनता जागकर प्रबुद्ध

नागरिकता की ओर अग्रसर हो चली । दादामाई की यह एक बड़ी सफलता थी ।

दादाभाई के राजनीतिक सुधार पर लिखे लेख इतने मार्मिक और तथ्यपूर्ण होते थे, कि विरोधी तक सहमत हुए बिना न रहते थे । दादाभाई के 'रास्तगुफ्तार' ने न केवल भारत में ही नहीं अपितु इंग्लैण्ड की जनता में भी हलचल मचा दी । पहले जहाँ बम्बई एसोसिएशन की ओर से की गई सुधारों की माँग की खिल्ली उड़ाते थे, वहाँ अब बहुत से लोग इस आशय के वक्तव्य निकालने लगे-"यह समझना एक भारी भूल होगी कि भारत मे उठते हुए इस प्रकार के आन्दोलन को दबाया जा सकता है अथवा भारतीयों की उचित माँगों की उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु इससे भी बड़ी भूल समझना होगा कि भारतीयों की माँगों को स्वीकार करके ब्रिटिश उन पर एहसान करेगा । ऐसी भूल करने के बजाय यह नीति ही कल्याणकारी होगी, कि भारतीयों की माँगों पर उदारतापूर्वक विचार किया जाये, ब्रिटेन के प्रति उनके अनुराग तथा विश्वास को मान्यता दी जाये और शासन-प्रणाली में उनकी उन्नति का उद्देश्य शामिल किया जाये । यदि भारतीयों के साथ न्याय किया जाता है, उनकी स्थापनाओं को मान्यता दी जाती है, तो सम्भव है कि ब्रिटेन भारत पर एक लम्बे समय तक अपना प्रभाव तथा प्रभुत्व बनाये रख सके । शासकीय दुराग्रह के दुष्परिणाम ऐसे हो सकते है, कि जिनका प्रभाव भारत में अँग्रेजों के हित में अनिष्टकर सिद्ध हों ।"

इतना ही नहीं दादामाई के प्रचार से प्रभावित होकर जान ब्राइट, जोजेफ ह्यम और रिचर्ड कावडेन जैसे प्रबुद्ध नागरिकों ने इंग्लैण्ड में भारत की माँगों के पक्ष मे जोरदार आवाज उठायी और यहाँ तक कह डाला, कि भारत पर अँग्रेजों का शासन अनुचित है । उस पर उनका ही शासन होना चाहिये जो यहाँ के निवासी हैं । भारत विदेशियों के शासन से कभी सन्तुष्ट न होगा और होना भी नहीं चाहिये क्योंकि पराधीनता किसी भी देश के लिये अपमान की बात है । उन लोगों ने इंग्लैण्ड मे भारतीयों के हितों की रक्षा के लिये 'भारतीय सुधार समिति' नाम की एक संस्था स्थापित की और उसके द्वारा इंग्लैण्ड में नागरिक आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया । जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश संसद को भारतीयों के बहुत से अधिकार मानने पड़े । दादाभाई के प्रयत्नों की यह एक और बड़ी सफलता थी । जिसने उन्हें भारतवर्ष में ही नहीं, इंग्लैण्ड में भी प्रभावपूर्ण ख्याति का अधिकारी बना दिया ।

अपनी इन सफलताओं के आधार पर दादामाई ने गम्भीरतापूर्वक विचार कर यह निष्कर्ष निकाला, कि यदि जी-जान से जुट कर प्रयत्न किया जाये तो भारत को विदेशी राज्य से मुक्त कराया जा सकना असम्भाव्य नहीं है । उन्होंने अपने इस निष्कर्ष को हृदयंगम कर उसी के प्रकाश में आने का कार्यक्रम बनाया और चाहा कि यदि उनको इंग्लैण्ड में अपना कार्यक्षेत्र बनाने का अवसर मिल जाये तो भारत को स्वाधीनता की ओर इंग्लैण्ड को उसके समर्थन की ओर अग्रसर करना आसान हो जायेगा । 'जहां चाह, वहाँ राह'- दादाभाई को जल्दी ही ऐसा अवसर मिल गया । कामा भाइयों ने इंग्लैण्ड में अपने व्यापार की एक शाखा खोलने का विचार किया और चाहा कि दादाभाई वहाँ उनके साझीदार होकर चले जायें । दादाभाई ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और वे जल्दी ही इंग्लैण्ड चले गये, किन्तु जाने से पूर्व वे अपने समाचार-पत्र 'रास्त गुफ्तार' का दायित्व एक सिंडीकेट को सौंप कर इंग्लैण्ड से सहयोग करते रहने का वचन देते गये ।

इंग्लैण्ड मे पहुँच कर दादाभाई सारा समय व्यापार मे ही नहीं लगाते थे । व्यापारिक कामों में आवश्यक समय देने के बाद वे शेष सारे समय में देशहित के काम किया करते थे । सबसे पहले दादाभाई ने इंग्लैण्ड में एक ऐसा छात्रावास स्थापित किया, जिसमें सिविल सर्विस तथा अन्य ऊँची परीक्षायें देने के लिये जाने वाले भारतीय छात्र एक साथ एक स्थान पर रहने और दादाभाई से राष्ट्रीय हित की शिक्षा एवं प्रकाश पाने लगे ।

अपने प्रवास काल में दादा भाई ने इंग्लैण्ड के सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं ग्लैडस्टन, काण्डेन, ब्राइट, हर्बर्ट स्पेन्सर और कार्लाइल आदि के साथ सम्पर्क स्थापित कर, उनके कार्यों में ईमानदारी से हाथ बटा कर उनकी सद्‌भावना प्राप्त कर ली । अपनी योग्यता, ईमानदारी और ब्रिटिश जनता की सेवा के फलस्वरूप दादाभाई इंग्लैण्ड की जनता में केवल लोकप्रिय ही नहीं हो गये बल्कि उसके विश्वासपात्र भी बन गये ।

इसी बीच अफीम के व्यवसाय और कतिपय व्यापारिक अनैतिकताओं के कारण दादाभाई का कामा भाइयों से विरोध हो गया । उन्होने उनका साथ छोड़ कर कपास का अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करना प्रारम्भ कर दिया और जल्दी ही अपनी साख बाजार में जमा ली । समाज-सेवा और व्यापारिक सम्बन्धों ने दादाभाई को इंग्लैण्ड में इतना महत्त्वपूर्ण बना दिया कि वे भारत के औपचारिक राजदूत माने जाने लगे और पार्लियामैण्ट में उनकी आवाज के अर्थ लगाये जाने लगे । दादाभाई ने ब्रिटिश जनता की स्वतन्त्र मनोवृत्ति तथा उसकी जागरुकता से यह अच्छी तरह समझ लिया कि इंग्लैण्ड का वास्तविक शासन जनता के हाथ में

है। यदि उसको भारत के पक्ष में किया जा सके तो निश्चय भारतीय स्वाधीनता के बीज पल्लवित किए जा सकते हैं। निदान उन्होंने अपनी सारी योग्यता, सारा पैसा, सारा प्रभाव और सारा सम्पर्क न केवल इंग्लैण्ड ही, बल्कि स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड आदि उसके भाग-विभागों की जनता को भी भारत के पक्ष में जगाना शुरू कर दिया। उनके प्रयत्न सफल हुए और ब्रिटिश जनता भी भारतीय माँगों के पक्ष में खड़ी होने लगी।

ग्रेट ब्रिटेन का पक्ष पा जाने पर भी दादाभाई का उद्देश्य पूरी तरह सिद्ध नहीं हुआ था। पार्लियामेण्ट में जनता की आवाज पर ठीक से ध्यान नहीं दिया जाता था। ब्रिटिश शासन तन्त्र के स्तम्भ अपनी पुरानी चाल पर ही चले जा रहे थे। एक तो भारत के हितकर प्रस्ताव संसद में रखे नहीं जाते थे और यदि रखे जाते थे, तो उन पर ठीक से विचार नहीं किया जाता था। निदान दादाभाई ने अनुभव किया कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट मे उनका अपना कोई प्रतिनिधि होना आवश्यक है, अस्तु वे इंग्लैण्ड मे एक चुनाव क्षेत्र बनाने में संलग्न हो गये। उन्होंने डब्ल्यू बनर्जी को साथ लेकर 'लन्दन इण्डियन सोसाइटी' नामक एक और संस्था स्थापित की। इस संस्था के सहयोग से उन्होंने ब्रिटिश जनता की अभूतपूर्व सेवा की, जिसके फलस्वरूप हालवर्न निर्वाचन क्षेत्र की जनता ने स्वयं उन्हें ही ब्रिटिश संसद के उम्मीदवार की हैसियत से खड़ा किया। किन्तु इस बार वे सफल न हो सके, तथापि वे निराश न हुए और अगले चुनाव की तैयारी करने लगे। उन्होंने अगले चुनाव के लिये फिंसबरी निर्वाचन क्षेत्र चुना और अपने साथियों तथा सहयोगियों की सहायता से प्रचार में संलग्न हो गये। वे घर-घर मतदाताओं से मिलने जाते, उनसे भेंट करते। सभायें बुलाते और उसमें भाषण देते। उन्होंने चुनाव के बहुत पहले से ही मतदाताओं से सम्पर्क बनाए रखा और अपने दृष्टिकोण को उनके सामने रखा। मतदाताओं ने दादाभाई की योग्यता और उनके निर्वाचन उद्देश्य को अच्छी तरह समझ लिया। इतना ही नहीं, उनकी सहायता के लिये एक निर्वाचन समिति भी बनाई गई और संगठित रूप से काम किया गया। इसका फल यह हुआ कि वे उस क्षेत्र से अपने विरोधी उम्मीदवार कैप्टन पेटन को हरा कर सफल हो गये। दादाभाई की इस सफलता में जहाँ उनके ब्रिटिश मित्रों की सहायता का बहुत हाथ था, वहाँ उनके उस चुनाव घोषणा पत्र का भी महत्त्व कम नहीं था, जो उन्होंने जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया था और जिसकी घोषणाओं को वे बहुत पहले से कार्यों में प्रकाशित करते आ रहे थे। वह घोषणा-पत्र इस प्रकार था—

"आयरलैण्ड का स्वशासन, लन्दन की काउन्टी कौंसिल के लिए म्युनिसिपैलिटी के पूर्ण अधिकार, जनता के हित में दातव्य धनराशि का उपयोग, काउन्टी कौंसिल में स्त्रियों की सदस्यता, स्थायी सार्वजनिक सुधार के लिये चल सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा धन का दान, खाली जमीनों पर म्यूनिसिपिल कराधान, पारिश और जिला कौंसिलों में प्रतिनिधित्व का सवाल, स्थानीय शराब की दुकानों को बन्द कराने का स्थानीय जनता को अधिकार, कारखाना अधिनियमों का विस्तार, खाद्य-पदार्थों पर कर समाप्ति, तीन-सौ पौण्ड से अधिक आय पर क्रमागत कर निर्धारण, कम खर्च वाली औद्योगिक अदालतों की स्थापना और मजदूरों के तमाम प्रश्नों को न्याय और सद्भावना की दृष्टि से सुलझाने की चेष्टा तथा भारतीय सुधार की समस्या।"

सामान्यतः लोगों ने अनुमान लगाया कि दादाभाई ब्रिटिश-संसद के सदस्य हो जाने के बाद देश की सारी समस्याएँ भूल जायेंगे और ब्रिटिश-संसद के धुरन्धर अंग्रेजों के प्रभाव मे आकर उनके स्वर में स्वर मिला कर अपनी स्थिति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा में लग जायेंगे, किन्तु लोगों का यह अनुमान सर्वथा गलत निकला। दादाभाई पद-पिपासु राजनीतिज्ञ नहीं थे और न वे उन देश-भक्तों में से थे, जिनकी देशभक्ति साध्य न होकर किसी स्थिति विशेष की साधना होती है, जबकि अधिकार अथवा प्रभावपूर्ण स्थिति देश-भक्ति को चरितार्थ करने के लिये एक साधन मात्र होनी चाहिये। दादाभाई इस परिस्थिति में भी साधन और साध्य का अन्तर न केवल जानते ही थे, बल्कि उसके उपयुक्त प्रयोगों में विश्वास भी रखते थे।

ब्रिटिश-संसद में जाकर दादाभाई न बिके, न प्रभावित हुए और न ध्येय भ्रष्ट। देश के जिस हित के लिए उन्होंने ब्रिटिश-संसद की सदस्यता स्वीकार की, उसी में सारी शक्ति के साथ लग गये। उसका प्रमाण उनके उस भाषण से ही मिल जाता है, जो उन्होंने सदन में पहली बार दिया था। उन्होंने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा था—

"मैं भारत के नाम पर आप सबके सम्मुख ब्रिटिश शासकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये और इस बात के लिये धन्यवाद देने को खड़ा हुआ हूँ, कि उन्होंने मुझे एक भारतीय होने पर भी एक ऐसा मार्ग दिया है, जिस पर चलकर मैं भारत की ओर से उसकी कठिनाइयों, शिकायतों और समस्याओं को रख सकूँ और आशा कर सकूँ कि उसका समर्थन करने वाले सदस्य बड़ी संख्या में मिल जायेंगे।"

यद्यपि दादाभाई का यह प्रथम भाषण देखने मे बड़ा सरल और विनम्रतापूर्ण विदित होता है, किन्तु इसके भीतर जो उनकी भविष्यत् भावनाओं का तेज और ब्रिटिश संसद

के विरोध की सम्भावना सन्निहित थी, उसको कोई भी मर्मज्ञ व्यक्ति अच्छी तरह से समझ बूझ सकता है और निस्सन्देह दादाभाई का तेजस्वी स्वरूप ब्रिटिश-संसद में प्रगट होने लगा । उन्होंने भारतीय मामलों में ब्रिटिश सरकार अथवा भारतीय सरकार के हर अन्यायी कदम को रोकना, टोकना शुरू कर दिया । उदाहरण के लिये उनका उस समय का वक्तव्य सामने लाया जा सकता है, जो उन्होंने उस समय संसद में दिया था, जब मौद्रिक ह्रास के फलस्वरूप सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों के वेतन में आ गई कमी को पूरा करने के लिये उनको मुआवजा दिये जाने की पेशकश की जा रही थी । दादाभाई ने भारत के वायसराय की इस सिफारिश की कड़ी आलोचना करते हुए जोरदार शब्दों में कहा था--

"अफसरों को मुआवजा देने के पक्षपातियों को यह बात सूझ ही नहीं पड़ रही है कि इसका एक दूसरा पहलू भी है मुद्रा-मूल्य में गिरावट के फलस्वरूप भारत की गरीब जनता की क्या दशा होगी ? उन लोगों के लिये, मैं देख रहा हूँ कि किसी के पास सहानुभूति का लेशमात्र भी नहीं है, जिनकी सेवा से मुआवजे की रकम निकाली जायगी । इसीलिये मैं तो कहता हूँ, कि भारत के लिये विदेशी सरकार का जुआ किसी भी जुए से कहीं अधिक भारी तथा हानिकारक है ।"

इतना ही नहीं दादाभाई ने भारत की घोर गरीबी का यथार्थ चित्र संसद में उपस्थित किया और उसके बाद भारत से इंग्लैण्ड की ओर बहाये जाने वाले भारतीय धन के प्रश्न को लेकर दहाड़ उठे-- "आप जरा तो अपने दिल और दिमाग से काम लें और न्याय-बुद्धि से सोचकर देखें कि आखिर इस मुआवजे की रकम आयेगी कहाँ से ? जब भारत का वायसराय मुआवजा दिलाने पर तुला ही है और उसकी राय पर हाँ में हाँ-- की नीति अपनाई जा रही है तो उस प्रश्न पर किसी समिति को नियुक्त करने से क्या लाभ ? ऐसा शायद ही कोई उदाहरण मिल सके, जिसमें किसी ऐसे प्रसंग पर विचार करने के लिये कोई कमीशन नियुक्त हुआ हो और कमीशन ने इस ढंग से अथवा इस दृष्टि से निर्णय किया हो, जिसे तटस्थ निष्पक्ष अथवा निरपेक्ष कहा जा सके । कृपा करके भारत की गरीब जनता पर अनावश्यक अतिरिक्त कर थोपने की अभिसन्धि से बाज आकर मानवता का महत्त्व स्थापित करें ।"

इस प्रकार ब्रिटिश संसद में दादाभाई ने कदम-कदम पर भारत में अँग्रेजी राज्य, उसकी गलत नीति और उसकी समर्थक इंग्लैण्ड की सरकार को सख्ती से हर उस प्रस्ताव से रोकने का भरसक प्रयत्न किया जो भारतीयों के हित में हानिकारक हो सकता था । उन्होंने भारत की गरीबी, उसके कारणों और निवारण आँकड़ों के साथ ऐसे सारगर्भित भाषण दिए कि न केवल संसद के ही की कान खड़े हो गये, बल्कि इंग्लैण्ड की जनता की दृष्टि में भारत में अँग्रेजी शासन और उसकी रीति-नीति ग्रेट-ब्रिटेन के गौरव के विरुद्ध अनुभव होने लगी । साथ ही उसका बल पाकर भारत में स्वाधीनता के अंकुर उभर पड़ने के लिये अन्दर ही अन्दर कसमसाने लगे । बाम्बे एसोसियेशन, ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन आदि राजनीतिक एवं नागरिक संस्थाओं द्वारा भारतीय स्वाधीनता की भावनाएँ जल्दी ही काँग्रेस के रूप में बोलने लगीं ।

दादाभाई ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना का स्वागत किया और पूरे हृदय से यह मानकर कि-- हाँ यह संस्था भारत की स्वाधीनता के लिये एक बड़ा साधन सिद्ध होगी, अपनी पूरी आत्मा से उसके समर्थन एवं विकास में लग गये । उन्होंने इंग्लैण्ड की जनता और वहाँ के राज तथा जन नेताओं को न केवल काँग्रेस का महत्त्व ही स्वीकार कराया, बल्कि यह विश्वास दिलाकर कि भारत की यही एकमात्र सच्ची राजनीतिक संस्था है, उसकी बात सुनने और उस पर विचार के लिये मजबूर कर दिया । दादाभाई की इस सफलता को यदि भारतीय स्वाधीनता का सूत्रपात कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी और निस्सन्देह इन्हीं प्रयत्नों के आधार पर उन्हें भारतीय स्वाधीनता का जनक कहा जाता है गलत नहीं है ।

दादाभाई जब तक इंग्लैण्ड में रहे, काँग्रेस से सम्बन्ध बनाये रहे और विदेश में रहकर भी उसके विकास के लिये प्रयत्न करते रहे । बहुत बार ये काँग्रेस का अध्यक्ष पद सम्भालने के लिये अनुरोधपूर्वक बुलाये और उस पद पर प्रतिष्ठित किये गये । जब-जब दादाभाई ने काँग्रेस का अध्यक्ष-पद सम्भाला तब-तब उसे एक नया जीवन, नूतन दिशा और विशेष बल प्रदान करते रहे । दादाभाई ने अपनी योग्यता, प्रभाव तथा देश-भक्ति के बल पर काँग्रेस में ऐसे अक्षय प्राण भर दिये, कि वह प्रचण्ड आँधी-तूफान और गोला-बारूद के बीच भी अपना सतेज अस्तित्व बनाये रही और एक दिन भारत को स्वाधीन बनाकर दादाभाई का स्वप्न सच्चा कर दिया ।

इस प्रकार यदि दादाभाई के सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टि डाली जाये तो पता चलेगा कि, उन्होंने अपने दीर्घ जीवन मे जितना सम्मान, जितनी ख्याति और अविरल सेवाओं का जितना पुण्य अर्जित किया, उतना संसार में बिरले लोग ही अर्जित कर सके हैं । उन्हें अभिनव भारत के पितामह, भारतीय स्वाधीनता के जनक और भारत के वयोवृद्ध

महापुरुष आदि के अन्दर सूचक जिन सम्बोधनों के साथ स्मरण किया जाता है वह सर्वथा उचित तथा सत्य ही है।

जून १६१७ में जब लगभग तिरानवे वर्ष की आयु में दादाभाई ने स्वर्गारोहण किया, तब तक वे भारत और भारतीय जनता की इतनी सेवा कर चुके थे कि ब्यौरा एक ग्रन्थ की सामग्री बन सकता है। अपने जीवन काल में उन्होंने जो स्वाधीनता के बीज आरोपित किये थे यद्यपि वे तब तक पूरी तरह वृक्ष तो जरूर न बन पाये थे तथापि उनका अंकुर देख सकने का अवसर उन्हें मिल चुका था। किन्तु भारत को जिस पथ पर चला कर वे छोड़ गये थे, वह पथ तो सधा और सरल पथ था। जिस पर चलते रहकर भारत अपने अभीष्ट लक्ष्य स्वाधीनता को प्राप्त कर सका है। उन्होंने राजनीति में जिस सत्य और अहिंसा का अवलम्बन किया था उसको आजीवन निभाहा। उन्होंने किसी भी लाभ के लिये असत्य अथवा हिंसा का समर्थन कभी नहीं किया। यही कारण था कि जिस समय भारत के कुछ लोगों ने राजनीतिक सफलता के लिये हिंसा का अवलम्बन ग्रहण किया, दादाभाई को गहरा आघात लगा। उन्होंने कहा था–

"मेरा निवेदन है कि प्रत्येक हिंसात्मक उपाय से बचा जाए। हमारी शिकायतें अनेक हैं। अनिवार्य सुधारों के लिये आवश्यक प्रयत्नों और आत्मत्याग द्वारा शान्तिपूर्वक ढंग से, धैर्यपूर्वक और लगन के साथ संघर्ष जारी रखिये। बिना किसी भय अथवा संकोच के ब्रिटिश राष्ट्र के अन्तःकरण में अपनी माँग तथा अधिकारों की प्रेरणा भरते रहिये। यद्यपि अँग्रेजों ने हमें गुलाम बनाया हुआ है, तथापि मानवता के नाते उनसे मित्रता का भाव रखते हुये अपने ध्येय की ओर बढ़ते जाइये और इस प्रकार भारतीय चरित्र की उत्कृष्टता की छाप संसार पर छोड़िये। जो लोग हिंसा का रास्ता अपना रहे हैं, वे अपने महान् ध्येय को गहरी क्षति पहुँचा रहे हैं।"

दादाभाई को अपनी निर्विकार नीति में पूरा विश्वास था और जब वे इस संसार से विदा हुये तो एक ऐसे महान् व्यक्ति को मन्त्र देकर गये जो उनकी नीति का ठीक-ठीक उत्तराधिकारी था और वह महान् व्यक्ति थे, महात्मा गाँधी। जिन्होंने उनकी सत्य और अहिंसा की नीति को आगे बढ़ाकर भारत को उसकी स्वाधीनता तक पहुँचा दिया।

दादाभाई, जो कि अपने पिता के नाम के साथ दादाभाई नौरोजी के नाम से प्रसिद्ध हैं, को जितना भारतीयों ने समझा और सम्मान दिया उससे कम अंग्रेजो ने भी नहीं समझा। जिसका प्रमाण इंग्लैण्ड के श्री वर्डउड के उस पत्र से हो जाता है, जो उन्होंने 'टाइम्स आफ इण्डिया' के लन्दन स्थित प्रतिनिधि को लिखा था-

"दादाभाई नौरोजी उन लोगों में से थे, जिनको किसी भी विषय का ज्ञान सम्पूर्ण ही होता है और जो तब तक जीवित रह सकते हैं जब तक जीवन की आकाँक्षा का स्वयं ही त्याग न कर दें। जब भी मैं उनसे मिला उन्होंने कभी अपने विषय में कोई बात नहीं की। उन्होंने सदैव ही अपने कार्यों के विषय में बात की, सो भी न भूत काल की और न भविष्यत् की, केवल वर्तमान काल की। वे हर बात को ही स्पष्ट और गम्भीर ढंग से रुचिपूर्वक किया करते थे। उनके साथ बात करने पर ऐसा लगता था कि मृत्यु हो जाने पर भी दादाभाई नौरोजी नहीं मरेंगे। केवल उनका पार्थिक शरीर ही मरेगा। वे सदा-सर्वदा के लिये अजर-अमर ही रहेंगे।"

भारतीय समाज और भारतीय राष्ट्र की सेवा में दादाभाई ने कितना योग दिया इसका अनुमान कर सकना कठिन है। कारण यह है कि उनकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त शान्तिपूर्ण, स्थायी और प्रदर्शन रहित थी। आजकल तो उनकी श्रेणी के नेताओं का सर्वथा अभाव ही हो गया है। अब जो कोई राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है, वह तो महत्त्वाकाँक्षा लेकर ही आगे कदम बढ़ाता है। कितने ही व्यक्ति 'नेतागीरी' का अर्थ स्पष्टतया किसी लाभ पर दृष्टि रखना ही समझते हैं। यही कारण है कि आज सभी दलों के अधिकांश नेताओं की ईमानदारी के सम्बन्ध में शिकायतें ही सुनने में आती हैं और उनमें से जितने सत्ता प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, उन पर, दो-चार को छोड़कर भ्रष्टाचार द्वारा बड़ी-बड़ी जायदादें खड़ी कर लेने का इल्जाम अवश्य ही लगाया जाता है।

ऐसे अवसर पर दादाभाई जैसे निःस्वार्थ नेता की स्मृति बरबस हो आती है। एक आजकल के नेता हैं जो रुपये की खातिर बदनामी, निन्दा, अपमान तक की परवाह नहीं करते और एक दादाभाई थे, जिन्होंने अपनी कमाई का रुपया लगाकर देश-हित की योजनाओं को साकार रूप दिया। वे जीवन-निर्वाह के लिये व्यापारिक क्षेत्र में काम करते थे और उसी में से समय और धन बचाकर जहाँ जैसी आवश्यकता जान पड़ती थी, उसी प्रकार सहायता करते थे।

भारत की गरीबी से वे बड़े व्यथित होते थे। उन्होंने इंग्लैण्ड और भारत दोनों जगह आन्दोलन करके जनता को यह समझाने की चेष्टा की कि भारत की जनता गरीबी के कारण दुःख पा रही है और इसकी जिम्मेदारी सरकार के ऊपर है। इसी उद्देश्य को लेकर वे इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट

की सदस्यता के लिये खड़े हुये और बड़ा परिश्रम करके उसमें सफलता प्राप्त की । पार्लियामेण्ट में जाकर उन्होंने अपने स्वार्थ की पूर्ति का कोई उपाय नहीं किया, वरन् वे निरन्तर भारत के गरीबी की बुरी हालत की तरफ ब्रिटिश जनता का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करते रहे । उन्होंने बताया कि भारत की धनहीन प्रजा से उसकी हैसियत की अपेक्षा बहुत अधिक कर वसूल किया जाता है, जिससे उसकी स्थिति दिन पर दिन गिरती जाती है । उन्होंने कहा कि "भारत में अँग्रेजी राज्य के परिणाम स्वरूप जो कुछ हो रहा है, उससे तो उसकी सभ्यता के नाम पर धब्बा ही लग रहा है । अगर कोई यह कहता है कि अँग्रेज या अन्य योरोपीय जातियाँ एशियाई जातियों से किसी दृष्टि से श्रेष्ठ है तो यह कदापि ठीक नहीं है । भारत में अँग्रेजी राज्य बहुत कुछ अन्याय पर आधारित है । अँग्रेजी राज्य की खराबियाँ तभी दूर हो सकती हैं, जब वह भारतवासियों को स्वशासन का अधिकार सौंप दें ।

दादाभाई के चरित्र से हम जो सबसे बड़ी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, वह यही है कि मनुष्यों को परोपकार तथा लोक-कल्याण के कार्य निःस्वार्थ भावना रखकर ही करने चाहिये । जो लोग सार्वजनिक सेवा के नाम पर अपना प्रभाव तथा शक्ति बढ़ाकर आर्थिक या सत्ता सम्बन्धी लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं, उनकी बातों पर और नेकनीयती पर विश्वास नहीं किया जा सकता । इससे वे देश और जाति का अनहित तो करते ही हैं, क्योंकि अविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाने से राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर पड़ जाता है, पर साथ ही उसका भी भला नहीं होता । वे एक-दो बार धोखा-धड़ी से काम भले ही निकाल ले और कुछ रुपया कमा ले या किसी बड़े पद या अधिकार को हथिया लें, पर अन्त में ऐसे व्यक्तियों की कलई खुल ही जाती है और वे पहले से भी बुरी स्थिति में पहुँच जाते हैं।

वर्तमान जगत के युग-पुरुष महात्मा गाँधी

सन् १९१३ में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा के लिये गाँधी जी उस देश की सरकार से कठिन संघर्ष कर रहे थे । यह झगड़ा यद्यपि वर्षों से चल रहा था, पर अब एक प्रकार से उसके निबटारे का समय आ गया था । इसलिये उस देश के प्रधान शासक जनरल स्मट्स के साथ गाँधी जी की समझौते की बातें चल रही थीं और उसके लिये वे प्रिटोरिया जाने वाले थे । उस अवसर पर दीनबन्धु एण्डरूज भी वहाँ उपस्थित थे और समझौते के कार्य में सहायता देने के लिये, वे भी गाँधी जी के साथ चलने को तैयार हो गये । ये दोनों शाम के चार बजे डरबन के स्टेशन पर पहुँचे । वहाँ के अंग्रेज स्टेशन मास्टर ने इनको देखते ही पूछा-- "हलो गाँधी ! हाउ थिंग्स गोइंग विद यू" (कहो गाँधी ! क्या हाल-चाल है ?) गाँधी जी ने कहा- "मैं रात को आठ बजे वाली 'काफिर एक्सप्रेस' से प्रिटोरिया जा रहा हूँ, जनरल स्मट्स ने बात-चीत के लिये बुलाया है ।" स्टेशन मास्टर कहने लगा-- "अच्छा हो कि आप "काफिर एक्सप्रेस" के बजाय अभी ५ बजे जाने वाली "योरोपियन-मेल" से चले जायें । आज रात १२ बजे से रेल वालों की जनरल हड़ताल होने वाली है । अगर आप "काफिर एक्सप्रेस" से जायेंगे तो कहीं बीच में ही पड़े रहेंगे, प्रिटोरिया पहुँचना असम्भव हो जाय ।" इस पर वे दोनों योरोपियन मेल से ही चल दिये । स्टेशन मास्टर की बात बिल्कुल ठीक निकली । "काफिर एक्सप्रेस" बीच में ही कहीं रुक गई और उसके बाद १५ दिन तक देश में कोई रेल चली ही नहीं ।

प्रिटोरिया में सबसे पहले गाँधी जी "प्रिटोरिया न्यूज" नामक पत्र के सम्पादक से मिलने गये तो उसने पूछा-- "क्या हिन्दुस्तानी लोग इस जनरल हड़ताल में भाग लेंगे ?" गाँधी जी ने कहा-- "नहीं, हर्गिज नहीं । हम गवर्नमेण्ट की कठिनाई से अनुचित लाभ उठाना नहीं चाहते । हम न्यायपुक्त युद्ध करना चाहते हैं, इसलिये जब तक हड़ताल जारी रहेगी हम अपना सत्याग्रह संग्राम प्रारम्भ नहीं करेंगे।" सम्पादक ने पूछा--"क्या मैं आपकी इस बात को अखबार में छाप दूँ ।" गाँधी जी ने छापने से इन्कार कर दिया । फिर सम्पादक ने यह समाचार सुनाया कि रेल वालों की हड़ताल बड़ी भयंकर है और दस-बारह घण्टे के भीतर ही देश भर में "मार्शल्ला" (फौजी कानून) लागू कर दिया जायगा ।" यह सुनकर एण्डरूज साहब को बड़ी चिन्ता हुई और गाँधी जी से कहा-- "आप सत्याग्रह स्थगित होने की बात को इसी समय छप जाने दीजिये । अन्यथा "मार्शल्ला" जारी होने के पश्चात् जब हिन्दुस्तानी यह कहेंगे कि हम जनरल हड़ताल में भाग नहीं लेंगे, तो गवर्नमेण्ट यही समझेगी कि वे "मार्शल्ला" के भय से ही ऐसा कर रहे है। उस समय वह हर्गिज यह नहीं मानेगी कि आपने सद्भाव बुद्धि से प्रेरित होकर यह कार्य किया है ।" बहुत कहने-सुनने पर गाँधी जी इसके लिये राजी हुये और सम्पादक ने उनका "इन्टर व्यू" लेकर भारतीयों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया ।

दूसरे दिन जनरल स्मट्स से समझौते की बातचीत शुरू हुई । पर हड़ताल के कारण देश में बड़ी अशान्ति फैल गई थी और उसके कारण शान्ति रक्षा के लिये "स्मट्स" को

बहुत अधिक व्यस्त रहना पड़ता था । गाँधी से बात-चीत करने का उनको बहुत कम अवसर मिलता था । इसलिये समझौते का कार्य धीरे-धीरे ही अग्रसर हुआ । इसी बीच गाँधी जी के पास तार आया कि "आपकी पत्नी अत्यन्त बीमार हैं और वह अन्त समय में आपको देखना चाहती हैं ।" समस्या बड़ी कठिन थी । इधर देश का महत्वपूर्ण कार्य, उधर पत्नी का मरणासन्न होना । फिर भी गाँधी जी ने कर्तव्य-पालन को मुख्य समझ कर यही उत्तर दिया "यहाँ पर आवश्यक काम है, अभी मैं नहीं आ सकता ।" श्री एण्डरूज को इससे बड़ी व्यथा हुई और वे गाँधी जी से बिना पूछे ही "स्मट्स" के पास पहुँचे और यह खबर उनको बता दी ।

इस घटना का प्रभाव जनरल पर भी बहुत अधिक पड़ा और वे अन्य कामों को रोक कर शीघ्र ही समझौता करने में लग गये । यद्यपि परिस्थिति बड़ी कठिन थी और गाँधी जी न्याय और सत्य का प्रश्न उठने पर किसी भी हानि की चिन्ता नहीं करते थे, फिर भी एण्डरूज साहब के उद्योग से जनरल स्मट्स मान गये और समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये गये ।

महात्मा गाँधी (सन् १८६६ से १६४८) आजीवन इसी प्रकार सत्य और कर्त्तव्य पालन के लिये प्रयत्नशील रहे और इसके लिये कष्ट सहने की तो क्या बात, अनेक बार प्राणों की बाजी लगाते रहे । उनके पिता कर्मचन्दजी और माता पुतलीबाई भी बड़े कर्त्तव्यनिष्ठ और धर्म परायण वैष्णव थे और उनके चरित्र का प्रभाव उन पर आरम्भ से ही पड़ा । इसलिये स्कूल में भी जहाँ अन्य लड़के तरह-तरह की चालाकियों से काम लेते थे, वे अपनी सत्यनिष्ठा का परिचय देते रहे । एक बार परीक्षा देते समय सब लड़कों ने एक दूसरे की नकल करके सब प्रश्न ठीक हल कर दिये, पर मोहनदास (गाँधी जी) ने अध्यापक के प्रेरणा देने पर भी वैसा नहीं किया और फलस्वरूप उनका एक प्रश्न गलत हो गया । मैट्रिक की परीक्षा दे लेने के बाद विलायत जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा पास करने का निश्चय हुआ । घर के अन्य लोग तो इससे बहुत प्रसन्न हुए कि घर का एक व्यक्ति इतना बड़ा दर्जा पा जायगा, पर माताजी जल्दी राजी न हुईं । उन्होने सुन रखा था कि विलायत मे खान-पान का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता, इसलिये मनुष्य "धर्म भ्रष्ट" हो जाता है । जब "मोनिया" गाँधीजी ने बहुत आग्रह किया तो माता ने कहा कि यदि तुम मेरे सामने तीन बातों की प्रतिज्ञा करो तो मैं अनुमति दे सकती हूँ । वे प्रतिज्ञायें है- (१) कभी माँस न खाना (२) मद्यपान न करना (३) पराई स्त्री से व्यभिचार की बात मन में न लाना । गाँधी जी ने माता के सामने उक्त प्रतिज्ञायें कर लीं, आगामी जीवन में ये प्रतिज्ञायें ही उनके लिये "ढाल" बन गईं । विलायत में अध्ययन करते समय और बाद में भी इनको तोड़ने के कई गम्भीर और लुभावने अवसर उनके सामने आये, पर वे "माता की प्रतिज्ञा" का ध्यान रख कर उनमें गिरने से बच गये ।

गाँधी जी का वास्तविक जीवन संघर्ष सन् १८६३ से आरम्भ होता है, जब डेढ़ वर्ष तक बम्बई और राजकोट में बैरिस्टरी के धन्धे में सफलता प्राप्त न होने पर, वे एक भारतीय व्यापारी के मुकदमे की पैरवी करने दक्षिण अफ्रीका गये । वहाँ अदालती काम तो उनको थोड़ा ही करना पड़ा, पर भारतवासी होने के कारण कदम-कदम पर उनको अपमान-जनक व्यवहार सहन करना पड़ा, जिससे उनकी आँखें खुल गईं । वहाँ के गोरे सभी भारतवासियों को कुली-मजदूर मानते थे और इसलिये गाँधी जी को "कुली बैरिस्टर" के नाम से पुकारते थे । केवल भारतवासी होने के कारण ही फर्स्ट क्लास का टिकिट होने पर भी उनको उसमें चढ़ने से रोका गया और उनका सामान प्लेटफार्म पर फेंक दिया गया, होटल में ठहरने को जगह न मिल सकी, सरकारी कार्यालय से चपरासी ने बाहर निकाल दिया । इस प्रकार की अनेक घटनाओं से उनको प्रतीत हुआ कि, यहाँ पर हमारे देशवासियों को कितने अन्याय और असुविधायें सहन करनी पड़ रही हैं । कुछ मित्रों के आग्रह से उन्होंने वहीं रह कर इस अन्याय के प्रतिरोध का निश्चय कर लिया।

परिणाम यह हुआ कि बीस वर्ष तक गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका के स्वार्थी और क्रूर गोरों से जूझते रहे । अपनी धार्मिक प्रवृति और वहाँ के प्रवासी भाइयों की स्थिति को ध्यान में रखते हुये उन्होंने लड़ाई का एक नया ही तरीका निकाला । तब तक राजनीतिक आन्दोलनों में प्रायः शक्ति और हिंसा का प्रयोग किया जाता था । पर गाँधीजी ने अपने आन्दोलन का नाम "सत्याग्रह" रखा । उन्होने कहा कि हम सरकार की किसी भी अन्याययुक्त आज्ञा का पालन नहीं करेंगे और इसके फलस्वरूप जो भी जेल, मारपीट, लूटमार आदि आपत्तियाँ हमारे ऊपर आयेंगी उनको शान्तिपूर्वक सहन करेंगे । उनका विश्वास था कि, इस प्रकार सत्य और अहिंसा का अवलम्बन करने से निष्ठुर व्यक्ति का भी हृदय पसीज जाता है और वह अन्याय से पीछे कदम हटा लेता है । वास्तव में गाँधी जी का यह सत्याग्रह-संग्राम संसार के लिये एक अद्भुत दृश्य था । एक तरफ नृशंस गोरे डण्डा, गोली और जेलखानों द्वारा वर्वरता का प्रदर्शन कर रहे थे और दूसरी तरफ हजारों निहत्थे भारतीय पुरुष-स्त्री, बच्चे

राम-नाम लेते हुये मार खा रहे और जेल जा रहे थे । उनमें से अनेक मर भी गये । पर उनका बलिदान व्यर्थ नहीं गया इन समाचारों से भारत में तो तुमुल आन्दोलन छिड़ ही गया और भारतीय नेताओं से लेकर तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिञ्ज तक ने इन गोरे अत्याचारियों की भरपूर निन्दा की। साथ ही समस्त सभ्य संसार मे दक्षिण अफ्रीका वालों की आलोचना होने लगी और सब ने उनके व्यवहार को भर्त्सना योग्य कहा ।

अन्त में इंग्लैण्ड की ब्रिटिश सरकार का आसन भी हिल गया और उसके दबाव से दक्षिण अफ्रीकन शासकों को अपनी बहुत-सी अनुचित और अवैध आज्ञायें वापस ले लेनी पड़ीं । गाँधी जी को विमल-विजय प्राप्त हुई और उनका नाम संसार के कोने-कोने में एक महा-मानव के रूप में प्रसिद्ध हो गया । संसार के हजारों मनीषियों ने बड़े प्रशंसनीय शब्दो में उनका गुणगान किया । फ्रांस के जगत प्रसिद्ध दार्शनिक "रीमा रोलां" ने मुक्त कण्ठ से घोषित किया "महात्मा गाँधी का नाम सदैव उस श्रेणी में लिखा जायेगा, जो मनुष्य मात्र को सुखी बनाने में अपने जीवन *का बलिदान करते है ।"*

भारतवर्ष का स्वाधीनता-संग्राम

दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों की समस्या का तत्कालीन हल हो जाने पर महात्मा जी ने अपना कार्य क्षेत्र भारत को बनाने का विचार किया । इसके अतिरिक्त सत्याग्रह आन्दोलन मे वर्षो तक बहुत अधिक परिश्रम करने और सरकार द्वारा तरह-तरह का निर्यातन सहन करने के फलस्वरूप आपका स्वास्थ्य भी निर्बल पड़ गया था । यह देख कर आपके मित्रों ने आपको भारत जाकर कुछ समय विश्राम करने की सलाह दी । इसलिये जनवरी १६१५ में आप भारत चले आये । यहाँ पर आपके कार्य में सबसे अधिक सहायता देने वाले श्री गोपाल कृष्ण गोखले ही थे । इसलिये जहाज से उतरते ही सबसे पहले आप उन्हीं से मिलने पूना गये । पर वे उस समय मरणान्तक बीमारी मे चारपाई पर पड़ गये । गोखले जी ने आपको "सरवैण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी" मे रहकर काम करने की सम्मति दी । पर आपने अपने कार्य क्षेत्र को इस प्रकार सीमित बनाना अच्छा न समझा और भारत मे सबसे मिल जुल कर यहाँ की परिस्थिति का अध्ययन कर लेना आवश्यकीय समझा । श्री गोखले ने उनको यह भी सम्मति दी कि एक वर्ष तक किसी राजनीतिक आन्दोलन में नहीं पड़ना वरन् देश भ्रमण करके और नेताओं से मिलकर यहाँ की परिस्थिति को अच्छी तरह हृदयंगम करने का प्रयत्न करना । इसलिये वे उस वर्ष मद्रास, कलकत्ता, पटना, दिल्ली सभी महत्वपूर्ण नगरों में गये और प्रमुख नेताओं से विचार विमर्श किया । इसके बाद अहमदाबाद पहुँच कर सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की, जहाँ भावी कार्यक्रमों के लिये कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया जा सके । उन्हीं दिनों आपको हिन्दू-विश्व विद्यालय के उद्घाटन उत्सव मे निमंत्रित करके बुलाया गया । वहाँ आपने बड़े-बड़े राजाओं को उनके मुँह पर ऐसा फटकारा कि वे सभा छोड़ कर, उठ कर चले गये और चारों तरफ एक कोहराम मच गया । यद्यपि गाँधी जी को अपना भाषण बीच में ही रोक देना पड़ा, पर भारतवासियों को उसी दिन यह विदित हो गया कि कोई प्रज्ज्वलित व्यक्तित्व भारत भूमि पर अवतीर्ण हो गया है जो शीघ्र ही देश को किसी अभूतपूर्व संघर्ष के पथ पर अग्रसर करेगा।

कुछ दिन चम्पारन और खेडा के सत्याग्रह में अपनी कार्य पद्धति की एक झलक दिखा कर आपने सन् १६१६ मे "रौलट एक्ट" के विरोध-रूप में अपना देशव्यापी ऐतिहासिक आन्दोलन आरम्भ किया । यह आन्दोलन कभी उठता, कभी गिरता २५ वर्ष तक चलता रहा । उसमें गाँधी जी को बार-बार जेल जाना पड़ा और विशेष अवसरों पर लम्बे-लम्बे उपवास करके महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करना पड़ा । उनके सामने केवल अँग्रेजी सरकार से लड़ने का ही सवाल न था, वरन् देश को स्वराज्य अथवा "आत्मशासन" के योग्य बनाना भी था । इसलिये वे सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों का विरोध करने के साथ ही स्वदेशी-प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, हरिजनोद्धार, ग्राम-उद्योगों का विकास, सामाजिक कुरीतियो का निवारण, राष्ट्र-भाषा प्रचार आदि कार्यों के लिये भी भरपूर प्रयत्न करते रहे । भारतीय जनता की गरीबी से व्यथित होकर उन्होंने भी उन्हीं की तरह रहना आरम्भ कर दिया और सब वस्त्रों को त्याग कर केवल एक लँगोटी पहन कर ही निर्वाह करने लगे । इन बातों से देश की करोड़ों जनता ने उनको अपना उद्धारकर्ता मान लिया और उनके आह्वान पर लाखों व्यक्ति राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेकर जेल जाने और प्राण देने को तैयार हो गये ।

सविनय अवज्ञा-आन्दोलन का श्रीगणेश

गाँधी जी के आन्दोलन और उनके व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष प्रभाव संसार को तब दिखाई पड़ा जब सरकार ने देश व्यापी विरोध की अवहेलना करके स्वाधीनता-आन्दोलन को कुचलने वाला "रौलट एक्ट" पास कर दिया और गाँधी जी ने ६ अप्रैल, १६१६ को इस अन्याय के विरुद्ध देशव्यापी हड़ताल, उपवास और विरोध-सभायें करने की घोषणा की । जनता

ने महात्मा जी के इस आदेश का पालन इतने अधिक उत्साह और दृढ़ता से किया कि सरकार और सारा संसार दंग रह गया । हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से यह कह सकते हैं कि वैसी सम्पूर्ण और स्वेच्छापूर्वक की गई देशव्यापी हड़ताल न पहले कभी देखने में आई थी न बाद में कभी हो सकी । अमृतसर (पंजाब) में सरकारी अफसरों ने गोली चला कर जनता को उत्तेजित कर दिया तो वहाँ भयंकर उपद्रव हो गया, जिसमें पाँच अंग्रेज मारे गये और दो बैंक जला दिये गये । इसका बदला लेने के लिये जनरल डायर ने आगामी १३ अप्रैल को उसी नगर के जलियांवाला बाग में होने वाली एक सार्वजनिक सभा पर सशस्त्र फौज को लेकर हमला किया, जिसमें सैकड़ों व्यक्ति जान से मार दिये गये, जिनमें अनेकों बच्चे भी थे ।

गाँधी जी को इस हत्याकाण्ड से दुःख तो बहुत हुआ, पर अब उन्होंने उस अन्यायी सरकार को उखाड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया । इससे पहले वे अँग्रेजों की सज्जनता और सचाई पर बहुत विश्वास रखते थे और महायुद्ध के अवसर पर उन्होंने भारतवासियों से सरकार की सब तरह से सहायता करने की अपील की थी । इतना ही नहीं उन्होंने स्वयं सेना के लिये सैनिकों की भर्ती का आन्दोलन उठाया था, जिसके कारण अनेक नेता और कार्यकर्ता उनसे नाराज भी हो गये । पर जब उनकी "राजभक्ति" का सरकार ने ऐसा इनाम दिया, तो उनका मनोभाव बदल गया । वे समझ गये कि अंग्रेज भारतवर्ष को एक प्रकार से अपना शिकार समझते हैं और अपनी राजी से कभी इसको न्याययुक्त अधिकार नहीं देंगे । बस उन्होंने ऐसी अन्यायी सरकार के विरुद्ध "असहयोग" की घोषणा कर दी । वकीलों से अदालतों का, विद्यार्थियों से सरकारी स्कूलों का और अन्य लोगों से सरकारी नौकरियों का बहिष्कार करने को कहा गया । लोगों ने स्वदेशी वस्त्र और विशेष रूप से खादी के व्यवहार की प्रतिज्ञा की और हजारों नगरों में विलायती वस्त्रों की होली जलाई गई ।

इस प्रकार समस्त देश में जागृति और उत्साह का एक ऐसा तूफान उठा कि कुछ समय के लिये सरकार की स्थिति डाँवाडोल हो गई । उस समय गाँधीजी देश के सच्चे अधिनायक जान पड़ते थे, और छोटे-बड़े सब लोग उनकी आज्ञाओं को दैवी आदेश की तरह पालन कर रहे थे । कुछ ही महीनों में तीस हजार व्यक्ति सरकारी कानूनों को तोड़ कर जेल चले गये, जिनमे पं० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, देशबन्धु दास, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस जैसे महान पुरुष भी सम्मिलित थे । बारदौली (गुजरात) में सरदार पटेल ने लगान-बन्दी का आन्दोलन छेड़ने की घोषणा कर दी । उसी समय उत्तर प्रदेश के चौरीचौरा कस्बे में उपद्रव हो गया और उत्तेजित जनता ने वहाँ के थाने को घेर कर आग लगा दी, जिसमें आठ-दस सिपाही जल कर मर गये । गाँधी जी ने अपना आन्दोलन अहिंसा और कष्ट सहन के आधार पर चलाया था, अब उसमें हिंसा का समावेश होते देख कर उन्होंने उसे स्थगित कर दिया । अनेक नेताओं ने इसका विरोध भी किया, पर गाँधी जी अपने निश्चय पर अटल रहे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि अभी भारतीय जनता इतनी संगठित और शक्तिशाली नहीं हो गई है कि हिंसात्मक कार्य करके अँग्रेजों की सैन्य शक्ति को परास्त कर सके ।

इसके पश्चात् कुछ लेखों पर राजद्रोह का अभियोग चला कर सरकार ने गाँधी जी को ६ वर्ष की जेल का दण्ड दे दिया । इस पर असहयोग आन्दोलन कुछ समय के लिये दब गया, पर देश में राजनैतिक जागृति तथा संगठन की निरन्तर वृद्धि होती रही । यह देख कर सरकार ने समझ लिया कि अब भारतवर्ष को केवल पाशविक शक्ति के द्वारा अधीन नहीं रखा जा सकता । इसलिये नये शासन-सुधारों का वायदा किया गया और इस सम्बन्ध में भारतवासियों के विचार जानने के लिये "सायमन कमीशन" नाम का एक प्रतिनिधि मण्डल इंग्लैण्ड से भेजा गया । पर कांग्रेस नेताओं को इस तरह के दिखावटी कार्यों से सन्तोष नहीं हुआ और देश भर में "सायमन कमीशन" का बहिष्कार और प्रदर्शन किया गया । इस आन्दोलन में लाला लाजपतराय, पं० जवाहरलाल नेहरू, पं० गोविन्द बल्लभ पन्त आदि जैसे देश पूज्य नेताओं ने भी पुलिस की लाठियाँ खाईं । लालाजी का इसी घटना के फलस्वरूप देहान्त ही हो गया ।

यह देख कर जनता का जोश फिर उमड़ा और उसे देखकर गाँधी जी सन् १६३० में कानून भंग की घोषणा करके स्वयं नमक कानून को तोड़ने गुजरात के "डाँडी" नामक स्थान मे पहुँचे । उसी समय देश के और भी हजारों स्थानों में नमक कानून तोड़ा गया । जिसमें लाखो व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गये । आन्दोलन को बहुत अधिक बढ़ते देख कर सरकार ने फिर गाँधी जी से समझौते की बात-चीत चलाई और शासन-सुधार के सम्बन्ध में अंग्रेज शासकों से बात-चीत करने के लिये उनको इंग्लैण्ड में बुलाया । वहाँ एक "राउण्ड टेबिल कान्फेरेंस" की गई, जिसमें इंग्लैण्ड और भारत के सब दलों के नेताओं ने भाग लिया । यद्यपि इस कान्फेरेन्स का कोई परिणाम नहीं निकला, पर इंग्लैण्ड में बहुसंख्यक अँग्रेजों ने गाँधी जी का बड़ा सम्मान किया

और स्वयं सम्राट के महलों में उनको निमन्त्रित करके राज-परिवार से भेंट करायी गई । संसार के सबसे बड़े और वैभवशाली बादशाह के महलों में लँगोटीधारी गाँधी जी का प्रवेश एक ऐसा दृश्य था, जिसकी कल्पना भी उसके पहले कोई नहीं कर सकता था ।

समझौते की बातचीत भंग हो जाने पर भारतवर्ष में फिर सरकार के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । इस बार सरकार पहले से ही तैयार थी और उसने थोड़े ही दिनों में सब नेताओं को, जिनमें मालवीय जी भी सम्मिलित थे, पकड़ कर जेल में डाल दिया । पर कुछ समय पश्चात् इंगलैण्ड की सरकार ने जो नये शासन सुधारों का मसौदा प्रकाशित किया, उसमें प्रान्तीय शासन के बहुत कुछ अधिकार भारतवासियों को दिये गये थे, जिनको स्वीकार करने को कांग्रेस भी तैयार हो गई । पर इसके साथ ही उसमें कई बातें ऐसी भी थीं, जिससे जनता में भेदभाव की वृद्धि होती थी । सबसे अधिक आपत्तिजनक बात गाँधी जी को यह जान पड़ी कि उसमें अछूतों को हिन्दुओं से अलग मानकर पृथक वोट देने का अधिकार दिया गया था । इसके विरुद्ध गाँधी जी ने यरवदा जेल के भीतर ही २१ दिन का उपवास किया और उनकी दशा बड़ी नाजुक हो गई । तब सरकार उसको बदलने को तैयार हुई और अछूत हिन्दुत्व की सीमा में रह गये । इसके पश्चात् गाँधी जी ने अपना मुख्य कार्य अछूतोद्धार ही बना लिया । उन्होंने कहा कि जब तक हम व्यावहारिक रूप से अछूतों को समानता का दर्जा नहीं देंगे तब तक उनकी स्थिति नहीं सुधर सकती । इस पर अनेक नेताओं तथा प्रसिद्ध पुरुषों ने सार्वजनिक सफाई का कार्य अपने हाथ से करना शुरू किया और स्वयं गाँधी जी दिल्ली आने पर मेहतरों की बस्ती में ठहरने लगे । उन्होंने समस्त देश में दौरा करके अछूतों की सहायतार्थ बहुत बड़ा कोष भी स्थापित किया और इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति से चन्दा देने की अपील की ।

इसके बाद सन् १९३८ का समय आया, जब कांग्रेस ने परीक्षा के तौर पर अँग्रेजी सरकार द्वारा दिये गये शासन सुधारों को स्वीकार कर लिया और डेढ़ वर्ष प्रान्तीय शासन सभाओं का संचालन राष्ट्रीय नेताओं ने किया । यद्यपि यह दोहरी शासन व्यवस्था जिसमे अंग्रेज गवर्नर को मन्त्रिमण्डल के किसी भी निर्णय को अस्वीकृत कर देने का अधिकार था, बहुत त्रुटिपूर्ण थी, फिर भी महात्मा जी के आदेशानुसार देश की अनेक समस्याओं के सुलझाने में उसका उपयोग किया गया । जब युद्ध के छिड़ने पर सरकार ने जनता की सम्मति के विरुद्ध भारत को भी योरोपियन युद्ध में एक भागीदार बना दिया, तब महात्मा जी ने उसे अपने सिद्धान्त के विरुद्ध बताकर, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को भंग करा दिया ।

इस समय आन्दोलन को चलते हुये लगभग बीस वर्ष हो चुके थे और जनता के सभी वर्गों में काफी जागृति आ गई थी । सरकारी नौकर और फौजी सिपाही तक देश के प्रति अपने कर्तव्य को कुछ-कुछ अनुभव करने लग गये थे । इसलिये अब महात्मा जी ने निश्चय किया कि सरकार को निश्चित रूप से चेतावनी दे दी जाय कि या तो भारतवासियों की माँगों को स्वीकार करे अथवा इस देश को छोड़कर चली जाय । यही आन्दोलन इतिहास में "क्विट इंडिया" (भारत छोड़ो) के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अन्त में भारत को स्वतन्त्रता दिलाने का माध्यम बना । यह आन्दोलन किस प्रकार किया जाय इस सम्बन्ध में सब नेताओं में मतैक्य नहीं था । कांग्रेस के मुसलमान नेता इसके विरुद्ध थे । नेहरू जी और पन्त जी आंशिक रूप से पक्ष में थे । उनको आशंका थी कि युद्धकाल में ऐसा कदम उठाने से अमरीका और चीन हमारे विरोधी हो जायेंगे । सरदार पटेल पूर्णरूप से क्रान्ति का समर्थन कर रहे थे । पर गाँधी जी वर्किंग कमेटी द्वारा प्रस्ताव पास कर दिये जाने पर भी यही चाह रहे थे कि वायसराय के साथ समझौते की बातें होकर यह समस्या शान्तिपूर्वक ही हल हो जाय । इसलिये जब श्री घनश्यामदास बिड़ला ने, जिनके घर में वे बम्बई में ठहरे थे, उनसे पूछा कि-"कांग्रेस का अगला कदम क्या होगा । क्या कमेटी में प्रस्ताव पास होने के बाद आप देश में किसी बड़े आन्दोलन का श्रीगणेश करेंगे ?"

गाँधी ने कहा– "नहीं, कतई नहीं हम कोई भी कदम उठाने मे जल्दबाजी करना नहीं चाहते । अभी वायसराय से मुझे मिलना है । वे मेरे मित्र हैं, और प्रस्ताव की व्याख्या करने में जल्दबाजी से काम नहीं लेंगे । बिना हार्दिक आत्मोत्साह के भारत विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सकता । वह उत्साह प्रस्तुत युद्ध को लोक-युद्ध के रूप में बदल देने पर ही उत्पन्न हो सकेगा । जब तक भारत अपने देश का स्वामी बन नहीं जाता, तब तक विदेशी आक्रमण का प्रतिकार करने के लिये आवश्यक उत्साह उसमें उत्पन्न हो ही नहीं सकता । इसलिये यदि जापानी आक्रमण का प्रतिकार करने के विषय में दोनों की भूमिका समान रही तो कांग्रेस द्वारा उठाया यह कदम स्नेहपूर्ण माना जा सकता है । मैं वायसराय को अपना यही दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करूँगा ।"

घनश्यामदास– "लेकिन मान लीजिये कि अगर वे अपनी ही बात पर अड़े रहे और टस से मस न हुए तो फिर क्या करेंगे ?"

गाँधी जी--"तब तो फिर किसी न किसी प्रकार के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन का अवलम्बन करना ही पड़ेगा । अब तक इस सम्बन्ध में मैंने कोई विचार नहीं किया है । इसके लिये न तो मेरे पास कोई योजनाएँ हैं, न पहले से ऐसी योजनाएँ बनाकर तैयार रखने की मेरी आदत ही है । मेरे लिये अगला कदम ही काफी है, और वह है वायसराय से भेंट करना । यदि उन्हें कायल करने में मैं असमर्थ रहा तो, हो सकता है कि नमक-सत्याग्रह की तरह का कोई आन्दोलन हम आरम्भ कर दें । मैं आहिस्ता कदम चलना चाहता हूँ । संकट में फँसे हुये को और अधिक संकट में धकेलने में कोई मजा नहीं ।"

यह थी महात्मा जी की मानवता । वे सच्चे सन्त और महामानव थे और किसी भी परिस्थिति में असत्य और हिंसा का आश्रय लेकर विरोधी को परास्त करना नहीं चाहते थे। उनका रास्ता संसार के प्रचलित तरीके से बिल्कुल अलग था । दुनिया में तो यह कहावत प्रचलित है कि "युद्ध के अवसर पर किसी प्रकार के नियम-पालन की कोई आवश्यकता नहीं ।" इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि "राजनीति में सत्य का कोई स्थान नहीं ।" संसार के सभी शासक और राष्ट्र नेता इसी मार्ग पर चल रहे हैं । पर गाँधी जी ने दूसरा ही मार्ग अपनाया, जो प्रत्यक्ष में इसके बिल्कुल विपरीत था और दक्षिण अफ्रीका और भारत में पचास वर्ष तक वे उसी पर चलते रहे । इसके लिये यद्यपि अनेक "राजनीतिज्ञों" और "नेताओं" ने उनका उपहास भी किया और उनको "पागल" कहा, पर अन्त में उन्होंने उसी मार्ग से "भारत की स्वाधीनता" जैसे असम्भव दिखाई पड़ने वाले कार्य को सम्भव करके दिखा दिया । यह कोई साधारण सफलता नहीं थी और इसी से संसार के लाखों न्यायप्रिय व्यक्तियों ने उनको "युग पुरुष" स्वीकार कर लिया । यही कारण है कि उनके भारतीय अनुयायी ही नहीं योरोप और अमरीका के विद्वान् और अनेक राजनीतिज्ञ भी आरम्भ से ही उनकी महत्ता को अनुभव करते आये थे और समय-समय अपनी इस भावना को प्रकट भी करते रहे थे । न्यूयार्क (अमरीका) के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "नेशन" ने बहुत वर्ष पहले ही महात्मा गाँधी के वास्तविक महत्त्व को समझ कर लिखा था--

"वर्तमान युग में जबकि संसार के लोग आधिभौतिक (वैज्ञानिक) चमत्कारों पर ही विशेष जोर दे रहे हैं, भारतवर्ष का यह वीर और तपस्वी नेता अपने सात्विक गुणों, स्वार्थ त्याग और आत्म-शक्ति के कारण ही देश और विदेशों में अत्यधिक सम्मान प्राप्त कर रहा है । जिस समय पाश्चात्य सभ्य राष्ट्र अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये युद्ध के अतिरिक्त और कोई मार्ग जानते ही नहीं उस समय महात्मा गाँधी अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को "अहिंसात्मक असहयोग" के पथ पर चला रहे हैं । वे कहते हैं कि भारत को रक्तपात से ही स्वराज्य मिल सकता है, तो हम दूसरों के बजाय अपना ही रक्त क्यों न बहावें ? हिंसा का आश्रय लेना तो स्पष्टः आत्मा की दुर्बलता का प्रमाण है । वीर पुरुष वही है जो अपने शत्रु पर भी दया करता है ।"

यही कारण है कि जब महात्मा जी ने एक वर्ष में ही स्वराज्य लेने की घोषणा की और यह भी कहा कि हम दूसरों को न मार कर, स्वयं अपने प्राण देकर इस अधिकार को प्राप्त करेंगे तो समस्त संसार चक्कर में आ गया । उस समय की स्थिति का वर्णन करते हुए "न्यूयार्क ट्रिब्यून" के लन्दन स्थित प्रतिनिधि आर्थर एस. डेप ने लिखा था--

"ब्रिटिश सरकार के सम्मुख विविध समस्यायें हैं और अनेक शत्रुओं का सामना करना है । आयरिंग प्रजातन्त्र के संचालक डी बेलेरा असाधारण शत्रु है, पर उनकी कार्य प्रणाली में कोई नवीनता नहीं । कुछ वर्ष पहले दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट और बोथा भी उसके कट्टर शत्रु थे, पर उनका संग्राम प्रचलित प्रणाली के आधार पर ही था। लेनिन और ट्राटस्की ने नये विधान चलाये, पर उनमें भी कोई नवीनता नहीं रह गई, किन्तु महात्मा गाँधी सबसे भिन्न निकले । वे तो वर्तमान राजनीति और युद्धनीति को पूरी तरह पलट देना चाहते है । उनका सिद्धान्त डी वेलेरा और लेनिन से एकदम विपरीत है । अंग्रेज लोग इस बात को स्पष्ट रूप में स्वीकार कर रहे हैं कि वे इसके कारण चक्कर में आ गये हैं ।"

संसार भर में पूज्य-भाव से सम्मानित किये जाने वाले महापुरुष टाल्सटाय ने गाँधी जी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का हाल सुन कर ही कहा था--"वर्तमानकाल में एकमात्र गाँधी जी ईश्वरीय प्रतिनिधि हैं । मैं उनका नामकरण "गाँधी" के स्थान पर "दीनबन्धु" करता हूँ ।"

गाँधी जी को राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश कराने वाले माननीय गोखले की सम्मति थी कि "निस्सन्देह गाँधी जी उन्हीं तत्वों के बने हैं, जिनसे बड़े-बड़े वीर और शहीद बना करते हैं । वे अपने विलक्षण आत्मबल से साधारण मनुष्यों को भी बहादुर और शहीद बना देते हैं ।"

और तो क्या इंग्लैण्ड सरकार के "भारत सचिव" मि० माण्टेग्यु ने, जिनसे स्वराज्य के लिये गाँधी जी संघर्ष कर रहे थे, उनके सम्बन्ध में कहा था-- "महात्मा गाँधी का महत्व और उद्देश्य अति महान है । उनका चरित्र निर्मल है और देश-सेवा में उनके निस्स्वार्थ-त्याग की तुलना नहीं है ।"

मद्रास में ईसाई धर्म के धर्माचार्य (लार्ड विशप) ने कहा था-- "गाँधी जी ईसा मसीह के कहीं अधिक सच्चे प्रतिनिधि हैं ।"

पर ऐसे लोकोपकारी और समस्त संसार के हितैषी महापुरुष के साथ भी अँग्रेज सरकार शान्ति और समझौते के मार्ग को नहीं अपना सकी । कारण यह कि उस समय इंग्लैण्ड के कर्ता-धर्ता मि० चर्चिल थे, जो गाँधी जी को "नेकेड फकीर" (नंगा साधु) के नाम से पुकारते थे और कहते थे, कि जब तक मेरे हाथ में शासन की बागडोर है, तब तक मैं कोई ऐसा काम नहीं कर सकता, जिससे ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकल जाय ।" उनका आशय यही था कि भारतवर्ष तो हमारे लिये ऐसी 'सोने की चिड़िया' है जिसके आधार पर हम जरूरत पड़ने पर अपना हर तरह का काम चला लेते हैं । अगर उसे स्वतन्त्र कर दिया जाय तो हमारे साम्राज्य की नींव ही कमजोर पड़ जायगी और फिर उसको एक दिन गिर जाना ही पड़ेगा ।"

अंग्रेज शासकों की इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो महात्मा जी ९ अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में 'क्विट इण्डिया' वाला प्रस्ताव पास करके समझौते की बात-चीत करने वायसराय से मिलने का विचार कर रहे थे और दूसरी तरफ सरकारी अधिकारियो ने कमेटी की बैठक होने से पहले ही बम्बई में एकत्रित सब नेताओं को गिरफ्तार कर लिया । महात्मा जी को बिड़ला जी के स्थान में सुबह चार बजे जगा कर गिरफ्तार किया गया और तुरन्त चुपचाप पूना भेज कर "आगा खाँ के महल" में नजरबन्द कर दिया गया । आरम्भ मे कई दिन तक तो लोगों को मालूम भी नहीं पड़ा कि सब नेताओं को सरकार ने कहाँ रखा है ? धीरे-धीरे गाँधी जी के पूना और अन्य नेताओं के अहमदनगर में होने की खबर प्रकट हुई ।

पूना पहुँचने के एक सप्ताह पश्चात् ही एक सबसे बड़ी दुर्घटना यह हुई कि श्री महादेव देसाई का हृदय गति रुक जाने से देहान्त हो गया । वे सन् १९१७ से ही गाँधी जी के साथ थे और उनका सहयोग इतना अधिक और घनिष्ठ था कि, गाँधी जी उनको अपना "दाहिना हाथ" कहते थे। इसके ठीक साल भर बाद उनकी धर्मपत्नी पूज्य कस्तूरबा का देहान्त भी उसी कैदखाने के भीतर हो गया । बा भी गाँधी जी की अद्वितीय अनुयायी थी । बा के लिये उन्होंने कहा था "मेरी पत्नी मेरे अन्तर को जिस प्रकार हिलाती है, उस प्रकार दुनिया की कोई दूसरी-स्त्री नहीं हिला सकती । उसके लिये ममता के एक अटूट बन्धन की भावना दिन-रात मेरे अन्तर में जागृत रहती है ।"

गाँधी जी और बा का दाम्पत्य-जीवन कितना उच्च कोटि का और भारत के प्राचीनतम धार्मिक आदर्शों के अनुकूल था, इसकी चर्चा करते हुये श्री विनोबा ने अपने संस्मरणों में कहा है-- "बा और बापू का जो सम्बन्ध था वह अवर्णनीय कहा जायेगा । अपने यहाँ शास्त्रकारों ने पति-पत्नी के विवाह के समय एक विधि बतायी है-- वशिष्ठ और अरुन्धती का दर्शन करना । आकाश में ये दो तारिकायें हैं । भारत के अधिकांश ऋषि कुछ समय बाद संन्यास लेकर पत्नियों से पृथक रहकर लोक-सेवा करते थे, पर वशिष्ठ और अरुन्धती सदैव एक साथ रहे । कारण यह कि वे एक दूसरे के पूरक थे, बाधक नहीं । (अरुन्धती का अर्थ ही यह है जो मार्ग में रोधन न करे-- बाधा खड़ी न करे) । पति ऊँचा चढ़ने वाला हो तो वह भी उसके साथ ऊँचा चढ़ने को तैयार रहे। बा और बापू ऐसा ही करते थे । बापू जेल में जाते तो बा भी जेल में, बापू सत्याग्रह करते तो बा भी सत्याग्रह करती, वह जो भी करें बा उसमें उनके साथ रहतीं । उनके अच्छे कामों मे वह रुकावट डालने वाली न थी । इसी से हम उनको वर्तमान समय में वशिष्ठ और अरुन्धती का उदाहरण मान सकते है ।"

पर हृदय पर इतनी चोट लगने पर भी वे कर्तव्य-पथ से तनिक भी विचलित नहीं हुये । जैसे ही मई सन् १९४४ में उनको सरकारी कैदखाने से छुटकारा मिला वे फिर भारतीय स्वतन्त्रता के लिये उद्योग करने लग गये । संयोगवश इसके थोड़े ही दिन बाद इंग्लैण्ड में मजदूर-दल की सरकार कायम हो गई और उसने यह देखकर कि वर्तमान परिस्थिति में भारतवर्ष को अधिक समय तक केवल सैनिक बल द्वारा अधीन नहीं रखा जा सकता, स्वराज्य देने का निश्चय कर लिया, परन्तु अन्तिम समय मे भी भारत की प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाने के लिये उन्होने देश को दो भागों- "हिन्दुस्तान" और "पाकिस्तान" में बाँट दिया । इसके फल से देश के सभी भागो मे इतने भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए, जिनकी पहले किसी ने कल्पना भी नहीं की थी । स्वतन्त्रता मिली पर गाँधी जी का हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वप्न पूर्णतया भंग हो गया । पर फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी पहले वे नोआखाली (पाकिस्तान) गये, फिर बिहार गये। दोनों जगह उन्होंने साम्प्रदायिक दावानल को शान्त किया । वे अन्त मे पश्चिमी पाकिस्तान (पंजाब और सिन्ध) में जाकर भी शान्ति का सन्देश सुनाने की तैयारी कर रहे थे, पर इतने में ही एक आततायी ने दिल्ली की प्रार्थना सभा में गोली मार कर उनकी हत्या कर दी, जिससे उनके स्वप्न का भारतवर्ष न जाने किस मार्ग से किसी अन्य दिशा में चल पड़ा ।

गाँधी जी की शोषण रहित राजनीति

नोआखाली तथा बिहार के दंगों का निरीक्षण करके गाँधी जी के मन को बड़ा धक्का लगा। वे भारत की राजनीति को आदर्श बनाना चाहते थे, पर यहाँ मुसलिम लीग और उसी के जैसी हिन्दू सभा आदि ने देश भर में इतना द्वेष और हिंसा का वातावरण उत्पन्न कर दिया था, कि गाँधी जी को अपने मन की बात कहने में भी संकोच लगता था। इसलिये मार्च १९४७ में दिल्ली में होने वाली "एशिया-कान्फरेन्स" के सम्मुख भाषण करते हुये उन्होंने स्पष्ट कहा–

"मैं नहीं समझता कि भारतवर्ष, जो इस समय गृह-युद्ध की-सी स्थिति में होकर गुजर रहा है, आपको क्या सन्देश दे सकता है।" आप यहाँ की यात्रा करने के पश्चात् अपने साथ क्या अनुभव लेकर जायेंगे ? क्योंकि हम यही नहीं जानते कि आपस में किस प्रकार शान्ति रखी जाय ? हम तो इस समय "जंगल के कानून" पर चल रहे हैं, जिसका आशय यह है कि जो जबर्दस्त हो वह कमजोर को मार कर खा जाय। यह अनुभव ऐसा नहीं है, जिसे मैं आप लोगों से अपने साथ ले जाने को कहूँ। इसलिये मैं चाहूँगा कि आप उसको यहीं पर गाड़ दें। भारतवर्ष स्वाधीनता के दरवाजे पर खड़ा है, हम अपने स्वामी आप होना चाहते हैं। पर हम कैसे अपने स्वामी आप होंगे, यह मैं नहीं जानता ? इसलिये मैं इतना ही कह सकता हूँ कि हमको एक मनुष्य की हैसियत से अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना चाहिये और परिणाम को भगवान के हाथ में छोड़ देना चाहिये। यद्यपि यह कहा जाता है कि "मनुष्य अपने भाग्य का आप मालिक है, पर यह आंशिक रूप से ही सत्य है। यह अपने भाग्य का निर्माण वहीं तक कर सकता है, जहाँ तक वह 'महा-शक्ति' जो हमारे समस्त इरादों और योजनाओं पर शासन करती है, हमको उसकी अनुमति दे।"

जब मिस्र के एक प्रतिनिधि ने प्रश्न किया कि "क्या आप भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये अमरीका की सहायता स्वीकार करेंगे ?" तो गाँधी जी ने बहुत जोर देकर कहा कि– "मैं तो भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये विदेशी सहायता की कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं यह नहीं जानता कि आगे चलकर स्वतंत्र भारत की नीति क्या रहेगी। पर मेरा विश्वास है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब सारा संसार शान्ति की खोज मे भारत में आयेगा और भारत तथा एशिया संसार के लिये प्रकाश स्तम्भ की तरह हो जायेंगे। मैं नहीं जानता कि जो भयंकर दावानल हमको चारों तरफ से घेर रहा है, मैं उससे बच सकूँगा या नहीं, पर तुम लोग जो अभी नवयुवक हो उसे देख सकोगे ऐसी आशा है।"

एक योरोपियन प्रतिनिधि ने पूछा कि स्वाधीन भारत की आर्थिक नीति क्या होगी ? गाँधी जी ने कहा कि "हम लोग कभी दूसरे देश वालों का शोषण करके मालदार बनना नहीं चाहेंगे, क्योंकि हम स्वयं उसके दुष्परिणामों का अनुभव कर चुके हैं। उदाहरण के लिये हम अपने कारखानों में बनाये कपड़ों को किसी पड़ोसी देश में इस दृष्टिकोण से भेज सकते हैं कि वहाँ कपड़े की कमी हो, पर यह कार्य मित्रता के रूप में होगा, किसी पिछड़े हुए देश को लूटने की नीयत से न होगा। मैं चाहता हूँ कि पश्चिमी देश भी इस दृष्टिकोण को अपनायें कि भारत उनके शोषण करने योग्य नहीं है वरन् उनकी मित्रतापूर्ण सहायता का पात्र है। पर भारतवर्ष में जिस ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ, उसमें दोनों तरह की भावनाएँ सम्मिलित थीं। अगर यहाँ ईसाई मिशनरी ही इस भाव से आते कि वे यहाँ के गरीब गाँव वालों की सहायता करें, और किसी तरह की स्वार्थपूर्ण राजनीति से सम्बन्ध न रखें तो वे यहाँ के निवासियों को स्थायी कृतज्ञता प्राप्त करते और ईसा मसीह के सच्चे शिष्य भी सिद्ध हो सकते।"

योरोपियन प्रतिनिधियों ने बड़े विनीत भाव से कहा– "आपसे भेंट होने को हम अपना बड़ा सौभाग्य समझते है। आप जब बोलते हैं तो जान पड़ता है कि ये शब्द "बाइबिल" में से चले आ रहे हैं। हम अनुभव करते हैं कि अभी तक भारत के प्रति हमारा व्यवहार दयाहीनता का रहा है।" अन्य देशो के प्रतिनिधि भी गाँधी जी के व्यवहार से मुग्ध हो गये। एक ने कहा– "अब तक हमने जो कुछ देखा सुना है यह पुरुष उस सबसे भिन्न है।" दूसरे ने कहा कि "हमारी भारत-यात्रा अधूरी ही रह जाती, यदि हम इनसे न मिले होते।" एक महिला प्रतिनिधि ने कहा कि "ऐसे नेता को पाकर आप निस्सन्देह सौभाग्यशाली हैं। अगर हमको भी ऐसा नेता मिल जाता तो हमारे यहाँ इतनी खून-खराबी न होती।"

भारतवर्ष के लिये आध्यात्मिक समाजवाद

कैपिटैलिज्म (पूँजीवाद) और समाजवाद की मीमांसा भी गाँधी जी ने बड़े न्याययुक्त ढंग से की है। जब किसी ने गाँधी जी से कहा कि सरकार देश के औद्योगिक विकास और कच्चे माल के प्रयोग करने के विषय में बहुत बड़ी योजना चालू कर रही है, तो गाँधी जी ने उत्तर दिया कि "कोई भी योजना जो देश के कच्चे माल का परिमाण बढ़ाने का प्रयत्न करती है, पर मानव शक्ति का उपयोग भुला देती है। वह कभी सुखी और समृद्ध समाज का निर्माण नहीं कर सकती। पश्चिमी देशों में यही हुआ है कि उन्होंने

संसार की मानव शक्ति का ख्याल तो छोड़ दिया और समस्त साधन थोड़े-से लोगों को सौंप दिये । इससे कुछ व्यक्ति तो शक्ति तथा धन की दृष्टि से बहुत बड़े बन गये और शेष असंख्य लोग कष्टों में पड़े रह गये । ऐसा औद्योगीकरण गरीबों के लिये कभी लाभजनक नहीं हो सकता, और शेष संसार के लिये भी वह एक खतरा ही सिद्ध होता है । अगर भारतवर्ष को ऐसे खतरे से बचना है, तो उसको पश्चिमी देशों से उन्हीं बातों को लेना चाहिये, जो श्रेष्ठ हों और उसके लिये हितकारी हों । पश्चिमवालों की आकर्षक किन्तु नाशकारी आर्थिक नीति से तो उसे बिल्कुल दूर ही रहना चाहिये । भारत की जैसी स्थिति है उसमें तो ऐसी योजना बनायी जानी चाहिये जिससे सब मनुष्य काम-धन्धे से लग सकें । हमको सब कच्चा माल गाँवों में भेज देना चाहिये और वहीं पर उसके द्वारा विविध पदार्थों का निर्माण किया जाना चाहिये । यह नहीं होना चाहिए कि कच्चा माल गाँवों से बाहर भेज दिया जाय और उसके द्वारा कारखानों में बना हुआ माल बहुत अधिक दाम देकर खरीदा जाय ।"

आगे चलकर उन्होंने स्वदेशी की व्याख्या करते हुये कहा कि "स्वदेशी का आशय है कि हम नजदीक रहने वाले की पहले सेवा करें, वनस्वत दूर रहने वाले के । इस कारण स्वदेशी का अनुयायी अपने समीप के क्षेत्र की देखमाल करता है और पड़ोसियों की सहायता करने का प्रयत्न करता रहता है, और इसे अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता है । वह दूर के दृश्यों से आकर्षित होकर संसार के दूसरे कोने तक सेवा करने को भागा हुआ नहीं जाता । यह स्वदेशी का सिद्धान्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है । उदाहरणार्थ धार्मिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त के अनुसार उसी धर्म को अपनाना उचित है, जिसमें हम उत्पन्न हुये हैं अन्य सब धर्मों की भी अच्छी बातों को उसमें शामिल करना चाहिये । आर्थिक क्षेत्र में इसके अनुसार हमें उस कारीगर से काम कराना चाहिये जो हमारे नजदीक रहता है । अगर वह होशियार न हो तो उसे होशियारी प्राप्त करने में हमको मदद करनी चाहिये । यह करना कभी उचित न होगा कि दूर से किसी चतुर कारीगर को या सस्ती दर से काम करने वाले को बुला लेवें और स्थानीय मजदूर को भूखों मरने के लिये छोड़ दें । स्वदेशी की ऐसी भावना 'सर्वोदय' के अन्तर्गत आती है और इसी को "सर्वभूत हितेरता" (सबको कल्याणकारी) कहा जा सकता है ।"

यदि विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि गाँधी जी ने समाज का जो चित्र खींचा था उसे 'वर्णाश्रम" धर्म का आधुनिक रूप कहा जा सकता है, जो प्राचीन भारत में प्रचलित था और आज भी "जाति रहित, श्रेणी हीन और राज्य रहित समाज" के रूप में जिसका प्रचार किया जा रहा है । साम्यवादी कहते हैं– "हर एक को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जाय और हर एक से उसकी योग्यतानुसार काम कराना चाहिये ।" वे यह भी कहते हैं कि "सब प्रत्येक के लिये और प्रत्येक सबके लिये ।" पर इन दोनों प्रणालियों में एक मुख्य भेद यह है कि वर्णाश्रम धर्म में किसी व्यक्ति के कर्त्तव्यों का आशय यह नहीं होता कि हम अपने या दूसरों के लिये पृथ्वी पर स्वर्गीय सुख उपस्थित करना चाहते हैं वरन् उसके अनुसार हम समाज की जो निस्स्वार्थ सेवा करें उसका उद्देश्य अपने भीतर एकत्रित अनुचित अहंकार को नष्ट करके अपने सच्चे स्वरूप को अनुभव कर लेना है । पर मार्क्स ने जिस समाज का चित्र खींचा है उसका सम्बन्ध केवल मनुष्यों के भौतिक देह और उनकी आवश्यकताओं से है । भगवान का उसमें कोई स्थान नहीं रखा गया है । इस कारण उनको अपने लक्ष्य के प्राप्त करने में हिंसा अथवा अनुचित उपायों का अवलम्बन करने में कोई संकोच नहीं होता । पर गाँधी जी के सिद्धान्त के अनुसार चलने से मनुष्य अपने को समस्त सृष्टि से अभिन्न समझने लगता है और स्वाधीनता, समानता तथा भ्रातृ भाव की स्थापना के लिये केवल सत्य और अहिंसा जैसे सात्विक उपायों से ही काम लेता है ।

गाँधी जी ने अपने इस सामाजिक आदर्श को "रामराज्य" का नाम दिया था, पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "रामराज्य" का अर्थ हिन्दुओं का राज्य नहीं समझ लेना चाहिये । 'राम' 'खुदा' अथवा 'गाड' में भाषा भेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है । इस प्रकार का राज्य केवल समस्त भारतीय जनता के लिये ही कल्याणकारी न होगा वरन् उसमें समस्त संसार के हित का भी समावेश हो जायगा ।

गाँधी जी का धर्म समन्वय

गाँधी जी को भारतवर्ष तथा अन्य देशों के भी प्रसिद्ध विद्वानों ने महान् धार्मिक व्यक्ति माना है । पर उनका धर्म लकीर के फकीर वालों की तरह या कट्टरता का दम भरने वालों की तरह संकीर्ण न था । वे धर्म के मूल तत्व को समझते थे और उसके अनुसार ही सदैव आचरण करते थे । ऐसे धर्म-पालन के लिये उन्होंने एक नहीं अनेक बार अपने प्राणों का भी बलिदान करने का निश्चय कर लियो। यही कारण था कि हिन्दू ही नहीं, ईसाई और मुसलमान भी उनको "धार्मिक" समझते थे और गाँधी जी भी हर एक धर्म का सम्मान करते और उसकी रक्षा के लिये सचेष्ट रहते थे । ऐसे मामलों में वे किसी के खुश या नाखुश होने का

ख्याल नहीं करते थे, वरन् जो कुछ सची बात जान पड़ती. वही कहते थे।

नोआखाली के देवीपुर गाँव में वहाँ के पीर साहब गाँधी जी से मिलने आये। आस-पास के स्थानों में उनको बहुत बड़ा धार्मिक व्यक्ति माना जाता था। उन्होंने हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने का समर्थन इस आधार पर किया कि इसी प्रकार उनकी प्राण-रक्षा हो सकती थी। उनको बचाने के लिये यह हमारी एक चाल थी। पर गाँधी जी इससे सहमत न हुये और कहने लगे कि "किसी को जान बचाने से क्या लाभ यदि बदले में उसका धर्म ले लिया गया? इससे तो अच्छा यह था कि पीर साहब ! यह उपदेश देते कि वे अपने धर्म पर कायम रहें चाहे उनके प्राण भी चले जायें।" पर साहब इसी पर अड़े रहे कि किसी की जान बचाने के लिये अगर झूँठ से काम लिया जाय तो उससे कोई बुराई नहीं है। इससे गाँधी जी के हृदय को बड़ी चोट पहुँची और वे कहने लगे कि "अगर मुझे कभी खुदा के सामने जाने का अवसर मिल सका तो उससे पूछूँगा कि उसने ऐसे व्यक्ति को पीर (धर्माध्यक्ष) क्यों बना दिया ?"

अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, आस्तेय और ब्रह्मचर्य— इनको हिन्दू धर्म के पंच महाव्रत माना गया है, जिन पर आचरण करना प्रत्येक आत्मज्ञानी के लिये आवश्यक है। इन्हीं पाँच स्तम्भों पर गाँधी जी का समस्त जीवन और उनका दर्शन टिका हुआ था। पर वह इनकी उस व्याख्या को नहीं मानते थे जो कि पुरातन-पन्थी किया करते हैं, वरन वे इन सब पर एक बुद्धिवादी वैज्ञानिक की दृष्टि से विचार करते थे। वे केवल शास्त्रों में लिखे शब्दों को ठीक नहीं मान लेते थे वरन् उनके वास्तविक तात्पर्य पर ध्यान देते थे और उसके अनुसार ऐसे कार्य भी कर डालते थे, जिससे पुरातनवादी भौंचक्के रह जाते थे। उदाहरण के लिये उन्होंने एक कष्ट से तड़पते हुये असाध्य रोगी बछड़ा को जहर का इन्जेक्शन देकर मरवा दिया। जब आवारा कुत्तों के पागल होकर लोगों के काटने का भय हुआ अथवा चूहों से प्लेग के फैलने की सम्भावना जान पड़ी तो उनको नष्ट करने की आज्ञा दे दी और इसमें उन्हें अहिंसा के विरुद्ध कोई बात न जान पड़ी। उनका दृष्टिकोण सदा एक क्रान्तिकारी जैसा रहता था और उसी से प्रेरित होकर उन्होंने आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक और धर्म के विषय में भी अनेक पुराने विचारों का विरोध किया था। वे हर एक विषय को पूरी जाँच पड़ताल और परीक्षा के बाद ही मानना चाहते थे। ब्रह्मचर्य के विषय में भी उन्होंने ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाया था।

गाँन्धी जी पाँचों महाव्रतों का आशय एक ही सत्य सिद्धान्त को प्रतिपादित करना मानते थे, जो उनकी मान्यता के अनुसार यह था कि "प्रेम का नियम जिसके प्रभाव से मानव-मन की समस्त कामनाओं और सम्पदाओं की अभिलाषायें शान्त हो जाती हैं।"

ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ तो ऐसा जीवन क्रम अपनाना है, जिसमें ब्रह्म की खोज और प्राप्ति हो सके। पर पाँच महाव्रतों के रूप में उसकी जो व्याख्या की गई है, उसमें यही कहा गया है कि ब्रह्मचारी स्त्रियों के संसर्ग से सर्वथा दूर रहे। शास्त्र में कहा गया है कि "ब्रह्मचारी को स्त्रियों, मादा पशुओं और हिजड़ों से दूर रहना चाहिये। स्त्रियों को अकेले में पढ़ाना भी नहीं चाहिये। उसे स्त्री के किसी भी अंग पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये, और उसे कभी स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठना भी नहीं चाहिये, आदि।" गाँधी जी ने पाँचों व्रतों की इस शास्त्रीय व्याख्या को दक्षिण अफ्रीका में ही पढ़ा था। पर वे इसको इस कारण मान्यता न दे सके, क्योंकि उन्होंने देखा कि कितने ही योरोपियन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, पर स्त्रियों से दूर रहने की बात को न तो वे जानते हैं और न उसे महत्व देते हैं।

गाँधीजी भी हर तरह से स्त्रियों से दूर रह कर, उनका ख्याल भी दिल में न उठे ऐसा वातावरण बना कर, ब्रह्मचर्य के पालन करने को कुछ भी महत्व नहीं देते थे। वर्तमान युग की सामाजिक व्यवस्था में तो यह सम्भव भी नहीं है और मूर्खतापूर्ण भी समझा जायगा। गाँन्धी जी तो कहते थे कि मनुष्य स्त्रियों में रहे, उनके कार्यों में उसी प्रकार सहयोग करता रहे, जैसे पुरुषों से करता है और फिर भी किसी प्रकार की वासना या दुर्भावना उसके मन से न उठे वही सच्चा ब्रह्मचारी है। नोआखाली में ठक्कर बापा से इस विषय में चर्चा करते हुये, उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि मेरे पास सब जातियों की जो हजारों स्त्रियाँ आती हैं, अगर उनमें से किसी के साथ मुझे एक ही शैया पर सोने का अवसर आ जाय और उस समय भी मेरे मन में किसी तरह के विकार का लेश भी न हो, तभी मुझे सच्चा ब्रह्मचारी कहा जा सकता है।"

कालजयी महात्मा गाँधी

जीवन के अन्तिम दिनों में अपने अहिंसा सिद्धान्त की अवहेलना होते देखकर गाँधी जी को बहुत कष्ट होने लगा था। उन्होंने कई बार यह भावना प्रकट की कि एक ओर तो हम संसार को अहिंसक बनने, युद्ध को त्याग देने का सन्देश देते रहते हैं और दूसरी तरफ हमारी आँखों के आगे ही, भारतवासी आपस में मनमानी खून-खराबी कर रहे हैं,

स्त्रियों की बेइज़्ज़ती की जा रही है, धार्मिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में मेरे जीवित रहने से क्या लाभ ? वे प्रायः कहा करते थे कि मैं पहले १२० वर्ष तक की आयु तक जीने की बात कहा करता था, पर भारतवर्ष की मौजूदा फूट और वैमनस्य को देख कर तो मैं एक दिन भी जीवित रहना नहीं चाहता। उनकी यह भावना इतनी दृढ़ हो गई कि उन्होंने जिस तरह चाहा था उसी प्रकार उनके जीवन का अन्त हो गया। इस दृष्टि से निश्चय ही वे एक कालजयी पुरुष थे।

यों सामान्य रीति से देखने पर तो गाँधी की हत्या एक बहुत बड़ा अमानुषिक कार्य जान पड़ती थी और उस अवसर पर भारत ही नहीं समस्त संसार ने इसकी एक स्वर से निन्दा की थी। "अहिंसा के अवतार" का इस प्रकार की पाशविक हिंसा का शिकार होने की घटना ने प्रत्येक मनुष्य को स्तम्भित कर दिया। पर इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि देश की बदली हुई परिस्थिति और हिंसा का घोर ताण्डव होता देख कर उस मानवतावादी महात्मा का हृदय चूर-चूर हो गया था। वे जीवित तो थे और अपनी जान की बाजी लगाकर हिंसापूर्ण वातावरण के सुधार की चेष्टा भी कर रहे थे, पर वे यह भी समझ रहे थे कि उनकी आंशिक सफलता भी क्षण स्थायी और दिखावटी ही है। जातीय विद्वेष और हिंसा-भावना ने अधिकांश लोगो के हृदयों में ऐसा घर कर लिया था कि वर्षों में भी उसका निकल सकना असम्भव जान पड़ता था। गाँधी जी ने इस विषाक्त वातावरण को बदलने के लिये उपवास करने का निश्चय किया। उन्होंने कहा—"मैं देखता हूँ कि लोग मेरे मुँह पर एक बात कहते है और होती है दूसरी बात। फलतः मैं भरोसा कर लेता हूँ और जनता मुझ पर भरोसा करती है। राजनीतिज्ञों के बीच के गम्भीर मतभेदों का दण्ड आम जनता को भुगतना पड़ रहा है। कांग्रेस के भीतर भारी गन्दगी बढ़ती जा रही है। इसके सुधार का एकमात्र उपाय मेरे सामने अनशन ही है। इससे अगर हिन्दुस्तान की हालत सुधर जाय, तो उसके साथ बाकी सब सुधर जायेगा।"

महात्मा जी ने १३ जनवरी से १८ तक छः दिन तक अनशन किया और उसके प्रभाव से हिन्दू, सिख, मुसलमान सभी सम्प्रदायों के नेताओं पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। कोई नहीं चाहता था कि महात्मा जी की मृत्यु का कलंक हमारे ऊपर आवे। इसलिये किसी ने पूरे मन से, किसी ने आधे मन से और किसी ने बाह्य रूप से ही उनके सामने साम्प्रदायिक विद्वेष तथा हिंसा के वातावरण को शान्त करने की लिखित प्रतिज्ञा की। इस पर उन्होंने अनशन तोड़ दिया और अपनी समस्त शक्ति लगा कर देश में शान्ति स्थापित करने की चेष्टा करने लगे। भारतवर्ष में अल्पसंख्यक मुसलमानों की रक्षा की समस्या ने उनका ध्यान बहुत अधिक आकर्षित किया और अपनी दैनिक प्रार्थना सभा में वे निरन्तर इसकी चर्चा करते रहते थे। पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, बाबू राजेन्द्र प्रसाद आदि जितने भी प्रमुख सरकारी मन्त्री उनके पास आते, उन पर भी वे इसी बात के लिये जोर देते रहते थे। उनके प्रयत्नों का फल भी हुआ और दिल्ली में उसके बाद झगड़े की कोई घटना नहीं हुई। पर जिन शरणार्थियों ने पाकिस्तान में घोर कष्ट सहन किये थे, जिनके परिवार वाले वहाँ मारे गये थे, घरबार के छूट जाने से जो यहाँ आकर सड़कों और धर्मशालाओं में पड़े थे, वे सब उनसे बहुत असन्तुष्ट हुये। २० जनवरी को ही मदनलाल नाम के एक युवक ने गाँधी जी की प्रार्थना सभा के उद्देश्य से एक बम फैंका जो गलती से कुछ दूर पड़ा। उससे वहाँ भगदड़ तो अवश्य मच गई पर किसी के जान-माल का नुकसान नहीं हुआ।

पर इस घटना से गाँधीजी ने अच्छी तरह समझ लिया कि यद्यपि हिंसा की अग्नि ऊपर से कुछ दब गई है, पर भीतर ही भीतर वह धधक रही है। अब सरकारी अधिकारियों और अन्य नेताओं के दबाव से हिंसा में विश्वास रखने वाले मुसलमानों के खिलाफ खुल कर कोई कार्यवाही नहीं कर सकते, इस कारण वे मुझे अपना दुश्मन समझ कर अपने रास्ते से हटाने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। पर वे तो पहले ही कितनी ही बार मृत्यु को चुनौती दे चुके थे, इसलिये इस परिस्थिति से डरने की बजाय उल्टा प्रसन्न हो रहे थे। देश का मौजूदा वातावरण उनको अपने सिद्धान्तों के विपरीत जान पड़ रहा था और उनकी आत्मा कह रही थी कि अब इसका सुधार जल्दी नहीं हो सकता। बड़े-बड़े कांग्रेसजनों की त्यागवृत्ति और सेवा-भावना अब ढीली पड़ने लग गई थी और देशोत्थान के बजाय उनका लक्ष्य बड़ा पद प्राप्त करना और हर तरह से लाभ उठाना रह गया था। एकाध बहुत बड़े कांग्रेसी नेता की रिश्वत लेने की बात भी उनके जानने में आयी। उधर पाकिस्तान में हिन्दुओं पर मनमाने जुल्म हो रहे थे, सैकड़ों व्यक्ति काटे जा रहे थे, धर्म-स्थानों पर आक्रमण किये जा रहे थे, बहू-बेटियों की इज्जत खराब की जा रही थी। इन खबरों से तैश में आकर शरणार्थी उनसे कहते थे कि आपने यहाँ तो मुसलमानों की रक्षा की अब पाकिस्तान जाकर हिन्दुओं को तो बचाइये। सीमा प्रान्त से आने वाले कुछ शरणार्थियों ने स्पष्ट कहा कि "हमको आपकी जरूरत नहीं है। आप हमारे बीच में क्यों दखल देते हैं। आप हिमालय मे जाकर एकान्त में बैठिये।"

इन घटनाओं को देखकर उनकी अन्तरात्मा अत्यन्त दुखी हो रही थी और उन्होंने बातचीत करते हुये एक-दो बार कहा भी-- "अब मेरी कौन सुनेगा !" अपने जीवन के अन्तिम दस दिनों में उन्होंने अपने आत्म-दान का बिल्कुल निश्चय कर लिया था और वे प्रतिदिन किसी न किसी से बातचीत करते हुये इस भावना को प्रकट कर ही देते थे । एक दिन जब उनकी सेवा करने वाली मनु बहन ने कहा "बापू ! आज आप आराम कीजिये न ?" तो उन्होंने उत्तर दिया- "अब तो मुझे भी लग रहा है कि आराम का समय नजदीक आता ही जा रहा है । फिर तो तू झकझोर कर जगायेगी तब भी मैं नहीं जागूँगा ।" बम फटने के बाद दूसरे दिन प्रार्थना सभा में कहा--"बम के फटने पर भी मैंने जो शान्ति रखी बहुत से लोग उसकी प्रशंसा करते हैं । पर सच्ची बहादुरी तो तभी कही जायेगी, जब मेरे सामने ही बम फूटे और मैं न डरूँ, और उस समय भी हँसता हुआ ही आप से विदा लूँ । मैं इसी सौभाग्य की प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।" फिर एक दिन बाद किसी परिचित को पत्र में लिखा--"२० तारीख को तो मुझे मरना ही था, लेकिन रामजी को अभी मुझसे काम लेना होगा, इससे बचा लिया । किन्तु इसी तरह हँसते-हँसते मर सकूँ तो मुझ पर ईश्वर की अपार कृपा ही मानी जायगी । क्या मैं ऐसा भव्य कृपा का पात्र बन सकूँगा ? ऐसी मृत्यु का पात्र बनने का प्रयत्न तो मैं कर ही रहा हूँ ।"

२६ तारीख को भी एक मुसलमान मित्र के पत्र का उत्तर देते हुये उन्होंने लिखा था-- "मैं तो राम का दास हूँ। उनकी मर्जी होगी, वहाँ तक उनका काम करूँगा । अपने जीवन से सत्य-अहिंसा की सफलता सिद्ध कर सकूँ, ऐसी मौत खुदा देगा, तभी कामयाब हो सकता हूँ ।" २८ तारीख को जब एक अँग्रेजी बोलने वाली उच्च पदस्थ महिला ने पूछा कि अब तो आपकी प्रार्थना-सभा में लोग विघ्न नहीं डालते?" तो उन्होंने कहा--'No, but does that question mean that you are worrying about me ? If I am to die by the bullet of a mad man I must do so smiling. God must be in my heart and on my lips.

अर्थात्-- "नहीं । पर क्या तुम्हारे प्रश्न से यह प्रकट नहीं होता कि तुम मेरे लिये चिन्तित हो । अगर मुझे किसी पागल आदमी की गोली से मरना पड़े तो मुझे हँसते हुये ही मरना चाहिये । मेरे हृदय में और ओठों पर केवल भगवान का नाम हो ।

मृत्यु से पहली रात को जब वे विश्राम के लिये बिस्तर पर लेट गये थे और दो एक अनुयायी उनके थके हुये अंगों को मल रहे थे, उन्होंने कहा--"अगर मैं किसी बीमारी से-सामान्य फोड़े से भी मरीज होकर मरूँ, तो तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि संसार को बता दो कि गाँधी जी सच्चे ईश्वर भक्त नहीं थे, चाहे इससे लोग तुमसे नाराज ही क्यों न हो जायें । अगर तुम ऐसा करोगे तो मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी । साथ ही यह लिखकर रख लो कि अगर कोई गोली चला कर मेरे जीवन का अन्त कर दे और मैं उस आघात को बिना हाय-तोबा किये सह लूँ तब भी राम नाम लेता हुआ ही प्राण त्यागूँ, तो यह समझना कि मै जो दावा करता था वह सच है ।

'३० जनवरी के दोपहर के समय जब दिल्ली के कुछ मौलाना उनसे मिलने आये और पूछा कि क्या आप सेवाग्राम जा रहे है ? गाँधीजी ने कहा--"वहाँ जाना बहुत जरूरी है, नहीं तो मेरा बहुत-सा कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जायेगा ।" मौलाना ने पूछा "क्या आप १४ फरवरी तक वापस आ जायेंगे ? गाँधीजी ने कहा "मैं १४ तारीख तक लौट आने की पूरी आशा रखता हूँ । पर भगवान को कुछ और ही मंजूर हो तो दूसरी बात है । अभी तो मुझे यह भी निश्चय नहीं कि मैं परसों भी यहाँ से रवाना हो सकूँगा या नहीं ? यह सब भगवान के ही हाथ मे है ।"

उन दिनों एक बहुत बड़ी समस्या यह उठ खड़ी हुई थी, कि सरदार पटेल तथा पं. जवाहर लाल नेहरू में शासन कार्यों के विषय में मतभेद उत्पन्न हो गया था, और कितने ही लोग अपने स्वार्थ के लिये उसे बढ़ाने की कोशिश भी करते रहते थे । उसी दिन एक कार्यकर्ता ने गाँधीजी को लन्दन के "टाइम्स" अखबार में प्रकाशित एक लेख दिखाया था, जिसमें सरदार पटेल को "सम्प्रदायवादी" बता कर नेहरू जी प्रशंसा की गई थी । गाँधी जी को इस विषय में बड़ी चिन्ता थी और उसी दिन शाम के ४ बजे सरदार पटेल के आने पर उनसे कहा-- 'यद्यपि पहले मैंने यह विचार प्रकट किया था, कि सरदार और नेहरू में से कोई एक मन्त्रिमण्डल से हट जाय । पर उसके बाद मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उसमें दोनों का ही रहना अनिवार्य है । अगर यह व्यवस्था भंग हुई तो बड़ी हानि होगी ।" गाँधी जी के इस अन्तिम आदेश का सरदार पटेल ने अन्त तक पालन किया और सार्वजनिक रूप में वे यह घोषणा करते रहे कि 'जवाहर लाल हमारा नेता है, क्योंकि गाँधी जी उन्हे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर गये हैं । हमें बापू के आदेश का अक्षरशः पालन करना चाहिये ।"

पाँच बजे सरदार पटेल से बातचीत समाप्त करके वे उठे और अपने कमरे से निकल कर प्रार्थना सभा की तरफ जाने लगे तो बीच मे ही एक साथी ने कहा "काठियावाड से दो कार्यकर्ता आये हैं और मिलने का समय पूछ रहे हैं?

गाँधीजी ने कहा-- "उनसे कह देना कि वे प्रार्थना के बाद आयें । तब मैं उनसे बात कर सकूँगा अगर जिन्दा रहा तो।"

इस कथन के एक या दो मिनिट बाद ही वे प्रार्थना स्थल में पहुँच गये । पर मंच तक पहुँचने से पूर्व ही हत्याकारी ने उठकर उनको रोका और तीन गोलियाँ चलाकर उनकी जीवन लीला समाप्त कर दी । गोली लगने के बाद गाँधीजी के मुख से गिरते-गिरते केवल एक बार "राम-राम" शब्द निकला ।

मरने के बाद भी गाँधीजी का प्रभाव कितना अधिक था, यह इस घटना से प्रकट होता है-- भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड माउण्टबेटन उसी दिन मद्रास से लौटकर आये थे । जैसे ही उन्होंने यह समाचार पाया वे तुरन्त बिरला हाउस पहुँचे । उस समय वहाँ इतनी अधिक भीड़ हो गई थी, कि उनको भीतर घुस सकना कठिन हो गया । उनके चारों तरफ एक समूह एकत्रित हो गया और किसी गुस्से में भरे नवयुवक ने चिल्ला कर कहा-- "गाँधीजी की हत्या एक मुसलमान ने की है ।"

लार्ड माउण्टबेटन पक्के, फौजी आदमी थे । परिस्थिति को देखकर तुरन्त बोले-- "तुम मूर्ख हो । हर एक जानता है कि वह हिन्दू है ।" इस उत्तर को सुनकर आस-पास की भीड़ के लोग कुछ शान्त हो गये । माउण्टबेटन के साथ आने वाले एक अफसर ने पूछा-- "आपको कैसे मालूम हुआ कि वह हिन्दू है ?" माउण्टबेटन ने कहा--"यह हिन्दू ही होना चाहिये, क्योंकि अगर वह मुसलमान हो तो सारा देश चौपट हो जायगा ।" वे जानते थे कि अगर मारने वाला मुसलमान हो तो भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक साम्प्रदायिक दंगे की ऐसी आग भड़केगी कि उसे बुझा सकना असम्भव हो जायगा ।

दूसरा काम उन्होंने यह किया कि भीतर पहुँचते ही नेहरू जी और सरदार पटेल को अलग कमरे में बुलाया और कहा-- "गाँधी जी ने मुझसे सबसे अन्त में यही आग्रह किया कि जहाँ तक मेरी शक्ति हो वहाँ तक आप दोनों को साथ रखूँ और दोनों में मित्रता बनाये रखने की चेष्टा करूँ ।" इस पर इस महान शोक के अवसर पर भी वे एक दूसरे से गले मिले और वायसराय के कथनानुसार दोनों ने रात को रेडियो पर पुष्टि कर दी ।

महात्मा गाँधी का दैवी व्यक्तित्व

संसार में गाँधी जी के देहान्त होने का जितना अधिक शोक मनाया गया और सब तरह के लोगों ने इसको जिस प्रकार अपनी व्यक्तिगत हानि माना, वैसा संसार में शायद ही पहले कभी हुआ हो । भारतवर्ष में कई आदमी यह खबर सुनकर मर गये, कुछ ने आत्महत्या की चेष्टा की, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि अब संसार में उनके लिये कुछ शेष नहीं रहा । संसार भर से सहानुभूति और सम्वेदना के सन्देश आये । इंग्लैण्ड के राजा और रानी, अमरीका के प्रेसीडेण्ड ट्रु मैन, रोम के पोप पायस, फ्रांस के प्रेसीडेण्ट, इंग्लैण्ड के आर्क विशप कैण्टरबरी, तिब्बत के दालाईलामा जैसे प्रमुख शासकों तथा धर्माध्यक्षों ने हजारों की संख्या में सन्देश भेजे । राष्ट्र-संघ की सीक्योरिटी कौंसिल ने यह खबर पाते ही अपना अधिवेशन स्थगित कर दिया और गाँधी जी को "सबसे अधिक गरीबों तथा गिरे हुओं के मित्र" के नाम से याद किया । राष्ट्र-संघ में इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि फिलिप नोलब्रेकर ने कहा कि "गाँधी जी की बहुत बड़ी सफलतायें तो आगे चलकर दिखायी पड़ेंगी ।" उसी समय "यूनाइटेड नेशन्स" (राष्ट्र-संघ) का झण्डा भी झुका दिया गया ।

पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा "बड़े और प्रसिद्ध लोगो के स्मारक धातु की मूर्तियो के रूप में बनाये जाते हैं और उनमें संगमरमर लगाया जाता है, पर इस दैवी-शक्ति सम्पन्न का स्मारक करोड़ों लोगों के हृदय में बना है और वह असंख्य वर्षों तक बना रहेगा ।" अमरीका की प्रसिद्ध लेखिका पर्लबक ने, जिसे नोबल पुरस्कार मिला था, कहा-- "महात्मा गाँधी की मृत्यु ईसा के क्रूस पर चढ़ाये जाने के तुल्य दूसरा बलिदान है ।" अमरीका के द्वितीय महासमर को जीतने वाले प्रसिद्ध सेनापति डागलस मैकार्थर ने कहा-- "अगर मानव सभ्यता को जीवित रहना है, तो हमको एक दिन गाँधी जी का यह सिद्धान्त मानना ही पड़ेगा कि किसी झगड़े के निपटारे के लिये सामूहिक शक्ति (सैनिक शक्ति) का प्रयोग गलत है । इस प्रकार की नीति में नाश का बीज अपने भीतर ही निहित रहता है ।" फ्रांस के प्रसिद्ध नेता लियोन ब्लम ने लिखा-- "मैंने कभी गाँधी जी को देखा नहीं, मैं उनकी भाषा नहीं जानता, कभी उनके देश में कदम नहीं रखा, फिर भी मुझे ऐसा शोक हो रहा है, जैसा किसी निकटवर्ती प्रिय सम्बन्धी की मृत्यु से होता है ।"

जो जातियाँ उस समय अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये संघर्ष कर रही थीं, उनको ऐसा अनुभव हुआ कि आज हमने अपना एक बड़ा सहायक और हितैषी खो दिया । अफ्रीका के हब्शी नेताओं ने कहा-- "अफ्रीका निवासियों के स्वाधीनता-संघर्ष के लिये गाँधी जी का जीवन कार्य सदैव एक प्रेरणादायक प्रकाश की तरह बना रहेगा।" अमरीका के सब से बड़े अखबार "न्यूयार्क टाइम्स" ने लिखा-- "गाँधी जी अपने उत्तराधिकार स्वरूप एक ऐसी

आध्यात्मिक शक्ति छोड़ गये हैं जो भगवान के निर्देशित समय पर अवश्य ही हथियारों और हिंसा की दूषित नीति पर विजय प्राप्त करेगी ।" न्यूयार्क के ही दूसरे समाचार पत्र "पी. एम." ने लिखा कि "गाँधी के बलिदान से सिद्ध होता है कि अब भी संसार के उद्धार के लिये कुछ आशा है ।"

भारतवर्ष में हजारों कोस की दूरी पर रहने वाले इन विदेशी और अन्य धर्मी विद्वानों द्वारा महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में प्रकट किये गये इस प्रकार के सैकड़ों उद्‌गारों से यह सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में वे "युग-पुरुष" थे । ऐसे महामानव प्रकृति अथवा ईश्वर के नियमानुसार "युग परिवर्तन" के अवसर पर प्रकट होते हैं और संसार की परिस्थिति के अनुकूल सत्य-मार्ग का उपदेश देते हैं । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही होती है कि वे जो कुछ कहते हैं उसके अनुसार स्वयं भी आचरण करके दिखा देते हैं, जिससे लोग उनका अनुसरण करने में समर्थ हो सकें । गाँधी जी ने सर्वसाधारण को सत्य, अहिंसा और आत्म-त्याग का उपदेश केवल मुख से ही नहीं दिया, वरन् अन्याय के विरोध और जन कल्याण के लिये वे सदैव प्राण देने को तत्पर रहे और अन्त में उन्होंने अपने इस निश्चय को कार्य रूप में परिणित करके दिखा दिया ।

जैसा हम पहले बता चुके हैं, स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् होने वाले साम्प्रदायिक दंगों और भयंकर खून-खराबी से गाँधी जी बड़े खिन्न हुये और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे प्राण देकर भी इस "दुर्घटना" का प्रतिकार करेंगे । वे अच्छी तरह जानते थे, कि अँग्रेज राजनीतिज्ञों ने भारतवर्ष को आपत्तिग्रस्त करने के लिये ही हिन्दू-मुसलमानों को भयंकर रूप से लड़ा देने की यह चाल चली है । अगर किसी विशेष उपाय से इस परिस्थिति का सुधार न किया गया, तो इन झगड़ों और दंगों का कभी अन्त न होगा और देश तथा शासक वर्ग की जो शक्ति देश को प्रगति पथ पर अग्रसर करने में लगनी चाहिये थी, वह फौज, पुलिस और जेलों की व्यवस्था में ही खर्च होती रहेगी । इस स्थिति को देखकर उन्होंने अपना बलिदान करने का अन्तिम निश्चय कर लिया और सम्प्रदायवादियों की घोर उत्तेजना तथा उग्रता को देख कर भी शान्ति स्थापना तथा हिन्दू-मुसलिम एकता का कार्य पूरी शक्ति से करने में जुट गये । इसका नतीजा उन्होंने जैसा सोचा था, वही हुआ और हत्याकारी गोडसे ने स्वयं अमिट कलंक ग्रहण करके महात्मा जी को परमपद का अधिकारी बना दिया । यही देखकर वर्तमान समय के महान व सुमित्रानन्दन पन्त मुक्त कण्ठ से गा उठे—

नव संस्कृति के दूत । देवताओं का करने कार्य ।
आत्मा के उद्धार हेतु ही आये तुम अनिवार्य ।।
सगुण होकर निर्गुण रूप से
जगत त्राण किया भवकूप से ।
सगुण से फिर निर्गुण हो गये,
निगम है नट-नागर के नये ।।

त्याग और परोपकार के आराधक देशबन्धु चितरंजनदास

सन् १९०८ की बात है । भारतवर्ष का राजनैतिक वातावरण पूरी तरह गर्म हो रहा था । देश भर में "स्वदेशी आन्दोलन" की धूम मची हुई थी । "अँग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार करो" की ध्वनि से आकाश गूँज रहा था । भारतवासियों की इस विद्रोही भावना को देखकर ब्रिटिश अधिकारी भी कुपित होकर दमन पर तुल गये । देश के सैकड़ों सुप्रसिद्ध नेता और कार्यकर्ता गिरफ्तार किये और जेलों में बन्द कर दिये गये । स्वदेशी-प्रचार की सभाओं को पुलिस लाठी चलाकर भंग कर रही थी । अनेक स्थानों में तो "वन्देमातरम्" कहने पर गिरफ्तार कर लिये जाते थे । इस प्रकार जनता और सरकारी अधिकारियों में भयंकर संघर्ष हो रहा था । भारतीय नर-नारी अपने जन्म सिद्ध अधिकारों की माँग कर रहे थे और सरकारी कर्मचारी आन्दोलन को कुचल डालना चाहते थे ।

सरकार के दमन-चक्र का प्रतिकार करने के लिये देश के कुछ नवयुवकों ने शान्तिपूर्ण आन्दोलन का मार्ग त्यागकर शस्त्र-बल का आश्रय लेने का निश्चय किया । खुले तौर पर तो अँग्रेजों की आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना का मुकाबला कर सकना मुट्ठी भर व्यक्तियों के लिये संभव न था, इसलिये इन क्रान्तिकारियों ने गुप्त-संगठन बनाये, और छिपे तौर पर बम बनाने तथा पिस्तौल आदि एकत्रित करने का कार्य आरम्भ किया । बंगाल के क्रान्तिकारी दल ने अपना सबसे पहला लक्ष्य कलकत्ता के एक मजिस्ट्रेट मि. किंग्सफोर्ड को बनाया । ये स्वदेशी आन्दोलन में पकड़े जाने वाले व्यक्तियों को कड़ी-कड़ी सजायें दे रहे थे । एक पन्द्रह वर्ष के लड़के को उन्होंने बेंत लगाने की भी सजा दी । इस पर क्रुद्ध होकर क्रान्तिकारी दल ने मि. किंग्सफोर्ड को मारने का आदेश दे दिया ।

क्रान्तिकारियों की धमकी से डरकर मि. किंग्सफोर्ड ने अपना तबादला मुजफ्फरपुर करा लिया था । इस कारण गुप्त दल के दो सदस्य खुदीराम और प्रफुल्लचन्द्र चाकी उनको

मारने वहीं पहुँचे । उन्होंने उनकी गाड़ी पर बम तो फेंका पर उस समय उसने मि० किंग्सफोर्ड के बजाय दो अँग्रेज महिलायें बैठी थीं, जिनका देहान्त उसी समय हो गया । इस घटना से सरकारी क्षेत्र में रोष और बदहवासी का तूफान आ गया और भारतीय आन्दोलनकारियों के विरुद्ध विषोद्‌गार प्रकट किये जाने लगे । ऐंग्लोइण्डियनों के मुख्यपत्र 'पायोनियर' ने तो यहाँ तक लिख डाला कि "अगर कहीं एक अँग्रेज मारा जाता है, तो उसके बदले दस भारतवासियों को फाँसी दे देनी चाहिये ।"

सरकारी खुफिया पुलिस ने जाँच करके खुदीराम को शीघ्र ही पकड़ लिया और प्रफुल्ल चाकी ने गिरफ्तार होते समय पिस्तौल से गोली मारकर अपना अन्त कर लिया'। पर मामला यहीं खत्म नहीं हो गया । सरकार को विश्वास हो गया, कि इन हत्याओं के पीछे कोई बड़ा षडयन्त्र है, इसलिये मुख्य कार्य उसके नेताओं का पता लगाना और दण्ड देना है । कुछ दिन बाद पुलिस के जासूसों ने कलकत्ता में एक बम फैक्टरी का पता लगा लिया और २६ व्यक्तियों को गिरफ्तार किया जो 'युगान्तर पार्टी' नामक गुप्त-संस्था के सदस्य थे । इसके कुछ ही समय बाद श्री अरविन्द घोष को भी हिरासत में ले लिया गया, जो उस समय 'नेशनल कालेज' के प्रिन्सीपल और 'वन्देमातरम्' अँग्रेजी दैनिक पत्र के संचालक थे ।

'वकालत' का अपूर्व आदर्श

मुकदमा बड़ी धूमधाम से चला यद्यपि 'बम काण्ड' से अरविन्द का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था और वे देश के एक प्रसिद्ध सार्वजनिक नेता और चोटी के विद्वान् थे, पर सरकार का सबसे अधिक रोष उन्हीं पर था । वह जानती थी कि अपने लेखों और भाषणों से उन्होंने नवयुवकों में वह भावना भरी है जिससे यह इस प्रकार देश के लिये प्राण देने को तैयार हो गये हैं । इसलिये सरकारी वकील मि. नार्टन ने तरह-तरह के प्रमाणों की भरमार करके चार महीने तक सरकारी पक्ष उपस्थित किया, जिसमें अदालत द्वारा दो सौ गवाह, चार हजार कागज-पत्र और पाँच सौ दूसरे सबूत जैसे-- बम, विस्फोटक पदार्थ आदि की जाँच की गई । अँग्रेज सरकार द्वारा लाखों रुपया खर्च करके हर तरह से यह चेष्टा की गई कि श्री अरविन्द को मृत्यु दण्ड या कड़ी से कड़ी सजा दी जाय । पर उनकी तमाम कोशिश निरर्थक सिद्ध हुई और अँग्रेज जज को बाध्य होकर श्री अरविन्द को छोड़ देना पड़ा । इस आश्चर्यजनक फैसले का समस्त श्रेय था, श्री अरविन्द की वकालत करने वाले-श्री चित्तरंजनदास को ।

यद्यपि भारतवर्ष में प्रतिभाशाली वकीलो की कमी नहीं है । गत सौ वर्षों में कानून के एक से एक दिग्गज पचासों विद्वान् ऐसे हो चुके है, जिनका नाम अदालती-इतिहास मे स्थायी हो गया और जो अपार सम्पत्ति के साथ सार्वजनिक यश और कीर्ति के भी भागीदार बन सके । पर उन सबमें श्री चित्तरंजनदास का-सा उदाहरण मिल सकना असम्भव है । निस्सन्देह इन प्रसिद्ध वकीलों ने महत्वपूर्ण अभियोगों में अपनी कानूनी योग्यता-का अपूर्व परिचय दिया था, पर उसके लिये अपने मुवक्किलों से फीस के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें भी प्राप्त की थीं । पर श्री चित्तरंजन एक ऐसे वकील निकले, जिन्होंने अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में हद दर्जे की योग्यता प्रकट करके अपने मुवक्किल (श्री अरविन्द) को यमराज की दाढ़ी मे से सुरक्षित निकाल लिया और साथ ही इसके लिये जान-बूझकर कई लाख रुपयों की हानि भी उठायी। इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए उनके जीवन-चरित्र लेखक श्री हेमेन्द्रनाथदास गुप्त डी. लिट. ने लिखा है-

"चितरंजन ने अपने मुवक्किल को बचाने के लिये बड़ी मेहनत की । उन्होंने इस मुकदमे में अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा दी तथा अपना पक्ष सशक्त करने के लिये तत्सम्बन्धी उपलब्ध सभी फैसलों और कानूनों का अध्ययन किया । दस महीने तक चित्तरंजन ने अरविन्द के मुकदमे मे रात-दिन एक कर दिया । उन्होंने इस मुकदमे को न केवल बिना किसी प्रकार की फीस के स्वीकार किया, बल्कि इसके कारण उनको अपनी घोड़ागाड़ी बेच देनी पड़ी और व्यक्तिगत रूप से कर्ज भी लेना पड़ा । उनकी आमदनी बिल्कुल बन्द हो गई थी, जबकि खर्चे ज्यों के त्यों बने थे। जिस समय मुकदमा खत्म हुआ, उन पर लगभग पचास हजार का ऋण था ।"

श्री अरविन्द ने भी अभियोग से रिहाई हो जाने के पश्चात् उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा था-

"अप्रत्याशित रूप से वह आगे आया, मेरा यह मित्र ...... आप सबने उसका नाम सुना है, जिसने अपनी सब चिन्ताओं को एक तरफ रख दिया, अपने सारे मुकदमे छोड़ दिये, महीनो आधी-आधी रात तक बैठा परिश्रम करता रहा और मुझे बचाने के लिये जिसने अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लिया । उसका नाम है-श्री चित्तरंजनदास । जब मैंने उसे देखा, तो मैं सन्तुष्ट हो गया ।"

श्री चित्तरंजनदास के जीवन की एक यही घटना इतनी महत्वपूर्ण है, जिसके आधार पर उनको उच्चकोटि का 'महापुरुष' माना जा सकता है । वकील का पेशा हमारे देश मे बहुत अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि उनमें से अधिकांश मुकदमें के ठीक या गलत होने का ख्याल छोड़कर

अधिक से अधिक रुपया कमाने की कोशिश में लगे रहते हैं, यद्यपि देश के अधिकांश नेता आरम्भ में वकील ही थे--महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक और मालवीय जी जैसे महान् नेता भी इसी क्षेत्र में से आये थे, तो भी सामान्य जनता की दृष्टि में यह पेशा कभी प्रशंसनीय और श्रद्धास्पद नहीं समझा गया। पर दास बाबू ने श्री अरविन्द के अभियोग में स्वार्थ त्याग की हद करके यह दिखा दिया कि, यदि मनुष्य के हृदय में सच्ची परोपकार-भावना हो तो वह प्रत्येक अवस्था में तदनुसार आचरण कर सकता है। जो परिस्थितियों का नाम लेकर समाज सेवा के कार्यों से विमुख रहते हैं, उनके लिये दास बाबू का उदाहरण शिक्षाप्रद हो सकता है।

त्याग और परोपकार का जन्मजात गुण

उदारता और त्याग का यह गुण श्री चित्तरंजन दास (सन् १८७० से १९२५) में आरम्भिक जीवन से ही पाया जाता था। हम यह भी कह सकते हैं, कि यह उनको पैतृक रूप से प्राप्त हुआ था। उनके पिता श्री भुवन मोहन भी कलकत्ता हाईकोर्ट के एक नामी वकील थे। पर ये स्वभाव से इतने उदार तथा स्वयं भी पर्याप्त खर्च करने वाले थे, कि अपनी समस्त आय खर्च कर डालने पर भी कमी पड़ती रहती थी। एक बार उन्होंने अपने क्लर्क के कहने पर किसी व्यक्ति की जमानत दे दी। वह व्यक्ति धोखेबाज निकला और इस कारण भुवन मोहन पर तीस हजार रुपये की देनदारी आ गयी। इसके अतिरिक्त पहले से भी उनके ऊपर कुछ ऋण था। जब इसको चुका सकना सम्भव न हो सका, और कर्ज देने वाले अदालत में पहुँच गये, तो उन्हें कानून के अनुसार 'दिवालिया' घोषित कर दिया गया।

दास बाबू की माता श्रीमती निस्तारिणी देवी भी बड़ी विशाल हृदय वाली, दूसरों के दुःख दर्द में सहायक होने वाली और न्याय-परायण थीं। अपने पति के अत्यधिक खर्चों के कारण उनको प्रायः गृहस्थी की व्यवस्था में कठिनाइयाँ पड़ती रहती थीं, पर वे उनसे कभी नहीं घबड़ायी और बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ हर तरह की परिस्थिति का सामना करती रहीं। दास बाबू के परिचितों का मत है कि उन पर पिता से भी अधिक अपनी माता का प्रभाव पड़ा था और इसी से वे सदैव न्याय के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहे।

आरम्भिक जीवन में देशभक्ति की भावना

उदार और त्यागी होने के साथ ही उनमें देशभक्ति का गुण भी छोटी अवस्था में ही उत्पन्न हो गया था। नौ वर्ष की आयु में ही, जब स्कूल में दाखिल हुये, वे देशभक्तिपूर्ण कविताओं के प्रेमी बन गये थे और उन्हें उत्साहपूर्वक गाया करते थे। उन्हीं दिनों वे श्री विपिन चन्द्रपाल से परिचित हो गये, जो सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र के एक अग्रगामी कार्यकर्ता थे। इन बातों का प्रभाव यह हुआ कि विद्यार्थी अवस्था में ही वे सार्वजनिक कार्यों से अनुराग रखने लगे और जब आई. सी. एस. की परीक्षा पास करने इंग्लैण्ड गये तो वहाँ भी दादाभाई नौरोजी को पार्लियामेण्ट का सदस्य चुनवाने में उन्होंने जोर-शोर से कार्य किया। उन दिनों अँग्रेज प्रायः यह कह देते थे कि हमने भारत को तलवार के जोर से जीता है और तलवार के सहारे ही वश में रखेंगे। नव-युवक चित्तरंजन से यह बात सहन नहीं हुई और एक प्रचार सभा में इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा--"अँग्रेजों ने तलवार-बन्दूक के सहारे इतने लम्बे चौड़े और शानदार भारतवर्ष को कभी नहीं जीता। यह उनके सैनिक बल की नहीं वरन् कूटनीतिक चालों की जीत थी। इसे तलवार की विजय कहना और तलवार की नीति बरतने की धमकी देना सरासर ओछापन और शर्म की बात है।"

इन शब्दों से उनकी देशभक्ति और राष्ट्रीय गौरव की भावना स्पष्ट प्रकट होती है। पर ये अँग्रेजों के देश में उनके मुँह पर ऐसा कहना सामान्य बात न थी। उसी दिन से वे अँग्रेज अधिकारियों की नजरों में खटकने लग गये और अन्त में अधिकांश परीक्षार्थियों से प्रतिभाशाली होने पर भी आई. सी. एस. की परीक्षा में उनको असफल घोषित कर दिया गया। सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति को देखकर उन्होंने भी अपना लक्ष्य बदल दिया और सन् १८९३ में बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके स्वदेश वापस आ गये।

परिस्थितियों के साथ संघर्ष

यद्यपि दास बाबू की योग्यता में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं थी, और वे परिश्रम भी काफी करते थे, तो भी उनकी उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई। इसका एक कारण यह भी था कि परीक्षा पास करने के बाद सांसारिक जीवन में प्रवेश करते ही उन पर बहुत अधिक भार पड़ गया। उनके पिता ने वकालत का कार्य एक प्रकार से छोड़ ही दिया था, साथ ही उन्होंने कर्ज की एक बहुत बड़ी रकम भी परिवार के ऊपर लाद दी थी। परिवार भी काफी बड़ा था। इन सब कारणों से चित्तरंजन को आरम्भिक चार-पाँच वर्ष तक जीवन-निर्वाह के लिये कठिन संघर्ष करना पड़ा। उस समय विवश होकर उनको अपनी हैसियत के अन्य बैरिस्टरों के मुकाबले कम फीस पर मुकदमे लेने पड़ते थे। फिर भी वे धैर्य से क्रमशः आगे बढ़ते गये। कम फीस लेने पर भी

ये अपने मुवक्किल को जिताने की पूरी कोशिश करते थे और इसके लिये अधिक से अधिक जोरदार सबूत इकट्ठे करने में बड़ा परिश्रम करते थे ।

इसका परिणाम यह हुआ कि सर्वसाधरण में उनकी ख्याति बढ़ने लगी और बिना अधिक कोशिश के ही उनके पास अच्छे मुकदमे आने लगे । सन् १६०७ तक उनकी आर्थिक दशा काफी सन्तोषजनक हो गई ।

राजनैतिक मुकदमों में

इसी समय बंगाल में राजनीतिक आन्दोलन भड़क उठा । एक तरफ देशभक्तों ने विदेशी शासन के पंजे से देश को आजाद करने के लिए संघर्ष आरम्भ किया और दूसरी ओर सरकारी अधिकारी अपनी सत्ता कायम रखने के लिये दमन करने लगे । उस अवसर पर दास बाबू की जन्मजात देशभक्ति की भावना विशेष रूप से प्रबल हो उठी और उन्होंने अपनी आर्थिक कठिनाइयों की परवाह न करके सरकारी कोप का शिकार होने वाले राजनीतिक कार्यकर्ताओं के मुकदमों में सहायता देना आरम्भ किया । 'सन्ध्या' के सम्पादक श्री ब्रह्म बान्धव उपाध्याय और 'न्यू इण्डिया' के सम्पादक श्री विपिन चन्द्र पाल, दोनों को राजद्रोह के अभियोग में जोरदार पैरवी करके जेल जाने से बचाया । और भी अनेक राष्ट्र सेवकों के अभियोगों को उन्होंने बिना फीस लिये लड़ा और अपनी कानूनी चतुरता से उनको बचा लिया ।

जिस 'बम केस' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है, उसमें दो अभियुक्तों बारीन्द्र कुमार घोष और उल्लासकर दत्त को फाँसी की सजा दी गई थी । बारीन्द्र बम फैक्टरी के मुख्य संचालक और उल्लासकर बम तैयार करने के विशेषज्ञ थे । पुलिस ने बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और ढाका के मैजिस्ट्रेट की हत्या की चेष्टा का आरोप भी इसी 'गुप्त दल' पर लगाया था । खुदीराम और प्रफुल्ल को बम देकर मि० किंग्सफोर्ड को मारने के लिए भेजने का अभियोग तो उन पर सिद्ध हो ही चुका था । इसलिये जज ने ३५ अभियुक्तों में से उनको प्रमुख मान कर प्राण दण्ड देना उचित समझा ।

जब इस मामले की अपील हाइकोर्ट में हुई तो उसका भार भी श्री दास को ग्रहण करना पड़ा । अभियुक्तों पर बम बनाने और हत्या का प्रयत्न करने का अपराध तो सिद्ध हो ही चुका था, इसलिये उन्होंने इस अवसर पर बारीकियों का आधार लेकर एक नई ही दलील जजो के सामने पेश की । यह मुकदमा भारतीय दण्ड संहिता (पीनल कोड) की १२१, १२१ (ए), १२२ और १२३ धाराओं के अन्तर्गत चलाया गया । इन धाराओं के अनुसार मुकदमा चलाने के लिये यह अनिवार्य है कि पुलिस अधिकारी पहले सरकार से अनुमति ले लें । इस मुकदमे में आरम्भ में पुलिस ने दफा १२१ (ए), १२२ और १२३ के अन्तर्गत मुकदमा चलाने की स्वीकृति तो ले ली थी, पर दफा १२१, जो बाद में लगायी गयी, उसकी मंजूरी नहीं ली गई । श्री दास ने इसी कानूनी त्रुटि का सहारा लेकर सिद्ध किया कि बारीन्द्र और उल्लासकर को धारा १२१ के अन्तर्गत ही मृत्यु दण्ड दिया गया है और यह सरकारी मंजूरी न लिये जाने के कारण अवैध है, इसलिये अभियुक्तों को मृत्युदण्ड से मुक्त किया जाय । हाईकोर्ट के जजों ने इस तर्क की सार्थकता को स्वीकार किया और दोनों अभियुक्तों को फाँसी के बजाय आजन्म कालापानी का दण्ड दिया । अपने फैसले में चीफ जस्टिस ने श्री दास के तर्कों की चर्चा करते हुए लिखा--

"मैं विशेष रूप से इसका उल्लेख करना चाहता हूँ कि मुकदमे में अभियुक्तों के प्रमुख वकील श्री चितरंजन दास ने मुकदमे को जिस ढंग से न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय था ।"

प्रभावशाली भाषण शक्ति

श्री अरविन्द घोष को मुक्त कराने में भी श्री दास ने यद्यपि कानून की धाराओं को उपस्थित करने और उनकी व्याख्या करने में अत्यन्त परिश्रम किया था, तो भी यह सन्देहजनक था कि जज उनको बिल्कुल छोड़ देंगे । पर मुकदमे के अन्त मे सरकारी वकील की बहस का जबाव देते हुये उन्होंने नौ दिन तक जो भाषण किया और उसके अन्त में जज को न्याय करने के लिये जैसे भावनापूर्ण ढंग से प्रेरित किया उसी से अधिकांश में श्री अरविन्द की रक्षा हो सकी । उन्होंने श्री अरविन्द के उच्च आदर्शों और मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए अंत में कहा--

"आपसे मेरा अनुरोध है कि जिस व्यक्ति पर ये आरोप लगाये गये हैं, वह आज केवल इस न्यायालय के सम्मुख नहीं वरन् इतिहास के उच्च न्यायालय के समक्ष खड़ा है । आपसे मेरा विनम्र निवेदन है कि जब यह मतभेद समाप्त हो जायेंगे, यह हलचल और विद्रोह शान्त हो जायगा । जब यह व्यक्ति परलोक चला जायगा, उसके बहुत समय बाद तक संसार उसे देशभक्ति के गायक, राष्ट्रीयता के देवदूत और मानवता के प्रेमी के रूप में देखता रहेगा । इस संसार से विदा ले लेने के बहुत समय बाद तक इसके शब्द भारत में ही नहीं, बल्कि दूर-दूर तक गूँजते रहेंगे । इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह व्यक्ति आज केवल इस न्यायालय के समक्ष नहीं बल्कि इतिहास के उच्च न्यायालय के समक्ष खड़ा है।"

"महोदय (न्यायाधीश से) अब समय आ गया है, जब आपको अपने निर्णय पर, और सज्जनों (न्यायाधीश को परामर्श देने वाले 'असेसरों' से) आपको अपनी राय पर विचार करना चाहिये । महोदय, मैं आपसे उस अँग्रेजी न्याय परम्परा के नाम पर अनुरोध करता हूँ, जो अँग्रेजी इतिहास का सबसे शानदार अध्याय है— कानून के उन हजारों श्रेष्ठ सिद्धान्तों के नाम पर अनुरोध करता हूँ, जो अँग्रेजी न्यायालयों ने बनाये हैं— और उन सब्य प्रतिष्ठित न्यायाधीशों के नाम पर जिन्होंने कानून को इस तरह निभाया कि उनके फैसलों से लोगों में कानून के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत हुई । मैं आपसे अँग्रेजी इतिहास के उसी शानदार अध्याय के नाम पर अनुरोध करता हूँ कि कहीं ऐसा न हो कि संसार को यह कहने का अवसर मिल जाय कि एक अँग्रेज न्यायाधीश न्याय की रक्षा करने में गफलत कर गया ।"

श्री दास के इन उच्च भावनाओं को प्रेरणा देने वाले शब्दों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि सेशन जज मि. बीचक्राफ्ट ने यह जानते हुए कि सरकार श्री अरविन्द घोष को दण्डित करने पर जोर दे रही है, उनको पूरी तरह से बरी कर दिया । इस तथ्य को अपने फैसले में प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—

"अरविन्द ही वह अभियुक्त थे जिन्हें दण्ड देने के लिये सरकार सबसे अधिक इच्छुक थी । अगर वह अभियुक्तों के कटघरे में न होते तो यह मुकदमा कभी का खत्म हो गया होता ।"

अंग्रेजों के शासन काल में, जबकि भारतीय विद्रोह के कारण इंग्लैण्ड का वातावरण गर्म हो रहा था, अपने कानूनी ज्ञान तथा भाषण कौशल से एक अँग्रेज जज को झुका देना दास बाबू का ही काम था । फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि वे किसी की खुशामद करके या दबकर अपना उद्देश्य पूरा करते थे । इस 'युगान्तर-दल' के मामले में ही एक दिन जज ने उनकी किसी बात को 'बकवास' कह दिया । इस पर तुरन्त उनकी त्यौरी चढ़ गई और उन्होंने कहा— 'अफसोस यह है कि आप इस समय जज हैं और मैं वकील । अगर आपने यह बात कहीं अन्यत्र कही होती तो मैं इसका ठीक-ठीक जबाव देता ।" देशबन्धु की निर्भीक वाणी सुनकर जज ने अपनी भूल अनुभव की और तुरन्त क्षमा माँग ली ।"

श्रेष्ठ पुरुष सदैव सत्य और न्याय के अनुयायी होते हैं । वे अपने हानि-लाभ का ख्याल न करके विरोधी के भी उचित कथन को स्वीकार कर लेते हैं और अनुचित बात चाहे किसी घनिष्ठ परिचित की भी क्यों न हो, तो भी उसे मानने को तैयार नहीं होते । देशबन्धु के इस गुण के कारण न्यायालयों के समस्त छोटे-बड़े न्यायाधीश उनका सम्मान करते थे । उनको अपना विरोधी जानते हुए भी कोई अंग्रेज उनके प्रति असम्मान का भाव प्रकट नहीं कर सकता था । सत्य और न्याय की ऐसी ही महिमा है ।

'अमृत बाजार पत्रिका' पर मानहानि का अभियोग

ऐसी ही कानूनी निपुणता का परिचय उन्होंने "अमृत बाजार पत्रिका" के मानहानि वाले मुकदमे में दिया । हाईकोर्ट ने इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट द्वारा किसी की जमीन पर अधिकार करने के प्रश्न पर विचार करने को एक विशेष 'बैंच' बिठाई थी, जिसमें तीन अँग्रेज जज और चौथे भारतीय जज श्री चिट्टी थे । 'अमृत बाजार पत्रिका' ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिख दिया कि "अगर जस्टिस चिट्टी की जगह किसी अन्य ऐसे जज को नियुक्त किया जाता, जिसके पास कुछ जमीन होती तो अच्छा होता ।" इस पर पत्रिका के संचालकों को नोटिस दिया गया कि उन्होंने एक न्यायालय के विचाराधीन मामले पर टिप्पणी की है, इसके लिये उन पर मानहानि का मुकदमा क्यों न चलाया जाये ? 'पत्रिका' ने इसकी पैरवी करने के लिये कलकत्ता के चार सर्वोत्तम वकीलों को नियुक्त किया, जिनमें 'बम केस' वाले सुप्रसिद्ध मि० नार्टन भी थे । जब एक-एक करके तीनों वकीलों ने जजों का रुख प्रतिकूल देखा तो श्री दास पैरवी करने को खड़े हुये और उन्होंने कहा कि— "पत्रिका" का इरादा हाईकोर्ट की मानहानि का हर्गिज नहीं था । उसके लेख में विवाद के विभिन्न पहलुओं को सामने रखकर अपने मतानुसार समाधान का ढंग सुझाया गया है । लेख की कुछ बातें असंगत अवश्य हैं, पर उनका वास्तविक उद्देश्य इतना ही था कि इस मामले का निर्णय फुल बैंच द्वारा किया जाय। इसलिये यह लेख अनुचित भले ही हो, पर इससे किसी प्रकार न्यायालय की मानहानि नहीं होती ।" इसके बाद उन्होंने दीवानी और फौजदारी के विभिन्न दृष्टिकोण से इस मामले को ऐसी चतुरता से पेश किया कि फुल बैंच के जजों ने 'पत्रिका' के पक्ष में निर्णय दे दिया ।

श्री दास की कानूनी निपुणता, सन्तुलित भाषण और निर्भीकता की सर्वत्र सराहना की जाती थी । उनकी मृत्यु के पश्चात् सभी प्रमुख जजों और वकीलों ने इन गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि— "श्री दास मुकदमे के समस्त पहलुओं पर पूरी तरह ध्यान देते थे । गवाहों के बयानों, लिखित प्रमाणों और परिस्थिति जन्य प्रमाणों का वह बड़ी

सावधानी और होशियारी से विवेचन करते थे । उनमें अदम्य इच्छा-शक्ति थी, जिसके फलस्वरूप वे जजों अथवा अपने विरोधियों से कभी नहीं दबते थे । वे एक सच्चे व्यक्ति के समान खड़े होते थे और ऐसी ईमानदारी तथा विश्वास के साथ बहस करते थे कि विरोधी भाव रखने वाले जज भी अन्त में उनसे प्रभावित हो जाते थे ।"

राजनीति में प्रवेश

यद्यपि श्री दास में देशभक्ति की भावना आरम्भ से ही थी और वे अपने ढंग से देश-सेवा के कार्यों में भंग लेते रहते थे । उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक उच्च विचारों के प्रचारार्थ स्वयं 'नारायण' नाम का एक मासिक पत्र निकाला था । इसके सिवाय वे 'न्यू इण्डिया' पत्र के भी एक बड़े सहायक थे, जिसका सम्पादन श्री विपिनचन्द्रपाल करते थे । इसकी चर्चा करते हुए पाल बाबू ने एक बार लिखा था–

"जब प्रारम्भिक मालिकों के लिये 'न्यू इण्डिया' का भार सँभालना कठिन हो गया तो चित्तरंजन उनकी सहायतार्थ आगे बढ़े । कानूनी बन्धन के कारण वे स्वयं तो उसके डाइरेक्टर नहीं बन सकते थे, पर अपने मित्रों को उत्साहित करके एक 'ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी' की स्थापना कराई, जिससे यह कार्य फिर चलने लग गया । लगभग बीस वर्ष तक चित्तरंजन और मैं सच्चे सहयोगी के रूप में देश की सेवा करते रहे । मैं काम करता था और वे मेरे जीवन निर्वाह की व्यवस्था करते थे । यही नहीं मेरी जिम्मेदारियों को वे एक पवित्र कर्त्तव्य समझकर वहन करते थे, जिससे मुझे उनकी सहायता स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं होता था ।"

देशबन्धु दास ने अपने इस कार्य द्वारा कर्त्तव्यपालन की एक नयी दिशा का बोध कराया । बहुत से व्यक्ति अपने कारोबार, नौकरी अथवा अन्य सांसारिक बन्धनों का कारण बताकर सेवा-कार्यों से पृथक रहते हैं । पर वे क्या किसी अन्य रूप में ऐसे कार्यों में सहयोग नहीं कर सकते ? दास बाबू को अपने वकालत के धन्धे में इतना अधिक काम करना पड़ता था और उस जमाने में उनके ऊपर अपने अभियुक्तों के हित-रक्षा की इतनी अधिक जिम्मेदारी रहती थी, कि वे देश के कार्यों में न तो अधिक समय दे सकते थे और न विशेष खतरा उठा सकते थे । पर इसका आशय यह नहीं कि देश-सेवा और राजनैतिक आन्दोलन के महत्व को न समझते हों । इसलिये आरम्भ में वे परिस्थिति और सुविधानुसार आर्थिक सहायता और प्रेरणा देकर ही अन्य कार्यकर्ताओं को आगे बढ़ाते रहे ।

सन् १९०८ में राजनैतिक वातावरण में बहुत अधिक तीव्रता आ जाने पर, वे अपने अपूर्व कानूनी ज्ञान द्वारा राजनीतिक अभियोगों में सहायता देने लगे । फिर जब महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारतवासियों ने योजना और निश्चयपूर्वक स्वाधीनता-संग्राम छेड़ा तो उनके महत्व और आवश्यकता को समझकर वे सब कुछ त्याग कर उसमें कूद पड़े । लोगों का कहना है कि जिस समय नागपुर कांग्रेस में उन्होंने गाँधीजी के आह्वान पर अपनी वकालत को छोड़ा उस समय उनकी आमदनी ५० हजार रुपया मासिक तक पहुँच चुकी थी । वे भारत के सर्वश्रेष्ठ वकीलों में से एक समझे जाते थे और बड़े महत्वपूर्ण मुकदमों में उनको नियुक्त किया जाता था ।

स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने के पश्चात् उन्होंने बैरिस्टरी की मूल्यवान पोशाक की जगह खद्दर के वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया । एक सर्वस्व त्यागी-संन्यासी की तरह लोक-कल्याण का कार्य ऐसी संलग्नता के साथ किया कि १ वर्ष में ही वे भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ नेता और बंगाल के तो एकछत्र सम्राट बन गये । उनके महान् त्याग और सेवाभाव को देखकर अन्य सैकड़ों साधन सम्पन्न व्यक्ति भी देश हित और बलिदान के मार्ग पर आगे बढ़े । वास्तव में देशबन्धु दास ने हमारे देश में त्याग की महान् परम्परा को अग्रसर करने में जो योग दिया, वह सदैव स्मरणीय रहेगा । कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने अपना निवास स्थान तक राष्ट्रीय हित के लिये अर्पण कर दिया । आज भी उसमें 'चित्तरंजन सेवासदन' स्थापित है, जो स्त्रियों और बच्चों का सबसे अच्छा अस्पताल माना जाता है ।

सक्रिय राजनीति में भाग लेने पर श्री दास देश हित के बड़े-बड़े कामों में पूरा सहयोग देते रहे, जिनसे भारतीय राजनीतिक आन्दोलन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा । सन् १९०५ में राजनैतिक आन्दोलन के उग्र रूप धारण कर लेने पर सरकार ने एक परिपत्र (सर्कुलर) निकाला, जिसके अनुसार छात्रों पर राजनीतिक आन्दोलन में किसी प्रकार का भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगाया गया । इसके अनुसार अनेक छात्रों पर जुर्माना किया गया और कहीं बेंत लगाने की सजा भी दी गई । इसका प्रतिकार करने के लिये राष्ट्रीय नेता एक स्वतन्त्र कालेज खोलने का विचार करने लगे । पर इतने बड़े कार्य के लिये साधन मिल सकना सहज न था । तब श्री दास अग्रसर हुए और अपने परिचित एक धनी सज्जन से एक १ रु० चन्दा लेकर राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् (नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशन) की स्थापना करा दी । जब राष्ट्रीय कालेज के अध्यक्ष (प्रिंसीपल) पद के लिये किसी

उच्चकोटि के और राष्ट्रीय भावना वाले व्यक्ति की आवश्यकता हुई तो उन्होंने श्री अरविंद घोष से, जो उस समय बड़ौदा के गायकवाड़ कालेज में ७५० रु० मासिक पर 'वाइस प्रिंसीपल' के पद पर कार्य कर रहे थे, कहा कि वे उस पद से त्यागपत्र दे दें और कलकत्ता आकर देश सेवा में भाग लें। श्री अरविन्द ने इसे स्वीकार किया और वे ही 'नेशनल कालेज' के सर्वप्रथम मुख्याध्यापक बने। इस पद के लिये उनको केवल डेढ़ सौ रुपया मासिक दिया गया।

स्वराज्य आन्दोलन में सहयोग

सन् १९१६ में 'होमरूल आन्दोलन' आरम्भ होने पर दास बाबू राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने की आवश्यकता विशेष रूप से अनुभव करने लगे। अप्रैल १९१७ में उनको कलकत्ता में होने वाले 'बंगाल प्रादेशिक सम्मेलन' का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उनके नाम का प्रस्ताव रखते हुए "श्री दास शीघ्र ही भारत के अत्यन्त विश्वासपात्र और लोकप्रिय नेता बनने वाले हैं।"

इस सम्मेलन के अध्यक्ष पद से उन्होंने जो भाषण दिया उसमें सबसे मुख्य बात यह थी कि राष्ट्र की वास्तविक मनोवृत्ति को पहचान कर उन्होंने राजनैतिक आन्दोलनकारियों को चेतावनी दी कि वे भारत की अन्तरंग आत्मा को न समझकर योरोप की नकल कर रहे हैं। उन्होंने कहा "अपने देश में विदेशी राज्य पनपने के साथ-साथ हमने योरोप की कुछ बुराइयों को अपना लिया और हम अपने सरल और उत्साहमय जीवन को त्यागकर सुख और विलासिता के जीवन में डूब गये। हमारे सभी राजनीतिक आन्दोलन यथार्थता से दूर हैं, क्योंकि इसमें उन लोगों का कोई हाथ नहीं, जो इस देश की असली रीढ़ हैं।" उनका आशय था भारत के किसान, मजदूर और सामान्य जनता से। वे जानते थे कि उनके जागृत हुए बिना न तो कोई आंन्दोलन शक्तिशाली बन सकता है और न देश का सच्चा कल्याण कर सकता है। उनकी यह भावना इतनी गहरी और सच्ची थी कि उन्होंने जब महात्मा गाँधी को जनसमुदाय को साथ लेकर आन्दोलन करते देखा तो तुरन्त अपना सर्वस्व करके उसमें सम्मिलित हो गये। श्री दास का उपर्युक्त अभिभाषण इतना महत्वपूर्ण था कि बंगाल के तत्कालीन अँग्रेज गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे ने अपनी पुस्तक 'दि हार्ट आफ आर्यावर्त' में उसकी चर्चा करते हुए लिखा था—

"श्री दास ने जो कुछ कहा, वह वास्तव में एक मिशनरी के उत्साह से कहा। योरोपीय आदर्श रूपी स्वर्ण पशु की उन्होंने धज्जियाँ उड़ाकर रख दीं और एक ऋषि के समान देश को उन्नति का रास्ता दिखाया।"

उग्र-राजनीति में प्रवेश

अब श्री दास राजनीति तथा सार्वजनिक आन्दोलन के क्षेत्र में दिन पर दिन आगे बढ़ने लगे। उन्होंने होमरूल आन्दोलन में पूरा भाग लिया और श्रीमती बेसेन्ट को कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष बनवाने का प्रयत्न किया। उस समय तक कांग्रेस संगठन अधिकाँश में नर्म दल वालों के हाथ में था और बंगाल के पुराने नेता श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी श्रीमती बेसेण्ट के बजाय राजा साहब महमूदाबाद को उस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहते थे। श्री दास ने इसका जोरों से विरोध किया। कांग्रेस अधिवेशन के लिये जो स्वागत समिति बनायी गई थी, उसके अध्यक्ष एक पुराने कांग्रेसी श्री वैकुण्ठनाथ सेन, श्री दास के पिता के मित्रों में से थे और इसलिये वे उनके प्रति बहुत आदर और श्रद्धा का भाव रखते थे, पर देश हित का प्रश्न सामने आने पर वे उनका विरोध करने को तैयार हो गये। उन्होंने प्रस्ताव किया कि स्वागत समिति का अध्यक्ष श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को चुना जाय। अब कांग्रेस संगठन के भीतर पारस्परिक संघर्ष अनिवार्य हो गया। यह देख हाईकोर्ट के एक भूतपूर्व जज सर चन्द्रमाधव घोष, जो दोनों के शुभचिन्तक थे, बीच में पड़े और यह समझौता करा दिया कि श्रीमती बेसेण्ट को कांग्रेस का सभापति बनाया जाय और वैकुण्ठनाथ सेन भी अपने पद पर बने रहे।

वास्तव में श्रीमती बेसेण्ट ने उन दिनों भारतवर्ष के राजनीतिक आन्दोलन को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय साहस दिखाया था और घोर परिश्रम किया था। एक विदेशी होते हुए भी उन्होंने भारत को होमरूल (आत्म-शासन) का अधिकार देने के लिये समस्त देश में इतना जोरदार प्रचार किया कि भारत सरकार उससे भयभीत हो उठी और उनको गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया गया। उस अवसर पर देशबन्धु दास ने एक सार्वजनिक सभा करके इस कार्य की आलोचना करते हुए कहा था—

"मैं नहीं समझता कि मानवता के देवता का गला केवल एक बार ही घोंटा गया था। अत्याचारियों और उपद्रवकारियों ने मानवता का गला बार-बार घोंटा है। मानवता पर होने वाला प्रत्येक आघात उसके तन में ठोंकी गयी एक नयी कील के समान है।"

दास बाबू केवल कानून के ही बहुत बड़े विशेषज्ञ नहीं थे, वरन् वे एक उच्चकोटि के साहित्यिक और भक्त भी थे। उनकी प्रकृति सदैव बहुत कुछ आध्यात्मिक रही। इसलिये आरम्भ में तो उन्होंने कितने ही वर्षों तक राजनीति में सक्रिय भाग ही नहीं लिया, पर जब उस क्षेत्र में पैर रखा तो वे

बहुत शीघ्र आगे बढ़ने लगे । अनेक कार्यकर्ताओं की तरह उनका यह उद्देश्य तो हर्गिज न था, कि इस कार्य द्वारा धन-प्राप्त करलें । ये दोनों बातें ही उनको पहले ही प्राप्त थीं । इसलिये वे अपनी आत्मा की पुकार पर ही देश सेवा के व्रती हुए थे और जब तक इस कार्य को किया अपना पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझकर ही किया । यही कारण है कि केवल सात-आठ वर्ष कार्य करने का अवसर मिलने पर भी उन्होंने वह कार्य कर दिखाया, जिससे उनका नाम अमर हो गया और उनकी गणना आधुनिक भारत के निर्माओं में की जाने लगी ।

देशबन्धु दास के उदाहरण से हमारे सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले सभी भाइयों को यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि वे जो कुछ करें उसमें सच्चाई का पूरा ध्यान रखें। जो कार्य आन्तरिक भावना से और स्वार्थ को त्यागकर किया जायगा, वह निश्चय ही श्रेष्ठता और वर्चस्व प्रदान करने वाला होगा । प्रत्यक्ष सफलता तो बहुत छोटी चीज है । महान् कार्यों का फल प्रायः देर से ही प्रकट हुआ करता है । इसलिये किसी भी सेवा कार्य में हमको हानि-लाभ का विचार सर्वथा त्यागकर शुद्ध भाव से कर्त्तव्य पालन का ही ध्यान रखना उचित है ।

अभूतपूर्व त्याग और देश सेवा का व्रत

महात्मा गाँधी के द्वारा असहयोग आन्दोलन किये जाने पर उसमें भी दास बाबू ने बहुत शीघ्र भाग लिया और कुछ ही दिनों में वे कांग्रेस के प्रमुख संचालक बन गये । बंगाल मे कितने ही वर्षों से आतंकवादी आन्दोलन चल रहा था और वहाँ के नवयुवक देशोद्धार के लिये बम और पिस्तौल पर ही ज्यादा भरोसा रखते थे । यह दास बाबू का ही अतुलनीय प्रभाव और महान् त्याग का परिणाम था कि बंगाल गाँधीजी का दृढ़ अनुयायी बन गया और वहाँ के कार्यकर्ताओं ने सरकारी दमन नीति का डटकर मुकाबला किया ।

असहयोग के कार्यक्रम में गाँधीजी ने दो बातें मुख्य रूप से रखी थीं । एक अदालतों का बायकाट और दूसरा शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार । इनमें से पहली बात का सबसे अधिक सम्बन्ध दास बाबू से था । वे कलकत्ता के ही नहीं भारत के एक बड़े नामी वकील माने जाते थे । सन् १९२० में उनकी आमदनी ५० हजार रुपया मासिक तक पहुँच चुकी थी और वे महात्मा गाँधी के शब्दों में 'शाही ठाठ बाठ' के साथ रहते थे । जब कांग्रेस के आदेशानुसार वे श्री मोतीलाल नेहरू के साथ जलियाँवाला बाग और पंजाब में होने वाले अत्याचारों की जाँच कमेटी के सदस्य होकर गये तो तीन महीने में उन्होंने अपना ५० हजार रु० खर्च किया था ।

कांग्रेस ने अदालतों और स्कूलों के बायकाट का प्रस्ताव पास तो कर दिया, पर उस वर्ष न तो किसी गण्यमान्य वकील ने अदालतों में जाना छोड़ा और न सरकार के स्कूल-कालेज खाली हो गये । तब १९२० के अन्त में नागपुर की कांग्रेस में इस कार्यक्रम पर पुनः विचार किया गया और महात्मा गाँधी तथा दास बाबू के विचार-विनिमय के उपरान्त असहयोग का प्रस्ताव नये रूप में प्रस्तुत किया गया । दास बाबू आरम्भ से ही विधान परिषदों (लेजिस्लेटिव कौंसिलों) के बहिष्कार के पक्ष में न थे । उनका कहना था कि हमको चुनाव में भाग लेकर अधिक से अधिक संख्या में कौंसिलों में जाना चाहिये और वहाँ सरकार के हर एक प्रस्ताव को अस्वीकृत करके शासन-संचालन असम्भव बना देना चाहिये । पर गाँधीजी, नेहरूजी तथा पटेल आदि चुनाव में भाग लेने के विरोधी थे । अन्त में गाँधीजी ने कौंसिलों के बहिष्कार की बात को प्रस्ताव में से निकाल दिया और उसके स्थान पर यह जोड़ दिया गया कि नर्म दल के जो नेता निर्विरोध चुनकर कौंसिलों में चले गये हैं, वे त्यागपत्र दे दें ।

समझौता हो जाने पर असहयोग का प्रस्ताव स्वयं दास बाबू ने ही उपस्थित किया जो पहले अधिवेशन के प्रस्ताव से अधिक जोरदार और व्यावहारिक था । उसमें कहा गया था कि अदालतों और स्कूल कालेजों का बायकाट धीरे-धीरे नहीं तुरन्त किया जाना चाहिये । लोगों को यह सलाह दी गई थी कि वे सरकार को सहयोग देना बन्द कर दें ।

यह दास बाबू की परीक्षा का अवसर था । जब वे देश की अदालतों के बायकाट के लिये वकीलों का आह्वान कर रहे थे तो स्वयं वकालत कैसे कर सकते थे ? उन्होंने उसी समय यह घोषणा कर दी कि वे अब वकालत करना छोड़ देंगे । इससे कांग्रेस का वातावरण एक नवीन उत्साह से भर उठा और एक के पश्चात् एक अनेक व्यक्ति त्याग करने को प्रस्तुत हुए । अनेक लोगों ने सरकारी नौकरियाँ छोड़ीं और अनेकों ने बड़ी-बड़ी उपाधियों को ठुकरा दिया ।

नवयुवकों का संगठन

नागपुर कांग्रेस से लौटते ही दास बाबू ने असहयोग कार्यक्रम की सफलता के लिये प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया । सबसे पहले उन्होंने उत्साही कार्यकर्ताओं की आवश्यकता अनुभव की ।१० और ११ जनवरी को उन्होंने विराट सार्वजनिक सभाओं में भाषण किये और बंगाल के छात्रों से अपील की कि वे मातृ भूमि की पुकार सुनकर

कर्मक्षेत्र में आयें । इसके फलस्वरूप सबसे पहला दल बंगवासी कालेज से आया । इसके पश्चात् रिपन कालेज, सिटी कालेज और विद्यासागर कालेज के छात्र भी बाहर आ गये । उन्होंने छात्रों से कहा कि उनकी पढ़ाई एक या दो वर्ष के लिये रुक जाय तो कोई बड़ी हानि न होगी, परन्तु स्वराज्य-युद्ध में भाग लेना प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है । शिक्षा-संस्थाओं के बहिष्कार का अर्थ इतना ही नहीं कि पढ़ना-लिखना बन्द करके घर में बैठे रहें अथवा आवारागर्दी करें, वरन् छात्रों को शहरों और ग्रामों में असहयोग के कार्यक्रम और अन्य आवश्यक कार्यों का प्रचार और संचालन करना चाहिये । कुछ छात्रों ने यह भी कहा कि ऐसा राष्ट्रीय कालेज होना चाहिये, जहाँ सरकारी कालेजों को छोड़ने वाले छात्र अगर चाहें तो अपनी पढ़ाई जारी रख सकें । श्री दास ने इसको भी उचित समझा और मौजूदा कालेजों से बातचीत की, कि उनमें से कोई 'राष्ट्रीय कालेज' की जिम्मेदारी लेने को तैयार है या नहीं ? जब उन सबको टालमटूल करते देखा तो एक नया ही कालेज स्थापित करने का निश्चय कर लिया । लगभग एक मास के भीतर ही सब व्यवस्था करके बंगाल नेशनल कालेज की स्थापना कर दी गई, जिसके प्रधानाध्यापक श्री सुभाषचन्द्र बोस बने । महात्मा गाँधी ने कलकत्ता आकर स्वयं इसका उद्घाटन किया ।

श्री सुभाषचन्द्र बोस दास बाबू के सम्पर्क में इसी समय आये और यह घटना भी हमारे नवयुवकों के लिये बड़ी प्रेरणाप्रद है । ये सन् १६१६ में आई. सी. एस. की परीक्षा देने विलायत गये थे । वहाँ उन्होंने अगस्त १६२० में परीक्षा पास कर ली, जिसमें समस्त परीक्षार्थियों में उनका नम्बर चौथा रहा । इस पर उनको उसी समय भारतीय सिविल सर्विस में स्थान मिल गया । पर ये कैम्ब्रिज का बी. ए. भी पास करना चाहते थे, इसलिये कुछ महीने के लिये इंग्लैण्ड में रुक गये । उसी समय नागपुर कांग्रेस ने असहयोग का प्रस्ताव पास किया और देशबन्धु दास ने बंगाल के युवकों का देश सेवा के लिये आह्वान किया । जब यह समाचार इंग्लैण्ड में अध्ययन करते हुए सुभाष ने पढ़ा तो उनको भी यह अनुभव हुआ कि इस अवसर पर उनका स्थान कलक्टर और कमिश्नर की कुर्सियों पर नहीं वरन् उन देशभक्तों की टोली में है, जो अपने भविष्य का ख्याल छोड़कर मातृवेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर रहे हैं । बस उन्होंने १६ फरवरी, १६२१ को ही श्री दास को एक पत्र भेजा जिसमें भारत के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने की हार्दिक अभिलाषा प्रकट की थी--

"सम्भवतः आप मुझे नहीं जानते, परन्तु याद करने पर शायद आप मुझे पहचान लें । मैं आपको एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात लिख रहा हूँ, परन्तु इससे पहले मुझे अपनी वफादारी का प्रमाण देना चाहिये । मेरे पिता बाबू जानकीनाथ बोस कटक में वकालत करते हैं । मेरे एक बड़े भाई श्री शरतचन्द्र बोस कलकत्ता हाईकोर्ट में बैरिस्टर हैं । हो सकता है, आप मेरे पिता को भी जानते हो, परन्तु मेरे भाई को तो अवश्य ही जानते होंगे ।

"मुझे सरकारी नौकरी कतई पसन्द नहीं है । मैंने अपने पिता और भाई को लिख दिया है कि मैं सरकारी नौकरी से इस्तीफा देना चाहता हूँ । परन्तु अभी तक मुझे उनका उत्तर नहीं मिला है । उनकी अनुमति प्राप्त करने के लिये मुझे यह बतलाना पड़ेगा कि सरकारी नौकरी छोड़ने के बाद क्या करूँगा ? अगर मैं देशसेवा करना चाहूँ तो बहुत से काम कर सकता हूँ-- जैसे नेशनल कालेज में पढ़ा सकता हूँ, अखबारों का सम्पादन और प्रकाशन कर सकता हूँ, जनता में शिक्षा-प्रचार कर सकता हूँ ।

"देश की स्थिति सबसे अधिक आपको मालूम है । मुझे पता चला है कि आपने ढाका और कलकत्ता में नेशनल कालेज खोले हैं, और अँग्रेजी तथा बंगला दोनों भाषाओं में 'स्वराज्य' नामक पत्र निकालना चाहते हैं । मैंने यह भी सुना है कि देश के कई स्थानों में ग्राम संगठन आरम्भ किये जा चुके हैं ।

"मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप मातृ भूमि की सेवा के क्षेत्र में मुझे क्या काम दे सकेंगे ? मेरी शिक्षा अथवा अनुभव अधिक नहीं है, परन्तु मुझ में एक नवयुवक की शक्ति है । मैं अविवाहित हूँ । जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है, मैंने कलकत्ता में और यहाँ इंग्लैण्ड में भी दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया है ।

"देश भक्ति की जो लहर आपने भारत में उठायी है, उसने ब्रिटेन को भी स्पर्श किया है । यहाँ भी मातृ भूमि की पुकार सुनायी पड़ रही है । इस समय आक्सफोर्ड के एक मद्रासी छात्र ने अपनी पढ़ाई बन्द कर दी है, वह अपना काम आरम्भ करने भारत वापस आ रहा है । कैम्ब्रिज में कभी कुछ नहीं किया गया है, हालाँकि असहयोग के बारे में यहाँ चर्चा काफी हो रही है । मेरा विश्वास है कि अगर कोई मार्ग प्रदर्शन करे, तो दूसरे लोग उसका अनुगमन अवश्य करेंगे । मातृभूमि की बलिवेदी पर बलिदान करने वाले आप प्रमुख व्यक्ति हैं । मैं अपनी आत्मा, शिक्षा, बुद्धि, शक्ति और उत्साह जो कुछ भी मेरे पास है, इसके साथ अपने को आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ । मातृभूमि के चरणों में समर्पित करने के लिये मेरे पास अपने शरीर और अपनी बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।"

यह था श्री दास के आत्म-बलिदान का प्रभाव कि उसने छः हजार मील दूर बैठे हुए युवकों के हृदय मे खलबली मचा दी । कहाँ तो ये लोग भारतीय सिविल सर्विस की ऊँची-ऊँची नौकरियाँ प्राप्त करके ठाठ-बाठ का जीवन बिताने के स्वप्न देख रहे थे, और कहाँ दास बाबू की अपील की प्रतिध्वनि सुनकर जन-आन्दोलन में कूदने और जेल जाने को उतावले होने लगे । वास्तव में एक सच्ची आत्मा जिस समय जागृत हो जाती है, यह अन्य अनेक आत्माओं की भी निद्रा भंग कर देती है । इसीलिये संसार में आत्म त्यागी महापुरुषों का सम्मान किया जाता है– पूजा की जाती है, जिससे उनका उदाहरण देखकर अन्य व्यक्तियों को भी प्रेरणा मिले और सेवा तथा त्याग की महान् परम्परा अग्रसर होती चली जाय ।

मातृभूमि की वेदी पर सर्वस्व अर्पण

इस प्रकार मातृभूमि की वेदी पर श्री दास ने अपनी धन-सम्पदा और सुख-सुविधा को ही अर्पण नहीं किया, पर उन्होंने यह भी निश्चय किया कि उनका समस्त परिवार भी इस 'महायज्ञ' में पूरी तरह भाग लेकर अपने को देशोद्धार के लिये बलिदान कर दे । इसलिये जब दिसम्बर १९२१ में प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत का बहिष्कार करने की तैयारी की जाने लगी और जनता ने उसमें भाग लेने को कम उत्साह दिखाया तो दास बाबू ने पहले अपने पुत्र को सत्याग्रह करके जेल भिजवाया और फिर अपनी पत्नी श्रीमती बासन्ती देवी और बहिन उर्मिलादेवी को भी भेज दिया । ये दोनों महिलायें बाजार में फिरकर खादी बेचने लगीं और साथ ही लोगों से २४ दिसम्बर को प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के अवसर पर हड़ताल करने की प्रेरणा भी देती जाती थीं । पुलिस के एक अधिकारी ने उनको रोका और गिरफ्तार करके थाने में ले गया । इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि एक-दो घण्टे के भीतर ही एक हजार नवयुवक गिरफ्तार हो गये और समस्त बंगाल में हलचल मच गयी । यह दशा देखकर सरकार डर गयी और उसने उसी दिन आधी रात को उन दोनों महिलाओं को छोड़कर घर पहुँचा दिया ।

श्री दास ने स्वयं भी जेल जाने का निश्चय कर लिया था और इसके लिये वे अपने को जेल-जीवन की कठिनाइयों के लिये तैयार करने लगे, क्योंकि अभी तक वे राजसी सुख-सुविधाओं में ही रहते आये थे । उन्होंने कठोर शैया कर सोना और जेल के समान ही भोजन करना आरम्भ कर दिया । इसके पाँच दिन बाद ही बंगाल के गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे ने उनको समझौते की बातचीत करने को बुलाया, जिससे प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर नगर में हड़ताल न की जाय । दास बाबू ने स्पष्ट कह दिया कि इस बात का फैसला उनके हाथ में नहीं है । प्रिंस के बहिष्कार का निश्चय कांग्रेस की कार्यकारिणी कमेटी ने किया है और हम सब लोग उसके आदेश का पालन करके हड़ताल का प्रचार अवश्य करेंगे । इस पर बातचीत समाप्त हो गई और एक दिन बाद ही दास बाबू को गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया । पुलिस की गाड़ी में चढ़ते हुए आसपास इकट्ठे हो गये लोगों से उन्होंने कहा–

"अगर हमारा उद्देश्य शुभ है तो हमको परिणामों से भयभीत नहीं होना चाहिये । जो मशाल इस देश में जलायी गई है, उसके बुझने की कोई सम्भावना नहीं है । अपने कामों में आप पूर्णतः अहिंसावादी रहें । मुझे विश्वास है आप अपने लक्ष्य में सफल होंगे । भारत की स्त्रियों और पुरुषों ! यही आपको मेरा सन्देश है । अगर आप कष्ट झेलने को तैयार हैं तो विजय समीप है ।" घरवालों तथा जनता ने शंखध्वनि तथा पुष्प-वर्षा करके श्री दास को जेल-यात्रा के लिये विदा किया ।

स्वराज्य पार्टी की स्थापना

सन् १९२१ का वर्ष असहयोग आन्दोलन की दृष्टि से सबसे बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । लाखों बुद्धिजीवी और उत्साही नवयुवकों ने उसमें सम्मिलित होकर देश के कोने-कोने मे उसका सन्देश पहुँचा दिया । पर इतने बड़े देश में सर्वत्र अहिंसा के सिद्धान्त का पूर्णतः पालन कर सकना सम्भव न था । इसलिये जब सन् १९२२ के आरम्भ में ही उत्तर प्रदेश में चौरीचौरा पुलिस थाने को एक आन्दोलनकारी भीड़ ने जलाकर कई कर्मचारियों का प्राणान्त कर दिया, तो महात्मा गाँधी ने अपना आन्दोलन अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया । देश भर मे स्वयंसेवकों की कार्रवाइयाँ, सभा और जुलूसों को बन्द कर देने का आदेश दे दिया गया । उसी समय गुजरात के बारदोली तालुका में करबन्दी का आन्दोलन शुरू किया जाने वाला था और उसके बाद समस्त देश मे इसी प्रकार सरकारी राजस्व (लगान और टैक्स) बन्द करके शासन-कार्य ठप्प कर देने की योजना थी । पर गाँधीजी ने अहिंसा की रक्षा के लिये उस समस्त कार्यक्रम को रोक दिया ।

देशबन्धु दास इस घटनाक्रम से बड़े क्षुब्ध हो गये । उन्होंने कहा– "बारदोली में सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन रोकने के लिये महात्मा जी के पास जो कुछ भी कारण रहा हो, पर बंगाल मे स्वयंसेवकों का काम रोकने के लिये कोई कारण नहीं था । यहाँ स्वयंसेवकों ने अपने प्रयत्नों द्वारा

सरकार को लगभग पंगु बना दिया था, पर अब उनके कुछ भी कार्य करने पर प्रतिबन्ध लग गया । यह दूसरी बार महात्माजी ने परिस्थिति को उलझाया है ।"

वास्तविक तथ्य यह था कि देशबन्धु तथा अन्य प्रमुख नेताओं ने अहिंसा और सत्याग्रह को एक नीति के रूप में ही स्वीकार किया था । महात्माजी की तरह कोई उनको धर्म-सिद्धान्त की तरह स्वीकार नहीं करता था । देशबन्धु की तरह लाला लाजपतराय ने भी गाँधीजी के निर्णय को असामयिक बताया और कहा कि-- "इस आदेश द्वारा पूरे देश को दण्ड दिया गया है । क्या कन्याकुमारी अन्तरीप के निवासियों के अपराधों के कारण हिमालय प्रदेश में रहने वालों को दण्ड देना उचित है ?" मौ० अब्दुलकलाम आजाद ने भी, जो देशबन्धु के साथ कलकत्ता की जेल में बन्द थे कहा कि-- "पूरे देश से यह आशा करना कि यह अहिंसक रहेगा दुराशामात्र है । एक गाँव की गलती के लिये पूरे देश को दण्ड देना ज्यादती है ।"

इस प्रकार जब महात्मा गाँधी के आदेश से देशव्यापी आन्दोलन रोक दिया गया तो चारों तरफ एक उदासीनता और अकर्मण्यता का वातावरण छा गया । सन् १९२२ का वर्ष इस दृष्टि से महत्वहीन रहा । देश के इस निराशापूर्ण रुख का लाभ उठाकर सरकार ने गाँधी जी से लगाकर सैकड़ों प्रमुख नेताओं को जेल में बन्द कर दिया । यह देखकर देशबन्धु ने देश के सामने कोई ऐसा कार्यक्रम रखने का निश्चय किया, जिससे यह निष्क्रियता दूर होकर लोगों में उत्साह की भावना उत्पन्न हो । इसके लिये उनके विचार में कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम सबसे अधिक उपयुक्त था, जिसके द्वारा सरकार को उसी के मैदान में हराया जा सकता था । वे आरम्भ से ही इस प्रकार के कौंसिल प्रवेश के पक्ष में थे, पर केवल महात्मा गाँधी के साथ मिलकर काम करने की भावना से उन्होंने अपनी बात छोड़ दी थी । सन् १९२० के नवम्बर मास में- नागपुर कांग्रेस से पहले भी एक सम्वाददाता सम्मेलन में उन्होंने अपनी यह सम्मति स्पष्ट शब्दों में प्रकट की थी-

"मैं परिषदों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं था क्योंकि मैं असहयोग के सिद्धान्त को सरकारी कौंसिलों के भीतर भी क्रियान्वित करना चाहता था, परन्तु कांग्रेस के प्रस्ताव को मानने के कारण मैंने अपनी बात वापस ले ली ।"

पर जब उन्होंने देखा कि देश के सामने कोई व्यावहारिक कार्यक्रम न होने से उसमें निर्बलता आ जाती है तो उन्होंने गया कांग्रेस के अध्यक्ष पद से कौंसिल-प्रवेश का प्रतिपादन किया, पर उस समय प्रतिनिधियों में कौंसिलों विरोधियों का बहुमत था । इसलिये श्री दास का प्रस्ताव ३१ दिसम्बर को रद्द हो गया । इस पर उन्होंने तुरन्त काँग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया और १ जनवरी, १९२३ को गया में ही श्री मोतीलाल नेहरू के साथ मिलकर स्वराज्य पार्टी की स्थापना कर ली । इस कार्य में काँग्रेस के कट्टरपन्थियों के कारण उनको बहुत बड़े विरोध का सामना करना पड़ा । जिस समय दास बाबू गया काँग्रेस से लौटकर कलकत्ता पहुँचे उस समय उनकी अवस्था कैसी कठिन हो गई थी, इसकी झलक सुप्रसिद्ध बंगाली लेखक श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने लेख में इस प्रकार दी थी--

"कोई साथ देने वाला नहीं है, पैसा नहीं है, प्रचार के लिये हाथ में एक भी समाचार पत्र नहीं है । जो अत्यन्त छोटे लोग थे, वे भी बिना गाली दिये बात नहीं करते ! देशबन्धु की यह कैसी अवस्था थी ! उस समय की बात आज तक भी मेरे मन में स्पष्ट अंकित है । जब हम गया काँग्रेस से लौटकर आये, तो समस्त समाचार पत्र देशबन्धु के विरुद्ध असत्य और अर्धसत्य बातों से भरे थे । हमारे पक्ष की बात कहने वाला कोई न था । इतना ही नहीं, कोई उनका वक्तव्य छापने को भी तैयार नहीं होता था । जिस घर में एक दिन लोगों को बैठने की जगह नहीं मिलती थी, उसमें मित्र या शत्रु किसी की पद-रज अब स्पर्श नहीं होती थी ।"

पर इतना होने पर भी देशबन्धु एक क्षण के लिये भी निराश या हताश नहीं हुए । उन्होंने गया कांग्रेस में ही यह कह दिया था कि आज जो मेरे विरोधी हैं, वे ही बहुत शीघ्र मेरे अनुकूल हो जायेंगे और ऐसा ही हुआ । गया के नौ महीने बाद दिल्ली में जो विशेष अधिवेशन मौ. अब्दुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में हुआ, उसमें यह स्वीकार कर लिया गया कि जिन लोगों का कौंसिल प्रवेश में विश्वास है, वे चुनावों में भाग ले सकते हैं । इस अवसर पर अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए देशबन्धु ने कहा--

"ये कौंसिलें क्या हैं ? ये विधान मण्डल क्या हैं ? ये सब भुलावे की चीजें हैं । क्या हम इनका अन्त नहीं करेंगे ? महात्मा गाँधी इन सुधारों को निरर्थक सिद्ध करना चाहते हैं । मैं भी कौंसिलों में जाकर यही करना चाहता हूँ । इसे कार्यरूप में परिणित करने का एकमात्र उपाय यही है कि कौंसिलों में जाकर सरकार के लिये काम करना असम्भव कर दिया जाय । मेरा उन लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं है जो पद-प्राप्ति के लिये अथवा छोटे-मोटे लाभों या स्वार्थपूर्ति के लिये वहाँ जाते हैं । मुझे इससे नफरत है, घृणा है । मेरा तो यह कहना है कि या तो मैं वहाँ उन सुधारों को नष्ट करने के लिये जाऊँ, जो कि हमारा खून चूस रहे हैं, या बिल्कुल ही न जाऊँ ।"

बंगाल प्रान्त के चुनावों में अभूतपूर्व विजय प्राप्त करके उन्होंने जो कहा था उसे पूर्णरूप से पालन करके दिखा दिया। उनके प्रभाव और परिश्रम से प्रजा की तरफ से चुने जाने वाले सदस्यों की लगभग सभी सीटें उनके दल वालों को मिलीं। नर्म दल तथा अन्य संस्थाओं के बड़े-बड़े नेता देशबन्धु द्वारा खड़े किये गये साधारण व्यक्तियों से हार गये। पर जब बंगाल के नये गवर्नर लार्ड लिटन ने श्री दास को नया मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये आमन्त्रित किया तो उन्होंने उत्तर में लिखा--

"हमारी पार्टी के सदस्य सुधार अधिनियम के अन्तर्गत सभी कानूनी अधिकारों का उपयोग द्वैधात्मक शासन प्रणाली का अन्त करने के लिये निश्चय कर चुके हैं। पार्टी जानती है कि इन पदों को स्वीकार करने के बाद भी अन्दर से सरकारी कामों में बाधा डाली जा सकती है, परन्तु ऐसा करना ईमानदारी की बात न होगी। हमारे देशवासियों की जागृत चेतना चाहती है, कि जब तक वर्तमान सरकार की शासन प्रणाली में ऐसे परिवर्तन न हों, जो हृदय-परिवर्तन के सूचक हों, तब तक जनता को उनके साथ सहयोग नहीं करना चाहिये। इन परिस्थितियों को देखते हुए, मुझे खेद है कि मैं यह उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं कर सकता।"

इसकी तुलना जब हम वर्तमान समय के कांग्रेसी नेताओं और सदस्यों से करते हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य मन्त्री-पद प्राप्त करना ही होता है, और जो विधान सभाओं में जाने का उद्देश्य अधिक से अधिक आमदनी करना ही समझे बैठे हैं, तो मालूम होता है कि उस समय की और आज की कांग्रेस के प्रति जनता की मनोभावना में इतना अन्तर क्यों है? आज परिषदों में जाने वाले लोगों ने सेवा धर्म और लोकहित की भावना को पद दलित करके स्वार्थपूर्ति और अपने सम्बन्धियों के पोषण को ही मुख्य ध्येय बना रखा है और 'जन-सेवा' को एक व्यापार के रूप में बदल दिया है। इसी से दिन पर दिन देश की नैतिकता का स्तर गिर रहा है और भ्रष्टचार की वृद्धि हो रही है। दास बाबू का मार्ग इससे सर्वथा भिन्न था। वे स्वयं बड़े से बड़ा त्याग करके दूसरे लोगों से त्याग करने को कहते थे, जिससे उसका प्रभाव तुरन्त पड़ता था। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वालों को दास बाबू के चरित्र की यह बात गाँठ बाँध रखनी चाहिये।

अत्यधिक परिश्रम से स्वास्थ्य अंग

देशबन्धु स्वभाव से ही बड़े भाव प्रवण थे। जिस काम में हाथ डालते थे, उसे तन-मन-धन से पूरा करने में संलग्न हो जाते थे। सन् १६१६ में जब से उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया था उनका कार्य-भार निरन्तर बढ़ता ही गया। जब असहयोग प्रस्ताव को स्वीकार करके उन्होंने वकालत करना छोड़ दिया तब से घर की आर्थिक व्यवस्था की एक नयी चिन्ता ने आ घेरा। वे अब तक जिस प्रकार खुले हाथ खर्च करते आये थे, उसमें बहुत कुछ कमी कर देने पर भी, अपने उच्च स्तर की रक्षा और अभ्यास के कारण उनको काफी खर्च करना पड़ता था। इन सब बातों का भार उनके स्वास्थ्य पर पड़ता गया और ६ महीने की पहली जेल-यात्रा में ही वे कई रोगों के शिकार हो गये। फिर भी उन्होंने जेल में अपने लिये कोई विशेष सुविधायें लेने से इन्कार किया, क्योंकि जब तक सभी सत्याग्रही कैदियों को वैसी सुविधायें न मिल जाय तब तक स्वयं आराम से रहना वे अनुचित समझते थे। जेलखाने से निकलने पर उनको आराम और स्वास्थ्य-सुधार करने के बजाय तरह-तरह की कठिन समस्याओं को सुलझाने के लिये और भी अधिक परिश्रम और दूर-दूर तक का दौरा करना पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप उनकी शारीरिक शक्ति दिन-दिन क्षीण होती चली गयी, और ५ वर्ष के भीतर ही उनके जीवन का अन्त हो गया। पर अन्तिम समय तक वे राजनैतिक आन्दोलन के संचालन में अपनी बहुमूल्य सम्मति देते रहे। ४ जून को उन्होंने महात्मा गाँधी को बहुत आग्रह करके दार्जिलिंग बुलाया, जहाँ वे स्वास्थ्य-सुधार के लिये गये थे। उनसे पाँच दिन तक राजनीतिक समस्याओं पर उनकी खूब बातचीत होती रही। १६ जून को उनका देहावसान हो गया।

पारस्परिक वैमनस्यता का अभिशाप

समाज में उच्च स्थान और यश प्राप्त करने वाले महान् पुरुषों को जिस एक और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह है आपस के लोगों का गुप्त अथवा प्रकट विरोध। जब सामान्य मनःस्थिति के व्यक्ति अपने किसी संगी-साथी को विशेष सफलता, लाभ करते देखते हैं अथवा किसी का अपने से अधिक सम्मान होता, महत्व बढ़ता जान पड़ता है, तो उनके भीतर एक प्रकार का द्वेष-भाव उत्पन्न हो जाता है। उसके वशीभूत होकर वे प्रायः प्रतिपक्षी के विरुद्ध उल्टी-सीधी बातें कहने लगते हैं और जिस प्रकार सम्भव हो उसे गिराने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि यह दूषित मनोवृत्ति सर्वत्र पायी जाती है, पर भारतवर्ष जैसे देश में, जो बहुत लम्बे समय तक विदेशियों के आधीन रहा हो, यह दोष बड़ी मात्रा मे पाया जाता है। श्री दास को भी अपने ही आस-पास के अन्य कार्यकर्ताओं और काँग्रेस में भाग लेने वालों के

कारण ऐसी अवांछनीय परिस्थिति का सामना बहुत करना पड़ा । श्री शरतचन्द्र ने दास बाबू के जीवन के इस पहलू पर प्रकाश डालते हुए बहुत ठीक लिखा है–

"पराधीन देश का सबसे बढ़कर दुर्भाग्य यह होता है कि उसके स्वाधीनता-संग्राम में मनुष्य को विदेशियों की अपेक्षा अपने देश के लोगों के साथ ही अधिक लड़ाई लड़नी पड़ती है ।"

जिन लोगों ने गत पचास वर्षों के भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया है, आँखें खोलकर उसका निरीक्षण किया है, वे इस कथन की सच्चाई को अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं । श्री दास को इस परिस्थिति का सामना अन्य नेताओं की अपेक्षा इसलिये अधिक करना पड़ा था, क्योंकि अपनी उच्च स्थिति, प्रभाव और त्याग के कारण उनको आन्दोलन में बहुत शीघ्र प्रधान पद प्राप्त हो गया था। अपने ज्ञान और अनुभव के द्वारा वे जो निर्णय करते थे, वह भी अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कारगर होता था । इससे उन्होंने जनता में शीघ्र ही वह श्रद्धा और सम्मानयुक्त स्थान प्राप्त कर लिया, जो अनेक पेशेवर राजनीतिज्ञों को बहुत वर्षों में भी नहीं मिल सका था । इसी से बंगाल के और अन्य प्रान्तों के भी अनेक छोटे-बड़े नेता उनसे प्रतिस्पर्धा का भाव रखने लगे थे और समय-कुसमय उनका विरोध करने को तत्पर हो जाते थे, यद्यपि श्री दास ने कभी ऐसे लोगों के विरोध के कारण कोई अनुचित अथवा देशहित को हानि पहुँचाने वाला कार्य नहीं किया, तो भी इसका प्रतिकार करने के लिये उनको जो अतिरिक्त श्रम करना पड़ता था और मानसिक अशान्ति उत्पन्न होती थी, वह उनके स्वास्थ्य के लिये घातक ही सिद्ध हुई । इसके सम्बन्ध में अपनी सम्मति व्यक्त करते देशबन्धु के निकटतम सहकारी श्री सुभाष बाबू ने लिखा है–

"कभी-कभी मेरे मन में यही भाव आता है कि देशबन्धु की अकाल मृत्यु और देहत्याग की बहुत कुछ जिम्मेदारी उनके सहकारी और अनुयायियों पर भी है । अगर वे उनके कार्य-भार को कुछ-कुछ हल्का करते रहते, तो सम्भवतः उनको इतना अधिक परिश्रम करके अपनी जीवन-लीला इतनी शीघ्र समाप्त न करनी पड़ती । पर हम लोगों की ऐसी आदत है कि जिसको एक बार नेता के पद पर बिठा देते हैं, उस पर इतना अधिक बोझा डालते हैं, और उससे इतनी अधिक आशा रखते हैं, कि इतना कार्य-भार उठाना किसी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं होता । राजनीति से सम्बन्धित तमाम बातों की बागडोर हम नेता के हाथ में देकर स्वयं निश्चित होकर बैठे रहना चाहते हैं ।"

यही देशबन्धु के इतना शीघ्र केवल ५५ वर्ष की आयु में संसार से उठ जाने का मुख्य कारण था । हमारे यहाँ का सार्वजनिक जीवन अभी बहुत कम विकसित हुआ है । अधिकांश लोग तो 'सार्वजनिक' का आशय ही नहीं समझते । इसलिये जो थोड़े से व्यक्ति इस दिशा में आगे बढ़ते हैं, उन्हीं को समस्त राजनीति और लोक-कल्याण के कार्यों का उत्तरदायी समझ लिया जाता है । उधर सच्चे नेता भी जब देखते हैं कि जनता सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में अनजान और अनभ्यस्त है तो लाचार होकर उनको अपनी शक्ति से बाहर श्रम करके कार्य-संचालन करना पड़ता है, जिसका परिणाम प्रायः अनिष्टकर ही सिद्ध होता है । एक देशबन्धु दास ही नहीं, हमारे देश के अनेक महान् कर्णधार इसी प्रकार अतिरिक्त कार्य-भार के कारण समय से पूर्व परलोक के पथिक बन चुके हैं । जनता को इस सम्बन्ध में अपना दायित्व समझना और अपने भक्ति भाजन महापुरुषों के स्वास्थ्य और परिस्थितियों का ध्यान रखकर उनके कार्यभार को हल्का करते रहना ही अपना कर्तव्य समझना चाहिये ।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय जन-जीवन का यह पहलू बहुत अधिक चिन्तनीय है । यही कारण है कि हमारे अधिकांश राष्ट्रीय आन्दोलन आंशिक रूप से ही सफल हो पाते हैं, और उनके लिये भी थोड़े से सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और सेवाभावी व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक श्रम और स्वार्थ त्याग करना पड़ता है । अन्य प्रगतिशील देशों में ऐसी बात नहीं है । योरोप, अमरीका के प्रायः सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों के निवासी देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझते हैं और इसलिये कोई संकट का समय आने पर अपनी स्थिति के अनुकूल रक्षा कार्य में हिस्सा बँटाते हैं । गत द्वितीय महासमर में जब हिटलर ने इंग्लैण्ड पर तूफानी आक्रमण किया था और जर्मनी की वायु-सेना के दल एक के बाद एक आकर चौबीसों घण्टे ब्रिटेन के नगरों पर बमवर्षा करते थे, तो वहाँ के नेताओं ने नहीं, जनता ने अपने मनोबल से उनका मुकाबला किया । उस समय अँग्रेजी सेना की युद्ध सामग्री भी फ्रांस की भूमि पर हुई पराजय के कारण नष्ट हो गई थी । पर इंग्लैण्ड की सामान्य जनता इनमें से किसी कठिनाई से न घबड़ा कर नियम से कारखानों में जाती रही और पहले से ड्योढ़ा काम करती रही जिसके परिणामस्वरूप एक भयंकर शत्रु से देश की रक्षा ही न हो सकी वरन् ब्रिटिश सेना पुनः अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर हिटलर का मुकाबला करने को तैयार हो गयी ।

अगर हमारे देशवासियों में ऐसी मनोवृत्ति जागृत हो जाय तो यहाँ के राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रम इस

प्रकार अधूरे न रहें । इस समय तो जो थोड़े से सेवाभावी व्यक्ति समाज सुधार, धर्म प्रचार, आर्थिक व्यवस्था को उन्नत बनाने की कोई योजना बनाते हैं, उसके लिये उनको साधनों तथा सहायकों की कमी से स्वयं ही इतना परिश्रम और दौड़धूप करनी पड़ती है, कि वे थोड़े बहुत समय में ही थक कर हताश हो जाते हैं । यदि हमारी जनता उपयोगी सार्वजनिक कार्यों के महत्व को समझकर स्वेच्छा से आवश्यक सहयोग प्रदान करती रहे, तो देश की परिस्थिति में बहुत कुछ सुधार हो सकता है ।

देशबन्धु दास को बहुत अधिक श्रेय इस बात का है कि उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम के आरम्भिक दिनों में उसको उलझनों से निकाल कर व्यावहारिक मार्ग दिखाया । जैसा उन्होंने आरम्भ में ही कह दिया था, स्वराज्य पार्टी द्वारा एक चुनाव जीत लिये जाने पर फिर सभी काँग्रेसी नेता कौंसिल प्रवेश के महत्व को समझ गये और दूसरे ही चुनाव में काँग्रेस के बड़े-बड़े महारथियों ने भाग लिया, और कौंसिलों के सदस्य बने । सन् १९३७ में गाँधीजी की आज्ञानुसार काँग्रेस ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर चुनाव लड़ा और उसके नेताओं ने मन्त्री-पद स्वीकार करके शासन-संचालन किया । इस प्रकार श्री दास की नीति ही, जिसके लिये एक बार उनको 'काँग्रेस का विद्रोही' कहकर बदनाम करने की चेष्टा की गयी थी, अन्त में उचित और देशहित के अनुकूल मानी गयी । उन्होंने सन् १९२३ में ही उक्त लाँछन का प्रतिवाद करते हुए मद्रास की एक सभा में कह दिया था--

"क्या मैं विद्रोही हूँ ? यदि मुझे ऐसा जान पड़े कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिये काँग्रेस अथवा भारत की किसी भी दूसरी संस्था का विरोध करना आवश्यक है, तो मैं अवश्य उसके प्रति विद्रोह करूँगा । मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ, कि काँग्रेस से अधिक पवित्र एक और चीज है और वह है- भारतीय जनता की स्वतन्त्रता ।"

देशबन्धु का आशय था कि सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में हम सबको पूरी सच्चाई और निःस्वार्थता से काम लेना चाहिये । जो इस मार्ग पर चलेगा वह कभी मार्गच्युत नहीं हो सकता और उसके विरुद्ध मूल से या द्वेष से यदि कोई दोषारोपण किया जायगा, तो वह अधिक देर तक न टिक सकेगा ।

दास बाबू भारतीय धर्म और अध्यात्म के मर्म को भी पूर्णरूप से समझते थे । उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था कि-- "कृत्रिम अँग्रेजियत हमारे मार्ग में बाधा बन गई है । उसके कलुषित पद चिन्ह हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं कार्य में दृष्टिगोचर होते हैं । हम देवालयों के स्थान पर सभा-भवन बनवाते हैं, दान जैसे शुभ कार्य के लिये नाटकों और अन्य मनोरंजनों का विक्रय कर रहे हैं, अनाथालयों की सहायता के लिये लाटरी डालते हैं । हम अपने पहनावे, विचार, भावनाओं तथा संस्कृति सभी दृष्टियों से मिश्रित किस्म के हो गये हैं । सम्भव है पाश्चात्य आदर्शों के अनुकरण के इस नये उन्माद में एक दिन हम यह भी भूल जायें, कि धन केवल साध्य है, साधन नहीं ।" इस प्रकार वे भारतीय संस्कृति के दृढ़ उपासक थे और उन्होंने गाँधी जी से स्पष्ट कह दिया था कि "मैं राजनीतिक आन्दोलन में इसीलिये शामिल हुआ हूँ क्योंकि मैं उसे धर्म का अंग समझता हूँ ।" अगर हम भी धर्म और अध्यात्म को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की आधारशिला बना सकें तो निस्सन्देह हमारी दुर्दशा का शीघ्र ही अन्त हो सकता है ।

मातृभूमि के सेवाव्रतधारी
डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

सन् १९१० की बात है कि माननीय गोपालकृष्ण गोखले कलकत्ता आये । उस समय राजेन्द्र बाबू वकालत की अन्तिम परीक्षा पास करने के लिये खान बहादुर सैयद शमसुल हुदा के पास रहकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे । गोखले जी ने कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर परमेश्वर दयाल जी के यहाँ से सन्देश भेजकर राजेन्द्र बाबू को बुलवाया । पहले तो उनको आश्चर्य हुआ कि गोखले जी उनका नाम किस प्रकार जान गये ? फिर ख्याल आया कि उन्होंने जो "बिहारी विद्यार्थी सम्मेलन" में सक्रिय भाग लिया था, उसी का समाचार कहीं गोखले जी ने देख लिया होगा । खैर, वे समय पर गोखले जी से मिले और बातचीत करने पर ज्ञात हुआ, कि उनका उद्देश्य अपनी संस्था 'भारत सेवक समिति' के लिये कुछ देशभक्त नवयुवकों को भर्ती करना है । उन्होंने राजेन्द्र बाबू से कहा-- "हो सकता है कि तुम्हारी वकालत खूब चले, बहुत आराम और भोग विलास के साथ अपना जीवन व्यतीत कर सको । बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी (तब तक मोटर का प्रचार नाममात्र को ही हुआ था), नौकर इत्यादि चीजें, जो अमीरों के पास हुआ करती हैं, तुमको भी मिल जायें । पर देश का अधिकार भी कुछ नवयुवकों पर होता है । तुम पढ़ने में बहुत अच्छे सिद्ध हुए, इसलिये तुम पर यह दावा और भी अधिक है । मेरे सामने भी शुरू में यही समस्या आयी थी । मैं गरीब घर का लड़का था । मेरे घर के लोग बहुत आशा रखते थे कि जब पढ़कर तैयार हो जाऊँगा तो खूब रुपया कमा सकूँगा और सबको सुखी बनाऊँगा । इस कारण जब मैंने उनकी

सब आशाओं पर पानी फेर कर देश-सेवा का व्रत लिया तो मेरे भाई इतने दुःखी हुये कि कुछ दिनों तक तो मुझसे बोले तक नहीं । पर बाद में वे सब बातें समझ गये और फिर मुझसे प्रेम रखने लगे । हो सकता है कि यह सब तुम्हारे साथ भी हो । पर यह विश्वास रखो कि इस प्रकार के सेवा कार्य के परिणामस्वरूप अन्त में लोग तुम्हारी पूजा करेंगे ।"

एक ऐसे महापुरुष के कथन का, जिसने स्वयं अपनी अगाध योग्यता और शक्ति मातृ भूमि की वेदी पर अर्पित कर दी थी, राजेन्द्र बाबू पर बड़ा प्रभाव पड़ा । यद्यपि उनके हृदय में भी देश भक्ति की भावना आरम्भ से ही उठती रहती थीं, पर स्वभाव से ही अत्यन्त विनीत होने के कारण उन्होंने पहले अपने बड़े भाई और माता की अनुमति प्राप्त करनी अनिवार्य समझी । इसलिये उन्होंने अपने भाई को निम्न पत्र लिखा--

"मैं आपसे आमने-सामने बात न कर सका । मैं अपने में एक ऊँची और पवित्र भावना का अनुभव कर रहा हूँ । आपको कठिनाई में डालना मेरे लिये शोभास्पद नहीं, तो भी मैं आपसे प्रार्थना करना चाहता हूँ कि तीस करोड़ देशवासियों के लिये आप भी कुछ त्याग करें । गोखले की सोसाइटी का सदस्य होना मेरे लिये अनुचित नहीं कहा जा सकता । अच्छा हो या बुरा, परन्तु मुझे ऐसा आभास है, कि मैं अपने को किसी भी परिस्थिति के अनुकूल बना सकता हूँ । मेरा रहन-सहन भी इतना सीधा-सादा और सरल है कि मुझ को कुछ विशेष सुख-सुविधा और आराम नहीं चाहिये । मुझे सोसाइटी से जो कुछ मिलेगा, वही मेरे लिये काफी होगा । पर मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आपके लिये यह एक बड़ा त्याग होगा । आपने मुझसे बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी हैं, वे सब एक क्षण में नष्ट हो जायेंगी । इस विनाशशील जगत में पूँजी, पद, प्रतिष्ठा सब कुछ नष्ट हो जाता है । जितनी पूँजी जमा होती है, उससे अधिक की इच्छा सदा बनी रहती है । पर प्रसन्नता तो बाहर से नहीं भीतर से पैदा होती है । एक गरीब आदमी अपनी छोटी-सी पूँजी में लखपति की अपेक्षा कहीं अधिक सन्तुष्ट रह सकता है । हमें गरीबी के प्रति घृणा नहीं करनी चाहिये । संसार मे जितने भी महापुरुष हुये हैं, वे सब गरीब ही हुये हैं । शुरू में उनको बहुत कष्ट भोगने पड़े हैं, घृणा की दृष्टि से देखा गया है, किन्तु अन्त में अत्याचार और घृणा करने वाले धूल में मिल गये, उनको जानने, पहचानने वाला भी कोई नहीं रहा । पर अत्याचार और घृणा का विरोध करने वालों को लाखों याद करते हैं और वे लोगों के हृदय में बसे रहते हैं। मेरी यदि कुछ भी महत्त्वाकाँक्षा है, तो वह यही है कि मैं भारत माता की कुछ तो सेवा कर सकूँ । गोखले की-सी प्रतिष्ठा, गौरव और प्रभाव किस राजा को प्राप्त हुआ है ? क्या गोखले भी गरीब नहीं हैं ?"

इस पत्र से राजेन्द्र बाबू की आन्तरिक अभिलाषा और मनोवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । पचीस-छब्बीस वर्ष की आयु में इस प्रकार भावी वैभवयुक्त जीवन की समस्त सम्भावनाओं को त्याग कर सौ रुपया मासिक व्यय लेकर अपनी समस्त शक्तियों को जन-सेवा के कार्यों में व्यय करने को तत्पर हो जाना सामान्य बात न थी । वे कलकत्ता यूनिवर्सिटी की समस्त परीक्षाओं में सर्वप्रथम आये थे । बंगाल के बड़े-बड़े प्रोफेसर और प्रिंसीपल बिहार जैसे "पिछड़ा हुआ" कहे जाने वाले प्रान्त के इस विद्यार्थी की प्रतिभा और तीक्ष्ण बुद्धि को देख कर चकित थे । "विद्या और बुद्धि" का दावा रखने वाले बंगाली विद्यार्थी एड़ी-चोटी का जोर लगा कर उसे हरा देने की चेष्टा करते थे, पर वह सदा प्रथम स्थान पर ही खड़ा दिखायी देता था । जिस समय ये कालेज में पढ़ रहे थे उस समय सर जगदीशचन्द्र बोस, सर प्रफुल्लचन्द्र राय आदि जैसे संसार प्रसिद्ध विद्वान् भी वहाँ पढ़ाने का कार्य कर रहे थे । वे इनकी बुद्धि और परिश्रम को देख कर इनका सम्मान करने लगे थे । श्री प्रफुल्लचन्द्र राय ने एक स्थान पर लिखा है कि-- "राजेन्द्र बाबू उन विद्यार्थियों में से थे, जिन्हें अध्यापक कभी भूल नहीं सकते ।" राजेन्द्र बाबू की इन सफलताओं को देखकर घर और बाहर के सभी परिचित व्यक्ति यह विश्वास करते थे कि वे आगे चलकर बहुत उन्नति करेंगे, और जिस क्षेत्र में प्रवेश करेंगे अपने गुणों के कारण सर्वोच्च पद प्राप्त कर लेंगे । ऐसे व्यक्ति के लिये "भारत सेवक समाज का सदस्य" बन कर आजन्म गरीबी का व्रत ले लेना एक ऐसी बात थी जो कुछ दैवी आत्माओं के लिये ही सम्भव है ।

पर भगवान को राजेन्द्र बाबू से कुछ और भी बड़ा काम कराना था । वृद्ध माता और पितृतुल्य बड़े भाई के मानसिक परिताप को समझ कर उस समय वे "भारत सेवक समाज" में तो सम्मिलित नहीं हो सके, पर उसके सात आठ वर्ष बाद ही उन्होंने गाँधी जी के "अहिंसक सैनिकों" में नाम लिखा लिया और बिना कौड़ी पैसा लिये ही उनको ऐसी कठिन लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं कि धन ही नहीं प्राण देने की सम्भावना भी उपस्थित हो गयी । यह राजेन्द्र बाबू का त्याग और बलिदान ही था, जिसने उस समय तक राजनैतिक क्षेत्र में सर्वथा अज्ञात बिहार को प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया और वहाँ वह काम कर दिखाये, जिनकी किसी को

आशा न थी । जब हम गाँधी जी द्वारा भारत के स्वाधीनता संग्राम पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी देवी ने पूर्व नियोजित योजना के अनुसार पटेल, राजेन्द्र बाबू, नेहरूजी, जमनालाल जी आदि जैसे महामानवों को एक ही समय भारतभूमि में जन्म लेने और संग्राम का संचालन करने को ही भेजा गया था । यह समझ में नहीं आता कि अगर महात्मा जी को ऐसे अलौकिक प्रतिभाशाली और साथ ही पूरे त्यागी सेनानायक न मिलते, तो लाखों सत्याग्रही-सैनिकों की भीड़ को, जो बिना किसी शिक्षा या अभ्यास के यों ही इकट्ठी हो गई थी, कौन पूर्णरूप से सुशिक्षित सरकारी सैनिकों के मुकाबले में विजयी बनाता? इसलिये हम तो राजेन्द्र बाबू के गोखले के "समाज-सेवक" बनने के बजाय गाँधी जी के असहयोग-संग्राम के सैनिक बनने को दैवी-योजना का कार्य ही समझते हैं ।

जन्म और शिक्षा

राजेन्द्र बाबू (सन् १८८४ से १९६३) का जन्म बिहार के जीरादेई गाँव में हुआ था । उनके पिता श्री महादेव सहाय एक सामान्य जमींदार थे, जो अपनी दयालुता और सेवाभाव के लिये आस-पास बहुत प्रसिद्ध थे । उनको आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा पद्धति का सामान्य ज्ञान था और वे बहुत तरह की दवाइयाँ बना कर लोगों को मुफ्त बाँटा करते थे । उस समय सब जगह सरकारी अस्पताल और औषधालय तो थे नहीं, इसलिये बाबू महादेव सहाय के स्थान को ही 'अस्पताल' मान कर रोगियों की भीड़ लगी रहती थी । उनकी पत्नी भी बड़ी दयावान और सहानुभूति रखने वाली थी और किसी के कष्ट, पीड़ा को नहीं देख सकती थी । उनके पास भी लोग सदैव किसी न किसी प्रकार की सहायता माँगने आते ही रहते थे ।

बाल्यावस्था से ही राजेन्द्र बाबू पर माता-पिता के इन सद्गुणों का प्रभाव पड़ा और सेवा-भाव का महत्व उनके हृदय पर अंकित हो गया । ६-७ वर्ष की आयु में आपको पढ़ने के लिये गाँव के 'मकतब' में भेजा गया, जिसमें एक बुड्ढे मौलवी साहब पढ़ाया करते थे । उस समय वहाँ उसके सिवाय शिक्षा प्राप्त करने का कोई साधन न था । उसमें दो-तीन वर्ष रहकर उन्होंने उर्दू, फारसी का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया । राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि "मौलवी साहब बहुत अच्छे आदमी थे ।" इसी प्रकार 'वकालत' की परीक्षा में प्रथम वर्ष में उत्तीर्ण हो जाने पर उसकी व्यावहारिक शिक्षा के लिये, वे सैयद शमसुल हुदा के शार्गिद बने थे और उन्हीं के यहाँ रहते भी थे । उनकी भी प्रशंसा करते हुये राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि "एक बार बकरीद के अवसर पर मैं यह समझ कर कि सम्भवतः उनके यहाँ इस अवसर पर गाय की कुर्बानी होती हो, अपने गाँव को चला गया और दो-तीन दिन बाद वापस आया । वकील साहब ने मेरे चले जाने का कारण पूछा और जब उनको मेरे उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ तो स्वयं ही असली कारण को समझ लिया और कहने लगे-"मैं समझ गया कि तुम बकरीद के कारण चले गये थे । तुमने सोचा होगा कि यहाँ गाय की कुर्बानी होगी, इसलिये इस अवसर पर यहाँ नहीं रहना चाहिये । लेकिन ऐसा ख्याल करके क्या तुमने मेरे साथ बेइन्साफी नहीं की ? तुमने कैसे समझ लिया कि मैं तुम्हारी भावना का कुछ भी आदर नहीं करूँगा । तुम तो खास आदमी हो, मेरे घर में कई हिन्दू नौकर भी तो हैं । बगीचे का माली हिन्दू है, गायों की देख भाल करने वाला भी हिन्दू है । क्या मैं उनकी भावना का ख्याल नहीं रखता हूँ? क्या उनका दिल नहीं दुखेगा? तुमको मुझसे पूछना चाहिये था । मेरे घर में अपने हिन्दू नौकरों के ख्याल से कभी गाय की कुर्बानी नहीं होती ।"

राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि "मुझे अपनी गलती पर काफी दुःख हुआ और यह शिक्षा मिली कि बिना अच्छी तरह जाने किसी के सम्बन्ध में कोई धारणा बना लेना बहुत बड़ा अन्याय है ।"

इस घटना ने हमको भी यह समझ लेना चाहिये कि सज्जन और बुरे लोग सब समाजों में होते हैं । जाति या धर्म के कारण किसी को बुरा या भला नहीं समझा जा सकता । बिहार में आन्दोलन करते समय भी राजेन्द्र बाबू को सबसे अधिक सहायता मौ. मजरुल हक से मिली थी । उन्होंने 'सदाकत आश्रम' स्थापित किया था । जिसमें अनेक छात्र राष्ट्रीय शिक्षा प्राप्त करते थे । एक दिन उन्होंने खलील नाम के विद्यार्थी को आश्रम से निकाल दिया । यह काफी होशियार लड़का था और उसने संस्कृत तथा हिन्दी का अच्छी तरह अध्ययन किया था । हक साहब भी उसे बड़ा प्यार करते थे । वह राजेन्द्र बाबू के पास पहुँचा और हक साहब से सिफारिश करने की प्रार्थना करने लगा । राजेन्द्र बाबू ने जब हक साहब के पास जाकर खलील की सिफारिश की, तो उन्होंने बहुत दुःखी होकर कहा-

"मैं तुम्हारी बात कभी नहीं टालता, किन्तु इस समय मजबूर हूँ । तुम नहीं जानते कि खलील ने कितना बुरा काम किया है । इसलिये तुम उसकी सिफारिश करने आये हो । मैंने जिस चीज को अपनी जिन्दगी का मुख्य उद्देश्य बना लिया है, तथा जिसके लिये आज फकीर बन गया हूँ,

उसी को इसने ठेस लगायी है । मैंने आज तक की सारी जिन्दगी में एकता का काम किया है, उसी में आज भी लगा हूँ । लेकिन खलील ने आश्रम में रहकर कुछ लड़कों को मुसलमान बन जाने के लिये बहकाया है । आश्रम में जो लड़के रहते हैं, वे मेरे ऊपर विश्वास करते हैं । मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता कि कोई उनसे इस तरह की बातें करे । मैं अब समझ गया कि यह खलील वैसा नहीं है, जैसा कि मैं इसे समझता था । तुम देखना कि एक दिन यह हिन्दू-मुस्लिम झगड़े भी करायेगा । मैं इसे आश्रम में हर्गिज नहीं रहने दूँगा ।"

राजेन्द्र बाबू और मजरुल हक दोनों उन महापुरुषों में से थे, जो जातीय द्वेष की क्षुद्र भावना से बहुत ऊपर रहते हैं । भारत के गत पचास वर्षों के इतिहास को देखते हुये हम जानते हैं, कि मुसलमानों में मजहबी, पक्षपात, दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक होता है, तो भी व्यक्तिगत रूप से सज्जन पुरुष उनमें भी पाये जाते हैं, और इस सम्बन्ध में हमको अपना दृष्टिकोण उदार और सन्तुलित ही रखना चाहिये ।

कुछ दिन सारन और पटना के स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करके राजेन्द्र बाबू कलकत्ता में पढ़ने लगे । उन दिनों बंगाल, बिहार, आसाम, वर्मा आदि सब प्रदेशों की एकमात्र यूनीवर्सिटी कलकत्ता में ही थी । वहाँ पर उन्होंने बड़े परिश्रम और मनोयोग से अध्ययन किया जिससे वे उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में सदा प्रथम स्थान पाते रहे ।

सादा रहन-सहन और आदर्श विद्यार्थी जीवन

पर इस प्रकार इतने विशाल भू-भाग के विद्यार्थियों के मुकाबले में सदा आगे रहना सहज बात नहीं थी । इसके लिये राजेन्द्र बाबू ने अपने समय का विभाजन इस प्रकार किया था, कि एक क्षण भी बर्बाद न हो । वे पढ़ने के समय पूर्ण एकाग्रता के साथ पढ़ते थे और खेल के समय उत्साहपूर्वक खेलते थे । उन्हें भाषण देने का भी शौक था और वे विद्यार्थियों की संस्थाओं में प्रायः उपयोगी विचार प्रकट किया करते थे । यह सब होने पर भी उनकी सादगी सर्वोपरि थी जिसका उदाहरण मिल सकना कठिन है । इस सम्बन्ध में उनके जीवन चरित्र में एक स्थान पर कहा गया है—

"वे सादे कपड़े पहिनते थे और सादी जिन्दगी बिताते थे । तड़क-भड़क और बनाव-श्रृंगार से इन्हें घृणा थी । चेहरे पर एक अजीब तेज दिखायी पड़ता था । सादे कपड़ों में भी कोई खास आकर्षण छिपा रहता था । जो देखता था, इनकी तरफ खिंच जाता था । किसी ने इनकी इस विशेषता को देख कर ही कहा था, कि "यह लड़का बड़ा होने पर हिन्दुस्तान का बड़ा नेता होगा ।"

एक अन्य लेखक ने लिखा है कि "गाँधी जी की सादगी, सचाई, नम्रता और सेवा-भाव को सबसे ज्यादा उन्होंने अपनाया था । वे बहुत ही सीधे-सादे और भोले-भाले दिखायी पड़ते थे । यदि कोई अनजान व्यक्ति उनको देखता तो कभी यह विश्वास नहीं कर सकता था, कि वे इतनी बड़ी विभूति होंगे । वे बिल्कुल एक किसान की तरह दिखायी पड़ते थे । चेहरे तथा रहन-सहन की सादगी को देख कर बहुतों को निराश होना पड़ता था । निराश होने का कारण यह था कि वे राजेन्द्र बाबू के विषय में अपने मन में लम्बी-चौड़ी कल्पना बनाये रहते थे, पर जब उनका दर्शन करते तो कल्पना और वास्तविकता में जमीन-आसमान का अन्तर दिखायी पड़ता । तब वे विचार करने लगते कि क्या यह वही व्यक्ति है, जिसे उसकी महान सेवाओं के उपलक्ष्य में काँग्रेस की अध्यक्षता और देश के राष्ट्रपति का पद अर्पित किया गया है ।"

चम्पारन सत्याग्रह और गाँधीजी से परिचय

वास्तव में राजेन्द्र बाबू बाहर तथा भीतर से भी पूर्णतः आडम्बरशून्य थे । उनको देखकर कोई यह जान ही नहीं सकता था, कि ये अपार योग्यता और विद्वता के धनी हैं। वे स्वयं सदैव चुपचाप पीछे ही रहते, और अपने विषय में कभी कुछ प्रकट करने की चेष्टा नहीं करते । इसलिये जब लखनऊ काँग्रेस में बिहार के कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रयत्न से चम्पारन के किसानों के कष्ट निवारण का प्रस्ताव पास हो गया और गाँधी जी इस सम्बन्ध में जाँच करने को वहाँ पहुँच गये तब तक उनको राजेन्द्र बाबू के विषय में कुछ भी पता नहीं लगा । पर बिहार के कार्यकर्ता जानते थे कि अगर इस कार्य को सफल बनाना है, तो उसमें राजेन्द्र बाबू का सहयोग आवश्यक है । इसलिये पटना पहुँचने पर वे लोग उनको राजेन्द्र बाबू के बँगले पर ही ले गये । संयोगवश उस समय वे वहाँ उपस्थित नहीं थे, कार्यवश दो चार दिन के लिये बाहर चले गये थे । गाँधी जी ने भी उस समय तक भारत में कोई कार्य नहीं किया था, और थोड़े ही लोग उनसे परिचित थे । इसलिये राजेन्द्र बाबू के नौकर-चाकरों ने भी जो वहाँ उपस्थित थे गाँधी जी की तरफ विशेष ध्यान न दिया । इस प्रकार एक ऐसा संयोग बन गया कि जो दो आत्माएँ कुछ समय बाद भारतवर्ष के उद्धार

में प्रमुख भाग लेने वाली थीं, वे प्रथम प्रयत्न में एक-दूसरे से अपरिचित और असम्बद्ध ही रह गईं ।

गाँधी जी तो अपने कार्यक्रम के अनुसार समय पर चम्पारन पहुँच गये । वहाँ पहुँचने पर जाँच का कार्य शुरू करने के पूर्व ही उनको तिरहुत कमिश्नरी के अधिकारी का नोटिस मिला कि उनके काम से शान्तिभंग होने की आशंका है, इसलिये वे चौबीस घण्टे के भीतर चम्पारन से बाहर चले जायें । गाँधी जी कभी किसी अन्याययुक्त आज्ञा के सम्मुख सर झुकाते ही नहीं थे, उन्होंने उसी समय इस आदेश को अमान्य कर दिया । पर उनके सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि यदि सरकार उनको पकड़ कर जेलखाने में बन्द कर देगी तो उसके बाद आन्दोलन का संचालन कौन करेगा ? उसी समय राजेन्द्र बाबू अपने कुछ साथियों को लेकर गाँधी जी के साथ काम करने को आ पहुँचे । वे उस समय भी अपने ठोस सेवा कार्यों के कारण बिहार के निवासियों का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर चुके थे और उनके पीछे चलने को वहाँ की जनता तुरन्त तैयार हो जाती थी । इसलिये राजेन्द्र बाबू के चम्पारन पहुँचने पर ही गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन की योजना बनी और सरकार द्वारा दमन होने की दशा में सत्याग्रहियों के अनेक जत्थे बनाये गये, जिनमें एक का नेतृत्व राजेन्द्र बाबू को दिया गया । सर्वप्रथम जत्थे के नेता चौ. मजरुल हक को नियुक्त किया गया, जो एक वृद्ध मुस्लिम सज्जन और एक प्रसिद्ध बैरिस्टर भी थे । हक साहब उस समय जो गाँधी जी के अनुयायी बने, तो जब तक जीवित रहे कभी किसी कठिनाई से पीछे नहीं हटे, और लगातार स्वाधीनता-संग्राम में सहयोग देते रहे ।

अब चम्पारन की जाँच का काम आरम्भ हुआ । राजेन्द्र बाबू ही इसमें प्रमुख थे । उन्होंने अपनी वकालत बन्द कर दी और कई महीने तक नील की खेती करने वाले अँग्रेज जमींदारों द्वारा गरीब किसानों पर किये जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध लोगों के बयान लिखते रहे । उधर गोरे जमींदार तो उछल कूद मचा ही रहे थे । उनमें से एक ने तो यहाँ तक कह दिया था, कि अगर गाँधी जी मेरी जमींदारी में जांच करने आयेंगे तो उनको गोली मार दूँगा । अन्य सब कार्यकर्ताओं को भी वे खूब धमकाते थे । पर जब इन बातों की परवाह न करके राजेन्द्र बाबू और उनके साथियों ने पाँच-छः महीना परिश्रम करके बीस-पचीस हजार किसानों की गवाहियाँ बाकायदा लिख कर तैयार करलीं, तब सरकार की आँखें खुली । बिहार के गवर्नर ने इस मामले की जाँच के लिये एक सरकारी कमेटी नियुक्त की और गाँधी जी को भी उसका एक सदस्य बना दिया । गाँधी जी के पास तो निर्लज्ज गोरों की करतूतों का कच्चा चिट्ठा इकट्ठा ही था । सरकारी कमेटी ने भी किसानों पर अन्याय अत्याचार होने की बात ठीक मान ली, और तब सरकारी आदेश से वह 'तीन कठिया' नामक अन्याय मूलक प्रणाली सदा के लिये बन्द कर दी गई । इसके परिणामस्वरूप चम्पारन के किसानों की काया पलट हो गयी और आज वह प्रदेश भारतीय चीनी-व्यवसाय में प्रमुख माना जाता है ।

सत्याग्रह की शिक्षा

चम्पारन में ही राजेन्द्र बाबू गाँधी जी के निकट सम्पर्क में आये और दोनो ने एक-दूसरे को भली प्रकार समझ लिया। गाँधी जी के साथ रहकर उन्होंने स्वावलम्बन और सादगी का एक नया पाठ सीखा । उन्होंने गाँधी जी के व्यवहार को देख कर समझ लिया कि अगर भारत के गाँवों में सुधार का सच्चा कार्य करना है, तो कार्यकर्ता को वहाँ देहाती बन कर ही रहना होगा । जब तक वह अपने पुराने कुसंस्कारों को हटा कर हानि-लाभ, आदर-अनादर, आराम-तकलीफ को एक समान समझने न लगेगा, तब तक वह न तो सच्चा सत्याग्रही कहा जा सकता है और न अत्याचार पीड़ितों का विश्वास प्राप्त कर सकता है । उसे अपने निजी और सार्वजनिक जीवन में एक-सी सचाई का व्यवहार करना होगा और झूठे बड़प्पन अथवा आराम तलबी के जो दोष भीतर घुस गये हैं, उन सबको निकाल बाहर करना होगा। इसके बिना वह जनता का 'सच्चा-सेवक'' नहीं बन सकेगा।

राजेन्द्र बाबू के अधिकाँश सहकारी वकील ही थे और वे सत्याग्रह की कार्यवाहियों में भाग लेते हुये भी अपने ही ढंग से जीवन व्यतीत कर रहे थे । वे लोग भिन्न-भिन्न जातियों के थे, इसलिये सब अपनी रसोई अलग रखते थे । प्रत्येक के साथ एक ब्राह्मण रसोइया और एक नौकर था और इनका भोजन बनाने का क्रम रात के बारह बजे तक चलता रहता था । यद्यपि वे सब लोग अपना खर्च आप ही करते थे तो भी अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन का अनुभव प्राप्त करके भारतवर्ष में उसी समय आये गाँधी जी को यह कैसे पसन्द आ सकता था ? इसलिये वे प्रायः इन लोगों की आलोचना करते रहते थे । अन्त में निश्चित किया गया कि नौकरों को न रखा जाय, सबकी रसोई एक साथ बने और सब भोजनालय के नियमों का ठीक तरह पालन करें । इनमें सब लोग निरामिष भी नहीं थे, पर दूसरों की सुविधा का ख्याल रखकर सबके लिये एक प्रकार की निरामिष रसोई बनाने का निर्णय किया गया । इस व्यवस्था के हो जाने पर खर्च बहुत घट गया तथा जो समय और

शक्ति चौका-चूल्हे में चली जाती थी, वह आन्दोलन को तीव्र बनाने में खर्च होने लगी ।

एक अन्य घटना मोतीहारी में हुई, जबकि सब कार्यकर्ताओं को एक मकान छोड़कर दूसरे में जाना था । दिन भर आन्दोलन सम्बन्धी कामों में फँसे रहने के कारण लोगों को रात के नौ बजे इस काम के लिये छुट्टी मिली । उस समय किसी मजदूर का मिलना सम्भव न देख कर, महात्मा जी ने स्वयं ही सामान ढोना आरम्भ कर दिया । यह देख कर राजेन्द्र बाबू तथा अन्य सब भी अपना-अपना सामान ढोने लग गये । नये मकान में पहुँच कर स्वयं ही उसे झाड़ू लगा कर साफ किया । इस प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा से लोगों को झूँठा अभिमान बहुत कुछ दूर हो गया और वे समझ गये, कि अपना काम अपने हाथों से कर लेना छोटेपन का नहीं, वरन् श्रेष्ठता का चिन्ह है । इस तरह गाँधी जी के साथ रहकर राजेन्द्र बाबू ने त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त की और वे सच्चे अर्थों में 'सत्याग्रही' बन गये ।

देश के लिये त्याग और कष्ट सहन

राजेन्द्र बाबू का जब एक बार गाँधी जी से परिचय हो गया तो आजीवन स्थिर रहा और दिन पर दिन सुदृढ़ होता गया । बात यह थी कि राजेन्द्र बाबू के भीतर सत्यनिष्ठा की प्रबल भावना थी और उसी का प्रत्यक्ष दर्शन उनको महात्मा जी में हुआ । इसके पहले राजनीतिक आन्दोलन आराम कुर्सियों पर पड़े रहने वाले लोगों के हाथ मे था, जो यह भी नहीं जानते थे कि राजनीतिक कार्य के लिये कष्ट सहना पड़ता है, कारागार के भी दर्शन करने पड़ते है । दूसरा दल क्रान्तिकारी और 'गर्म' लोगों का था, जो तलवार बन्दूक से सरकार की जड़ उखाड़ने में विश्वास रखते थे । राजेन्द्र बाबू की प्रकृति इन दोनों बातों के ही अनुकूल न थी । इसलिये सन् १६०६ से ही काँग्रेस से सम्बद्ध रहते हुए भी वे राजनीतिक क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं कर सके थे । पर गाँधी जी की राजनीति भिन्न थी । वे देशवासियों के कष्टों और उन पर होने वाले अन्यायों का विरोध करने के उद्देश्य से सरकार का विरोध करते थे और साथ ही, उस सम्बन्ध में कुछ रचनात्मक कार्य भी करते जाते थे । यह मार्ग उक्त दोनों मार्गों की अपेक्षा स्थायी और देश को आगे बढ़ाने वाला था । इसलिये राजेन्द्र बाबू और उनकी प्रकृति के लोगों को जो देश सेवा के लिये कुछ ठोस काम करना चाहते थे, और केवल लच्छेदार भाषणों से सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे यही मार्ग अधिक पसन्द आया । इसमे गाँधी जी ने धार्मिक-मर्यादाओं जोड़ दी, वे राम का नाम लेकर ही प्रत्येक संघर्ष में आगे बढ़ने लगे, जिससे भारतीय जनता उनके प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुई । राजेन्द्र बाबू भी धार्मिक प्रवृति के व्यक्ति थे, ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रखते थे । इसलिये गाँधी जी की नीति उनको अधिक अनुकूल जान पड़ी और वे किसी भी हानि या कष्ट का ख्याल न करके पूर्णरूप से उसमें संलग्न हो गये ।

रौलट एक्ट आन्दोलन शुरू होने पर राजेन्द्र बाबू ने समस्त बिहार में एक प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा कर दिया और एक वर्ष बाद नागपुर में असहयोग का प्रस्ताव पास होते ही उन्होंने अपनी दिन पर दिन बढ़ती हुई वकालत छोड़ कर राजनीति को ही अपना मुख्य उद्देश्य बना लिया । बिहार के पुराने सुप्रसिद्ध नेता श्री बृजकिशोर प्रसाद और श्रीकृष्णसिंह आदि कई अन्य लोगों ने भी वकालत छोड़ दी और सब ने राजेन्द्र बाबू के नेतृत्व में बिहार में जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया । असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत 'स्कूल छोड़ो' आन्दोलन में हजारों विद्यार्थियों ने भी शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार कर दिया था । इसलिये पटना में "बिहार विद्यापीठ" के नाम से एक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की गई, जिसमें विद्यार्थियो को राष्ट्र की भावना और आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा दी जाने लगी । इसके साथ ही काँग्रेस के एक करोड़ सदस्य बनाने, 'तिलक स्वराज्य फण्ड' में एक करोड़ रुपया जमा करने तथा बीस लाख चर्खे चलाने का कार्यक्रम भी आरम्भ किया गया । राजेन्द्र बाबू ने इनकी पूर्ति में भी उत्साहपूर्वक भाग लिया । उन्होंने प्रान्त में इतनी अधिक जागृति उत्पन्न कर दी, कि इन सब कार्यों में बिहार का जितना भाग था, वह समय के भीतर ही पूरा हो गया । सफलता की दृष्टि से भारत भर में बिहार का नम्बर दूसरा रहा ।

इसके बाद तो जितनी बार आन्दोलन छिड़ा राजेन्द्र बाबू ने सबमें आगे बढ़ कर भाग लिया । साथ ही उन्होंने गाँधी जी के प्रति अपनी निष्ठा में तनिक भी अन्तर नहीं आने दिया । देश बन्धु दास तथा मोतीलाल जी ने सन् १६२३ में ही काँग्रेस से मतभेद हो जाने पर पृथक स्वराज्य पार्टी बनायी, अन्य लोग भी गाँधी जी के किसी कार्य से सहमत न होकर अपना एक अलग ही राग अलापने लगते थे, पर राजेन्द्र बाबू ने गाँधी जी के आदेशो को सदैव पूर्णतः पालन किया । उनका बिहार में इतना अधिक प्रभाव था, कि अन्य प्रान्तों के मुकाबले में उस प्रान्त में स्वराज्य पार्टी को बहुत ही कम सफलता मिली । फिर जब गाँधी जी ने जेल से छूट कर काँग्रेस में इस प्रकार के मतभेद को हानिकारक

समझ कर, स्वराज्य पार्टी वालों को कौंसिल प्रवेश की अनुमति दे दी और स्वयं संगठन तथा रचनात्मक कार्य में लगे, तो राजेन्द्र बाबू उनके साथ ही रहे । राजेन्द्र बाबू का हार्दिक विश्वास था कि रचनात्मक कार्य में ही राष्ट्र की इमारत सुदृढ़ होती है । कौंसिल प्रवेश से उसकी शक्ति बँट जाती है इसलिये आपने बिना किसी तरफ ध्यान दिये बिहार में कॉंग्रेस कमेटियाँ स्थापित करने, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करने, खद्दर तैयार कराने में ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। उन्हीं के परिश्रम से बिहार में, दूसरे सब प्रान्तों की अपेक्षा अधिक सस्ती खादी बनने लगी ।

खद्दर के प्रचार बढ़ाने के लिये आपने दक्षिण भारत में भी भ्रमण किया था । उनके इन कार्यों की प्रशंसा गाँधी जी प्रायः किया करते थे । एक खादी ही नहीं बिहार में जितनी भी राजनैतिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ चलती थीं। उन सबमें राजेन्द्र बाबू का हाथ रहता था और लोग स्वयं आग्रह करके उनको प्रत्येक संस्था में सम्मिलित करते थे । यद्यपि वे स्वराज्य पार्टी से प्रथक थे, और कौंसिलों में कभी नहीं गये, पर जब स्वराज्य पार्टी को कॉंग्रेस की अनुमति प्राप्त हो गई तो कौंसिलों के पक्षपाती भी सलाह और सहायता लेने सदा इनके पास आया करते थे । इससे उनके प्रभाव का पता सहज में लग जाता है ।

किसान और मजदूरों की सहायता

सन् १९२७ में जब साइमन कमीशन भारत आया तो समस्त भारत में उसका जोर-शोर से बहिष्कार किया गया । उस आन्दोलन में लाला लाजपत राय तथा पं. जवाहर लाल नेहरू जैसे देश पूज्य नेताओं पर लाठियाँ चलाई गईं थी । उस समय पटना में एक विशेष घटना हुई । कमीशन के आने से पहले ही पटना के पुलिस अधिकारी ने राजेन्द्र बाबू से भेंट की और कहा कि यहाँ कमीशन के विरोध में जलूस आदि न निकाला जाय । राजेन्द्र बाबू ऐसी बात किस तरह मान सकते थे ? तब इंस्पेक्टर जनरल ने कहा कि आप शान्तिमय तरीकों से ही विरोध प्रदर्शन करें । एक तरफ विरोध करने वाले रहें हैं, और दूसरी तरफ स्वागत करने वाले । आपस में छेड़-छाड़ न की जाय । कुछ सोच कर राजेन्द्र बाबू ने इस बात को मान लिया, क्योंकि वे जानते थे कि इस तरह हमारा उद्देश्य और भी अच्छी तरह पूरा हो सकेगा । बस, जिस समय कमीशन पटना पहुँचा २५-३० हजार जनता काले झण्डे लेकर एक तरफ खड़ी थी और स्वागत करने वाले डेढ़-दो सौ थे । उनमें भी बहुत से सरकारी चपरासी और छोटे-मोटे नौकर ही थे । इस प्रकार यह अच्छी तरह विदित हो गया, कि भारतीय जनता कॉंग्रेस के ही साथ है ।

सन् १९३० में कॉंग्रेस अधिवेशन पं. मोतीलाल जी की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ । राजेन्द्र बाबू ने उसकी कार्यवाही में महत्वपूर्ण भाग लिया । उसी समय जमशेदपुर के मजदूरों ने हड़ताल कर दी और खबर आयी कि वहाँ की हालत बहुत गम्भीर है । राजेन्द्र बाबू कलकत्ता से सीधे जमशेदपुर पहुँचे और मजदूरों की सफलता के लिये हर तरह से प्रयत्न करने लगे । उस समय सरकार कारखाने वालों की सहायता कर रही थी, इसलिये मजदूरों को हारना पड़ा । राजेन्द्र बाबू इससे बहुत निराश और दुःखी हुये, क्योंकि वे मजदूरों के पक्ष को उचित मानते थे ।

बहुत वर्ष पहले बिहार के अनेक किसान अपने प्रदेश को छोड़ कर बर्मा के किसी स्थान में जाकर बस गये थे । इन दिनों उनकी दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी । उन्होंने राजेन्द्र बाबू के पास अपनी करुण कथा लिखकर भेजी । जमशेदपुर की हड़ताल से छुट्टी पाकर वे बर्मा पहुँचे । उनको अपने बीच में पाकर किसानों की आशालता लहलहा उठी और उन्होंने उनके आदेशानुसार आन्दोलन करना आरम्भ किया, जिससे आगे चलकर उनकी हालत बहुत कुछ सुधर गयी ।

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू केवल स्थानीय कॉंग्रेस आन्दोलन का ही संचालन नहीं करते थे, वरन् देश में जहाँ भी सहायता करने का अवसर और आवश्यकता उपस्थित होती वहीं पहुँच कर उसमें सहयोग देते । यद्यपि दमा की बीमारी के कारण वे प्रायः अस्वस्थ हो जाते थे और अधिक भ्रमण करने से बीमारी बढ़ जाती थी, पर वे इसका बहुत ख्याल न करके कर्त्तव्यपालन से कभी पीछे नहीं हटे । सरदार पटेल के चरित्र में भी हमने पढ़ा है कि उनको पेट में भयंकर दर्द होने का रोग था, पर वे उसकी चिन्ता न करके बारदोली सत्याग्रह जैसे बड़े-बड़े आन्दोलनों का भार अपने सर पर उठाया करते थे । राजेन्द्र बाबू और सरदार पटेल को इन भयंकर बीमारियों को लेकर सरकार से संघर्ष करना और बार-बार जेल जाना पड़ता था । जेल की कठिनाइयों और खराब खान-पान के कारण इन दोनों नेताओं के स्वास्थ्य को और भी हानि पहुँची । एक दो बार तो उनकी दशा ऐसी खराब हो गई कि मृत्यु का भय जान पड़ने से सरकार ने उनको जेल की मियाद पूरी होने से पहले ही छोड़ दिया ।

इन महापुरुषों की कथा को पढ़ कर हम सब बहुत कुछ सीख सकते हैं । हमारे कितने ही भाई तो सार्वजनिक सेवा अथवा किसी अन्य परमार्थ कार्य में कठिनाइयों का

ख्याल करके किसी तरह का सहयोग देने में ही आनाकानी किया करते हैं यदि किसी की प्रेरणा से कुछ सेवा-कार्य करने भी लगे तो जहाँ अपनी कुछ हानि होती देखते हैं तो तुरन्त पीछे हट जाते हैं । पर राजेन्द्र बाबू, पटेल, जमनालाल बजाज आदि ने देश-सेवा के मार्ग में किसी भी कष्ट या हानि की परवाह न की । उन्होंने अपने स्वास्थ्य तक को खराब कर लिया, पर जिस कार्य की प्रतिज्ञा की थी, उससे मुँह न मोड़ा । राजेन्द्र बाबू जेल में इतने अधिक बीमार हो गये कि बेहोशी आ जाती थी । इस पर सरकार ने उनको पटना के सरकारी अस्पताल में रखा । उस समय किसी ने झूँठी रिपोर्ट कर दी कि वे अस्पताल से ही आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं । इसपर उनको पुनः जेल भेज दिया गया । पर जब हालत फिर खराब हो गई तो पुनः अस्पताल भेजे गये और जब वहाँ भी बीमारी में सुधार नहीं हुआ, तो उनको छोड़ दिया गया । इसी प्रकार की अस्वस्थ दशा में वे न जाने कितना काम करते रहे और बार-बार जेल भी जाते रहे । इस प्रकार अपने हानि-लाभ का ख्याल बिल्कुल छोड़ देने वाले और सेवा-धर्म के पालन को ही सर्वोपरि समझने वाले पुरुष ही देश पूज्य बनते हैं और जनता भी उनके गुणों को समझ लेने पर, उन्हें अपना सरताज बनाती है ।

कौंसिलों द्वारा किसानों की दशा का सुधार

सन् १९२६ में काँग्रेस में जो पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास हुआ और सन् १९३० में नमक सत्याग्रह आरम्भ किया गया । इन दोनों में बिहार ने राजेन्द्र बाबू के नेतृत्व में पूरा-पूरा भाग लिया । सन् १९३४ में आप बम्बई में होने वाले काँग्रेस अधिवेशन के सभापति बनाये गये । अपनी अध्यक्षता के समय में राजेन्द्र बाबू ने काँग्रेस के ढीले पड़े संगठन को मजबूत बनाने के लिये अनवरत परिश्रम किया और उसमें एक नयी जान डाल दी । सन् ३७ में जब कौंसिल प्रवेश का प्रस्ताव पास कर दिया तो आपने परिश्रम करके बिहार में कांग्रेस दल को पूर्णतया विजयी बनाया । वे स्वयं कौंसिल में नहीं गये, क्योंकि वे इस प्रकार पदों के पीछे पड़ना श्रेष्ठ नहीं समझते थे । आपने अपने सहकारियों को ही कौंसिल में भेजा और उनके जरिये किसानों की दशा का बहुत कुछ सुधार कराया । एक तरफ कुछ उग्र आन्दोलनकारियों की प्रेरणा से किसान आन्दोलन तीव्र रूप धारण करता जाता था और दूसरी ओर बिहार के प्रभावशाली जमींदार उनकी सर्वथा उपेक्षा कर रहे थे । इन दोनों का समन्वय कर सकना बड़ा कठिन था और मतभेद बढ़ जाने से कितने ही कांग्रेस के ही अनुयायी अलग होकर किसान-सभा आदि के द्वारा जमींदारों से संघर्ष कर रहे थे । उस विषम परिस्थिति में राजेन्द्र बाबू ने ही किसान और जमींदार दोनों का विश्वास प्राप्त करके शान्ति स्थापित की ।

बिहार और संयुक्त प्रान्त के मजदूरों में भी उन दिनों बड़ा असन्तोष फैला था और कानपुर तथा डालमियाँ नगर में महीनों से हड़ताल चल रही थी । इन दोनों प्रान्तों की सरकारों ने राजेन्द्र बाबू से लेबर कमीशन का प्रधान बन कर समस्या को सुलझाने की प्रार्थना की । अस्थिरता के कारण आप संयुक्त प्रान्त में तो विशेष कार्य नहीं कर सके पर बिहार की समस्या को बहुत कुछ सम्भाल दिया ।

जब दूसरे महायुद्ध में सरकार ने भारतवर्ष को बिना इसके प्रतिनिधियों की इच्छा के ढकेल दिया और इसके जन-धन का जर्मनी को पराजित करने में उपयोग किया जाने लगा, तो कांग्रेस ने इसका विरोध किया । सन् १९४० में ही गाँधी जी ने इसके विरुद्ध व्यक्तिगत सत्याग्रह का ऐलान किया और सबसे पहले युद्ध-विरोधी भाषण देते हुये विनोबा भावे जेल गये । इसके बाद एक के पीछे एक बड़े-बड़े नेता सरकारी नीति का विरोध करके जेल जाने लगे । राजेन्द्र बाबू भी इसमें भाग लेने को तैयार थे । पर इन 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' करने वालों का चुनाव स्वयं गाँधी जी ही करते थे और उन्होंने राजेन्द्र बाबू के स्वास्थ्य को देखते हुये, उनको इसमें सम्मिलित होने से रोक दिया । इसके कुछ समय बाद स्वाधीनता संग्राम का अन्तिम आन्दोलन "भारत छोड़ो" का समय आ गया । उस पर विचार करने वाली कमेटी में शामिल होने के लिये राजेन्द्र बाबू वर्धा गये । वहाँ से पटना लौटते समय आपका दमा बहुत जोर पकड़ गया और फिर ज्वर भी आने लगा । जिस समय ५ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस की 'वर्किंग कमेटी' का ऐतिहासिक अधिवेशन आरम्भ हुआ, उस समय राजेन्द्र बाबू बीमारी के कारण यात्रा कर सकने में असमर्थ थे, इसलिये पटना में ही रह कर भावी कार्यक्रम को पूरा करने की तैयारी में लगे रहे ।

भीतर का रहस्य तो किसी को मालूम नहीं, पर जब ९ अगस्त को देश भर के कांग्रेसी नेता पकड़ लिये गये, जिनमें राजेन्द्र बाबू भी थे, उसके बाद देश में जो उपद्रव हुये, उनमें बिहार अग्रगण्य था । यदि हम कहें कि सन् १९४२ के 'अँग्रेजो ! भारत छोड़ो' विद्रोह का केन्द्र इलाहाबाद से लेकर मुंगेर और भागलपुर तक का प्रदेश ही था, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं । गुजरात तो गाँधी जी और पटेल का कर्म क्षेत्र था और वर्धा में उस समय महात्मा जी और अन्य सब कार्यकर्ता निवास कर रहे थे, इसलिये इन प्रदेशों

में भी लोगों ने शानदार संघर्ष किया और बलिदान दिये । पर यदि यह कहा जाय कि समस्त भारत में मिल कर जितना काम हुआ, उतना अकेले बिहार तथा उससे मिले हुये बलिया, गाजीपुर, बस्ती आदि दो-चार जिलों ने कर दिखाया तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं । बिहार मे दमन की पराकाष्ठा हो गई । एक लेखक के मतानुसार उस समय "बिहार में गाँव-गाँव" में जलियांवाला बाग बन गया । छोटे-छोटे बच्चों को जेल में बन्द कर दिया गया, स्त्रियों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये, विद्यार्थियों पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाई गईं । बिहार सरकार ने जेलों से डकैत और खूँखार कैदियों को छोड़ दिया, ताकि वे भी जनता पर जुल्म ढायें । भागलपुर जिले में लगभग ढाई सौ कैदियों को गला दबा कर मार दिया गया, क्योंकि वे स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेना चाहते थे । बिहार में जो दमन हुआ उसको शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता । फिर भी यहाँ की जनता ने राजेन्द्र बाबू के आदेश को मान कर कांग्रेस की योजना के अनुसार ही सब कार्य किया और हद दर्जे के कष्ट सहने पर भी सरकार के सामने मस्तक नहीं झुकाया ।"

आत्म भाव की प्रवृत्ति

वास्तव मे राजेन्द्र बाबू उन महामानवों में थे, जो केवल करना या मरना जानते हैं, पर अपने मुख से कभी कोई ऐसी बात नहीं कहते, जिससे उनका बड़प्पन या प्रशंसा झलके । कांग्रेस के उस गाँधीवादी युग में भी अन्य काँग्रेसी नेताओं के समूह में वे बिल्कुल सामान्य व्यक्ति की तरह जान पड़ते थे, और कितनी ही बार ऐसी घटनायें हुई, जब कि लोगों ने उनको कोई मामूली व्यक्ति समझ कर वैसा ही व्यवहार किया । वे स्वयं भी उसी तरह रहना पसन्द करते थे । एक बार वे नेहरू जी से मिलने इलाहाबाद गये । रेल में देर लग जाने से ११-१२ बजे रात को आनन्द भवन पहुँचे । उस समय घर के सब लोग सोये हुये थे, केवल एक चौकीदार जाग रहा था । उसने कहा कि मैं नेहरू जी को बुला लाता हूँ पर उन्होंने उसको मना कर दिया और दालान में ही बिस्तर बिछा कर सो गये । जब प्रातःकाल उठ कर नेहरू जी ने यह देखा तो वे बहुत दुःखी हुये और कहने लगे कि आपने मुझे जगाने क्यों नहीं दिया ? पर राजेन्द्र बाबू ने यही कहा कि "उसकी क्या आवश्यकता थी, मुझे यहाँ सोने में जरा भी कष्ट नहीं हुआ ।"

इस तरह अत्यन्त सादगी से रहते हुये भी जब काम का समय आता था, तो उनकी कार्यक्षमता और प्रभाव को देख कर लोग दंग रह जाते थे । उन्होंने अपना उद्देश्य एकमात्र कर्तव्यपालन को ही बनाया था । हृदय से सत्य का पालन करते हुये, आप 'गीता' की व्याख्यानुसार स्थित-प्रज्ञ श्रेणी में पहुँच गये थे और दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान को समान समझने लगे थे । यही कारण था कि सरकार से और कभी-कभी अन्य राजनीतिक दलों से इतना संघर्ष होने पर भी उनका कभी किसी से द्वेष या शत्रुता नहीं होती थी । यह देख कर अनेक लोग तो उनको "अजातशत्रु" कहते थे और जब राष्ट्रपति के चुनाव का समय आया तो वास्तव में केवल वे ही एक ऐसे व्यक्ति दिखायी पड़े, जो सर्व सम्मति से चुने जा सके और कोई भी राजनीतिक पार्टी जिनका विरोध न करे ।

आप आत्म दर्शी पुरुषों के समान ही सबके दुःख-सुख को अपना-सा ही समझते थे । इस प्रकार की एक घटना का जिक्र उनकी आत्म कथा में भी मिलता है । उन्होंने लिखा है- "मैं बिहार मे हिन्दू-मुस्लिम दगों की खबर पाकर अपने गाँव से पटना जा रहा था । चलते-चलते पुत्र वधू के देहान्त का समाचार आया । घर के भीतर गया तो बच्चे चिल्ला रहे थे और स्त्रियाँ रोना-पीटना कर रही थीं । मेरा लड़का मृत्युञ्जय स्त्री की बीमारी की खबर आने पर पहले ही उसके पास चला गया था । मैं पटना जाकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों को रोकने की चेष्टा करता रहा । वहाँ इतने लोग मारे गये थे और इतने घरों में शोक और कोलाहल था । मेरा निजी शोक एक प्रकार से शरमा कर दब-सा गया ।"

हमारे धर्म ग्रन्थों में जनक, बुद्ध, अशोक आदि ऐसे महापुरुषों का जिक्र है, जो राजपाट का उपभोग करते हुये भी कभी उसमें लिप्त नहीं हुये । उन्होंने गृहस्थ का पालन भी धर्म-कर्तव्य की दृष्टि से किया और जब आवश्यकता जान पड़ी तो उसे त्यागते हुये भी विलम्ब न लगाया । राजेन्द्र बाबू भी ऐसी ही मनोवृत्ति के मनुष्य थे । घर वालों के प्रेम और अपने कर्तव्य की दृष्टि से आजन्म उनका पालन भी करते रहे और जब देश की पुकार सुनायी पड़ी तो उनका ख्याल छोड़ कर उसमें कूद पड़े । ऐसे ही व्यक्ति जीवन मुक्त समझे जाते हैं और हम सबका कर्तव्य है कि इस आदर्श को सम्मुख रख कर जितना हो सके उसे प्राप्त करने की चेष्टा करें । मानव जीवन की सार्थकता इसी मे है ।

मातृ भाषा के प्रचारक

देश सेवा की तरह ही राजेन्द्र बाबू मातृ भाषा के भी सेवक थे । उनको आरम्भ में परम्परागत रूप से उर्दू-फारसी ही पढ़ाई गई थी और इसलिये एफ. ए. तक वही क्रम चलता रहा । उसके पश्चात् कलकत्ता में रहते हुये उनको यह ख्याल आया कि हमारा कर्तव्य मातृभाषा की उन्नति

करना भी है । इसलिये बी. ए. में आपने हिन्दी को एक विषय के रूप में ले लिया । उस समय कलकत्ता के कालेजों में हिन्दी की शिक्षा का कोई अच्छा प्रबन्ध न था, पर इस बात का ख्याल न करके, आपने हिन्दी से दूर रहना एक भर्त्सना योग्य कार्य समझा और उर्दू को छोड़ कर उसी का अध्ययन करने का निश्चय कर लिया । परिचित जनों ने यह भय भी दिखाया, कि ऐसा करने से परीक्षा में ऊँचा स्थान न मिल सकेगा, किन्तु आपने यही उत्तर दिया कि हम अगर अपनी मातृ भाषा भी ठीक तरह से नहीं सीख सकते तो अन्य विषयों को कैसे सीखेंगे ? बस आप घर पर दत्तचित्त होकर हिन्दी अध्ययन और मनन करने लगे और अपने परिश्रम के बल पर बी. ए. में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके दिखा दिया ।

राजेन्द्र बाबू का यह कार्य मातृ भाषा हिन्दी के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा को प्रकट करता है । उस समय देश में अँग्रेजी का ही बोलबाला था और शिक्षित व्यक्ति निजी पत्र व्यवहार तक अँग्रेजी में करना शान की बात समझते थे । पढ़े-लिखे लोग प्रायः परस्पर अँग्रेजी में ही बातचीत करते थे । ऐसे लोग मामूली अँग्रेजी जानने पर भी उसी को प्रधानता देते थे और हिन्दी को एक पिछड़ी हुई भाषा की दृष्टि से देखते थे, पर राजेन्द्र बाबू ने इस मनोवृत्ति मे हीनता और दासता का अनुभव किया और अँग्रेजी के बहुत बड़े ज्ञाता होते हुए भी हिन्दी को प्रधानता दी । वे कलकत्ते की "हिन्दी साहित्य परिषद्" में भाग लेते रहते थे । इस संस्था में उनका परिचय पं. गोविन्द नारायण मिश्रा, श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे, श्री पराडकर जी आदि हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों से हुआ और वे भी हिन्दी के प्रचार में पूरा सहयोग देने लगे । वे "साहित्य-परिषद्" में प्रायः निबन्ध आदि लिख कर सुनाते और वहाँ होने वाली वाक् प्रतियोगिताओं में भी सदैव भाग लिया करते । समाचार पत्रों में भी उनके लेख प्रकाशित हुआ करते थे ।

"हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के साथ उनका सम्बन्ध उसके जन्मकाल से ही रहा और प्रथम वर्ष में ही उसकी कार्य समिति के सदस्य नियुक्त किये गये । सन् १६२३ में जब सम्मेलन में अन्य प्रान्तों में प्रचार की भावना से, अपना वार्षिकोत्सव कोकोनाड़ा (मद्रास प्रान्त) में करना निश्चय किया तो उसका अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू को ही बनाया गया । इसके अतिरिक्त दरभंगा में होने वाले बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन और गुरुकुल काँगड़ी में होने वाले संयुक्त प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन के भी आप सभापति बनाये गये । इन सब संस्थाओं का संचालन उन्होंने अपने कार्यकाल में बड़े परिश्रम और योग्यता से किया, जिससे हिन्दी की प्रतिष्ठा और प्रभाव में पर्याप्त वृद्धि हुई ।

आप हिन्दी के एक अच्छे लेखक थे । "चम्पारन में महात्मा गाँधी" और "आत्म कथा" उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिनको उन्होंने हिन्दी में ही लिखा । बाद में उनका अंग्रेजी और गुजराती आदि में भी अनुवाद हो गया । आपने बहुत वर्षों तक पटना से "देश" नाम का पत्र प्रकाशित करके बिहार में हिन्दी का प्रचार तथा संगठन किया । आरम्भ में इसका सम्पादन भी आप ही करते थे । अन्य उपायों से भी जब कभी अवसर मिला, आपने सदैव हिन्दी की उन्नति की चेष्टा की ।

भारत के विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार करके उसे वास्तविक रूप से राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने की, उनकी हार्दिक अभिलाषा थी । इसलिये राजनैतिक आन्दोलन में व्यस्त रहते हुये भी वे इस सम्बन्ध में विचार और चर्चा किया करते थे । सन् १६३८ में जब उनके ऊपर काँग्रेसी सरकारों के निरीक्षण का भार भी था, उन्होंने हिन्दी के बहुत बड़े प्रचारक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र में लिखा था—

"हिन्दी राष्ट्र भाषा है, इसलिये राष्ट्र के नाते हिन्दी प्रेमियों का कर्तव्य है कि हिन्दी प्रान्तों में इसका प्रचार करें । इस प्रकार के प्रचार के लिये जो कुछ काम किया गया है, उससे न तो हमें शर्मिन्दा होना है और न किसी प्रकार का क्षोभ करना है । जो काम हुआ है उसका फल भी यथेष्ट मिला है और यदि आज तक पूरी तरह सफलता नहीं मिली है तो उसका कारण हमारी राष्ट्र भावना की कमी है । मद्रास प्रान्त में जहाँ की भाषा हिन्दी से बिल्कुल भिन्न है, इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उत्साह देखा जाता है, क्योंकि वहाँ के शिक्षित वर्ग में बहुत से लोगों ने यह समझ लिया है कि राष्ट्र के लिये राष्ट्र भाषा आवश्यक है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । आप जानते होंगे कि इधर कई वर्षों से उस प्रान्त के हिन्दी प्रचार का सारा खर्च वहाँ के लोगों से ही मिल जाता है और उत्तर भारत से धन नहीं भेजा जाता । मै समझता हूँ कि इसी प्रकार अन्य अहिन्दी प्रान्तो में भी कुछ दिनों तक काम करने के बाद हमारा वैसा ही अनुभव होगा और वहाँ भी वहीं के लोग सारा भार अपने ऊपर ले लेंगे । इसमें अगर कुछ विलम्ब होता है तो हमको न तो निराश होना चाहिये और न घबरा कर हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाना चाहिये ।

"हिन्दी-प्रचार को मैं भीख की झोली नहीं मानता और न यह मानता हूँ कि इसके पीछे कोई द्वेष बुद्धि है । इसका

एकमात्र उद्देश्य है, सारे देश के लिये एक राष्ट्र भाषा का प्रचार । किसी भी प्रान्तीय भाषा को मिटाने या कमजोर करने की इच्छा किसी के दिल में स्वप्न में भी नहीं आयी और न आयेगी । हम राष्ट्र के प्रति अपना कर्त्तव्य मात्र कर रहे हैं और उसे करते रहने में ही हमारा और देश का कल्याण है ।"

राजेन्द्र बाबू हिन्दी की हर प्रकार की प्रगति के लिये सदा जागरूक रहते थे । जिस प्रकार उन्होंने उपर्युक्त पत्र में अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार की समस्या पर विचार किया है, इसी प्रकार एक अन्य पत्र में, हिन्दी में विदेशी भाषा के शब्दों के प्रयोग करने के प्रश्न पर भी अपने विचार विस्तारपूर्वक प्रकट किये हैं । वे हिन्दी, संस्कृत शब्दों का प्रयोग उचित समझते थे, तो भी विदेशी भाषाओं के जो शब्द सर्वसाधारण की बोलचाल में अच्छी तरह मिल जुल गये हैं, उनको हटाना भी नहीं चाहते थे । इस सम्बन्ध में उनका निम्न अभिमत काफी महत्व का है–

"अनेकानेक हिन्दी लेखक भाषा की जटिलता में ही उसकी सुन्दरता देखते हैं । हम बहुधा भूल जाते हैं कि सादगी में सुन्दरता भी है और ओज भी है । इसलिये हिन्दी को किसी भाषा से शब्दों को लेने में संकोच नहीं करना चाहिये । हम यह नहीं भूल सकते कि जहाँ पारिभाषिक शब्दों की जरूरत पड़ेगी, वहाँ हमें अधिकाधिक संस्कृत पर ही भरोसा करना पड़ेगा । यदि उर्दू वाले इसके लिये हमसे कुढ़ते हैं, तो हम इससे नहीं डरते । हिन्दी उर्दू का झगड़ा केवल इतना ही नहीं है अपितु मैं उसमें कुछ साम्प्रदायिकता भी देखता हूँ । यह बात दोनों ओर से हो रही है और इसलिये जटिलता बढ़ती जा रही है । हिन्दी के लिये कोई डर नहीं है, क्योंकि इसकी नींव मजबूत है । यदि हिन्दी वाले दूर-दृष्टि से काम लें तो हिन्दी ही राष्ट्र भाषा बन सकती है, अर्थात् हिन्दी का वह रूप जो मैं चाहता हूँ, जिसमें बहिष्कार की नीति से काम नहीं लिया जाता, जिसमें किसी जाति अथवा भाषा के प्रति द्वेष-भाव नहीं है और जो जनता के लिये सुगम और सहज में समझ सकने योग्य है, प्रचलित हो सकता है । राष्ट्र भाषा बनने के लिये उसे प्रान्तीय भाषाओं के निकट जाना होगा और यह तभी हो सकता है, जब उसमें देशी शब्दों का ही बाहुल्य हो विदेशी शब्दों का नहीं, पर आज कुछ लोगों के विचार जरूर संकुचित हो गये हैं । जहाँ एक ओर अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ उन लोगों से जो हिन्दी के रूपान्तर को अपनी भाषा मानते हैं और जो उसे बोलते और लिखते हैं, हिन्दी जटिल बनाकर दूर हटायी जा रही है । मैं इसमें बुद्धिमानी नहीं देखता । पर मुझे विश्वास है कि यह दौर कुछ समय में खत्म हो जायगा ।"

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू अन्तिम समय तक मातृभाषा की हित-चिन्ता करते रहे । उनके सुझाव निस्सन्देह दूरदर्शितापूर्ण थे और आज कट्टर पन्थियों की गलतियों के कारण ही हम हिन्दी को कई प्रकार के विरोधों में फँसी देख रहे हैं । भाषा एक सदैव विकसित होने वाली चीज है और यदि उसे कड़े बन्धनों में जकड़ा जायगा, उसकी शब्द-सम्पत्ति को निरन्तर बढ़ने से रोक दिया जायगा तो उसका ह्रास अनिवार्य हो जायगा । प्राचीनकाल में लोक-भाषा के रूप में संस्कृत का प्रचार बन्द होकर प्राकृत का आविर्भाव, प्राकृत के स्थान में अपभ्रंश और अन्त में उसका भी लोप होकर आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रचलन इसी नियम का द्योतक है । देश, भेद और काल भेद की दृष्टि से भाषा में सामान्य परिवर्तन होने आवश्यक है । उन्हें जबर्दस्ती रोकने की चेष्टा करना अपनी भाषा के साथ भलाई की अपेक्षा बुराई ही माना जायेगा ।

विदेशों में भी मातृ भूमि की सेवा

राजेन्द्र बाबू की इच्छा आरम्भ ही से विदेश भ्रमण की थी । बी. ए. की परीक्षा देने के बाद आपका विचार इंगलैण्ड जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा देने का हुआ और उसका सब प्रबन्ध भी हो गया, पर आपके माता-पिता को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इसका विरोध किया । उस जमाने में विदेश यात्रा धर्म विरुद्ध समझी जाती थी और यह भी ख्याल था, कि वहाँ रहने से युवकों में अनाचार की भावना पैदा हो जाती है । यद्यपि राजेन्द्र बाबू के लिये किसी को ऐसी आशंका न थी, फिर भी आप माता-पिता के आदेश को किसी दशा में अमान्य नहीं करना चाहते थे । आपके जैसे सहृदय व्यक्ति के लिये माता-पिता ही क्यों बड़े भाई और अन्य परिचित व्यक्तियों का दिल भी किसी तरह दुखाना स्वीकार न था । इनके इंगलैण्ड जाने के लिये कुछ विशिष्ट लोगों ने व्यवस्था की थी, उससे आपने एक मित्र को बैरिस्टर की परीक्षा के लिये भिजवा दिया । उस समय इनके पिता बीमार भी थे, इसलिये ये अपना अधिकांश समय उनकी सेवा-सुश्रूषा में लगाने लगे । थोड़े ही दिन बाद उनका देहान्त हो गया ।

सन् १९२८ में ऐसा अवसर आया कि जब आपको एक मुकदमे के सम्बन्ध में विलायत जाना पड़ा । यह मुकदमा असहयोग आन्दोलन के पहले से ही चल रहा था और राजेन्द्र बाबू वकालत का त्याग करते समय यह वचन

दे चुके थे कि इस अपूर्व मुकदमे के सम्बन्ध में आवश्यकता पड़ने पर वे कानूनी सहायता देंगे । सन् १९२८ में यह इंग्लैण्ड की प्रिवी कौंसिल में पहुँच गया और मुअक्किल के आग्रह करने पर राजेन्द्र बाबू को विलायत जाकर, वहाँ के अंग्रेजी वकीलों को सारा मामला समझा देने के लिये कहा गया । पर विलायत जाने पर भी आप अपने नियमों का पालन करते रहते थे । उस देश में ठण्ड के कारण देर तक सोते रहने का रिवाज है, पर राजेन्द्र बाबू सदा के अनुसार वहाँ भी बड़े सबेरे उठ कर और स्नान करके काम में जुट जाते थे । भारत की तरह वहाँ भी वे शुद्ध खादी की पोशाक ही काम में लाते थे, वे पुस्तकालय में जाकर मुकदमे से सम्बन्ध रखने वाली कानूनी किताबों का अध्ययन करते और तब इंग्लैण्ड के बड़े-बड़े वकील, बैरिस्टरों से सलाह करते । इस लिये आरम्भिक दिनों में तो उनको इंग्लैण्ड के दृश्यों तथा व्यक्तियों को देखने सुनने का बहुत कम अवसर मिला, पर जब मुकद्दमे में समझौता हो गया, तब आपने इंग्लैण्ड के साथ ही जर्मनी, फ्रांस, इटली, स्विट्जरलैंड, हालैण्ड आदि कई देशों की सैर की और वहाँ भी भारत के हितार्थ जितना सम्भव था, कार्य किया ।

उस समय आस्ट्रिया में एक "अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-विरोधी सम्मेलन" हो रहा था । भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस का भी यही सिद्धान्त था । इसलिये राजेन्द्र बाबू उक्त सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हो गये । जब सम्मेलन की कार्यवाही पूरी हो गई तो इनको एक सार्वजनिक सभा में युद्ध विरोधी प्रस्ताव पर भाषण करने के लिये निमन्त्रित किया गया । पर उक्त प्रस्ताव के विरोधियों ने उस सभा पर आक्रमण कर दिया और राजेन्द्र बाबू पर सड़े अण्डे और फल फेंक कर मारे, इनको कुछ चोट भी आयीं पर इन्होंने इसकी कुछ परवाह न की । इस घटना के कारण समाचार पत्रों में विरोधी दल की बहुत निन्दा की गई ।

इंग्लैण्ड में आपने भारत के हितैषी व्यक्तियों से भी भेंट की । वहाँ पर कुमारी लिस्टर गरीबों की सेवा का कार्य करती रहती थी और भारतवर्ष से भी उनको बड़ा प्रेम था । जब वे भारत आयीं तो गाँधी जी के आश्रम में ही ठहरी थीं । गाँधी जी भी जब गोलमेज कान्फ्रेन्स में भाग लेने इंग्लैण्ड गये तो कुमारी लिस्टर के घर पर ही ठहरे । राजेन्द्र बाबू की उनसे भारत के सम्बन्ध में बहुत बातचीत हुई । राजेन्द्र बाबू महात्मा जी की सहायिका मीरा बहन की माता लेडी-स्लेड से भी मिले और उन्होंने बड़े प्रेम से इनका स्वागत किया । स्विटजरलैंड में ये योरोप के प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखक श्री रोमारोलां से मिले । रोमारोलां भारत के बहुत बड़े हितैषी थे और उन्होंने महात्मा गाँधी के जीवन के सम्बन्ध में एक बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी ।

सन् १९२७ में राजेन्द्र बाबू लंका भी गये थे । वहाँ उन्होंने सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्रा का लगाया "बोधिवृक्ष" देखा जिसके नीचे दो हजार वर्ष से अधिक समय से निरन्तर दीपक जलते रहते हैं । उसे देखकर राजेन्द्र बाबू को विचार आया कि यदि इसी प्रकार उनके सदाकत आश्रम, पटना में सदैव चर्खा चलता रहे तो बड़ा अच्छा हो, पर यह विचार पूरा न हो सका ।

सेवा धर्म के व्रतधारी

इन तमाम राजनीतिक कार्यों के साथ राजेन्द्र बाबू ने जनता की कठिनाइयों के अवसर पर सेवा-कार्य में कभी त्रुटि नहीं की । राजनैतिक आन्दोलन में तो जहाँ एक ओर कुछ कष्ट और हानि उठानी पड़ती है, वहाँ दूसरी ओर उसमें विपक्षी के साथ संघर्ष, दाव-पेच और ख्याति का भी आकर्षण रहता है । पर जो सेवा कार्य पीड़ित और कष्टों में फँसे लोगों की सहायतार्थ आकस्मिक रूप से किया जाता है, उसमें बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है और नामवरी का लाभ भी कम ही रहता है । सच्चे सेवाभावी व्यक्ति उसी को अधिक महत्व देते हैं, क्योंकि वह सांसारिक मनुष्य के बजाय भगवान की दृष्टि में प्रशंसनीय बनने का साधन है ।

राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवन का लक्ष्य दीन-दुःखी जनों की सेवा-सहायता करना ही निश्चित किया था । इसलिये सन् १९१३ में भी, जब गाँधी जी का नाम भी यहाँ कम ही सुनने में आया था, दामोदर नदी की बाढ़ के समय उन्होंने पीड़ित लोगों की सहायतार्थ चन्दा इकट्ठा करने से लेकर आवश्यकीय पदार्थ बाँटने तक का कार्य खूब जोरों से किया । उसी समय बिहार की 'पुन-पुन' नदी में भी भयंकर बाढ़ आयी । सैकड़ों मनुष्य बह गये और लाखों बीघा खेती डूब गई । राजेन्द्र बाबू ने अपना वकालत का कार्य बिल्कुल बन्द कर दिया । उस समय वे दिन-भर अपने साथियों को लेकर नाव द्वारा बाढ़ पीड़ितों की रक्षा करते, फिरते और रात्रि को किसी रेलवे स्टेशन या रेलवे लाइन पर रात व्यतीत करते क्योंकि ये ही स्थान पानी में डूबने से बचे थे । लोगों को उसी समय विश्वास हो गया था, कि वे आगे चल कर अवश्य देशोद्धार के कार्य में विशेष भाग लेंगे ।

सन् १९२३-२४ में गंगा में बहुत ही भीषण बाढ़ आयी, जिसका रिकार्ड अब तक कायम है । उस समय आरा, छपरा, पटना, मुंगेर आदि जिलों में चारों ओर तबाही का ही दृश्य दिखायी देता था । न मालूम कितने गाँव बह गये,

लाखों व्यक्ति निराश्रित होकर सड़कों पर पड़ गये । न मनुष्यों के लिये अन्न बचा न पशुओं के लिये चारा । उस समय भी राजेन्द्र बाबू सब काम छोड़ कर गरीबों की सहायतार्थ कूद पड़े । बिहार निवासी तो उस समय संकटग्रस्त होने से अधिक कर नहीं पा रहे थे, इसलिये उन्होंने बम्बई और गुजरात से धन संग्रह करके हजारों लोगों की प्राण रक्षा की । इस प्रकार जब कभी जनता पर कोई आपत्ति आयी राजेन्द्र बाबू सदैव उसकी सहायता के लिये सबसे पहले आगे बढ़े । मनुष्यत्व का यही लक्ष्य है और धर्म का सार भी यही है, कि हम कष्ट और आपत्ति के समय अपनी फिक्र न करके दूसरों को जितनी सहायता सम्भव हो निःस्वार्थ भाव से करें । इसका परिणाम यह हुआ कि राजेन्द्र बाबू बिहार की जनता के हृदय में बस गये और लोग उनको देवता की तरह पूज्य-भाव से देखने लगे ।

सन् १९३४ के भूकम्प की कथा तो ठीक तरह कही जा सकनी कठिन है । गत सैकड़ों वर्षों से जहाँ तक लोगों को याद है और लिखित प्रमाण मिलते हैं, इतना भयंकर और नाशकारी भूकम्प भारत में नहीं आया । इसमें उत्तरी बिहार का बहुत-सा भाग एकदम नष्ट हो गया । मुंगेर का पूरा शहर श्मशान बन गया, अन्य शहरों में भी हजारों व्यक्ति अपने ही घरों मे दब गये । अनेक जगह जमीन फट कर काले रंग का पानी बाहर निकल आया । अनेक जगह भीतर से बालू निकल कर खेतों में फैल गई । अनुमान से चालीस-पचास हजार व्यक्ति कुछ मिनटों के भीतर मर गये । जमीन के ऊँचा-नीचा हो जाने से नदियों का बहाव बदल गया और अनेक दूर-दूर के स्थानों में बाढ़ आने का खतरा पैदा हो गया ।

जिस समय यह महान दुर्घटना हुई राजेन्द्र बाबू पन्द्रह महीने की सजा काट रहे थे । पर जेल में स्वास्थ्य खराब हो जाने से उन्हें अस्पताल भेज दिया गया था । वहीं पर आपने भूकम्प की खबर सुनी । और सुनी क्या, जिस अस्पताल में आप बीमार पड़े थे, उसका भी कुछ अंश फट कर गिर गया । राजेन्द्र बाबू ने उसी समय सरकार से और देश से भूकम्प पीड़ितों को सहायता पहुँचाने की अपील की और सरकार ने भी उनको दूसरे दिन (१६ जनवरी को) जेल से छोड़ दिया, यद्यपि उस समय सजा का एक महीना शेष था । बस बाहर आते ही रोग शैया पर पड़े-पड़े उन्होंने पीड़ितों की सहायतार्थ देशव्यापी प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया । श्री रवीन्द्रनाथ, मालवीय जी, गाँधी जी के नाम से विदेशों से भी सहायता की अपील करायी गई । राजेन्द्र बाबू की भावना को समझ कर गाँधी जी और जमनालाल बजाज बिहार पहुँच कर सेवा कार्य में संलग्न हो गये । देश के अन्य नेताओं ने भी पूरा सहयोग दिया और इस प्रकार लाखों लोगो को फिर से जीवन निर्वाह के साधन मिल जाने से उनकी रक्षा हो सकी । उस समय राजेन्द्र बाबू ने स्वास्थ्य निर्बल होने पर भी जितना परिश्रम किया और सहायता कार्य की सुव्यवस्था की, उसे देख कर उनके त्याग और तपस्या की छाप समस्त देश पर पड़ गई । लोगों को विश्वास हो गया कि वे उन अनन्य सेवाव्रती महापुरुषों में से हैं, जो बिना किसी प्रकार के स्वार्थ और अहंकार को देश सेवा के कार्य को अपना धर्म कर्त्तव्य समझ कर करते हैं । वे जिस काम को हाथ लगायेंगे, उसे अपनी पूर्ण शक्ति और योग्यता से सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे । उनका किसी से ईर्ष्या या द्वेष भाव नहीं है, वे कभी अपने को दूसरों से बड़ा नहीं बतलाते और न उनमें किसी प्रकार के बाह्य सम्मान की भूख है, इसलिये उनके द्वारा आरम्भ किये गये सभी कार्य प्रायः निर्विघ्न पूर्ण हो जाते हैं ।

काँग्रेस-अध्यक्ष के रूप में सेवा

यद्यपि राजेन्द्र बाबू युवावस्था से ही देश सेवा में संलग्न थे और असहयोग-आन्दोलन आरम्भ होते ही उसमें भी महत्वपूर्ण सक्रिय भाग ले रहे थे, तो भी आपका विशेष प्रभाव बिहार में था, अन्य प्रान्त के लोगों को उतना अधिक परिचय न था । बिहार भूकम्प के अवसर पर, जब विनाश की विशालता को देख कर वहाँ की सरकार भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई थी, और तुरन्त मर जाने वालों के अलावा सर्वस्व नष्ट हो जाने के कारण और भी लाखों लोगों के कुछ दिनों में श्मशान जाने की सम्भावना थी, राजेन्द्र बाबू ने अपने साहस, परिश्रम, योग्यता के बल पर उस विकट समस्या को जिस प्रकार सुलझाया, उससे उनका नाम भारत के कोने-कोने में फैल गया और लोग उनकी कार्य शक्ति तथा योग्यता को पूरी तरह समझ गये । इसलिये सन् १९३४ के अन्त में काँग्रेस का जो अधिवेशन बम्बई में हुआ उसके अध्यक्ष सर्वसम्मति से आप ही चुने गये ।

जिस समय राजेन्द्र बाबू काँग्रेस अध्यक्ष हुये उस समय उसमें पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो गया था और इसके फलस्वरूप संगठन में ढीलापन आ गया था । राजेन्द्र बाबू ने अधिवेशन समाप्त हो जाने के पश्चात् समस्त देश का तूफानी दौरा किया और काँग्रेस के कार्यकर्ताओं में न तो स्फूर्ति पैदा की । उस समय वे जहाँ कहीं गये, वहीं पर उनका शानदार स्वागत किया गया और लोगों को मालूम हो गया कि इस समय काँग्रेस में राजेन्द्र बाबू ही ऐसे नेता

हैं, जिन पर सबको विश्वास है और निराभिमानता तथा निःस्वार्थ भावना के कारण जो सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि कॉंग्रेस संगठन में आपका प्रभाव बहुत बढ़ गया और आपको "कॉंग्रेस हाई कमान" में सम्मिलित किया गया, जिसमें आप जीवन के अन्तिम समय तक कार्य करते रहे।

राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित

यद्यपि राजेन्द्र बाबू का रहन-सहन ऐसा सीधा-साधा और ग्रामीण ढंग का था कि अकस्मात् किसी अनजान व्यक्ति को यह अनुभव ही नहीं होता था, कि ये देश के इतने प्रमुख नेता हैं, तो भी जब समय आया तो देश ने उनकी शक्ति को समझा और उनकी वैसी ही कदर की। सन् १९३६ में जब कॉंग्रेस ने कौंसिल प्रवेश का निश्चय किया तो राजेन्द्र बाबू को पार्लियामेण्टरी बोर्ड का सदस्य नियुक्त किया गया सभी प्रान्तों में कॉंग्रेसी उम्मीदवार तथा मन्त्रिमण्डल सदस्य चुनने में उनका बड़ा हाथ रहा। उनके अथक परिश्रम से प्रायः सभी प्रान्तों में कॉंग्रेस को बहुत अच्छी सफलता मिली और ढाई वर्ष तक शासनारूढ़ रह कर कॉंग्रेसी अधिकारियों ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि अवसर आयेगा तो वे देश का शासन अच्छी तरह चला सकेंगे।

सन् १९४२ के संघर्ष और तीन वर्ष तक सभी प्रमुख कॉंग्रेस नेताओं के जेल में रहने के पश्चात् जब ब्रिटिश सरकार से समझौता हुआ और भारत को स्वराज्य दिये जाने का निर्णय हो गया, तो देश भर में चुनाव किये गये और केन्द्र में एक मिली-जुली सरकार स्थापित की गई, जिसमें कांग्रेस की ही प्रधानता थी। उस समय राजेन्द्र बाबू को खाद्य विभाग का मन्त्री बनाया गया। इसके पश्चात् जब पाकिस्तान और भारत का विभाजन होकर सार्वजनिक चुनाव के आधार पर स्थायी सरकार का निर्माण हुआ तो राजेन्द्र बाबू को देश के सर्वोच्च पद राष्ट्रपति के लिये चुना गया।

राष्ट्रपति के पद पर बारह वर्ष से अधिक समय तक रहकर भारतीय प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा को बहुत बार बढ़ाया। विभिन्न देश के राष्ट्रपतियों तथा शासन कर्ताओं से मेल-मिलाप बढ़ा कर, उन्होंने भारत के शासन तन्त्र की जड़ को मजबूत किया। वे सदैव अपनी संस्कृति और सभ्यता की रक्षा का पूरा ध्यान रखते थे और विदेशियों से मिलते या विदेशों में जाते समय पूर्ण रूप से भारतीय वेषभूषा मे ही रहते थे। आपके विचार इस सम्बन्ध में कितने व्यापक और सुदृढ़ थे, यह निम्नलिखित उद्गारों से प्रकट होता है-

"जिन परिस्थितियों में अनेक संस्कृतियों का नाश हो चुका है, उन परिस्थितियों में पड़ कर भी हमने अपना अस्तित्व ही कायम नहीं रखा है, वरन् अपनी बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा की भी रक्षा की है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हम अपने को स्थिर रख सके, उसका कारण यही है कि हमारी संस्कृति नैतिक आधार पर खड़ी की गई है। यह आधार पर्वत की अपेक्षा भी सुदृढ़, समुद्र की अपेक्षा भी गहरा और आकाश की अपेक्षा भी विशाल है। जिन देशों का नाश हो चुका है उनकी संस्कृति का आधार जातिभेद अथवा भाषा प्रेम जैसे संकीर्ण तत्वों पर था।"

इस प्रकार की भावनाओं को लेकर राजेन्द्र बाबू जीवन के अन्तिम समय तक राष्ट्र और समाज के उत्थान के लिये सचेष्ट रहे। राष्ट्र ने भी उनको हर तरह से सम्मानित किया और जब तक वे कार्यक्षम अवस्था में रहे, तब तक उनके मुकाबले में किसी ने आगे आने का प्रयत्न नहीं किया और तो क्या लोक, सभा के विरोधी दल वाले भी उनका हृदय से सम्मान करते थे और उनकी निष्पक्षता तथा उदारता में पूरी आस्था रखते थे। राजेन्द्र बाबू का जीवन निस्सन्देह सब प्रकार से अनुकरणीय रहा और हम देश तथा समाज की सेवा के क्षेत्र में उससे सदैव प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं।

मानव-जाति के सेवाव्रती

राजा महेन्द्र प्रताप

भारतवर्ष में अपनी सरकार को स्थापित हुए ४८ वर्ष हुए हैं, जिसकी रजत-जयन्ती (१५ अगस्त, १९७२) को मनायी गई थी। इसके पहले देश पर अँग्रेजों का अधिकार था। यद्यपि भारतवासियों का स्वतन्त्रता संग्राम सन् १९०५ से जोरों के साथ चल रहा था, पर उस समय यहाँ के कर्ता-धर्ता, विधाता ब्रिटिश शासक ही थे, जिनका मुख्य उद्देश्य इस देश के साधनों से इंग्लैण्ड की सत्ता और उद्योग-धन्धों को मजबूत बनाना था। इसलिये वे भारतवासियों की न्याययुक्त आकांक्षाओं को भी सदा दबाते रहते थे और स्वराज्य प्राप्ति के लिये किये गये किसी भी आन्दोलन का जबाव दमन द्वारा ही देते थे। उस समय देश-विदेश में कहीं भी भारत की आवाज नहीं सुनी जाती थी और न एक राष्ट्र के रूप में विश्व में उस का कोई स्थान था।

पर पाठकों को यह जानकर कुछ आश्चर्य होगा, कि ऐसे जमाने में भी आज से अस्सी वर्ष पहले एक "अस्थायी भारत सरकार" का संगठन भारतीय सीमा से थोड़ी ही दूर पर अफगानिस्तान की भूमि पर किया गया था, जिसने कई वर्ष तक विभिन्न देशों को प्रतिनिधि-मण्डल भेजे बहुत-सी

घोषणाएँ जारी कीं, रूस की विभिन्न सरकारों के साथ कुछ समझौते किये और अफगानिस्तान की सरकार के साथ एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर भी किये, यद्यपि साधनों की कमी और संसारव्यापी हलचल के कारण यह सरकार बहुत खुल कर अधिक काम नहीं कर सकी, तो भी इतिहास में इसका नाम मौजूद है। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट द्वारा नियुक्त "रौलेट कमेटी" की रिपोर्ट में, जिसके विरुद्ध महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन शुरू किया था। इस अस्थायी सरकार की चर्चा की गई है तथा भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के सम्बन्ध में लिखे अन्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। भारत की "अस्थायी सरकार" (प्रॉवीजनल गवर्नमेण्ट) के मुख्य प्रवर्तक और अध्यक्ष राजा महेन्द्रप्रताप थे। इसकी स्थापना काबुल के "बाग़ बाबर" नामक राज भवन में १ दिसम्बर, १९१५ को हुई थी। इसका वर्णन करते हुये राजा साहब की आत्मकथा (My life Story Of Fifty Five Years) में लिखा है–

"पहली दिसम्बर का दिन आ पहुँचा। आज शाम को आठ बजे मेरे कमरे में एक छोटी-सी पार्टी दी जाने वाली थी। मेरे जर्मन, तुर्की और भारतीय मित्रों को निमन्त्रित किया गया था। पर उनमें से चार व्यक्तियों के सिवाय और किसी को इस समारोह का वास्तविक उद्देश्य मालूम न था। वे यही जानते थे कि मैं अपनी सालगिरह का उत्सव मना रहा हूँ। पर यह एक बड़ी ही गुप्त बात थी। इस पार्टी में केवल नौ-दस व्यक्ति बुलाये गये थे। कार्य आरम्भ होने पर मैंने खड़े होकर कहा–

"मित्रों! अब मैं आपको बताना चाहता हूँ कि आपको यहाँ आने का कष्ट क्यों दिया गया? मैं अपनी सालगिरह मनाने जैसी बातों मे विश्वास नहीं रखता। जीवन एक निरन्तर चलने वाला प्रवाह है, जिसका न कोई आरम्भ है न अन्त है। इस रात्रि को हम "प्रथम भारतीय अस्थायी सरकार" स्थापित करने को एकत्रित हुए है। मैं इसके अध्यक्ष पद की शपथ लेता हूँ और हमारे मित्र मौलाना बर्कतुल्ला प्रधानमन्त्री की।"

राजा साहब ने आगे चलकर लिखा है कि "कप्तान नीडर मेयर (जर्मन) डा. मुनीरवेग (टर्की) और कप्तान काजिम वेग ने इसका समर्थन किया और धन्यवाद दिया। उस समय हम यह नहीं जानते थे, कि हमारा यह सामान्य प्रयत्न आगे चल कर महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध बन जायगा। उस समय हमको इस बात पर बहुत कम विश्वास था कि अफगानिस्तान के अमीर हबीबुल्लाह, जो अंग्रेजों के पक्षपाती प्रसिद्ध थे, गैर सरकारी तौर पर भीतर ही भीतर हमारे सहायक बन जायेंगे। मेरे मतानुसार हमने उस समय जो कुछ किया उसको स्पष्ट रूप से "गुप्त षडयन्त्र" भी नहीं कहा जा सकता। हम अफगानिस्तान इसीलिये गये थे कि भारत में स्थापित ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध कार्य करें। टर्की और जर्मनी की सरकारों ने हमको सहायता दी, क्योंकि वे इंग्लैंड से युद्ध कर रही थीं। इसमें षडयन्त्र की कोई बात ही नहीं थी।"

उपर्युक्त मीटिंग के कुछ ही समय पश्चात् १९१६ के आरम्भ में ही एक दिन काबुल के एक बड़े सरकारी कमरे में एक बड़े टेबिल के चारों तरफ अफगानिस्तान के अमीर हबीबुल्लाह खाँ, उनके दोनों शहजादे, दरबारी और हमारे 'इण्डो-टुर्को-जर्मन' (भारतीय-तुर्की-जर्मनी) मिशन के सदस्य बैठे थे। उसी समय एक सन्धि-पत्र लिखा गया और उस पर दस्तखत किये गये। इसके बाद मैंने अमीर के कान में कहा– "क्या यह एक बढ़िया बात न होगी कि हम रूस को अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करें। इससे मीटिंग में एक नये उत्साह की लहर दौड़ गई, क्योंकि अमीर ने तुरन्त ही स्वीकार कर लिया और मुझसे प्रधानमन्त्री के साथ इसकी पूरी योजना बनाने को कहा।"

"भारतीय अस्थायी सरकार" की योजना विशेष रूप से भारतवर्ष की सीमा से मिले हुए राज्यों जैसे अफगानिस्तान, रूस, चीन, नेपाल आदि से सम्पर्क स्थापित करके, उनकी सहायता से भारत पर आक्रमण करने की थी। पर एक तो उस समय प्रथम विश्वयुद्ध की हलचल के कारण एक देश से दूसरे को जा सकना ही बड़ा कठिन और खतरनाक था। फिर इन सभी देशों के मध्य में स्थित पामीर का प्लेटो यात्रा की दृष्टि से बड़ा बीहड़ और अत्यन्त ठण्डा स्थान था, और अन्तिम बात यह कि उस समय तक ब्रिटिश साम्राज्य का दबदबा और रौब समस्त संसार में व्याप्त था। सब देशों में उसके जासूस विरोधियों की हलचल का पता लगाते घूमते रहते थे। इसलिये गुप्त रूप से कुछ मदद करने देने के सिवाय किसी का यह साहस न था, कि ब्रिटिश सरकार का खुल कर विरोध कर सके। इसलिये आस-पास के देशों में कुछ दौड़धूप करने के पश्चात् सन् १९२० में जब अफगानिस्तान के नये शासक अमानुल्लाह खाँ ने अँग्रेजो से सन्धि कर ली, तो यह 'अस्थायी सरकार' समाप्त कर दी गई।

नेपाल होकर भारतीय विद्रोह का प्रयत्न

कुछ समय पश्चात् राजा महेन्द्र प्रताप ने विचार किया कि चीन और तिब्बत होकर नेपाल पहुँचा जाय और भारतीय क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध स्थापित करके भारत पर आक्रमण

की कोई योजना बनायी जाय । यद्यपि यह विचार सन् १९२३ में काबुल में ही किया गया था पर इसकी वास्तविक तैयारी अप्रैल १९२५ में सान्फ्रांसिस्को (अमरीका) में की गई । इसमें मुख्य सहयोग गदर पार्टी का था; जिसकी स्थापना सन् १९११ में परम देशभक्त ला. हरदयाल ने की थी । हरदयाल जी बहुत बड़े विद्वान् भी थे और उनको अमेरिका के एक कालिज में प्रोफेसर नियुक्त किया गया था । कुछ समय पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अमरीकन सरकार से शिकायत करके हरदयालजी को गिरफ्तार करा दिया; पर वहाँ के निवासियों पर उनकी योग्यता का इतना प्रभाव पड़ चुका था, कि उन्होंने सरकारी कार्यवाही का जोरदार विरोध करके इनको छुड़या लिया । लाला हरदयाल ३० वर्ष तक योरोप, अमरीका के विभिन्न देशों में रहकर भारत में स्थापित अँग्रेजी शासन की जड़ उखाड़ने में लगे रहे । अमरीका से तो उन्होंने हजारों सिख देश भक्तों को प्रेरणा देकर भारत में सशस्त्र क्रान्ति करने के लिये भिजवाया था । राजा महेन्द्र प्रताप से भी उनकी भेंट योरोप पहुँचते ही हुई । वे सबसे पहले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा के पास पहुँचे, जो उस समय स्वीट्जरलैण्ड में आये थे । श्यामजी ने उनको लाला हरदयाल से बात करने को कहा । इस सम्बन्ध में राजा साहब की "आत्म कथा" का वर्णन पाठकों को अवश्य ही मनोरंजक प्रतीत होगा–

"स्वीट्जरलैण्ड के जैनेवा नगर में पहुँचते ही मैं और हरिश्चन्द्र, श्यामजी कृष्ण वर्मा को ढूँढने लगे । एक मिस्र निवासी युवक ने उनका पता बताया । सन्ध्या के समय हम उनसे मिले तो उन्होंने लाला हरदयाल के पास जाने को कहा । उसी रात को हम टैक्सी द्वारा उनके पास पहुँचे । वे शहर से बाहर बहुत दूर रहते थे और जब हम पहुँचे, उस समय अपने भोजन के लिये आलू भून रहे थे । युद्ध के सम्बन्ध में बातें शुरू होने पर मैंने उनसे यही कहा-"आप जर्मनी क्यों नहीं जाते ?" उन्होंने उत्तर दिया– 'वहाँ कुछ अन्य युवक काम कर रहे हैं ।" उन्होंने मुझे जर्मन राजदूत का पता दिया और मैंने उनसे भेंट की ।"

इसी गदर पार्टी की एक मीटिंग में (अप्रैल १९२५) तिब्बत-अभियान का निर्णय किया गया और उसी समय खर्च के लिये बारह हजार डालर चीन होते हुए तिब्बत की सीमा पर सिन-फू नामक स्थान पर पहुँच गये । तिब्बत वैसे ही बहुत ठण्डा देश है, फिर उस समय जाड़े का मौसम शुरू हो चुका था । इसलिये डेरा-तम्बू, चमड़े के बने गर्म कपड़ों, घोड़े, खच्चर आदि सभी आवश्यक बातों की व्यवस्था की गई । ये लोग १ नवम्बर को तिब्बत में घुसे और छः महीने से अधिक वहाँ रहकर पुनः चीन वापस आये । राजा साहब ने तिब्बत के अनेक उच्च अधिकारियों, लामाओं से मित्रता कर ली और उनके जरिये सफलता के लिये प्रयत्न किया । दालाई लामा ने उनको आशीर्वाद दिया, पर नेपाल तक यात्रा करने की अनुमति दे सकने में असमर्थता बतायी। उन्होंने अपने पत्र में लिखा–

"आपके पत्रों से हमको यह प्रतीत हो गया कि आप एक बुद्धिमान और परोपकारी मनोवृत्ति के व्यक्ति हैं । हम यह भी जानते हैं कि आपके आदर्श धर्मानुकूल हैं पर हमारे देश के कानून के अनुसार इस प्रकार के मामलों का निर्णय प्रधान शासक स्वयं नहीं करता वरन् उसे "महा समिति" के पास भेज दिया जाता है । अब उसने निर्णय किया है कि अभी तिब्बत और चीन के बीच जो झगड़ा पैदा हुआ था उसकी मध्यस्थता ब्रिटिश सरकार ही कर रही है । इसके सिवाय ब्रिटिश भारत की सीमा हमसे मिली हुई है और हमारे देश के समाचार व्यापारियों द्वारा वहाँ पहुँचते रहते हैं । इस परिस्थिति में "महा समिति" आपका ल्हासा आना उपयुक्त नहीं समझती ।'

इस प्रकार तिब्बत के शासकों ने अँग्रेजों के नाराज होने का ख्याल करके राजा साहब को देश के भीतर अधिक दूर तक नहीं आने दिया । वैसे दालाई लामा ने उनकी भेजी दो रायफल और चार सौ कारतूसों की भेंट स्वीकार कर ली और अपनी तरफ से एक रेशमी दुपट्टा, कुछ सोना और चाँदी तथा आठ थान बढ़िया ऊनी कपड़े के भेजे ।

यह एक रहस्य की बात है कि यद्यपि राजा महेन्द्र प्रताप का स्पष्ट सम्बन्ध उस समय भारत के क्रान्तिकारी दल या विशेष नेता से नहीं था, फिर भी तिब्बत तथा नेपाल आने के कार्यक्रम की खबर यहाँ पहुँच गई थी । इस पर क्रान्तिकारी दलों के कई कार्यकर्ताओं ने उनसे नेपाल में भेंट करके उनकी योजना में सहयोग देने का विचार किया । इस प्रकार प्रयत्न करने वालों में एक श्री राधामोहन गोकुल जी भी थे जो सन् फरवरी १९२६ में शिव रात्रि के अवसर पर कानपुर से नेपाल गये थे । शिवरात्रि के अवसर को चुनने का कारण यह था, कि उस अवसर पर कुछ दिन के लिए काठमाण्डू के पशुपतिनाथ महादेव के दर्शन पूजा के लिए नेपाल सरकार की तरफ से 'परमिट' का नियम स्थगित कर दिया जाता था और सब कोई, जिनमें अधिकांश साधु संन्यासी होते थे, पशुपतिनाथ की यात्रा को जा सकते थे । राधामोहन जी उसी यात्रियों की भीड़ के साथ काठमाण्डू पहुँच गये और वहाँ बीस-पच्चीस दिन ठहरे भी रहे ।

तिब्बत के अभियान में असफल होकर राजा साहब फिर चीन लौट गये और अँग्रेजी सरकार पर आक्रमण करने

की दूसरी योजना बनाने लगे । तिब्बत से लौटने का वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी 'आत्म कथा' में साफ शब्दों में कहा है कि "सच्ची बात यही है कि मेरा इरादा भारतवर्ष को अँग्रेज विरोधी राष्ट्रों से घेरने का और चारों तरफ सीमाओं पर अपनी चौकियाँ कायम करने का था । अफगानिस्तान में तो बादशाह अमानुल्लाह हमारे पक्के दोस्त थे ही, मैंने सोचा था कि तिब्बत और नेपाल में भी वैसे ही दोस्त प्राप्त करने की चेष्टा क्यों न की जाय ? यही हमारे मिशन का उद्देश्य था ।"

इसमें सन्देह नहीं कि राजा महेन्द्र प्रताप घर से भारत की स्वाधीनता का कार्यक्रम लेकर ही निकले थे । उन्होंने सन् १९१४ में योरोप को जाते समय अपने बड़े भाई कुँवर बल्देव सिंह के यह पूछने पर कि 'अब कब तक लौटोगे ? यही उत्तर दिया था कि 'अब मैं अपने सहायकों की सेना के साथ ही वापस जाऊँगा ।' यद्यपि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य संसार की सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती थी, संसार के सभी राष्ट्र उससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दबते थे । इसलिये जिन राष्ट्रों ने राजा साहब का समर्थन किया था। किसी तरह की सहायता दी वह गुप्त रीति से ही दी । पर उसी के आधार पर राजा महेन्द्रप्रताप ने शत्रु को घबराहट में डाल दिया और भारतीय स्वाधीनता संग्राम में वह स्थान बना लिया जो आज तक देशभक्तों द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है ।

आरम्भिक जीवन

राजा महेन्द्र प्रताप का जन्म १ दिसम्बर, १८८६ में हुआ था । आप एक प्राचीन राज्य वंश राजा घनश्याम सिंह के तीसरे पुत्र थे । बचपन में ही उनको हाथरस के राजा हरनामसिंह ने गोद ले लिया । कुछ बड़े होने पर अपने अलीगढ़ के मुहम्मडन कालेज में शिक्षा पायी । १९०७ में ही आप पत्नी सहित संसार-भ्रमण कर आये, जिससे आपका दृष्टिकोण बहुत विकसित हो गया और अपने देश के लिये भी योरोप, अमरीका के देशों का अनुसरण करने का स्वप्न देखने लगे । शीघ्र ही आपने अपनी अधिकांश जमींदारी दान करके उसके द्वारा एक टेक्निकल विद्यालय स्थापित करने का निश्चय कर लिया । इस संस्था की स्थापना सन् १९०८ के मध्य में हो गई । राजा साहब ने उस समय जो निमन्त्रण भेजा था, उसमें लिखा कि इस उत्सव में मेरे प्रथम पुत्र का नामकरण संस्कार होगा । इस पर सभी रिश्तेदार तथा मित्र सोने के आभूषण तथा वस्त्र लेकर आये । महामना मालवीय जी भी आ गये । पर जब राजा साहब ने यह बताया कि उनका यह पुत्र एक शिक्षा संस्था के रूप में है । तो सब लोग बड़े चकराये । "फिर नाम का प्रश्न उठा । कुछ लोगों ने सम्मति दी कि इसका नाम मेरे पिता के नाम के ऊपर रखा जाय । मैंने उत्तर दिया कि सार्वजनिक संस्थाओं को इस प्रकार निजी संस्थाओं का रूप देना कोई अच्छी बात नहीं है । अन्त में "प्रेम महाविद्यालय" नाम ही सर्व सम्मति से पसन्द किया गया ।"

उस समय प्रेम महाविद्यालय अपने ढंग की एक ही संस्था थी, जिसमें पढ़ाई के साथ विद्यार्थियों को लकड़ी, लोहा, बुनाई, फोटोग्राफी, गलीचा बुनना आदि शिल्प कार्यों में से कोई एक अनिवार्य रूप से सिखाया जाता था । विद्यार्थियों से किसी प्रकार की फीस नहीं ली जाती थी । शिक्षक भी प्रायः देशभक्त और प्रगतिशील विचारों के रखे जाते थे । श्री सम्पूर्णानन्द जी को बाद में उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री तथा राजस्थान के राज्यपाल बने, तथा आचार्य जुगल किशोर जो वर्षों तक सरकार के शिक्षा मन्त्री तथा अन्य पदों पर रहे । प्रेम महाविद्यालय में पर्याप्त समय तक काम कर चुके थे । अँग्रेज सरकार इस विद्यालय को सन्देह की निगाह से देखती थी और उनकी रिपोर्ट के अनुसार इसमे कभी बम आदि बनाने का प्रयत्न भी किया गया था । कुछ भी हो राजा महेन्द्र प्रताप ने इसको ऐसे देशभक्त तथा स्वावलम्बी नव युवक तैयार करने की दृष्टि से ही स्थापित किया था जो मातृ भूमि के उद्धार में सहयोग दे सकें ।

राजा साहब के योरोप चले जाने के बाद उनके दो सहकारी निस्स्वार्थ भाव से संस्था का संचालन करते रहे जिससे समस्त देश में उसका नाम और महत्व बढ़ता चला गया । समय-समय पर देश के महान नेता इसे देखने आते रहे और इसके उद्देश्य तथा कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे सन्तोष व्यक्त करते रहे । महात्मा गाँधी ने इसे देख कर कहा– "यहाँ कोई ऐसी चीज नहीं है जो देखने योग्य न हो, इसके संस्थापक बहुत अधिक प्रशंसा के पात्र हैं ।" महामना मालवीय जी ने लिखा- "मुझे आन्तरिक प्रसन्नता है कि पिछली बार जब मैंने प्रेम महाविद्यालय को देखा तब से इसने बहुत अधिक प्रगति की है ।" काशी के बाबू शिव प्रसाद गुप्त ने लिखा– "मुझे इस विद्यालय को देख कर बहुत ज्यादा प्रसन्नता हुई । मेरी अभिलाषा है कि इससे निकलने वाले विद्यार्थी अपनी मातृभूमि के प्रति उसी तरह का असीम प्रेम रखें जैसा कि इसके संस्थापक में है ।" श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा– "मैंने यहाँ जो कुछ देखा उससे बहुत प्रभावित हुआ और मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ ।" पं. जवाहर लाल नेहरू ने लिखा– "मैंने विद्यालय में काम होते देखा और इससे मुझे बड़ी खुशी हुई । इन

महापुरुषों के ये उद्‌गार इस बात के सुनिश्चित प्रमाण हैं कि प्रेम महाविद्यालय ने वास्तव में देश की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की थी, जिसके लिये उस समय तक और कोई सामने नहीं आया था ।

समाज-सुधार में अग्रणी

राजा महेन्द्र प्रताप आरम्भ से ही समाज-सुधार के पक्षपाती रहे । हिन्दू-समाज में अछूतों के साथ किया जाने वाला नीच व्यवहार उनको बहुत खटकता था, और इसलिये उनकी कट्टरपन्थियों से नहीं पटती थी । एक बार जब वे अपनी दो माताओं के साथ द्वारिका गये तो स्टीमर से उतरते ही पण्डों ने घेर लिया और पूछने लगे "आपकी जाति क्या है ?" राजा साहब ने कहा– "मैं भंगी हूँ ।" पण्डा कहने लगे– तो आप मन्दिर में नहीं जा सकते । मैं हर्गिज नहीं जाऊँगा– राजा साहब ने कहा और बड़ौदा राज्य के डाक बंगले में जाकर ठहर गये । बाद में उनकी माता तो पण्डों को समझा बुझा कर मन्दिर में चली गईं, पर वे द्वारिका-मन्दिर के प्रधान अधिकारी के आग्रह पर भी वहाँ नहीं गये और यही उत्तर दिया कि "जहाँ के लोग मानवता का मूल्य नहीं समझते, वहाँ जाना मुझे स्वीकार नहीं ।'

राजा महेन्द्र प्रताप का यह कहना एक तरह से ठीक भी था । इससे पहले ही वे आगरा में एक मेहतर के पास बैठकर खा चुके थे । अलमोड़ा में भी उन्होंने एक "टामटा" के घर का खाना खाया था, जो सबसे नीच जाति के माने जाते हैं । उन्होंने देहरादून से हिन्दी और उर्दू में "निर्बल सेवक" नाम का पत्र निकाला और वृन्दावन से "प्रेम" साप्ताहिक पत्र प्रकाशित कराया । ये सब दीन-दुखी और दलित लोगों की सेवा में, उन पर होने वाले अन्यायों का प्रतिकार करने में संलग्न रहते थे । प्रेम महाविद्यालय की स्थापना के साथ ही अपने वृन्दावन के तीन बाग वहाँ के गुरुकुल को दे गिये । दस हजार रुपया मथुरा के कलक्टर मि. डैम्पियर को इसलिये दिया कि वे उससे उनकी जमींदारी के किसानों के लिये एक सहकारी (को-आपरेटिव) बैंक स्थापित कराने की व्यवस्था करें ।

आप सब जातियों और धर्मों में एकता और समानता के सदा से समर्थक रहे हैं । आपने कितने ही प्रचारक नियुक्त करके उनमें से कुछ को रेल द्वारा यात्रा करने और हर एक स्टेशन पर एक दिन ठहर कर प्रेम-धर्म का उपदेश करने को कहा । इसी प्रकार अन्य उपदेशकों को सड़क द्वारा यात्रा करने तथा मार्ग में पड़ने वाले हर एक गाँव में इन सिद्धान्तों का प्रचार करते चलने को कहा ।

आप स्वयं भी सेठ बल्देव सिंह भक्तराज तथा स्वामी सोमानन्द को लेकर मुरादाबाद जिले में प्रचारार्थ भ्रमण करने लगे । प्रतिदिन शाम को किसी गाँव में भजन, कीर्तन और उपदेश सुनाये जाते थे । एक भजनोपदेशक हारमोनियम बजाता था । सरकारी खुफिया पुलिस वाले भी आपका पीछा करने लगे । एक दिन वे उनसे कहने लगे कि आप मुरादाबाद जाकर मजिस्ट्रेट से मिल लें और तब आगे बढ़ें । भेंट होने पर मजिस्ट्रेट ने कहा 'आप लोग गौ रक्षा का प्रचार करते हो, पर इससे साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलने का भय रहता है, इसलिये मुझे यह प्रचार कार्य पसन्द नहीं आता ।' राजा साहब ने उत्तर दिया कि यह रिपोर्ट बिल्कुल झूठ है। हम मनुष्य के प्राणों की कीमत पशु के प्राणों से अधिक मानते हैं, और विभिन्न धर्मों में मेल मिलाप का ही प्रचार करते हैं ।"

राजा महेन्द्र प्रताप के विचार आरम्भ से राजनीति की तरफ भी थे । सन् १९०६ की कलकत्ता काँग्रेस में, जिसके अध्यक्ष भारत के राजनीतिक गुरु दादाभाई नौरोजी थे और जिसने प्रथम बार स्वराज्य का नाम लिया गया था, आप भी एक दर्शक की हैसियत से शामिल हुये थे । उस समय वे अपनी ससुराल झींद रियासत (पंजाब) में गये थे । झींद के राजा रणवीर सिंह, जो महेन्द्र प्रताप जी के बहनोई लगते थे, अधिकांश राजाओं की मनोवृत्ति के अनुसार काँग्रेस में जाने के विरुद्ध थे, पर ये इस बात की परवाह न करके काँग्रेस में चले ही गये । उस समय एक मात्र बड़ोदा के महाराज सयाजीराव ही ऐसे थे, जो ब्रिटिश सरकार का भय छोड़ कर काँग्रेस में गये थे और मंच पर बैठे थे । उनका बहुत जोरों से स्वागत भी किया गया था । सन् १९१० की काँग्रेस में राजा साहब "प्रेम महाविद्यालय" के विद्यार्थियों का एक दल लेकर गये । वहाँ उन्होंने एक स्वतन्त्र पण्डाल में "शिक्षा कान्फ्रेन्स" के अधिवेशन का आयोजन किया । विद्यालय की बनी चीजें कांग्रेस की प्रदर्शनी में रखी गईं, और उत्तमता की दृष्टि से उन पर पुरस्कार दिया गया ।

यद्यपि वर्तमान समय में हमको ये सब बातें बहुत साधारण प्रतीत होंगी, पर याद रखना चाहिये कि यह वर्णन आज से साठ-पैंसठ वर्ष पहले का है, जब देश में जागृति कम हुई थी । भारत ही नहीं समस्त संसार में ब्रिटिश शक्ति का बोलबाला था और हमारे देश के अँग्रेज अधिकारी उग्र राजनीति में भाग लेने वालों को विद्रोही समझते थे । उस समय देश के प्रायः सभी छोटे-बड़े राजा अँग्रेज वायसराय तथा गवर्नर के सामने "जी हजूर" की नीति से काम लेने वाले ही थे । राजा महेन्द्र प्रताप के घर के लोग तथा

सम्बन्धी भी उसी श्रेणी के थे और उनके देश-सेवा तथा समाज सुधार के विचारों तथा कार्यों को नापसन्द करते थे और यथाशक्ति विरोध भी करते थे । पर फिर भी वे इसी मार्ग पर चलते रहे और कुछ ही वर्षों में एक प्रसिद्ध विद्रोही के रूप में प्रसिद्ध हो गये, यह कम महत्व की बात नहीं है। उस समय यह बात सांसारिक लाभ की दृष्टि से गलत मानी जाती थी, पर आज हम देख रहे हैं कि जब उस समय के राजा महाराजाओं का कोई नाम भी नहीं जानता और स्वतन्त्र भारत में उनका अस्तित्व भी नष्ट हो गया, तब राजा महेन्द्र प्रताप देशभक्त के रूप में अब भी सम्मानित माने जा रहे हैं। अभी रजत जयन्ती के अवसर पर हजारों बलिदान क्रान्ति वीरों के साथ उनको विशेष राष्ट्रीय सम्मान प्रदान किया गया । यह घटना हमको बताती है कि देश और समाज की सेवा में किये गये त्याग और कष्ट-सहन के कार्य व्यर्थ नहीं जाते । समय आने पर उनका फल मिलता ही है। उनका सबसे बड़ा लाभ तो आत्मसन्तोष होता है, जो बड़े-बड़े करोड़पतियों और शक्तिशाली राष्ट्रों के कर्ता धर्ताओं को भी नहीं मिलता । निस्सन्देह सेवा-धर्म ही मनुष्य के लिये सबसे अधिक श्रेयस्कर है ।

सन् १६१४ में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने के उपरान्त राजा महेन्द्र प्रताप ने लड़ाई में भाग लेने के लिये योरोप जाने की घोषणा की । वे इसके पहले भी दो बार विदेश-यात्रा कर चुके थे, पर इस बार की यात्रा का महत्व और रहस्य कुछ और ही था । उन्होंने लड़ाई में भाग लेने की बात कही थी, पर लोगों को यह मालूम न था, कि वे किस पक्ष की तरफ से भाग लेंगे ? सरकारी अधिकारियों के सामने अप्रत्यक्ष रूप से यही प्रकट किया गया कि वे इंग्लैण्ड की तरफ से काम करेंगे और उन्होंने टिकिट भी इंग्लैण्ड का ही लिया । पर जैसे ही वे स्वीट्जरलैण्ड पहुँचे उन्होंने जर्मन राजदूत से साँठ-गाँठ आरम्भ कर दी । यद्यपि इस प्रकार का आचरण स्पष्ट रूप से खतरनाक था और इसी के फलस्वरूप उनको तीस वर्ष तक अपना घरबार और सुख-सुविधायें त्याग कर एक देश से दूसरे देश में मारे-मारे फिरना पड़ा, अनेक बार प्राण संकट भी उठाना पड़ा, पर देशोद्धार के उद्देश्य से वे इस मार्ग पर चलने से न रुके और न कभी घबराये । अपनी उच्च सामाजिक स्थिति और नाम के साथ 'राजा' का शब्द लगा होने से, उनको सभी देशों के उच्च राज्याधिकारियों, विशेष कर वैदेशिक विभाग वालों से मिलने और काम निकालने मे सुविधा मिल जाती थी, पर हम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने इसका कोई व्यक्तिगत लाभ उठाया । यद्यपि अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का प्रचार करने के लिये आपको अनेक देशों से आर्थिक सहायता मिलती रही, फिर भी अनेक बार आर्थिक तंगी सहन करनी पड़ती ही थी । सन् १६२७ में आपको पेरिस से बर्लिन जाने के लिए अपनी सोने की चेन बेचनी पड़ी और चीन में भी तिब्बत से लौटने पर खर्च चलाने के लिये दालाई लामा से प्राप्त सोने को बेचकर काम चलाना पड़ा । ऐसे तंगी के अवसर चाहे जब आते ही रहते थे । आपको अपना निजी काम तो अपने हाथ से सदा करना ही पड़ता था, क्योंकि इतना पैसा कभी नहीं होता था कि नौकर रखकर काम कराया जा सके । एक ऐसे समुदाय के व्यक्ति के लिये, जिसमें सभी का एक मात्र उद्देश्य खाना, पीना और मौज उड़ाना रहता है और जो कभी दस बीस नौकरों के सिवाय गुजारा नहीं कर सकते, इस प्रकार का स्वावलम्बी और सादा जीवन बिताना एक बड़ा त्याग ही कहा जायेगा ।

पक्के क्रान्तिकारी

यद्यपि सामयिक परिस्थितियों वश महेन्द्र प्रताप जी को प्रत्यक्ष में रायफल, पिस्तौल लेकर अँग्रेजों से लड़ने का मौका नहीं आया, पर वे ब्रिटिश साम्राज्य के कट्टर विरोधी थे और तीस वर्ष तक विदेशों में रहकर अपना पूरा समय और शक्ति उसे हानि पहुँचाने में ही लगाते रहे । वे अकेले ही उसके विरुद्ध कार्य नहीं करते थे वरन् अफगानिस्तान, जापान, चीन, तिब्बत आदि देशों में भी वे उसके शोषक और स्वार्थी स्वरूप का भण्डाफोड़ करते रहे और हजारों व्यक्तियों को उसका विरोधी बनाते रहे । जब कभी अवसर मिलता था, वे ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध प्रचार अवश्य करते थे । सन् १६२६ में जब आप चौथी बार न्यूयार्क पहुँचे तो आपने अपने भाषण में यही कहा–

"ब्रिटिश साम्राज्य का नाश होकर भारत अवश्य स्वाधीन होना चाहिये । अफगानिस्तान से लेकर मिस्र तक के देशों को ब्रिटिश खतरे से बचाया जाना चाहिये । छोटे से इंग्लैण्ड को कनाडा सहित अमरीका में शामिल कर लेना चाहिये और आयरलैण्ड को योरोपियन संघ मे शामिल हो जाना चाहिये ।"

इसके पश्चात् जब आप कैलीफोर्निया पहुँचे तो वहाँ भी आपने भारत की तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुये यही कहा– "महात्मा गाँधी का आन्दोलन प्रशंसनीय है । पर उसके द्वारा यदि देश स्वाधीन न हो सका तो जनता अधिक कड़े उपायों से अपने अधिकार को प्राप्त करेगी ।"

अफगानिस्तान में जब किसी मित्र ने कहा कि "भारत के स्वतन्त्र होने पर आपको तो सरकार एक बड़ी रियासत देगी ही" तो राजा महेन्द्र प्रताप ने उत्तर दिया कि मेरी ऐसी

कोई अभिलाषा नहीं है । मैं तो अपनी रियासत को त्याग चुका हूँ और अब मुझे कुछ और नहीं लेना है । मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि हमारी विजयी सेनायें दिल्ली तक पहुँच जायें और हम देश के शासन की बागडोर राष्ट्रीय काँग्रेस के हाथ में दे दें ।

एक दूसरे अवसर पर उन्होंने यह भी कहा कि "भारत के किसी' सीमा प्रान्त पर आक्रमण करके युद्ध क्षेत्र में अँग्रेजों से दो-दो हाथ करूँ ।" वे सदा ईरान से आसाम तक एक 'आर्यन संघराज्य' का स्वप्न देखा करते थे, और यह जानते हुये भी, उसका पूरा हो सकना प्रायः असम्भव है, आपने जापान से प्रचारित एक सर्कुलर में लिखा था-- चाहे कोई मेरी बातों को मन के लड्डू खाने की तरह मूर्खतापूर्ण समझे, पर मैं अपने हृदय की भावना को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता । हम ईरान से आसाम तक 'आर्यन' की स्थापना करेंगे । हमारा आर्यन आत्मशासित एशिया का एक आत्मशासित भाग होगा, और सभी देश एक 'वर्ल्ड फेडरेशन' (संसार-संघ) में सम्मिलित होंगे । हमारे पास कोई खजाना नहीं है, जिसकी रक्षा की चिन्ता करनी पड़े, न कोई साम्राज्य है, जिसकी चौकीदारी करने की आवश्यकता हो । हमारा रास्ता तो सीधा है कि संसार में जो नयी-नयी घटनायें होती जायें उनसे पूरा लाभ उठायें ।" उनका आशय यही था कि यदि जर्मनी, जापान जैसे नये विकसित देशों के प्रहार से ब्रिटिश साम्राज्य खत्म हो जाय तो संसार का नया संगठन हो सकेगा और एशिया के पराधीन अथवा अर्द्धविकसित देश आगे बढ़ने का अवसर पायेंगे ।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि राजा महेन्द्र प्रताप की कल्पना का एक भाग पूरा हो चुका है । द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप चाहे जर्मनी की सैनिक शक्ति समाप्त हो गई, पर उसने ब्रिटिश-साम्राज्य को खत्म कर दिया । अब इंग्लैण्ड का प्रभाव अपने टापू के भीतर ही सीमित रह गया है और वह साम्राज्य "जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था" इतिहास की चीज ही रह गयी है । अब हम उनकी कल्पना के दूसरे भाग की ओर बढ़ रहे हैं । संसार संघ का आगमन ज्यादा दूर नहीं है । यों तो राष्ट्र संघ (यू. एन. ओ.) उसी उद्देश्य से स्थापित किया गया है, पर उसके हाथ में कोई बड़ी सैन्य शक्ति न होने और दो-चार बड़े राष्ट्रों की स्वार्थ पूर्ण नीति के कारण वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में असमर्थ हो जाता है । इसी अन्यायपूर्ण स्थिति के कारण संसार भर में असन्तोष की वृद्धि हो रही है और तीसरे विश्वयुद्ध के लक्षण स्पष्ट दिखायी पड़ने लगे हैं । सच पूछा जाय तो भारतीय शास्त्रों की विशिष्ट शब्दावली के अनुसार ये तीनों विश्व-युद्ध युग-परिवर्तन की प्रक्रियाओं के तीन चरण हैं । हमारे पुराणों के मतानुसार युग-परिवर्तन अकस्मात् थोड़े से दिनों में नहीं हो सकता वरन् एक हजार वर्ष के एक युग को बदल कर दूसरे युग की परिस्थितियाँ स्पष्ट होने में सौ वर्ष का समय लगता है, जैसा मनुस्मृति में कहा है--

इतरेषु स सन्ध्येषु स संध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्तेसहस्राणि शतानि च ।।

(मनु० १-७०)

अर्थात्--"त्रेता आदि युग क्रम से ३, २ और १ हजार वर्षों के होते हैं और उनका सन्धि-काल भी क्रमशः ३००, २०० और १०० वर्ष का होता है ।"

वर्तमान समय में हम देख रहे हैं कि संसार में क्रान्तियों का सूत्रपात वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से ही हुआ है । सन् १९०५-६ में ही रूस तथा पुर्तगाल आदि में क्रान्ति हुई और भारत में भी बंग-भंग के फलस्वरूप जो क्रान्तिकारी आन्दोलन आरम्भ हुआ, वह सन् १९४८ में ब्रिटिश-शासन को हटा कर ही समाप्त हुआ । उसके पश्चात् तो संसार में न जाने कितनी क्रान्तियाँ हो चुकी हैं और उनके फलस्वरूप संसार में से पुराने राजा, बादशाहों का पूरी तरह अन्त हो चुका है । पर चूँकि अभी तक संसार की जनता जागृत और संगठित नहीं है, इस कारण पुराने ढंग के राजा बादशाहों की जगह नये रंग-रूप "राजा-बादशाह" पैदा हो गये और सामान्य लोगों की दशा में बहुत कम सुधार हो सका । इसलिये यह स्वाभाविक है कि वर्तमान स्थिति को बदलने के लिये फिर एक नया मोड़ आवे और उसके बाद हम उस स्थान पर पहुँचे, जिस की भविष्यवाणी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में भारतीय मनीषी पहले ही कर आये हैं । हम राजा महेन्द्र प्रताप को भी उसी समुदाय की एक कड़ी मानते हैं और विश्वास करते हैं आपका स्वप्न शब्दशः नहीं तो भावनात्मक रूप में अवश्य पूरा होगा ।

अंग्रेज जासूसों का जाल

चूँकि राजा महेन्द्र प्रताप ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के खिलाफ प्रचार कर रहे थे और उसकी जड़ को कमजोर करने के लिये "पैन एशियाटिक कान्फ्रेन्स आदि का आयोजन करते रहते थे । इसलिये उसके जासूस भी इनके पीछे पड़े रहते थे। जिन देशों में उनका प्रभाव था, वहाँ इनके आने-जाने में बाधा उत्पन्न करते थे और जहाँ इनके पक्षपाती ज्यादा थे वहाँ धोखे से इनको फँसाने की चेष्टा करते । जब राजा साहब ईरान में 'एशियाटिक कान्फ्रेंस' करने पहुँचे तो वहाँ की सरकार ने इनको यह कह कर रोक दिया कि इससे योरोपियन लोग नाराज होंगे । इसी प्रकार तिब्बत में भी

इनका प्रवेश उसी आधार पर रोका गया था कि इससे ब्रिटिश सरकार असन्तुष्ट हो जायेगी।

पर जहाँ यह उपाय काम नहीं देता था जैसे चीन, जापान, अमरीका आदि, वहाँ अँग्रेज जासूस और तरह की चालों से काम लेते थे। एकाध बार तो उन्होंने राजा साहब के कागजात से भरे थैलों की चोरी कर ली। तिब्बत-यात्रा के लिये जब राजा साहब पेकिंग पहुँच कर एक होटल में ठहरे थे तो एक अँग्रेज ने आकर कहा– "तुम यहाँ इस तरह का प्रोपैगेण्डा क्यों करते हो?" इसके बाद वह गालियाँ बकने लगा और धक्का देने लगा। इस पर इन्होंने उसे नीचे गिरा दिया और छाती पर चढ़ बैठे। इतने में होटल के नौकर दौड़े हुए आये और इनको उठा कर भोजनालय में चल कर नाश्ता करने की प्रार्थना करने लगे। होटल के मैनेजर ने भी क्षमा प्रार्थना की और कहा कि वह अँग्रेज शराब के नशे में धुत्त रहा था।

दूसरी घटना शंघाई में हुई जहाँ सन् १९२७ में वे एशियाटिक कान्फ्रेंस में भाग लेने जापान से गये थे। उनके साथ आठ-दस जापानी भी थे। जब वे एक मोटर लंच पर बैठ कर किनारे की तरफ जा रहे थे तो उनकी बगल में होकर एक मोटर बोट निकली, जिसमें दो अँग्रेज बैठे थे। उसी समय मोटर लंच के ड्राइवर ने उस को चीनी-शासित भूमि के बजाय अँग्रेज को दिये गये भूभाग (कन्शेशन) की तरफ मोड़ दिया और पूरी तेजी से उधर जाने लगा। यह देख कर एक साथी चिल्ला उठा– "धोखा" तुरन्त ही एक जापानी मित्र कूद कर ड्राइवर के पास पहुँचा और छुरा निकाल कर उसे ठीक स्थान पर ले चलने को कहा। तब कहीं नाव अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँची। इसी प्रकार एक बार एक रिक्शे वाला बन्दरगाह को जाते समय फ्रेन्च कन्शेशन के बजाय इनको अंग्रेजी कन्शेशन में होकर ले चला। जब सन्देह होने पर इन्होंने उसे टोका, तब यह ठीक पर रास्ते पर आया। इस तरह अँग्रेज जासूस कितनी ही बार इनको पकड़ लेने का जाल रचते रहे।

"यद्यपि इस बात को स्पष्ट नहीं कहा जाता था, पर भारतवर्ष से बाहर निकालते ही राजा महेन्द्र प्रताप सदा विद्रोहियों और क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में ही रहे। योरोप पहुँचते ही वे श्यामजी कृष्ण वर्मा से मिले थे जो क्रान्तिकारियों के गुरु थे। उन्होंने सावरकर, हरदयाल, मदनलाल ढींगरा (इंग्लैंड में कर्जन वाइली को मारने वाले) आदि को बुला कर क्रान्ति के मार्ग में अग्रसर किया था और धन से उनकी सहायता की थी। अमरीका में उनका मुख्य स्थान गदर पार्टी के कार्यालय में रहता था। जापान में, वे दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फिंकवाने वाले श्री रास बिहारी बोस के घर मे रहते थे। चीन में वे प्रायः वहाँ के सेना अधिकारियों के सम्पर्क में रहते थे। रूस, जर्मनी, अफगानिस्तान आदि सभी देशों में अँग्रेजों के विरोधी लोगों से ही सम्बन्ध रखते थे। ऐसी दशा में अगर ब्रिटिश सरकार राजा महेन्द्र प्रताप को अपना एक बड़ा शत्रु समझती रही और उनके भारत प्रवेश पर रोक लगाती रही तो इसमें क्या आश्चर्य है?

"वर्ल्ड फेडरेशन" का जन्म

पर यह सब होते हुये भी राजा महेन्द्र प्रताप कभी संकीर्ण अर्थों में क्रान्तिकारी नहीं रहे। अँग्रेजों के खिलाफ प्रचार करते हुये भी वे अपना मुख्य लक्ष्य समग्र विश्व की एकता को ही मानते थे। यह भावना उनमें आरम्भ से ही मौजूद थी। इसी प्रेरणा से उन्होंने भारत वर्ष में राजा की हैसियत से रहते हुये भी "प्रेम" और 'निर्बल सेवक" जैसे पत्र निकाले और मानवमात्र की एकता का प्रचार किया। फिर जब विदेशों में काम करने लगे, तो वहाँ भी सब राष्ट्रों का एक संगठन बनाने के विचार करते रहे और इसके लिये एक 'मुख्य पत्र' (Organ) निकालने की योजना बनाते रहे। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है-

"इस विचार का जन्म ब्रज (मथुरा वृन्दावन) में हुआ, "वर्ल्ड फेडरेशन" का रूप तेहरान (ईरान) मे समझ में आया, इसे सोच समझ कर लेख रूप में तैयार करने का कार्य मास्को (रूस) में हुआ। फिर भी इसके जन्म के लिये एक दाई की आवश्यकता थी, वह काशी के श्रीमान शिवाजी (बा० शिव प्रसाद गुप्त) के रूप में प्राप्त हुई। उन्होंने इसके प्रकाशन के लिये आवश्यक धन प्रदान किया। इस प्रकार 'वर्ल्ड फेडरेशन" (सामयिक पत्र) का आविर्भाव सितम्बर १९२९ में बर्लिन (जर्मनी) में हुआ।"

राजा महेन्द्र प्रताप यद्यपि भारत में प्रवेश नहीं कर सकते थे, पर "वर्ल्ड फेडरेशन" तथा अन्य पर्चों तथा पैम्फलेटों द्वारा वे भारतीय जनता तक अपने विचार बराबर पहुँचाते थे। उनके पर्चे भारतीय समाचार पत्रों के कार्यालयों में पहुँचते रहते थे और उन पत्रों के द्वारा देश भर में उनका प्रचार हो जाता था। हिन्दी में 'आज' (बनारस) "सैनिक" (आगरा) 'प्रताप' (कानपुर) में उनके लेख छपा करते थे। उर्दू में 'जमीदार' मिलाप, वन्देमातरम् 'अकाली' 'स्वराज्य' आदि में उनको प्रकाशित किया जाता था। इलाहाबाद के 'चाँद' में भी उनके लेख, सर्कुलर आदि आते थे।

नयी दुनिया का निर्माण

राजा महेन्द्र प्रताप ने ऐश आराम की जिन्दगी के स्थान में अपनी खुशी से कठिनाइयों, कष्टों और खतरों की जिन्दगी को स्वीकार किया। वे तीस वर्ष तक एक महान यात्री की

तरह निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहे और अपनी समस्त शक्ति तथा साधनों को देश की स्वाधीनता के लिये खर्च करते रहे, इसकी प्रशंसा कौन नहीं करेगा ? उनकी "आत्म-कथा" जैसी प्रेरणाप्रद है, वैसी ही मनोरंजक भी है । वे किस तरह बड़े-बड़े देशों के शासकों और राज नेताओं को अपने शिष्ट व्यवहार से सन्तुष्ट करके अपने प्रचार कार्य और आन्दोलन में सहायक बना सके, इससे हम बहुमूल्य शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं । उससे हम सीख सकते हैं कि हर एक सच्चे मनुष्य का प्रथम कर्तव्य अपना स्वार्थ त्याग कर देश और समाज में हित को लक्ष्य में रखना ही है । इसी से हम स्थायी यश और श्रद्धा के पात्र बन सकते हैं ।

पर राजा साहब के इन राजनैतिक कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण हैं, उनके संसारव्यापी शान्ति और समाज के नव निर्माण सम्बन्धी विचार । न्याय और नीति के सभी अनुयाइयों की तरह वे दुनिया के वर्तमान रंग-ढंग को बहुत दोष पूर्ण मानते हैं । स्वार्थ के कारण मनुष्य दलबन्दी करके आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं, इसकी वे सदा निन्दा करते रहते हैं । वे आरम्भ से ही "प्रेम धर्म" के प्रचारक और अनुयायी हैं और सन् १६१६ में ही इस पर एक पुस्तक लिख चुके हैं । नीचे हम कुछ प्रमुख विषयों पर उनके विचार उन्हीं के शब्दों में देते हैं–

मेरा धर्म

"सभी धर्म कुछ विचारों का संग्रह है, जो मानव जाति को उसके कल्याण के उद्देश्य से दिये गये हैं । उनमें जो अन्तर दिखायी देता है उसका कारण यह है कि वे विभिन्न समय और विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न हुये हैं । उनमें इस कारण से भी भिन्नता है, क्योंकि वे विभिन्न स्वभाव के लोगों को आत्म-सन्तोष देने के लिये बनाये गये हैं । हमको ऐसा सर्वोत्तम धार्मिक सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये, जो हमारे पूर्णतः अनुकूल हो और फिर जीवन में उसका व्यवहार करना चाहिये । धर्म का उद्देश्य आध्यात्मिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है । जो लोग धर्म के नाम पर झगड़े करते हैं वे शायद ही धर्म को जानते हों । मेरा किसी भी धर्म के साथ झगड़ा नहीं है, मेरा तो प्रेम-धर्म है, जिसमें सभी आते हैं ।"

मेरा राजनीतिक आदर्श

"सरकार चाहे छोटी हो या बड़ी उसे अपने क्षेत्र में शान्ति बनाये रखना चाहिये । पर इसके विपरीत इस जमाने की सरकारें शान्ति को सबसे अधिक भंग करने वाली हैं । ये बड़े चोरों या डाकुओं की तरह काम करती हैं और पड़ोसियों के क्षेत्र में जबर्दस्ती घुसने का प्रयत्न करती हैं । मेरे ख्याल से इसका कारण यह है कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की खराबी से कुछ बहुत दूषित मनोवृत्तियों के व्यक्ति शासन के सर्वोच्च पदों तक पहुँच जाते हैं और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं । वे राष्ट्र के कर्णधार संचालक बनकर अपने समस्त अनुयाइयों को लुटेरों के एक दल की तरह बना देते हैं । मेरा मत है कि सबसे पहले तो हम सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों को ही शासनकर्ता और राजनैतिक कार्यकर्ताओं के पद पर नियुक्त करें । वे न तो धन इकट्ठा करें, न जायदाद रखें । उनका उद्देश्य एकमात्र मानव-जाति की सेवा करना ही हो । वे सदैव मानव-मात्र को सुखी बनाने का प्रयत्न करते रहें ।

राजा महेन्द्र प्रताप के सामाजिक विचार

"मैं मानव जाति की एकता में विश्वास रखता हूँ कि प्रत्येक पुरुष और स्त्री को सुखी जीवन बिताने का अधिकार है । जिन व्यक्तियों को प्रकृति की तरफ से या सामाजिक प्रयत्नों से श्रेष्ठ शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनका कर्तव्य है कि वे मनुष्य-जाति की भलाई के लिये विशेष रूप से सेवा कार्य करें । जो लोग अपनी प्रकृतिदत्त अथवा समाज द्वारा प्राप्त योग्यता को स्वार्थ-साधन में खर्च करते हैं । वे दुष्ट और लुटेरे हैं । मेरा विचार है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को उसके योग्य उचित काम करने को दिया जाय और सबका उद्देश्य समाज का कल्याण करना हो, तो हम सब प्रकार के व्यक्तिगत झगड़ों को मिटा सकते हैं । यदि हम संसार के समस्त दलों को एक विश्वव्यापी संगठन में बाँध सकें तो सब प्रकार के युद्धों और पारस्परिक कलह का अन्त हो सकता है ।"

निस्सन्देह ये सब सिद्धान्त और विचार ऐसे हैं जिनकी सच्चाई और उत्तमता से कोई इन्कार नहीं कर सकता । हमारे देश के मनीषियों ने हजारों वर्ष पहले भी इन्हीं बातों का उपदेश दिया था । आज भी हमारे देश में उनकी यह वाणी गूँज रही है– ("आत्मवत् सर्व भूतेषु" (सब प्राणियों को अपने ही समान समझो), उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" (सज्जन पुरुषों के लिये समस्त संसार अपने परिवार की तरह है), "आत्मने प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" (जो व्यवहार हमको बुरा लगता है, वह हम दूसरों के साथ भी न करें) "परोपकाराय सतां विभूतया" (परोपकार ही संसार में सबसे बड़ा धर्म है), इस प्रकार के अनेक स्वर्ण-सूक्त हमारे प्राचीन साहित्य में भरे पड़े हैं । हम नहीं समझते कि इन उपदेशों तथा राजा महेन्द्र प्रताप जी के सिद्धान्तों में कोई खास अन्तर है । वे भी गत चालीस वर्षों से दुनियाँ के कोने-कोने में भाषणों द्वारा इन्हीं सिद्धान्तों की अलख जगा रहे है । उनको "आत्म-कथा" से हम

अनुमान करते हैं कि उन्होंने इस बीच उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये दस हजार भाषण भी दिये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर खेद है कि इसका कोई सुफल नहीं हुआ। दुनियाँ की हालत दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है और चालीस वर्ष पहले की अपेक्षा आज मनुष्यों का जीवन कहीं अधिक संकटपूर्ण और खतरों से भरा हुआ बन गया है।

विश्वव्यापी परिवर्तन का दैवी विधान

यह सच है कि इस बीच में ज्ञान-विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई है, जिसके द्वारा, यदि सचाई से प्रयत्न किया जाता तो मानव-मात्र सुखी जीवन बिता सकते थे। पर इसके विपरीत आज संसार के सौ करोड़ से अधिक व्यक्ति भरपेट रोटी, कपड़ा और मकान के लिये भी तरस रहे हैं और इसके फलस्वरूप हर एक देश में अशान्ति, हड़तालों उपद्रवों, खूनी क्रान्तियों, नाशकारी युद्धों का सिलसिला जारी है। इसका कारण यही है कि स्वार्थी शासनकर्ताओं और समाज के कर्णधार बनने वालों ने उपर्युक्त उपदेशों से कुछ लाभ नहीं उठाया और समस्त उन्नति तथा वृद्धि का दुरुपयोग ही किया। राजा महेन्द्र प्रताप की सम्मति है कि वर्तमान दुष्ट प्रकृति के शासकों को हटाकर उनके स्थान में सज्जन और न्यायपरायण व्यक्तियों को शासन-संचालक बनाने से इस दुरावस्था का सुधार हो सकता है। पर प्रश्न है कि क्या ये स्वार्थी और दुर्दान्त शासक भले आदमियों के कहने से हट जायेंगे ? उन्होंने अपने ही जैसे लोगों को इकट्ठा करके एक मजबूत दल बना रखा है, कायदे-कानून अनुकूल बना रखे हैं और सेना तथा सैन्य-सामग्री पर विशेष रूप से अधिकार जमा रखा है। इस संसार में श्रेष्ठ और कल्याणकारी परिवर्तन हो सकने तथा शासन की बागडोर सज्जनों के हाथों में दिये जाने की योजना कैसे पूरी होगी ?

यही कारण है कि अनेक व्यक्ति उपर्युक्त विचारों तथा योजनाओं को काल्पनिक अथवा अव्यावहारिक कहते हैं। उनका मत है कि संसार में सदा से "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त प्रचलित रहा है और आगे भी वही रहेगा। जर्मनी के निट्शे जैसे दार्शनिकों ने तो खुल्लमखुल्ला यही प्रतिपादित किया है कि किसी भी राष्ट्र के लिये सैन्य-बल को बढ़ाना और युद्ध करना ही सबसे अधिक प्रशंसनीय कर्त्तव्य है। उसी के आदर्शों से प्रेरित होकर जर्मनी ने दो-बार युद्ध की अभूतपूर्व तैयारी करके विश्व-विजय का अभियान किया और करोड़ों व्यक्ति तथा अरब-खरब धन को स्वाहा करा दिया। यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जर्मन-अभियान भी विश्वव्यापी परिवर्तन की दैवी योजना का एक अंग ही है और उसके कारण बड़े-बड़े अहंकारियों और निरंकुशों का गर्व चूर-चूर हो गया। पर विश्व बन्धुत्व के जिस लक्ष्य को हम प्राप्त करना चाहते हैं और राजा महेन्द्र प्रताप भी जिसका वर्षों से प्रचार कर रहे हैं, वह इस मार्ग पर चलने से प्राप्त नहीं हो सकता। विश्व-शान्ति तथा विश्व-संगठन की आशा तभी की जा सकती है, जब युद्धोन्मादियों का नशा दूर हो। पर एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि यह कार्य सदुपदेशों और सद्भावनाओं से पूरा नहीं हो सकता। वर्तमान समय के सैनिकतावादी प्राचीन कथाओं में वर्णित दैत्य-दानवों की तरह हैं जो गोली-गोलों की भाषा में ही बातें करते हैं और राजनीतिक सफलता के लिये न्याय, नीति, सज्जनता के सब नियमों को उठा कर ताक में रख देते हैं।

ज्यादा पुरानी बातों को छोड़ दीजिये तो पिछले दिनों पाकिस्तानियों ने बंगला देश के तीस लाख निर्दोष नर-नारी और बच्चों तक की जिस पाशविकता से हत्या की, उसका विरोध सभ्यता के ठेकेदार बनने वाले देशों ने जरा भी नहीं किया। उगाण्डा से बिना किसी दोष के हजारों एशियावासियों को क्रूरतापूर्वक निकाला गया, पर किसी बड़े देश ने उसको धमकाया तक नहीं। कुछ अरब आतंकवादियों ने "विश्वबन्धुत्व" को बढ़ावा देने वाले ओलम्पिक खेलों में घुसकर हत्याकाण्ड मचा दिया, पर सब देश मिल कर उनके कर्ताधर्ताओं को दण्ड देने में असमर्थ रहे। इस सबका कारण यही है कि आजकल के सभ्यताभिमानी देश दूसरों का स्वत्व अपहरण करने में अथवा निर्बल लोगों को मारने में कोई दोष नहीं मानते। सम्भव है वे अपने मन में इस बात पर गर्व करते हों कि संसार में हम ही सबसे शक्तिशाली और श्रेष्ठ हैं। इस दृष्टि से नई दुनियाँ का निर्माण तब तक सम्भव नहीं जब तक या तो ये सैनिकतावादी आपस में ही टकराकर नष्ट हो जायें या कोई दैवी योजना सज्जनों की सहायता करके उनको विजय प्राप्त करा दें।

साम्यवाद से मतभेद

राजा साहब ने अपने लेखों में कई स्थानों पर साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का विरोध किया है। यद्यपि वे रूस में आठ-दस बार जा चुके हैं और वहाँ के राज्याधिकारियों से अनेक बार सहायता भी ले चुके हैं, पर उनको कार्ल मार्क्स की कुछ बातें पसन्द नहीं और वे उसको मनुष्यों की विभिन्न श्रेणियों में झगड़ा पैदा करने वाला मानते हैं। राजा साहब की पुस्तकों को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि चाहे वे साम्यवाद पर "बल प्रयोग" से काम लेने का आक्षेप करते हैं, पर उन्होंने अपनी जो कुछ योजना लिखी

है, उसका आशय साम्यवाद के सिवा और कुछ नहीं हो सकता । मई १९७२ के "वर्ल्ड फेडरेशन" में कुछ मार्ग दर्शक सिद्धान्त शीर्षक जो लेख छपा है, उसमें कहा गया है कि "उत्पादन लोगों के उपयोग के लिये होना चाहिये नफा कमाने के नहीं ।" "आत्म कथा" में लिखा है कि "मेरी मान्यता है कि समस्त स्त्री-पुरुषों को इस बात का समान अधिकार है कि अच्छी तरह (सुखपूर्वक) रह सकें ।" जो बातें राजा साहब कहते हैं वही साम्यवाद में भी मानी गई है कि "प्रत्येक मनुष्य को काम करने की समान सुविधायें मिलनी चाहिये और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के उचित साधन सामग्री (भोजन, वस्त्र, मकान आदि) मिलने चाहिये ।" लेनिन का कथन था कि "जब तक सब लोगों को रोटी न मिल जाय, तब तक किसी को हलुवा-पूरी खाने का अधिकार नहीं ।" मैं नहीं समझता कि कोई न्यायशील इसे बुरा कह सकता है । हमारे भारतीय ऋषि और राजा महेन्द्र प्रताप तो इससे आगे बढ़ कर यह कहते हैं कि "यदि कोई अभावग्रस्त सामने आ जाये तो अपने न्याययुक्त हिस्से के पदार्थों से भी उसको दे दो ।" फिर वे साम्यवाद का विरोध कैसे कर सकते हैं ? अध्यात्मवाद तो मनुष्य को और भी अधिक त्याग करने का उपदेश देता है ।

तब दोनों में मतभेद कहाँ रह गया ? राजा साहब ने "अत्यन्त आवश्यक शिक्षा" नामक ट्रैक्ट में लिखा है "बल-प्रयोग से साम्यवादी बनाना पाप है, अत्याचार है । मनुष्यों की प्रकृति में भेद होता है । अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार सबको रहने की स्वतन्त्रता होगी । केवल व्यभिचार और अधिक खर्चीले जीवन पर रोक होगी ।"

बस यहीं पर राजा साहब के कथन में कुछ विरोधाभास जान पड़ता है । वे यह मानते थे कि "सब लोगों को सुख-पूर्वक रहने का अधिकार है । अधिक खर्चीले जीवन पर रोक लगेगी ।" यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है, पर यह कार्य रूप में परिणित कैसे होगा ? आज तक किस करोड़पति कारखानेदार अथवा किसी रियासत (स्टेट) के स्वामी राजा महाराजा ने अपनी इच्छा से या सज्जन पुरुषों के उपदेश से अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति अथवा बहुत 'अधिक सुख-सुविधाओं-ऐश-आराम का त्याग किया है ? राजा महेन्द्र प्रताप ने आन्तरिक प्रेरणा से अपनी जागीर लोक हित में लगा दी अथवा "महाराज विक्रमादित्य, बहुत बड़े राज्य के स्वामी होने पर भी, अपनी रोटी शारीरिक श्रम से कमाकर ही खाते थे– ये बातें सामान्य नियम के रूप में नहीं मानी जा सकतीं । आप पता लगायें कि ऐसे राजा और कितने हुये हैं ? आपको मालूम होगा कि १०० में से ९९ राजा तो प्रजा से बेगार कराके उस धन को सैकड़ों रानियाँ और रखैलें रखने, शराब और अन्य मँहगे से मँहगे पदार्थों का उपभोग करने तथा सैर तमाशे अन्धाधुन्ध करने वाले ही थे । इसी प्रकार बड़े व्यवसायी लाखों क्विंटल गल्ला गोदामों में बन्द कर देते हैं और उनके सामने ही करोड़ों लोग भूख से व्याकुल फिरते रहते हैं । पर वे यही चाहते हैं, कि उसे तब निकाले कि जब अकाल की भीषणता के कारण अन्न का भाव अधिक से अधिक मँहगा हो जाय, चाहे इस बीच में उस गोदाम में बन्द गल्ले में से सैकड़ों या हजारों क्विंटल गल-सड़ जाय ।

प्रश्न उठता है कि ऐसे व्यक्तियों का क्या किया जाय ? क्या वे धर्म और नीति के उपदेशों से मानेंगे ? ऐसी परिस्थिति में ऐसे लोगों के साथ जबर्दस्ती या बल प्रयोग न किया जाय तो क्या किया जाय ? रूस की कम्यूनिस्ट सरकार ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही कह दिया था कि "श्रमजीवियों का राज्याधिकार (डिक्टेटरशिप आफ प्रोलीटेरियट) को तब तक कायम रखा जायगा, जब तक उसके शत्रुओं को निरस्त न कर दिया जाय ।

वास्तव में राजा साहब जो कुछ कहते थे और भारतीय अध्यात्मवादियों का जो आदर्श है उसको "रामराज्य" के नाम से पुकारा जाता है । योरोप में उसी से मिलती-जुलती चीज "अनार्किज्म" (अराजकतावाद) का सिद्धान्त है । उनका कहना है कि संसार में ऐसा कोई शासन न रहना चाहिये जो मनुष्यों को बल प्रयोग द्वारा किसी खास रास्ते पर चलने को विवश करे । उनके मतानुसार सरकारों के समाप्त हो जाने पर लोग स्वयमेव सहयोग तथा प्रेम पूर्वक रहने लगेंगे । सच्चे साम्यवादी या समाजवादी (सोशलिस्ट) इस सिद्धान्त को ऊँचा और प्रशंसनीय तो मानते हैं, पर उनका कहना है कि यह तभी व्यवहार में आ सकेगा जब पहले साम्यवाद कायम कर दिया जाय और कुछ वर्षों तक सर्वसाधारण को उसके अनुसार चलने का अभ्यास पड़ जाय। इस समय तो परिस्थितियों के कारण मनुष्य घोर स्वार्थी बन गया है और उसको रेवड़ी के लिये मस्जिद को गिराने में भी संकोच नहीं होता । ऐसे स्वभाव वालों से सबका न्याययुक्त भाग स्वेच्छापूर्वक दिये जा सकने की बात व्यर्थ ही है ।

आगामी सामाजिक व्यवस्था

राजा साहब ने अपनी आत्म कथा में लिखा है कि सन् १९१० के लगभग उनकी भेंट सरदार जोगिन्दर सिंह से हुई । आपकी बातें सुन कर एक दिन सरदार ने कहा कि

"ये बातें तो सोशलिस्टों (समाजवादियों) की सी है।' उस समय तक इनको पता न कि "सोशलिज्म" क्या है। इस पर जोगिन्दर सिंह ने इनको कुछ बातें बतायी और एक अमरीकन लेखक एडवर्ड बैलैमी की "लुकिंग बैकवर्ड" (सिंहावलोकन) नामक पुस्तक पढ़ने को कहा। राजा साहब ने उसे पढ़कर कहा– "मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि संसार में कुछ अन्य लोग भी ऐसे हैं जो मेरे जैसे ही विचार रखते हैं।"

यह 'लुकिंग बैकवर्ड' पुस्तक एक उपन्यास के रूप में है, जिसमें एक धनी व्यक्ति चमत्कारी ढंग से सौ-डेढ़ सौ वर्ष अगले जमाने में पहुँच गया और उसने अमरीका में समाजवादी आदर्श पर स्थापित हुये समाज को देखा, जिसमें सब लोग समान अधिकार सम्पन्न और सुखी थे। व्यापारिक धोखाधड़ी, मालिक मजदूर के झगड़े, राजनैतिक दाव-घात आदि का वहाँ नाम भी न था। भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, मनोरंजन, समाज-सेवा के कार्य आदि सब बातों की ऐसी व्यवस्था की गई थी, कि जिसमें सभी देशवासी भाग ले सकते थे और पूरी तरह लाभ उठा सकते थे। ऐसी पुस्तकों को अंग्रेजी में 'यूटोपिया' (Utopia) कहते हैं, क्योंकि उस नाम का एक काल्पनिक साम्यवादी समाज का दिग्दर्शन कराने वाला उपन्यास सर टामस मूर ने सन् १५२० के लगभग लिखा था। इस तरह के उपन्यासों की संख्या अँग्रेजी में कई सौ होगी, जिनमें लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भावी-समाज का चित्र खींचा है। इनमें विलियम मोरिस नामक लेखक की "न्यूज फ्राम नो व्हिअर" (News from nowhere) और एच.- जी. वेल्स की "दी शेप आफ दी थिंग्स टू कम" (The shape of the things to come) अधिक प्रसिद्ध है।

राजा साहब ने इस विषय में इतनी अधिक खोजबीन की थी। ये मानव-जाति के एक हितैषी की दृष्टि से ही संसार में समता, न्याय और स्थायी शान्ति स्थापित करने की बात कहते हैं, कि जहाँ तक मुझे उनकी बातो से जान पड़ा, वे साम्यवाद या कम्यूनिज्म का उतना विरोध नहीं करते जितना कि कार्ल मार्क्स का करते हैं। उनके मतानुसार मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिये जो शक्ति-प्रयोग की सलाह दी है, वह मानवता की निगाह से दोषपूर्ण है। इस विषय का स्पष्ट विवेचन हम ऊपर ही कर चुके हैं। इस प्रकार के परिवर्तन सब जगह एक साथ और पूर्णरूप से एक से नहीं होते वरन् हर देश में वहाँ की परिस्थितियों, साधनों और जनता की प्रकृति का भी बहुत कुछ प्रभाव उन पर पड़ता है, इसलिये उनमें थोड़ा बहुत अन्तर पड़ना अनिवार्य है। उदाहरण के लिये हमारे सामने रूस और चीन दो देश हैं, जो सर्वोपरि कम्यूनिस्ट माने जाते हैं, पर दोनों की कार्य-प्रणाली और सिद्धान्तों में भी बहुत अधिक अन्तर पैदा हो गया है। राजा साहब तो मनुष्य मात्र के लिये अपने समान मानकर ही व्यवहार करने को कहते थे–

"हमको 'हम" (मेरा) में न फँस जाना चाहिये, दूसरों की ओर भी देखना चाहिये, यदि ईश्वर की कृपा से आपका अपना घर है, तो सोचिये, क्यों नहीं प्रत्येक व्यक्ति का घर होना चाहिये। मनुष्य बहुधा अपना-अपना सोचता है, दूसरो का नहीं, इसी कारण संसार में अधिक दुःख है। इस छोटी-सी दुनियाँ में मनुष्य-मात्र को रहने का अधिकार है।"

अब इस विषय में अधिक बहस करने की आवश्यकता नहीं कि साम्यवाद तथा राजा साहब के विचारों में कितना अन्तर है ? दोनो का स्पष्ट आशय तो यही है कि सबके साथ न्याय और उदारता का व्यवहार किया जाय तथा किसी को गरीबी का कष्ट न उठाना पड़े। कम्यूनिस्ट जहाँ इस उद्देश्य को कानून और शक्ति द्वारा पूरा करने की बात कहते हैं, वहाँ राजा साहब और प्राचीन भारतीय मनीषी, ईश्वर, धर्म, कर्तव्य और मानवता के नाम पर इसका प्रतिपादन करते हैं। हम भारतीय संस्कृति के आदर्श को निश्चित रूप से ऊँचा और मानव-मात्र के लिये कल्याणकारी मानते हैं, यदि व्यवहार मे ऐसे लोगों से पाला पड़े, जिनमें मनुष्यत्व की भावना नष्ट हो गई हो और जो निरीह जनता के साथ पाश्विक अत्याचार करने में पद दलित करने में जरा भी शर्म तथा हिचकिचाहट अनुभव करते हों तो उसका मुकाबला शक्ति से ही किया जाना चाहिये, फिर चाहे ऐसे अत्याचारी विदेशी हों या स्वदेशी।

धार्मिकता की भावना

यद्यपि राजा साहब हिन्दू धर्म को संकीर्ण अर्थों में नहीं मानते और छूआछूत तथा नीची मानी जाने वाली जातियों के साथ हीनता के व्यवहार का विरोध वे अपनी युवावस्था से ही करते आये थे, तो भी उनको धर्म का विरोधी नहीं कहा जा सकता। वे जगत का निर्माण करने वाली चैतन्य सत्ता और उसकी न्याय-नीति में विश्वास रखते हैं और अपने सिद्धान्तों और आन्दोलन का आधार उसी को मानते हैं। वे सब जातियों के साथ समानता और भाईचारे का व्यवहार इसी तथ्य पर उचित बताते हैं कि सबको पैदा करने वाला तो एक ईश्वर ही है। अपनी "अत्यन्त आवश्यक शिक्षा" में इस विषय का विवेचन करते हुये उन्होंने लिखा है–

"देखिये ईश्वर की कृपा से सूर्य सबको प्रकाश देता है, मनुष्य मात्र वर्षा से लाभ उठाते हैं, मनुष्य-मात्र के लिये वायु है, भूमि भी मनुष्य-मात्र के लिये है, यद्यपि उसे बराबर

नहीं बाँटा जा सकता । सूर्य न होता तो हम न होते, वायु, न होती तो हम न होते, वर्षा हमको जीवित रखती है, पृथ्वी हमको भोजन देती है ।

"पर हमको 'हम' ही दीखते हैं ! हम समझते हैं कि हम सब कुछ कर सकते हैं । हम कहते हैं कि हम प्रकृति से लड़ रहे हैं, हमने उस पर यह या वह विजय प्राप्त करली! मूर्ख हम ! हमको याद रखना चाहिये कि हम तो प्रकृति के खिलौने हैं । प्रकृति की महान शक्ति के पुर्जे हैं ।"

एक अन्य स्थान पर राजा साहब ने ईश्वरीय अवतारों की ओर संकेत करते हुये लिखा है– "यह वाद विवाद मत करो कि ईश्वर एक है, दो हैं या तीन हैं । यह व्यर्थ की उलझन है । जिसने भी यह रचना रची अथवा जिन नियमों के अनुसार यह रचना हुई, वे चाहते हैं रचना की भलाई । वे देखना चाहते हैं– सुखी समाज । पर मनुष्य अपनी त्रुटियों के कारण दुःखी होता है । मनुष्य को यह स्वतन्त्रता है कि भला करे या बुरा । किन्तु रचने वाला त्रुटियों से उत्पन्न बुराई को ठीक करता चलता है । ईश्वर या प्रकृति कुछ ऐसे व्यक्तियों को पैदा करती हैं जो समाज की सेवा करते हैं । उनको समाज-सेवा में ही आनन्द आता है ।"

"देखिये इतिहास । कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, चार बड़े समाज-सेवक दीखते हैं । ऐसे महान पुरुष जिनको आज-भी करोड़ों लोग अवतार देवता, पैगम्बर कहते हैं । इन महान आत्माओं से लेकर आज भी यहाँ, वहाँ, जगह-जगह गुरु मौजूद हैं, जैसे गाँवों या नगरों में अनेक वैद्य और डाक्टर हैं । ईश्वर ने ही कृपा प्रेम कर मेरे द्वारा संसार को प्रेम-धर्म दिया "संसार संघ की योजना सिखाई और उत्पन्न किया नवीन विचार-विज्ञान । ईश्वर की कृपा से ही प्रकृति के अनुसार 'यह अत्यन्त आवश्यक शिक्षा' दे रहा हूँ ।"

हम स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार का दृढ़ आत्म विश्वास किसी सच्चे जन-सेवक के लिये आवश्यक है । फिर जो कुछ उच्च कोटि का कार्य हमसे बन पड़ता है, वह ईश्वर के अतिरिक्त माना भी और क्या जा सकता है ! ऐसे संसार-सेवक निश्चय ही हमारे लिये वन्दनीय हैं ।

कुछ भी हो हम राजा महेन्द्र प्रताप के विचारों और सिद्धान्तों को किसी दृष्टि से अनुचित या हानिकर नहीं कह सकते । गायत्री तपोभूमि में "युग निर्माण योजना" भी लगभग यही प्रचार कर रही है । वह समस्त संसार की एकता, विश्व-शासन, विश्व-भाषा, समस्त धर्मों (मजहबों) में एकता का प्रचार कर रही है और लाखों व्यक्ति उससे प्रभावित होकर उसके प्रचार में सहयोग दे रहे हैं । इस प्रकार के प्रचार-कार्य का फल चाहे तुरन्त न दिखाई पड़े पर लोगों को कल्याणकारी सन्देश सुनाते रहना भी महत्वपूर्ण बात है । उसका असर अन्तर्मन पर तो पड़ता ही है और समय आने पर वह प्रकट भी होता है । इस दृष्टि से राजा महेन्द्र प्रताप ने गत चालीस वर्षों से 'प्रेम धर्म' का जो प्रचार किया है और अब भी कर रहे हैं, वह व्यर्थ नहीं कहा जा सकता । आपके ही एक लेख में कहा गया है–

"जो कुछ भी देश या संसार में हो रहा है वह सब विचार शक्ति से ही हो रहा है । विचार ही मेल कराते हैं और विचार ही लड़ाते हैं । यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि यदि यह विचार विश्वास बन जाय, तो मनुष्यों का लड़ना रुक जायगा ।"

"युग निर्माण योजना" भी विचारों की शक्ति में पूरा विश्वास रखती है और जनता को न्याय तथा नीति पर आधारित एक नई दुनिया बनाने का सन्देश सुना रही है, फिर वह चाहे 'शान्ति' द्वारा प्राप्त हो अथवा अशान्ति द्वारा। इसलिये जिस दिन राजा महेन्द्र प्रताप के मानव-जाति की एकता और 'प्रेम धर्म' के विचार, जिस किसी मार्ग से, सफल हो जायेंगे, वह दिन अवश्य ही सौभाग्य का होगा ।

जातीयता की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

अब से एक सौ वर्ष पूर्व भारतीय राजनीति और समाज की अवस्था आज की अपेक्षा बहुत भिन्न थी । सारे देश में अँग्रेजों का दबदबा पूरी तरह से कायम था । गदर को हुए थोड़ा ही समय हुआ था और उसमें अँग्रेजी सैनिकों और अधिकारियों ने जनता को जिस बुरी तरह से मारा था, उसका आतंक भी चारों तरफ छाया हुआ था । उस समय ब्रिटिश सरकार का सौभाग्य-सूर्य मध्य गगन मे आ चुका था और वह संसार में सबसे बड़े शक्तिशाली, प्रतापी राष्ट्र के रूप में मानी जाती थी । कोई उसका विरोध करने का साहस नहीं करता था । सब कोई अँग्रेजों की कृपा-के भूखे रहते थे ।

एक तरफ तो प्रजा के अधिकाँश लोग इस प्रकार अँग्रेजों की खुशामद-दरामद करके कुछ लाभ उठाने की चेष्टा करते रहते थे और दूसरी तरफ वे ही लोग धर्म और प्राचीनता के नियमों का ढोल पीट कर लोगों को नवीन परिवर्तनों तथा सुधारों को अपनाने से रोक रहे थे । स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, विदेश-यात्रा आदि सभी विषयों में ये लोग टांग अड़ाते थे । ऐसे समय में कुछ लोग सामने आये, जिन्होंने राजनीतिक और सामाजिक, दोनों क्षेत्रों में सुधार करने का बीड़ा उठाया । श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी उनमें से एक थे ।

जब सन् १८७१ म सुरेन्द्र बाबू विलायत से आई. सी. एस. (सिविल सर्विस) की परीक्षा पास करके आये और सिलहट (आसाम) में असिस्टैण्ट मैजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त-किये गये तो उनके मित्रों तथा सम्बन्धियों को ही नहीं देश की गतिविधि का ध्यान रखने वाले अन्य लोगों को भी बड़ा गौरव अनुभव हुआ था । कारण कि उससे पहले केवल सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ने इस परीक्षा को उत्तीर्ण किया था और अब सुरेन्द्र बाबू और उनके दो साथी आई. सी. एस. बनकर आये थे । इन चार के अतिरिक्त भारत के सभी डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट और असिस्टैण्ट मैजिस्ट्रेट आदि अँग्रेज ही थे । भारत में शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अधिक से अधिक डिप्टी कलक्टर के पद तक ही पहुँचते थे । जब बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी कलकत्ता यूनीवर्सिटी की बी. ए. की परीक्षा में 'यूनीवर्सिटी के सबसे प्रथम ग्रेजुएट' के रूप में उत्तीर्ण हुए तो उनकी सफलता पर प्रसन्न होकर बंगाल के गवर्नर ने स्वयं उनको बुलाया और डिप्टी कलक्टर का पद देने का शुभ सम्वाद सुनाया । बात तो ठीक थी, पर बंकिम बाबू बड़े पितृभक्त थे, इसलिये उत्तर दिया कि मैं इसके लिये अपने पिता से पूछ लूँ । लाट साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ और कहने लगे कि 'क्या आप इससे भी किसी और उच्च पद की आशा रखते हैं ? अर्थात् उस समय क्या अँग्रेज अधिकारी और क्या भारत के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति सबकी निगाह में डिप्टी कलक्टरी का एक ऊँचा लक्ष्य था ।

इसलिये जब १८७१ में सुरेन्द्र बाबू, रमेशचन्द्र दत्त और बिहारी लाल गुप्त, तीन मित्र 'सिविलियन' बनकर भारत में आये तो लोगों को बड़ा हर्ष हुआ और जगह-जगह उनका स्वागत सत्कार किया गया ।

पर एक अन्य दृष्टि से इस कार्य में कुछ कठिनाई थी । अनेक अँग्रेज अफसर जिनके सहयोगी के रूप में नये आई. सी. एस. वालों को काम करना पड़ता था, संकीर्ण मनोवृति के होते थे । ये भारतीयों को अपने समान पद का अधिकारी बनते देखकर जलन अनुभव करते थे और हर तरह से ऐसी चेष्टा करते थे, कि उनको अपदस्थ किया जाय अथवा उनकी हीनता सिद्ध की जाय ।

दुर्भाग्य समझिये या सौभाग्य सुरेन्द्रबाबू को सिलहट के जिस डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि. सदरलैण्ड के सहयोगी के रूप में नियुक्त किया गया, वे इसी मनोवृत्ति के थे । वे असली अँग्रेज भी न थे वरन् ऐंग्लोइण्डियन थे । इसलिए भारतवासियों के सम्मुख अपने 'गोरा' होने का और भी घमण्ड दिखाते थे और भारतीयों को 'काला आदमी' समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे । इधर सुरेन्द्र बाबू भारतीयता के गौरव को मानने वाले स्वाभिमानी व्यक्ति थे । इसलिये प्रथम दिन से ही ये सदरलैण्ड की नजरों में खटकने लगे । वे इनसे रूखा व्यवहार करते और बहुत सख्त काम लेते थे । इनको काम की तो परवाह न थी, क्योंकि योग्यता में ये किसी से कम न थे, पर वहाँ रंग के आधार पर जो भेदभाव का व्यवहार किया जाता था, वह इनको सहन नहीं होता था ।

इसी समय एक घटना और हो गई । वहाँ पर मि. पासफोर्ड नाम के एक असिस्टैण्ट मैजिस्ट्रेट और थे, जो इनसे दो वर्ष पहले से काम कर रहे थे । जब सरकार की तरफ से मैजिस्ट्रेटों की डिपार्टमेण्टल परीक्षा हुई तो उसमें पासफोर्ड और सुरेन्द्र बाबू दोनों ने भाग लिया । दो वर्ष का अनुभव होने पर भी पासफोर्ड असफल हो गये और सुरेन्द्रनाथ पास हो गये । इसका नतीजा यह हुआ कि सभी योरोपियन तथा ऐंग्लोइण्डियन इनको टेढ़ी निगाह से देखने लगे । सदरलैण्ड को यह बात बहुत ही बुरी लगी कि एक भारतीय अपनी योग्यता के आधार पर प्रथम श्रेणी के मैजिस्ट्रेट के अधिकार पा जाय और एक अँग्रेज, जो उनसे पहले से काम कर रहा है उससे नीचा रह जाय । इसलिये उन्होंने उल्टी-सीधी लिखा-पढ़ी करके पासफोर्ड को ही उक्त पद दिला दिया और सुरेन्द्र बाबू पर नाराजी ही बनी रही।

आगे चलकर इस वैमनस्य में एक कारण और सम्मिलित हो गया । एण्डरसन नाम के अँग्रेज सिलहट में ज्याइण्ट मैजिस्ट्रेट होकर आये । उनसे सुरेन्द्र बाबू की बहुत घनिष्ठता हो गई, पर सदरलैण्ड साहब से उनकी नहीं पट सकी । अगर कोई दूसरा दुनियादार आदमी होता तो दोनों अफसरों की अनबन को देखकर एण्डरसन का साथ छोड़ देता और प्रधान अफसर की इच्छानुकूल ही काम करता । पर सुरेन्द्र बाबू ने अपनी स्वाधीन मनोवृत्ति के कारण इस बात पर ध्यान न दिया । इससे सदरलैण्ड और भी नाराज रहने लगे और बात-बात पर सुरेन्द्र बाबू से कैफियत तलब करने लगे। इससे इनका मन उस काम से बराबर हटता चला गया ।

अब सदरलैण्ड इनको अपदस्थ करने की चाल सोचने लगे । उसी समय न मालूम सदरलैण्ड की योजना से या वैसे ही गलती हो जाने के कारण सुरेन्द्र बाबू के पेशकार ने उनसे एक हुक्मनामे पर गलत दस्तखत करा लिये । उसमें लिखा था कि युधिष्ठिर नाम के एक अपराधी का नाम फरार (जेल से भागने वालों) में दर्ज कर लिया जाय । पर वह व्यक्ति वास्तव में जेल से भागा नहीं था । अफसरों के लिये ऐसी गलती कोई खास बात नहीं समझी जाती, और यदि वह अफसर 'गोरा' होता तो कोई उस घटना का जिक्र भी न करता । पर सुरेन्द्र बाबू के मामले में सदरलैण्ड ने इसे एक संगीन अपराध समझा और इस सम्बन्ध में हाईकोर्ट

तथा भारत सरकार तक लिखा पढ़ी करके एक हलचल पैदा कर दी । इस कारण मामले की जाँच करने के लिये एक कमीशन नियुक्त किया, जिसने सुरेन्द्र बाबू पर चौदह इल्जाम लगाये । सुरेन्द्र बाबू ने अपने को निर्दोष बतलाया, पर कमीशन ने उनकी बात न मानकर उन्हें दोषी करार दे कर नौकरी से हटाने का निर्णय दे दिया । इस प्रकार वे कठिनता से दो वर्ष ही सरकारी नौकरी कर सके ।

सुरेन्द्र बाबू मनस्वी और वीर प्रकृति के व्यक्ति थे, इसलिये वे इस अन्याय को सहज ही स्वीकार कर लेने को तैयार न हुये । वे सीधे इंग्लैण्ड पहुँचे और इण्डिया आफिस के सामने अपना मामला उपस्थित किया । पर वहाँ एक भारतीय का पक्ष लेकर कई अँग्रेज अफसरों के निर्णय को रद्द करने वाला कौन था ? इसलिये वहाँ भी इनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी गई और लिखित आदेश दे दिया कि सुरेन्द्र बाबू 'इण्डियन' सिविल सर्विस से पृथक कर दिये गये । इस आदेश को पाकर सुरेन्द्र बाबू ने कहा- 'अब मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया । मैंने बड़े परिश्रम से यह लड़ाई लड़ी, परन्तु असफल रहा । अब मेरे लिये किसी प्रकार की सरकारी नौकरी का सुयोग नहीं रह गया है । पर इससे मैं निराश नहीं हूँ ।" वे एक ऐसे मनस्वी व्यक्ति थे जो न दुःख में व्यथित होते हैं और न सुख में फूल जाते हैं । उनकी धर्मपत्नी भी ऐसे ही विचारों की और सब प्रकार से उनके अनुकूल थीं । इसलिये सुरेन्द्र बाबू सरकार के निर्णय से तनिक भी न घबड़ाये और शान्त-चित्त से दूसरे क्षेत्र की खोज में लग गये ।

दूसरी बात यह है कि इस तरह की घटनाओं से विशेष दुःख और घबराहट उन लोगों को होती है, जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल वैयक्तिक होता है, पर जिनके हृदय में सार्वजनिक सेवा का थोड़ा-सा भी भाव उदय हो चुका है और जो जानते हैं कि हम जिस समाज के अंग हैं, उसका कुछ हित साधन करना भी हमारा कर्तव्य है, वे ऐसे अवसर पर अपने मन को सन्तुलित ही रखते हैं । यदि एक तत्वज्ञ की दृष्टि से विचार किया जाय तो इस प्रकार सरकारी नौकरी से हटाया जाना दुर्भाग्य के बजाय एक सौभाग्य ही सिद्ध हुआ । इसके कारण सुरेन्द्र बाबू को देश तथा समाज की सेवा का जो अवसर मिला और उन्होंने शिक्षा तथा समाज-सुधार से लेकर देश के स्वाधीनता-संग्राम में जो महत्वपूर्ण कार्य करके दिखाये उससे जनता का ही कल्याण नहीं हुआ वे स्वयं भी देशपूज्य बन गये । यदि वे आजन्म छोटे या बड़े मैजिस्ट्रेट के पद पर ही कार्य करते रहते अथवा उससे उन्नति करके कलक्टर, कमिश्नर आदि भी बन जाते तो आज कौन उनको इस प्रकार याद करता । गत सौ वर्षों में न जाने कितने हजार भारतीय इन पदों को प्राप्त कर चुके हैं, पर उनमें से कितनों का नाम हम जानते हैं ? पर सुरेन्द्र बाबू को आज भी देश का एक निर्माता माना जाता है, उनकी देशभक्ति तथा समाज-सेवा की हार्दिक रूप से प्रशंसा की जाती है, तो इसका कारण यही है, कि उन्होंने लोकहित के लिये अपनी शक्ति को लगाया और देश को आगे बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार का त्याग और बलिदान भी किया ।

इस बात की सच्चाई श्री ए. ओ. ह्यूम जैसे निष्पक्ष अँग्रेजों ने, जो स्वयं कलक्टर के पद पर काम करते थे, स्वीकार की थी । उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष की अँग्रेज नौकरशाही सदैव इस बात की चेष्टा में रहती है कि शाही नौकरी का भवन भारतीयों के प्रवेश से दूषित न होने पाये । इसी नीति का शिकार सुरेन्द्र बाबू को होना पड़ा ।' भारतवासियों को हीन समझने अथवा उनके साथ उस तरह का बर्ताव करने की मनोवृत्ति अंग्रेजों में बाद में भी बराबर पायी गई । सन् १९०४ में जब भारत भक्त एण्ड्रूज साहब दिल्ली के स्टीफेन्स कालेज में काम करने आये, तब भी वहाँ पर अँग्रेज उन्हें यही समझाया करते थे कि 'आप भारतवासियों को कभी बराबरी का दर्जा न दें । इस बात को सदा याद रखें कि हम अँग्रेज हैं और भारतवासी हमारे अधीन एक सभ्यता में पिछड़ी जाति है । अगर आप भारतवासियों से भाई चारे का व्यवहार करेंगे तो आप अंग्रेजों का बड़ा अहित करेंगे ।'

जन्म और वंश

सुरेन्द्र बाबू का जन्म सन् १८४८ में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था । ये लोग धार्मिक नियमों और अपने वंश की उच्चता तथा पवित्रता आदि के सम्बन्ध में बड़े कट्टर होते हैं । इस सम्बन्ध में सुरेन्द्र बाबू ने एक स्थान पर कहा है कि- 'उनका परिवार, राजा वल्लालसेन के समय से ही, जिन्होंने कुलीनता का प्रचार किया था, अपनी पवित्रता को अभिमान और गौरव के साथ निभाता रहा । वे कभी-किसी प्रलोभन में नहीं पड़े और अपने सामाजिक महत्व के सामने सांसारिक सम्पदा और सुविधाओं को अनेक बार ठुकरा दिया ।' सुरेन्द्र बाबू के पितामह बड़े कट्टर और धार्मिक नियमों पर चलने वाले थे । दैनिक कर्मकाण्ड में ही उनका बहुत-सा समय लग जाता था । पर उनके पिता डा० दुर्गाचरण बनर्जी अँग्रेजी शिक्षा के कारण बहुत कुछ स्वतन्त्र विचारो के हो गये थे । वे भोजन तथा व्यवहार में छूआछूत और विधि-निषेध के नियमों का पालन करना अनावश्यक मानने लगे थे । पर इसके साथ ही स्वभाव से नम्र, कृतज्ञ

और कर्तव्यपरायण पुत्र थे । घर मे अब भी पितामह के धार्मिक नियम ही प्रधान रूप से माने जाते थे, पर वे वहाँ उनका किसी प्रकार विरोध नहीं करते थे । अपने स्वतंत्र विचारों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार करते थे कि उनको किसी प्रकार बुरा न लगे । इस प्रकार बालक सुरेन्द्र अपने घर की दो प्रकार की पारस्परिक विरोधी विचार-धाराओं के बीच बड़ा होने लगा । यद्यपि उनको दूसरों के आदेशानुसार चलना पड़ता था, पर दो प्रकार के वातावरण से सम्पर्क रहने के कारण उनमें एक प्रकार की खोज और विवेचन करने की प्रवृत्ति जागृत हो गई ।

भारतीय घरों में यह एक बड़ी त्रुटि होती है कि वहाँ छोटे बालकों की मनोवृत्ति की ओर कोई ध्यान नहीं देता और समझते हैं कि आगे चलकर वह स्वयं ठीक मार्ग का अनुसरण करने लग जायेगा । पर इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश बालक दूषित विचार के लोगों की बातें सुनकर और उनके विपरीत कर्मों को देखकर गलत रास्ते पर चलने लग जाते हैं । यह स्थिति कभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती । माँ-बाप का कर्तव्य है कि खिलाने, पिलाने, पहनाने की तरह लड़के के मानसिक उत्थान का भी सदा ध्यान रखें । इसमें अधिक समय या श्रम की आवश्यकता नहीं । यदि वे उनको कायदे से समझाते रहें और अपना आचरण भी ऐसा रखें और जो उनके लिये उदाहरणस्वरूप हो तो कोई कारण नहीं कि बालक सही रास्ते पर न चले और घर की मर्यादा का पालन न करे ।

पाँच वर्ष की आयु में इनको एक देशी पाठशाला में पढ़ने को भेजा गया । गुरुजी स्वभाव से क्रोधी थे और एक बार उन्होंने कुछ कटु शब्द कह दिये । बस इन्होंने उसी दिन से पाठशाला जाना बन्द कर दिया । फिर सब किसी ने इनको बहुत समझाया पर ये उस पाठशाला में न जाकर किसी दूसरी में ही गये और सात वर्ष की आयु में बंगाली की शिक्षा समाप्त करके अँग्रेजी में दाखिल हो गये ।

सुरेन्द्र बाबू का विश्वास था कि किसी भाषा की शिक्षा उसे बार-बार सुनते रहने से होती है, केवल व्याकरण और कोष रट लेने से काम नहीं चलता । संस्कृत भाषा केवल रटने के आधार पर सीखी जाती है, इसलिये उसमें बड़ी कठिनाई होती है । इस बात की वास्तविकता उन्होंने अपने उदाहरण से भी सिद्ध कर दी । जिस अँग्रेजी स्कूल में इनका नाम लिखाया गया था उसमें मुख्यतः ऐंग्लो इण्डियन लड़के पढ़ते थे । जब स्कूल में नाम लिखा गया उस समय ये अँग्रेजी का एक शब्द भी न जानते थे, पर इनके अन्य साथी ऐसे थे, जो अँग्रेजी के सिवाय और कुछ बोल ही न सकते थे । इसलिये शुरू में तो इनको बड़ी कठिनाई हुई, पर उन्होंने धैर्य से काम लेकर थोड़े ही दिनों में अँग्रेजी बोलना सीख लिया । उनको पढ़ाने के लिये घर पर कोई मास्टर नहीं रखा गया, फिर भी उन्होंने स्वयं परिश्रम करके अँग्रेजी और लैटिन जैसी अपरिचित भाषाओं को सीख लिया । उन्होंने स्वयं लिखा है, कि इस कार्य में उनको काफी कठिनाइयाँ और कष्ट उठाने पड़े और इससे उनको स्वावलम्बन का अभ्यास भी हो गया जो आगामी जीवन में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ ।

सुरेन्द्र बाबू स्कूल और कालेज में बड़ी मेहनत से पढ़ते थे । इसलिये वे कभी फेल नहीं हुये । सन् १८६७ में बी. ए. की परीक्षा भी ऊँची श्रेणी में पास कर ली । इनके अँग्रेज प्रोफेसर मि. जान साइमन इनकी लगन को देख कर बड़े प्रसन्न रहते थे और बी. ए. पास होते ही उन्होंने उनके पिता से इन्हें सिविल सर्विस की परीक्षा देने के लिये इंग्लैण्ड भेजने को कहा । पिता तो पहले से ही इसका निश्चय कर चुके थे । इस सम्बन्ध में सुरेन्द्र बाबू ने अपने संस्मरणों में लिखा है– 'मेरे पिता ने इस बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया । मैं उनके सम्बन्ध में इतना ही कह सकता हूँ कि उनसे मुझे जीवन पथ पर अग्रसर होने में सदा प्रेरणा और उत्साह ही मिला । वे प्रसिद्ध डाक्टर तो थे ही, साथ ही उनमें मनुष्य की प्रकृति का अनुमान कर लेने की शक्ति भी अद्भुत थी । सन् १८५३ में जब मैं केवल ५ वर्ष का था, तब उन्होंने एक वसीयतनामा लिखा था, जिसमें इस बात की हिदायत थी कि मैं अपनी शिक्षा के सम्पूर्ण करने के लिये इंग्लैण्ड भेजा जाऊँ । मेरी बाल्यावस्था से ही उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इंग्लैण्ड में शिक्षा पाना मेरे लिये श्रेयस्कर होगा ।'

डा० दुर्गाचरण बनर्जी अपने लड़कों को अच्छी शिक्षा दिलाने के साथ ही उनके स्वास्थ्य की उन्नति का भी पूरा ध्यान रखते थे । बचपन से ही सब भाइयों को नियमित दण्ड-बैठक आदि देशी कसरतें करने की आदत डाल दी गई थी, जो फिर अन्त तक कायम रही । इतना ही नहीं उन्होंने इनके व्यायाम और कुश्ती का अभ्यास कराने के लिये एक पहलवान नियुक्त कर दिया था जो इनको अखाड़े में प्रतिदिन अभ्यास कराता । इसका परिणाम यह हुआ कि ये जीवन के अन्त तक सशक्त और कर्मठ बने रहे । इनके एक भाई कैप्टेन जितेन्द्र नाथ बनर्जी ने तो इस विषय में इतनी उन्नति की, कि उनको तत्कालीन बंगालियों में सर्वाधिक बलिष्ठ माना जाने लगा । सुरेन्द्र बाबू को निश्चय हो गया था कि जीवन की अन्य समस्त सफलताओं के लिये स्वस्थ और आरोग्य रहना भी एक प्रधान शर्त है । वे बंगाल के युवकों को भी सदा व्यायाम करते रहने की सम्मति देते थे ।

समाज-सुधार और देश सेवा की ओर

समाज सुधार और देश उन्नति का शौक भी सुरेन्द्र बाबू को विद्यार्थी अवस्था से ही लग गया था। उस समय देश की हालत वर्तमान समय से बहुत भिन्न थी। न तो सभा-समाजों का अधिक प्रचार था और न इतने समाचार पत्र और मासिक पत्र आदि निकलते थे। बड़े-बड़े वक्ताओं की समाओं में भी थोड़े से श्रोता उपस्थित होते थे। उस समय बंगाल ही क्या, भारतवर्ष भर में श्री केशवचन्द्र सेन का नाम वक्ता की हैसियत से प्रसिद्ध था। विलायत में भी वे अपने वक्तव्यों द्वारा लाखों व्यक्तियों को मुग्ध कर चुके थे और इसी सन्दर्भ में महारानी विक्टोरिया से भी भेंट कर चुके थे। सुरेन्द्र बाबू केशवचंद्र के बड़े प्रशंसक थे और प्रायः उनके भाषणों को सुनने जाया करते थे। वहीं से उनको स्वयं भाषण करने की रुचि उत्पन्न हुई और विद्यार्थी अवस्था से ही अच्छी तरह व्याख्यान देने लग गये।

उस समय तक लाउडस्पीकरों का प्रचार नहीं हुआ था और वक्ताओं का एक गुण यह भी था कि उनकी आवाज तेज और दूर तक सुनायी देने वाली हो। सुरेन्द्र बाबू इस विषय में सबसे बढ़े-चढ़े थे। उनकी आवाज को सभा के सबसे दूर के कौने में बैठा हुआ व्यक्ति भी अच्छी तरह सुन सकता था। बाद में जब ये काँग्रेस के प्रधान नेता होकर समस्त देश में विख्यात हो गये, तब भी इस दृष्टि से उनका मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। ये देश भर में सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानदाताओं में से एक समझे जाते थे। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट भी इस प्रकार बहुत प्रसिद्ध वक्ता मानी जाती थीं। इन लोगों की यह तारीफ वक्तृत्वकला की दृष्टि से की जाती थी। पर प्रभाव की दृष्टि से महात्मा गाँधी सर्वोपरि थे, यद्यपि उनका भाषण सुनने में सामान्य लगता था। इसका कारण यही था कि वे जो कुछ कहते थे, पूर्ण सत्य भावना से कहते थे और स्वयं भी उस पर आचरण करते थे।

दूसरे नेता जिनका प्रभाव सुरेन्द्र बाबू पर आरम्भिक जीवन में पड़ा, पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर थे। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर को लोग 'दया सागर' भी कहा करते थे, बहुत बड़े विद्वान् और उच्च पदस्थ सरकारी अधिकारी होने पर भी ये स्वयं बड़ी सादगी से रहते थे, थोड़े से खर्च में काम चलाते थे और बाकी सब आमदनी जो प्रतिमास वेतन तथा पुस्तकों की बिक्री से कई सौ रुपये की होती थी, सब दूसरों की सहायता में खर्च कर देते थे। वे हिन्दू विधवाओं की दुर्दशा देखकर बड़े व्यथित होते थे और इसलिये बड़ा आन्दोलन और परिश्रम करके 'विधवा विवाह कानून' पास कराया था और स्वयं चेष्टा करके अनेक विधवाओं का पुनर्विवाह कराया था। सुरेन्द्र नाथ भी इस प्रचार कार्य से बहुत प्रभावित हुये थे। उनके बाबा तो इसके विरोधी थे और पिता पक्षपाती सुरेन्द्र बाबू ने लिखा है कि– "अपनी किशोरावस्था में मैं चिल्ला उठता था कि इस महापुरुष का सन्देश कब पूरा होगा?" और अब अपने जीवन की संध्या में भी मैं उसी प्रकार चिल्लाता हूँ।

तीसरा आन्दोलन श्री प्यारे चरण सरकार का था। उस समय बंगाल के नवयुवकों की दशा बहुत पतित होती जा रही थी। थोड़ी-सी पाश्चात्य शिक्षा पाकर उनका मिथ्या अभिमान भड़क उठा और वे अँग्रेजी की रहन-सहन की नकल करना सबसे बड़ा काम समझने लगे। फैशन गृहण करने तक तो विशेष दोष नहीं माना गया पर जब अँग्रेजों की देखा-देखी उनमें मद्यपान की प्रवृत्ति भी बहुत अधिक परिमाण में बढ़ने लगी, तब देश हितैषी सज्जन चौकन्ने हुए और इस कुप्रवृत्ति को रोकने के लिये आन्दोलन शुरू किया। यद्यपि श्री प्यारे चरण को सुरेन्द्र बाबू ने कभी नहीं देखा था, क्योंकि उनकी मृत्यु हो चुकी थी, पर उनके आन्दोलन का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा और वे विद्यार्थियों में शुद्ध जीवन का प्रचार करने लगे। इस आन्दोलन में केशव चन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा पादरी पी. एच. डाल ने भी पर्याप्त सहयोग दिया। नवयुवकों के सुधार का जो कार्य सुरेन्द्र बाबू ने उस समय अपनाया, वह एक प्रकार से आजन्म रहा, क्योंकि आगे चलकर इनके जीवन का अधिकांश भाग अध्यापक के रूप में विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण और उनको प्रगति पथ पर अग्रसर करने में ही व्यतीत हुआ।

पहली विलायत यात्रा

जैसा ऊपर कहा जा चुका है सुरेन्द्रनाथ बी. ए. की परीक्षा पास करने के उपरान्त आई. सी. एस. की परीक्षा देने के लिये विलायत भेजे गये थे। उस समय विलायत यात्रा एक बहुत बड़ी बात थी और जो कोई वहाँ हो आता था, उसकी चर्चा जनता में सर्वत्र फैल जाती थी। वहाँ जाकर रहने में और भी अनेक कठिनाइयों की सम्भावना की जाती थी, पर सबसे बड़ी कठिनाई तो 'हिन्दू-धर्म' की थी। उस समय तक कट्टर हिन्दू विदेश यात्रा को बहुत बड़ा पाप समझते थे और जो कोई ऐसा करता था, उसे जातिच्युत कर दिया जाता था। सुरेन्द्र नाथ को भी उसकी धमकी दी गई और विलायत से भारत लौटने पर उनका जातीय बहिष्कार किया भी गया। पर अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण उन्होंने इसकी कुछ भी परवाह नहीं की और कुटुम्बीजनों ने भी उनकी इतनी बड़ी सफलता को अपने लिये गौरव का विषय समझा और पूर्ववत् ही संबंध बनाये रखा।

फिर भी पुराने विचार के निकट सम्बन्धियों और परिचितजनों का इतना भय तो था ही कि वे पहले से ही हो हल्ला मचा कर कोई विघ्न उत्पन्न न कर दें । इसलिये यात्रा की तैयारियाँ बहुत गुप्त रूप से की गईं । माता को भी इसलिये खबर नहीं दी गई कि वह स्नेह के कारण अपने पुत्र को इतनी दूर और अज्ञात स्थान में भेजने को हर्गिज राजी न होगी । चलते समय जब सुरेन्द्र बाबू उनके चरण स्पर्श करने को पहुँचे, तो विलायत जाने की बात सुनकर उनको बेहोशी आ गयी ।

पिता से अन्तिम भेंट का जिक्र भी बड़ा हृदयस्पर्शी है । उसका वर्णन करते हुये स्वयं सुरेन्द्र नाथ ने लिखा है– "यह उनके अन्तिम दर्शन थे जो इस संसार में मुझे मिलने वाले थे, क्योंकि जब मैं इंग्लैण्ड में ही था तभी उनका स्वर्गवास हो गया । मैं उनको पहुँचाने गाड़ी तक गया । गाड़ी में बैठकर उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और फिर मुँह फेर लिया । उनके नेत्रों से आँसू बह कर गालों पर आ रहे थे । मैं केवल उनके मुँह से एक शब्द ही सुन सका, मानो वे भविष्यवाणी कर रहे हों कि यही हमारा अन्तिम मिलन है । पचास वर्ष से भी अधिक बीत गये, पर वह घटना मेरे स्मृति पटल पर उसी प्रकार अंकित है । पिता और पुत्र के लिये एक दूसरे से विदा हो गये । मैं तो आश्चर्यपूर्ण तथा कठिनाइयों से भरे लम्बे जीवन की यात्रा करने जा रहा था और वे घर पहुँच मेरी माता को यथाशक्ति सान्त्वना देने लगे । मेरे हृदय में अपने पिता के लिये साधारण पितृप्रेम की अपेक्षा अधिक स्नेह है । उनके गरीबों के प्रति सहानुभूतियुक्त स्वभाव ने मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव डाला, और मुझे इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रेरणा उन्हीं से मिली । योरोपीय पाठकों को चाहे यह भावुकता जान पड़े परन्तु हिन्दुओं के लिये यह नितान्त स्वाभाविक और आत्मा की वह धारा है जो अपने आप निकल पड़ती है ।"

इण्डियन सिविल सर्विस के लिये संघर्ष

सुरेन्द्र बाबू इंग्लैण्ड में १८ महीने तक एक अँग्रेज कुटुम्ब में रहे और आवश्यक अध्ययन करते रहे । इसके पश्चात् सन् १८३९ में जो प्रतियोगिता परीक्षा हुई, उसमे वे सफलता पूर्वक उत्तीर्ण हो गये । पर सिविल सर्विस के कमिश्नरों ने एक त्रुटि यह निकाल दी कि सुरेन्द्र बाबू की उम्र २१ वर्ष से अधिक हो गई है, इसलिये वे परीक्षा में भाग नहीं ले सकते । सुरेन्द्र बाबू ने इस आज्ञा को गलत बता कर उसका विरोध किया । उन्होंने कहा कि बंगाल की सामाजिक प्रथा के अनुसार उन्होंने अपनी आयु गर्भ दिन से गणना करके लिखायी थी, जबकि अन्य लोग अपनी आयु का हिसाब जन्म-दिन से लगाते हैं । ऐसी ही बात इनके साथी बिहारी लाल गुप्त के सम्बन्ध में भी कही गई ।

सुरेन्द्र बाबू स्वभाव से ही निर्भीक और अन्याय का विरोध करने वाले थे । उन्होंने बहुत जोरों से कमिश्नरों की आज्ञा का प्रतिवाद किया और बंगाल के अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों ने भी उनकी बात का समर्थन किया । वहाँ के महारमानाथ टैगोर, महाराजा ज्योतीन्द्र नाथ टैगोर, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राजेन्द्र लाल मित्र, राय क्रिष्टोदास पाल बहादुर आदि प्रमुख नेताओं ने एक हलफनामा पेश किया कि सुरेन्द्र बाबू ने गर्भ दिन से आयु की जो गणना बताई है वह सत्य है । भारत के समाचार पत्रों में भी इस सम्बन्ध में खूब चर्चा हुई और लोगों ने सरकारी आज्ञा को अन्यायपूर्ण बताया । पर अँग्रेज कमिश्नरों ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया और वे अपने निर्णय पर अड़े ही रहे ।

यह देख कर सुरेन्द्र नाथ ने अन्य मार्ग का अवलम्बन किया और इंग्लैण्ड की सबसे बड़ी न्याय-संस्था क्वीन्स बेञ्च के सम्मुख इस निर्णय के विरुद्ध दावा कर दिया । वे मि. जीन बेल से मिले, जो बहुत दिनों तक कलकत्ते में बैरिस्टरी कर चुके थे और अब वृद्धावस्था में अपने घर पर रह कर ही विश्राम कर रहे थे । उन्होंने सुरेन्द्र बाबू की पैरवी करना स्वीकार किया और किसी प्रकार की फीस लेने से भी इन्कार किया । 'क्वीन्स बैंच' के सदस्य बड़े विद्वान् और इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध न्यायाधीश थे । उन्होंने सुरेन्द्र बाबू के कथन को यथार्थ माना और उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया । इस पर कमिश्नरों को अपनी गलती स्वीकार करनी पड़ी और सुरेन्द्र बाबू तथा श्रीपद बाबा जी ठाकुर के पास सूचना भेजी कि वे सिविल सर्विस में सम्मिलित कर लिये गये । यह सुरेन्द्र बाबू की एक बहुत बड़ी नैतिक विजय मानी गई और उनका नाम काफी प्रसिद्ध हो गया ।

इस संघर्ष में लगभग एक वर्ष का समय लग गया था इसलिये सरकारी आदेश में इन लोगों को यह सुविधा दी गई कि यदि वे चाहें तो अन्तिम परीक्षा एक वर्ष बाद भी दे सकते हैं । पर सुरेन्द्र बाबू उसी वर्ष परीक्षा देने को तैयार हो गये और विशेष परिश्रम करके सम्मान सहित उत्तीर्ण हो गये । उनकी इस सफलता और दृढ़ता पर देश-विदेश के सब लोग बहुत प्रसन्न हुये और सिविल सर्विस के एक अध्यापक प्रोफेसर मार्ली ने कहा– 'बनर्जी ! लोग तुम्हारे संघर्ष को याद रखने के लिये तुम्हारी मूर्ति बनाकर रखेंगे ।' 'भारतीय समाचार पत्रों में कहा गया कि सुरेन्द्र बाबू ने इस प्रकार संघर्ष करके देश की एक सेवा की है, इससे अन्य बहुत से लोगों का भी उपकार होगा ।

पर इस बीच में एक दुःख जनक घटना यह हुई कि सुरेन्द्र बाबू के पिता दुर्गाचरण बनर्जी का देहान्त हो गया। वे अपनी पुत्र की सफलता का समाचार जानने को बड़े उत्सुक थे, पर सिविल सर्विस परीक्षा होने से कुछ समय पूर्व ही उनका देहावसान हो जाने से यह अभिलाषा उनके मन के मन ही में चली गयी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सुरेन्द्र बाबू बड़े पितृभक्त थे। इसलिये जब यह समाचार विलायत में उनको मालूम हुआ तो वे अर्द्ध-मूर्छित जैसे हो गये। पिता की मृत्यु का उनको बहुत अधिक शोक हुआ। डा० दुर्गाचरण को अपने इस पुत्र से बहुत आशाएँ थीं और इसलिये उन्होंने इनको अच्छी से अच्छी शिक्षा दिलाने में कोई कसर नहीं रहने दी थी। पर असामायिक मृत्यु हो जाने से, जबकि उनका पुत्र सामने भी नहीं हजारों कोस दूर समुद्र पार था, तब उनके हृदय में कैसे भाव उठ रहे होंगे, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। पर दोनों को ही इस बात का सन्तोष अवश्य था, कि अपना-अपना कर्तव्य पालन कर रहे हैं।

दूसरी विदेश यात्रा

आई. सी. एस. की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर भारत आने और सिलहट में असिस्टैण्ट कलक्टर के पद पर नियुक्त किये जाने के पश्चात् अँग्रेज कलक्टर से संघर्ष की जो घटना हुई, उसका उल्लेख आरम्भ में किया ही जा चुका है। यदि कोई पेट पालने का उद्देश्य रखने वाला ही व्यक्ति होता, तो अँग्रेज उच्च पदाधिकारियों की खुशामद-दरामद करके काम चला सकता था। पर सुरेन्द्र नाथ के हृदय में तो आरम्भ ही से जातीयता और आत्म गौरव की भावना जागृत थी। वे इस प्रकार पदावनत होकर किसी को यह कहने का अवसर कैसे दे सकते थे कि भारतवासी निम्न कोटि के व्यक्ति होते हैं। इसलिये उन्होंने सरकारी नौकरी को और भविष्य में जीवन निर्वाह कैसे होगा, इसकी तनिक भी परवाह न करके स्वाभिमान का परिचय दिया और अँग्रेज अफसर के सम्मुख मस्तक नहीं झुकाया।

इसके पश्चात् यद्यपि अन्याय का प्रतिकार करने की भावना से वे इंग्लैण्ड तक गये और उन्होंने अँग्रेजी न्याय को चुनौती दी, पर परिणाम वही हुआ जिसकी आशा थी। उस समय अँग्रेज शक्ति के मद में डूबे हुये थे। भारतवर्ष पूर्व ही स्वाधीनता की प्रथम मुठभेड़ मे हार चुका था। इसलिये गोरे शासक यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति को हीनता की दृष्टि से ही देखते थे। इधर सुरेन्द्र बाबू जातीयता के रंग मे रंगे थे। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि वैदिक सभ्यता की उत्तराधिकारी भारतीय जाति योरोप की कला से उन्नति करने वाली जातियों से किसी प्रकार हीन नहीं हो सकती।

इसलिये सुरेन्द्र बाबू ने इस समस्त घटना को एक व्यक्तिगत मामले की तरह न लेकर देशव्यापी समस्या की निगाह से देखा और उसके लिये निर्भीकतापूर्वक संघर्ष करते ही गये। भारतीय देश प्रेमियों और समाचार पत्रों ने भी हर तरह से उनका समर्थन किया और उस छोटी आयु में ही उनको जनता के सम्मुख एक देशभक्त के रूप में ला खड़ा किया। स्वार्थ त्याग और जाति सेवा की भावना की ऐसी ही महिमा है। कहाँ तो नौकरी से निकाले जाने की घटना उनके सामने एक विपत्ति के रूप में आयी थी और कहाँ अपनी वीरता तथा धीरता के कारण वे उसमें एक माननीय देश सेवक के रूप में बाहर निकले। जिस प्रकार तपाये जाने से सोना दुगुना दमकने लगता है, खराद पर चढ़ाये जाने से हीरा की चमक देखने योग्य हो जाती है, उसी प्रकार इस संघर्ष ने उनकी आन्तरिक शक्ति और दृढ़ता को प्रच्छन्न से प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

नौकरी से हटाये जाने का निश्चय हो जाने के पश्चात् उन्होंने विलायत में ही कुछ समय तक ठहर कर बैरिस्टरी की परीक्षा पास करने का विचार किया। पर उपर्युक्त संघर्ष के कारण इनका नाम प्रसिद्ध हो जाने के कारण अँग्रेज अधिकारियों ने उसके लिये भी मंजूरी नहीं दी। सुरेन्द्र बाबू को इन सब क्षेत्रों में प्रवेश मिलता भी कैसे, जब प्रकृति ने उनको सार्वजनिक सेवा के लिये गढ़ा था। इसलिये इंग्लैण्ड में प्राप्त असफलताओं से उनको जरा भी चिन्ता नहीं हुई, और उन्होंने उस समस्त घटना पर गहरा विचार करके निम्न उद्‌गार प्रकट किये—

"मैंने पहले ही से उस कार्य का कुछ विचार कर लिया था जो जीवन में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह अन्याय मुझे केवल इसलिये सहना पड़ा है कि मैं एक भारतीय था। मैं एक ऐसे समाज का सदस्य था जिसमें कोई संगठन नहीं है, जिसका कोई एक सार्वजनिक मत नहीं है, और जिसका अपने देश के शासन में कोई अधिकार नहीं है। युवावस्था के जोश में मुझे यही सोचना पड़ा कि हम लोग इस समय अपनी जन्म भूमि में ही दास, लकड़ी काटने वाले या बोझा ढोने वाले कुली बना दिये गये हैं। जो कुछ अन्याय मेरे साथ किया गया, वह हमारी जाति की नितान्त शक्तिहीनता का द्योतक था। क्या अन्य किसी देश वाले हमारी तरह इस व्यवहार को सहन कर सकते थे? इसलिये विपत्ति के समय जब ऐसा जान पड़ता था कि दैव भौंह चढ़ाये खड़ा है, तब मैंने यह निश्चय किया कि इस अवस्था में अपनी जाति की सहायता अवश्य करनी चाहिये, जिस प्रकार मृत्यु का परिणाम अधिक उग्र

जीवन, और एक अधिक पवित्र परिवर्तन का प्रादुर्भाव होता है, मेरी असफलता का भी वैसा ही परिणाम हुआ ।"

जब सुरेन्द्र बाबू ने अपना जीवन देश-सेवा के कार्यों में उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया, तो उन्होंने इसके लिये कुछ तैयारी करना भी आवश्यक समझा । वे जानते थे कि जब साधारण क्लर्की या मास्टरी करने के लिये भी ट्रेनिङ्ग लेनी पड़ती है, टेक्निकल विषयों में वर्षों तक किसी उस्ताद की शागिर्दी करनी पड़ती है, तब राजनीतिक और सामाजिक कार्य बिना कुछ शिक्षा ग्रहण किये किस प्रकार सुचारु रूप से किये जा सकते हैं ?

आज तो नेतागीरी सब से सहज और तुरन्त अपने आप कर सकने लायक कार्य बन गया है । जिन लोगों ने कभी राजनीति का क-ख-ग भी नहीं पढ़ा और जो यह भी नहीं जानते कि 'समाज' शब्द का व्यापक अर्थ क्या है, वे भी चुनाव के मैदान में आकर एक दिन में 'नेता' बन बैठते हैं । जिन लोगों ने कभी देश का प्राचीन और नवीन इतिहास नहीं पढ़ा, जो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों से सर्वथा अन्जान हैं, जिन्होंने देश के आर्थिक जीवन की रत्ती भर भी जानकारी हासिल नहीं की, वे ही सभाओं के मंच पर खड़े होकर इधर-उधर की झूँठी-सच्ची बातें कहकर नेता पदवी के अधिकारी बन बैठते हैं ।

पर सुरेन्द्र बाबू इस श्रेणी के नेता बनना नहीं चाहते थे । उनका लक्ष्य अपने पिछड़े हुये देशवासियों को प्रगति का मार्ग दर्शन कराना और अपने अधिकारों के लिये व्यवस्थित रीति से आन्दोलन करना सिखाना था । वे यह भी जानते थे कि जिन अँग्रेजों के हाथों से अपने अधिकार लेना है । वे राजनीति में कितने पटु और अपना स्वार्थ साधन करने में कैसे कुशल होते है ? इसलिये उन्होने यह आवश्यक समझा कि योरोप के राजनीतिक आन्दोलनों और वहाँ के बड़े नेताओं तथा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के जीवन वृतान्त और संघर्षों के इतिहास का बारीकी के साथ अध्ययन कर लिया जाय । अतएव जब उनको बेरिस्ट्री की परीक्षा में सम्मिलित करने से भी इन्कार कर दिया गया तो उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये इंगलैण्ड में ठहरे रहे और १३ महीने तक वहाँ के बड़े-बड़े पुस्तकालयों में दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे बैठकर राजनीतिक साहित्य का अध्ययन करते रहे । उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'इन तेरह महीनों में मैंने बड़ा परिश्रम किया । उस समय मैं यही जानता था कि मै एक बड़े पवित्र कार्य में अपना समय व्यतीत कर रहा हूँ । उस समय के कार्यरत जीवन का स्मरण करके इस बुढ़ापे में भी मैं आह्लादित हो जाता हूँ ।'

शिक्षक के रूप में

कुछ समय पश्चात् महान देश सेवक पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सुरेन्द्र बाबू को अपने 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट' नामक कालेज में पढ़ाने के लिये नियुक्त कर दिया । यहाँ पर उनको यद्यपि २०० रु० मासिक ही वेतन मिलता था, जो असिस्टैण्ट मैजिस्ट्रेट की अपेक्षा आधा ही था, पर सुरेन्द्र बाबू को अधिक खुशी इस बात की थी, कि इस कार्य में वे नव-युवकों के सम्पर्क में रहते थे, और उनमें समाज-सेवा और देश भक्ति की भावना उत्पन्न कर सकते थे । इस कार्य को उन्होंने इतना महत्वपूर्ण समझा, कि थोड़े समय पश्चात् जब उनको त्रिपुरा के महाराज ने अपने यहाँ ४०० रु० मासिक पर सेक्रेटरी का कार्य करने को कहा, तो उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया । सन् १८८० में उन्होंने 'मेट्रोपोलिटन' को छोड़ कर 'फ्री चर्च कालेज' में अँग्रेजी साहित्य के प्रोफेसर का पद ग्रहण कर लिया और दो वर्ष पश्चात् स्वयं अपनी एक शिक्षा संस्था स्थापित की, जो बाद में 'रिपन कालेज' के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसमें से उन्होंने सन् १६१२ तक हजारों विद्यार्थियों को सुयोग्य नागरिक बनाकर निकाला उनके विद्यार्थियों में से अनेक समाज सेवक और देशभक्त के रूप में प्रसिद्ध हुये । उन्होंने भी आनन्द मोहन के सहयोग से एक 'विद्यार्थी परिषद' की स्थापना भी की, जिसने देश के युवक वर्ग को प्रगति मार्ग पर चलाने में बहुत कार्य किया।

उस समय तक राजनीति का विषय बहुत गूढ़ समझा जाता था और शिक्षकगण विद्यार्थियों को प्रायः सामाजिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यों की ही शिक्षा दिया करते थे । पर सुरेन्द्र नाथ ने योरोप व वहाँ की राजनीति और इतिहास का अध्ययन करके यह समझ लिया था कि जब तक नवयुवकों में राजनीतिक भावना उत्पन्न न की जायगी, तब तक देशोत्थान का कार्य पूरा नहीं हो सकता । इस सम्बन्ध में वे सबसे अधिक प्रभावित इटली के देशभक्त मैजिनी से थे । वे विद्यार्थियों के सम्मुख प्रायः मैजिनी के जीवन के बारे में भाषण किया करते थे । उनके भाषणों के अन्य विषय भी ऐसे ही हुआ करते थे, जैसे 'भारत वर्ष की एकता', 'सिख इतिहास पर एक दृष्टि', 'चैतन्य प्रभु की महानता' 'इतिहास का अनुशीलन' आदि । वे युवकों को समझाते थे, कि किस प्रकार सिखों ने संगठित होकर देश की स्वाधीनता के लिये संघर्ष किया, किस प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने जनता की सामाजिक और धार्मिक समानता का सन्देश देकर वैष्णव धर्म को उदार बनाया और ऊँचा उठाया ।

भारतवर्ष की एकता के विषय में वे स्विट्जरलैण्ड तथा इटली का उदाहरण देकर बताते थे कि जिस प्रकार वहाँ

कई भाषायें बोली जाती हैं और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय भी पाये जाते हैं। फिर भी उन्होंने एक राष्ट्र और एक जातीयता का निर्माण किया है और उसी तरह हम भी भारतवर्ष में सब प्रान्तों के लोगों को एक समुदाय में संगठित कर सकते हैं। वे बड़े जोरों के साथ घोषणा करते थे– 'हमको देशोत्थान का झण्डा ऊँचा उठाना चाहिये। उसके ऊपर 'एकता' का शब्द सोने के अक्षरों में लिखा हुआ हो। हमारे भीतर धार्मिक और सामाजिक भेदभाव पाये जाते हैं, फिर भी एक तथ्य ऐसा है जिस पर हम सब कह सकते हैं– यह है देश का कल्याण-देश, को सौभाग्यशाली बनाना।'

इण्डियन एसोशियेशन की स्थापना

भारतवर्ष की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सुरेन्द्र नाथ ने शीघ्र ही कुछ मित्रों के सहयोग से 'इण्डियन एसोशियेशन' की स्थापना की, क्योंकि उस समय तक भारतवर्ष में ऐसी कोई संस्था न थी, जो समस्त देश को एक संगठन के अन्तर्गत लाने की चेष्टा करती हो। 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' इससे दस वर्ष बाद स्थापित हुई। इसलिये सुरेन्द्र बाबू की 'इण्डियन एसोशियेशन' ने २०-२५ वर्ष तक देश में जागृति फैलाने और विभिन्न प्रकार के अधिकारों को प्राप्त करने के लिये प्रशंसनीय कार्य किया। ब्रिटिश सरकार नहीं चाहती थी, कि भारतीय व्यक्ति 'इण्डियन सिविल सर्विस' की परीक्षा में सम्मिलित होकर भारत के शासन-कार्य में अधिक संख्या में भाग लेने लगें। इसलिये उसने एक नियम बनाया कि सिविल सर्विस में दाखिल होने वालों की अधिक से अधिक आयु २१ वर्ष के बजाय १६ वर्ष होनी चाहिये। अगर यह नियम प्रचलित कर दिया जाता, तो कोई भारतीय सिविल सर्विस में दाखिल नहीं हो पाता। इसलिये 'इण्डियन एसोशियेशन' ने इसका विरोध करने का निश्चय किया। सुरेन्द्र नाथ ने कई महीने तक देश भर का दौरा करके सैकड़ों व्याख्यान दिये और इस अन्याय के प्रति भारत में एक जोरदार आन्दोलन उत्पन्न कर दिया।

पर जब ब्रिटिश सरकार ने समस्त भारतवर्ष द्वारा विरोध किये जाने पर भी कोई ध्यान न दिया तो एसोशियेशन ने एक प्रस्ताव पास करके श्री लाल मोहन घोष को विलायत जाकर आन्दोलन करने को भेजा। उन्होंने वहाँ पहुँच कर जान ब्राटर के सहयोग से एक बड़ी सभा का आयोजन किया और उसके सामने भारतीय समस्या को ऐसी योग्यता और भावनापूर्ण ढंग से उपस्थित किया कि श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और २४ घण्टे के भीतर पार्लियामेण्ट में यह प्रश्न उठाया गया। इसका सरकार पर काफी दबाव पड़ा

और उसे भारतीयों को सिविल सर्विस में भाग लेने के लिये कितनी ही सुविधायें प्रदान करनी पड़ीं।

दूसरा अवसर 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' के समय आया, जब एसोशियेसन ने एक अन्यायपूर्ण कानून के विरुद्ध कदम उठाया। इस कानून का उद्देश्य था, देशी भाषा के पत्रों की स्वाधीनता का हनन करना, उनका गला घोंट देना, जिससे वे सरकार के किसी कार्य की आलोचना न कर सकें, न जनहित के लिये कोई आन्दोलन उठा सकें। इसके विरुद्ध सुरेन्द्र बाबू ने जब आन्दोलन उठाया तो भारत के अँग्रेज अधिकारियों ने उसे हर तरह से दबाने की कोशिश की, पर सुरेन्द्र नाथ ने इस विषय में इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री मि. ग्लैडस्टन से पत्र व्यवहार किया, जो बड़े उदार सिद्धान्तों के व्यक्ति थे। अन्त में कुछ समय बाद लार्ड रिपन के आने पर यह कानून रद्द कर दिया गया। लार्डरिपन ने भारतवर्ष में म्युनिसपल संस्थाओं की स्थापना पर भी विशेष ध्यान दिया। विश्वास था कि इन संस्थाओं द्वारा ही भारतवासियों की आधुनिक प्रजातान्त्रिक प्रणाली राजनीति का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। सुरेन्द्रनाथ ने इस सम्बन्ध में भी बहुत जोर लगाया और कुछ ही समय बाद इस विषय में इतनी प्रगति हुई कि स्वयं उन्होंने कलकत्ता कार्पोरेशन के सदस्य के रूप मे बहुत उपयोगी कार्य किया।

पत्र-सम्पादन

सुरेन्द्रनाथ जहाँ एक बहुत बड़े शिक्षा क्षेत्र के विधायक तथा उच्च कोटि के भाषणकर्ता थे, वहाँ उनकी दूसरी विशेषता सम्पादन-कला में दक्षता थी। उन्होंने 'बंगाली' नाम का प्रसिद्ध समाचार-पत्र निकाला और लगातार ४३ वर्ष तक उसका सम्पादन किया। वह पहले साप्ताहिक था, फिर सन् १८८० से दैनिक कर दिया गया। भारतीय समाचार पत्रों में वही सबसे पहला था, जिसने 'रूटर' की 'न्यूज सर्विस' खरीदना आरम्भ किया था। बहुत वर्षों तक उसकी गिनती भारत के प्रसिद्ध दैनिक पत्रों में होती रही। इस सम्बन्ध में भारत के प्रसिद्ध विद्वान डा. सच्चिदानन्द सिन्हा ने कहा था- सम्पादन की दृष्टि से सुरेन्द्र नाथ का स्थान बहुत ऊँचा था और उन्होंने सदैव पत्र की महत्ता और उच्चता को कायम रखा। अपने विरोधियों के प्रति भी उन्होंने कभी अन्याय युक्त व्यवहार नहीं किया और न कभी प्रान्तीयता के संकीर्ण घेरे में अपने पत्र को आबद्ध होने दिया।' एक अन्य आलोचक ने लिखा था कि 'बंगाली' पत्र के लेखों में सदैव भारतीयता की भावना ही प्रकट होती थी।'

"बंगाली" पर सन् १८८३ में हाईकोर्ट के एक जज मि. नोरिस ने मान हानि का मुकदमा चलाया। [illegible]

हुई कि किसी मुकद्दमे में उन्होंने अभियोग कर्ताओं से उनके घर में पूजी जाने वाली शालिगराम की मूर्ति को कोर्ट में लाने को कहा और वैसा ही किया गया । सुरेन्द्र बाबू ने जब यह समाचार एक अन्य पत्र में पढ़ा तो उनको यह बात बहुत बुरी लगी कि जज ने मूर्ति को, जिसे हम भगवान मानकर पूजते हैं, अदालत में लाने का आदेश दिया । उन्होंने इसका विरोध करते हुए यहाँ तक लिख दिया कि ऐसा जज देश के सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्त किये जाने के अयोग्य हैं । बाद में पता लगा कि मि० नोरिस ने शालिगराम को लाने की आज्ञावादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों की पूर्ण रजामन्दी से ही दी थी ।

अपनी भूल मालूम होने पर सुरेन्द्र बाबू ने अपनी टिप्पणी वापस ले ली और क्षमा प्रार्थना करली, पर मि. नोरिस ने उन पर मुकदमा चला ही दिया और हाईकोर्ट की फुलबैंच ने उनको दो महीने की सादी कैद की सजा सुना दी । यह उस समय अपने ढंग का एक ही मुकदमा था और इससे सुरेन्द्र बाबू का नाम समस्त देश में बिजली की तरह फैल गया । सब तरह के लोगों ने एक प्रसिद्ध नेता को एक सामान्य भूल के लिये, और वह भी क्षमा प्रार्थना कर लेने पर ऐसा दण्ड दिया जाना अनुचित बताया । इससे उनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गई और कैद समाप्त होने के दिन हजारों व्यक्तियों की भीड़ उनका स्वागत करने को जेल के फाटक पर पहुँची । पर अधिकारीगण पहले ही ऐसी घटना से भयभीत थे और उन्होंने लोगों के एकत्रित होने के पूर्व ही प्रातः चार बजे उनको जगाया और एक घोड़ा गाड़ी में बैठाकर चुपके से 'बंगाली' पत्र के कार्यालय में ले जाकर छोड़ दिया ।

उस समय इस घटना के कारण समस्त देश में जो सनसनी फैली थी, वह बहुत समय तक लोगों को याद बनी रही । लाहौर, अमृतसर, आगरा, पूना जैसे दूरवर्ती स्थानों में भी इसके विरोध में सभायें की गईं और सुरेन्द्र बाबू को एक वीर देश सेवक तथा शहीद के रूप में चित्रित किया गया । कारण यह था, कि उस समय तक केवल दो राजनीतिक नेताओं को ही इस प्रकार सरकार द्वारा दण्डित किया गया था– एक लोकमान्य तिलक और दूसरे सुरेन्द्र बाबू । इस प्रकार सुरेन्द्र बाबू को दण्ड दिये जाने की घटना देश में एक नवीन जागृति फैलाने और एकता की भावना की वृद्धि करने का कारण बन गई ।

काँग्रेस के प्रेसीडेण्ट

सुरेन्द्र बाबू का मुख्य लक्ष्य उस समय भारतीय जनता में एक राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना था । वे समझते थे कि जब तक लोग अपने को केवल बंगाली, पंजाबी, मराठी, मद्रासी आदि मानते हुए बैठे रहेंगे और देश की समस्याओं पर केवल 'भारतवासी' होने की दृष्टि से विचार करना न सीखेंगे, तब तक उनके किसी आन्दोलन में शक्ति नहीं आ सकती और न सरकार पर उसका प्रभाव पड़ सकता है । इसलिये वे अपनी संस्था 'इण्डियन एसोशियेशन' तथा बंगाली पत्र द्वारा निरन्तर देश में इसी भाव को फैलाने की चेष्टा किया करते थे । उन्होंने सन् १८८३ और ८५ में कलकत्ता में 'नेशनल कान्फरेन्स' का आयोजन किया था, जिसमें सब प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने एकत्रित होकर राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार किया और सरकार से शासन कार्य में सहायता देने के लिये चुने हुये प्रजा प्रतिनिधियों की कौन्सिल बनाने की माँग की थी । अनेक लोगों का मत है कि सुरेन्द्र बाबू द्वारा आयोजित इन कान्फ्रेन्सों से प्रेरणा लेकर ही अन्य देश भक्तों ने 'इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस' की स्थापना की । स्वयं महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है कि– 'सुरेन्द्र बाबू को चाहे कॉंग्रेस का प्रारम्भ करने वाला न माना जाय पर वह उसके प्रवर्तकों में एक अवश्य माने जायेंगे ।'

कॉंग्रेस के प्रथम अधिवेशन में तो, जो २८ दिसम्बर १८८५ को बम्बई में हुआ था, वे इस कारण सम्मिलित न हो सके, क्योंकि उसी समय उनकी कान्फ्रेन्स का अधिवेशन भी कलकत्ता में हो रहा था । कॉंग्रेस का दूसरा अधिवेशन उन्होंने बहुत प्रयत्न करके कलकत्ता में ही कराया और दादा भाई नौरोजी को आग्रह करके उसका अध्यक्ष बनाया । तब से लगभग तीस वर्ष तक वे कॉंग्रेस के एक मुख्य कार्यकर्ता और नेता बने रहे । कॉंग्रेस के देशव्यापी प्रचार और उसके लिये फण्ड इत्यादि एकत्रित करने का भार मुख्यतः उनके ऊपर ही रहा, और उनकी सेवाओं का आदर करके दो बार सन् १८६५ में पूना अधिवेशन का और सन् १६०२ में अहमदाबाद अधिवेशन का अध्यक्ष उन्हीं को बनाया गया ।

सन् १८६० में कॉंग्रेस ने निश्चित किया कि भारतीय नेताओं का एक डेपुटेशन (प्रतिनिधि मण्डल) इंग्लैण्ड में जाकर भारत के लिये प्रजातान्त्रिक अधिकारों की माँग और उस देश की जनता को इसके पक्ष में करने के लिये प्रचार-कार्य करें । इसमें फीरोज शाह मेहता, मुधोल कर, उमेशचन्द्र बनर्जी आदि आठ नेता थे, जिनमें से एक सुरेन्द्रनाथ भी थे । यह भी निश्चय किया गया कि ये सब लोग अपने आने जाने का व्यय स्वयं ही वहन करें । उस समय सुरेन्द्र बाबू के पास सब मिलाकर १३ हजार रु. था । जो उनकी पत्नी के नाम से जमा था और इंग्लैण्ड की यात्रा का खर्च ४ हजार रु. अनुमान किया गया था । इस प्रकार उनको

अपनी समस्त सम्पत्ति का एक तिहाई भाग देश के एक आन्दोलन के लिये खर्च कर डालना था । पर वे इसके लिये खुशी से तैयार हो गये और उनकी सहधर्मिणी ने भी जो उनकी सदैव राजनीतिक कार्य के लिये प्रेरणा देती रहती थी, बिना किसी संकोच के आवश्यक रुपया निकालकर उनको दे दिया ।

सुरेन्द्र बाबू की पत्नी यद्यपि, अधिक शिक्षित न थी, पर उन्होंने आजीवन हर कार्य में अपने पति का पूरी तरह से साथ दिया और कभी यह भाव प्रकट न किया, कि वे सार्वजनिक सेवा से विरत होकर केवल कमाने और खाने के उद्देश्य तक ही अपने को सीमित कर लें । क्योंकि उस समय सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को अवश्य ही अपने स्वार्थ का बलिदान करके जन-सेवा का कार्य करना पड़ता था । वर्तमान महिला-समाज को अवश्य ही इन उदाहरणों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और स्वार्थ-भावना के कारण पुरुषों को समाज सेवा के कार्य से विरत करने की अपेक्षा, उनको इसके लिये प्रेरणा देनी चाहिए ।

देश सेवा के लिये आत्म त्याग

हम बता चुके हैं कि सुरेन्द्र बाबू ने देश सेवा और राष्ट्रीयता के प्रसार का कार्य उस समय आरम्भ किया, जब साधारण जनता तो क्या अधिकांश पढ़े लिखे भी राजनीतिक मामलों में अन्जान थे । इसलिये उस समय शासन की आलोचना करना, वार्षिक आय-व्यय (बजट) पर बहस करना, सरकार के अन्याय पूर्ण कार्यों के विरोध में प्रस्ताव पास कर देना भी बड़ी बात समझी जाती थी । इस कार्य प्रणाली को "वैध-मार्ग" कहा जाता था और शक्ति का प्रयोग करके अर्थात् हिंसा, उपद्रव तथा विद्रोह की धमकी देकर शासन परिवर्तन करके अथवा स्वराज्य प्राप्त करने का प्रयत्न 'अवैध-मार्ग' माना जाता था । उस समय गदर को हुये थोड़ा ही समय हुआ था और अँग्रेजी सरकार के दमन की याद लोगों को बनी हुई थी, इसलिये अवैध-मार्ग के पथिक बहुत कम थे, और यदि कोई भावुकता वश सिर उठाता भी तो तुरन्त उसको कुचल दिया जाता था । ऐसी दशा में सुशिक्षित भारतवासी, जिनको देश या समाज की उन्नति का कुछ ख्याल आता था, वैध उपायों से ही काम लेते थे । सुरेन्द्र बाबू ऐसे विचार वालों के एक प्रसिद्ध नेता थे । सन् १८९५ में उन्होंने कौंग्रेस के पूना अधिवेशन के अध्यक्ष पद से कहा था—

"यह कौंग्रेस का ११वाँ अधिवेशन है जब तक हमारा यह सामान्य कार्यक्रम भी पूरा हो सकेगा, तब तक ऐसे और भी बहुत से अधिवेशन हो चुकेंगे । मानव-प्रगति की गाड़ी धीरे-धीरे ही आगे बढ़ती है । पर जिसने अपने हाथ में हल की मूठ पकड़ ली है, वह पीछे की तरफ मुड़ कर नहीं देख सकता । उसको एक लक्ष्य की पूर्ति के लिये ही अपने को अर्पित कर देना पड़ता है । अब तक न जाने हमारे कितने वीर साथी गिर चुके हैं और आगे चलकर न जाने कितने और गिरेंगे, तब कहीं जाकर यह कठिन यात्रा पूरी हो सकेगी और हम अपने लक्ष्य के दर्शन कर सकेंगे । इसलिये हमको धैर्यपूर्वक अपने लक्ष्य में अमिट श्रद्धा रखनी चाहिये । जान स्टुआर्ट मिल ने कहा है कि "दृढ़ विश्वास रखने वाला एक ही व्यक्ति निन्यानवे विश्वास रहित व्यक्तियों के बराबर है। हम कौंग्रेस जन अच्छी तरह समझते हैं कि हम क्या चाहते हैं, हम अपने विचारों को जानते हैं, हम अपनी कार्य प्रणाली को भी जानते हैं और दृढ़ता के साथ उन पर सदैव स्थिर रहेंगे । हम लोगों में से कितनों को ही तो अपने लक्ष्य के प्रति ऐसी गहरी श्रद्धा है कि उसे इस संसार के बजाय किसी दूसरे ही लोक की वस्तु कहना चाहिये । ऐसी दशा में कौन कह सकता है, कि भविष्य हमारा नहीं है ।"

पूना अधिवेशन में सुरेन्द्र नाथ का भाषण बहुत अधिक पसन्द किया गया और जब वे अन्तिम दिन अधिवेशन का उपसंहार करने के लिये उठे तो लोगों में उत्साह की लहर दौड़ गई और वे अभूतपूर्व जोश मे आकर सुरेन्द्र बाबू की जय-जय करने लगे । लोगों के इस उत्साह और सम्मान का प्रभाव सुरेन्द्र नाथ पर भी इतना पड़ा कि उन्होंने उसी समय निम्नलिखित घोषणा की—

"अगर मैं केवल इसी क्षण तक जीवित रहूँ और इसके बाद तुरन्त ही मेरा अन्त काल आ पहुँचे तो भी मैं अपने को सबसे अधिक प्रसन्न मनुष्य समझूँगा । मै जानता हूँ कि आप मेरी दीर्घायु की कामना करते हैं । पर मेरी आयु चाहे लम्बी हो या छोटी ही रह जाय, तो भी इस समय समस्त भारतवर्ष के इन प्रतिनिधियों के सम्मुख परमात्मा को साक्षी मानकर मैं यह घोषित करता हूँ कि मेरा जीवन आपकी सेवा के लिये ही होगा । वह उन अभिलाषाओं, उन आशाओं, उन विचारों को चरितार्थ करने में ही लगेगा, जिनको हमारे राष्ट्र ने उद्घोषित किया है ।'

इन उद्गारों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि सुरेन्द्र बाबू के सिद्धान्त चाहे सन् १६१० और १६२० की राजनीतिक परिस्थिति की दृष्टि से 'नर्म' (माडरेट) ही क्यों न हो, पर उनका अपने कथन और प्रोग्राम में हार्दिक आस्था थी और वे उनके लिये उसी प्रकार त्याग और बलिदान करने को तैयार रहते थे जैसे कि अन्य 'नर्म' अथवा क्रान्तिकारी

कार्यकर्ता। सच तो यह है कि उस समय सरकार की अर्थ-नीति, भारतीय उद्योग-धन्धों की अवनति, नौकरियाँ देने में पक्षपात आदि की स्पष्ट शब्दों में कड़ी आलोचना करना ही विद्रोह के तुल्य था। सुरेन्द्र बाबू का देश के प्रति प्रगाढ़ भावनाओं का पता इससे भी लगता है कि जब उनकी पत्नी का देहान्त हुआ तो उन्होंने शोक सन्तप्त होते हुये काँग्रेस अधिवेशन में उपस्थित होना स्थगित नहीं किया, और वहाँ की सब कार्यवाही वैसी ही सावधानी और तल्लीनता से की, जैसी सदा से करते आये थे।

इसी प्रकार बंग-भंग के प्रतिकार स्वरूप स्वदेशी आन्दोलन के समय सन् १६०६ में जब पुलिस वालों ने बरीसाल में बिना किसी कारण ही प्रान्तीय काँग्रेस के जलूस पर लाठीचार्ज किया, उस समय सुरेन्द्र बाबू स्वयं पुलिस सुपरिन्टेडेण्ट के पास पहुँचे और कहा कि आप जुलूस वालों को क्यों पीट रहे हैं? अगर कोई काम आपको गैर कानूनी जान पड़ता हो, तो मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं। इस पर उनको गिरफ्तार कर लिया गया और मजिस्ट्रेट ने उसी समय उन पर ४०० रु. जुर्माना कर दिया।

इस आन्दोलन में सुरेन्द्र बाबू ने सरकार का बड़े साहस के साथ मुकाबला किया और समस्त देश में इतने जोरों से प्रचार कार्य किया कि केवल बंगाल में ही नहीं भारतवर्ष के कौने-कौने में स्वदेशी-व्यवहार और इंग्लैण्ड के बने माल का बायकाट का आन्दोलन फैल गया। इससे जहाँ एक ओर स्वदेशी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला, वहाँ बाय काट के प्रभाव से इंग्लैण्ड के कारखाने वालों के आसन हिल गये। इसका परिणाम यह हुआ कि पाँच-छः वर्ष के भीतर ही सरकार को अपनी भूल स्वीकार करके बंगाल के दोनों हिस्सों को जोड़ कर एक ही प्रान्त बना देना पड़ा। वास्तव में सन् १६०६ का आन्दोलन सुरेन्द्र बाबू के जीवन मे उत्थान का सबसे बड़ा अवसर था। उनको बंगाल का 'बिना ताज का बादशाह' कहा जाने लगा था। वे जहाँ कहीं जाते थे, प्रत्येक स्टेशन पर या स्टीमर के घाटों पर उनका जोरों से स्वागत किया जाता था। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा था– "मनुष्य के जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं, जबकि उसका सम्पूर्ण जीवन सार्थक हो जाता है। मेरे लिये यह अवसर इसी प्रकार का है।"

हमारे जीवन में भी ऐसे अवसर दो-एक बार अवश्य आते हैं, पर खेद है कि हम उस समय स्वार्थ या भ्रम वश अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर पाते। इसलिये उस विशेष अवसर के लाभ से ही हम वंचित रह जाते हैं, सुरेन्द्र बाबू यद्यपि 'नर्म' (माडरेट) सिद्धान्त के अनुयायी थे और अन्त तक वे यही कहते रहे कि भारतवर्ष का हित इसी में है कि यह वैध-आन्दोलन करता हुआ अपने अधिकारों की माँग करे और उसके लिये सरकार को विवश करने के लिये वैध ढंग से आन्दोलन भी करता रहे। पर बंग भंग आन्दोलन के अवसर पर कुछ समय के लिये वे भी वास्तव में 'गर्म' बन गये थे। बंगाल की घोषणा होते ही उन्होंने कहा- "सरकारी अधिकारियों ने इस कार्य को बहुत ही गुप्त रीति से करके भारतीय जनमत की घोर उपेक्षा की है, जिसका उत्तरदायित्व भारत के वायसराय लार्ड कर्जन और बंगाल के ले. गर्वनर सन एन्ड्रू फेंजर पर है। सरकार चाहे अपने मन में कैसी भी खुश क्यों न होती रहे, पर उसे यह समझ रखना चाहिये कि भारतीय राष्ट्र इस घोर अन्याय को कभी स्वीकार न करेगा और प्राणपण से इसके विरुद्ध संघर्ष करेगा।" इसके १५ दिन पश्चात् उन्होंने फिर अपने पत्र में लिखा– "हमने जो भविष्यवाणी की थी, वह सत्य सिद्ध हुई। हमारे देशवासियों ने बंग भंग के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन छेड़ दिया है। सम्भव है सरकार पर इसका कोई प्रभाव न पड़े, पर उससे हमारा बहुत बड़ा नैतिक लाभ होने वाला है। हमने निश्चय कर लिया है कि हम इस आकस्मिक विपत्ति को अपनी एक महान् नैतिक विजय के रूप में बदल देंगे। अब हमारा आन्दोलन एक नये मार्ग पर आ रहा है। हमने इस अन्याय के विरुद्ध असंख्यों सभायें करके इसका विरोध किया, इसको मिटाने की प्रार्थना की, पर सरकार ने हमारी एक भी न सुनी। सरकार के इस अपमानपूर्ण व्यवहार को देखते हुये, अब हम निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रैसिसटेन्स) की नीति से काम लेंगे। इस समय समस्त बंगाल शोक मना रहा है।"

सुरेन्द्र बाबू के इन लेखों से विदित होता है कि सरकार के उपेक्षा-भाव को देख कर वे रोष में आ गये थे और वैध-मार्ग के अन्तिम शस्त्र "निष्क्रिय प्रतिरोध तथा बायकाट" का प्रयोग करने को मैदान में उतर पड़े थे। वास्तव में यह एक क्रान्तिकारी कदम था। सुरेन्द्र नाथ ने उच्च स्वर से घोषणा की कि यदि चीन वाले अमरीकन माल का सफलतापूर्वक बायकाट कर सकते हैं, तो भारतवासी उसी प्रकार अँग्रेजी वस्तुओं का बायकाट क्यों नहीं कर सकते? सुरेन्द्र नाथ तथा अन्य नेताओं की चेष्टा से यह आन्दोलन शीघ्र ही भारतव्यापी बन गया और अन्त में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को उसके सम्मुख घुटने टेकने पड़े। बंग-भंग रद्द कर दिया गया।

कुछ समय पश्चात् महात्मा गाँधी ने इन्हीं "राजनीतिक शस्त्रों" का प्रयोग और भी व्यापक रूप से किया और भारत

की अधिकांश जनता ने उसमें भाग लिया । इसे संयोग या पार्टीबन्दी का कुपरिणाम ही कहना चाहिये कि उस समय सुरेन्द्र बाबू ने गाँधी जी का साथ न दिया, और नर्म दल के झण्डे के नीचे नये सुधारों के साथ सहयोग किया। यह एक ऐसा गलत कदम था कि जिसने उनकी ४० वर्षों की देश सेवा पर पानी फेर दिया । उस समय जनता 'गाँधी की आँधी' में उड़ी चली जा रही थी और देश में 'काया पलट' का एक अभूतपूर्व दृश्य दिखायी पड़ रहा था । उस समय स्वार्थ के कारण और चाहे सिद्धान्त के कारण जो कोई उससे जरा भी विपरीत चला, उसी की मिट्टी खराब हो गई । हम सुरेन्द्र बाबू पर स्वार्थपरता का दोषारोपण नहीं करते, क्योंकि उन्होंने आजन्म अपनी शक्ति तथा साधनों को देशोन्नति के कार्यों में ही लगाया था । पर 'गर्म' और 'नर्म' दल के पुराने मतभेद और विवाद के कारण राजनीतिक क्षेत्र में कुछ ऐसा वातावरण बन गया था, कि जिससे नर्म दल के अधिकांश नेता गाँधी जी के सन् १६१६ वाले असहयोग आन्दोलन के विरोधी के रूप में दिखायी पड़ने लगे । इस मतभेद के कारण उस समय जनता में नर्म-नेताओं की कैसी बदनामी होने लगी थी, यह एक व्यंगात्मक पद्य से प्रकट होता है, जो १६१६ में एक समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ था–

स्वस्ति श्री समरत्व शास्त्री सितलवाड़ सुरेन्द्रम ।
सर्व उपमाजोग सम्र तुम्हु होउ सिसीडरम् ।।
वाक्यवादी वृद्ध वाचो जियो माईट लीडरम् ।
चपल चिन्तामणी तुमहूँ बने रहो एडीटरम् ।
पत्र यह लिखतंग है परलोक सों श्री जयचन्द को
अमीचन्दहु को शुभासिर वाद जामें बाँच को ।
हाल अपना क्या लिखें है प्रेमपात्र कुटुम्बयो ।
हैं सुशोभित यहाँ करते नर्क लैण्ड प्रदेश को ।

यह था जनमत तथा देश की माँग के विरुद्ध मार्ग पर चलने का परिणाम । साधारण समय में तो सार्वजनिक विषयों पर मतभेद रखने की गुजायश रहती है, पर जब राष्ट्र ने अपने उद्धार के लिये जीवन-मरण का संग्राम छेड़ा हो, उस समय उससे विपरीत कार्य तो क्या, कोई बात कहना भी अनुचित होता है । यदि यह कारण न होता तो माननीय साप्रू और श्री सी. वाई. चिन्तामणि, जैसे व्यक्तियों की जो उस समय भी असहयोग में भाग लेने वाले परिचित जनों की तरह-तरह से व्यक्तिगत सहायता करते रहते थे, निन्दा न की जाती । इस पर से हम कह सकते हैं कि जन कल्याण के निस्स्वार्थ भाव से किये जाने वाले किसी आन्दोलन या सेवा कार्य का विरोध कभी न किया जाय । अपनी परिस्थिति या किसी अन्य विशेष कारणवश हम स्वयं उसमें भाग न ले सकें यह दूसरी बात है, उस दशा में हम चुपचाप भी रह सकते हैं । समय आने पर परिस्थिति स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है और यदि हमारा मत ठीक ही हुआ तो जनता में पुनः प्रतिष्ठा कायम हो सकती है ।

पर इस एक सामायिक घटना के कारण सुरेन्द्र बाबू को देश तथा समाज के प्रति की गई बहुसंख्यक सेवाओं का महत्व नष्ट नहीं हो सकता । उन्होंने उच्च श्रेणी की योग्यता होते हुये भी अपना उद्देश्य कभी धनोपार्जन अथवा वैभव-विलास की जिन्दगी बिताना नहीं बनाया वरन् उनका समस्त जीवन सार्वजनिक सेवा का प्रतीक ही बना रहा । यद्यपि शासन-सुधारों के प्रचलित होने पर उन्होंने बंगाल प्रान्त की शासन सभा में शिक्षा तथा स्थानीय स्वराज्य (म्युनिस्पैलिटी आदि) का मन्त्री पद ग्रहण किया था, पर उस समय भी वे सार्वजनिक सेवा के कामों से उदासीन नहीं थे । सन् १६२२ में, जब उनके प्रान्त में भयंकर बाढ़ आयी तो वे अपना विभाग न होने पर भी बाढ़ग्रस्त क्षेत्र में गये और जलती हुई धूप में बीस मील के भू-भाग का दौरा करके पीड़ितों की दशा का निरीक्षण किया उस समय वे ७४ वर्ष के वृद्ध थे और इस अतिरिक्त काम के फलस्वरूप बीमार होकर बहुत समय तक चारपाई पर पड़े रहे । सरकारी कार्य करते हुये भी सैकड़ों लोगों की सहायता करते रहे, जिनमें से बहुत से उनकी विरोधी पार्टी वाले भी होते थे ।

अब भी हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं जो अँग्रेजों के शासन को 'स्वराज्य' की अपेक्षा उत्तम बताते हैं। मूर्ख और अशिक्षितों की बात तो छोड़ दीजिये, लाखों पढ़े-लिखे के मुँह से भी यह सुनने में आता है कि "वैसी हकूमत अब कहाँ देखने को मिलेगी ।" सुरेन्द्र बाबू ने उस जमाने में भी, जब अँग्रेजी साम्राज्य का सूर्य भारत वर्ष में ही नहीं संसार भर में पूरी प्रखरता के साथ तप रहा था, काँग्रेस-अध्यक्ष के पद से भाषण करते हुये कहा था–

"साम्राज्यवाद प्रगति की गति को अवरुद्ध कर देता है । इस समय संसार में उसी का बोलबाला हो रहा है । इस समय साम्राज्यवाद का आशय 'एकतन्त्र शासन' से है जिसमें शासन की समस्त सत्ता किसी निरंकुश राजा या सम्राट अथवा विजयी सेनापति के हाथ में रहती है । जैसा की प्राचीन रोम में हुआ था और जैसा वर्तमान फ्रांस में दिखायी पड़ रहा है । साम्राज्यवाद का परिणाम जनता के अधिकारों का हनन करके 'एक व्यक्ति का शासन' स्थापित होना दिखाई पड़ रहा है । यही कारण है कि आज इंग्लैण्ड और उसके गोरे उपनिवेशों में स्वशासन (सेल्फ गवर्नमेण्ट)

की प्रणाली प्रचलित है और शेष स्थानों मे निरंकुशतापूर्ण शासन जारी रखा गया है ।

इसका दूरवर्ती परिणाम क्या होगा, यह आज नहीं कहा जा सकता । क्या आगे चलकर जैसे-जैसे इसकी वृद्धि होगी यह प्रजातान्त्रिक अधिकारों को घटाता चला जायगा, यह आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । यह रहस्य तो समय के अन्तरतम में ही निहित है और इस सम्बन्ध में बड़े से बड़े भविष्यवक्ता का कथन भी असत्य सिद्ध हो सकता है । समस्त इतिहास के अनुशीलन से यही सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे किसी साम्राज्य का शासन अन्य पराधीन देशों में फैलता जाता है, वैसे-वैसे ही लोक तन्त्र की शक्ति का ह्रास होता जाता है । अँग्रेजी साम्राज्यवाद में अँग्रेजी बोलने वाली प्रजा में एक्यभाव बढ़ता जाता है और उनका एक संघ बनता जाता है । हम भारतवासी उस संघ के बाहर खड़े रखे गये हैं । हम स्वाधीनता के इस पवित्र क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते । हम इस स्वाधीनता देवी के मन्दिर की देहरी के भीतर पैर नहीं रख सकते । हम लोगों को केवल सेवा करने और दूर खड़े रहने का अधिकार ही दिया गया है । साम्राज्य के एक अंश की हैसियत से हमारी सेनायें दक्षिण अमरीका भेजी गईऔर उन्होंने नेटाल की रक्षा की । भारतीय सिपाहियों का दल चीन भेजा गया और उन्होंने अँग्रेजी साम्राज्य के झण्डे को पेकिंग (चीन की राजधानी) के गढ़ के ऊपर गाढ़ दिया ।

हमारी यह राजभक्ति ऐसी वास्तविक, गहरी और आन्तरिक मानी गई है, स्वयं भारतमन्त्री ने भी उसकी प्रशंसा की है । फिर भी हमको साम्राज्य के उन प्रजाजनों में नहीं गिना जाता, जो उसके वैधानिक अधिकारों का लाभ उठा सकते हैं । हमारे देश में तो साम्राज्यवाद ने प्रतिगामिता की शक्तियों को ही प्रोत्साहन दिया है और केवल शानोशौकत की भावना को बढ़ाया है, जिससे लोगों का ध्यान देशोन्नति सम्बन्धी ठोस बातों की तरफ से हट जाय । इसलिये हम इस नये साम्राज्यवाद का उस रूप में स्वागत करने को तैयार नहीं हैं, जिसमें वह हमारे सामने उपस्थित किया जा रहा है । हम ऐसे साम्राज्यवाद को लेकर क्या करें जो खूब धन खर्च करके शानोशौकत के जलसे तो दिखाए, यह आसाम के चाय बागानों के कुलियों की कष्ट गाथा को अनसुनी कर दे । इस साम्राज्यवाद में तो अधिकांश में हमारे देश के हितों को दूसरे लोगों के हितों के लिये बलिदान कर दिया जाता है, तब यह हमको किस प्रकार स्वीकार हो सकता है ?

"इस परिस्थिति में अपने भाइयों से मैं यही कहना चाहता हूँ कि स्वाधीनता एक दिन में प्राप्त की जा सकने वाली वस्तु नहीं है । स्वाधीनता की देवी सहज में प्रसन्न नहीं हो जाती वरन् वह अपने भक्तों से लगातार तल्लीनता के साथ उद्योग कराना चाहती है । इससे हमको अपने स्वार्थ का बलिदान करने की प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये, क्योंकि इसके बिना वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति सम्भव नहीं । पर क्या भारतवासियों को इस बात की शिक्षा देने की आवश्यकता है ? वे तो बहुत समय से संसार के सम्मुख अपने इन गुणों को सिद्ध कर चुके हैं । भारतवर्ष के इतिहास का तो प्रत्येक पृष्ठ ऐसे आत्म-त्याग के उदाहरणों से भरा हुआ है । इसलिये वर्तमान काल के उत्तरदायित्व, भविष्य की आशा और भूतकाल की महिमा को ध्यान में रखते हुए हम को अपनी मातृभूमि की सेवा के लिये अधिक से अधिक उत्साह से कार्य करना चाहिये ।"

यद्यपि आज हम को ये बातें बिल्कुल मामूली जान पड़ती हैं, पर आज से सत्तर वर्ष पहले जब अँग्रेज गवर्नर जनरल साधारण जनता द्वारा देव लोक के सम्राट की तरह माना जाता था और जब संसार में कोई इंगलैण्ड की टेढ़ी निगाह से देखने का साहस नहीं करता था । उस समय ऐसे विचार प्रकट करना भी कम साहस का काम नहीं था । उस समय तक काँग्रेस केवल एक प्रस्ताव पास करने वाली संस्था मात्र थी । देश भर में केवल लोकमान्य तिलक ऐसे नेता थे, जो अँग्रेजों से स्वराज्य का अधिकार लेने की बात मुँह से निकाल सकते थे । उनको इसके लिये दो-तीन बार जेल का दण्ड सहन करना पड़ा था । उस समय अधिकांश शिक्षित तथा 'देशभक्त' कहलाने वालों की यही मान्यता थी, कि यदि हमको कुछ अधिकार लेने हैं तो वह तभी सम्भव है, जब इंगलैण्ड के शासन कर्ता और राजनीतिज्ञ हमारे अनुकूल हों । इसी कारण सुरेन्द्र बाबू की श्रेणी के राजनीतिज्ञ देश के लिये अधिकारो की माँग करते हुये इस बात का भी ख्याल रखते थे कि अँग्रेज राजनीतज्ञ उनसे असन्तुष्ट न हो जायें ।

भारतीय संस्कृति के अनुयायी

सुरेन्द्र बाबू का एक बहुत बड़ा गुण यह था, कि शिक्षा प्राप्ति के लिये बहुत समय तक विदेशी वातावरण में रहने पर भी वे अपने धर्म, समाज तथा राष्ट्रीयता के भावों से ओत-प्रोत थे । उन्होंने जीवन भर भारतीय एकता और राष्ट्रीयता की वृद्धि के लिये उद्योग किया । इसके लिये उन्होंने काँग्रेस की स्थापना से भी पहले कार्यारम्भ किया और काँग्रेस को सुदृढ़ और स्थायी बनाने में बहुत अधिक परिश्रम किया । इसके लिये वे भारतीय युवकों में इटली के महान देशभक्त मैजिनी के सिद्धान्तों का प्रचार किया करते

थे । उनसे मतभेद होने पर भी महात्मा गाँधी तथा अन्य नेताओं ने उनको एक प्रमुख राष्ट्र-निर्माता घोषित किया है ।

सुरेन्द्र बाबू धार्मिक कार्यों में बड़ी श्रद्धा रखते थे और राजनीतिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी सदैव ईश्वराराधना करते रहे । उनकी पोशाक तथा रहन-सहन सदा स्वदेशी रहा । सामाजिक मामलों में वे सदा एक सुधारवादी रहे । वे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विधवाओं के उद्धार सम्बन्धी आन्दोलन से बहुत प्रभावित थे और कहा करते थे कि मैं राजनीतिक कार्यों से छुट्टी पाकर विद्यासागर के अपूर्ण कार्य को पूरा करने का प्रयत्न करूँगा, निस्सन्देह वे देश और समाज के एक सच्चे सेवक थे और जीवनपर्यन्त इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहे ।

एक और भामाशाह श्री जमनालाल बजाज

सन् १९२० में नागपुर काँग्रेस का अधिवेशन हो रहा था । वर्धा के प्रसिद्ध सेठ जमनलाल जी, जो उस समय 'रायबहादुर' और 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' भी थे, उसके स्वागताध्यक्ष थे । उस अधिवेशन में विशेष रूप से महात्मा गाँधी के असहयोग प्रस्ताव पर विचार किया गया था और निश्चय किया गया, कि विदेशी सरकार से समस्त प्रकार का सम्बन्ध और व्यवहार बन्द करके, उसे विवश किया जाय कि भारतवर्ष को स्वराज्य अधिकार देने में अधिक विलम्ब न करे । इस प्रस्ताव के पास होने पर जमनालाल जी ने सबसे पहले अपनी 'रायबहादुरी' और 'आनरेरी मैजिस्ट्रेटी' छोड़ने की घोषणा की ।

इसी अवसर पर उन्होंने महात्मा गाँधी से कहा कि "यद्यपि आपके चार पुत्र हैं, तो भी मुझे अपने पाँचवें पुत्र के रूप में स्वीकार कर लें !" दूसरे शब्दों में इसका अर्थ था, कि आप मुझे गोद (दत्तक) ले लें । यद्यपि एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जो आकार और वजन की दृष्टि से गाँधी जी की अपेक्षा लगभग ड्यौढ़े होंगे, इस प्रकार की गोद लेने की प्रार्थना सुनने वालों को अनोखी जान पड़ी और गाँधी जी भी एक बार आश्चर्य मे पड़ गये, पर उनका आग्रह देखकर उन्होंने इसकी स्वीकृति दे दी ।

यद्यपि जमनालाल जी चार वर्ष की आयु में वर्धाझा के सेठ बच्छराज जी द्वारा पोते के रूप में गोद लिये गये थे, पर उस समय उनको इस परिवर्तन का कोई ज्ञान नहीं था । पर इस बार 'दत्तक पुत्र' होते समय दोनों पक्षों को इस बात के महत्व और परिणामों का अच्छी तरह ज्ञान था । जमनालाल जी ने गाँधी जी को अपना 'पिता' मानकर अपनी समस्त सम्पत्ति उनको समर्पित कर दी । इससे गाँधी जी के समस्त कार्यक्रम और राष्ट्रीय आन्दोलन पर बड़ा प्रभाव पड़ा । यदि गाँधी जी के भारत व्यापी आन्दोलन की आर्थिक व्यवस्था के लिए जमनालाल जी स्वयं लाखों रुपया निकालकर न देते और लाखों ही दूसरों से इकट्ठा न कर देते, तो न मालूम उस युग में हमारे राष्ट्र की गतिविधियाँ क्या हो जातीं ? इसका कुछ अनुमान उस समय काँग्रेस फण्ड को जमा करने और उसके कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के निम्न विवरण से विदित हो सकता है–

काँग्रेस के अर्थ-व्यवस्थापक

सन् १९२१ के आरम्भ में अखिल भारत वर्षीय काँग्रेस कमेटी ने अपने विजयवाड़ा के अधिवेशन में निश्चय किया था कि "काँग्रेस के चार आने वाले एक करोड़ सदस्य बनाने चाहिये, काँग्रेस के 'तिलक स्वराज्य-फण्ड' में एक करोड़ रुपया इकट्ठा होना चाहिए और देश भर में बीस लाख चर्खे चलने चाहिए ।" पर जब इस कार्यक्रम की पूर्ति में सन्देह होने लगा और जून तक केवल ४० लाख रुपया ही इकट्ठा हो सका, तो यह निश्चय किया गया कि कुछ लोग शेष ६० लाख को संग्रह करने की व्यक्तिगत जिम्मेदारी उठायें और उसमें जो कमी पड़े, उसे अपने पास से पूरा करें। उस समय जमनालाल जी को काँग्रेस का कोषाध्यक्ष बनाया गया था और इस कारण इस कार्य की सफलता का उनको ही सबसे अधिक ध्यान था । वे स्वयं एक बड़े प्रसिद्ध व्यापारी थे और मारवाड़ी समाज के अधिकांश प्रसिद्ध व्यापारियों से उनका तरह-तरह से घनिष्ठ सम्बन्ध था । इसलिए उन्होंने देश भर मे पत्र लिखकर काँग्रेस के निर्णय का प्रचार किया और अधिक परिश्रम करके एक करोड़ का फण्ड जमा करके दिखा दिया । उस अवसर पर उन्होंने जबलपुर के सेठ गोविन्ददास को एक पत्र लिखा था–

"स्वराज्य फण्ड के लिए यह निर्णय किया गया है कि आगामी ३० जून तक एक करोड़ चन्दे की रकम के लिए खूब उत्साह के साथ भरकस प्रयत्न किया जाय । अभी तक ४० लाख का चन्दा आया होगा ऐसा अनुमान है । यद्यपि जून के अन्त तक एक करोड़ चन्दा पूरा कर लेना कोई नई बात नहीं है, पर अभी मुझे लक्षण दिखायी नहीं देते। इसीलिये बाकी रहे-सहे चन्दे के शेयर दस-पन्द्रह सज्जनों में विभक्त कर दिये जायेंगे और जिन-जिन प्रान्तों में अपेक्षित चन्दे से कम चन्दा वसूल हुआ उन-उन प्रान्तों में घूम-घूमकर बढ़ाने की कोशिशें की जायगी । कलकत्ता, आसाम आदि में अगर घूमकर जोर से प्रयत्न किया जाय तो अच्छा चन्दा वसूल होने की सम्भावना है । तथापि निजी सम्भावना पर ही हमको निर्भर नहीं रहना चाहिये । हमको हमारी निजी

जिम्मेदारी समझकर ही काम करना चाहिए । यदि ऐसा नहीं किया गया तो एक करोड़ चन्दे की घोषणा ३० जून तक कैसे की जा सकेगी ? और यदि उक्त घोषणा नहीं की गई तो हमारी अपकीर्ति होगी । इन सब बातों को विचार कर आप कितनी जिम्मेदारी लेने को तैयार हैं सो कृपया सूचित कीजिये ।"

यह पत्र एक नमूना है जिससे विदित होता है कि श्री जमनलाल जी ने किस प्रकार अपनी निजी सम्पत्ति और व्यक्तिगत प्रभाव से काँग्रेस की आर्थिक व्यवस्था को सन्तुलित बनाये रखा और उसके बड़े-बड़े कार्यक्रमों की सफलता के लिए ठोस आधार प्रदान किया । अन्यथा इस धन-प्रधान युग में महात्मा गाँधी जैसे लोकोत्तर व्यक्ति को भी इतनी सफलता मिल सकना सन्देहास्पद ही था । इसलिये यदि यह कहा जाय कि जमनालाल जी और महात्मा गाँधी का इस प्रकार सहयोग हो जाना भी एक दैवी-विधान ही था, तो इसमें अन्धश्रद्धा की कोई बात नहीं ।

गाँधी जी को सर्वस्व समर्पण

गाँधीजी भी जमनालाल जी के इस महत्व को खूब समझते थे और इसलिये वे भी एक सच्चे पिता के समान उनकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति के प्रति बड़े जागरुक रहते थे । एक बार उन्होंने जमनालाल जी को लिखा था–

"हम इस निर्णय पर कैसे पहुँच सकते हैं कि तुम मेरे पुत्र होने योग्य हो या नहीं अथवा मैं तुम्हारा पिता होने योग्य हूँ कि नहीं ? जिस प्रकार तुमको अपने विषय मे अविश्वास है, उसी प्रकार मुझे भी अपने विषय में अविश्वास है । यदि तुम अपूर्ण हो, तो मैं भी अपूर्ण हूँ । पर मुझे तुम्हारे स्नेह ने विवश कर दिया और तुम्हारे पिता का स्थान मुझे लेना पड़ा । ईश्वर मुझे इस योग्य बनायें । यदि तुममें कुछ बुराइयाँ या त्रुटियाँ रह जायेगीं, तो वे इस बात की परिचायक होगी कि वे मेरी ही बुराइयाँ थीं ।"

"मुझे विश्वास है कि हम दोनों अपनी त्रुटियों को दूर करने में सफलता प्राप्त करेंगे । ईश्वर की इच्छा है कि हमारे हृदय में समर्पण की भावना जागृत हो । वह हृदय के गुह्य स्थलों को भी देख सकता है । यदि हम असफल रहे तो वह हमारी योग्यता के अनुसार ही हम से व्यवहार करेगा ।"

गाँधी जी के सम्पर्क का यह प्रभाव हुआ कि जमनालाल जी दिन पर दिन अन्तर्दर्शी और आत्म-आलोचक होते गये। वास्तव में वे धार्मिक विचारों के तो आरम्भ से.ही थे । वे जन्म से पक्के वैष्णव थे, और उनके घर में 'लक्ष्मीनारायण' की पूजा नियमित रूप से होती रहती थी । उनका समस्त परिवार ही व्रत, पूजा उपासना में लगा रहता था, और उनके यहाँ पण्डित पुरोहित सदा धार्मिक कृत्य कराते ही रहते थे इसलिए बाल्यावस्था से धार्मिक प्रवृत्ति के होते हुए भी केवल पूजा प्रार्थना के धर्म से उनको आत्म सन्तोष नहीं होता था। वे अच्छी तरह समझते थे कि थोड़ी देर के लिए भगवान के मन्दिर में जाकर भगवान के दर्शन, स्तुति, पूजा, आदि कर लेने और फिर दिन भर.सांसारिक परिस्थितियों में पड़कर हर तरह के उचित-अनुचित कार्य करते रहने से वास्तविक आध्यात्मिक उन्नति कभी नहीं हो सकती । आध्यात्मिकता का सम्बन्ध तो समस्त जीवन से है, इसलिए जब तक हम अपना दैनिक रहन-सहन और व्यवहार अध्यात्म की दृष्टि न रखें, तब तक सच्ची आत्मिक शान्ति मिलनी सम्भव नहीं ।

इस उद्देश्य को दृष्टिगोचर रख कर वे आरम्भ से ही देश के महान नेताओं से मिलते रहते थे । माननीय मालवीयजी के प्रति उनकी बहुत श्रद्धा थी । कुछ समय वे रवीन्द्र नाथ ठाकुर के साथ भी रहे । लोकमान्य तिलक के वे आरम्भ से ही भक्त थे और केशरी में उनके ओजस्वी लेखों को बड़े चाव से पढ़ा करते थे । सन् १९०६ में जब हिन्दी केसरी प्रकाशित हुआ तो उन्होंने उसकी सहायतार्थ अपने जेब खर्च से बचाकर १०० रुपये चन्दा भेजा था । वे कभी-कभी कहा करते थे कि मुझे लाख रुपया दान करने से भी उतनी प्रसन्नता और सन्तुष्टि नहीं हुई, जितनी उस १७ वर्ष की आयु में १०० रुपया का छोटा-सा दान देने से हुई थी ।

पर लोकमान्य तिलक से भी उनकी आध्यात्मिक प्यास तृप्त न हो सकी । वे महान विद्वान और चोटी के देशभक्त अवश्य थे और जमनालाल जी उनके वीरतापूर्ण कार्यों के बड़े प्रशंसक थे । जिस प्रकार का आध्यात्मिक गुरु वे खोज रहे थे, वह बात तिलक जी में भी उनको न मिला ।

सत्याग्रह का प्रभाव

जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन का वर्णन पढ़ा और मालूम हुआ कि किस प्रकार वे राम नाम का सहारा लेकर बड़े-बड़े शक्तिशाली शासको का विरोध करने को खड़े हो जाते हैं, तो उनका झुकाव गाँधी जी की तरफ होने लगा । उनके मन मे आया करता था कि "गाँधी जी कैसे महान और ईश्वरीय आत्मा हैं । वे भारत वापस कब आयेंगे ? जब कभी वे वापस आयेंगे, मैं उनसे जरूर मिलूँगा और उन्हें अपना बना लूँगा ।"

जब सन् १९१५ में गाँधी जी भारत वापस आये और श्री गोखले की सम्मति से उन्होंने साबरमती में आश्रम बना लिया, तो जमनालाल जी भी वहाँ पहुँचे । उसके बाद थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से वे वहाँ आते ही रहे । वहाँ

रहकर उन्होंने गाँधी जी की कार्य पद्धति को बहुत समीप से देखा और अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन्होंने अपना आध्यात्मिक गुरु प्राप्त कर लिया। उन्होंने देखा कि गाँधी जी जो कुछ कहते हैं दूसरों को जैसा उपदेश करते हैं, स्वयं भी वैसा ही आचरण करते हैं. और यही सच्चे महात्मा का लक्षण हो सकता है।

गाँधीजी की तरफ जमनालाल जी का इतना अधिक आकर्षण होने का कारण यही था, कि राजनीति और आध्यात्म का ऐसा सम्मिश्रण हुआ था, जिसकी दूसरी मिसाल मिल सकती यदि असम्भव नही तो दुरूह अवश्य है। आजकल तो राजनीति और अध्यात्म को इस प्रकार पृथक समझा जाता है जैसे कि नीला और लाल रंग अथवा तेल और पानी। लोगों की सामान्य रूप से यह धारणा है कि राजनीति में सत्य, अहिंसा आदि का कोई स्थान नहीं। पर गाँधीजी ने अपनी राजनीति इन्हीं दोनों तत्वों पर आधारित रखकर निश्चित की और उसे पूरी तरह कारगर सिद्ध कर दिखाया। जमनालाल जी का भी राजनीति की तरफ सन् १९०६ से ही झुकाव था। जब देश में बंग-भंग के फलस्वरूप स्वदेशी व्यवहार और अँग्रेजी वस्तुओं के बायकाट का आन्दोलन तेजी से छेड़ा गया था। उसी समय से उन्होंने भारतीय कारखानों में बना वस्त्र धारण करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। साथ ही भारतीय नेताओं के उद्‌गारों और प्रेरणात्मक विचारों को पढ़कर, वे विदेशी-शासन की बुराइयों से भी परिचित हो गये थे। दो-चार गरीब लोगों पर पुलिस वालों के अत्याचार देखकर उन्होंने यह समझ लिया था कि वास्तव में किसी देश पर अन्य देश का शासन होना न्याय और नीति के विरुद्ध है, और इससे जनता का हर तरह से पतन होता है।

पर जमनालाल जी के यह राजनीतिक विचार धर्म से भी संयुक्त थे। वे स्वभाव से ही धार्मिक होने के कारण ऐसी राजनीति को कम पसन्द करते थे, जिसे किसी प्रकार धर्म विरुद्ध अथवा धर्म से पृथक कहा जा सके। पर उस समय तक उनको कोई ऐसा नेता दिखाई नहीं देता था, जो धार्मिक आधार लेकर राजनीतिक आन्दोलन चला रहा हो। यों माननीय मालवीय जी सुप्रसिद्ध धार्मिक व्यक्ति थे और राजनीतिक क्षेत्र के साथ ही सनातन धर्म के भी नेता माने जाते थे। लोकमान्य तिलक भी धर्म के महान ज्ञाता और आचरण करने वाले माने जाते थे। इन लोगों की यह धार्मिकता व्यक्तिगत थी। उन्होंने धर्म और राजनीति को मिलाने की कभी चेष्टा नहीं की और वे भी अन्य सब की तरह मानते थे कि राजनीति में धर्म का प्रश्न उठाना व्यर्थ है।

यह केवल गाँधी जी की महानता और व्यवहारिक आध्यात्म का परिणाम था कि भारतीय राजनीति कुछ वर्षों तक न्यूनाधिक मात्रा में धर्म के मार्ग का अनुसरण करती रही। यह नवीन परिवर्तन जमनालाल जी जैसे गिने-चुने 'धार्मिक देश भक्तों' को बहुत रुचिकर और महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और वे राजनीतिक क्षेत्र में तन-मन-धन से प्रविष्ट हो गये। गाँधीजी की इस विशेषता के लिए जमनालाल जी प्रायः कहा करते थे—

"गाँधीजी के साथ रहने का जिसे सौभाग्य मिला, या व्यक्ति और जीवन की समस्यायों के प्रति गाँधीजी के दृष्टिकोण को जिसने समझने का प्रयत्न किया, वह व्यक्ति जीवन में थक नहीं सकता। वह कार्य के लिए उत्साह और जीवन की अभिरुचि से परिपूरित रहेगा। वह सदैव अपने कर्त्तव्य पालन को तत्पर रहेगा और जो कुछ उसके पास है उससे सन्तुष्ट रहेगा। यह सम्भव है कि गाँधीजी द्वारा स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग में देर हो, पर है यह निश्चित मार्ग। इसमें कोई जोखिम नहीं है। जो कोई इस मार्ग का अनुसरण करेगा वह औरों के लिए नहीं, तो कम से कम अपने लिए तो स्वराज्य अवश्य प्राप्त कर लेगा, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।"

गाँधीजी के इस व्यावहारिक आध्यात्म का अनुभव जमनालाल जी एक दो वर्ष नहीं, चौबीस वर्ष तक निरन्तर करते रहे और इसके फल से उनकी स्थिति भी एक 'निष्काम कर्मयोगी' जैसी बनती चली गयी। अपने अन्तिम जीवनकाल में उन्होंने इस समस्त अनुभव और उसके अनुसरण करने का निष्कर्ष इन शब्दों में प्रकट किया —

"पिछले चौबीस वर्षों में बराबर गाँधीजी के सम्पर्क में रहा हूँ। मैंने प्रत्येक क्षेत्र में उनके कार्यों को निकट से देखा है। मैंने उनके आश्रम के जीवन में भी भाग लिया है। मैं उनके उपवास के समय भी साथ रहा हूँ। मैंने उनकी बीमारी में सेवा भी की है। उनके बहुत से महत्वपूर्ण वार्तालापों और विचार विमर्शों को मैंने देखा है, उनके जन कार्यों के भार को बँटाने का मैंने पूर्ण प्रयत्न किया है, प्रत्येक स्थिति में उनके बहुत से गुणों से मैं प्रभावित रहा हूँ। उनमें मेरा विश्वास सदैव बढ़ता ही गया है। आज वे मेरे आदर्श हैं—"मेरे पथ प्रदर्शक हैं। उनकी आज्ञा शिरोधार्य है, उनका स्नेह मेरा जीवन है।"

राजनीतिक संघर्ष में त्याग और बलिदान

जमनालाल जी बाल्यावस्था से ही एक बड़े धनी परिवार में पले थे और बड़े होने पर उनको संसार की वे समस्त सुख और सुविधाएँ प्राप्त हो गई थीं, जो धन से प्राप्त की जा सकती है। प्राचीनकाल के नीतिकार भी 'स्वर्ण और

सब गुणों का आधार बता गये थे,' जिस पर आजकल तो वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का स्वामी और संचालक सब कुछ बना है । इसलिए जब जमनालाल जी ने स्वेच्छा से उस धन के मोह और उससे प्राप्त होने वाले भोगों को त्याग दिया और स्वाधीनता संग्राम में पूर्णरूप से निमग्न हो गये तो श्री राजगोपालाचार्य जैसे विद्वान आलोचक ने उनके सम्बन्ध में निम्न पंक्तियाँ लिखी थीं–

"जमनालाल के समान और किसी ने गृहस्थी का सुख धन, पद, और प्रभाव नहीं भोगा होगा । मनुष्य को जिस चीज का अन्य बातों से अधिक लालच होता है, वह है बड़े और शक्तिशाली लोगों की मित्रता । यह भी जमनालाल के समान थोड़े ही लोगों ने प्राप्त की होगी । संक्षेप में गाँधीजी के आन्दोलन में मिलने वाले दुख और अभाव को छोड़कर और सब कुछ जमनालाल जी ने भोगा था, फिर भी एक क्षण में उन्होंने अपना सारा जीवन बदल दिया । जो सुख और आराम से वे अपने धन से खरीद सकते थे, उस पर लात मार दी । जो शक्ति और प्रभाव उनके पैरों में पड़ा था, उसे एकदम त्याग दिया । वे संघर्ष के बीच एक साधारण कार्यकर्ता के समान कूद पड़े कौन कहता है कि हमारे राष्ट्र का स्तर ऊँचा नहीं उठा है ।"

वास्तव में जमनालाल जी आरम्भ से ही धन की उचित मर्यादा को समझते थे । वे उसे धर्म और मानवता से ऊँचा स्थान नहीं देना चाहते थे । इसलिए वे वर्षों तक प्रयत्न करके ऐसा धर्म गुरु ढूँढ़ते रहे, जो केवल भजना नन्दी अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' का उच्चारण मात्र करने वाला न हो वरन् जिसने संसार में रहते हुए आध्यात्म के आदर्श का पालन करके दिखाया हो । उनका यह उद्देश्य गाँधीजी के निकट पहुँचने पर पूरा हो गया और उसी समय से उन्होंने अपना सर्वस्व उनके कार्य के लिए अर्पित कर दिया ।

इसके बाद यद्यपि वे व्यापार करते रहे और बहुत सा रुपया भी कमाते रहे, पर उन्होंने अपने को उस धन का व्यवस्थापक मात्र समझा । कहा जाता है कि उनको अपने बाबा बच्छराज जी से ५-६ लाख की सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली थी । उन्होंने व्यापार द्वारा उससे आमदनी करते हुए लगभग २५ लाख रुपया सार्वजनिक हित के कामों में दान कर दिया । इसके अलावा भी कई लाख रुपया गुप्त रूप से अँग्रेज सरकार से संघर्ष करने वाले देशभक्तों और उनके परिवार के निर्वाह में लगा दिया, जिसका किसी को पता नहीं चला । इसी प्रकार एक पूँजीपति का क्रान्तिकारी देश-भक्त बनकर अपना सर्वस्व राष्ट्रोद्धार के लिए अर्पित कर देना एक असाधारण उदाहरण है । पूँजीपतियों में इस तरह की मनोवृत्ति का होना अपवाद स्वरूप ही माना जायगा और इसलिए चाहे हम संसार भर के लिए इतिहास को छान डालें जमनालाल जैसे उदाहरण उँगलियों पर गिनने लायक भी कठिनता से मिलेंगे । सभी देशों के स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले प्रमुख कार्यकर्ता प्रायः गरीब अथवा मध्यम वर्ग में से ही निकले हैं । जमनालाल जी का पूँजीपति वर्ग से निकल कर क्षेत्र में प्रवेश करना अपने ढंग का निराला ही नमूना है ।

निकृष्ट मनोवृत्ति के कुछ लोगों ने अपने दोष ढूँढ़ने वाले स्वभाव के अनुसार जमनालाल जी पर काँग्रेस का रुपया अपने काम में लाने और उससे तरह-तरह के लाभ उठाने के झूँठे आरोप लगाये । नागपुर के "सावधान" नामक मराठी पत्र ने एक बार लिखा–"देशभक्ति और उदारता की आड़ में जमनालाल जी अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं । मगनवाड़ी की उचित रूप से रजिस्ट्री भी नहीं कराई गई, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसे अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ को सौंप दिया गया है । जब यह संघ काम करना बन्द कर देगा तो नये भवनों सहित सारा मगनवाड़ी 'बच्छराज एण्ड कम्पनी' के पास पहुँच जायगी, जो सेठ जमनालाल बजाज उनकी पत्नी और लड़के को लेकर बनाई गई है ।" यह पत्र एक साल तक इसी प्रकार के अपमानजनक लेख लिखता रहा, पर जमनालाल जी ने उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया । जब गाँधी जी ने स्वयं उनको सलाह दी कि "इस पत्र के सम्पादक पर मुकद्मा चलाया जाय, क्योंकि उसने केवल जमनालाल जी को ही व्यक्तिगत रूप से बदनाम नहीं किया वरन् उससे राष्ट्रीय संस्थाओं को भी काफी हानि होती है ।"

इस पर जमनालाल जी ने 'सावधान' के सम्पादक आर. वी. मावकर पर मानहानि का मुकद्दमा वर्धा के मजिस्ट्रेट की अदालत में दायर किया गया । उससे सिद्ध हो गया कि मावकर ने द्वेष बुद्धि और नीच स्वार्थ साधन की दृष्टि से जमनालाल जी को बदनाम किया है । उसे ६ महीने की कैद और एक हजार रुपये जुर्माना की सजा दी गई ।

बम्बई के एक मराठी पत्र चित्रा ने भी जमनालाल जी द्वारा विजित यूरोप शीर्षक लेख में ऐसे ही बेहूदा आक्षेप किये । उसने लिखा कि "जमनालाल जी ने ४० हजार के मूल्य के 'सेगाँव' को ४ हजार रुपया में हड़प लिया है । जब से वे काँग्रेस के कोषाध्यक्ष हुये हैं, तब से उनके कब्जे में काफी रुपया आ गया है, जिसे वे ब्याज पर देकर मुनाफा अपनी जेब में डालते रहे हैं ।" इस लेखक पर मुकद्मा चलाया गया । पत्र के सम्पादक तथा प्रिण्टर ने माफी माँग

ली और लेखक को ६ मास की कैद और ५०० रुपये जुर्माना की सजा दी गई ।

उन दिनों पं. जवाहरलाल नेहरू अखिल भारतवर्षीय कौंग्रेस के जनरल सेक्रेटरी थे । जब उन्होंने कुछ दुष्टों को इस प्रकार की हरकतें करते देखा तो उन्हें बड़ा बुरा लगा और उन्होंने अखबारों में एक बयान प्रकाशित कराया कि "कौंग्रेस का सब हिसाब-किताब बाकायदा रखा जाता है और उसे 'आडिट' कराया जाता है । हिसाब के चिट्ठे समय-समय पर अखबारों में भी प्रकाशित कराये जाते हैं । इसका सारा श्रेय संस्था के कोषाध्यक्ष श्री जमनालाल बजाज को ही है । कौंग्रेस की नीति यह नहीं है, कि समुचित कारण मिलने पर भी मुकद्दमेबाजी या झगड़े का सहारा लिया जाय, पर यदि दुष्टतापूर्ण और हानिकारक बयान जारी रखे गये तो कौंग्रेस अपनी प्रतिष्ठा की रक्षार्थ अदालत का दरवाजा खटखटाने से भी नहीं चूकेगी ।"

गाँधी जी ने भी कहा--"जमनालाल स्वयं को अपनी सम्पत्ति का एक न्यासी (ट्रस्टी) ही समझते हैं । अगर वे अपनी सम्पत्ति को पूर्णरूप से न त्याग सके तो इसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है । मैंने ही उनको सबकुछ त्यागने से रोका था । मैं इस विषय में सदैव सतर्क रहा हूँ कि वे किसी क्षणिक भावावेश में आकर ऐसा काम न कर बैठें कि बाद में अपने कार्य पर पश्चात्ताप करना पड़े, लेकिन मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि, जमनालाल ने जितना भी कमाया है, वह जनता के कल्याण में लगाया है ।"

इस प्रकार जमनालाल जी ने धनी व्यापारी वर्ग के सामने जो आदर्श उपस्थित किया, उससे समस्त देश के नेता बड़े प्रभावित हुए । आखिर आन्दोलन के संचालन के लिए धन तो आवश्यक था ही । इसलिए जब तक ऐसे देशभक्त और धनी व्यापारी आगे न बढ़ते और तन-मन-धन से राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेने को तैयार न होते, तब तक सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त हो सकना सम्भव न था । केवल गाँधीजी, जवाहरलाल जी, विनोबा जी जैसे सत्याग्रह पक्ष वाले नेता ही जमनालाल जी के प्रशंसक नहीं थे वरन् अन्य छोटे-बड़े नेताओं की दृष्टि के सम्पर्क में आने से पहले ही जमनालाल जी लोकमान्य तिलक से मिले थे । उस दो-एक दिन की जान-पहचान के आधार पर ही श्री तिलक ने उनकी विशेषता को समझ लिया था । इसके कुछ समय पश्चात् ऋषभदास रौंका नाम के युवक तिलक जी के पास गये और कहा कि "मैं अधिक पढ़ा लिखा नहीं हूँ, और व्यापार ही मेरा मुख्य कार्य है, पर अब मैं देश सेवा के लिए आपके साथ रहना चाहता हूँ ।" तिलक जी ने उन्हें सम्मति दी कि "व्यापार का कार्य करते हुए भी तुम देश सेवा कर सकते हो । इस

कार्य के लिए तुम वर्धा के सेठ जमनालाल बजाज के साथ कार्य करो । वे एक बड़े व्यापारी और महान देशभक्त हैं । कुछ दिन पहले वे पूना आये थे और उनका बड़ा सम्मान हुआ था । उनको अपना आदर्श मानो तुम्हें अपने उद्देश्य में सफलता होगी ।"

लोकमान्य तिलक के सुप्रसिद्ध पत्र 'केसरी' में भी जमनालाल के 'नागपुर झण्डा-सत्याग्रह' से सम्बन्धित कार्य की बड़ी सराहना की गई थी । उसके एक लेख में कहा गया था--"इसमें कोई सन्देह नहीं कि नागपुर-झण्डा-सत्याग्रह के मुख्य नेता सेठ जमनालाल जी ने अपने वीरोचित व्यवहार से सारे भारत के व्यापारी वर्ग के सामने एक अनुपम उदाहरण रखा है । वे गर्व से अपने को महात्मा गाँधी का पाँचवाँ पुत्र कहते हैं और निस्सन्देह उन्होंने उचित ढंग से अपने पिता का अनुसरण किया है ।"

नागपुर-झण्डा सत्याग्रह

नागपुर का झण्डा सत्याग्रह वास्तव में एक ऐसी घटना थी, जिसने जमनालाल जी को राजनैतिक संघर्ष में खींच लिया और साथ ही देश भर में एक सत्याग्रही नेता के रूप में उनका नाम भी प्रसिद्ध हो गया । सन् १९२० में नागपुर की पुलिस ने कौंग्रेस के एक जुलूस को रोका और उससे तिरंगे राष्ट्रीय झण्डे को छीन लिया । इस बात को वहाँ के नेताओं ने राष्ट्रीय ध्वज का अपमान समझा और पुलिस की कार्यवाही का विरोध करने के लिए एक बड़ा जुलूस झण्डे के साथ निकालने का निश्चय किया । यह खबर पाकर सरकार ने इस प्रकार के सभी जुलूसों पर रोक लगा दी ।

उसी समय जमनालाल जी कलकत्ता से लौटते हुए नागपुर के स्टेशन पर होकर गुजरे । नागपुर के कितने ही राजनैतिक कार्यकर्ता उनसे स्टेशन पर मिले और झण्डा सत्याग्रह का नेतृत्व करने की प्रार्थना की । उन्होंने उनके निश्चय की सराहना की और कहा कि वे इस विषय पर विचार करके दो-चार दिन में उत्तर देंगे ।

वर्धा पहुँचकर उन्होंने जब इस विषय पर खूब अच्छी तरह विचार किया तो उनको यही अनुभव हुआ कि राष्ट्रीय झण्डे की सम्मान-रक्षा के लिए जो आन्दोलन किया उसमें भाग लेना उसका कर्तव्य है । वे अच्छी तरह जानते थे कि एक बड़ा उत्तरदायित्व है, जिसमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ और खतरे आयेंगे । उन सबके लिये तैयार होकर उन्होंने झण्डा सत्याग्रह का नेतृत्त्व करने की स्वीकृति दे दी ।

नागपुर का झण्डा-सत्याग्रह देश में बड़ी जागृति करने वाला सिद्ध हुआ । उस समय चौरीचौरा हत्याकाण्ड के कारण गाँधीजी ने अपना देशव्यापी आन्दोलन

दिया था और राजनीतिक क्षेत्र में एक प्रकार का अवसाद उत्पन्न हो गया था । ऐसे अवसर पर जमनालाल जी के नेतृत्व में सत्याग्रही स्वयं-सेवक छोटी-बड़ी टोलियों में प्रतिदिन झण्डा लेकर जुलूस निकालने लगे । जैसे ही जुलूस सिविल लायन्स घुसने की चेष्टा करता पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाता । आरम्भ में तो इन स्वयं-सेवकों को मारपीट कर कुछ दूर ले जाकर छोड़ दिया जाता था, उसके बाद ये जेल भेजे जाने लगे ।

कुछ ही दिनों में झण्डा-सत्याग्रह काण्ड देशभर में फैल गया और अन्य प्रांतों से भी स्वयं सेवक उसमें भाग लेने को आने लगे । यह देखकर पुलिस उन स्वयं सेवकों को स्टेशन पर उतरने से पहले ही गाड़ी में ढूँढ़कर पकड़ने लग गई । फिर भी नागपुर के सत्याग्रह कैम्प मे दो-ढ़ाई सौ सेवक इकट्‌ठे हो गये । जब सत्याग्रह की धीमी गति से स्वयं सेवकगण ऊबने लगे और जल्दी ही जुलूस में भेजने का आग्रह करने लगे तो एक दिन बड़ा जन-सत्याग्रह करने का निश्चय किया गया । पर सरकार को इसका पता लग गया और उसने अकस्मात् सत्याग्रह शिविर पर छापा मारकर कुल ढ़ाई सौ व्यक्तियों को एक साथ गिरफ्तार कर लिया । इनमें जमनालाल जी, विनोबा जी और महात्मा भगवानदीन जी आदि नेता भी थे । मुकद्‌दमा चलने पर सब लोगों को एक-एक महीने की सजा दी गई, पर जमनालाल जी को १८ महीने की जेल और ३ हजार रुपया या जुमनि की सजा दी गई, क्योंकि वे इस आन्दोलन के संगठनकर्ता माने गये ।

जब उन्होंने जुर्माना देने से इन्कार किया तो पुलिस ने उनके घर जाकर एक कैशबक्स में रखे ४००० हजार रुपये जब्त कर लिये और उनकी मोटरकार तथा घोड़ा और मोटर और गाड़ी को भी दो बार नीलाम किया गया पर एक भी व्यक्ति बोली लगाने नहीं आया । बहुत समय बाद मोटर को राजकोट भेज दिया गया, पर वहाँ भी कोई व्यक्ति उसे खरीदने को तैयार नहीं हुआ तब एक अंग्रेज ने ही नाम मात्र के मूल्य पर उनको खरीद लिया ।

इस प्रकार जमनालाल जी के राजनीतिक संघर्ष का आरम्भ -नागपुर-झण्डा सत्याग्रह देश में इतना प्रसिद्ध हो गया कि अनेक अखिल भारतीय नेता वहाँ पहुँचकर उसमें सहयोग देने लग गये । जमनालाल जी के गिरफ्तार होते ही उसका स्थान सरदार पटेल ने ग्रहण कर लिया और वह दो महीना तक उसका संचालन करते रहे । जब लगभग दो हजार स्वयं सेवक सरकारी जेलों में भर गये और उन की व्यवस्था करना सरकार के लिये एक समस्या बन गई तो अन्त में उसे दब कर यह निर्णय करना पड़ा कि वह इस जन-आन्दोलन को समाप्त कर दे । इसलिये उसने बिना किसी प्रकार की घोषणा किये १८ अगस्त से स्वयं सेवकों को जुलूस को रोकना बन्द कर दिया । दूसरे शब्दों मे उसने सत्याग्रहियों के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया कि वे कहीं भी तिरंगा-झण्डा लेकर निकल सकते है ।

इस प्रकार यह आन्दोलन लगभग साढ़े तीन महीने तक चला और इसने देश में एक नवीन उत्साह उत्पन्न कर दिया । पन्द्रह दिन बाद जेलों मे बन्द सब सत्याग्रही कैदियों को छोड़ दिया गया, जिनमें जमनालाल जी भी थे । देश के समस्त नेताओं ने उनकी प्रशंसा की, उन्होंने एक स्थानीय आन्दोलन को इतने साहस और योग्यता से चलाया कि समस्त राष्ट्रीय आन्दोलनों को उससे बड़ा बल मिला और राष्ट्रीय ध्वज का महत्व जनता के हृदय में अंकित हो गया । इस अवसर पर सरदार पटेल ने कहा-"जब चारों और अँधेरा था तब जमनालाल ने ही अपने त्याग और कष्ट सहन से प्रकाश की ज्योति जलायी ।" पं. जवाहरलाल नेहरू जी ने कहा--"जब तक मैं नागपुर नहीं आया तब तक झण्डा सत्याग्रह के महत्व को अच्छी तरह न समझ सका। इसका मुझे दुःख है । मैं यह अनुभव करता था कि जब तक सरकारी रोक लगी है तब तक हमको यह सत्याग्रह नहीं करना चाहिए । पर जब वह मैंने यहाँ आकर देखा कितना महान कार्य हो चुका है तो मुझे सन्तोष हुआ ।"

बात यह थी कि आरम्भ में झण्डा सत्याग्रह कुछ उत्साही स्वयं सेवकों द्वारा आरम्भ कर दिया गया था । न इसके पास कोई तैयारी थी और न सुसम्बद्ध योजना । इसीलिए नेहरू जी ने इसे समय से पहले उठाया गया कदम समझा और उसे आगे न बढ़ाने की सम्मति प्रकट की । पर जमनालाल जी ने उसका उत्तरदायित्व ग्रहण करके और उसके संगठन को हर प्रकार से मजबूत करके उसे इतना जोरदार बना दिया था कि सरकार अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उसे न कुचल सकी और अन्त में उसे सत्याग्रहियों की विजय स्वीकार करनी पड़ी । इस कार्य में जमनालाल जी ने केवल धन और परिश्रम से ही पूरा सहयोग नहीं दिया, वरन् वे जेल जाने के लिए भी सबसे पहले तैयार थे । इस घटना का उल्लेख करते हुए सत्याग्रह-कमेटी के अध्यक्ष महात्मा भगवानदीन जी ने अपने संस्मरणों में लिखा है--

"सत्याग्रह को शुरु हुए थोड़े ही दिन हुए थे कि जमनालाल जी ने स्वयं सेवकों के जत्थे में जाने के लिए अपना नाम पेश किया । उस समय वे ही सत्याग्रह कमेटी के कोषाध्यक्ष पद पर थे, इसलिए मैंने उनसे कहा- "क्या आन्दोलन के लिए रुपये की कमी हो गई है, जो आप काम

छोड़कर जेल में बैठ जाना चाहते हैं ? जमनालाल जी ने उत्तर दिया--"नहीं, रुपये की तो कोई कमी नहीं । इतना रुपया आ रहा है कि सम्भलता भी नहीं । पर लोग कहते है कि झण्डा-सत्याग्रह में किराये के स्वयं सेवक भर्ती करके जेल भेजे जा रहे हैं और सब नेता अपनी जान बचाये बैठे हैं । तब मैंने उन्हें समझाया कि ऐसे लोगों की बातों पर ध्यान दोगे तो अपना ही काम बिगड़ेगा । ऐसे राह चलते लोगों की सम्मति को महत्व देने का क्या नतीजा होता है यह तो 'दो बाप-बेटा और गधे' की कहानी से स्पष्ट जाना जा सकता है !"

वास्तव में जमनालाल जी पूरी सच्चाई की भावना से आन्दोलन में कूद पड़े थे और इसलिए इसके विपरीत कोई बात सुनना उनको नापसन्द था । जब विरोधी लोगों ने सत्याग्रह को नकली बताया तो उनको यह बहुत खराब लगा और सबसे पहले वह स्वयं जेल जाकर आन्दोलन की सच्चाई का प्रमाण देने को तैयार हो गये ।

समस्त परिवार को देश सेवक बनाया

इस प्रकार जमनालाल जी को देश-सेवा की जितनी गहरी लगन लग गई थी, इसका कुछ आभास उपर्युक्त घटनाओं से मिल जाता है । वैसे तो कई वर्ष पहले से ही उनकी भावना इसी तरफ झुकती चली आ रही थी । सन् १९१७ में जब उनकी आयु केवल २८ वर्ष की थी और सरकार ने उनको रायबहादुर की उपाधि दे डाली थी, उन्होंने अपनी पत्नी को एक पत्र में लिखा था कि--"मेरे पास बहुत से बधाई के तार और पत्र आ रहे हैं, क्योंकि मैं रायबहादुर बन गया हूँ । यह सब थोथा दिखावा है, पर यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो इससे भी जनता की सेवा की जा सकती है । सद्बुद्धि और स्वार्थ रहित सेवा करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए ईश्वर से सदैव प्रार्थना करनी चाहिए यह जीवन स्वप्न के समान है । इसमें कोई वास्तविक सुख नहीं, जो सुख जान पड़ता है, काल्पनिक है । इन विचारों पर चिन्तन करने से मन को बड़ी शान्ति मिलती है । अतएव समस्त जीवन भर हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम जो कुछ सेवा करे वह स्वार्थ रहित होकर करें । मुझे आशा है कि तुम भी अपने जीवन में इस आदर्श को सामने रखोगी। मुझे पूरा विश्वास है कि इस आदर्श की उपलब्धि के लिए निरन्तर कर्म करते हुए तुम्हें पूर्ण शान्ति मिलेगी ।"

पतिव्रता पत्नी जानकी देवी ने बिना किसी निषेध या सन्देह के इस सलाह को गाँठ में बाँध लिया और वे तक इस पर अमल करती रहीं । वे सत्याग्रह आन्दोलन में जमनालाल जी की सच्ची सहचरी की भाँति उनके जेल जाने पर स्वयं भी जेल गईं । विनोबा जी की भूदान-यात्रा में उनके साथ पैदल चलीं और फिर राजस्थान में कूपदान-आन्दोलन आरम्भ करके पानी के लिए तरसने वाले लोगों के लिए सैकड़ों कुएँ बनवा दिये । इतना ही नहीं, अपने पति की आज्ञा मानकर उन्होंने अपने बच्चों को भी देश-सेवा की प्रेरणा दी थी । जमनालाल जी ने सन् १९२२ में ही अपनी यह भावना अपनी पत्नी पर प्रकट कर दी थी--

"वर्षों से मेरी यह इच्छा है कि तुम और हमारे बच्चे मेरे कारण से सम्मान और पद प्राप्त न कर सकें, अपितु वे सब अपने कार्यों और सेवाओं के फलस्वरूप प्राप्त करें । इसी में तुम्हारी, मेरी सबकी भलाई है । मुझे ऐसा लगता है कि ईश्वर की कृपा और बापू के आशीर्वाद से मेरी इच्छा शीघ्र ही पूरी हो जायेगी । मुझे यह विश्वास हो चला है, कि हम सब कम या ज्यादा, दूसरों की सेवा में अवश्य लग जायेंगे । सच्चे सुख का यही एक मार्ग है ।"

जब गाँधीजी के आदेशानुसार जानकी देवी आन्दोलन में भाग लेकर जेल चली गई, तो यह समाचार पाकर जमनालाल जी बड़े प्रसन्न हुये । वे स्वयं भी उस समय नासिक जेल में बन्द थे, वहीं से उन्होंने पत्नी को पत्र भेजा जिसमें अपनी यह भावना बहुत जोर के साथ प्रकट की थी--

"मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया है और तुम किसी भी घटना का सामना करने को तैयार रहो । अब यह जान सकोगी कि जेल का जीवन क्या है ? अब तुम्हें शान्ति मिलेगी । यह सब इसलिये सम्भव हो सका है कि हमारे ऊपर ईश्वर की अनुकम्पा और बापू का आशीर्वाद है । इसी से हमारे अन्दर त्याग और सेवा की भावनायें भी आ सकी हैं और हमें अपनी कमजोरियों से बचने का अवसर मिल सका है । मैं तुम्हारी वीरता और चित्त की स्थिरता की प्रशंसा करता हूँ ।"

इतना ही नहीं उस समय देश के वातावरण को देखते हुए जमनालाल जी के हृदय में भी बलिदान की भावना उमड़ रही थी । उसे न दबा सके तो पत्नी को भेजे गये पत्र में उसका भी जिक्र कर दिया--

"मेरी यह कामना है कि यह सब या कम से कम हम में से एक का जो सबसे अधिक प्रिय हो, इस धर्म युद्ध में बलिदान होने का अवसर अवश्य आये । इससे हम बहुत प्रसन्न होंगे । प्रत्येक को एक न एक दिन तो मरना ही है। तो फिर इससे अच्छा अवसर और कब मिलेगा । अपने परिवार, जाति और देश का गौरव बढ़ाने के लिए मरा जाय ? अब गिरफ्तार होने में मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं

रहा, जो मैं चाहता हूँ वह है उसी तरह की नींद । ऐसा लगता है कि अर्ध तमों वस्तु के अस्तित्व काने हैं और वस्तु से दृश्यों में अवतीर्ण होता है । नवित्य वस्तु उज्ज्वल और स्पष्ट है ।"

अनेक लोग दूसरे सर्वांगीण आदर्शों के अनुसार पतिव्रता और हर प्रकार से कर्तव्यशालिनी नारी को इस प्रकार की बातें लिखने में कुछ अस्वाभाविकता का अनुभव करते होंगे । वे कहेंगे कि भारतीय मर्यादाओं और कोमल हृदय पत्नी अथवा माता से बलिदान के अन्तिम कदम की चर्चा करना एक प्रकार की कठोरता है । पर जमनालाल जी अपनी पत्नी या अन्य परिवार वालों से इस प्रकार की जो बातें करते थे । वह उनकी हित कामना और दृढ़ कर्तव्यपालन की भावना से होती थी । उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि यह सब बाह्य वैभव निस्सार है । इससे आत्म कल्याण के बजाय मनुष्य का आन्तरिक पतन ही अधिक होता है । विशेषकर भारतवर्ष के धनवान जिस प्रकार रुपया को अनुचित महत्व देने लगे थे और उसके आगे, नीति चरित्र, कर्तव्य तक की भी जिस प्रकार अवहेलना करने लगे थे, यह उनके हृदय को व्यथित करने लगा था।

अभी तक उनकी गिनती भी उन्हीं सेठों में की जाती थी और उनके सब निकट सम्बन्धी इसी मनोवृत्ति के थे । पर किसी आन्तरिक अथवा दैवी प्रेरणा से जमनालाल जी ने उस मनोवृत्ति के दोषों को समझ लिया और वे जान गये कि मानव-जीवन की सार्थकता का यह मार्ग नहीं है । इसलिये वे जान बूझकर गाँधीजी के सम्पर्क में आये और हठपूर्वक उनको 'पिता' बनाकर अपना सर्वस्व उनके युग परिवर्तनकारी कार्य की सफलता के लिये अर्पण कर दिया ।

उनका यह परिवर्तन एक महान घटना की तरह था और वे चाहते थे कि इसका लाभ उनके परिवार वाले भी प्राप्त करें । वे भी तुच्छ धन और जड़ पदार्थों के माया मोह से विरक्त होकर उच्च जीवन की ओर अग्रसर हों । इसीलिये उन्हें केवल अपनी पत्नी को ही नहीं वरन् पुत्र पुत्री, भतीजे और अन्य सम्बन्धियों को इसी प्रकार की प्रेरणा देना आरम्भ किया और उसका शुभ परिणाम यह हुआ, कि उनका कुटुम्ब सच्चे अर्थों में देशभक्तों का परिवार बन गया ।

जमनालाल जी की पत्नी जानकी देवी ने भी अपना कर्तव्य इतने प्रशंसनीय ढंग से पूरा किया कि जमनालाल जी के पश्चात् भी वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रगति की एक मुख्य अंग बन गईं । हमारे धर्म-ग्रन्थों में जो मा कहा गया है कि पत्नी को अपने पति की छाया बनकर रहन और अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में

जमनालाल जी के बड़े पुत्र कमलनयन भी अपने पिता के पद चिन्हों पर चल रहे थे । इस अवसर पर गाँधी जी ने उनसे कहा था--"हिन्दू धर्म में सबसे बड़ा पुत्र दूसरे पुत्रों की तरह अपने पिता की सम्पत्ति का वारिस तो होता ही है, मगर साथ ही साथ वह कुल धर्म का अपने पिता की नीति और सिद्धान्तों का भी संरक्षक बनता है । इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम व्यापार में लगे हो, लगे रहो, धन कमाना है तो कमाओ, लेकिन जमनालाल जी की तरह तुमको भी लोकहित के लिए अपनी सम्पति का संरक्षक बनकर रहना है । तुम अपनी कमाई का रुपया अपने लिए नहीं लोकसेवा के लिए खर्च करोगे, तभी तुम्हारा ट्रस्टीपन सार्थक हो सकेगा ।"

आजकल की स्कूली शिक्षा के दोषों को समझकर जमनालाल जी ने अपने पुत्र को किसी सरकारी स्कूल में नहीं भेजा । दूसरा कारण यह भी था, कि जब कमलनयन स्कूल जाने योग्य हुये, उस समय काँग्रेस ने सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों का बायकाट कर दिया था । जमनालाल जी उन नेताओं में से न थे जो दूसरों को त्याग और अनुशासन का उपदेश देकर स्वयं उसके विपरीत आचरण करते रहते है । इसलिये कमलनयन की प्रारम्भिक शिक्षा महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम में और विनोबा जी की देखरेख में हुई विनोबा जी ने उनको केवल पढ़ने लिखने और धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की शिक्षा नहीं दी वरन् एक सच्चे सत्याग्रही की
पीसना खेती का कार्य बगीचे की रखवाली
साफ करना तक सिखाया--महादेव देसाई से
कुछ अभ्यास किया । अन्त में गाँधी
और इंग्लैण्ड की शिक्षा संस्थाओं में
था ।
की आयु से ही सत्याग्रह
उनको सुप्रसिद्ध 'डण्डी नमक
रखा गया था ।
की दुकान के सामने धरना
पीटा कि वह बेहोश हो
अल्मोड़ा में गिरफ्तार
और पता न
के कैदियों में रखा
आन्दोलन में वे
गुप्त रूप से अँग्रेजी
करते रहे । उस
। जब कस्तूरबा
उनके स्थान पर
गये ।

जमनालाल जी का दूसरा पुत्र रामकृष्ण जन्म से ४-५ वर्ष की आयु तक तो साबरमती आश्रम में ही रहा । फिर वर्धा आकर वह प्राइवेट रूप से शिक्षा प्राप्त करता रहा । सन् १९३७ में जब देश में काँग्रेस मन्त्रिमण्डल बन गये और राष्ट्रीय विद्यालय खुल गये तो वह वर्धा के नवभारत विद्यालय में दाखिल कराया गया, जिससे वह कठिनाइयों का अनुभव कर सके, अन्य लड़कों के साथ समानता का भाव रखने लगे और स्वावलम्बी बन सके ।

सन् १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ होने पर रामकृष्ण ने उनमें भाग लेने का निश्चय किया । पर उसकी उम्र १८ वर्ष से कुछ महीने कम थी, इसलिए गाँधी जी ने उसे नाबालिग मानकर शामिल करने से इन्कार कर दिया । रामकृष्ण अपनी बात पर टिका रहा, जिससे गाँधीजी को उसे आज्ञा देनी पड़ी । उसने चार बार सत्याग्रह किया जिसमें दस महीने की सजा दी गयी । सन् १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी गिरफ्तार करके खूब पीटा गया, फिर पाँच साल की सजा दी गई ।

इस प्रकार जमनालाल जी के प्रभाव से उनका पूरा परिवार ही देश सेवा में संलग्न हो गया । उनके भतीजे राधाकृष्ण ने सन् १९४२ आन्दोलन में इतना अधिक भाग लिया कि उसे फाँसी का दण्ड होने की सम्भावना हो गई थी । जमनालाल जी की लड़कियों और जामाताओं ने भी गाँधी जी के कार्यों में पूरा भाग लिया था । मझली लड़की के पति श्रीमन्नारायन काँग्रेस के एक सुदृढ़ नेता थे और कई वर्षों तक काँग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रह चुके थे ।

जमनालाल जी ने अपना उदाहरण उपस्थित करके दिखा दिया है कि धनवान लोगों को देश तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किस प्रकार करना चाहिए । यद्यपि आजकल भी देश में सैकड़ों धनवान मौजूद हैं । जो सार्वजनिक कार्यों अथवा धार्मिक अनुष्ठानों में लाखों रुपया दान कर चुके हैं, पर उनकी गिनती देश के लिए त्याग करने वालों में नहीं की जा सकती । कारण यही है कि वे लोग वर्ष में पचास लाख या एक करोड़ रुपया आमदनी करके उसमें से धर्म के लिए भी दो चार लाख रुपया खर्च कर देते हैं । पर जमनालाल जी ने केवल अपना अधिकांश धन ही नहीं स्वयं को भी राष्ट्रीय आन्दोलन में समर्पित कर दिया और एक दृष्टि से स्वाधीनता यज्ञ में अपना आहूति दे दी । उनके इस 'आत्मसमर्पण' के रहस्य और महत्व को जो लोग समझते हैं, वे उनको केवल एक दानी सेठ या परोपकारी धर्मात्मा ही नहीं मानते वरन् एक सन्त या सच्चे त्यागी के रूप में देखते हैं ।

रहा, जो मैं चाहता हूँ वह है इसी तरह की मौत । ऐसा लगता है कि अभी हमें बहुत से अभिनय करने हैं और बहुत से दृश्यों में अवतीर्ण होना है । भविष्य बहुत उज्वल और स्पष्ट है ।"

अनेक लोग पुराने सामाजिक आदर्शों के अनुसार पतिव्रता और हर प्रकार से आज्ञाकारिणी नारी को इस प्रकार की बातें लिखने में कुछ अस्वाभाविकता का अनुभव करते होंगे । वे कहेंगे कि भारतीय ममतामयी और कोमल हृदय पत्नी अथवा माता से बलिदान ले अन्तिम कदम की चर्चा करना एक प्रकार की कठोरता है । पर जमनालाल जी अपनी पत्नी या अन्य परिवार वालों से इस प्रकार की जो बातें कहते थे । वह सबकी हित कामना और उच्च कर्तव्यपालन की भावना से होती थी । उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि यह सब बाह्य वैभव निस्सार है । इससे आत्म कल्याण के बजाय मनुष्य का आन्तरिक पतन ही अधिक होता है । विशेषकर भारतवर्ष के धनवान जिस प्रकार रुपया को अनुचित महत्व देने लगे थे और उसके आगे, नीति चरित्र, कर्तव्य तक की भी जिस प्रकार अवहेलना करने लगे थे, वह उनके हृदय को व्यथित करने लगा था।

अभी तक उनकी गिनती भी उन्हीं सेठों में की जाती थी और उनके सब निकट सम्बन्धी इसी मनोवृत्ति के थे । पर किसी आन्तरिक अथवा दैवी प्रेरणा से जमनालाल जी ने उस मनोवृत्ति के दोषों को समझ लिया और वे जान गये कि मानव-जीवन की सार्थकता का यह मार्ग नहीं है । इसलिये वे जान बूझकर गाँधीजी के सम्पर्क में आये और हठपूर्वक उनको 'पिता' बनाकर अपना सर्वस्व उनके युग परिवर्तनकारी कार्य की सफलता के लिये उत्सर्ग कर दिया ।

उनका यह परिवर्तन एक महान घटना की तरह था और वे चाहते थे कि इसका लाभ उनके परिवार वाले भी प्राप्त करें । वे भी तुच्छ धन और जड़ पदार्थों के माया मोह से विरक्त होकर उच्च जीवन की ओर अग्रसर हों । इसीलिये उन्हें केवल अपनी पत्नी को ही नहीं वरन् पुत्र-पुत्री, भतीजे और अन्य सम्बन्धियों को इसी प्रकार की प्रेरणा देना आरम्भ किया और उसका शुभ परिणाम यह हुआ, कि उनका कुटुम्ब सच्चे अर्थों में देशभक्तों का परिवार बन गया ।

जमनालाल जी की पत्नी जानकी देवी ने तो अपना कर्तव्य इतने प्रशंसनीय ढंग से पूरा किया कि जमनालाल जी के पश्चात् भी वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रगति की एक मुख्य अंग बन गईं । हमारे धर्म-ग्रन्थों में जो यह कहा गया है कि पत्नी को अपने पति की छाया बनकर रहना और अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में घुला देना चाहिये। जानकी देवी ने उसी आदर्श का अनुसरण किया। उनके सामने राष्ट्रमाता कस्तूरबा गाँधी का भी प्रत्यक्ष उदाहरण था, जो पुराने विचारों की वृद्ध नारी होने पर भी महात्मा गाँधी के समस्त क्रान्तिकारी कार्यों में सहयोग दे रही थीं और उनके मार्ग में वैसी कोई बाँधा पैदा नहीं कर रही थी, जैसा कि भारतीय घरों में प्रायः देखने को आता है । यहाँ हजारों होनहार सच्चे समाज सेवक केवल पत्नी और परिवार वालों के विरोध अथवा असहयोग के कारण ही अपने जीवन में कोई महत्वपूर्ण कार्य करने से वंचित रहते हैं । ऐसे व्यक्तियों के सामने जमनालाल और जानकी देवी ने एक आदर्श रखा कि किस प्रकार पति और पत्नी की अन्तरंग सहमति से परिवार जाति और समाज के लिए कल्याणकारी परिणाम उपलब्ध हो सकते हैं । देश के छोटे-बड़े धनवानों के लिए तो इन दोनों पति पत्नियों का उदाहरण एक बहुत बड़ी चीज है । अगर वे इसकी तह में उतर कर विचार करें तो सहज ही उस मार्ग को प्राप्त कर सकते हैं । जिससे उनका मानव-जन्म सफल हो सकता है । तब वे हजारों गुमनाम धनियों में से एक होने के बजाय (जिनको सामान्य व्यक्ति प्रायः कोसा ही करते हैं) वास्तविक रूप में जनता के श्रद्धाभाजन बनकर एक स्मरणीय स्थान के अधिकारी बन सकते हैं ।

सन्तान पर सुप्रभाव

जमनालाल जी के दाम्पत्य जीवन के विषय में यद्यपि कोई बाहरी व्यक्ति अधिक नहीं जान सकता, पर उससे उत्पन्न होने वाले फलों को देखकर हम उसको आदर्श ही कह सकते हैं । उनकी पत्नी जानकी देवी ने पति का निधन होने के पश्चात् 'अर्द्धांगिनी' का नाम चरितार्थ करने के लिए अपना जीवन सार्वजनिक सेवा के लिए अर्पित कर ही दिया । जमनालाल जी का आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने पर जब वह पागल-सी हो गई थी और उनकी देह के साथ सती हो जाना चाहती थी, तो गाँधी जी ने स्वयं उनसे कहा—"यह न समझो कि इस प्रकार सती हो जाने से लोग तुम्हारी पूजा करेंगे । इससे तो उल्टी निन्दा होगी । हाँ यदि कर सको तो योगाग्नि पैदा करो और उसमें भस्म होकर सती हो जाओ । लेकिन वह तो सम्भव नहीं । अब तो तुम्हें पति के पीछे उनकी जोगिन बनकर ही सती बनना है । तुम्हें जमनालाल के छोड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिए अपना सर्वस्व लगा देना है ।" यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जानकी देवी ने गाँधी जी का आदेश शिरोधार्य किया और अपनी समस्त सम्पत्ति जमनालाल जी के प्रिय कार्य गौ सेवा के लिये अर्पित कर दी ।

जमनालाल जी के बड़े पुत्र कमलनयन भी अपने पिता के पद चिन्हों पर चल रहे थे । इस अवसर पर गाँधी जी ने उनसे कहा था–"हिन्दू धर्म में सबसे बड़ा पुत्र दूसरे पुत्रों की तरह अपने पिता की सम्पत्ति का वारिस तो होता ही है, मगर साथ ही साथ वह कुल धर्म का अपने पिता की नीति और सिद्धान्तों का भी संरक्षक बनता है । इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम व्यापार में लगे हो, लगे रहो, धन कमाना है तो कमाओ, लेकिन जमनालाल जी की तरह तुमको भी लोकहित के लिए अपनी सम्पत्ति का संरक्षक बनकर रहना है । तुम अपनी कमाई का रुपया अपने लिए नहीं लोकसेवा के लिए खर्च करोगे, तभी तुम्हारा ट्रस्टीपन सार्थक हो सकेगा ।"

आजकल की स्कूली शिक्षा के दोषों को समझकर जमनालाल जी ने अपने पुत्र को किसी सरकारी स्कूल में नहीं भेजा । दूसरा कारण यह भी था, कि जब कमलनयन स्कूल जाने योग्य हुये, उस समय काँग्रेस ने सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों का बायकाट कर दिया था । जमनालाल जी उन नेताओं में से न थे जो दूसरों को त्याग और अनुशासन का उपदेश देकर स्वयं उसके विपरीत आचरण करते रहते है । इसलिये कमलनयन की प्रारम्भिक शिक्षा महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम में और विनोबा जी की देखरेख में हुई विनोबा जी ने उनको केवल पढ़ने लिखने और धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की शिक्षा नहीं दी वरन् एक सच्चे सत्याग्रही की तरह कातना, पीसना खेती का कार्य बगीचे की रखवाली और टट्टी साफ करना तक सिखाया–महादेव देसाई से उन्होंने अँग्रेजी का भी कुछ अभ्यास किया । अन्त में गाँधी जी के कहने से लंका और इंग्लैण्ड की शिक्षा संस्थाओं में रहकर भी अध्ययन किया था ।

कमलनयन ने १५ वर्ष की आयु से ही सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया था । उनको सुप्रसिद्ध 'डण्डी नमक सत्याग्रह' के लिए चुने गये सत्याग्रहियों में रखा गया था । पुष्कर (राजस्थान) अँग्रेजी शराब की दुकान के सामने धरना देते समय पुलिस ने उन्हें इतना पीटा कि वह बेहोश हो गये। इसके बाद इसी कार्य के लिए अल्मोड़ा में गिरफ्तार करके जेल का दण्ड दिया गया । अपना नाम और पता न बताने के कारण उनको 'सी' क्लास के कैदियों में रखा गया। सन् १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में वे जान-बूझकर गिरफ्तारी से बचे रहे और गुप्त रूप से अँग्रेजी शासन को उखाड़ने का कार्य जोरों से करते रहे । उस समय उनकी पत्नी भी गिरफ्तार कर ली गई । जब कस्तूरबा को भी गिरफ्तार कर लिया गया तो उन्होंने उनके स्थान पर खड़े होकर भाषण दिया और फिर गायब हो गये ।

जमनालाल जी का दूसरा पुत्र रामकृष्ण जन्म से ४-५ वर्ष की आयु तक तो साबरमती आश्रम में ही रहा । फिर वर्धा आकर वह प्राइवेट रूप से शिक्षा प्राप्त करता रहा । सन् १९३७ में जब देश में काँग्रेस मन्त्रिमण्डल बन गये और राष्ट्रीय विद्यालय खुल गये तो वह वर्धा के नवभारत विद्यालय में दाखिल कराया गया, जिससे वह कठिनाइयों का अनुभव कर सके, अन्य लड़कों के साथ समानता का भाव रखने लगे और स्वावलम्बी बन सके ।

सन् १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ होने पर रामकृष्ण ने उनमें भाग लेने का निश्चय किया । पर उसकी उम्र १८ वर्ष से कुछ महीने कम थी, इसलिए गाँधी जी ने उसे नाबालिग मानकर शामिल करने से इन्कार कर दिया । रामकृष्ण अपनी बात पर टिका रहा, जिससे गाँधीजी को उसे आज्ञा देनी पड़ी । उसने चार बार सत्याग्रह किया जिसमें दस महीने की सजा दी गयी । सन् १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी गिरफ्तार करके खूब पीटा गया, फिर पाँच साल की सजा दी गई ।

इस प्रकार जमनालाल जी के प्रभाव से उनका पूरा परिवार ही देश सेवा में संलग्न हो गया । उनके भतीजे राधाकृष्ण ने सन् १९४२ आन्दोलन में इतना अधिक भाग लिया कि उसे फाँसी का दण्ड होने की सम्भावना हो गई थी । जमनालाल जी की लड़कियों और जामाताओं ने भी गाँधी जी के कार्यों में पूरा भाग लिया था । मझली लड़की के पति श्रीमन्नारायन काँग्रेस के एक सुदृढ़ नेता थे और कई वर्षों तक काँग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रह चुके थे ।

जमनालाल जी ने अपना उदाहरण उपस्थित करके दिखा दिया है कि धनवान लोगों को देश तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किस प्रकार करना चाहिए । यद्यपि आजकल भी देश में सैकड़ों धनवान मौजूद हैं । जो सार्वजनिक कार्यों अथवा धार्मिक अनुष्ठानों में लाखों रुपया दान कर चुके हैं, पर उनकी गिनती देश के लिए त्याग करने वालों में नहीं की जा सकती । कारण यही है कि वे लोग वर्ष में पचास लाख या एक करोड़ रुपया आमदनी करके उसमें से धर्म के लिए भी दो चार लाख रुपया खर्च कर देते हैं । पर जमनालाल जी ने केवल अपना अधिकांश धन ही नहीं स्वयं को भी राष्ट्रीय आन्दोलन में समर्पित कर दिया और एक दृष्टि से स्वाधीनता यज्ञ में अपना आहूति दे दी । उनके इस 'आत्मसमर्पण' के रहस्य और महत्व को जो लोग समझते हैं, वे उनको केवल एक दानी सेठ या परोपकारी धर्मात्मा ही नहीं मानते वरन् एक सन्त या सच्चे त्यागी के रूप में देखते हैं ।

गोरक्षा या गौ-सेवा

जमनालाल जी सच्चे आस्तिक और धार्मिक हिन्दू थे। इसलिए सभी धर्म सिद्धान्तों आदेशों का पालन करने का वे हृदय से प्रयत्न करते रहते थे। वे रूढ़िवादी अथवा अंधश्रद्धालु नहीं थे। इसीलिए ऐसे विषयों में श्रद्धा के साथ ही विवेक से ही काम लेते थे। इस दृष्टि से उन्होंने हिन्दू-धर्म में गौ की महिमा को समझकर उसका वर्तमान युग के अनुकूल रूप में प्रचार करने का निश्चय किया। वैसे हिन्दू समाज में गौ-रक्षा का आन्दोलन साठ-सत्तर वर्ष से जोर पकड़ रहा था और देश के विभिन्न स्थानों में सैकड़ों गौ-शालायें स्थापित करके निराश्रित और लंगड़ी-लूली गायों की रक्षा का प्रयत्न किया जा रहा था। पर यह कार्य प्रणाली केवल अन्ध श्रद्धा पर आश्रित थी। इसलिए लाभकारी के बजाय हानिकारक ही सिद्धि हुई। इससे न तो गायों की नस्ल का सुधार हुआ और न गाय के दूध की उत्पत्ति बढ़ी। गौ रक्षा का जबानी आन्दोलन बढ़ता गया, पर देश में गौ दूध की उत्पत्ति और खपत्त निरन्तर घटती ही चली गई। व्यवसायी और ग्राहक दोनों गाय की अपेक्षा भैंस के दूध को गाढ़ा होने के कारण अधिक पसन्द करते थे। इसलिए व्याख्यानों और लेखों में गाय की प्रशंसा करते रहने पर भी व्यवहार में उसकी अवमानना ही होती रही। इसके पालन पोषण की तरफ उपेक्षा का भाव बतने से उसके दूध की मात्रा और भी घटती गई। लोगों के मुँह से प्रायः सुनने में आता था, दिन भर में आधा सेर दूध देने वाली गायों के रखने से क्या फायदा ? क्यों न उसके बजाय भैंस पाली जाय जो साधारणतः ५-७ सेर दूध देती है ?

गौ-समस्या की इस कठिनाई को जमनालाल जी ने अच्छी तरह समझा और कहा कि हमको गौरक्षा का नहीं गौ-सेवा का कार्यक्रम अपनाना चाहिए। यदि गौ को विकास करने का उचित अवसर दिया जाय, उसकी देख-रेख वैज्ञानिक तरीके से की जाय तो उसको आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाया जा सकता है। तब कोई भी चाहे वह गाय को माता के तुल्य पूजनीय मानता हो या न मानता हो तो भी वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। योरोप और अमरीका के निवासी हमारी तरह गौ-पूजक नहीं हैं और न वे मरने के बाद गाय के द्वारा वैतरणी पार करने की कथा में विश्वास रखते है, पर चूँकि वहाँ की गायें प्रतिदिन बीस सेर दूध देती हैं, इसलिए वे उनको बड़े यत्न से पालते-पोसते और आराम के साथ रखते हैं।

जमनालाल जी ने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपना जीवनक्रम ही बदल दिया। उन्होने सेवाग्राम के समीप ही 'गोपुरी' की स्थापना की और अपनी विशाल हवेली को छोड़कर वहीं एक कुटी बनवाकर रहने लगे। काका कालेकर जब उनसे वहाँ आकर मिले तो उन्होंने देखा कि —"उस कुटी का फर्श कच्चा, कठोर और ऊँचा-नीचा था। फर्नीचर के नाम सर सोने और उठने बैठने के लिए एक लम्बा तख्त [redacted]। जमनालाल जी वहाँ मूक पशुओं के बीच रहे, तमाम तकलीफें सहीं और अपना सारा समय गो सेवा में लगा दिया। वे वहाँ के वातावरण में प्रसन्न और सन्तुष्ट थे।"

एक अन्य लेखक के कथनानुसार "जमनालाल जी को प्रत्येक प्रकार के रचनात्मक राष्ट्रीय उत्थान के कार्यों से प्रेम था, परन्तु गो सेवा का काम उन्हें बहुत रुचिकर प्रतीत होता था। गाँधीजी के लिये गोरक्षा एक सिद्धान्त था, परन्तु जमनालाल जी की निगाह में अन्धाधुन्ध भक्ति के दृष्टिकोण से नहीं वरन् युक्तिवादी दृष्टिकोण से भी गो सेवा का आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण था। उनके लिए गो सुधार का अर्थ था—मानव जाति का सुधार। गो सेवा का अभिप्राय था मानवता की सेवा। जब गायों की नस्ल सुधरेगी तो खेती सुधरेगी और मनुष्यों को उत्तम भोजन प्राप्त होगा। भारत जैसे देश में जहाँ शाकाहारी लोगों की बहुत बड़ी जनसंख्या है, गाय के दूध से बढ़कर और कोई पूर्ण और पौष्टिक आहार नहीं। जब इन सब बातों पर सोचा गया तो गो सेवा और भी अनिवार्य प्रतीत हुई।"

यद्यपि गोसम्वर्धन का कार्यक्रम भी गाँधीजी ने ही उठाया था और उन्होंने जमनालाल जी को इस कार्य को करने का आदेश दिया था, तो भी उन दोनों के विचारों में कुछ मतभेद था। गाँधीजी अहिंसा की दृष्टि से पशुवध के विरोधी थे, पर साथ ही यह भी चाहते थे, कि दुर्बल और बीमार पशु राष्ट्र पर आर्थिक भार बनकर न रहे। इसके लिए उन्होंने जीवित तथा मृत पशुओं से खाद तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त करने का विचार प्रकट किया था। गाय का गोबर तथा मूत्र तो यहाँ सदा से उत्तम खाद माना जाता रहा है, गाँधीजी ने मृत पशुओं के चमड़े, हड्डी, सींग और मांस से भी अनेक प्रकार के लाभ उठाने की विधि बतायी।

पर जमनालाल जी एक कदम आगे बढ़कर गो पालन को आर्थिक दृष्टि से इतना लाभदायक बना देने के पक्ष मे थे कि फिर कोई उसे मारने का विचार ही न करे। जिस प्रकार उन्होंने खादी और हरिजन उत्थान के आन्दोलनों को व्यावहारिक रूप दिया था, उसी प्रकार वे एक व्यापारी की दृष्टि से गौसेवा के कार्य में भी जुट गये। वे गोपुरी की एक झोपड़ी में रहते हुए गायों को स्वयं स्नान कराते, उनका स्थान साफ करते, चारे दाने और दुहने की उचित व्यवस्था करते। गौ पालन के आधुनिक साधनों का भी उन्होंने

अध्ययन किया और उनसे जहाँ तक फायदा उठाया जा सकता था उसकी व्यवस्था की । उनको इस बात का बहुत खेद था कि आजकल गोरक्षिणी सभाएँ और पींजरापोल गलत रास्ते से काम करके बहुत सा धन खर्च कर डालते हैं और उनके द्वारा गो माता का कुछ भी वास्तविक हित नहीं होता ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने, अखिल भारतीय गो सेवा का आन्दोलन किया, जिसमें देश भर के बहुसंख्यक गौ-विशेषज्ञों ने भाग लिया । इस विषय के सर्वाधिक प्रसिद्ध ज्ञाता सर दातार सिंह को भी इसमें विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया । इस सम्मेलन के अध्यक्ष गाँधी जी थे और श्री विनोबा जी ने इसका उद्घाटन किया । यह सम्मेलन पर्याप्त सफल हुआ और उसमें विचार विमर्श करके एक अखिल भारतीय गौ सेवा संघ की स्थापना की गयी । यद्यपि इसके सात दिन बाद ही उनकी मृत्यु हो गई, पर फिर भी इस संस्था द्वारा गौओं के हितकारी अनेक कार्य किये गये।

आकस्मिक स्वर्गवास

यद्यपि जमनालाल जी का स्वास्थ्य अच्छा था और शारीरिक दृष्टि से वे पर्याप्त शक्तिशाली जान पड़ते थे, पर राष्ट्रीय आन्दोलन में निरन्तर अधिक परिश्रम करते रहने और कई बार की जेलयात्रा में कष्टमय जीवन व्यतीत करने के कारण आन्तरिक निर्बलता उत्पन्न हो गई थी । वे एक प्रसिद्ध धनी व्यक्ति थे और घर पर उनको सब तरह की सुख-सुविधाओं में रहने का अभ्यास था । पर सरकार से विरोध करने पर उन्होंने जेल में किसी प्रकार की रियायत ग्रहण नहीं की वरन् स्वयं अपनी इच्छा से 'तीसरी-श्रेणी' में रहे । इस प्रकार उन्होंने सत्याग्रही की हैसियत से सब तरह की तकलीफें सहन कीं और इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर हानिकारक पड़ा । यद्यपि वे स्वयं भी इस बात को समझते थे, पर मातृभूमि की वेदी पर अपना सब कुछ बलिदान करने की इच्छा उनको इसी मार्ग पर प्रेरित करती रही ।

१० फरवरी, १९४२ को जमनालाल जी गोपुरी से वर्धा आकर चीन के राष्ट्रनायक जनरल चांगकाई शेक के स्वागत तथा निवास की व्यवस्था करने में लगे थे, क्योंकि खबर आई थी कि गाँधीजी से भेंट करने वे शीघ्र ही वहाँ आने वाले हैं । उस रात को इसी सम्बन्ध में उनकी बातचीत महादेव भाई से होती रही । उन्होंने कहा "बापू मुझसे गौसेवा का काम लेना चाहते हैं पर बीच-बीच में ऐसे नये कार्य आ जाते हैं, कि मुझे छोड़कर यहाँ आना ही पड़ता है ।" महादेव भाई ने कहा—"लेकिन आपको तो संसार के एक महापुरुष को अपना अतिथि भी बनाना है और गौ सेवा भी करनी है, फिर क्या होगा ?"

दूसरे दिन जब सेवाश्रम में अपने निवास स्थान पर बैठे हुए गाँधीजी घनश्याम दास बिरला से बातचीत कर रहे थे तो अचानक खबर आई कि जमनालाल जी को खून का दौरा पड़ा है, कै हुई है और वे बेहोश हैं । उसी समय वर्धा से एक मोटर गाड़ी उस दवा को लेने आई जिसे गाँधीजी प्रायः खून का दौरा बढ़ने पर लिया करते थे । गाँधीजी तुरन्त ही दवा लेकर बिरला जी के साथ वर्धा को रवाना हो गये । उनके मुँह से निकला—"बड़ा गजब होगा, यदि वे जीवित न मिले !" उनकी आशंका ठीक निकली और उनके वर्धा पहुँचने के पहले जमनालाल जी का स्वर्गवास हो गया । यह घटना इस प्रकार अकस्मात् हुई कि जिसने सुना वही भौंचक्का रह गया । गाँधीजी, जमनालाल जी की पत्नी जानकी बाई ८० वर्ष की माता बिरडीबाई सब स्तब्ध रह गई और किसी के मुँह से एक शब्द भी कठिनता से न निकल सका ।

पर जो कुछ हो चुका कोई उसे लौटा सकने वाला न था । अब तो यह प्रश्न उठा कि उनका अन्तिम संस्कार कहाँ किया जाय ? गाँधीजी ने गोपुरी का ही नाम लिया क्योंकि वे अपना जीवन गोसेवा के लिए ही समर्पित हो चुके थे । गाँधीजी स्वयं शोकातुर थे, पर इस समय जमनालाल जी के परिवार वालों को धैर्य बँधाना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझकर वे बहुत कुछ शान्त बने रहे । उस समय जानकी देवी की अवस्था सर्वथा विक्षिप्तों की सी हो गई थी और वह पति के साथ सती होने की बात कहने लगी । तब गाँधी जी ने ही उसे वास्तविक कर्त्तव्य का बोध कराया ।

घनश्यामदास बिरला ने जो उस अवसर पर उपस्थित थे, कहा कि "ऐसे मौके पर हमारे यहाँ कोई शुभ संकल्प करने का रिवाज है ।" इस पर जानकीबाई ने अपने हिस्से की सब सम्पत्ति जमनालाल जी के आरम्भ किये गौ सेवा कार्य के लिए अर्पित कर दी । गाँधीजी ने इसे पर्याप्त न समझा और कहने लगे—"अपना सारा धन भगवान को देकर तुम भिखारिन बन गई हो, अब यदि लड़के खिलायेंगे तभी तुम खाना खा सकोगी । यदि वे न खिलायेंगे तो सेवाग्राम आकर मेरे भिक्षान्न में सम्मिलित हो जाना । अन्यथा इससे तो उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता । तुमको तो वही सब करना चाहिये, जो अब तक जमनालाल करते थे ।" जानकी देवी को आश्चर्य हुआ कि क्या ईश्वर इसे इन कामों को कर सकने की शक्ति देगा ? बिनोवा जी ने उन्हें समझाया कि जहाँ शुभेच्छा होती है, वहाँ उनको पूरा करने की शक्ति भी ईश्वर देता ही है ।

इस प्रकार एक महान् जीवन का अन्त हो गया यद्यपि उनका जन्म एक गरीब घर में हुआ था, पर भाग्य ने उन्हें अनायास ही एक बड़ा पूँजीपति बना दिया । 'पूँजीपति' शब्द वर्तमान युग में शुभेच्छा का प्रतीक नहीं माना जाता । गरीब वर्ग तो उसे स्पष्ट शब्दों में शोषक कहता ही है, अन्य लोग भी उसकी अर्थनीति को समाज के लिये कल्याणकारी नहीं बताते । कारण यही है कि अधिकांश पूँजीपतियों की दृष्टि में समाज के हित की अपेक्षा अपना मुनाफा ही सर्वोपरि होता है । ऐसे पूँजीपतियों की कमी नहीं जो धन कमाने के लिये हानिकारक वस्तुओं की मिलावट तथा शराब, सिगरेट जैसी घातक वस्तुओं का अधिकाधिक प्रचार करने में भी संकोच नहीं करते । ऐसी दशा में यदि उन पूँजीपतियों में से ऐसा व्यक्ति निकल आवे जो व्यापार में सत्य व्यवहार करता हुआ अपनी अधिकांश आय लोक कल्याण के लिये ही अर्पित कर देता है, तो यह साधारण महत्व की बात नहीं है !

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में जमनालाल जी ने स्वयं जिस प्रकार अपने परिवार तथा सम्पदा को अर्पित कर दिया उसका मुकाबला करने वाला उदाहरण कठिनता से ही मिल सकेगा । फिर उन्होंने जिस प्रकार व्यापार में असत्य व्यवहार से बचने और देशहित का ध्यान रखा वह और भी अधिक प्रशंसनीय है । इसीलिये हम उनके चरित्र को देशी-विदेशी सभी पूँजीपतियों के लिए अनुकरणीय समझते हैं । अगर लोग उनकी ही तरह अपने को धन का स्वामी समझने के बजाय संरक्षक (ट्रस्टी) मानें तो वर्तमान पूँजीवाद के बहुत से दोषों का अन्त हो सकता है और सामान्य जनता में पूँजीपतियों के विरुद्ध जो दुर्भावना पायी जाती है, उसका भी अंत हो सकता है । एक विद्वान के कथनानुसार "परिश्रम करके धन कमाना और फिर उसको अपने सुख अथवा विलास में व्यय न करके परोपकारार्थ देते रहना किसी तपस्या से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।" इस दृष्टि से जमनालाल जी के तुल्य उदाहरण का मिल सकना दुर्लभ है ।

पूँजीवाद का वर्तमान स्वरूप और उसका संशोधन

जमनालाल जी के जीवन से, जो एक बहुत बड़ी शिक्षा मिल सकती है, वह वर्तमान पूँजीवादी प्रथा के संशोधन से सम्बन्धित है । इस समय संसार के सामने यही सबसे बड़ी समस्या है । एक दृष्टि से इसे आधुनिक युग की समस्त हलचल और असन्तोष का मूल कारण कहा जा सकता है । इसके कारण मौजूदा दुनियाँ दो परस्पर विरोधी और अत्यन्त शक्तिशाली गुटों में बदल गई है, जिनके संघर्ष से किसी भी समय प्रलय-काण्ड का दृश्य उपस्थित हो सकता है । इसलिये लोक-मंगल के अभिलाषी और शान्तिवादी व्यक्ति निरन्तर पूँजीवाद की समस्या पर विचार करते रहते हैं।

वर्तमान युग में यह समस्या पहले यूरोपियन विचारकों के सम्मुख उपस्थित हुई, क्योंकि आज से दो-तीन सौ वर्ष पहले वहीं पूँजीवाद के ऐसे रूप का उदय हुआ, जिसका आधार गरीबों और निर्बलों का शोषण तथा धन और सत्ता का केन्द्रीयकरण करना था । यद्यपि आरम्भ में यह लोकतन्त्र के नाम से आगे आया और उसका उद्देश्य भी प्रजा को तत्कालीन निरंकुश राजाओं और उनके सरदारों तथा जागीरदारों के अत्याचारों से बचना घोषित किया गया । शीघ्र ही इस मार्ग पर चलने वाले प्रमुख व्यक्तियों को अधिकाधिक आर्थिक लाभ होने से स्वार्थपरता का नशा सवार हो गया । वे नये-नये उपायों द्वारा गरीबों का शोषण करने लगे । जब तक सब प्रकार का काम हाथ से होता था, कारखाने के मालिक, मजदूरों और कारीगरों के भरोसे रहते थे और उनके सुख-दुःख का ख्याल भी रखते थे । पर आगे चलकर पूँजीपतियों ने सबसे अधिक ध्यान मशीनों के आविष्कार और विकास पर देना शुरु किया, जिससे हाथ के काम का महत्व घट जाय और कारीगर तथा मजदूर मशीनों का मुकाबला न कर सकने के कारण उनके आश्रित बन जायें ।

पूँजीपतियों की यह मनोवृत्ति बढ़ते-बढ़ते इन दिनों चरम सीमा पर पहुँच गई और वे राष्ट्र की समस्त सम्पत्ति का स्वामी अथवा कर्ता-धर्ता अपने को ही समझने लगे हैं, यद्यपि सम्पत्ति के उत्पादन तथा साधनों की वृद्धि में समाज के सभी सदस्यों का सहयोग होता है । कल, कारखानों का निर्माण, संचालन और बिक्री की व्यवस्था भी बिना जन साधारण के सहयोग के सम्भव नहीं । पर इस सकृत्य-सिद्धान्त की अवहेलना करके पूँजीपतियों ने अनेक नैतिक उपायों का अवलम्बन करके उपार्जन के साधनों तथा समृद्धि के भण्डार पर अपना अधिकार जमा लिया और समाज के अधिकांश सदस्यों को उसके न्याययुक्त व्यवहार से वंचित कर दिया । इसी स्वार्थपरता की नीति ने समाज में फूट उत्पन्न करके उसे अनेक दलों और वर्गों में विभाजित कर दिया और इसके परिणाम स्वरूप सर्वत्र अशान्ति और असन्तोष का वातावरण व्याप्त हो गया ।

यह ठीक है कि कितने ही पूँजीपति लोक-कल्याण के कार्यों में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं और शिक्षा, चिकित्सा, चरित्र निर्माण, धर्म प्रचार आदि में बड़ी-बड़ी रकम खर्च करते रहते

है । अमरीका के कई धन कुबेरों ने बीसियों करोड़ की लागत के अस्पताल बनवाये हैं, और देश-विदेशों में युवकों की शिक्षा के लिए ही करोड़ों की ही धनराशि खर्च की है हमारे देश के पूँजीपति अब तक दान के नाम पर तीर्थों तथा बड़े-बड़े धर्मानुष्ठानों में काफी धन व्यय करते हैं, पर अब उनका इस प्रकार का परमार्थ समयोपयोगी सिद्ध नहीं हो रहा है और उससे समाज को लाभ की अपेक्षा हानि भी अधिक उठानी पड़ती है । इस प्रकार की आलोचना होने से अब यहाँ के पूँजीपतियों में से कितने ही विद्यालय, चिकित्सालय, वैज्ञानिक प्रयोगशालायें आदि की स्थापना की तरफ ध्यान देने लगे हैं ।

पर इन सब लोक-कल्याणकारी कार्यों से भी पूँजीवाद के समस्त दोषों का निराकरण नहीं हो सकता । दान-धर्म में अब अपनी आय का एक अंश खर्च कर देने पर भी अपने यहाँ काम करने वाले मजदूरों तथा अन्य कार्यकर्ताओं के प्रति उनका व्यवहार जैसा का तैसा रहता है । वे हर तरह से अपना मुनाफा अधिकाधिक बढ़ाकर जमीन, जायदाद, कल-कारखाने आदि का परिणाम बढ़ाते जाते हैं। परिणामस्वरूप समाज में आर्थिक वैषम्य उत्पन्न होता है और वर्ग कलह की वृद्धि होकर जनता की सुख-शान्ति खतरे में पड़ जाती है ।

पश्चिमी देशों में इस परिस्थिति का सुधार करने के लिए समाजवाद और साम्यवाद जैसे आन्दोलनों को आरम्भ किया गया है । उनके प्रभाव से गरीबों में जागृति होती है और वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने को तैयार हो जाते हैं । यह मार्ग भी सरल अथवा अप्रत्यक्ष तरीकों से उसी के हाथ में रहती है । इसलिए वह गरीबों को दबाने के लिए तरह-तरह के उपायों से काम लेते हैं, और उनको नये-नये बन्धनों में जकड़ते जाते हैं । इससे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है और वह सभ्यता तथा सहयोग के बजाय पाशविक प्रवृत्तियों को अपनाने लगता है ।

गाँधीजी ने पूँजीवाद और समाजवाद के इन दोषों को अच्छी तरह समझा था । इसलिये अपरिग्रह और परोपकार के प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों को आधुनिक युग के अनुकूल रूप में प्रचलित करने का प्रयत्न किया था । जमनालाल जी इस कार्य में उनके सबसे बड़े सहयोगी थे । असहयोग आन्दोलनों में भाग लेने वाले अधिकांश व्यक्ति गरीब अथवा साधारण आर्थिक स्थिति के थे । इसलिये गाँधीजी की बातें सर्वसाधारण की दृष्टि में एक आदर्शवाद ही मानी जाती थीं। पर जमनालाल जी ने स्वयं एक पूँजीपति होते हुये गाँधीजी के आदर्शों के अनुसार आचरण करके समाजवाद का एक नया रूप संसार को दिखला दिया । उन्होंने पूँजीपति का धन्धा करते हुए अपने कारोबार से सम्बन्धित सब कर्मचारियों के साथ, सब प्रकार से न्यायमुक्त व्यवहार किया, ग्राहकों के साथ सदैव ईमानदारी का ध्यान रखा और जो कमाया उसका अधिकांश राष्ट्रोत्थान में खर्च किया ।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय आदर्श यही है। संसार में आदि ग्रन्थ माने जाने वाले वेद स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

"शतहस्त समाहारः सहस्र हस्त संकिरः ।"

अर्थात्—"सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से खर्च करो—वितरण करो ।" धन कमाने में दोष नहीं है, पर उसका उपयोग समाज की वस्तु पर ही करना चाहिये । सम्पत्ति समाज में रहकर ही कमाई जा सकती है और सामाजिक वातावरण में ही उसे उपयोग में लाया जा सकता है । किसी निर्जन टापू में रहने वाले व्यक्ति को सोने वाला पहाड़ या हीरों की खान मिल जाय, तब भी उसका कोई मूल्य नहीं । इसलिये भारतीय मनीषियों ने यही उपदेश दिया है, कि मनुष्य इस संसार की वस्तुओं को संग्रह करके घर में बन्द करने की चेष्टा न करें वरन् समस्त पदार्थों का उपयोग आवश्यकतानुसार करके शेष भाग दूसरों के लिए छोड़ दें । क्योंकि ये समस्त पदार्थ किसी एक मनुष्य ने उत्पन्न नहीं किये हैं वरन् इनको उत्पन्न करने का श्रेय आदिशक्ति अथवा समग्र मानव समाज को है । अगर इस सिद्धान्त पर सच्चाई से अमल किया जाय, तो हम समाजवाद ही नहीं वरन् उस स्थिति पर पहुँच सकते हैं जिसे बन्धनमुक्त समाज कहा जा सकता है । जमनालाल जी गाँधीजी के आदेश से इसी मार्ग का अनुसरण करने लगे थे और उसमें सफलता भी प्राप्त करके दिखा दी थी । यह दिन हमारे जीवनकाल में या एक दो पीढ़ी के पश्चात् ही आ सकता है, जबकि समस्त समाज स्वेच्छा से या परिस्थितियों के वशीभूत होकर इसी मार्ग पर चलने लगे । उस समय लोग जमनालाल जी जैसे महापुरुषों के महत्व को अनुभव करेंगे।

वृहत् भारत के विश्वकर्मा श्री विश्वेश्वरैया

श्री विश्वेश्वरैया जिन दिनों मैसूर के दीवान थे, एक दिन सरकारी काम से कहीं दौरे पर जा रहे थे । यह सूचना किसी प्रकार एक मार्ग के स्कूल में पहुँच गई । मास्टर इस अवसर को उत्तम समझकर सड़क पर पहुँचकर खड़ा हो गया और जब श्री विश्वेश्वरैया की कार आई, तो उसे रोककर उसने प्रार्थना की कि वे स्कूल के बच्चों को दर्शन दें। यद्यपि उनको जाने की जल्दी थी, पर छोटे बच्चों के आग्रह को वे टाल न सके और गाड़ी से उतरकर पाँच-सात मिनट के लिए स्कूल के कमरे में चले गये । मास्टर ने

कर दी, जिससे इनका ट्यूशन करना छूट गया और ये पूर्ण मनोयोग के साथ कालेज की पढ़ाई करने लगे ।

परिश्रमी तो ये पहले से ही थे, अब कालेज में सब तरह की सुविधा पाकर इन्होंने एक निश्चित कार्यक्रम बनाकर तदनुसार रहन-सहन और अध्ययन करना आरम्भ किया । अति परिश्रम के साथ, समय पालन का अद्भुत गुण था । समय का मूल्य इनकी दृष्टि में संसार की सारी सम्पदाओं से अधिक था । इनका कहना था कि जो व्यक्ति अपना एक मिनट भी खराब करता है, वह एक प्राणी की हिंसा करने के समान पाप करता है । समय का मूल्य एवं महत्व न समझने वाले व्यक्ति संसार में कभी कुछ नहीं कर सकते । उनकी सारी जिन्दगी यों ही इधर उधर करने मे बीत जाती है ।

ये कहा करते थे कि यदि हम समय का सदुपयोग नहीं करेंगे, तो समय ही हमें बर्बाद कर देगा । यदि हम जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसका मूलमन्त्र है-'समय का सदुपयोग ।' यह केवल उनका कथन मात्र ही न था अपितु उन्होंने अपने जीवन में इसे पूर्णतः चरितार्थ किया था । विद्यार्थी-जीवन से विश्वेश्वरैया समय के अत्यन्त पाबन्द थे । प्रत्येक कार्य नियत समय पर करते थे । उनके पढ़ने-लिखने, सोने, जागने का समय नियत था । आरम्भ से ही उन्हें टाइमटेबिल बनाकार कार्य करने की आदत थी । उनकी महानताओं, का उपलब्धियों का यही रहस्य था । टाइमटेबिल के अनुसार प्रत्येक कार्य नियत समय पर करने से वे अपने उद्देश्य में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त करने लगे और इन्जीनियरी की परीक्षा उन्होंने समय से पहले ही बड़ी योग्यता के साथ उत्तीर्ण कर ली । उनको बम्बई विश्वविद्यालय में सबसे सर्वोच्च स्थान मिला और इसलिये कालेज से निकलते ही सहायक इन्जीनियर की नौकरी मिल गई ।

सार्वजनिक लाभ के निर्माण-कार्य

तेईस वर्ष की उम्र में इतनी बड़ी नौकरी मिल जाने से यद्यपि उनकी आर्थिक समस्याएँ हल हो गईं, पर उनका उद्देश्य केवल पेट भर लेना अथवा आराम की जिन्दगी व्यतीत कर लेना न था वरन् इन्जीनियरी के क्षेत्र में जिसमें उस समय तक अँग्रेजों का ही बोलबाला था और भारतीय प्रायः सहायक पद पर ही रखे जाते थे, कुछ महत्वपूर्ण कार्य करके दिखाना था । इसलिये उन्होंने आरम्भ से ही अपना काम पूरे परिश्रम और दक्षता से करना आरम्भ किया, नौकर होने के कुछ दिनों बाद ही उनको धूलिया नदी के नीचे होकर

सिंचाई के लिए बड़े नल लगाने का कार्य सौंपा गया । कार्यारम्भ के कुछ समय बाद ही वर्षा प्रारम्भ हो गई और नदी के तले को खोदकर तथा चट्टानों को काटकर जितनी खाई खोदी जाती थी, उसमें बार-बार बालू भर जाती थी । उसे निकालने में खर्च बढ़ता था, इसलिए उन्होंने अपने बड़े अधिकारी को लिखा कि-"अच्छा हो इस कार्य को बरसात के बाद किया जाय ।" इस पर अफसर के यहाँ से लिखकर आया कि-"सबसे पहले निर्माण कार्य में ही इस प्रकार अनुत्साह प्रकट करना शोभनीय नहीं है ।" बस वे सब प्रकार की कठिनाइयों का ध्यान छोड़कर काम पर डट गये और लगातार नदी के किनारे पर रहकर कार्य का निरीक्षण करने लगे । उच्च अधिकारी की मुस्तैदी से सब कर्मचारी भी पूरी मेहनत के साथ काम करने लगे । परिणामस्वरूप नल लगाने का कार्य सन्तोषजनक ढंग से होने लगा और उसके पूरे होने पर बड़े इन्जीनियर ने अपने शब्दों को स्वयं ही काटकर उनकी बहुत प्रशंसा लिखकर भेजी ।

वर्तमान समय में हम सरकारी कामों में जो लापरवाही और तरह-तरह की खराबियाँ देखते हैं, उसका मुख्य कारण यही होता है कि बड़े अधिकारी स्वयं परिश्रम न करके कार्य भार छोटे कर्मचारियो पर छोड़ देते हैं और वे लोग प्रायः कार्य की सफलता और उत्तमता की अपेक्षा 'कमाई करने' पर अधिक ध्यान देते हैं । यही कारण है कि आजकल बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्यों में हद दर्जे की खराबी दिखायी पड़ती है, और लाखों रुपया गबन होने के समाचार पढ़ने में आते हैं । इस सबका कारण बड़े अधिकारियों की सुस्ती या अन्य प्रकार की बेईमानी ही होती है ।

इसके पश्चात् तो उनको एक के बाद एक महत्व के काम दिये जाने लगे । उनकी सफलताओं को देखकर बड़े इन्जीनियर ने पूछा कि -"तुमने इन्जीनियरिंग महकमे की विभागीय परीक्षा के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा ? इसके बिना न तो नौकरी पक्की समझी जाती है और न आगामी वेतन वृद्धि का मार्ग खुलता है ।" आपने तो यह सोचकर कि अभी उनको नौकरी करते ११ महीने ही हुये हैं, जब कि अधिकांश इन्जीनियर उसमें २-३ वर्ष बाद बैठते हैं, प्रयत्न नहीं किया था, पर बड़े इंजीनियर ने आग्रह करके इन्हें प्रविष्ट करा दिया और उसमें उत्तीर्ण होकर ये बीस महीने के भीतर ही प्रथम श्रेणी में पहुँच गये, तब उनका वेतन भी ५०० मासिक हो गया ।

इस प्रकार कुछ वर्ष तक विभिन्न स्थानों में कार्य करते हुए उनको अपनी योग्यता दिखाने का एक विशेष अवसर प्राप्त हुआ । सक्खर (सिन्धु) में सरकार की

कहा--"कृपया बच्चों के सम्मुख दो शब्द कह दीजिये ।" विश्वेश्वरैया बिना पहले से सोचे-समझे और तैयारी किये किसी सार्वजनिक संस्था में नहीं बोलते थे, पर बच्चों के प्रेमवश उन्होंने यों ही दो-चार बातें कह दीं । बच्चे खुश हो गये और उनको बारम्बार धन्यवाद देने लगे ।

पर विश्वेश्वरैया ने अनुभव किया कि उनका भाषण छात्रों के उपयुक्त न था । इसलिए वे मास्टर को सूचना देकर दो-चार दिन बाद फिर उस स्कूल में पहुँचे और लड़कों के सामने एक सारगर्भित और शिक्षाप्रद भाषण दिया, जिससे छात्रवृन्द ही नहीं, समस्त ग्रामवासी बहुत प्रभावित हुये । अगर वे यह सोचकर रह जाते कि छोटे लड़के अच्छे या साधारण भाषण को नहीं समझ सकते तो उनसे कोई कुछ कहने वाला नहीं था । पर उनका आरम्भ से ही यह सिद्धान्त था कि कोई भी काम कभी घटिया ढंग से नहीं करना चाहिए। हलके ढंग से उस समय काम भले ही चल जाय पर उसमें स्थायित्व नहीं आ सकता । इसलिये कैसा भी अवसर क्यों न हो, मनुष्य को अपना स्तर नहीं घटाना चाहिए। ऊँचा स्तर रखने से उसका प्रभाव अच्छा ही पड़ता है और आज नहीं तो कल लोग उसकी तरफ आकर्षित होते ही हैं ।

इसी प्रकार ईमानदारी की प्रवृत्ति भी उनमें जन्मजात थी । जब उनको अपनी जन्मभूमि मैसूर का दीवान बनाया गया, तो सबसे पहले वे नियुक्ति के पत्र को लेकर अपनी माता के पास गये और उसे यह संवाद सुनाकर एक प्रार्थना की कि "मुझसे कभी किसी की सिफारिश न करना ।" वे जानते थे कि वंश का स्थायी निवास स्थान होने के कारण यहाँ हमारे अनेक सम्बन्धी और पुराने इष्ट मित्र रहते है । ऐसा सुअवसर पाकर उनमें से अनेक उचित और अनुचित लाभ उठाना चाहेंगे, जिससे लोगों को आक्षेप करने का मौका मिलेगा, यह सोचकर उन्होंने पहले ही अपना आदर्श घर वालों के सामने स्पष्ट कर दिया और जब तक दीवान के पद पर रहे अपने किसी रिश्तेदार को सरकारी नौकरी पर नियुक्त नहीं किया ।

आपको आजीवन देश सेवा में संलग्न रहने के उपलक्ष्य में देश को सबसे बड़ी उपाधि 'भारतरत्न' प्रदान की गई तो उसे ग्रहण करने को आपको दिल्ली जाना पड़ा । सरकारी मेहमान होने के कारण आप राष्ट्रपति भवन में ठहराये गये। । तीसरे दिन राजेन्द्र बाबू के पास पहुँचे और विदा माँगी । राजेन्द्र बाबू ने कुछ दिन और ठहरने को कहा तो उन्होंने बताया कि --"राष्ट्रपति भवन में तीन दिन ठहरने का नियम लिखा हुआ है । उसके अनुसार अब मैं इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र रहूँगा ।" राजेन्द्र बाबू ने कहा--"यह पुराना नियम यो ही चला आ रहा है । आप इसका ख्याल न करें ।" पर श्री विश्वेश्वरैया फिर वहाँ न ठहरे, अपने रहने की किसी और जगह व्यवस्था कर ली ।

एक बड़ी सरकारी नौकरी करते हुए सच्चाई और ईमानदारी का इतनी दृढ़ता के साथ पालन करने वाले श्री मौक्षगुण्डम् विश्वेश्वरैया (१५ सितम्बर सन् १८६१ मुदेनाहल्ली गाँव में) का जन्म कोलार जिला मैसूर के पं. श्रीनिवास शास्त्री के गरीब घर मे हुआ था । उनके पिता की इतनी सामर्थ्य नहीं थी, कि उनको अच्छी तरह पढ़ा-लिखा सकें । इस बालक के मन में इतना शौक था कि अनेक प्रकार के विघ्न बाधा सामने होते हुए भी उसने गाँव के स्कूल की पढ़ाई घर में रहकर ही पूरी कर ली । इसके बाद वहाँ प्रगति का रास्ता बन्द था और यदि आगे पढ़ना हो तो किसी दूरवर्ती स्थान में जाना अनिवार्य था । उनके पिता के पास तो गाँव की पढ़ाई का खर्च भी न था, हाईस्कूल और कालेज की व्यवस्था स्वप्न में भी सम्भव न थी फिर जब यह पन्द्रह वर्ष की आयु के थे । इनके पिता का देहान्त हो गया, लालन-पालन का सारा भार माता के कन्धों पर आ पड़ा ।

स्वावलम्बन द्वारा उच्च शिक्षा

पर इस बालक ने जिसके हृदय में विद्याध्ययन की सच्ची आकांक्षा मौजूद थी, इन कठिनाइयों की तरफ कुछ भी ध्यान नहीं दिया । वह अपने गाँव को छोड़कर बंगलौर पहुँच गया । बंगलौर एक बड़ा शहर है और वहाँ बिना पैसे के किसी का गुजारा होना सम्भव नहीं । इधर बालक को पैसा मिलने का कोई सहारा नहीं था । पर उसने हिम्मत न हारी । वह एक दूर के रिश्तेदार के घर में रहने लगा । घर में स्थान की कमी होने से एक मन्दिर में सोने की व्यवस्था बनायी । भोजन के लिए अपनी आयु से भी छोटे कुछ बालकों का ट्यूशन करना आरम्भ कर दिया । इस प्रकार बाधाओं और कठिनाइयों से जूझते हुए श्री विश्वेश्वरैया ने मैट्रिक और बी. ए. की परीक्षाएँ पास कर लीं ।

मद्रास के जिस कालेज से उन्होंने बी. ए. की परीक्षा पास की थी, उसका अँग्रेज प्रिंसीपल इनकी विद्याध्ययन की लगन और सौम्य स्वभाव से प्रभावित हुआ और उसने पूना के साइंस कालेज के प्रिंसीपल के नाम एक पत्र लिखकर विश्वेश्वरैया को वहाँ भेज दिया । उक्त पत्र में इनकी प्रशंसा पढ़कर व गुणों का परिचय पाकर साइंस कालेज का प्रिंसीपल भी बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने इनको इंजीनियरी कालेज में दाखिल कर लिया । साथ मे उसने बजीफा की व्यवस्था

कर दी, जिससे इनका ट्यूशन करना छूट गया और ये पूर्ण मनोयोग के साथ कालेज की पढ़ाई करने लगे ।

परिश्रमी तो ये पहले से ही थे, अब कालेज में सब तरह की सुविधा पाकर इन्होंने एक निश्चित कार्यक्रम बनाकर तदनुसार रहन-सहन और अध्ययन करना आरम्भ किया । अति परिश्रम के साथ, समय पालन का अद्भुत गुण था । समय का मूल्य इनकी दृष्टि में संसार की सारी सम्पदाओं से अधिक था । इनका कहना था कि जो व्यक्ति अपना एक मिनट भी खराब करता है, वह एक प्राणी की हिंसा करने के समान पाप करता है । समय का मूल्य एवं महत्व न समझने वाले व्यक्ति संसार में कभी कुछ नहीं कर सकते । उनकी सारी जिन्दगी यों ही इधर उधर करने में बीत जाती है ।

ये कहा करते थे कि यदि हम समय का सदुपयोग नहीं करेंगे, तो समय ही हमें बर्बाद कर देगा । यदि हम जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसका मूलमन्त्र है-'समय का सदुपयोग ।' यह केवल उनका कथन मात्र ही न था अपितु उन्होंने अपने जीवन में इसे पूर्णतः चरितार्थ किया था । विद्यार्थी-जीवन से विश्वेश्वरैया समय के अत्यन्त पाबन्द थे । प्रत्येक कार्य नियत समय पर करते थे । उनके पढ़ने-लिखने, सोने, जागने का समय नियत था । आरम्भ से ही उन्हें टाइमटेबिल बनाकर कार्य करने की आदत थी । उनकी महानताओं, का उपलब्धियों का यही रहस्य था । टाइमटेबिल के अनुसार प्रत्येक कार्य नियत समय पर करने से ये अपने उद्देश्य में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त करने लगे और इन्जीनियरी की परीक्षा उन्होंने समय से पहले ही बड़ी योग्यता के साथ उत्तीर्ण कर ली । उनको बम्बई विश्वविद्यालय में सबसे सर्वोच्च स्थान मिला और इसलिये कालेज से निकलते ही सहायक इन्जीनियर की नौकरी मिल गई ।

सार्वजनिक लाभ के निर्माण-कार्य

तेईस वर्ष की उम्र में इतनी बड़ी नौकरी मिल जाने से यद्यपि उनकी आर्थिक समस्याएँ हल हो गई, पर उनका उद्देश्य केवल पेट भर लेना अथवा आराम की जिन्दगी व्यतीत कर लेना न था वरन् इन्जीनियरी के क्षेत्र में जिसमें उस समय तक अँग्रेजों का ही बोलबाला था और भारतीय प्रायः सहायक पद पर ही रखे जाते थे, कुछ महत्वपूर्ण कार्य करके दिखाना था । इसलिये उन्होंने आरम्भ से ही अपना काम पूरे परिश्रम और दक्षता से करना आरम्भ किया, नौकर होने के कुछ दिनों बाद ही उनको धूलिया नदी के नीचे होकर सिंचाई के लिए बड़े नल लगाने का कार्य सौंपा गया । कार्यारम्भ के कुछ समय बाद ही वर्षा प्रारम्भ हो गई और नदी के तले को खोदकर तथा चट्टानों को काटकर जितनी खाई खोदी जाती थी, उसमें बार-बार बालू भर जाती थी । उसे निकालने में खर्च बढ़ता था, इसलिए उन्होंने अपने बड़े अधिकारी को लिखा कि-"अच्छा हो इस कार्य को बरसात के बाद किया जाय ।" इस पर अफसर के यहाँ से लिखकर आया कि-"सबसे पहले निर्माण कार्य में ही इस प्रकार अनुत्साह प्रकट करना शोभनीय नहीं है ।" बस ये सब प्रकार की कठिनाइयों का ध्यान छोड़कर काम पर डट गये और लगातार नदी के किनारे पर रहकर कार्य का निरीक्षण करने लगे । उच्च अधिकारी की मुस्तैदी से सब कर्मचारी भी पूरी मेहनत के साथ काम करने लगे । परिणामस्वरूप नल लगाने का कार्य सन्तोषजनक ढंग से होने लगा और उसके पूरे होने पर बड़े इन्जीनियर ने अपने शब्दों को स्वयं ही काटकर उनकी बहुत प्रशंसा लिखकर भेजी ।

वर्तमान समय में हम सरकारी कामों में जो लापरवाही और तरह-तरह की खराबियाँ देखते हैं, उसका मुख्य कारण यही होता है कि बड़े अधिकारी स्वयं परिश्रम न करके कार्य भार छोटे कर्मचारियों पर छोड़ देते हैं और वे लोग प्रायः कार्य की सफलता और उत्तमता की अपेक्षा 'कमाई करने' पर अधिक ध्यान देते हैं । यही कारण है कि आजकल बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्यों में हद दर्जे की खराबी दिखायी पड़ती है, और लाखों रुपया गबन होने के समाचार पढ़ने में आते है । इस सबका कारण बड़े अधिकारियों की सुस्ती या अन्य प्रकार की बेईमानी ही होती है ।

इसके पश्चात् तो उनको एक के बाद एक महत्व के काम दिये जाने लगे । उनकी सफलताओं को देखकर बड़े इन्जीनियर ने पूछा कि -"तुमने इन्जीनियरिंग महकमे की विभागीय परीक्षा के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा ? इसके बिना न तो नौकरी पक्की समझी जाती है और न आगामी वेतन वृद्धि का मार्ग खुलता है ।" आपने तो यह सोचकर कि अभी उनको नौकरी करते ११ महीने ही हुये हैं, जब कि अधिकांश इन्जीनियर उसमे २-३ वर्ष बाद बैठते हैं, प्रयत्न नहीं किया था, पर बड़े इंजीनियर ने आग्रह करके इन्हें प्रविष्ट करा दिया और उसमें उत्तीर्ण होकर ये बीस महीने के भीतर ही प्रथम श्रेणी में पहुँच गये, तब उनका वेतन भी ५०० मासिक हो गया ।

इस प्रकार कुछ वर्ष तक विभिन्न स्थानों में कार्य करते हुए उनको अपनी योग्यता दिखाने का एक विशेष अवसर प्राप्त हुआ । सक्खर (सिन्धु) में सरकार की तरफ से

'वाटर-वर्क्स' का निर्माण किया जा रहा था । उसके यूरोपियन इन्जीनियर का देहान्त हो जाने से एक नये योग्य कार्यकर्ता की आवश्यकता पड़ी और उसके लिए श्री विश्वेश्वरैया का नाम पेश किया गया । उनके बड़े अफसर ने उनकी बहुत प्रशंसा लिखकर भेजी और सरकार ने इस नियुक्ति के लिए तुरन्त मंजूरी दे दी । वे सन् १८९४ के फरवरी मास में सक्खर पहुँचे । वहाँ वाटर वर्क्स बनाने में मुख्य कठिनाई थी, कि सिन्धु नदी के गन्दे जल को साफ करने के लिए तीन टंकियों के निर्माण की आवश्यकता थी, उनके लिए वहाँ की नगरपालिका के पास पर्याप्त धन न था । इसलिये श्री विश्वेश्वरैया ने एक उपाय सोचा और नदी तट के समीप ही दो कुयें खोदकर उनका जल पम्प द्वारा वाटर वर्क्स के तालाब में भेजा जाने लगा । इस तरह बहुत कम खर्च में नगर को काफी मात्रा में जल मिलने की व्यवस्था हो गई । यद्यपि आपने यह कार्य एक सरकारी कर्मचारी की हैसियत से ही किया था, पर उद्देश्य की पूर्ति की तरफ उनकी हार्दिक लगन और तत्परता को देखकर समस्त नगर निवासियों ने उनका बड़ा आभार माना और जलाशय के बाहर एक शिला लेख लगाकर उनकी सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई । बम्बई के गवर्नर लार्ड सैण्डहर्स्ट ने भी उक्त वाटर वर्क्स का उद्घाटन करते हुए कहा था–

"आपने इस निर्माण कार्य का जो इतिहास पढ़कर सुनाया है, वह अत्यन्त रोचक है । इससे ज्ञात होता है कि आपने एक अत्यन्त योग्य इन्जीनियर की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए बड़ी सावधानी से कार्य लिया ।"

सक्खर नगरपालिका ने भी अपनी तरफ से एक प्रस्ताव पास करके कृतज्ञता का भाव प्रकट किया कि–"श्री विश्वेश्वरैया ने सक्खर की कष्टप्रद जलवायु को सहन करते हुए बड़ी सावधानी, योग्यता, उत्साह और आत्म-त्याग की भावना से कार्य किया और अपेक्षाकृत थोड़े समय मे वाटर वर्क्स का निर्माण कार्य पूरा कर दिया ।"

श्री विश्वेश्वरैया का यह उदाहरण बताता है कि मनुष्य किसी भी छोटे या बड़े दर्जे अथवा स्थिति पर काम करते हुए सच्चाई और ईमानदारी का परिचय दे सकता है, और उसके द्वारा जनता तथा अधिकारियों की भी प्रशंसा प्राप्त कर सकता है । जो लोग सरकार की, लोगों की शिकायत करते रहते हैं और सभी लोगों को पक्षपाती, स्वार्थी अथवा भ्रष्टाचारी बताते हैं, वे वास्तव में स्वयं ही अयोग्य अथवा दोषयुक्त होते हैं । ऐसा बहुत ही कम सम्भव है कि वास्तव में सच्चाई और ईमानदारी से अपना कर्तव्य पालन करते रहने वाले व्यक्ति को अधिक समय तक उपेक्षित दशा में रहना पड़े । इसलिये हमारा पहला कर्त्तव्य यही है कि अपना सुधार करें और जो कुछ काम करना पड़े, उसमें सेवा की भावना रखें ।

किसानों के हित का संरक्षण

इसके पश्चात् आपको पूना जिले की सिंचाई व्यवस्था का सुधार करने को भेजा गया । यह भू-भाग बम्बई प्रान्त में सिंचाई की दृष्टि से दूसरे नम्बर का समझा जाता था । पर नहरों का पानी वितरण करने में यहाँ उचित व्यवस्था का अभाव था । किसान लोग मनमाने ढंग से पानी लेते रहते थे, जिससे बहुत सा पानी बर्बाद हो जाता था । इसलिए श्री विश्वेश्वरैया ने एक नई व्यवस्था बनायी जिससे प्रत्येक विभाग के किसानों को बारी-बारी से दस दिन तक पानी मिलता था । यद्यपि यह प्रणाली सबके लिए लाभदायक थी, पर जिन किसानों को इच्छानुसार जल का प्रयोग करने का अभ्यास पड़ा था, उन्होंने इसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया । वे लोग पूना के निकट के ही रहने वाले थे और अनेक प्रभावशाली नागरिकों से उनका सम्बन्ध भी था, इसलिए इस सम्बन्ध में पूरा आन्दोलन ही खड़ा हो गया । लोकमान्य तिलक के 'केसरी पत्र' में भी इस सम्बन्ध में बहुत सी शिकायतें छपीं यद्यपि सरकार ने इस सम्बन्ध में पूरा अधिकार इन्हीं को दे रखा था, पर जनता की भावनाओं का ख्याल करके उन्होंने किसी तरह की जबरदस्ती करने का विचार नहीं किया । इसके बजाय वे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से मिले और फर्ग्यूसन कालेज के प्रिंसीपल श्री परांजपे से कहकर कालेज के हाल में किसानों की एक सभा आयोजित की । सभा में प्रमुख किसानों तथा सिंचाई विभाग के छोटे कर्मचारियों को भी उपस्थित रहने को कहा गया । श्री विश्वेश्वरैया ने किसानों को समझाया कि हम इस बात की जाँच करने को तैयार हैं, कि प्रत्येक क्षेत्र में दस दिन के भीतर जितना पानी दिया जायगा, वह उसके लिए पर्याप्त होगा या नहीं ? वर्तमान समय में किसानो को जितना पानी मिल रहा है, हमारी व्यवस्था के अनुसार उसकी अपेक्षा अधिक ही मिल सकेगा । अन्तर केवल इतना है कि उसकी सुव्यवस्था हो जाने पर बर्बादी रुक जायेगी । अगर किसान नहर के जल का बँटबारा आपस में स्वयं कर सकें तो हम इसका प्रबन्ध उनको दे देने को भी राजी हैं । हमारा उद्देश्य यही है कि सबको समान रूप से जल उपलब्ध हो सके । ऐसा न हो कि एक किसान तो आवश्यकता से अधिक लेकर उसे नष्ट करे और दूसरे के खेतों को कम मिलने से फसल खराब हो जाय ।

श्री विश्वेश्वरैया के सहानुभूतिपूर्ण और निष्पक्ष वक्तव्य का प्रभाव सब लोगों पर पड़ा और किसान तथा नागरिक दोनों ने उनकी व्यवस्था की उपयोगिता को स्वीकार कर लिया । केसरी के सहकारी संचालक श्री एन. सी. केलकर ने इस समस्या की पूरी तरह जाँच-पड़ताल की और इसे सब प्रकार से लाभदायक स्वीकार किया । तब इन्होंने इस सम्बन्ध में कई लेख केसरी में लिखे, जिनसे अधिकांश लोगों का मत परिवर्तन हो गया और समस्या सहज ही में सुलझ गई ।

बाँधों के लिये स्वचालित फाटक

पूना नगर और उसके पास बहने वाली एक नहर में 'लेक फाइफ' नामक जिस झील से पानी आता था, उसके बाँध का निर्माण पुराने ढंग पर हुआ था और इस कारण उसमें से प्रतिवर्ष बहुत सा पानी निकलकर बर्बाद हो जाता था । इधर शहर में प्रायः पानी की कमी की शिकायत बनी रहती थी । जब इसको ठीक करने का भार श्री विश्वेश्वरैया को दिया गया, तो इन्होंने इस समस्या का बारीकी के साथ अध्ययन करके एक नई विधि ढूँढ़ निकाली । निरीक्षण करने से मालूम हुआ कि झील की सतह ऊँची है और उसमें बरसात का पूरा पानी नहीं रुक सकता । इससे जब पानी बाँध की चोटी से ६ से ८ फुट तक ऊपर चढ़ता है तो वह बहकर बाहर निकल जाता था । झील की सतह को तो अधिक गहरा बना सकना सम्भव न था, इसलिये उन्होंने बहुत सोच-विचारकर स्वचालित फाटकों की एक योजना बनाई । इसके ऊपर बाँध में कई ऐसे फाटक लगाये गये जो पानी के ऊपर चढ़ने पर उसे आठ फुट की ऊँचाई तक रोके रहते थे । जब पानी इससे भी अधिक चढ़ता था तो ये स्वयमेव खुलकर फालतू पानी को निकाल देते थे और फिर अपने आप ही बन्द हो जाते थे । इस उपाय से झील के पानी का परिमाण २५ प्रतिशत बढ़ गया और पूना के नागरिकों को नलों से पर्याप्त जल उपलब्ध होने लग गया ।

आरम्भ में यूरोपियन इन्जीनियरों को यह विश्वास नहीं हुआ कि कोई भारतीय इन्जीनियर ऐसा आविष्कार कर सकता है । जब यह फाटक सन्तोषजनक रूप से कार्य करने लगे और तत्पश्चात ग्वालियर और मैसूर के बाँधों में भी लगाये गये, तब उनको विवश होकर भारतीय मस्तिष्क की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी ।

अदन में नियुक्ति

अब एक ऐसी घटना घटित हुई, जिससे श्री विश्वेश्वरैया की अप्रात्याशित प्रगति होने के साथ ही उनका एक विरोधी दल भी तैयार हो गया । जिस जमाने की यह बात लिखी जा रही है, उस समय का बन्दरगाह भारतीय शासनाधिकार में ही था । यद्यपि इस देश से दो हजार मील के फासले पर था और वहाँ अँग्रेजी सेना की एक बहुत बड़ी छावनी थी, पर शासन सुविधा की दृष्टि से उसे बम्बई के गवर्नर के आधीन कर दिया था । सन् १९०६ में इंगलैण्ड की सरकार ने भारत को सूचित किया कि अदन में पानी के नलों तथा मल के निकास की व्यवस्था ठीक नहीं है, जिससे वहाँ के निवासियों पर बुरा असर पड़ता है । इसलिये वहाँ कोई ऐसा सुयोग्य इन्जीनियर भेजा जाय जो इन विषयों पर अदन की नगरपालिका को उचित सलाह दे सके और वहाँ की योजना को ठीक ढंग से कार्यान्वित करा सके ।

जब यह सूचना बम्बई के गवर्नर के पास भेजी गई तो उन्होंने इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके श्री विश्वेश्वरैया को ही इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझा । यद्यपि उनके पास अँग्रेज इन्जीनियर काफी संख्या में थे और वह भी अँग्रेज ही थे, पर उनके सामने मुख्य प्रश्न कार्य के सुचारू रूप से पूरा होने और अपने सम्मान का था । उन्हें मालूम था कि श्री विश्वेश्वरैया ने सफाई और जल-व्यवस्था के कार्यों में विशेष दक्षता प्राप्त करली है और वे बड़ी सूझ-बूझ के साथ सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं ।

इस प्रकार अपने मुकाबले में एक भारतीय का अधिक योग्य स्वीकार किया जाना, यद्यपि अँग्रेज इन्जीनियरों को बहुत अखरा और उनमें से कई श्री विश्वेश्वरैया के प्रति द्वेष भाव भी रखने लगे, पर सरकारी आज्ञा से उनको अदन भेज ही दिया गया । वहाँ पहुँचकर वास्तव में उन्होंने बड़े परिश्रम और योग्यता से कार्य किया और सफाई तथा पेय जलों के नलों की ऐसी व्यवस्था की, कि जिससे वहाँ रहने वाले सैनिकों और नागरिकों को बड़ी सुविधा अनुभव होने लगी । आपकी रिपोर्ट और योजना की प्रशंसा करते हुए, अदन स्थिति ब्रिटिश सेना के मेजर जनरल बराथ ने सरकार को लिखा—

"श्री विश्वेश्वरैया ने जिन्हें मल-निकास के प्रश्न पर सुझाव देने को नियुक्त किया गया था, एक अत्यन्त लाभप्रद रिपोर्ट तैयार की है, जो कि १० जनवरी १९०७ को सरकार को भेजी जा चुकी है । हालाँकि मल-मार्ग के निर्माण की बड़ी जरूरत थी, परन्तु ताजा जल देने के लिये शीघ्र ही कोई कदम उठाना उससे भी अधिक आवश्यक था । कुछ समय पश्चात् बम्बई सरकार ने भी उसे कार्यान्वित करने का आदेश दे दिया । इस प्रकार आपने अपनी प्रथम विदेश

यात्रा में ही अपनी योग्यता और ईमानदारी का सिक्का वहाँ के छोटे-बड़े व्यक्तियों के हृदयों पर जमा दिया ।"

सरकारी नौकरी का त्याग

लोगों को उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने सुना कि श्री विश्वेश्वरैया ने समय से बहुत पूर्व ही अचानक नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया । सरकार के सर्वोच्च अधिकारी उनके काम से बहुत प्रसन्न थे और उनकी योग्यता के उपलक्ष्य में उनको पुराने अँग्रेज इन्जीनियरों की अपेक्षा भी बड़ी जल्दी-जल्दी लगातार उच्च पदों पर नियुक्त किया जा रहा था । उनके महकमे के प्रधान अधिकारी उनकी कार्यकुशलता और ईमानदारी से बड़े प्रभावित थे और सदा उनकी सेवा किया करते थे । पर यह सब होने पर भी जब उन्होंने देखा कि उनको विशेष रूप से तरक्की मिलने के कारण अनेक व्यक्ति उनके अपने मार्ग में बाधक समझते हैं और उस कारण पीछे-पीछे उनके विरुद्ध झूँठा-सच्चा प्रचार करते हैं, तो उन्होंने तुरन्त ही नौकरी को छोड़ने का निश्चय कर लिया ।

वर्तमान समय में लोगों के स्वार्थपूर्ण व्यवहार और रुपया के मामले में तरह-तरह के बेईमानी के कामों को देखते हुए श्री विश्वेश्वरैया का यह कार्य साधारण मनुष्यों को आश्चर्यजनक मान पड़ता है । पर जो व्यक्ति सत्य और न्याय के भारतीय आदर्श के मर्म को समझते हैं, उनके लिए इसमें कोई अस्वाभाविक या कठिन बात नहीं प्रतीत होगी । हमारे प्राचीन मनीषियों की तो मान्यता यही थी कि—"सत्य से ही सूर्य तपता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, मेघा वर्षा करते हैं, वायु चलती है ।" उनका आशय यही था कि यदि मनुष्य भी सत्य का पालन करेंगे और अपने व्यवहार में सदैव ईमानदारी का ख्याल रखेंगे, तो उनका और समाज का अस्तित्व कायम रहेगा और सब कोई सुखी रह सकेंगे।

सन्तोष का विषय है कि श्री विश्वेश्वरैया जैसे महामानव आज भी उस सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणित करके जनता का मार्ग दर्शन कर रहे हैं । उनको सरकार ने जितने अधिकार और बड़े-बड़े कार्य करने के अवसर दिये, उनमें वे चाहते तो अन्य व्यक्तियों की तरह लाखों या करोड़ों रुपया भी जमा कर सकते थे । पर इसके विपरीत उनको जो अधिक रुपया कारखानों और उद्योग-धन्धों से पारिश्रमिक रूप मिला उसको भी उन्होंने सार्वजनिक सेवा के कार्यों में लगा दिया । यही कारण है कि आज हम उनका स्मरण करते हैं और पाठकों के सम्मुख उनका उदाहरण एक मार्गदर्शक के रूप में उपस्थित करते हैं । अन्यथा यहाँ ऐसे व्यक्ति मौजूद थे, जिनको उसी जमाने में प्रान्तीय गवर्नर का पद दिया गया और उसी के अनुकूल 'लार्ड' की पदवी से विभूषित किया गया था । पर आज सामान्य जनता तो क्या पढ़े-लिखे भी उनका नाम नहीं जानते । इसलिये हमको यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वसाधारण में स्थायी मान्यता और सम्मान उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है जो अपना स्वार्थ कम करके दूसरों के उपकार के लिए कुछ परिश्रम और त्याग करेगा ।

हैदराबाद और मैसूर में निर्माण-कार्य

सरकारी नौकरी से छुट्टी पाकर आप योरोप भ्रमण के लिये चले गये । इटली के मिलान नगर में आपको एक पत्र मिला, जिसमें बम्बई के गवर्नर का एक सन्देश था कि "हैदराबाद (निजाम) की सरकार नगर के पुनर्निर्माण और जल विकास की योजना तैयार करने के लिए सुप० इंजानियर श्री विश्वेश्वरैया की, जो छुट्टी पर हैं, सेवाएँ प्राप्त करना चाहती हैं ।" साथ ही हैदराबाद के वित्त-मन्त्री ने जो उन दिनों इंग्लैण्ड गये हुये थे, इसी आशय का एक पत्र आपके पास भेजा । मित्रों का आग्रह और कार्य के महत्व को समझकर आप १९०९ में हैदराबाद पहुँच गये ।

हैदराबाद में मूसी और ईसा दो नदियों का पानी शहर के भीतर होकर बहता था । सन् १९०८ में ऐसी वर्षा हुई कि बाढ़ के कारण शहर में तबाही आ गई । केवल एक कोलसावाड़ी मुहल्ले में ही दो हजार व्यक्ति बह गये । श्री विश्वेश्वरैया ने कई महीनों तक समस्त क्षेत्र की पूरी तरह जाँच पड़ताल करके शहर से कुछ दूरी पर दो बड़े जलाशय बनाने की योजनाएँ तैयार की, जिनमें दो हजार करोड़ घनफुट पानी जमा किया जा सके । इस प्रकार उन्होंने नगर के लिये बाढ़ का खतरा सदा के लिये दूर कर दिया । नगर के भीतर नदी के दोनो किनारों को ऊँचा करके उसके आसपास सुन्दर बाग बगीचे और सैर-सपाटे के स्थान बनाने का भी सुझाव दिया गया, जिससे बाढ़ से बचाव के साथ ही नगर के सौन्दर्य में वृद्धि होने का लाभ बहुत बड़ा था।

श्री विश्वेश्वरैया जब हैदराबाद में बाढ़ योजना की तैयारी कर रहे थे, उसी समय उनको मैसूर के दीवान श्री आनन्दराव का पत्र मिला जिसमें लिखा था—

"मैसूर के महाराजा को आपकी सेवाएँ प्राप्त करके हर्ष होगा, क्योंकि आपने उच्च उपाधियाँ प्राप्त की हैं और विशिष्ट सेवाएँ की हैं । महाराज को इस बात का विश्वास है कि प्रस्ताव आपके सामने रखा गया है, उसे आप अवश्य स्वीकार करेंगे । इससे आपको अपनी जन्मभूमि के विस्तृत क्षेत्र में सिचाई के साधनों के विकास के पर्याप्त अवसर प्राप्त होंगे ।

महाराज यह जानते हैं कि आप लोक-सेवा के अवसरों को सरकारी वेतन से अधिक महत्व देते हैं। मैसूर में इस प्रकार के अवसर आपको सदैव प्राप्त होते रहेंगे।"

बात यही थी कि सच्चाई की कदर सब जगह होती है। श्री विश्वेश्वरैया के अब तक के कार्यक्रमों से लोगों को विश्वास हो गया था कि वे अधिकांश लोगों की तरह धन को ही सर्वोपरि बना देने वाले नहीं है वरन् उनका लक्ष्य सदैव अपने देशवासियों को अधिकाधिक लाभदायक सेवा करते रहना है। यह बात सरकारी नौकरों में बहुत कम पाई जाती है जो लोग आर्थिक भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाते हैं उनकी तो बात ही छोड़ दीजिए, पर जो इससे बचे रहते हैं, वे भी अहंकार और शान के वशीभूत होकर सामान्य जनता के प्रति न तो शिष्टता का व्यवहार करते हैं, न अपने वास्तविक कर्त्तव्य का पालन करते हैं। ऐसे लोग चाहें तो अपने मन

विश्वेश्वरैया के चरित्र से हम यह शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, कि लोक और परलोक में जीवन को कृतकार्य बनाने का सच्चा मार्ग कौन-सा है ?

दीवान के पद पर

श्री विश्वेश्वरैया मैसूर के चीफ इन्जीनियर के पद पर नियुक्त होकर गये थे, पर उनकी योग्यता और सच्चाई से प्रभावित होकर महाराज ने उनको शीघ्र ही रियासत का दीवान (कार्य संचालक) बना दिया, यद्यपि एक इन्जीनियर का शासन-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पर श्री विश्वेश्वरैया ने अपने अध्यवसाय तथा परोपकार वृत्ति के कारण उस पद पर रहकर भी इतने जन हिताकारी कार्य कर दिखायें, जिससे उनको नये मैसूर का निर्माता समझा जाने लगा। उन्होंने सिंचाई के लिए 'कृष्णराज सागर' और लोहे के उत्पादन के लिये भद्रावती का इस्पात (लौह) कारखाना, तथा मैसूर विश्वविद्यालय आदि ऐसी अनेक योजनाओं को आरम्भ किया और सफल बनाकर दिखाया, कि जिससे उस राज्य की समृद्धि तथा विकास में बहुत अधिक सहयोग मिला। पर इन सभी कार्यों को पूरा करने में श्री विश्वेश्वरैया को कैसी बाधाओं और अवरोधों का सामना करना पड़ा उसका वर्णन पढ़ने से यह ज्ञान पड़ेगा कि उनको जनता के हितों का सदैव कितना अधिक ध्यान रहता था।

कृष्णराज सागर बाँध की योजना में २५३ लाख रुपये के खर्च का अनुमान किया गया था। रियासत के कुछ अधिकारियों ने महाराज पर दबाब डाला कि इस कार्य में इतनी बड़ी रकम खर्च न की जाय। इससे उन्होंने ढीलढाल दी और मालूम हुआ कि यह योजना खटाई में पड़ गई। यह देखकर श्री विश्वेश्वरैया ने राज्य की नौकरी छोड़ने का विचार कर लिया और कुछ दिनों की छुट्टी लेकर उत्तर भारत के भ्रमण के लिए चले गये। वहाँ से लौटने पर भी जब उन्होंने देखा कि योजना के सम्बन्ध में कुछ नहीं हो रहा है, तो मौन रहकर केवल अपने दफ्तर का काम ही करने लग गये।

जब महाराज ने इस परिवर्तन को देखकर कारण पूछा तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि—"विकास-कार्यों के लिए दी गई सुविधाओं से मुझे काफी असन्तोष हुआ है। चूँकि अब रियासत में कोई ऐसा काम नहीं रहा, जिसके प्रति उत्साह दिखाया जा सके, अतः मैं नौकरी छोड़कर जाने का विचार कर रहा हूँ।"

इस पर महाराज ने कहा—"आप जल्दी न करें। अगले सप्ताह मुझसे मैसूर में मिलना, वहीं योजना पर पूरी तरह विचार किया जायगा।" इसके पश्चात महाराज ने शीघ्र ही सम्पूर्ण योजना को ज्यों का त्यों मंजूर करके, कार्यारम्भ का आदेश दे दिया।

इसके पश्चात् दूसरी कठिनाई मद्रास सरकार ने उपस्थित की। वह भी कावेरी नदी पर कृष्णराज सागर से ६० मील नीचे बाँध की योजना तैयार कर चुकी थी। पर जब 'कृष्णराज सागर' का जलाशय बन जाता तो मद्रास सरकार के जलाशय को उतना पानी नहीं मिलता, जितना वे चाहते थे, इसलिये उन्होंने इस योजना को रोकने का प्रस्ताव किया। तब श्री विश्वेश्वरैया की सलाह से इस मामले की अपील भारत सरकार के पास की गई। वायसराय ने मैसूर के दावे को सही माना और १२४ फीट के बजाय ८० फीट ऊँचा बाँध बनाने की अनुमति दे दी। श्री विश्वेश्वरैया ने बाँध का नीचे का भाग उतना ही चौड़ा बनवाया जितना कि १२४ फीट ऊँचे बाँध के लिये आवश्यक होता है। वे जानते थे, कि हमारा दावा न्यायोचित है और अन्त में सरकार को उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। जब इस विवाद का निर्णय करने के लिए एक समिति बनाई गई तो उसने श्री विश्वेश्वरैया की दलीलों को ठीक बताया और बाँध यथासमय तैयार होकर किसानों को सिंचाई के लिए पानी तथा उद्योग धन्धों को बिजली मिलने लग गई।

जनता के हित का लक्ष्य

यह समझना ठीक न होगा कि इस प्रकार के निर्माण-कार्य इन्जीनियरिंग विभाग वाले करते ही रहते हैं और यह उनका

नियमित पेशा ही है । विश्वेश्वरैया चाहते तो मैसूर राज्य के अधिकारियों और फिर मद्रास सरकार का विरोध होने पर इस कार्य को स्थगित कर देते और अतिरिक्त श्रम तथा जिम्मेदारी से बचे रहते, उनके दर्जे के अधिकांश सर्वोच्च अधिकारी प्रायः निरीक्षण कार्य करते रहकर ही अपनी 'ड्यूटी' पूरी कर देते हैं, और कोई उनसे कुछ नहीं कहता । पर विश्वेश्वरैया जी के हृदय में देश के विकास और उत्थान करने की लगन थी, ये जनता की सुख-सुविधा की वृद्धि करना अपना कर्त्तव्य समझते थे, इसलिए उन्होंने कई प्रकार का विरोध होने पर भी योजना को हर तरह के प्रयत्नों से जीवित रखा और अन्त में उसे ठीक समय पर पूरा करके ही छोड़ा । इससे जनता और राज्य का कितना लाभ हुआ यह बात निम्न तथ्यों से प्रकट होती है—

(१) कृष्णराज सागर उस समय तक भारत में बने समस्त जलाशयों (बाँधों) से बड़ा था ।

(२) कावेरी की बाँयी ओर वाली नहर को एक पहाड़ी में पौने-दो मील लम्बी एक सुरंग बनाकर, उसमें से गुजारा गया है । सिंचाई नहर की यह सुरंग भारत भर में सबसे लम्बी है ।

(३) 'कृष्णराज सागर योजना' से कई प्रयोजन सिद्ध होते हैं । इससे एक लाख एकड़ से भी अधिक भूमि में सिंचाई का विस्तार हुआ है और वह बढ़ता ही जा रहा है । इससे कोलार की सोने की खानों को अधिक बिजली मिलने लग गई है । बंगलौर, मैसूर तथा राज्य के अनेक गाँवों और कस्बों को घरेलू इस्तेमाल तथा कारखानों के लिए बिजली प्राप्त होने लगी है । इससे गन्ने की खेती बढ़ गई है, जिससे चीनी मिलों को प्रोत्साहन मिला है । मैसूर तथा बंगलौर की कपड़ा मिलों के अतिरिक्त अन्य बहुत से उद्योग-धन्धों को बिजली मिलने लग गई है ।

(४) कुछ समय पूर्व मैसूर के इन्जीनियरिंग विभाग ने इस योजना के सम्बन्ध में एक आर्थिक रिपोर्ट तैयार की थी जिससे मालूम हुआ कि इस अवसर पर राज्य की तरफ से कुल मिलाकर लगभग दस करोड़ रुपया खर्च हुआ था । कुछ वर्ष बाद इससे जनता को १५ करोड़ रुपया वार्षिक का लाभ होने लगा और राज्य को भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के द्वारा एक करोड़ रुपया वार्षिक की आमदनी हो रही थी । इस लोक कल्याणकारी योजना की प्रशंसा करते हुये महात्मा गाँधी ने मैसूर की एक सार्वजनिक सभा में कहा था—

"कृष्णराज सागर, जो संसार के प्रमुख जलाशयों में से एक है, अकेला ही श्री विश्वेश्वरैया की कीर्ति बढ़ाने के लिये काफी है, इसके अतिरिक्त रियासत में जो अन्य उद्योग-धन्धे शुरू किये गये हैं, उनसे पता चलता है कि भारत के अन्य राजाओं की अपेक्षा मैसूर कितना आगे निकला जा रहा है ।"

जन-जीवन में शिक्षा की महत्ता

जब श्री विश्वेश्वरैया की लोक-कल्याण की भावना से प्रसन्न होकर मैसूर के महाराज ने उनको आग्रहपूर्वक रियासत के दीवान के पद पर नियुक्त कर दिया तो उन्होंने छः वर्ष की अवधि के भीतर रियासत की कायापलट कर दी । वे पत्तों को सींचने के बजाय जड़ को सींचने का सिद्धान्त मानने वाले व्यक्ति थे । इसलिए उन्होंने कहा कि सब प्रकार की उन्नति और प्रगति की जड़ शिक्षा है और अशिक्षा से दोष तथा दुर्भाग्य की ही वृद्धि हो सकती है । उन्होंने मैसूर की प्रतिनिधि सभा के सम्मुख अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—

"आधुनिक राष्ट्रों द्वारा शिक्षा को जो महत्व दिया जा रहा है अपनी विदेश यात्राओं के दौरान मैं उससे बड़ा प्रभावित हुआ । मुझे तो इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि हमारी आर्थिक हीनता का सबसे बड़ा कारण शिक्षा की उपेक्षा ही है । इस दिशा में मैं उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में (अर्थात् आज से सत्तर वर्ष पूर्व) की गई अपनी जापान यात्रा के समय सबसे अधिक प्रभावित हुआ था । जापानी नेताओं ने यह रहस्य जान लिया था, कि शिक्षा ही समस्त प्रगति का आधार है । जापानी शिक्षा विभाग का लक्ष्य यह था, कि जापानियों को यूरोपियन ढंग से सोचने तथा काम करने का अभ्यास डाला जाय । इस दिशा में जापान द्वारा जो सबसे पहला कदम उठाया गया, वह यह था कि समग्र देश में एक 'शिक्षा-संहिता' जारी की गई । उसका आशय जापान के सम्राट मिकाण्डों ने इन शब्दों में समझाया—

'सामान्य जीवन के लिये जो समस्त ज्ञान आवश्यक है, और वह उच्चकोटि का ज्ञान जिसके द्वारा बड़े-बड़े अफसर, किसान, व्यापारी, कारीगर, चिकित्सक आदि अपना-अपना धन्धा चलाते हैं, शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होता है । इस बात का निश्चय कर लिया गया है कि शिक्षा का इस प्रकार प्रसार किया जायेगा, कि भविष्य में ऐसा कोई गाँव न रहे जिसका कोई परिवार अशिक्षित हो, और न कोई ऐसा परिवार होगा जिसमें कोई व्यक्ति अनपढ़ हो ।'

"जापान के 'टोकियो विश्वविद्यालय' में शिक्षा-सिद्धान्तों में जो सुधार किये गये, वे इस प्रकार वर्णित हैं—नैतिक चरित्र का विकास, देशभक्ति व स्वामिभक्ति की भावना का विकास तथा अमली धन्धों के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान

की प्राप्ति ।' अनुशासन का पाठ पढ़ाने के लिए कई स्कूलों में फौजी कवायद सिखाई जाती थी । बच्चों को सदा प्रसन्नचित रखा जाता था और उन्हें नैतिकता, देशभक्ति, राजभक्ति तथा मानव-सम्बन्धों की शिक्षा दी जाती थी । जिस बात ने मेरा ध्यान अधिक आकर्षित किया, वह थी स्त्री-शिक्षा का विकास । मैंने देखा कि जहाँ जापान के स्कूलों में १५ लाख लड़कियाँ पढ़ रही थीं, वहाँ भारत जैसे विशाल देश में स्कूल जाने वाली लड़कियों की संख्या केवल ४० हजार थी । (यह आँकड़े सन् १८९८ के हैं ।)"

"टोकियों और क्योटे के प्रोफेसर ने बताया कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें खरीदना जरूरी नहीं हैं । प्रोफेसर विद्यार्थियों को कक्षा में नोट लिखा देते हैं, इसके अतिरिक्त वे पुस्तकालय से भी पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं । विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती थी, वह क्रियात्मक होती थी । इसलिए परीक्षा पास करते ही उनको सरकारी अथवा गैर सरकारी नौकरियाँ मिल जाती थीं ।"

"जापान में विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर देश भक्ति की भावना से प्रेरित होकर कठोर परिश्रम करते थे और उनका जीवन बड़ा सादा होता था । हालाँकि वे अपनी योग्यता के बल पर अन्यत्र इससे अधिक वेतन पा सकते थे, परन्तु वे उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर सादा जीवन व्यतीत करते हुये विश्वविद्यालय में थोड़े वेतन पर ही सन्तोष कर लेते थे ।"

जब इन बातों का मिलान हम अपने देश की अवस्था से करते हैं तो बड़ी निराशा होती है । यद्यपि समय का परिवर्तन हो जाने से विद्यार्थियों की संख्या काफी बढ़ गई है, स्कूल जाने वाली लड़कियों की संख्या तो सौगुनी से अधिक हो गई है, पर यदि विद्यार्थियों के स्तर को देखा जाय तो यह सब निरर्थक जान पड़ता है । यहाँ शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्री प्राप्त कर लेना रह गया है, चाहे वह किसी भी प्रकार प्राप्त की जाय । अधिकांश शिक्षा केवल पुस्तकीय है, जिससे परीक्षोत्तीर्ण हो जाने पर भी युवकों को काम के लिये मारे-मारे फिरना पड़ता है । अनुशासन और सदाचार की तो और भी मिट्टी पलीद हो रही है और आये दिन ऐसी घटनायें देखने और सुनने में आती हैं, जिनसे शर्म के मारे सिर नीचा कर लेना पड़ता है ।

खेद है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् यह स्थिति सुधरने के बजाय दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है । इस समय तो ऐसा जान पड़ता है कि स्कूलों और विद्यालयों के द्वारा विद्यार्थियों को समाजोपयोगी और कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने के बजाय निकम्मा, दुश्चरित्र और उच्छृंखल बनाया जा रहा है । शिक्षा के क्षेत्र में सर्वस्व घोर अव्यवस्था दिखाई पड़ रही है, और इसका अहितकर प्रभाव समस्त समाज पर पड़ रहा है । इसलिए यदि यहाँ के शिक्षा व्यवस्थापक श्री विश्वेश्वरैया द्वारा वर्णित जापान के उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करें, तो कुछ भलाई अवश्य हो सकती है ।

राष्ट्रीय चरित्र का विकास

शिक्षा की ही तरह श्री विश्वेश्वरैया चरित्र को भी राष्ट्रोत्थान का मुख्य आधार मानते थे । वास्तव में ये दोनों ही ऐसे सुदृढ़ स्तम्भ हैं, जिनके ऊपर किसी जाति के गौरव का महराबदार द्वार खड़ा किया जा सकता है । जिस व्यक्ति का चरित्र उज्ज्वल है और जिसने अपने धन्धे की उचित शिक्षा प्राप्त करली है, उसकी सफलता अधिकांश में सुनिश्चित है । जो बात व्यक्ति के सम्बन्ध में कही जाती है वही राष्ट्र के सम्बन्ध में भी समझी जानी चाहिए । इसलिये उन्होंने अपने देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए, यहाँ के नेताओं को चेतावनी दी है —

"यदि आप एक अच्छे राष्ट्र की नींव रखना चाहते हैं तो उसके नागरिकों को उत्तम बताइए । एक सफल राष्ट्र वह होता है, जिसके नागरिकों की बहुसंख्या कुशल, चरित्रवान् और अपने कर्तव्य को समझाने वाली हो । जैसा कि हम सब जानते है व्यापार की नींव साख होती है । यह साख विश्वास पर निर्भर है और विश्वास चरित्र के सहारे खड़ा होता है ।"

"एक कुशल राष्ट्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश के योग्य सलाहकारों के अनुसार आधारभूत राष्ट्रीय आदर्शों, जिम्मेदारियों और विशिष्ट नीतियों की एक योजना और कार्यक्रम बनाया जाय । इस समय हमारे देश में अधिकांश लोग न तो प्रशिक्षित हैं, और न उन्हें अनुशासन की कोई परवाह है । केवल बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जो वांछित स्तर पर पूरे उतरते हैं । लोगों की बहुसंख्या तो पढ़ना-लिखना भी नहीं जानती और रूढ़ियो की शिकार बनी हुई है ।"

"राष्ट्रीय चरित्र के विकास की नीति सरकार की दीर्घकालीन नीतियों में होनी चाहिए । जो भारतीय यह चाहते है कि भारत का, संसार के अन्य राष्ट्रों में अपनी कुशलता और उच्च राष्ट्रीय चरित्र के लिए नाम हो, उन्हें उचित है कि वे इस नीति को पूरा प्रोत्साहन दें । अन्ततः चरित्र और कुशलता (शिक्षा) से ही उच्च कार्य क्षमता, सुखमय जीवन और दीर्घायु प्राप्त होती है । इस दृष्टि से पश्चिम के विकसित देशों की, जैसे अमरीका की जनता ने जो प्रतिमान

(स्टैण्डर्ड) प्राप्त किये हैं, उनमें और वर्तमान भारतीय प्रतिमानों में बहुत अन्तर है ।"

"अमरीका जैसे देशों के लोग अधिक समृद्धिशाली, प्रगतिशील और दीर्घायु हैं, इसका कारण यही है कि इन्हें सर्वोत्तम प्रकार की शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध हैं और वे संसार की सभी समस्याओं के प्रति जागरूक हैं । उनका जीवन योजनाबद्ध और अनुशासित होता है । औसत अमरीकी शिक्षा, व्यावहारिक कुशलता, यान्त्रिक उपकरणों और विश्व ज्ञान की दृष्टि से कहीं अधिक सम्पन्न हैं । अमरीका के लोग अधिक परिश्रमी, संगठनकर्ता और उद्यमकर्ता होते हैं । उनके नेता योग्य तथा क्षमता सम्पन्न होते हैं । उनके अपने धन्धों में कई पीढ़ियों के अनुभवों का निचोड़ इकट्ठा किया होता है, जो उनका मार्ग दर्शन करता है ।"

"इसके विपरीत औसत भारतीय इन्हीं कमियों के कारण परम्पराओं पर आधारित जीवन बिताता है । प्रगतिशील जीवन व्यतीत करने के लिए उसे किसी का मार्ग दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बहुत से ऐसे लोग भी हैं जो अशिक्षित होते हुए भी अपने सीमित क्षेत्र में बड़ी समझदारी का परिचय देते हैं । साधारणतः शिक्षा की कमी के कारण वे ऊँचे जीवन स्तर से वंचित रह जाते हैं ।"

श्री विश्वेश्वरैया स्थूल जगत के कार्यकर्ता और विचारक थे, इसलिए उन्होंने इन प्रत्यक्ष तथ्यों पर ही विचार किया है, जिनके प्रभाव से संसार की अग्रगण्य जातियाँ उच्च पद पर प्राप्त करके सुख-समृद्धि का जीवन व्यतीत कर रही हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ के औसत दर्जे के व्यक्ति और पण्डित नामधारी भी सदा परलोक भक्ति ज्ञान की चर्चा उठाते रहते हैं ।

श्री विश्वेश्वरैया ने जापान और अमरीका आदि का उदाहरण देकर भारतवासियों को यही समझाने का प्रयत्न किया है, कि मानव जन्म पाकर अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है । हमारे वेद शास्त्र भी उद्योगी व्यक्तियों ने ही रचे हैं । सभी तीर्थ स्थान बड़े-बड़े मन्दिर आदि भी परिश्रमी और कर्मठ लोगों के द्वारा निर्माण किये गये हैं । दान, धर्म, पुण्य के जितने ही सही या गलत काम देखने में आते हैं उन सबकी जड़ में उद्योग ही प्रधान दिखाई पड़ता है । इसलिये भारतवासियों को मध्यकाल में उत्पन्न शुष्क वेदान्त (अकर्मण्यता) अथवा भ्रममूलक भाग्यवादी जैसी धारणाओं को त्यागकर शिक्षा और चरित्र निर्माण के क्षेत्र में ऐसी प्रगति करनी चाहिए, जिससे लोक और परलोक दोनों सिद्ध हो सकें ।

संसार भर में उनको दो देशों ने विशेष प्रभावित किया एक जापान दूसरा अमरीका । वहाँ से लौटकर उन्होंने अपने देशवासियों को सम्बोधित करके कहा–

"यदि आप एक अच्छे राष्ट्र की नींव रखना चाहते हैं तो उसके नागरिकों को उत्तम बनाइये । सफल राष्ट्र वही होता है, जिसके बहुसंख्यक नागरिक कुशल, चरित्रवान् और कर्तव्यपरायण हों । खेद है कि इस समय हमारे न तो अधिकांश लोग शिक्षित हैं और न अनुशासन की परवाह करते हैं । केवल बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जो वांछित स्तर पर पूरे उतर सकते हैं ।"

"अमरीका जैसे देशों के लोग क्यों अधिक समृद्धिशाली प्रगतिशील और दीर्घायु हैं । कारण यही है कि उन्हें सर्वोत्तम प्रकार की शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध [redacted] और ये जीवन की

हो जाने पर जहाँ देश की प्रगति और विकास के कितने ही रास्ते खुल गये हैं, वहाँ कितने ही संकट और जिम्मेदारियाँ भी उसके ऊपर आ गई हैं । उन्होंने किसी प्रकार की स्वार्थ भावना के कारण नहीं, केवल मातृभूमि के प्रति अपना कर्तव्यपालन करने की दृष्टि से निरन्तर देश के नेताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित किया, और स्वयं भी जब तक शक्ति रही उन कामों की पूर्ति में हिस्सा लिया । भारत की प्रगति के लिए जब योजनावद्ध प्रयत्न करने का प्रचार किया गया तो उन्होंने इस सम्बन्ध में जो सम्मति प्रकट की उसका सारांश इस प्रकार था--

"योजना का अर्थ है काम करने का वह तरीका जो विशेष प्रकार के विकास, उद्देश्य या प्रयोजन पाने के लिए आवश्यक समझा जाय, जन-शासन में जनता की भलाई के लिए योजना बनाने का विचार अन्तर्निहित है । किसी भी राज्य या क्षेत्र के लिए आर्थिक आयोजन एक ऐसे योजनावद्ध कार्यक्रम की रूपरेखा होगी, जिसमें अपने साधनों और मानव-शक्ति को सर्वोत्तम ढंग से काम मे लाकर देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने का उद्देश्य पूरा किया जाय, प्रारम्भ में विकास कार्यों के सामान्य उद्देश्य निम्न होने चाहिए--

(१) जनता के लिये पर्याप्त काम और अन्न इकट्ठा करना ।

(२) गुण, मात्रा की दृष्टि से काम बढ़ाना, उत्पादन में उन्नति करना, रोजगार बढ़ाना, तथा आय में वृद्धि करके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना ।

(३) साथ ही धीरे-धीरे अन्य राष्ट्र-निर्माण के कामों को आगे बढ़ाना और उनके द्वारा ऐसे स्वस्थ तथा समृद्ध राष्ट्र बनाने का प्रयत्न करना, जो कई दृष्टियों से आत्मनिर्भर तथा आत्मतुष्ट हो ।

श्री विश्वेश्वरैया की सम्मति में भारत का व्यक्तिगत या राष्ट्रीय जीवन अभी तक आयोजित नहीं रहा । ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पहले कभी इस देश में सरकारी संगठन ने आर्थिक समस्याओं का सम्पूर्ण रूप से सामना किया हो । यहाँ समग्र राष्ट्रीय प्रगति के प्रति सचेत रहने या उसे बढ़ावा देने की प्रथा ही नहीं रही ।

अब जब कि सरकार ने विकास कार्यों को बढ़ाने तथा सुधारों के निमित्त योजना आयोग स्थापित कर दिया है, तो उसको सबसे पहले जो काम हाथ में लेने चाहिए । वह यह है--देश के साधनों की दक्षता से पूरा लाभ उठाकर लोगों को अधिक सोचने और अधिक काम करने योग्य बनाना, अन्न की उपज बढ़ाना, देश के साधनों को काम में लाकर आर्थिक शक्ति बढ़ाना और लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना ।

पर योजना के विभिन्न कार्यक्रमों की पूर्ति करने से पहले हमको कुछ जड़ की बातों का सुधार और व्यवस्था कर लेना जरूरी है । हमारे सामाजिक संगठन में जो त्रुटियाँ हैं यदि उनके बिना दूर किए नवीन कार्यक्रमों का भारी ढाँचा खड़ा कर दिया गया तो पूरा राष्ट्रीय भवन ही बोझ के कारण चरमरा कर बैठ जायेगा । श्री विश्वेश्वरैया ने इस सम्बन्ध में दो-चार मुख्य बातें ये बतायी थी--

जन-संख्या की समस्या

"भारत की जनसंख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है जबकि इस अनुपात से न तो उत्पादन में वृद्धि हो रही है और न सन्तोषजनक ढंग से रहन-सहन के लिए आय में बढ़ोतरी हो रही है । न्यूयार्क के प्राप्त हाल ही के एक संवाद से पता चला है कि १९४३ में संसार की जनसंख्या २ अरब ३१ करोड़ ६० लाख थी । यह संख्या सन् १९०० की जनसंख्या से ७० करोड़ अधिक है । चीन और जापान की तरह भारत में भी जन्म तथा मृत्यु की दर बहुत बढ़ी-चढ़ी है । विभाजन के पूर्व भारत की जनसंख्या जो १९३१ में ३५ करोड़ ३० लाख थी । सन् १९४५ में ४० करोड़ तीस लाख हो गई । विभाजन के बाद भारत की जनसंख्या ३३ करोड़ ७० लाख थी, और हाल के अनुमानों से पता चला है कि वह प्रतिवर्ष ३२ लाख ५० हजार बढ़ जाती है ।"

सन् १९४३ मे जब कलकत्ता की सड़कों पर भुखमरी से मरने वालों के चित्र अखबारों में प्रकाशित हुए तो, उन्हें देखकर भारत की जनता को बड़ा भारी धक्का लगा । इससे पता चलता है कि देश की जनसंख्या देश में उपलब्ध खाद्य सामग्री से अधिक हो गई है । अतः इस महासंकट से बचने के तीन-चार उपाय है, जिन्हें अपनाकर इस संकट को ५०-७५ वर्ष तक टाला जा सकता है--

"यह उपाय या तो अधिक अन्न उपजाने के रूप में हो सकते हैं या परिवार नियोजन के रूप में जैसा कि आबादी रोकने के लिए बहुत से सभ्य देशों में, होता है । अन्यथा हमारा देश अकाल के भय से मुक्त नहीं हो सकता ।"

अधिक अन्न उपजाओ

देश में अन्न की कमी को दूर करने के लिए जो 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम चल रहा है उसके सम्बन्ध में श्री विश्वेश्वरैया ने सहमति दी थी कि--

" 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को ठीक ढंग से लागू करने के लिए प्रत्येक गाँव में निम्नलिखित आँकड़े रखना जरूरी है ---"

(स्टैण्डर्ड) प्राप्त किये हैं, उनमें और वर्तमान भारतीय प्रतिमानों में बहुत अन्तर है ।"

"अमरीका जैसे देशों के लोग अधिक समृद्धिशाली, प्रगतिशील और दीर्घायु हैं, इसका कारण यही है कि इन्हें सर्वोत्तम प्रकार की शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध हैं और वे संसार की सभी समस्याओं के प्रति जागरूक हैं । उनका जीवन योजनाबद्ध और अनुशासित होता है । औसत अमरीकी शिक्षा, व्यावहारिक कुशलता, यान्त्रिक उपकरणों और विश्व ज्ञान की दृष्टि से कहीं अधिक सम्पन्न है । अमरीका के लोग अधिक परिश्रमी, संगठनकर्ता और उद्यमकर्ता होते हैं । उनके नेता योग्य तथा क्षमता सम्पन्न होते हैं । उनके अपने धन्धों में कई पीढ़ियों के अनुभवों का निचोड़ इकट्ठा किया होता है, जो उनका मार्ग दर्शन करता है ।"

"इसके विपरीत औसत भारतीय इन्हीं कमियों के कारण परम्पराओं पर आधारित जीवन बिताता है । प्रगतिशील जीवन व्यतीत करने के लिए उसे किसी का मार्ग दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बहुत से ऐसे लोग भी हैं जो अशिक्षित होते हुए भी अपने सीमित क्षेत्र में बड़ी समझदारी का परिचय देते हैं । साधारणतः शिक्षा की कमी के कारण वे ऊँचे जीवन स्तर से वंचित रह जाते हैं ।"

श्री विश्वेश्वरैया स्थूल जगत के कार्यकर्ता और विचारक थे, इसलिए उन्होंने इन प्रत्यक्ष तथ्यों पर ही विचार किया है, जिनके प्रभाव से संसार की अग्रगण्य जातियाँ उच्च पद पर प्राप्त करके सुख-समृद्धि का जीवन व्यतीत कर रही हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ के औसत दर्जे के व्यक्ति और पण्डित नामधारी भी सदा परलोक भक्ति ज्ञान की चर्चा उठाते रहते हैं । यहाँ आजकल भी ऐसे पढ़े लिखे लोगों की कमी नहीं, जो इन्हीं बातों के आधार पर अपने को श्रेष्ठ और योरोप अमरीका वालों को निकृष्ट मानते रहते हैं । हम पाश्चात्य भौतिकवाद के समर्थक नहीं है, और इसी सीरीज की पुस्तकों में बराबर उसकी हानियों को प्रकट कर चुके हैं । साथ ही हम यह समझते है कि केवल मौखिक आध्यात्मवाद भी निरर्थक है । आलस्य अथवा उद्योगहीनता के फलस्वरूप भूखे, नंगे बने रहना और उसे त्याग और आध्यात्म का नाम देना मूर्खता या ढोंग ही माना जा सकता है, जैसे महात्मा गाँधी कहा करते थे कि--"अहिंसा वीरों का मार्ग है, जो अपनी निर्बलता या कायरता के कारण 'अहिंसा' का सिद्धान्त स्वीकार करने लगते है, उनकी अहिंसा झूँठी है ।" इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि जो कोई आध्यात्म के नाम पर अपने निकम्मेपन अथवा उद्योगहीनता का समर्थन करना चाहते हैं, वह सरासर गलत रास्ते पर है।

श्री विश्वेश्वरैया ने जापान और अमरीका आदि का उदाहरण देकर भारतवासियों को यही समझाने का प्रयत्न किया है, कि मानव जन्म पाकर अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है । हमारे वेद शास्त्र भी उद्योगी व्यक्तियों ने ही रचे हैं । सभी तीर्थ स्थान बड़े-बड़े मन्दिर आदि भी परिश्रमी और कर्मठ लोगों के द्वारा निर्माण किये गये है । दान, धर्म, पुण्य के जितने ही सही या गलत काम देखने में आते हैं उन सबकी जड़ में उद्योग ही प्रधान दिखाई पड़ता है । इसलिये भारतवासियों को मध्यकाल में उत्पन्न शुष्क वेदान्त (अकर्मण्यता) अथवा भ्रममूलक भाग्यवादी जैसी धारणाओं को त्यागकर शिक्षा और चरित्र निर्माण के क्षेत्र में ऐसी प्रगति करनी चाहिए, जिससे लोक और परलोक दोनों सिद्ध हो सकें ।

संसार भर में उनको दो देशों ने विशेष प्रभावित किया एक जापान दूसरा अमरीका । वहाँ से लौटकर उन्होंने अपने देशवासियों को सम्बोधित करके कहा--

"यदि आप एक अच्छे राष्ट्र की नींव रखना चाहते हैं तो उसके नागरिकों को उत्तम बनाइये । सफल राष्ट्र वही होता है, जिसके बहुसंख्यक नागरिक कुशल, चरित्रवान् और कर्तव्यपरायण हों । खेद है कि इस समय हमारे न तो अधिकांश लोग शिक्षित हैं और न अनुशासन की परवाह करते हैं । केवल बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जो वांछित स्तर पर पूरे उतर सकते हैं ।"

"अमरीका जैसे देशों के लोग क्यों अधिक समृद्धिशाली प्रगतिशील और दीर्घायु हैं । कारण यही है कि उन्हें सर्वोत्तम प्रकार की शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध हैं और ये जीवन की समस्त समस्याओं के प्रति जागरूक हैं । उनका जीवन योजनाबद्ध और अनुशासित होता है । इसके विपरीत अधिकांश भारतीय इन्हीं त्रुटियों के कारण परम्पराओं पर आधारित जीवन बिताते है । प्रगतिशील जीवन के लिये उन्हें किसी प्रकार का मार्ग दर्शन नहीं मिलता ।" श्री विश्वेश्वरैया का आशय यही था, कि मानव-जन्म पाकर अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करना हम मे से प्रत्येक का कर्त्तव्य है , केवल मुँह से बड़ी-बड़ी बातें कह लेने से कोई उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता ।

राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्याएँ

श्री विश्वेश्वरैया राष्ट्रीय निर्माण के आकाँक्षी थे । उनके क्रियाशील मस्तिष्क में सदैव राष्ट्रोत्थान और राष्ट्र-रक्षा के विचार और उपाय उठते रहते थे । संसार के अन्य देशों का निरीक्षण करके वे उनकी उन्नति का रहस्य समझते और उनमें जो बातें अपने देश के लिए हितकारी प्रतीत होती उनका यहाँ प्रचार करते । उनका कहना था कि स्वतन्त्र

हो जाने पर जहाँ देश की प्रगति और विकास के कितने ही रास्ते खुल गये हैं, वहाँ कितने ही संकट और जिम्मेदारियाँ भी उसके ऊपर आ गई हैं। उन्होंने किसी प्रकार की स्वार्थ भावना के कारण नहीं, केवल मातृभूमि के प्रति अपना कर्तव्यपालन करने की दृष्टि से निरन्तर देश के नेताओं का ध्यान इस और आकर्षित किया, और स्वयं भी जब तक शक्ति रही उन कामों की पूर्ति में हिस्सा लिया। भारत की प्रगति के लिए जब योजनाबद्ध प्रयत्न करने का प्रचार किया गया तो उन्होंने इस सम्बन्ध में जो सम्मति प्रकट की उसका सारांश इस प्रकार था--

"योजना का अर्थ है काम करने का वह तरीका जो विशेष प्रकार के विकास, उद्देश्य या प्रयोजन पाने के लिए आवश्यक समझा जाय, जन-शासन में जनता की भलाई के लिए योजना बनाने का विचार अन्तर्निहित है। किसी भी राज्य या क्षेत्र के लिए आर्थिक आयोजन एक ऐसे योजनाबद्ध कार्यक्रम की रूपरेखा होगी, जिसमें अपने साधनों और मानव-शक्ति को सर्वोत्तम ढंग से काम में लाकर देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने का उद्देश्य पूरा किया जाय, प्रारम्भ में विकास कार्यों के सामान्य उद्देश्य निम्न होने चाहिए--

(१) जनता के लिये पर्याप्त काम और अन्न इकट्ठा करना।

(२) गुण, मात्रा की दृष्टि से काम बढ़ाना, उत्पादन में उन्नति करना, रोजगार बढ़ाना, तथा आय में वृद्धि करके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना।

(३) साथ ही धीरे-धीरे अन्य राष्ट्र-निर्माण के कामों को आगे बढ़ाना और उनके द्वारा ऐसे स्वस्थ तथा समृद्ध राष्ट्र बनाने का प्रयत्न करना, जो कई दृष्टियों से आत्मनिर्भर तथा आत्मतुष्ट हो।

श्री विश्वेश्वरैया की सम्मति में भारत का व्यक्तिगत या राष्ट्रीय जीवन अभी तक आयोजित नहीं रहा। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पहले कभी इस देश में सरकारी संगठन ने आर्थिक समस्याओं का सम्पूर्ण रूप से सामना किया हो। यहाँ समग्र राष्ट्रीय प्रगति के प्रति सचेत रहने या उसे बढ़ावा देने की प्रथा ही नहीं रही।

अब जब कि सरकार ने विकास कार्यों को बढ़ाने तथा सुधारों के निमित्त योजना आयोग स्थापित कर दिया है, तो उसको सबसे पहले जो काम हाथ में लेने चाहिए। वह यह है--देश के साधनों की दक्षता से पूरा लाभ उठाकर लोगों को अधिक सोचने और अधिक काम करने योग्य बनाना, अन्न की उपज बढ़ाना, देश के साधनों को काम में लाकर आर्थिक शक्ति बढ़ाना और लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना।

पर योजना के विभिन्न कार्यक्रमों की पूर्ति करने से पहले हमको कुछ जड़ की बातों का सुधार और व्यवस्था कर लेना जरूरी है। हमारे सामाजिक संगठन में जो त्रुटियाँ हैं यदि उनके बिना दूर किए नवीन कार्यक्रमों का भारी ढाँचा खड़ा कर दिया गया तो पूरा राष्ट्रीय भवन ही बोझ के कारण चरमरा कर बैठ जायेगा। श्री विश्वेश्वरैया ने इस सम्बन्ध में दो-चार मुख्य बातें ये बतायी थी--

जन-संख्या की समस्या

"भारत की जनसंख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है जबकि इस अनुपात से न तो उत्पादन में वृद्धि हो रही है और न सन्तोषजनक ढंग से रहन-सहन के लिए आय में बढ़ोतरी हो रही है। न्यूयार्क के प्राप्त हाल ही के एक संवाद से पता चला है कि १९४३ में संसार की जनसंख्या २ अरब ३१ करोड़ ६० लाख थी। यह संख्या सन् १९०० की जनसंख्या से ७० करोड़ अधिक है। चीन और जापान की तरह भारत में भी जन्म तथा मृत्यु की दर बहुत बढ़ी-चढ़ी है। विभाजन के पूर्व भारत की जनसंख्या जो १९३१ में ३५ करोड़ ३० लाख थी। सन् १९४५ में ४० करोड़ तीस लाख हो गई। विभाजन के बाद भारत की जनसंख्या ३३ करोड़ ७० लाख थी, और हाल के अनुमानों से पता चला है कि वह प्रतिवर्ष ३२ लाख ५० हजार बढ़ जाती है।"

सन् १९४३ में जब कलकत्ता की सड़कों पर भुखमरी से मरने वालों के चित्र अखबारों में प्रकाशित हुए तो, उन्हें देखकर भारत की जनता को बड़ा भारी धक्का लगा। इससे पता चलता है कि देश की जनसंख्या देश में उपलब्ध खाद्य सामग्री से अधिक हो गई है। अतः इस महासंकट से बचने के तीन-चार उपाय, है, जिन्हें अपनाकर इस संकट को ५०-७५ वर्ष तक टाला जा सकता है--

"यह उपाय या तो अधिक अन्न उपजाने के रूप में हो सकते हैं या परिवार नियोजन के रूप में जैसा कि आबादी रोकने के लिए बहुत से सभ्य देशों में, होता है। अन्यथा हमारा देश अकाल के भय से मुक्त नहीं हो सकता।"

अधिक अन्न उपजाओ

देश में अन्न की कमी को दूर करने के लिए जो 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम चल रहा है उसके सम्बन्ध में श्री विश्वेश्वरैया ने सहमति दी थी कि--

" 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को ठीक ढंग से लागू करने के लिए प्रत्येक गाँव में निम्नलिखित आँकड़े रखना जरूरी है --"

(१) अन्न की खेती वाली भूमि का क्षेत्रफल ।

(२) उत्पादन का अनुमान और पिछली फसल की कीमत ।

(३) प्रत्येक क्षेत्र में जमा अन्न का अनुमान ।

अगर यह आँकड़े इकट्ठे कर लिए जायें और उनके कागजात को ठीक ढंग से रखा जाय, तो ग्रामीण जनता के लिये आँकड़ों को ध्यान में रखते हुए बहुत कुछ समझना सरल हो जायेगा ।

भारत एक ऐसा देश है जहाँ वर्षा के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जहाँ प्रायः हर साल ही ऐसा होता है कि देश के किसी न किसी भाग में सूखा पड़ जाता है । किसी-किसी वर्ष तो इसकी लपेट में कोई [illegible] विनाश फैल [illegible] । इसलिये [illegible] जलाशय बनाकर उनमें सिंचाई के लिए पानी जमा करके रखा जाय ।

ग्राम औद्योगीकरण योजना को अपनाने के लिए यह जरूरी है, कि या तो ग्राम समितियाँ बनाकर उनके इलाके में अधिक अन्न उपजाने का काम उन्हें सौंप दिया जाय या औद्योगिक तथा अन्य उत्पादनों को इस ढंग से नियोजित किया जाय कि वे अपनी आवश्यकताओं के लिये अतिरिक्त अन्न दूसरी जगहों से खरीद सकें ।

दो वर्षों के लिए खाद्य सामग्री

औद्योगीकरण योजना में यह तजवीज भी है कि प्रत्येक ग्राम समिति को अपने क्षेत्र में दो वर्ष के लिए अन्न का भण्डार जमा करने की जिम्मेदारी भी सौंप दी जाय । इसका मतलब यह नहीं कि प्रत्येक परिवार अलग अलग रूप से दो वर्षों के लिये खाद्य सामग्री जमा करें, बल्कि यह है कि उस ग्राम क्षेत्र में एकत्रित अन्न वहाँ की सारी आबादी के लिये दो वर्ष के लिये पर्याप्त हो ।

लगभग पचास वर्ष पूर्व हमारे देश के गाँवों के समृद्ध लोग इस बात की सावधानी रखते थे और आमतौर से साधारण अकाल के दिनों में दूसरे लोगों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी ले लेते थे ।

जनसंख्या पर रोक

"जन-संख्या इस तेजी से बढ़ रही है कि यदि इसे रोकने के उपाय न किये गये तो सम्भव है कि भविष्य मे अकालों की संख्या भी बढ़ जाये । अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि अधिक बच्चे होने से लोगों के पास स्वस्थ परिवार पालने का मौका नहीं रहता और वे सुखी तथा स्थिर जीवन नहीं बिता सकते ।"

"प्रगति के इस युग में छोटे परिवार वाले व्यक्ति अधिक सुख-सुविधायें प्राप्त कर सकते हैं । जिन देशों के लोग अपने परिवारों का ठीक ढंग से नियोजित करते हैं, वे भूख और गरीबी से बचे रहते हैं ।"

जनसंख्या की समस्या पर श्री विश्वेश्वरैया ने जो कुछ कहा है वह सोच-विचार कर और अपने देशवासियों को चेतावनी देने के उद्देश्य से ही कहा गया है । वे उन लोगों में से नहीं थे, जो किसी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लोगों को आतंकित करने के उद्देश्य से कहें । इसलिये उन्होंने इस समस्या से उत्पन्न होने वाले खतरों का बहुत संक्षेप में ही वर्णन किया है । पर आजकल इसकी विभीषिका पहले की अपेक्षा भी दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, और योरोप अमरीका के बड़े-बड़े वैज्ञानिक कह रहे हैं कि यदि तुरन्त ही इसका कोई कारगर उपाय न किया जायेगा तो सौ पचास वर्ष के भीतर यह ऐसा रूप धारण कर लेगी कि इससे समाज का स्तर अत्यन्त गिर जायगा और उसका अस्तित्व नष्ट होने की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी ।

परिवार नियोजन मण्डल

जनसंख्या को सुलझाने का जो एकमात्र व्यावहारिक उपाय विद्वानों की समझ में आया है, वह 'परिवार-नियोजन' है । अब सरकारी प्रचार के कारण लोगों ने इसका नाम सुन लिया है और इसके विषय में कुछ बातें भी सुनने में आती रहती हैं । गैर जिम्मेदार लोग इस सम्बन्ध में उल्टी-सीधी बातें करते रहते हैं । अनेक लोगों की दृष्टि में तो यह केवल एक हँसी का-सा विषय प्रतीत होता है और वे इस सम्बन्ध में तरह-तरह की गपशप करके अपना मनोरंजन करते रहते हैं । पर वास्तव में यह एक गम्भीर और विचारणीय समस्या है और जनसंख्या की समस्या पर विचार करते हुए स्वभावतः उन्होंने 'परिवार-नियोजन' का भी जिक्र किया है । वे लिखते हैं–

"परिवार-नियोजन मण्डल कुछ समय से अमरीका में काम कर रहा है । इसका काम जन्म निरोध द्वारा आबादी को सीमित रखने के बारे में प्रचार करना है । हमारे देश में भी पिछले कुछ वर्षों में कई बड़े-बड़े महिला-सम्मेलन हुए, जिनमें जन्म निरोध पर बल दिया गया था । यदि भारत मे जन्म निरोध न अपनाया गया तो हो सकता है, कि भविष्य मे लोगों को अन्न के अभाव का सामना करना पड़े ।"

"सरकार परिवार-नियोजन के सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत कुछ कर सकती है । वह इस सम्बन्ध की विभिन्न समस्याओं के सुलझाने और उसका प्रचार करने

के लिए चिकित्सा विभाग की एक शाखा खोल सकती है ।"

श्री विश्वेश्वरैया ने जो सुझाव १५-२० वर्ष पूर्व दिया था । वह आज कार्यरूप में परिणित होता दिखायी पड़ रहा है । सरकार कई प्रकार से परिवार नियोजन का प्रचार कर रही है और सरकारी अस्पतालों में इस सम्बन्ध में एक विभाग भी खोला जा चुका है । पर भारत की अन्धविश्वासी और परम्परावादी जनता से यह आशा करना कि वह शीघ्र ही इसके वास्तविक रूप को समझकर सरकारी प्रयत्नों से लाभ उठा सकेगी, ठीक नहीं । अनेक लोग उसके लिए बताये गये कृत्रिम उपायों का विरोध करते हैं । हम भी जन्म निरोध के कृत्रिम उपायों की प्रशंसा नहीं करते और उनमें से कुछ स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक भी सिद्ध हो सकते हैं । भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इसका उपयुक्त मार्ग संयम ही माना जा सकता है ।

पर आजकल जब अधिकांश नवयुवक संयम और यौन-सदाचार की हँसी उड़ाते ही देखे जाते हैं, तो उनसे किस प्रकार आशा की जाय कि वे अपने ऊपर धर्म और नीति का अंकुश रखकर इस समस्या के समाधान का प्रयत्न कर सकेंगे ? ऐसे व्यक्तियों के लिये किसी प्रकार के सरकारी नियमों और चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था की आवश्यकता समझी गई है । श्री विश्वेश्वरैया ने देश की अवस्था को देखकर जनसंख्या की असीमित वृद्धि को देश के लिए एक भावी संकट के रूप में देखा और उसके लिए आरम्भ से ही सचेष्ट हो जाने की आवश्यकता समझी ।

नवीन आर्थिक जीवन-दर्शन

श्री विश्वेश्वरैया यद्यपि अपनी बड़ी-बड़ी योजनाओं के कारण प्रायः बड़े-बड़े पूँजीपतियों से सम्बन्धित रहे थे और वृद्धावस्था में भी उन्होंने भारतीय उद्योगपतियों की तरफ से योरोप, अमरीका के बड़े-बड़े मोटर कारखाने में जाकर भारत में इस कारोबार को जमाने की जाँच-पड़ताल की थी । फिर भी वे समय की गति और समाज के आर्थिक विकास को देखते हुए समाजवाद के प्रश्न को उपेक्षणीय नहीं समझते थे । इस सम्बन्ध में विचार करते हुए, उन्होंने इसे भी भारत की राष्ट्रीय रक्षा की समस्या के रूप में स्वीकार किया था और लिखा था--

"चिन्ता का एक और कारण है--समाज में कुछ वर्गों के विचारों का परस्पर विरोध । यह बात आर्थिक जीवन दर्शन की एक नयी धारा का उदय होने के कारण हो गई है । इस दर्शन के प्रचारक इस बात पर जोर देते हैं कि आय की असमानता--जिसके कारण कई लोगों को तो संसार भर के ऐश्वर्य प्राप्त हैं और कई जीवन की आवश्यकताओं से भी वंचित हैं--समाप्त हो जानी चाहिए । कुछ लोगों के पास सम्पत्ति है और दूसरे लोग अपने निर्वाह के लिए उन पर निर्भर हैं । इससे समाज में असन्तोष की भावना फैल गई है ।"

"वर्तमान समय में उत्पादन के सब साधनों को सम्पत्तिवानों ने अपने हाथ में ले रखा है । यह कहा जाता है कि श्रम का शोषण किया जाता है और उसे धन के उत्पादन में हाथ बँटाने का जो पुरस्कार मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता । जिनके पास सम्पत्ति है, वे श्रमिकों को रोजगार देने में समर्थ हैं । पर वे किसी भी उद्यम से होने वाले लाभ में अपने लिये अनुपात से अधिक हिस्सा रख लेते हैं, जिससे लोगों के जीवन स्तर में बहुत सी असमानतायें उत्पन्न हो जाती हैं । पूँजीमूलक उत्पादन के प्रति एक शिकायत यह भी की जाती है, कि बहुत से उद्योगों में प्रतियोगिता के स्थान पर पूँजीवादियों का एकाधिकार छा जाता है ।"

"समाजवाद यह चाहता है कि वेतन के अतिरिक्त सब प्रकार की व्यक्तिगत आय को खत्म कर दिया जाय । यह इस बात पर बल देता है, कि व्यक्ति का अधिकार केवल उस आदमी पर होना चाहिये जिसका वह स्वयं उपार्जन करें । सम्पत्ति, विरासत में मिली जायदाद, ब्याज, मुनाफा जैसे अन्य साधनों के प्राप्त होने वाली आय बन्द कर देनी चाहिए ।"

"समाजवाद के अनुसार उत्पादन साधनों और वितरण पर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए और उन्हें सहकारी ढंग से चलाना चाहिए । एक और बात, जिसने मेरा ध्यान आकर्षित किया, वह यह है, कि समाजवाद निजी लाभ को उपभोगिता माल तक ही सीमित कर देगा ।"

जीवन सम्बन्धी एक बुनियादी विचार

यद्यपि वर्तमान समय में समाजवाद को भारत ने अपना लक्ष्य स्वीकार कर लिया है और उसके आरम्भिक कार्य को उपयोग में लाने की चेष्टा की जा रही है, पर अभी तक यहाँ के निवासी उसके मूल आधार को भी नहीं समझ सके हैं। परिश्रम के जिन देशों को पूँजावीद कहा जाता है, वहाँ भी सामान्य जनता में एक आम नारा प्रसिद्ध है----

"यदि काम नहीं करोगे तो खाओगे भी नहीं ।"

इस सिद्धान्त पर विचार करते हुए श्री विश्वेश्वरैया ने लिखा था --"अपने काम से ही तो व्यक्ति अपने लिए कमा सकता है । प्रत्येक व्यक्ति को इतना काम करना चाहिए

जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का भली भाँति निर्वाह कर सके और दूसरो पर बोझ न बनें । इसके अलावा कुछ और भी करना चाहिये और अपने देश तथा आसपास रहने वाले लोगों के काम आना चाहिए । अधिक कुशलता तथा लगन से किए गये कार्य का फल भी अधिक मिलता है ।"

"कार्यकुशल बनने के लिए औसत भारतवासी के लिए यह जरूरी है कि वह पहले से अधिक परिश्रम करे और अपनी आदतों को अनुशासन के ढाँचे में ढाले । जहाँ तक सम्भव हो संसार की सामान्य घटनाओं की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए जितने भी महान व्यक्ति संसार में हुए हैं, वे सब निरन्तर परिश्रम के कारण ही महान बन सके थे । "

हम अमरीका वासियों को केवल पूँजीवाद कहकर ही उन्हें स्वार्थी और उपेक्षा के योग्य समझ लेते हैं । पर यह कभी नहीं समझते कि सांसारिक प्रगति के लिए उनमें कुछ बहुत बड़े गुण भी होंगे । श्री विश्वेश्वरैया ने इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि-"अमरीका आज सबसे धनाढ्य राज्य है और अमरीकावासियों का जीवन-स्तर संसार में सबसे ऊँचा है । लेकिन फिर भी जब कभी उद्यम का अवसर आता है तो वे हर बात के लिए तैयार रहते हैं और अपना जीवन तक बलिदान करने से पीछे नहीं हटते । पर भारत में हमारा जीवन-दर्शन ही कुछ और है । इसमे न गति है और न महत्वाकाँक्षा ।"

इसमें सन्देह नहीं कि उद्यम और उद्योग प्रत्येक देश और समाज के उत्थान के लिए अनिवार्य हैं । संसार में जो कुछ सुख-सुविधायें प्राप्त होती हैं उनका मूल उद्यम ही होता है । आलसी और परिश्रम से जी चुराने वाले व्यक्ति कभी उच्च स्थान पर नहीं पहुँच सकते और न अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त सकते हैं । अनेक लोग भारतवासियों को विदेशियों से अधिक परिश्रमी बतलाते हैं । यदि इस कथन में कुछ सच्चाई भी है तो भारतवासी अधिक श्रम किसी मजबूरी अथवा लालच से ही करते हैं । किसी उच्च आदर्श अथवा कर्तव्य पालन की भावना से वे कभी परिश्रम नहीं करते । इतना ही नहीं यहाँ तो अधिकाँश लोगों में यह भावना पायी जाती है कि जो व्यक्ति अपने हाथ से काम नहीं करता और गद्दे तकियों पर पड़ा रहता है, वही बड़ा आदमी है । ऐसे उल्टे विचारों वालों की यदि अवनति हो और वे सदा अभाव और कष्टों में ग्रसित रहें, तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

सच्चा सदाचार

हमारे धार्मिक ग्रन्थों में—स्मृतियों और पुराणों में स्थान स्थान पर शुद्धाचार और सदाचार के बहुत से नियम दिये

भारत में इस मित्रतापूर्ण भावना का अभी अभाव है । साथ में काम करने वाले या पड़ौसियों के प्रति प्रत्येक नागरिक का व्यवहार सद्भावना और मैत्रीपूर्ण होना चाहिए ।

जो कोई नागरिक जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहता है और समाज का एक योग्य सदस्य बनना चाहता है, उसे चारों सूत्र सदा ध्यान में रखने चाहिए । ये सब लाभदायक गुण बिना प्रशिक्षण के प्राप्त नहीं किये जा सकते । इस प्रकार का प्रशिक्षण शिक्षा-संस्थाओं में दिया जाना चाहिए और व्यस्क व्यक्तियों को सरकार के निर्देशन में यह सब कुछ सिखाया जाना चाहिए ।

श्री विश्वेश्वरैया ने अपने जीवन में जितना कार्य किया उतना सम्भवतः १०० इन्जीनियर मिलकर भी न कर सके। देश की सुनियोजित अर्थव्यवस्था के अनुसार कार्य करने पर बल देने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे । उन्होंने इस विषय पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक भी लिखी है । उनके महान् कार्यों के उपलक्ष्य में १९३० में बम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टरेट की सम्माननीय उपाधि दी । बाद में तो लगभग एक दर्जन विश्वविद्यालयों ने उन्हें इस उपाधि से विभूषित किया । ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी थी और स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपति ने सन् १९५५ में उन्हें भारत-रत्न का सर्वश्रेष्ठ अलंकरण प्रदान किया ।

डा. विश्वेश्वरैया के अपने जीवन काल में ही १५ सितम्बर, १९६१ को उनकी जन्म शताब्दी बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी थी । इसी अवसर पर जब किसी ने उनसे उनके दीर्घ जीवन का रहस्य पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया--"सब काम समय पर करना । मैं समय पर काम करता हूँ । समय पर भोजन करता हूँ । समय पर सोता हूँ और समय पर नियमित व्यायाम करता हूँ । क्रोध से कोसों दूर रहता हूँ ।"

यह हमारा सौभाग्य है, कि इस युग निर्माण के अवसर पर श्री विश्वेश्वरैया जैसे महामानव का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने कर्मयोग की महत्ता का जीवित उदाहरण हमारे सामने उपस्थित किया । ऐसे तो देश में इन्जीनियरों और सुयोग्य निर्माण कर्ताओं का सर्वथा अभाव नहीं है, पर इतनी योग्यता होते हुए अपनी समस्त शक्तियों का लोक कल्याण की दृष्टि से उपयोग करने वाले स्वार्थ त्यागी व्यक्ति कठिनता से ही मिलते हैं । हम चाहे जिस क्षेत्र में काम करें, यदि हमारे भीतर सेवा और त्याग की भावना होगी तो हम उसी के द्वारा आत्मोत्थान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकेंगे । श्री विश्वेश्वरैया ने इन्जीनियर जैसे एक विशेष टेक्निकल उद्योग धन्धे से सम्बन्धित थे, पर उनकी हार्दिक लोक-सेवा की भावना के आधार पर वे 'देशपूज्य जन-सेवक' बन गये । यही महानता प्राप्त करने का सच्चा मार्ग है जिसे अपनाकर आप भी उच्च से उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं ।'

भारत और भारतीयता के अनन्य उपासक

राधामोहन गोकुलजी

सन् अट्ठारह सौ सत्तावन के गदर (अथवा भारतीय स्वाधीनता संग्राम) के पश्चात् अँग्रेज शासकों ने इस देश में जो दमन चक्र चलाया, उसके परिणामस्वरूप जनता के हृदयों में घोर आतंक और भय की भावना ने घर कर लिया था। । राजनीति अथवा स्वाधीनता की चर्चा एकान्त में भी करते हुए लोगों को भय लगता था और उनके मन में यह विचार जकड़ने लगता था कि हम अँग्रेजों की अदम्य सैनिक शक्ति का भी मुकाबला नहीं कर सकते । जब इस घटना को १५-२० वर्ष बीत गये और एक ऐसी नई पीढ़ी तैयार हो गई, जो गदर के समय नितान्त बाल्यावस्था में थी और इस कारण दमन की विभीषिका से सर्वथा अपरिचित थी, तब पुनः 'देशोन्नति और देशोद्धार' की चर्चा सुनायी पड़ने लगी। लोकमान्य तिलक और अन्य मनीषियों ने "भारतीयता" और "हिन्दू संस्कृति" जैसी भावनाओं को जागृत करने के लिए उद्योग आरम्भ किया और विदेशी संस्कृति की तरफ अग्रसर होते हुए देशवासियों को "अपना देश, अपना वेष, अपनी भाषा, अपना धर्म" का सन्देश सुनाने लगे ।

देश के ऐसे ही वातावरण में कुछ प्रमुख नगरों में "स्वदेशी-आन्दोलन" का सूत्रपात हुआ । यह सन् १९०५ में बंगभंग के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले प्रचण्ड स्वदेशी आन्दोलन का पूर्वरूप (बीज बोने वाला) था और उसमें केवल थोड़े ही प्रबुद्ध व्यक्तियों ने ही भाग लिया था । इलाहाबाद में भी इसके लिये कुछ आयोजन किया गया और देशभक्त वक्ताओं ने बताया कि किस प्रकार अँग्रेज व्यापारी भारत के छोटे-मोटे उद्योगों को नष्ट करके यहाँ की सम्पत्ति को विदेश ले जा रहे है, और इस देश में बेकारी की वृद्धि कर रहे हैं । श्रोताओं में एक बीस वर्षीय नवयुवक भी था जिस पर इन उद्गारों का बड़ा प्रवाह पड़ा, यद्यपि उस समय इसकी आर्थिक अवस्था बड़ी निर्बल थी और उसे निर्वाह के लिए पर्याप्त संघर्ष करना पड़ रहा था, तो भी देशहित की प्रेरणादायक बातें सुनकर उसने आजीवन स्वदेशी वस्त्र व्यवहार का व्रत ले लिया और सभास्थल में ही प्रस्तावित स्वदेशी का ही प्रचार करने वाली कंपनियों का २५ का एक

जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का भली भाँति निर्वाह कर सके और दूसरों पर बोझ न बनें। इसके अलावा कुछ और भी करना चाहिये और अपने देश तथा आसपास रहने वाले लोगों के काम आना चाहिए। अधिक कुशलता तथा लगन से किए गये कार्य का फल भी अधिक मिलता है।"

"कार्यकुशल बनने के लिए औसत भारतवासी के लिए यह जरूरी है कि वह पहले से अधिक परिश्रम करे और अपनी आदतों को अनुशासन के ढाँचे में ढाले। जहाँ तक सम्भव हो संसार की सामान्य घटनाओं की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए जितने भी महान व्यक्ति संसार में हुए हैं, वे सब निरन्तर परिश्रम के कारण ही महान बन सके थे।"

हम अमरीका वासियों को केवल पूँजीवाद कहकर ही उन्हें स्वार्थी और उपेक्षा के योग्य समझ लेते हैं। पर यह कभी नहीं समझते कि सांसारिक प्रगति के लिए उनमें कुछ बहुत बड़े गुण भी होंगे। श्री विश्वेश्वरैया ने इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि–"अमरीका आज सबसे धनाढ्य राज्य है और अमरीकावासियों का जीवन-स्तर संसार में सबसे ऊँचा है। लेकिन फिर भी जब कभी उद्यम का अवसर आता है तो वे हर बात के लिए तैयार रहते हैं और अपना जीवन तक बलिदान करने से पीछे नहीं हटते। पर भारत में हमारा जीवन-दर्शन ही कुछ और है। इसमें न गति है और न महत्वाकाँक्षा।"

इसमें सन्देह नहीं कि उद्यम और उद्योग प्रत्येक देश और समाज के उत्थान के लिए अनिवार्य है। संसार में जो कुछ सुख-सुविधायें प्राप्त होती है उनका मूल उद्यम ही होता है। आलसी और परिश्रम से जी चुराने वाले व्यक्ति कभी उच्च स्थान पर नहीं पहुँच सकते और न अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त सकते है। अनेक लोग भारतवासियों को विदेशियों से अधिक परिश्रमी बतलाते है। यदि इस कथन में कुछ सच्चाई भी है तो भारतवासी अधिक श्रम किसी मजबूरी अथवा लालच से ही करते हैं। किसी उच्च आदर्श अथवा कर्तव्य पालन की भावना से वे कभी परिश्रम नहीं करते। इतना ही नहीं यहाँ तो अधिकाँश लोगों में यह भावना पायी जाती है कि जो व्यक्ति अपने हाथ से काम नहीं करता और गद्दे तकियों पर पड़ा रहता है, वही बड़ा आदमी है। ऐसे उल्टे विचारों वालों की यदि अवनति हो और वे सदा अभाव और कष्टों में ग्रसित रहें, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

सच्चा सदाचार

हमारे धार्मिक ग्रन्थों में—स्मृतियों और पुराणों में स्थान स्थान पर शुद्धाचार और सदाचार के वहुत से नियम दिये गये हैं। उनमें प्रायः शौच, स्नान, मिट्टी और जल से सब पदार्थों को शुद्ध करना, सन्ध्या-वन्दन आदि का जिक्र पाया जाता है। उनमें कहा गया है कि शौच के उपरान्त दाँयें हाथ से मिट्टी से सोलह बार, बाँयें को चौबीस बार खूब रगड़ कर धोयें। गुदा को भी अनेक बार मिट्टी लगाकर धोना आवश्यक है। इस पर सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है कि अपने दैनिक धन्धे को किस प्रकार पूरे परिश्रम से किया जाय और अन्य कार्यकर्ताओं के साथ किस प्रकार का सहयोग भाव रखकर सामाजिक सुरक्षा के उद्देश्य की पूर्ति की जाय। हमारे यहाँ सार्वजनिक हित की दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं पर बहुत कम ही विचार किया गया है, जिसको एक बहुत बड़ी त्रुटि समझना चाहिए।

श्री विश्वेश्वरैया ने राष्ट्रीय चरित्र के इस अभाव को अच्छी तरह समझा और संसार के अति उन्नतिशील देशों को स्थिति का अध्ययन करके भारतवासियों के लिए कुछ आचार नियम बनाये। उनकी संक्षिप्त व्याख्या करते हुए उन्होंने अपनी 'मेरे कामकाजी जीवन के संस्मरण' नामक पुस्तक में लिखा है—

"आचार नियमन के लिए जो भी नियम बनायें जायें इतने संक्षिप्त रूप में होने चाहिए कि भारतीय नागरिक उन्हे आसानी से याद रख सकें। इन नियमों की रूपरेखा को मैने चार भागों में बाँटने का प्रयत्न किया है—"

(१) कठोर-काम—औसत भारतीय हर एक काम को गम्भीर रूप से नहीं करता। साधारणतः वह बहुत कठोर काम करता है। उसका नतीजा यह है कि देश में कार्यकुशलता का स्तर और आर्थिक स्थिति बहुत हीन है। पश्चिमी देशों के लोग कड़ी मेहनत करते हैं। इससे काम ठीक होता है और उपार्जन शक्ति भी ठीक रहती है।

(२) नियोजित तथा अनुशासित कार्य— यदि काम अनुशासित ढंग से किया जाय और दिन में प्रत्येक काम के घण्टे नियत कर दिये जायें, तो इससे काम के मूल्य मे बड़ी वृद्धि होगी। अनुशासित ढंग से किये जाने वाले कठोर श्रम द्वारा कामगर (काम करने वाला भी) स्वस्थ रहता है और दीर्घायु कठोर होता है।

(३) कार्यकुशलता— *कार्यकुशलता* का अर्थ है कि जहाँ तक सम्भव हो सकें मनुष्य अपने काम को परिश्रम, महत्वाकांक्षा, अनुशासन तथा नियम के साथ करे। साधारणतः काम करने का स्तर जितना ऊँचा होगा, उतना ही अधिक उसका पुरस्कार मिलेगा।

(४) विनय और सेवा— पश्चिमी देशों में दूसरों के साथ मिलकर काम करने की भावना को बहुत सराहा जाता है।

भारत में इस मित्रतापूर्ण भावना का अभी अभाव है । साथ में काम करने वाले या पड़ौसियों के प्रति प्रत्येक नागरिक का व्यवहार सद्भावना और मैत्रीपूर्ण होना चाहिए ।

जो कोई नागरिक जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहता है और समाज का एक योग्य सदस्य बनना चाहता है, उसे चारों सूत्र सदा ध्यान में रखने चाहिए । ये सब लाभदायक गुण बिना प्रशिक्षण के प्राप्त नहीं किये जा सकते । इस प्राकर का प्रशिक्षण शिक्षा-संस्थाओं में दिया जाना चाहिए और व्यस्क व्यक्तियों को सरकार के निर्देशन में यह सब कुछ सिखाया जाना चाहिए ।

श्री विश्वेश्वरैया ने अपने जीवन में जितना कार्य किया उतना सम्भवतः १०० इन्जीनियर मिलकर भी न कर सके। देश की सुनियोजित अर्थव्यवस्था के अनुसार कार्य करने पर बल देने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे । उन्होंने इस विषय पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक भी लिखी है । उनके महान् कार्यों के उपलक्ष्य में १९३० में बम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टरेट की सम्माननीय उपाधि दी । बाद में तो लगभग एक दर्जन विश्वविद्यालयों ने उन्हें इस उपाधि से विभूषित किया । ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी थी और स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपति ने सन् १९५५ में उन्हें भारत-रत्न का सर्वश्रेष्ठ अलंकरण प्रदान किया ।

डा. विश्वेश्वरैया के अपने जीवन काल में ही १५ सितम्बर, १९६१ को उनकी जन्म शताब्दी बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी थी । इसी अवसर पर जब किसी ने उनसे उनके दीर्घ जीवन का रहस्य पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया--"सब काम समय पर करना । मैं समय पर काम करता हूँ । समय पर भोजन करता हूँ । समय पर सोता हूँ और समय पर नियमित व्यायाम करता हूँ । क्रोध से कोसों दूर रहता हूँ ।"

यह हमारा सौभाग्य है, कि इस युग निर्माण के अवसर पर श्री विश्वेश्वरैया जैसे महामानव का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने कर्मयोग की महत्ता का जीवित उदाहरण हमारे सामने उपस्थित किया । ऐसे तो देश में इन्जीनियरों और सुयोग्य निर्माण कर्ताओं का सर्वथा अभाव नहीं है, पर इतनी योग्यता होते हुए अपनी समस्त शक्तियो का लोक कल्याण की दृष्टि से उपयोग करने वाले स्वार्थ त्यागी व्यक्ति कठिनता से ही मिलते हैं । हम चाहे जिस क्षेत्र में काम करे, यदि हमारे भीतर सेवा और त्याग की भावना होगी तो हम उसी के द्वारा आत्मोत्थान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकेंगे । श्री विश्वेश्वरैया ने इन्जीनियर जैसे एक विशेष टेक्निकल उद्योग धन्धे से सम्बन्धित थे, पर उनकी हार्दिक लोक-सेवा की भावना के आधार पर वे 'देशपूज्य जन-सेवक' बन गये । यही महानता प्राप्त करने का सच्चा मार्ग है जिसे अपनाकर आप भी उच्च से उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं ।'

भारत और भारतीयता के अनन्य उपासक

राधामोहन गोकुलजी

सन् अट्ठारह सौ सत्तावन के गदर (अथवा भारतीय स्वाधीनता संग्राम) के पश्चात् अँग्रेज शासकों ने इस देश में जो दमन चक्र चलाया, उसके परिणामस्वरूप जनता के हृदयों में घोर आतंक और भय की भावना ने घर कर लिया था। । राजनीति अथवा स्वाधीनता की चर्चा एकान्त में भी करते हुए लोगों को भय लगता था और उनके मन में यह विचार जकड़ने लगता था कि हम अँग्रेजों की अदम्य सैनिक शक्ति का भी मुकाबला नहीं कर सकते । जब इस घटना को १५-२० वर्ष बीत गये और एक ऐसी नई पीढ़ी तैयार हो गई, जो गदर के समय नितान्त बाल्यावस्था मे थी और इस कारण दमन की विभीषिका से सर्वथा अपरिचित थी, तब पुनः 'देशोन्नति और देशोद्धार' की चर्चा सुनायी पड़ने लगी। लोकमान्य तिलक और अन्य मनीषियों ने "भारतीयता" और "हिन्दू संस्कृति" जैसी भावनाओं को जागृत करने के लिए उद्योग आरम्भ किया और विदेशी संस्कृति की तरफ अग्रसर होते हुए देशवासियों को "अपना देश, अपना वेष, अपनी भाषा, अपना धर्म" का सन्देश सुनाने लगे ।

देश के ऐसे ही वातावरण में कुछ प्रमुख नगरों में "स्वदेशी-आन्दोलन" का सूत्रपात हुआ । यह सन् १९०५ में बंगभंग के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले प्रचण्ड स्वदेशी आन्दोलन का पूर्वरूप (बीज बोने वाला) था और उसमें केवल थोड़े ही प्रबुद्ध व्यक्तियों ने ही भाग लिया था । इलाहाबाद में भी इसके लिये कुछ आयोजन किया गया और देशभक्त वक्ताओं ने बताया कि किस प्रकार अँग्रेज व्यापारी भारत के छोटे-मोटे उद्योगों को नष्ट करके यहाँ की सम्पत्ति को विदेश ले जा रहे हैं, और इस देश मे बेकारी की वृद्धि कर रहे हैं । श्रोताओं में एक बीस वर्षीय नवयुवक भी था जिस पर इन उद्गारों का बड़ा प्रवाह पड़ा, यद्यपि उस समय इसकी आर्थिक अवस्था बड़ी निर्बल थी और उसे निर्वाह के लिए पर्याप्त संघर्ष करना पड़ रहा था, तो भी देशहित की प्रेरणादायक बातें सुनकर उसने आजीवन स्वदेशी वस्त्र व्यवहार का व्रत ले लिया और सभास्थल में ही प्रस्तावित स्वदेशी का ही प्रचार करने वाली कंपनियों का २५ का एक

शेयर खरीद लिया । सौभाग्यवश यह संस्था चिरंजीवी सिद्ध हुई । सन् १८८५ में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओं से प्रेरित होकर एक शेयर खरीदने वाला यह गरीब नवयुवक राधामोहन गोकुलजी ही थे, जिन्होंने आगे चलकर अपना समस्त जीवन देश जाति और समाज की सेवा में लगा दिया ।

इसी वर्ष 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' का जन्म हुआ उसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ, और वहाँ पर जो प्रस्ताव पास किए गये उनका प्रचार करने के लिए इलाहाबाद के देशभक्तों ने भी एक सभा की । उसकी अध्यक्षता उस जमाने के एक सुप्रसिद्ध वकील पं. सुन्दर लाल ने की थी और प्रधान वक्ता पं. मदनमोहन मालवीय थे । मालवीय जी आरम्भ से ही भाषण कला में अद्वितीय थे । उनके उद्गारों का प्रभाव राधामोहन जी पर भी खूब पड़ा और उनके राजनैतिक जीवन का श्रीगणेश भी उसी समय से हो गया ।

जीविकोपार्जन के लिए कई स्थानों पर संघर्ष करते हुए उपर्युक्त घटना के तीन-चार वर्ष बाद ये कानपुर आ गये । वहाँ कोई ठीक कार्य इनको मिला या नहीं यह तो विदित नहीं, पर हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री प्रताप नारायण मिश्र के सम्पर्क में आने से हिन्दी प्रेम का रंग इन पर खूब चढ़ गया । प्रताप नारायणजी भारतीय संस्कृति के कट्टर भक्त थे और उनका आदर्श था–"सब मिल बोलहु एक जवान-हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ।" राधामोहन जी भी इसी मन्त्र के उपासक बन गये और आजीवन इस पर दृढ़ रहे । यहाँ तक कि ये मिश्र जी को सहयोग देने की इच्छा से उनके द्वारा प्रकाशित 'ब्राह्मण' मासिक पत्र के आनरैरी मैनेजर बनकर उसका प्रचार बढ़ाने में दत्तचित्त हो गये । इनका यह मातृ-भाषा प्रेम भी निरन्तर बढ़ता गया और आगे चलकर ये हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और सम्पादक बन गये ।

राजनीति ही नहीं समाज और धर्म के भी क्रान्तिकारी

श्री राधामोहन जी (जन्म १८६५ और मृत्यु १६३५–सन् अट्ठारह सौ पैंसठ से उन्नीस पैंतीस तक) के पूर्वज खेतड़ी (राजस्थान) के निवासी थे जो जीविका के लिए इलाहाबाद के निकट मदरी नामक स्थान में बस गये थे । वहीं इनका जन्म पौष कृष्ण १३ सम्वत् १६२२ के दिन ला. गोकुल चन्द के घर में हुआ । आगे चलकर रोजगार के सिलसिले में ही राधामोहन जी इलाहाबाद कानपुर आदि कई स्थानों में रहे और अन्त में आगरा में स्थायी रूप से बस गये । सन् १६०४ में स्वदेशी आन्दोलन छिड़ने पर ये अकेले ही कलकत्ता पहुँच गये, जहाँ एक दृष्टि से इनके सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश हुआ । दो चार वर्ष के भीतर ही वहाँ क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया, उग्र विचारों के अनुयायी होने के कारण राधामोहन जी भी उसमें भाग लेने लगे ।

पर राधामोहन जी राजनैतिक दृष्टि से ही क्रान्तिकारी नहीं थे, उससे भी बढ़कर वे सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में क्रान्ति के पक्षपाती थे । लगभग तीस वर्ष की आयु में जब उनकी पत्नी का देहान्त हुआ और उनके परिवार वालों ने दुबारा विवाह करने का आग्रह किया, तो इन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यदि विवाह करूँगा, तो विधवा के साथ ही करूँगा क्योंकि छोटी आयु की कन्या के साथ एक प्रौढ़ व्यक्ति के विवाह करने का कोई औचित्य नहीं है । जब उनके माता-पिता ने प्राचीन प्रथानुसार विवाह करने के लिए बहुत दबाया तो वे घर छोड़कर भाग गये । वहाँ से लौटकर वैश्य समाज के प्रसिद्ध समाज सुधारक रायबहादुर ला.-बैजनाथ के सम्पर्क में आकर कई वर्ष तक समाज सुधार के प्रचारक के रूप में काम करते रहे । कलकत्ते में भी कुछ ही समय बाद जात-पाँत की समस्याओं को लेकर पुराने ढर्रे के पण्डितों पुरोहितों से मतभेद हो गया, तो इन्होंने "सत्य सनातन धर्म" के नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकालकर रूढ़िवादियों की खूब खबर ली । 'सत्य सनातन धर्म' आर्य समाज का भी जोरदार समर्थक था और धर्म तथा परम्परा के नाम पर प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का डटकर मुकाबला करता था । राजनीतिक दृष्टि से यह लोकमान्य तिलक का अनुयायी था और उस समय के नवयुवक उसके गर्मागर्म लेखों को बहुत पसन्द करते थे ।

सन् १६०४ में ही आगरा आर्य-समाज में एक मुसलमान को शुद्ध किया गया । उस अवसर पर अन्य अनेक व्यक्तियों के साथ उसके हाथ से बाँटी गई मिठाई इन्होंने भी खायी थी । इस घटना को लेकर पुराण पन्थियों ने बड़ा शोरगुल मचाया । इस पर उनकी माता ने इनको समझाया कि "तू मिठाई खाने से इन्कार कर दे" पर इन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया । वे हिन्दू समाज के पक्के सुधारक थे, इसलिए रूढ़िवादियों के सामने डटे रहे । यह घटना वैसी ही हुई जिस प्रकार महाराष्ट्र के महान् नेता श्री महादेव गोविन्द रानाडे के ईसाइयों के एक उत्सव मे उनके हाथ की चाय पी लेने से हुई थी । महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो में इस पर हल्ला-गुल्ला मचा और चाय पी लेने वाले सभी लोगों को जाति बहिष्कृत करने का निर्णय किया । श्री रानाडे यद्यपि अग्रगण्य समाज

सुधारक थे, तो भी घर वालों के आग्रह से विवश होकर प्रायश्चित करने को सहमत हो गये । पर राधामोहन जी स्वभाव से उग्रवादी थे, इसलिए उन्होंने कभी जाति के 'पंचों' या 'पुराने लोगों' की परवाह नहीं की और जन्म भर इसी प्रकार सामाजिक कुरीतियों को अमान्य करते रहे, यद्यपि वे जातीयता के सुदृढ़ समर्थक थे और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए सदा कटिबद्ध रहते थे पर ऐसी रूढ़ियों और परम्पराओं को स्वीकार करने को हर्गिज तैयार नहीं होते थे, जो समयानुकूल न रही हों और जिनसे देश और जाति में किसी प्रकार की हीनता आती हो ।

सच्चे धर्म के अनुयायी

राधामोहन जी के धार्मिक विचार बहुत सुलझे हुए थे । इस दृष्टि से वे किसी शास्त्र, आचार्य अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे, वरन् अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से निर्णय करने पर जो कुछ समझ में आता था वही उनका धर्म था । उनकी आरम्भिक रचनाओं में तो जगह-जगह ईश्वर और धर्म के प्रति उसी प्रकार श्रद्धा व्यक्त की गई है जैसे कोई पक्का धार्मिक व्यक्त करता है । उनकी कविता पुस्तक 'नीति छन्दावली' का प्रथम पद्य यह है–

जय जगत जगदीश, विपत हरण-अशरण शरण ।
नमो नवाऊं शीश, जो पालिय कारण करण ।।

पर इसका आशय यह नहीं कि राधामोहन जी उस धर्म को मानते थे, जिसे पण्डा-पुरोहितों ने अपना पेट भरने के लिए फैला रखा है , उस अन्धविश्वास पर आधारित धर्म के तो वे सदा विरोधी ही रहे, क्योंकि वह मनुष्य का आत्मोत्थान करने के बजाय उसके पतन का मार्ग खोलता है । आरम्भ से ही वे उसी धर्म के अनुयायी थे, जो मनुष्य को परमार्थ की प्रेरणा देता है और अन्य मनुष्यों के साथ प्रेम, सहयोग समता का व्यवहार करने की शिक्षा देता है ।

उन्होंने सन् १९१२ में अपनी 'नीति दर्शन' नामक पुस्तक में लिखा था–

"भारत की आर्य जाति के दस नियमों में से दो नियम बहुत विचारणीय हैं (१) निष्पक्ष होकर सत्य के ग्रहण करने में सदैव तत्पर रहना और (२) समस्त संसार का उपकार करना ही अपना जीवनोद्देश्य मानना । इतने से ही हमको मालूम हो जाता है कि मनुष्य का धर्म वही है, जो सार्वभौम और सर्व हितकारी हो । नहीं तो उसे ईश्वरीय धर्म नहीं कह सकते । हमको बहुत ही कोमलता के साथ दूसरों के स्वत्वों की रक्षा करनी चाहिए । स्वार्थी जीवन ही पशु जीवन है । पुनः एक बात इससे और निकलती है कि हम दूसरों के साथ सर्वथा नेकी और भलाई करें, दूसरों के शुभेच्छु हों, वे चाहें जैसे हों । पर इसका अर्थ नहीं कि अधिकांश सृष्टि के प्राणियों को दुःख देने वाले दुष्टों के साथ ही वैसे ही बरतें जैसा कि साधुओं (सज्जनों) के साथ नहीं, हम इन दुष्टों के शुभेच्छु तो हों, पर इनके साथ हमारा हित साधन यही है कि शिक्षा से, दण्ड से इनको सन्मार्ग पर लावें । यदि वे तब भी न सुधरें तो उनको इस योनि से मुक्त कर दें, जिससे वे दूसरी योनि में जाकर अपने किये पापों को भोगें और अधिक पाप संग्रह न करें । हमारा धर्म करने और कहने में एक-सा हो, यह नहीं कि दूसरों से तो कहें कि जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने फेर दो, जैसा ईसाई धर्म मे लिखा है पर स्वयं लूट-खसोट, हत्यारापन, झूठ और पक्षपात का आचरण करते फिरें । हमें देखना होगा कि हमारे कर्म हमारे कथन के अनुसार ही हों । जो आचरण नहीं करता, किन्तु मुख से अच्छी बातें बकता है, वह ठग है ।"

वास्तव में राधामोहन जी मानव-धर्म का मानने वाले थे, जो किसी धर्माचार्य अथवा धर्म ग्रन्थ के पीछे नहीं बँधा रहता, वरन् अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से काम लेकर सदैव देशकाल के अनुसार ऐसा काम करता है, जिससे सर्व का साधारण हित हो । ऐसे धर्म में सज्जनों का संरक्षण और दुष्टों का दलन भी सम्मिलित है । यह सिद्धान्त भगवान कृष्ण की 'गीता' के भी अनुकूल है । जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि–"परित्राणाय साधूनां विनाशायाच दुष्कृताम" । सच्चा मानव-धर्म का अनुयायी जिस प्रकार सत्पुरुषों की सहायता, सहयोग करता है, उसी प्रकार दुष्टों को दण्डित अथवा नष्ट भी करता है । राधामोहन जी आजीवन इसी सिद्धान्त के अनुयायी रहे । वर्तमान समय में हिन्दू धर्मानुयायियों की गति-मति बहुत कुछ विपरीत हो गई है। इसलिये वे अपना आदर्श विदेशों के मैजिनी और गैरीबाल्डी जैसे महापुरुषों को मानते थे । जिन्होंने वर्तमान समय में अत्याचार पीड़ितों की रक्षार्थ अपना जीवन अर्पित कर दिया मैजिनी भगवद्गीता के वर्णन के अनुसार सच्चा आत्मज्ञानी था और उसने जो 'ड्यूटीज आफ मैन' (मानव-धर्म) नाम का ग्रन्थ लिखा है वह गीता की तरह ही कर्मयोग और कर्त्तव्यपरायणता के सिद्धान्तों से परिपूर्ण है । 'देशभक्ति मैजिनी' नामक पुस्तक में राधामोहन जी ने मैजिनी के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है–

"मैजिनी का धर्म सार्वभौम और उच्च लक्षणों से युक्त था । 'धर्म' शब्द का वास्तविक आशय 'सम्मिलन' (एसोसियेशन) है, जिसके द्वारा पृथ्वी पर समानता और स्वतन्त्रता की स्थापना की जा सकती है । यह लोगों को

उनके स्वत्व और दायित्व का ज्ञान कराता है । इस तथ्य का ज्ञान केवल व्यक्तियों को ही नहीं जातियों को भी करा देना चाहिए कि यह सम्मिलन धर्म रूपी पृथ्वी को पवित्र करने वाला । यह पृथ्वी को वैसा ही बनाने वाला है जैसा कि परमात्मा चाहता है कि वह बने । यही रंगमंच है जहाँ से पूर्णतया प्राप्त होगी और भविष्य में मनुष्य जाति को महान तथा प्रतिष्ठित जीवन प्राप्त होगा ।"

मैजिनी का शिष्य गैरीवाल्डी भी महान परोपकारी और सज्जनों की रक्षा का प्राण देने वाला व्यक्ति था । योरोप के बड़े-बड़े सेनाध्यक्ष उसे एक बहुत योग्य और रणकुशल सेनापति मानते थे । पर उसने अपनी शक्ति और सूझबूझ को अन्य फौजी अधिकारियों की तरह दूसरे देशवासियों को मारने लूटने अथवा उनका राज्य हड़पने में नहीं लगाया, वरन् सदा जहाँ किसी पर अत्याचार होते देखा, उसी की सहायता के लिए युद्ध मे कूद पड़ा । वास्तव में यही सच्चे धर्मात्मा का लक्षण है, न कि दिन भर दूसरों की जेब काटने वाले और सुबह शाम मन्दिर में जाकर घंटा बजा आने वाले धर्मात्मा कहे जा सकते हैं । इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर राधामोहनजी ने 'जोजेफ गैरीबाल्डी' के जीवन चरित्र में बड़े जोर के साथ लिखा है—

"यदि कोई प्रश्न करे कि गैरीवाल्डी आस्तिक और धर्म प्राण था ? तो मैं दावे के साथ कहूँगा कि—"हाँ । वह ईश्वर की सत्ता और उपासना, प्रार्थना में पूर्ण विश्वास रखने वाला, सत्यवादी व सदाचारी वीर था । मनुष्य भक्ति, देश-प्रेम निष्काम-कर्मयोग उसके प्रमुख स्वाभाविक लक्षण थे .... हमें गैरावाल्डी के चरित्र से इस बात का उत्तम प्रमाण मिलता है, कि परमात्मा किस प्रकार सत्यवादियों त्यागियों को राह बताता है, उनकी रक्षा करता है, उन पर अपनी दया दिखाता है ।"

सच पूछा जाय तो आधुनिक युग में मैजिनी और गैरीवाल्डी की तुलना कृष्ण-अर्जुन से ही की जा सकती है । मैजिनी ने आजन्म ब्रह्मचारी रहकर और एक महान तपस्वी के समान् त्यागमय जीवन विताकर पराधीन इटली देश
अत्याचारियों से मुक्त कराया । गेरीवाल्डी ने यद्यपि विर
कर लिया, पर केवल उस उद्‌देश्य से कि उसे अप
परमार्थ-प्रयोजनो को पूरी करने के लिए एक
मिल जाय और वास्तव में उसकी पत्नी 'एनिटा' ऐसी ही
सेवा व्रतधारी वीरांगना सिद्ध हुई । वह युद्धों में
गोले और गोलियों की वर्षा के बीच से
कंधा भिड़ाकर लड़ी औरअन्तमें
के लिए जूझते हुए ही दिये ।

पर मुग्ध थे और अपने ग्रन्थों में ही नहीं, बातचीत के भाषणों में भी वे उनकी प्रशंसा करते अघाते नहीं थे । वे स्वयं भी इन्हीं आदर्शों से अनुप्राणित थे और जन्म भर इन्हीं के मार्ग पर चलकर विदेशी शासन से पीड़ित स्वदेश के उद्धार के लिए सर्वस्व की बाजी लगाते रहे ।

पाखण्ड खण्डन

यह स्वाभाविक ही था कि इस प्रकार के बुद्धि और तर्कसंगत मानव-धर्म का अनुयायी वर्तमान समय में भारतवर्ष में फैले हुए धर्म के विकृत रूप को देखकर उसके खण्डन में लग जाता । जब राधामोहन जी ने देखा कि स्वार्थी लोग प्राचीन धर्म के आध्यात्मिक आदर्शों का नाम लेकर हर तरह से अपना मतलब, अपनी हीन वासनाओं को पूरा करने में लगे हैं, तो वे ऐसे 'धर्म' के विरोधी हो गये । इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुये इन्होंने 'धर्म और ईश्वर' नामक निबन्ध में लिखा—

"हमने देखा है कि लोग धर्म को नहीं मानते, पर अपने आपको और दूसरों को धोखा देते रहते हैं, कि हम धर्म के बड़े पक्के मानने वाले हैं । धर्म के मामले में हम मुक्त कण्ठ से कह सकते हैं कि लोग बड़े ही कपटी, कुटिल और चतुराई से अनाचार करने वाले होते हैं । बड़े-बड़े पण्डित या दार्शनिक शब्दों को वाक्यों का मनमाना अर्थ खींचतान कर लगा लेते हैं । यहाँ तक कि मूल धर्म का नाम निशान तक बाकी नहीं रहता । ईश्वर का ऐसा अनिश्चित और कल्पित अर्थ कर देते हैं, जो बुद्धि के बाहर होता है ।'

अब यह मालूम हो गया है कि धर्म के ठेकेदार कहलाने वाले हृदय से न तो ईश्वर को मानते हैं और न धर्म के नियमों का पालन करते हैं, वरन् उनका मुख्य उद्‌देश्य धर्म के नाम पर अन्जान और गरीब लोगों को बहकाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है । इससे राधामोहन जी के विचार बहुत कुछ बदल गये और वे इस पाखण्ड का अध्ययन करके
जनता के उद्धार उपाय पर विचार करने
। अन्त में पर पहुँचे कि जब तक
के इस दिख से निकालकर उनको
कराया जायगा, तब
का ।

'कम्यूनिज्म क्या है ?' नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा था—

"अत्याचारियों के हाथ में 'धर्म' एक ऐसा कारण साधन है, जिससे जनता में विषमता स्थापित होती चली जाती है । यह मनुष्यों में समता को नहीं रहने देता । इसके द्वारा धनिक, विद्वान् और राजवर्गीय व्यक्ति (शासकगण) अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं । श्रमिकों (मजदूरों) में इसी के द्वारा गुलामी की आदत कायम रखी जाती है । धर्म के बहाने लोगों को अनहोनी बातों पर--चमत्कारों पर विश्वास दिलाकर मनुष्यों के अज्ञान को चिरस्थायी बनाया जाता है । इस तरह छल से चालाक लोग अपना काम बनाते हैं और श्रमिक नादान और ये पढ़े लुटते हैं । बड़े-बड़े महन्त पोप, पण्डे, पुजारी, मौलवी मुल्ले इसी अज्ञान की बदौलत मजे उड़ाते हैं । वे धनियों की शासन सत्ता को कायम रखते हैं और गरीब लोग बराबर लुटाते रहते हैं ।'

धर्म के नाम पर किये जाने वाले इस छल से राधामोहन जी बहुत असन्तुष्ट होते थे और इस कारण जब कभी अवसर आता था तो धर्म को विकृत करने वाले पण्डित, पुरोहित, पुजारी, महन्त आदि की बहुत कड़े शब्दों में आलोचना किया करते थे । वास्तव में वे धर्म के विरुद्ध नहीं थे, उनका आशय धर्म के नाम पर किये जाने वाले ढोंग और पाखण्ड से ही था । अन्यथा धर्म को वे भी मानव-समाज को नियन्त्रित रखने के लिए आवश्यक मानते थे । वे भी समझते थे कि यदि अधिकांश लोग अधर्मी और उच्छृंखल हो जाये तो देश और जाति का अकल्याण ही होगा । पर वे उसी धर्म को स्वीकार कर सकते थे, जो न्याय और समझदारी .पर आधारित हो । वे इस प्रकार के धर्म पर सबका समान अधिकार मानते थे और कहते थे, कि सभी मनुष्यों को ऐसे धर्म के पालन में स्वतन्त्रता होनी चाहिए । इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने 'नीति-दर्शन' (दूसरा खण्ड) में लिखा था--

"मनुष्य स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक ईश्वरोपासना अपने सुख साधन के निमित्त अपने प्रकाश के आधार पर कर सकता है, परन्तु उसका कोई कार्य समाज के लिये हानिकारक नहीं होना चाहिये । उसे अधिकार है कि वह चाहे जितने लोगों को साथ लेकर, जिस रीति से चाहे ईश्वर प्रार्थना आदि करे । अथवा अपने मत (धर्म सिद्धान्त) को स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरों को भी सुख देने के उद्देश्य से सिखावे सुनाये और बताये । लेकिन वह अन्य लोगों की भी ऐसी ही स्वतन्त्रता में बाधक न हो और अन्तः करण में सदा और.शुद्ध भाव रखे ।

"समाज (कुछ व्यक्ति या कोई समुदाय) इस स्वतन्त्रता पर इस प्रकार आघात करते हैं कि वे अन्य मत को बलपूर्वक

रोकने या प्रचलित करने लग जाते हैं, जैसा कि पहले समय में मुसलमानों ने किया था । अथवा वे अपने सम्प्रदाय की विशेष रूप से सहायता करते हैं और दूसरों के कष्ट और बाधाओं को देखकर चुप रह जाते हैं, जैसा अँग्रेजी शासन में ईसाइयों के साथ किया जाता था ।"

मानवीय प्रगति का शत्रु अन्ध-विश्वास

हमारे धर्म-शास्त्रों में श्रद्धा और निष्ठा को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है । ये दोनों तत्व ही सफलता के मुख्य आधार होते हैं, विशेषतः आध्यात्मिक क्षेत्र में । शास्त्रों में कहा गया है कि आन्तरिक दृढ़ श्रद्धा के बल पर ही मनुष्य निराकार परमात्मा को साकार बना लेता है, और पत्थर की प्रतिमा को चैतन्य कर सकता है । हम इन बातों को एकदम असत्य नहीं कहते । प्राचीनकाल से आज तक अनेक व्यक्तियों का इन्हीं विशेषताओं के आधार पर कायाकल्प हो चुका है । हम कबीर, मीरा, तुलसी, सूर आदि की आध्यात्मिक शक्ति के विषय में जो कुछ चमत्कारित बातें सुनते हैं, उनमें से यदि कुछ सत्य है तो उन सबका मूल उनकी श्रद्धा और निष्ठा ही थी । अन्य सब बातों को छोड़ भी दें तो उनको बिना पढ़े लिखे अथवा ऊँची शिक्षा प्राप्त किये ऐसी अमर रचनायें प्रस्तुत कर दीं यही क्या कम चमत्कार है ?

पर हमको वर्तमान दशा को देखकर यह खेदपूर्ण कहना पड़ता है कि इस अपूर्व शक्ति से जन-समाज का जितना उपकार हुआ है, अपकार भी उससे कम नहीं हुआ । स्वार्थी और मतलब परस्त सब स्थानों और सब कालों में होते हैं । वे जहाँ कहीं कमाने का कुछ डौल-रास्ता देखते हैं तो तुरन्त ही घुसपैठ आरम्भ कर देते हैं । ये हरफनमौला व्यक्ति खाने कमाने का कोई तरीका निकाल लेते है । ये भी श्रद्धा से ही काम लेते हैं, पर अशिक्षितों और मन्द बुद्धि वालों को बहकाकर सही के बजाय गलत रास्ते पर डाल देते हैं । इससे सत्य धर्म की वृद्धि होने के बजाय धार्मिक ढोंग, पाखण्ड, और ठगी का प्रसार ही अधिक होता है । राधामोहन जी इस प्रकार की धार्मिक ठगी के बहुत विरुद्ध थे और जब कभी कलम उठाते थे, तो ऐसे रँगे सियारों का पर्दाफाश कर देते थे । ऐसे अन्धविश्वास पर प्रहार करते हुए उन्होंने अपने एक निबन्ध में लिखा था--

"चमत्कार क्या है ? इसका उत्तर सिवा इसके और कुछ नहीं हो सकता, कि चमत्कार करामात या मोजजा वह है जिसका किसी प्राकृतिक (यथार्थ) बात से कुछ भी सम्पर्क न हो, तर्क, ज्ञान, बुद्धि और कार्यकारण सम्बन्ध का जिसमें दखल न हो और प्रकृति का बनावटी स्वामी जो जी चाहे

झट कर डाले । ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती दीवार पर सवार होकर कहने लगे दीवार चल और दीवार चल पड़ी । कमाल खाँ हाथी पर बैठे-बैठे हाथी सहित कुएँ में समा गये और चैन से रहने लगे । अमुक महाशय ने चाँद की और उँगली उठा करके हिलाई और चाँद फट कर दो टुकड़े हो गया । अमुक पीर साहब या सन्त महाराज ने ने दाँतुन करके फाड़ी और जमीन में गाड़ दी , उसी से बड़ा छायाप्रद नीम का पेड़ खड़ा हो गया । अमुक महाशय ने बच्चे को पेट में ही सारी विद्या पढ़ा दी ! अमुक स्त्री की नाक से ही बेटा पैदा हो गया ! अमुक हजरत का कलेजा फाड़कर फरिश्तों ने दिल निकाल लिया और पानी से धोकर जहाँ का तहाँ रख दिया और वे वहाँ से तुरन्त चल दिये, इसी तरह के हजारों गपोड़े विभिन्न धर्मों की प्राचीन पुस्तकों में भरे पड़े हैं और आजकल भी बहुत से नादान इन बातों को बड़ी भक्ति और प्रेम से सुनते हैं और उन्हें अक्षरशः सत्य मानकर सिर हिलाते जाते हैं ।"

पुराने ग्रन्थों में की जो तरह-तरह की चित्र विचित्र कथाएँ पाई जाती हैं सम्भव है किसी समय वे विशेष उद्देश्य से लिखी गई हों । अथवा कुछ कथाओं को जान बूझकर अलंकारिक भाषा में लिख लिया गया हो, जिससे कम पढ़े या अनपढ़ लोग उन्हें सुन और समझ सके । कुछ भी हो इसका नतीजा हानिकारक ही निकला । जब लोगों को एक परमात्मा की जगह तीन या तैंतीस देवता मानने की शिक्षा दी गई, तो फिर रास्ता खुल गया और उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती चली गई । शास्त्रीय देवताओं की पूजा तो ब्राह्मण पण्डित कराते थे और सदैव बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ प्राप्त करते थे । यह देखकर अन्य "छुटभैयों" का जो भी ललचाया उन्होंने नये-नये देवता बनाकर अनपढ़ जनता पर ऐसा जादू चलाया कि अनेक ऐसे देवताओं की पूजा होने लगी जिनका दो-चार सौ वर्ष पहले नाम भी सुनने में नहीं आता था । राधामोहन जी ने इसका वर्णन बड़े मार्मिक रूप में किया है-

"इन देवताओं, फरिश्तों और मुअक्कलों का जप भी किया जाता है । इनके नाम से गण्डे तावीज बनाकर दिये जाते हैं । माला जपने, उपवास करने, एक समय खाने, या किसी दिन किसी विशेष पदार्थ को खाने या त्याग देने से यह देवता प्रसन्न हो जाते हैं । इसके विपरीत आचरण करने से वे अगर अप्रसन्न नहीं होते, तो उदासीन अवश्य रहते हैं । कोई देवता गुड़ के पुये से राजी होता है, कोई चने की दाल से, कोई जौ की रोटी से, कोई तेल में पके उड़द के पकौड़े से, कोई मद्य से और कोई मांस से । कहाँ तक गिनाया जाय इन देवताओं की लीलाओं, इनके खान-पान के पदार्थों, इनके पसन्द के रंगों और कपड़ों, तथा इनकी अनुकूल क्रीड़ा-भूमियों के वर्णन से सैकड़ों पुस्तकें भरी पड़ी हैं । आप 'या' 'बुद्दू' सिद्ध करने जायें तो किसी मौलवी साहब से पूछिये कि क्या करना लाजिम है ? आपको दुर्गा या यक्षिणी सिद्ध करनी है तो ओझा जी की शागिर्दी करें । यदि 'एवरा' का 'डेवरा' यन्त्र भरना हो तो रोमन कैथलिक पादरी के शिष्य बनें । ऐसे अगणित 'मुअक्कल' और देव-देवियों की भरमार है । मेरे पास न इतना समय है न इतना स्थान है, न इतना साहस है, कि इन हजारों लाखों देव-देवियों की पूरी दास्तान पाठकों की भेंट करूँ । 'थोड़हि मां जनहँहि सयाने ।"

वास्तव में यह अन्धविश्वास हमारी सामाजिक प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा है । इन झूँठे झगड़ों में फँसे रहना हमारा ध्यान उच्च कोटि के कार्यों की तरफ कैसे जा सकता है ? जाहरपीर, सन्तोषी माता, जखैया,, कूआ वाला आदि को ही सर्व शक्तिमान मानने वालो से हम कैसे यह आशा कर सकते हैं कि वे आध्यात्म को समझेंगे और उस पर चलकर कुछ सच्चा परमार्थ और आत्म कल्याम कर सकेंगे । कैसे आश्चर्य की बात है कि राम, कृष्ण, शिव, हनुमान जैसे उदात्त आदर्श उपस्थित करने वाले देवताओं से हमारा मन नहीं भरा और हम विधर्मियों और भ्रष्याचारियों के बनाये मनगढंत देवी देवताओं को पूजने के लिए दौड़ते रहते हैं । यह पूजने वाले तो तरह-तरह से ठगे जाते हैं और हानि उठाते हैं । पर इनके कारण हिन्दू धर्म व्यर्थ में बदनाम होता है । और विरोधियों को उस पर आक्षेप करने का मौका मिलता है ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते—

धार्मिक अन्धविश्वास की तरह राधामोहन जी समाज मे प्रचलित हानिकारक रूढ़ियों तथा अन्ध परम्पराओं के भी कट्टर विरोधी थे । जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, आज से ७५ वर्ष पहले (सन् १९६४) में अपनी स्त्री के मर जाने पर उन्होंने परिवार वालो के सामने यह माँग उपस्थित की थी कि अब अगर मेरा विवाह करना चाहते हो तो मैं विधवा के साथ ही करूँगा । उनकी इस माँग के पीछे स्त्री जाति की दुर्दशा को मिटाने की भावना ही काम कर रही थी । आज जमाने के बहुत बदल जाने, देश के सर्वोच्च शासन कर्ता के पद पर एक महिला की नियुक्ति की जाने पर भी स्त्री जाति की अवस्था सन्तोषजनक नहीं है । तब पौन शताब्दी पूर्व जबकि स्त्री को खुलेआम "पैर की जूती" कहा जाता था, और विधवा होते ही उसे "अभागी" 'चुड़ैल' की

पदवी दी जाने लगती थी, स्त्रियों की दशा कैसी दयनीय होगी, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है । राधामोहन जी का हृदय आरम्भिक आयु से ही इन असहाय नारियों को देखकर व्यथित होता था । इसलिये उन्होंने सदैव उनका पक्ष लिया और उचित अधिकार दिये जाने की आवाज उठाई । वे स्त्री जाति को कितना गौरवान्वित मानते थे, इसका पता उनकी अनेक रचनाओं में मिलता है । 'मातृशक्ति' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है–

"संसार के विश्वस्त इतिहास के जन्मकाल से आज पर्यन्त के मनुष्य जीवन और मानव समाज की आलोचना करने बैठें तो हमें हाथ उठाकर जोर के साथ यही कहना पड़ेगा कि 'मातृ शक्ति' मनुष्यों को उच्च बनाने वाली महाशक्ति है । आर्य-नीतिकारों ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट कहा है कि माता का ऋण मनुष्य कभी भी नहीं चुका सकता , ईरान के सुप्रसिद्ध शेख सादी ने भी लिखा है –"

बों कुन कि रिजाय मादरानस्त ।
फिरदौस बे र क्के पाय मादरानस्त ।।

अर्थात्–"वही काम करो जो माताओं की आज्ञानुसार हो, क्योंकि माताओं के पैर के तलुवों के नीचे स्वर्ग है ।"

"मनुष्य जाति ने सदा माताओं की पूजा और प्रतिष्ठा की थी । भक्तिपूर्वक मनुष्य ने आदिकाल से ही माताओं के आगे सर झुकाया है । पत्नी के रूप में स्त्री जहाँ सेवा करती रही है, वहाँ माता के रूप में वह शासन करती आई है । पत्नी आज्ञा मानने वाली होती है और माता आज्ञा देने वाली सब कल्पों व युगों में माता ही धारण व पालन करने वाली धर्म का रूपान्तर पायी जाती है । वही संरक्षिका और मनुष्य जाति की आदिम शिक्षिका है । मनुष्य जाति के ऐतिहासिक रंगमंच पर माता का अभिनय अत्यन्त स्मरणीय और महत्वपूर्ण पाया जाता है । माता के ही हाथ सामाजिकता को आरम्भ करने वाले हाथ हैं । माता हमको पालने पर सुलाकर हिलाते हुए सभ्यता के पथ पर अग्रसर करती है । सार यह कि माता ही सामाजिक सम्बन्धों की निर्मात्री शक्ति है, सामाजिकता की जन्मदात्री है ।"

पर खेद है कि पुरुषों ने स्त्री जाति के इन असीम उपकारों और अनुदानों का महत्व न समझकर उसकी कोमलता तथा स्नेहशक्ति प्रकृति का अनुचित लाभ उठाया । उसको सब प्रकार से अशक्त और पराधीन बनाकर सब अधिकारों से वंचित कर दिया । आदिम अवस्था में स्त्रियों को परिवार में जो प्रकृतिदत्त प्रमुखता प्राप्त थी, सभ्यता की वृद्धि के साथ क्रमशः उसका अपहरण होता चला गया और पुरुष ने जहाँ तक बन पड़ा उसको तरह-तरह के सामाजिक धार्मिक और आर्थिक बन्धनों से जकड़ दिया । इस दूषित

परिस्थिति की चर्चा करते हुए राधामोहन जी ने 'स्त्री-मानस' शीर्षक निबन्ध में बताया था–

"मनुष्य जाति के इतिहास से यह सिद्ध है कि पुरुषों ने स्त्रियों के साथ बहुत बुरे भेदभाव रखे हैं । नीति, धर्म, कानून, रीति-रिवाज, साहित्य और लोकमत में जहाँ देखें तहाँ पुरुषों की स्वार्थपरता और शरारत आँखों के सामने नाचती नजर आती है । अगर पुरुषों का स्त्रियों के साथ अत्याचार न होता आता तो, निस्संदेह आज जगत जितना समुन्नत हुआ है उससे बीस गुना अधिक सभ्य समुन्नत और विकसित होता । पुरुषों ने अज्ञानवश यह समझ लिया कि मनुष्य जाति के विकास का नर ही एक प्रधान कारण है और नारी अंग का इस काम में कोई हाथ ही नहीं है । यहाँ तक कि वह है ही नहीं, अगर है भी तो पुरुषों की दासता के लिए, न कि बराबरी और सहकारिता के लिए।"

इस उद्धरण में जो कुछ कहा गया है उसकी सच्चाई में सन्देह की कुछ भी गुंजायश नहीं है । हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्राचीन लेखकों ने पवित्रता की महिमा गाने में तो कलम तोड़ दी, पर पत्नी व्रत का उल्लेख शायद ही कहीं दबी जबान से किया हो । वे उसका प्रतिपादन करते भी कैसे ? जब समाज के कर्णधार सभी राजा, महाराजाओं के यहाँ कई-कई रानियाँ ही नहीं, सैकड़ों सेविकायें भी रहती थीं, जिनसे स्वेच्छानुसार व्यवहार करने का अधिकार रखते थे । प्रसन्न होने पर पत्नी को आकाश पर चढ़ा देना और नाराज हो जाने पर मिट्टी में मिला देना, उनका बाँये हाथ का काम था । "यथा राजा तथा प्रजा" की कहावत के अनुसार सर्वसाधारण में भी यही प्रवृत्ति बढ़ती गई और हजारों वर्ष पूर्व के इतिहास में हम देखते हैं कि स्त्री को पूर्ण रूप से एक प्रकार की जड़ सम्पत्ति की तरह मान लिया गया, जिसको लड़कर, छीनकर, खरीद कर किसी भी तरह प्राप्त किया जा सकता था और फिर उसके साथ वैसा ही व्यवहार भी किया जाता था ।

पर जैसा राधामोहन जी ने बताया है इस प्रकार समाज के आधे अंग–नारी को सब प्रकार से आश्रित और बन्धनग्रस्त बनाने से पुरुष का कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ, वरन् अशिक्षित और अविकसित नारी, समाज के पैरों में भारी बेड़ियों के समान सिद्ध हुई और इससे उसकी प्रगति में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो गई । उनका यह कथन सर्वथा सत्य है कि यदि नारी भी पूर्ण अधिकार प्राप्त और विकसित होती, तो हमारा समाज आज की उपेक्षा बीस गुना अधिक उन्नत अवस्था में होता है । जब हमने माताओं को ही सब तरह से पिछड़ा हुआ और मूढ़ताग्रस्त बना दिया तो उनसे उत्पन्न और उनके द्वारा पालन की गई सन्तान ...

रहित, उत्कृष्ट और आदर्श हो सकती है ? इस कारण पुरुष भी बाल्यावस्था से ही अनेक दोषों और त्रुटियों से ग्रस्त होते रहे जो समाज की प्रगति में आजीवन रोड़ा अटकाते रहे ।

समाज की इस अवांछनीय स्थिति को राधामोहन जी बहुत अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने स्त्री शिक्षा को बढ़ाने की सदैव पूरी चेष्टा की । वे नारी स्वातंत्र्य के बहुत बड़े समर्थक थे और कितनी ही प्रगतिशील स्वभाव की महिलाओं को उन्होंने व्यक्तिगत रूप से सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्र में अधिक से अधिक अग्रसर होने का प्रोत्साहन दिया । वे सदैव यह कहते रहते थे कि यदि हम वास्तविक स्वाधीनता तथा स्वराज्य का अधिकार चाहते हैं तो हमें पहले देश की स्त्रियों को शिक्षित और उन्नत बनाना होगा । इस कार्य में हमको विदेशों की नकल करने की जरूरत नहीं जहाँ स्त्रियाँ उचित से अधिक स्वच्छन्द हो जाती हैं । हमारे लिए अपना वैदिक आदर्श ही पर्याप्त और हितकर है । उस समय शील और पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए भी स्त्रियाँ सामाजिक प्रगति के सब कार्यों में पूरा भाग लेती थीं और उसके लिए सब तरह से योग्य होती थीं । वही स्थिति आज भी हमारे लिए हितकारी है ।

समाज संगठन के क्षेत्र में

राधामोहन जी समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे । स्त्रियों की पराधीनता की तरह भारतीय समाज के पिछड़ी हालत में रहने का एक अन्य कारण उसमें हजारों जातियों और उपजातियों का होना और परस्पर एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा समझना भी है । इस भयंकर जाति-भेद ने हिन्दी समाज को जितना निर्बल बनाया है और करोड़ों व्यक्तियों को विधर्मियों के क्षेत्र में ढकेला है, उसे देखकर और समझकर वे खेद करते थे । यद्यपि वे बड़े स्वतन्त्र विचारों के थे, पर देशोन्नति के लिए जातीयता तथा प्राचीन संस्कृति की रक्षा को परमावश्यक मानते थे । अपनी हिन्दू संगठन की मनोवृत्ति का परिचय उन्होंने सन् १९०४ में ही दिया था । जब परिवार तथा जाति वालों के विरोध की चिन्ता न करके आर्य समाज द्वारा शुद्ध किये किसी व्यक्ति द्वारा बाँटी मिठाई खाली थी । उस समय यह कार्य भी बड़े साहस का समझा जाता था ।

इसके पश्चात् सन् १९२२-२३ में जब देश मे साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ा, तब भी उन्होंने उसमें सक्रिय भाग लिया और कोहाट के दंगे में हिन्दुओं पर घोर अत्याचार होने पर वे श्री जुगल किशोर बिरला के सहयोग से पीड़ितों की सहायता करने वहाँ पहुँचे थे और कितने ही निराश्रित व्यक्तियों की रक्षा की थी । उस समय काँग्रेस कार्य पारस्परिक मतभेद के कारण शिथिल पड़ गया । इसलिए राधामोहन जी हिन्दू सभा के सहयोग से हिन्दू संगठन का कार्य करने लगे । इस सम्बन्ध में उन्होंने सन् १९३० मे लिखे गये एक लेख में स्वयं बताया था--

"मुझे काँग्रेस की नीति प्रारम्भ से आज तक पसन्द नहीं है फिर भी मैंने न काँग्रेस का विरोध किया न अब करता हूँ । अवांछनीय स्वराजिस्टों के अधिकार काल में मैं हिन्दू सभा के सम्पर्क में रहकर कई साल तक काम करता रहा । साथ ही हिन्दू संगठन का प्रयत्न भी किया । यद्यपि रूढ़िवादी धर्म से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं पर हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जाति की रक्षा के लिये प्राण विसर्जन करने को मैं सदैव अपना कर्तव्य समझता हूँ ।"

राधामोहन जी ने कांग्रेस के सम्बन्ध में अपने जो मनोभाव व्यक्त किये हैं उसका कारण यही है कि आरम्भ के वर्षों में तो यह केवल एक प्रार्थना करने वाली संस्था थी। यदि उसकी किसी बात को सरकार मान लेती तो बहुत सन्तुष्ट हो जाती थी । अन्यथा फिर वैसे ही प्रस्ताव पास करती थी । उसके पश्चात जब यह गाँधी जी के प्रभाव में आयी तो उन्होंने अन्य बातों के साथ ही अहिंसा को उसका मुख्य नियम बना दिया । राधामोहन जी जैसे व्यक्तियों की मान्यता थी, कि अहिंसा को इतना अधिक मानकर हम देश को कभी पूर्ण स्वाधीन नहीं बना सकते । इसी से वे काँग्रेस के पूर्ण अनुयायी कभी न बन सके । इस विषय में इस पंक्तियों के लेखक का विचार भी राधामोहन जी से मिलता जुलता था, जिसके कारण यह गाँधीजी के आश्रम में वर्ष भर तक रहकर भी वहाँ की नीति से सहमत न हो सका । इसी कारणवश सन् १९२४-२५ में चुनाव के अवसर पर उसने राधामोहन जी के साथ एकाध मामले पर काँग्रेस का विरोध भी किया और सन् १९२५ के कानपुर काँग्रेस अधिवेशन के अवसर पर उसके कार्यकर्ताओं से संघर्ष भी हो गया । पर इन बातों का आधार कोई व्यक्तिगत कारण न होकर सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद ही था, इससे किसी काँग्रेस नेता या कार्यकर्ता से स्थायी वैमनस्य होने की नौबत नहीं आयी । कुछ लोग राधामोहनजी के इस व्यवहार को परस्पर विरोधी मानकर उनकी आलोचना करते थे । पर मैं उनकी वास्तविक मनोवृत्ति को समझता था । इसलिए सन् १९५८ में भी 'दैनिक हिन्दुस्तान' (दिल्ली) मे प्रकाशित अपने एक लेख मे मैंने लिखा था--

"अनेक लोगों को यह बात कुछ विचित्र सी जान पड़ेगी कि साम्यवादी और स्वतंत्र विचारक होते हुए भी राधामोहन

जी हिन्दू सभा और हिन्दू संगठन का कार्य कैसे करते थे ?" वास्तव में हिन्दू संस्कृति उनकी नसों में घुसी हुई थी और वह 'हिन्दू' को एक जाति या सम्प्रदाय के रूप में नहीं, वरन् एक राष्ट्र के रूप में देखते थे । प्रत्येक क्षेत्र में काम करते हुए उनको हिन्दू जाति की उन्नति और भलाई का ख्याल बना रहता था ।

समाज और देश गुरुजनों से भी बढ़कर है

राधामोहन जी देश और समाज के इतने दृढ़ शुभचिंतक थे कि इसके लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार हो जाते थे । उदाहरणार्थ वे गुरुजनों का बड़ा आदर करते थे और बड़ी आयु का हो जाने पर भी माता-पिता के सम्मुख सदा नतमस्तक रहते थे । पर जब इन्होंने इनका विधवा विवाह का प्रस्ताव न मानकर कुँवारी लड़की से ही करने पर जोर दिया और उनको यह बात सर्वथा न्याय विरुद्ध जान पड़ी तो वे माता-पिता से झगड़ा करने के बजाय चुपचाप घर छोड़कर चल दिये । कोई धर्म संकट आ पड़ने पर गुरुजनों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इस सम्बन्ध में उनका मत यह था—

"बालकों को अपने पितरों (पिता-माता आदि) और गुरुजनों का आज्ञानुवर्ती होना चाहिए । क्योंकि ईश्वरीय इच्छा यही है । पर इसमें इतना ध्यान अवश्य रखें कि अपना आत्मा का घात न हो अर्थात् पितरों के कहने से वह काम जिसे हम प्रत्यक्ष वेद विरुद्ध विश्वास करते हैं न करें, जैसे हत्या, जुआ, चोरी । परमात्मा की आज्ञा, माता, पिता, गुरु राजा आदि सबकी आज्ञा से ऊपर और प्रधान है । यदि कोई बालक प्रश्न करे कि पितरों की आज्ञा मानना धर्म क्यों है ? तो इसका सीधा-साधा उत्तर यह है कि घर का तमाम संगठन खण्डखण्ड हो जाय, यदि सन्तान आज्ञानुवर्तिना हो । ईश्वर और हमारा संगठन दोनों का यह उद्देश्य है कि हम पूर्व की बुद्धि विद्या और अनुभव से लाभ उठावें । वेद भगवान आज्ञा देते हैं —मातृवान्, पितृवान् आचार्यवान् पुरुषों वेद अर्थात् माता-पिता गुरु तीन उत्तम शिक्षक हो तब ही मनुष्य ज्ञानवान् हो सकता है । (यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है पुनः तैत्तरीय पृ. ७ अनु.११ क. २में) कहा गया है—मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव ।"

वेद भगवान (शब्द ब्रह्म) ने माता-पिता तथा आचार्य के महत्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह निर्विवाद है । जिनके द्वारा हमारे शरीर मन और प्राण का निर्माण हुआ । जिनके प्रसाद से हम विकास की वर्तमान मंजिल तक पहुँच सके हैं, उनका हार्दिक सम्मान और आवश्यक सेवा-शुश्रुषा करना हमारा धर्म माना ही जायेगा । इसलिए उनके आदेशों का पालन करना भी हमारा पवित्र कर्तव्य है । पर इसमें इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि वे भ्रम, स्वार्थ या मानुषी दुर्बलता के कारण कोई ऐसा आदेश दें जो नैतिकता, ईमानदारी, परोपकार, परमार्थ आदि मानवीय सद्गुणों के विपरीत हों, तो उसको अमान्य भी किया जाना चाहिए । ऐसे अवसर पर उनको देशकाल की वर्तमान परिस्थिति तथा उनकी भूल विनयपूर्वक समझा देनी चाहिए । साथ ही किसी प्रकार की उनकी सेवा सहायता में त्रुटि नहीं आने देनी चाहिए ।

इसका एक प्रत्यक्ष और बहुत प्रभावशाली उदाहरण हमको अपने युगनिर्माण आन्दोलन में मिलता है, आजकल युग-निर्माण योजना की तरफ से दहेज प्रथा विरोधी अभियान चलाया जा रहा है, और कालेज स्कूलों में पढ़ने छात्रों को प्रेरणा देकर यह प्रतिज्ञा कराई जा रही है कि वे अपना विवाह दहेज प्रथा को त्यागकर करायें, क्योंकि यह प्रथा समाज का घोर अहित कर रही है । लड़के इन युक्ति-युक्त बातों को समझ जाते हैं और दहेज त्यागने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं । पर विवाह का अवसर आने पर उनके अभिभावक धन के लालच अथवा अपनी शान और बड़प्पन के नाम पर इसके लिए तैयार नहीं होते । ऐसी परिस्थिति सामने आने पर प्रत्येक विवेकशील और न्यायपरायण युवक का यह कर्तव्य है कि दहेज वाले विवाह के लिए स्पष्ट इन्कार कर दें इससे भले ही माता-पिता या अन्य सम्बन्धी रुष्ट क्यों न हो जायें । इसी प्रकार समाज-सेवा और देश-सेवा के और भी कितने ही कार्य ऐसे आ जाते हैं, जिन्हें पुराने लोग अपने स्वार्थ की दृष्टि से हानिकर समझकर उनमें भाग न लेने का आदेश देते हैं । इस प्रकार की आज्ञाओं को यदि न माना जाय तो यह उच्च कर्तव्य पालन ही समझा जायगा । राधामोहन जी के कथन का सही आशय है ।

राजनैतिक क्षेत्र में अग्रगामी

यों भारतीय राजनीति की दृष्टि से राधामोहन जी गर्म दल के अनुयायी समझे जाते थे और विदेशियों की अधीनता से देश को मुक्त कराने के क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी कई प्रकार से सहयोग देते रहते थे । असहयोग का जोर बढ़ने पर उन्होंने नागपुर के असहयोग आश्रम में रहकर काँग्रेस का साथ दिया और उसके लिए कई बार जेल गये । हिन्दू संगठन की आवश्यकता उपस्थित होने पर उसके लिए भी काफी परिश्रम और दौड़धूप करते रहे । क्रान्तिकारी दल वालों को धन तथा हथियारों की सहायता दिलाने के लिए

रहित, उत्कृष्ट और आदर्श हो सकती है ? इस कारण पुरुष भी बाल्यावस्था से ही अनेक दोषों और त्रुटियों से ग्रस्त होते रहे जो समाज की प्रगति में आजीवन रोड़ा अटकाते रहे ।

समाज की इस अवांछनीय स्थिति को राधामोहन जी बहुत अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने स्त्री शिक्षा को बढ़ाने की सदैव पूरी चेष्टा की । वे नारी स्वातंत्र्य के बहुत बड़े समर्थक थे और कितनी ही प्रगतिशील स्वभाव की महिलाओं को उन्होंने व्यक्तिगत रूप से सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्र में अधिक से अधिक अग्रसर होने का प्रोत्साहन दिया । वे सदैव यह कहते रहते थे कि यदि हम वास्तविक स्वाधीनता तथा स्वराज्य का अधिकार चाहते हैं तो हमें पहले देश की स्त्रियों को शिक्षित और उच्च बनाना होगा । इस कार्य में हमको विदेशों की नकल करने की जरूरत नहीं जहाँ स्त्रियाँ उचित से अधिक स्वच्छन्द हो जाती हैं । हमारे लिए अपना वैदिक आदर्श ही पर्याप्त और हितकर है । उस समय शील और पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए भी स्त्रियाँ सामाजिक प्रगति के सब कार्यों में पूरा भाग लेती थीं और उसके लिए सब तरह से योग्य होती थीं । यही स्थिति आज भी हमारे लिए हितकारी है ।

समाज संगठन के क्षेत्र में

राधामोहन जी समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे । स्त्रियों की पराधीनता की तरह भारतीय समाज के पिछड़ी हालत में रहने का एक अन्य कारण उसमें हजारों जातियों और उपजातियों का होना और परस्पर एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा समझना भी है । इस भयकर जाति-भेद ने हिन्दी समाज को जितना निर्बल बनाया है और करोड़ों व्यक्तियों को विधर्मियों के क्षेत्र मे ढकेला है, उसे देखकर और समझकर वे खेद करते थे । यद्यपि वे बड़े स्वतन्त्र विचारों के थे, पर देशोन्नति के लिए जातीयता तथा प्राचीन संस्कृति की रक्षा को परमावश्यक मानते थे । अपनी हिन्दू संगठन की मनोवृत्ति का परिचय उन्होंने सन् १९०४ में ही दिया था । जब परिवार तथा जाति वालों के विरोध की चिन्ता न करके आर्य समाज द्वारा शुद्ध किये किसी व्यक्ति द्वारा बाँटी मिठाई खाली थी । उस समय यह कार्य भी बड़े साहस का समझा जाता था ।

इसके पश्चात् सन् १९२२-२३ में जब देश में साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ा, तब भी उन्होंने उसमें सक्रिय भाग लिया और कोहाट के दंगे में हिन्दुओं पर घोर अत्याचार होने पर वे श्री.जुगल किशोर बिरला के सहयोग से पीड़ितों की सहायता करने वहाँ पहुँचे थे और कितने ही निराश्रित व्यक्तियों की रक्षा की थी । उस समय काँग्रेस कार्य पारस्परिक मतभेद के कारण शिथिल पड़ गया । इसलिए राधामोहन जी हिन्दू सभा के सहयोग से हिन्दू संगठन का कार्य करने लगे । इस सम्बन्ध में उन्होंने सन् १९३० मे लिखे गये एक लेख में स्वयं बताया था–

"मुझे काँग्रेस की नीति प्रारम्भ से आज तक पसन्द नहीं है फिर भी मैंने न काँग्रेस का विरोध किया न अब करता हूँ । अवांछनीय स्वराजिस्टों के अधिकार काल में मैं हिन्दू सभा के सम्पर्क में रहकर कई साल तक काम करता रहा । साथ ही हिन्दू संगठन का प्रयत्न भी किया । यद्यपि रूढ़िवादी धर्म से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं पर हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जाति की रक्षा के लिये प्राण विसर्जन करने को मैं सदैव अपना कर्तव्य समझता हूँ ।"

राधामोहन जी ने कांग्रेस के सम्बन्ध में अपने जो मनोभाव व्यक्त किये हैं उसका कारण यही है कि आरम्भ के वर्षों में तो यह केवल एक प्रार्थना करने वाली संस्था थी। यदि उसकी किसी बात को सरकार मान लेती तो बहुत सन्तुष्ट हो जाती थी । अन्यथा फिर वैसे ही प्रस्ताव पास करती थी । उसके पश्चात जब यह गाँधी जी के प्रभाव में आयी तो उन्होंने अन्य बातों के साथ ही अहिंसा को उसका मुख्य नियम बना दिया । राधामोहन जी जैसे व्यक्तियों की मान्यता थी, कि अहिंसा को इतना अधिक मानकर हम देश को कभी पूर्ण स्वाधीन नहीं बना सकते । इसी से वे काँग्रेस के पूर्ण अनुयायी कभी न बन सके । इस विषय में इस पंक्तियों के लेखक का विचार भी राधामोहन जी से मिलता जुलता था, जिसके कारण वह गाँधीजी के आश्रम में वर्ष भर तक रहकर भी वहाँ की नीति से सहमत न हो सका । इसी कारणवश सन् १९२४-२५ मे चुनाव के अवसर पर उसने राधामोहन जी के साथ एकाध मामले पर काँग्रेस का विरोध भी किया और सन् १९२५ के कानपुर काँग्रेस अधिवेशन के अवसर पर उसके कार्यकर्ताओं से संघर्ष भी हो गया । पर इन बातों का आधार कोई व्यक्तिगत कारण न होकर सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद ही था, इससे किसी काँग्रेस नेता या कार्यकर्ता से स्थायी वैमनस्य होने की नौबत नहीं आयी । कुछ लोग राधामोहनजी के इस व्यवहार को परस्पर विरोधी मानकर उनकी आलोचना करते थे । पर मैं उनकी वास्तविक मनोवृत्ति को समझता था । इसलिए सन् १९५८ में भी 'दैनिक हिन्दुस्तान' (दिल्ली) में प्रकाशित अपने एक लेख मे मैंने लिखा था–

"अनेक लोगों को यह बात कुछ विचित्र सी जान पड़ेगी कि साम्यवादी और स्वतंत्र विचारक होते हुए भी राधामोहन

[illegible]

हुए उनको हिन्दू जाति की उन्नति और भलाई का ख्याल बना रहता था ।

समाज और देश गुरुजनों से भी बढ़कर है

राधामोहन जी देश और समाज के इतने दृढ़ शुभचिंतक थे कि इसके लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार हो जाते थे । उदाहरणार्थ वे गुरुजनों का बड़ा आदर करते थे और बड़ी आयु का हो जाने पर भी माता-पिता के सम्मुख सदा नतमस्तक रहते थे । पर जब इन्होंने इनका विधवा विवाह का प्रस्ताव न मानकर कुँवारी लड़की से ही करने पर जोर दिया और उनको यह बात सर्वथा न्याय विरुद्ध जान पड़ी तो वे माता-पिता से झगड़ा करने के बजाय चुपचाप घर छोड़कर चल दिये । कोई धर्म संकट आ पड़ने पर गुरुजनों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इस सम्बन्ध में उनका मत यह था—

"बालकों को अपने पितरों (पिता-माता आदि) और गुरुजनों का आज्ञानुवर्ती होना चाहिए । क्योंकि ईश्वरीय इच्छा यही है । पर इसमें इतना ध्यान अवश्य रखें कि अपना आत्मा का घात न हो अर्थात् पितरों के कहने से वह काम जिसे हम प्रत्यक्ष वेद विरुद्ध विश्वास करते हैं न करें, जैसे हत्या, जुआ, चोरी । परमात्मा की आज्ञा, माता, पिता, गुरु राजा आदि सबकी आज्ञा से ऊपर और प्रधान है । यदि कोई बालक प्रश्न करे कि पितरों की आज्ञा मानना धर्म क्यों है ? तो इसका सीधा-साधा उत्तर यह है कि घर का तमाम संगठन खण्डखण्ड हो जाय, यदि सन्तान आज्ञानुवर्तिना हो । ईश्वर और हमारा संगठन दोनों का यह उद्देश्य है कि हम पूर्व की बुद्धि विद्या और अनुभव से लाभ उठावें । वेद भगवान आज्ञा देते हैं --मातृवान्, पितृवान् आचार्यवान् पुरुषों वेद अर्थात् माता-पिता गुरु तीन उत्तम शिक्षक हों तब ही मनुष्य ज्ञानवान् हो सकता है । (यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है पुनः तैत्तरीय पृ. [illegible] अनु.११ क. २में) कहा गया है--मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव ।"

वेद भगवान (शब्द ब्रह्म) ने माता-पिता तथा आचार्य के महत्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह निर्विवाद है । जिनके द्वारा हमारे शरीर मन और प्राण का निर्माण हुआ । जिनके प्रसाद से हम विकास की वर्तमान मंजिल तक पहुँच सके हैं, उनका हार्दिक सम्मान और आवश्यक सेवा-सुश्रुषा करना हमारा धर्म माना ही जायेगा । इसलिए उनके आदेशों का पालन करना भी हमारा पवित्र कर्तव्य है । पर इसमें इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि वे भ्रम, स्वार्थ या मानुषी दुर्बलता के कारण कोई ऐसा आदेश दें जो नैतिकता, ईमानदारी, परोपकार, परमार्थ आदि मानवीय सद्गुणों के विपरीत हों, तो उसको अमान्य भी किया जाना चाहिए । ऐसे अवसर पर उनको देशकाल की वर्तमान परिस्थिति तथा उनकी भूल विनयपूर्वक समझा देनी चाहिए । साथ ही किसी प्रकार की उनकी सेवा सहायता में त्रुटि नहीं आने देनी चाहिए ।

इसका एक प्रत्यक्ष और बहुत प्रभावशाली उदाहरण हमको अपने युगनिर्माण आन्दोलन में मिलता है, आजकल युग-निर्माण योजना की तरफ से दहेज प्रथा विरोधी अभियान चलाया जा रहा है, और कालेज स्कूलों में पढ़ने छात्रों को प्रेरणा देकर यह प्रतिज्ञा कराई जा रही है कि वे अपना विवाह दहेज प्रथा को त्यागकर करायें, क्योंकि यह प्रथा समाज का घोर अहित कर रही है । लड़के इन युक्ति-युक्त बातों को समझ जाते हैं और दहेज त्यागने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं । पर विवाह का अवसर आने पर उनके अभिभावक धन के लालच अथवा अपनी शान और बड़प्पन के नाम पर इसके लिए तैयार नहीं होते । ऐसी परिस्थिति सामने आने पर प्रत्येक विवेकशील और न्यायपरायण युवक का यह कर्त्तव्य है कि दहेज वाले विवाह के लिए स्पष्ट इन्कार कर दें इससे भले ही माता-पिता या अन्य सम्बन्धी रुष्ट क्यों न हो जायें । इसी प्रकार समाज-सेवा और देश-सेवा के और भी कितने ही कार्य ऐसे आ जाते हैं, जिन्हें पुराने लोग अपने स्वार्थ की दृष्टि से हानिकर समझकर उनमें भाग न लेने का आदेश देते हैं । इस प्रकार की आज्ञाओं को यदि न माना जाय तो यह उच्च कर्तव्य पालन ही समझा जायगा । राधामोहन जी के कथन का सही आशय है ।

राजनैतिक क्षेत्र में अग्रगामी

यों भारतीय राजनीति की दृष्टि से राधामोहन जी गर्म दल के अनुयायी समझे जाते थे और विदेशियों की अधीनता से देश को मुक्त कराने के क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी कई प्रकार से सहयोग देते रहते थे । असहयोग का जोर बढ़ने पर उन्होंने नागपुर के असहयोग आश्रम में रहकर काँग्रेस का साथ दिया और उसके लिए कई बार जेल गये । हिन्दू संगठन की आवश्यकता उपस्थित होने पर उसके लिए भी काफी परिश्रम और दौड़धूप करते रहे । क्रान्तिकारी दल वालों को धन तथा हथियारों की सहायता दिलाने के लिए

सन् १९०८-९ से ही तरह-तरह के गुप्त प्रयत्न करते रहे। ये सब कार्य देश की सामयिक परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार वे करते अवश्य रहे, पर उनका हार्दिक विश्वास और आन्तरिक सिद्धान्त इन बातों से बहुत आगे बढ़ा-चढ़ा था। वे उन दार्शनिकों के मतानुयायी थे जो जाति और संप्रदाय की सीमा को नहीं, वरन् राष्ट्रीयता की परिधि को भी हटाकर 'एक मानव-जाति' के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं।

इस समय हम साम्यवाद या कम्यूनिज्म को सबसे अधिक अग्रगामी राजनीतिक सिद्धान्त समझते हैं। भारत के बड़े-बड़े राजनीतिक नेता भी उसकी चर्चा दबी जबान से करते हैं, और पूँजीवाद पर भरोसा रखने वाले तो उसके नाम से ही थरथराते हैं पर राधामोहन जी योरोप के प्रसिद्ध आन्दोलनकारी 'बकुनिन' के उस सिद्धान्त को सर्वोपरि मानते थे, जिसको "अनार्किज्म" या "अराजकतावाद" के नाम से पुकारा जाता है। उसका आशय है, कि सब प्रकार के शासन और राज्य-व्यवस्थायें कृत्रिम हैं और मनुष्यों को दबाकर रखने के उद्देश्य से बनाई गई हैं। इनके रहते न तो मनुष्य सुखी रह सकता है और न मानवता की सर्वोच्च चोटी पर पहुँच सकता है। इसलिये मानव जाति का सच्चा हितैषी वही है जो इन शासन-व्यवस्थाओं का अन्त करके सर्वथा बन्धन रहित समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करता है, इसी स्थिति में मनुष्य का उचित विकास हो सकता है। अधिकांश लोगों के लिए यह एक विचित्र और समझ में न आने वाला सिद्धान्त था, क्योंकि अब से सौ वर्ष पूर्व एक तरफ तो उसके अनुयायी राज्य व्यवस्था को मिटाने के उद्देश्य से योरोप के राजाओं और सम्राटों के प्राण नाश के लिए बम और पिस्तौलों का प्रयोग करने लगे थे। दूसरी तरफ वह जन-समाज के लिए उस स्थिति का प्रचार और समर्थन करते थे, जिसको हम भारतीय धर्मग्रन्थों की भाषा में सतयुग कह सकते हैं। ये 'अनार्किस्ट' गरीबों की दुर्दशा देखकर आपे से बाहर हो जाते थे और अपना कोई स्वार्थ होने पर भी अत्याचारी शासकों के प्राण लेने और अपने प्राण देने के लिये तैयार हो जाते थे। ऐसे ही लोगों के लिए किसी साहित्यकार ने कहा है कि वे एक साथ 'फूल से भी कोमल और वज्र से भी कठोर' होते हैं। इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुये राधामोहन जी ने "न्याय नीति समता और स्वातंत्र्य" शीर्षक लेख में कहा है-

"योरोप के महान् स्वतन्त्र विचारक प्राउढ्न का कथन है कि तुम जो कुछ जानते हो उसे बिना किसी प्रकार के भय और घृणा के सत्य-सत्य कह दो। कवियों और कथाकारों की कल्पनायें मनोरंजन तो कर सकतीं हैं पर वह विश्वास का स्थान ग्रहण नहीं कर सकतीं। विज्ञान मानव-धर्म और प्रकृति नियम कहते हैं कि उनके आगे कला कौशल के अतिरंजन और कविता की मनगढन्त कल्पनाओं को स्थान नहीं मिल सकता। सच्चाई के प्रकट होने का स्थान प्रत्येक मनुष्य का हृदय है। इसमें रंग-रूप, देश और धर्म जाति के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। हम अनन्त के मध्य में हैं, हमसे पहले भी अनन्त और पीछे भी अनन्त का स्थान है। इस अनन्त में किसी क्षणिक प्राणी की क्या हस्ती है? इसलिये मेरे छोटेपन को भूल जाओ। यह देखो कि मैं जो कहता हूँ वह कहाँ तक सत्य है? यह विचार करो कि सत्य और दायित्व क्या है? न्याय नीति किसे कहते हैं? स्वातन्त्र्य तथा स्वाधीनता का रूप कैसा है?"

"विद्वान् लोग कहते हैं कि मनुष्य भी एक प्रकार का पशु ही है, पर दोनों में अन्तर यह है कि मनुष्य अपनी सामाजिक योग्यता को समझता है। वह जानता रहता है कि मुझमें समाज संगठन की योग्यता है, लेकिन पशु इस गुण को रखते हुए भी अपनी इस विशेषता को नहीं जानता हम अपनी सामाजिक बुद्धि से किये हुए कामों की आलोचना विचार एवं तर्क करते हैं। इसी से हमें ख्याल होता है कि कौन सा काम हमारे लिए और दूसरों के लिए हानिकर है। बहुत से काम पहले हमारे लिए हानिकर होते हैं, फिर दूसरों के लिए। बहुत से काम पहले दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, फिर हमें। इसीलिये हम उस सामाजिक बुद्धि का जो, हमें क्रम से चलाती है विरोध नहीं करते। इसी का नाम न्याय है। हमारी यह तर्क शक्ति ही हमें बताती है कि स्वार्थी, डाकू या हत्यारा अथवा यों कहें कि 'समाज वंचक' व्यक्ति पापिष्ट है। जब मनुष्य जान-बूझकर दोष, करता है, तो वह प्रकृति का शत्रु और समाज के समक्ष अक्षम्य अपराधी है। वह दूसरों के लिए हानिकर है और अपने लिये भी। अस्तु हमारे सामाजिक भाव-चाहे ये धर्म के नाम पर हों और चाहे कानून अथवा नीतिमत्ता के नाम पर-और हमारी तर्क शक्ति (बुद्धि) हमें इस बात के लिये सावधान करते हैं, कि अपने कर्मों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें। इसी सिद्धान्त पर बदला लेना, पश्चाताप, प्रायश्चित और दण्ड विधान बने हैं।"

भारतीय धर्म-शास्त्र भी यही कहते हैं

अराजकतावाद का सिद्धान्त यद्यपि आधुनिक युग में दो-चार योरोपियन विचारकों ने निकाला था, पर यदि गम्भीरतापूर्वक इसकी विवेचना की जाय तो यह स्पष्टतः हिन्दू धर्म शास्त्रों के सर्वोच्च आदेश "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के अनुकूल ही है। जब कोई मनुष्य अपनी हानि के साथ

ो दूसरे की भी हानि की चिन्ता रखता है तभी वह विवेकयुक्त ामाजिक प्राणी कहलाने का अधिकारी बनता है । आज नुष्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र तो अदभुत चमत्कार दिखाने लग या है । पर इस सामान्य सत्य सिद्धान्त को मानने में समर्थ हो रहा है, कि हम अपने हानि-लाभ के साथ दूसरों क हानि लाभ का भी उतना ही ख्याल रखें । इसी सच्चाई को मानने का यह परिणाम है कि संसार भर में घोर संघर्ष त्पन्न हो गया । सम्पति के बढ़ जाने और नये-नये सुख ाधनों के प्रस्तुत होने पर भी मनुष्य सर्वनाश की विभीषिका े काँप रहा है । राधामोहन जी ने इस तथ्य को पूरी तरह तमझकर ही 'कम्यूनिज्म क्या है ?' पुस्तक के आरम्भ मे लेखा था–

"कौन नहीं जानता कि भूमण्डल के निवासी जन-समुदाय में सम्पन्नों (धनियों) की संख्या एक मुट्ठी भर है, शेष पृथ्वी विपन्नों के अन्तर्नाद से गूँज रही है । चारों और रोटी के झगड़े की प्रचण्ड अग्नि मनुष्यत्व को भस्म किये डालती है। फिर जो थोड़े से सम्पन्न हैं उनमें भी विलासिता के लिये एक दूसरे का धन छीनने का प्रबल संघर्ष चल रहा है । इन सब बातों का स्पष्ट रूप-रंग इस निबन्ध में देखने को मिलेगा । हमें तो भगवान व्यास का एक वचन याद आता है । यदि कम्यूनिज्म से उसकी पूर्ति होती हो तो अच्छा ही है ।"

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

अर्थात्–धर्म का सार और तदनुसार मानवीय कर्तव्य यही है कि हमको स्वयं जो बात, जिस प्रकार का व्यवहार बुरा लगता है, वैसा व्यवहार किसी अन्य के साथ भी नहीं करना चाहिये ।

"इसी बात को व्यासजी से अनुमानितः २५०० वर्ष पीछे महात्मा ईसा मसीह ने दुहराया था– "Do unto others as you would wish they should do unto you" (अर्थात् अन्य लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम उनसे अपने लिये चाहते हो) इन्हीं विचारों की रूह (सार) खींचकर एक योरोपियन राजनैतिक लेखक ने नई शीशी में भरकर इस तरह पेश किया है—

"जनता के लिये जन-राज्य के अतिरिक्त और जितनी भी तरह की सरकारें हैं, और विशेषतया विदेशी सरकार उनको वास्तव में डाकू और लुटेरों की सरकार ही समझना चाहिए ।"

इन बातों से पाठक समझ सकते हैं, कि संसार भर के सत्य और न्याय के अनुयायी सज्जनों का एक ही मत है कि अपनी तरह दूसरे की पीड़ा को भी समझना चाहिए और उन तमाम कामों से बचना चाहिए, जिससे दूसरों का अनिष्ट होता हो । इस दृष्टि से वर्तमान जगत में प्रचलित पूँजीवाद का सिद्धान्त साफतौर पर प्राकृतिक नियम के विपरीत और अन्यायपूर्ण है । कहाँ तो शास्त्रकार और उनके साथ ही तरह-तरह के तिलक और मालाओं से सज्जित आचार्य सन्त-महन्त आदि "को ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" अर्थात्–इस समस्त संसार में एक ही ब्रह्म व्याप्त है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । जैसे सर्वोच्च सिद्धान्त की घोषणा करते हैं और कहाँ वे अपने ही समान ब्रह्म रूपी मनुष्यों–"भूखों-नंगों को देखकर उनकी तरफ से आँखें फेर लेते हैं । इतना ही नहीं वरन् करोड़ों मनुष्यों को इस प्रकार कंगाल बनाने वाले धन कुबेरों करोड़पति सेठों को ये "धर्माचार्य' ही 'धर्म मूर्ति' धर्म दिवाकर की पदवी भी दे डालते हैं ।" राधामोहन जी ने इस स्थिति को बहुत अच्छी तरह समझ लिया था और अपने "कानून तथा सरकार" शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट रूप से कहा था—

"आजकल मनुष्य जाति में केवल दो ही प्रतिद्वन्दी दल रह गये हैं–एक सबल अधिकार प्राप्त जबरदस्त लोगों का और दूसरा निर्बल जीवन अधिकार रहित सीधेसादे लोगों का । कानून, सरकार, धर्म-शास्त्र और पुरोहित (धर्म-गुरु) केवल जबरदस्ती के पृष्ठ पोषक होते हैं । दुखियों के नहीं–यह हमारा नित्यप्रति का अनुभव है ।"

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि और न्याय का–धर्म का तत्व "आत्मवत् सर्व भूतेषु" की सूक्ति में ही समाया हुआ है । सच्चा धर्मात्मा कभी वर्तमान पूँजीपतियों के समान गरीब मजदूरों और स्वत्वहीन लोगों का शोषण न करेगा । लकीर के फकीर लोगों को भले ही मन्दिर और धर्मशाला बनाने वाले अथवा दो लाख रुपया खर्च करके बहुत धूमधाम के साथ ठाकुर जी को "छप्पन भोग" खिलाने वाले सेठ जी "धर्म-प्राण" अथवा "भक्तराज" जान पड़ते हों , पर हम गुरु नानक के शब्दों में यही कह सकते हैं —

जानन हारा जानिया बाणिया तेरी बान ।
अनछाने-लोहू पिये पानी पीवे छान ।।

अर्थात्–अरे बनिया ! तेरे स्वभाव को कोई जानने वाला ही समझ सकता है । एक तरफ तो तू सूक्ष्म जीवों की रक्षा के नाम पर पानी को कपड़ा से छानकर पीता है और दूसरी तरफ गरीबों के खून को बिना छाने हुए ही गटक जाता है । (अर्थात् ब्याज भाड़े के नाम पर उनके कपड़े तक उतरवा लेता है ।)

राधामोहन जी इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में जगह-जगह गरीबों पर होने वाले सब तरह के अन्याय अत्याचारों का जोरों के साथ

विरोध किया था । यह बात दूसरी है, कि उस समय राज्य तथा समाज की गतिविधि सर्वथा प्रतिकूल होने और कोई उपयुक्त साधन प्राप्त न होने के कारण व्यावहारिक रूप में उनको भी अपने सार्वजनिक कार्यों के लिए कुछ उदार और सहृदय श्रेणी के "बनियों" की सहायता लेनी पड़ती थी ।

हम यह मानते है कि किसी भी श्रेणी या जाति के सब लोग एक से नहीं होते । अच्छे और बुरे सब में होते हैं । पुराने समय में बनियों में ही भामाशाह हुए, जिन्होंने अपना सर्वस्व देकर महाराणा प्रताप की डूबती नैया को पार लगाया । वर्तमान समय में जमनालाल बजाज ने भी अपनी सम्पत्ति गाँधी जी के चरणों में अर्पित करके राष्ट्रीय संग्राम की सफलता में अभूतपूर्व सहयोग दिया । काशी के श्री शिव प्रसाद गुप्त ने मालवीय जी तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध देशभक्तों की सहायता करके उनके कामों को अग्रसर कराया। पर ऐसे उदाहरण इने-गिने ही हैं । अधिकांश संख्या गुरुनानक के अनुसार लालची श्रेणी के व्यवसाइयों की ही दिखायी पड़ती है, जो धन कमाने के लिए अनैतिक कार्यों में भी संकोच नहीं करते । ऐसे व्यक्तियो के भ्रष्टाचार--खाद्य पदार्थों में दूषित वस्तुएँ मिला देने की शिकायते हम प्रतिदिन सुनते रहते हैं । इसीलिए राधामोहन जी तथा उनके जैसे विचार वालों (अर्थात् समान अधिकार और सार्वजनिक न्याय के अनुयायियों) को उक्त श्रेणी वालों का विरोध करना पड़ता है ।

कांग्रेस और सार्वजनिक आन्दोलनों में

इस प्रकार मनुष्य मात्र को समान अधिकार और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को लेकर राधामोहन जी देश सेवा और अन्याय पीड़ितो के सेवा-कार्य में आगे बढ़ते गये । सन् १६०५-६ से ही उन्होंने स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ किया । सन् १६०७ में सूरत काँग्रेस में गर्म और नर्म दल के झगड़े में पूरी तरह लोकमान्य तिलक और अरविन्द घोष के अनुयायी थे । इसके बाद ही उनका सम्बन्ध बंगाली क्रान्तिकारियों से हो गया । राधामोहन जी का परिचय अनेक मारवाड़ी व्यवसाइयों से था, इसलिये वे समय-समय पर उनको आर्थिक सहायता दिलाने में प्रयत्नशील रहते थे ।

इसी बीच मे वे साहित्य द्वारा युवकों को देशभक्ति की प्रेरणादायक पुस्तकें भी लिखते रहे । ला. लाजपतराय, मैजिनी, गेरीबाल्डी, नेपोलियन के चरित्र सन् १६१५ तक लिखे गये । मैजिनी योरोप में गुप्त समितियो का बहुत बड़ा संगठनकर्ता था, और उसने अपने प्रयत्नों से इटली, फ्रांस और आस्ट्रिया की सरकारों तथा रोम के पोप का लेखनी तथा शस्त्र दोनों प्रकार से मुकाबले करके अन्त में अपने देश को स्वतंत्र कराके ही चैन ली । राधामोहन जी मैजिनी के बड़े प्रशंसक थे और उसके विचारों का अधिकाधिक प्रचार करते रहते थे ।

ला. लाजपतराय के जीवन चरित्र के लिखने के लिए तो उन्होंने लालजी के पिता लाला राधाकिशन जी से खूब पत्र व्यवहार किया था और लालाजी के आरम्भिक जीवन की घटनाओं का पता लगाकर लिखा था । उन्होंने लालाजी के अधिकारों में से जिसे सर्वश्रेष्ठ समझकर पुस्तक के आरम्भ में दिया है, वह इस प्रकार है--

"यह सच है कि कष्ट सहन किये बिना कुछ प्राप्त नहीं होता । जिन भारतवासियों ने अपने जीवन देश की सेवा में अर्पण कर दिये हैं, वे फिर अपने स्वामी आप नहीं रहते । देशभक्ति के किसी कर्त्तव्य से उत्तेजित होकर प्राण हवन कर देना वीरता है, परन्तु उत्तेजना को वशवर्ती रखकर देशहित के लिये जीवित रहना और भी उत्तम है । पवित्र मृत्यु से पूर्व उद्यतम जीवन आवश्यक है ।"

मालूम होता है, इस सिद्धान्त ने राधामोहन जी को पूर्ण रूप से प्रभावित किया था । वे दीर्घकाल तक जीवित रहकर अपने जीवन का उपयोग एकमात्र देश सेवा के लिए करते रहे, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

नेपोलियन के जीवन चरित्र की भूमिका में इन्होंने लिखा था--"मैं यह नहीं कहता कि इसमें दोष न थे । परन्तु नेपोलियन अपने समय का बड़ा भारी मनुष्य हितकर्ता, स्वतन्त्रता का पक्षपाती और मानव मात्र का प्रेमी था ।" वास्तव में इन्हीं विशेषताओं के कारण एक युद्धप्रिय सेनापति होते हुये भी नेपोलियन को संसार के इतिहास में प्रशंसनीय स्थान दिया गया है । इसकी देशभक्ति में कोई सन्देह नहीं । उसने सदैव कष्ट सहकर और प्राणों का मोह त्यागकर फ्रांस के झण्डे को ऊँचा किया ।"

क्रान्तिकारी आन्दोलन में सहायता

इस प्रकार एक सर्वोच्च आदर्श को सामने रखकर राधामोहन जी देश-सेवा और अन्याय पीड़ितों की सेवा में आगे बढ़ते गये । यद्यपि उनके साधन बहुत सीमित थे, तो भी उन्होने निस्संकोच भाव से काँग्रेस के असहयोग आन्दोलन में ही नहीं, क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी उल्लेखनीय भाग लिया । कलकत्ते में किये गये आरम्भिक क्रान्ति सम्बन्धी कार्यो के विषय मे तो हमने उनसे बहुत कम सुना था, पर सन् १६२८-३० के आसपास उनको इस क्षेत्र में कार्य करने के अभिलाषी अनेक नवयुवकों को प्रोत्साहन और प्रेरणा देते अवश्य देखा था ।

उन्हीं दिनों एक बार वे राजा महेन्द्र प्रताप से मिलने की बात कहकर नेपाल गये । वह शिवरात्रि का अवसर था, क्योंकि उन्हीं दिनों "भगवान पशुपति नाथ" के दर्शनों के नाम पर नेपाल में जा सकने की छूट मिलती थी । पर वहाँ से लौट कर उन्होंने कहा कि राजा साहब-नेपाल नहीं आ सके और इस कारण उनसे भेंट नहीं हो सकी । हमने भी इस सम्बन्ध में और कुछ नहीं पूछा, क्योंकि उस जमाने की परिस्थिति ही ऐसी थी । अँग्रेज सरकार के गुप्तचर हर जगह गुप्त संस्थाओं और क्रांतिवादी व्यक्तियों का भेद मालूम करने के लिये फिरते रहते थे, और ऐसे लोगों को फँसाने की चालें चला करते थे । इसलिये उस समय क्रान्तिकारी संस्थाओं और उनके कार्यक्रमो का हाल निजी मित्रों को भी उतना ही बतलाया जाता था, जितनी आवश्यकता होती थी। कोई आपस में ऐसी बात पूछता भी नहीं था । दूसरी बात यह भी थी, कि राधामोहन जी सार्वजनिक राजनीतिक आन्दोलन में भी भाग लेते रहते थे, और पुलिस वाले उनसे अच्छी तरह परिचित थे, इसलिये वे छुपकर अधिक काम कर भी नहीं सकते थे ।

उनकी उस समय की कार्यवाहियों का वर्णन अब बहुत खोज करने पर थोड़ा बहुत ही जाना जा सकता है । उनको इस विषय में हार्दिक लगन थी, इसलिये जिस प्रकार सम्भव होता कुछ न कुछ किया करते थे । 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी" (क्रांतिकारी दल) की कानपुर शाखा के राधामोहन जी ने भी कुछ अधिक सहायता दिलवायी थी । उन्होंने कानपुर के कुछ नवयुवकों को एकत्रित कर एक छोटा-सा दल संगठित किया था, जिसका संचालन श्री विजय कुमार सिन्हा करते थे ।

जब पुलिस की लगातार निगरानी से बचकर कानपुर जैसे बड़े नगर में कोई अच्छा संगठन बना सकना कठिन जान पड़ा, तो सन् १९३४ में वे हमीरपुर के एक पर्वतीय कस्बे में "शिक्षक" की हैसियत से चले गये । उनका वास्तविक उद्देश्य वहाँ पर क्रान्तिकारियों का एक गुप्त अड्डा बनाना ही था । पर उस स्थान की जलवायु उनके लिये प्रतिकूल सिद्ध हुआ, जिससे उदर रोग बढ़ गया और एक वर्ष के भीतर ही सन् १९३५ में उनका देहान्त हो गया । इस प्रकार राधामोहन जी जीवन के अन्तिम समय तक अपने आदर्श की पूर्ति में संलग्न रहे और उसी के लिये बलिदान हो गये ।

सच्चे वानप्रस्थी राधामोहनजी

भारत की प्राचीन संस्कृति में समाज के सुचारु संगठन की दृष्टि से चार आश्रमों की स्थापना की गई थी । इनमें से ब्रह्मचर्य और गृहस्थ की आवश्यकता और उपयोगिता तो मनुष्य समझते ही हैं और संन्यास आश्रम भी विकृत दशा में अभी तक चल रहा है । पर वानप्रस्थ को, जो एक प्रकार से समाज का शिक्षक-मार्गदर्शक है लोग प्रायः भूल गये थे । राधामोहन जी ने यद्यपि कभी उसका नाम नहीं लिया, पर जब हम उनके जीवन-कार्यों पर विचार करते हैं तो निस्सन्देह कह सकते हैं कि-वे एक सच्चे "वानप्रस्थी" थे ।

भारतीय शास्त्रों में गृहस्थी का उपभोग कर लेने और परिवार के पालन का उत्तरदायित्व पूरा हो जाने पर वानप्रस्थ ग्रहण करने का विधान है । सामान्य रीति से इसका समय पचास वर्ष की आयु के आसपास माना गया था । पर विशेष अवस्था में इसमें अन्तर भी पड़ जाता था । राधामोहन जी की तीस वर्ष की आयु में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया और एकमात्र पुत्र भी इसके छः वर्ष पश्चात् जाता रहा घर में इनसे छोटे तीन भाई भी मौजूद थे, इसलिये इन्होंने अपना जीवन देश और जाति की सेवा में समर्पित कर देने का निश्चय कर लिया । उनके इस मनोभाव का परिचय "नीतिदर्शन" की भूमिका में दिये इन वाक्यों से मिलता है ।

"जिस जाति में स्वतन्त्रता तथा मान मर्यादा की अपेक्षा धन और प्राण से अधिक प्रेम किया जाता है, वह पतित होकर मिट्टी में मिल जाती है । अतएव देश-प्रेम, मान मर्यादा, स्वत्व, स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये धन और प्राण को तिनके तरह त्यागने को प्रस्तुत रहना ही मनुष्यत्व है-उन्नति का महामन्त्र है । जो साँप की तरह धन को ताकते रहने और हिजड़ों की तरह प्राण बचाने की ही चिन्ता में रहता है, उसको मनुष्य कहना मानो मानवता को कलंकित करना है । मनुष्य की शोभा लेखनी व खड्ग से है न कि धन और रूप से ।"

बस इसी आदर्श के अनुसार इन्होंने कलकत्ता पहुँच कर कुछ उभरते हुये बालकों को देश प्रेम की शिक्षा देना और स्वयं देशोद्धार के संघर्ष में भाग लेना आरम्भ किया । तभी से इनका नाम मास्टर साहब पड़ गया । जैसे ये अपने समीप रहने वाले बालकों को प्रत्यक्ष रूप में शिक्षा देते थे, वैसे ही देशवासियों के मार्ग दर्शन के लिये 'नीति दर्शन देश का धन' 'देशभक्त लाजपत' 'देशभक्त मेजिनी 'जोजेफ गैरीलाल्डी' जैसी प्रेरणाप्रद पुस्तकें लिखीं तथा "सत्य सनातन धर्म" नामक पत्र निकाला, जिससे लोगों में देशभक्ति और देश-रक्षा की भावना प्रज्ज्वलित हो और समाज सुधार की दिशा में भी वे अग्रसर हों । इनका यह मनोभाव इस वाक्य से स्पष्ट प्रकट होता है-

"मेरा यह पक्का मत है कि कोई भी पुस्तक क्यों न हो, जो पाठकों के मनों में जागृति, हृदयों पर स्थायी अंकना (प्रभाव) और नसों में करारापन पैदा न करे वह सर्वथा निकम्मी ही है।"

इन्होंने इस प्रकार की बीस-पचीस छोटी बड़ी पुस्तकें और अनेक लेख लिखे। इनमें से "जर्मनी का अभिमान" जो प्रथम् महायुद्ध के मध्य लिखी गई थी, अँग्रेज शासकों को अपने लिये खतरनाक जान पड़ी, और उसको राजद्रोही बता कर जब्त कर लिया गया। "देश भक्त मैजिनी" और "जोसेफ गैरीबाल्ड" को "प्रणवीर" के संचालक श्रीसतीदास मूँदड़ा ने प्रकाशित किया। उनको कलकत्ते में छपाने की व्यवस्था राधामोहन जी के प्रिय शिष्य श्री गंगाप्रसाद भोतिका ने की थी और अन्त में पूरा तैयार कराके गया काँग्रेस में ले जाने का कार्य मैंने भी किया था।

राधामोहन जी का जीवन और कार्य उन कर्मयोगियों की तरह था, जो मानव-जाति की सेवा के लिये निरन्तर श्रम करते रहते हैं और अपने स्वार्थ, सुख व नामवरी की कभी चिन्ता नहीं करते। वास्तव में यही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। उनकी वेश-भूषा वानप्रस्थियों जैसी ही रही। एक छोटा-सा कुरता या बन्डी और ढाई-तीन गज की लुंगी, बस इतना ही उनका परिधान था, तथा दो कम्बल और एकाध चादर उनका बिस्तर। सदैव लकड़ी के तख्त या भूमि पर ही सोते थे और भोजन भी बहुत सादा करते थे। यद्यपि उनका परिचय काफी बड़े और सम्पन्न व्यक्तियों से था, तो भी जैसा "विप्लव" की भूमिका में आवागढ़ के राव कृष्णपालसिंह ने लिखा है कि ये ग्रामीणों की जौ की रोटी और छाछ को बहुत पसन्द करते थे और इसी से स्वस्थ, चैतन्य और मुस्तैद बने रहते थे। वे कहा करते थे कि "पेट भर अन्न और तन ढकने को कपड़ा मिलता रहे और अमीरी की बेहूदगियों से पाला न पड़े तो मनुष्य दीर्घजीवी, निरोग और बहुत सुखी रह सकता है।" वे प्रायः नजीर के इस पद्य को कहा करते थे–

"दौलत की तुझे चाट जो पड़ जायगी बाबा।
रुसवा बहुत दुनियाँ में वह करवायेगी बाबा॥

इस प्रकार समाज से कम से कम लेकर उन्होंने अपनी समस्त योग्यता प्रतिभा, साहस और समय को जन-सेवा के कार्यों में लग दिया। इसमें उनको जो त्याग, तपस्या, जेल यात्रा आदि सहन करना पड़ा उसे उन्होंने मातृभूमि का प्रसाद समझ कर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। वर्तमान समय में जब देश-सेवा और राजनैतिक आन्दोलन एक नये ही मार्ग पर चल पड़े हैं और सेवा तथा कर्त्तव्य पालन की अपेक्षा अधिकार और लाभ की माँग अधिक की जा रही है, राधामोहन जी का त्यागपूर्ण और सेवाभावी चरित्र हमारे लिये एक बहुत उत्तम आदर्श सिद्ध हो सकता है। उससे उचित प्रेरणा ग्रहण करना हम सबके लिये निश्चय ही कल्याणकारी होगा।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवन काल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युगनिर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्रनिर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़ पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद कांग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रंगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका-मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोबा जी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि. संवत् २०६८ में जन्में राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराम मत्त कहलाने वाले, आचार्य श्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रांति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माता जी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका-अपनी लेखनी से लिखी ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उनने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रांति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्व दर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में संपन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरु सत्ता को देखकर त्याग करने की यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उनने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से संपन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक आँवल खेड़ा से अपनी जन्मभूमि से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी 12 वर्ष पूर्व आरंभ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतः स्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा

हवेली कहा जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान,** घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जोकि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ बनाई गई। १९५३ में एवं क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों- प्रज्ञा संस्थानों भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों-चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान् व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्य पूर्ण था। *परम पूज्य गुरुदेव की महत्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ, इस प्रकार हैं-*

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शांतिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष जन्मा संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन ब्राह्म मुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर १९११ के दिन आती थी। एक श्री मंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित-पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थी। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुआँ जिसे पूरे गाँव का एक मात्र मीठे जल वाला कुआँ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीर धारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशा धारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इंटर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धन राशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ-एवं कन्या इंटर कालेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा एवं एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हे सुशिक्षित संस्कारवान आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव निर्माण की सांस्कृतिक-भावनात्मक क्रांति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीया मण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रांतिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरंभ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तंभ व अन्यान्य

लेखों की पंक्तियों के माध्यम से संपन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतस्तल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुखी, तनाव ग्रसित व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परम वंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी टेण्ड्रिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजा घर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में 1942-43 में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ सहस्र कुण्डीयज्ञ की आधार शिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परम वंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं संपन्न हुआ। जन सम्मेलनों-छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन विस्तार डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परम वंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन यहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू० गुरुदेव की साधना स्थली व प्रातः काल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन संपन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा संपन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्य श्री ने युग निर्माण योजना के शत सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युगनिर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरंभ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युगनिर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शांतिकुंज, हरिद्वार- ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने,

सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने 24 कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़ गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्त्तन सत्र जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का तांता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्त ऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को संपन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार संपन्न होते हैं। इस बीच परम वंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ संपन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक अकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थ स्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परम-पूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवी स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७९ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज-गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फल-श्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों-जैव विद्युत आदि पर पड़ा यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित हैं, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्राय: ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीला संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान २४००० से अधिक प्रज्ञा मण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जायें तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है।

ooo

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन
समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचार-सार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह इस समग्र वाङ्मय के खण्डों में है । इनके नाम इस प्रकार हैं:-

१. परिचयात्मक खण्ड (इसमें सारे वाङ्मय का समग्र परिचय, आराध्य सत्ता की जीवन-गाथा, लीला प्रसंग, अनुभूतियाँ, मिशन की आधारभूत स्थापनाओं से लेकर भविष्य की संकल्पनाओं का विवरण है । इसे विश्वकोश के 'प्रोपीडिया' स्तर की रचना व 'बायोग्राफी' का समन्वित रूप कहा जा सकता है।)
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री की साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म, परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान और विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत् एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों व कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विभिन्न आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृतिः इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने?
४८. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
४९. युग निर्माण-दर्शन-स्वरूप व कार्यक्रम
५०. इक्कीसवीं सदी-नारी सदी
५१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
५२. समाज का मेरुदण्ड : सशक्त परिवार तंत्र
५३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नव निर्माण
५४. शिक्षा एवं विद्या
५५. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग
५६. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५७. प्रेरणा प्रद दृष्टान्त
५८. अमृत कण
५९. ऋषि चिन्तन
६०. पूज्यवर की अमृतवाणी-१
६१. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
६२. पूज्यवर की अमृतवाणी-३
६३. पूज्यवर की अमृतवाणी-४
६४. विचार-सार एवं सूक्तियाँ-१
६५. काव्य सुधा
६६. युग निमंत्रण
६७. मधु संचय
६८. जीवन संगीत
६९. अपनों से अपनी बात
७०. सृजन शिल्पियों के लिए मार्गदर्शक सूत्र ।

कुल सत्तर खण्डों में युग ऋषि का यद्यपि समग्र लेखन, वक्तृत्व एवं कृतत्व समाता नहीं है तथापि, अपनी ओर से महत्वपूर्ण सभी अंशों को इसमें लेने का प्रयास किया गया है ।